श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता

अद्वैतसिद्धिः

(द्वितीयः परिच्छेदः)

चतुर्थो भागः

सत्यानन्दप्रबोधिकाव्याख्यया समलङ्कृता

— स्वामिविशुद्धानन्दगिरिः

ॐ श्रीदक्षिणामूर्तिमहादेवो विजयतेतराम्

समर्पणम्.........

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रोत्रियब्रह्मनिष्ठपदवाक्य–

प्रमाणपारावारीणस्वामि–

सत्यानन्दगिरिमहाभागस्य

करसरोजयोः

सादरं

समर्पयति

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिः

श्रीविश्वनाथधाम, सुन्दरनगरम्

मण्डीं – हिमाचलप्रदेशः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रोत्रियब्रह्मनिष्ठपदवाक्य—

प्रमाणपारावारीणस्वामिसत्यानन्दगिरिमहाराज

ॐ

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिविश्वेश्वरसरस्वतीशिष्यश्रीमत्परमहंस–
परिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीविरचिता

अद्वैतसिद्धिः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यावाचस्पतिश्रीस्वामिविष्णु–
देवानन्दगिरिशिष्यस्वामिविशुद्धानन्दगिरिविरचितया
सत्यानन्दप्रबोधिकाव्याख्यया समलङ्कृता

चतुर्थो भागः

सम्पादकः

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिः

ॐ श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला—९६

—: प्रकाशक :—

श्रीदक्षिणामूर्तिमठ प्रकाशन
डी ४९/९ मिश्रपोखरा
वाराणसी— २२१०१०
उत्तरप्रदेश

प्रथम संस्करण	—	१०००
विक्रमी सम्वत्	—	२०७५ (महाशिवरात्रि)
शाङ्कराब्द	—	१२३१
दिनाङ्क	—	०४—०३—२०१९
मूल्य	—	रु. २००.००

पुस्तकप्राप्तिस्थान

श्रीदक्षिणामूर्तिमठ
डी ४९/९ मिश्रपोखरा
वाराणसी— २२१०१०
उत्तरप्रदेश

(चित्रांशिका कम्प्यूटर्स, कनखल—हरिद्वार (उत्तराखण्ड), मोबाइल— ९४१०१३१५२३

ॐ श्री दक्षिणामूर्तिमहादेवो विजयतेतराम्



निवेदन

संसारसागरसमुत्तरैणकमन्त्रं ब्रह्मादिदेवमुनिपूजितसिद्धमन्त्रम्।
दारिद्र्यदुःखभवशोकविनाशमन्त्रं वन्दे महाभयहरं गुरुराजमन्त्रम्।।
ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने। व्योमवद् व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः।।

जो आत्मा धर्माधर्मादिरूपपाप से रहित, जरा से रहित, मृत्यु से रहित शोकरहित भूख प्यास से रहित सत्यकाम और सत्य सङ्कल्प है। उसकी शास्त्र और आचार्य के उपदेश से अन्वेषण कर ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। वह ही विशेष रूप से जानने योग्य है। जो उस आत्मतत्त्व को शास्त्र और गुरु के उपदेश के द्वारा अन्वेषण करके विशेष रूप से जान लेता है। वह सम्पूर्ण लोकों को और सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है– ऐसा कथन श्रुति के द्वारा छान्दोग्य उपनिषद् के अष्टम अध्याय के सप्तम खण्ड के एक में कहा गया है। पुनः जाग्रत् अवस्था में उक्त तत्त्व कहाँ प्राप्त होगा? इसको स्पष्ट करते हुए श्रुति ने कहा– ए एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म इति (छा०उ० ८–७–४) अर्थात् उक्त तत्त्व आप के चक्षु के प्रकाशक के रूप से विद्यमान है। उसको किसी लोक विशेष में ढूंढने की आवश्यकता नहीं है। इसको ही आगे स्पष्ट करते हुए कहा गया कि–एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः। (छा०उ० ८–१२–३) ऐसा होने पर वह सभी ऋणों से सभी बन्धनों से जीवित अवस्था में ही मुक्त हो जाता है– अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदाः। (बृ०उ० ४–३–२२) ऐसे सिद्धान्त का जो प्रतिपादन किया गया है, उसका जिज्ञासुओं को सुगमतापूर्वक बोध हो– इसके लिए भगवान् भाष्यकार जगद्गुरु आद्यशङ्कराचार्य जी ने भाष्य की संरचना की। भाष्य के प्रचार–प्रसार के लिए अनेक महापुरुषों ने भाष्य के ऊपर अपने–अपने लेख लिखे। कुछ लोगों ने युक्त्याभासों का आश्रय कर के अद्वैत सिद्धान्त पर दोष का उद्भावन करने का दुःसाहस किया। जिसका निराकरण अद्वैताचार्यों द्वारा श्रुतियों और सत्तर्क युक्तियों आदि के द्वारा समय समय पर किया गया। ऐसे प्रयास के अन्तर्गत ही श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्वामिमधुसूदनसरस्वतीजी के द्वारा यह अद्वैतसिद्धि की रचना हुयी है। इसके प्रथमपरिच्छेद का प्रकाशन पहले टीका सहित किया जा चुका है। द्वितीय परिच्छेद के कुछ भाग का प्रकाशन टीका सहित अब किया जा रहा है। हमने इस टीका के लेखन में अद्वैतसिद्धि के संस्कृत टीकाओं और हिन्दी टीकाओं का भी अवलम्बन लिया है। अतः उक्त टीकाकारों के प्रति आभार प्रकट करते हैं और उनको कोटिशः नमन करते हैं।

सद्गुरु कैलासपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वर श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यावाचस्पति–स्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिजी महाराज एवं दीक्षागुरु आचार्यमहामण्डलेश्वरयतीन्द्रकुलतिलक अनन्तश्रीविभूषितस्वामिविद्यानन्दगिरिजी महाराज और विद्यागुरुपदवाक्यप्रमाणपारावारीण श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठस्वामिसत्यानन्दगिरिजी महाराज के श्रीचरणकमलों में भूयसः वन्दन करता हूँ। आप सभी गुरुजनों की कृपा दृष्टि से ही यह लेखनादि हो रहा है क्योंकि

गुरुकृपा ही परमश्रेयदायिनी होती है।

गुरोः कृपा प्रसादेन परमात्मा हि लभ्यते।
अनेन गुरुमार्गेण ह्यन्तर्ज्योतिः प्रकाशते।।

अद्वैतसिद्धि के इस भाग पर टीका लिखने के लिए प्रोत्साहित करने वाले श्रीमत्परमहंसपरि–व्राजकाचार्यनिरञ्जनपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वरस्वामिपुण्यानन्दगिरिजी महाराज के प्रति हम हृदय से आभार प्रगट करते हैं। विद्वद् वरिष्ठ त्यागमूर्ति परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ–श्रीमत्स्वामिस्वयम्प्रकाशगिरि जी महाराज के द्वारा इस भाग का संशोधनादि कार्य किया गया है। उसके लिए आप का सदा कृतज्ञ रहूँगा। श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य स्वामिब्रह्मानन्द तीर्थ जी महाराज का लगभग चार दशक से हमें सहयोग प्राप्त होता रहा है। हम आप के प्रति आभार प्रकट करते हैं। इस भाग के प्रकाशन में जिन महानुभावों का सहयोग है उनको परा विद्या प्राप्त हो और मङ्गलमय जीवन हो—इसके लिए भगवान् श्रीदक्षिणामूर्ति महादेव के श्रीचरणकमलों में प्रार्थना करते है। इस भाग के प्रूफ संशोधन में आचार्य ब्रह्मचारी श्रीमोहनचैतन्य वेदान्ताचार्य (साधना सदन कनखल हरिद्वार) डा० नरेश वैद्या बी०डी०एस० (प्रेसीडेन्ट श्री हरिहर डेन्टल हॉस्पिटल एवं रिसर्च सेन्टर चतरोखड़ी सुन्दरनगर मण्डी हिमाचल प्रदेश) श्रीमती चम्पा शर्मा शास्त्री (धर्मपत्नी डा० मोहनलाल शर्मा सुन्दरनगर मण्डी हिमाचल प्रदेश) और बहन लीला सेन एम०ए० (पुत्री श्री पृथी सेन—पनारसा मण्डी हिमाचल प्रदेश) का सहयोग रहा है। आप सभी को ब्रह्मविद्या प्राप्त हो— इसके लिए भगवान् श्रीदक्षिणामूर्ति महादेव के श्रीचरणकमलों में प्रार्थना करते हैं।

यद्यपि यह एक निश्चित तथ्य है कि अद्वैतवाद में अद्वैतसिद्धि का अपना विशिष्ट स्थान है। ऐसी नितान्तगम्भीरभावा बहुतन्त्रसूक्तिभरिता अद्वैतसिद्धि की हिन्दी व्याख्या करना सुगम कार्य नहीं है। तथापि गुरुजनों की कृपा दृष्टि का आश्रय करके इसमें पूरा परिश्रम किया गया है किन्तु सफलता कहां तक प्राप्त हुई है— यह तो विद्वानों का ही हृदय जान पायेगा। पूर्व के संस्करणों के जैसे अद्वैतसिद्धि के इस संस्करण में भी श्री कैलासआश्रम ऋषिकेश के षष्ठपीठाधीश्वर श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य विद्यावाचस्पतिस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिजी महाराज (बड़े महाराजजी) के द्वारा शोधित पुस्तक से मूलपाठ लिया गया है। जो सर्वथा उचित है। अन्त में हम पाठकों से यह निवेदन करते हैं कि प्रूफ संशोधन आदि में रही त्रुटियों का संकेत करें, जिससे उसका परिशोधन द्वितीय संस्करण में किया जा सके। पुनः गुरुजनों के चरण कमलों में भूयशः वन्दन—

तस्यै दिशे सततमञ्जलिरेष पुष्पैः प्रक्षिप्यते रसभरैर्मधुरद्विरेफैः।
जागर्ति यत्र भगवान् गुरुचक्रवर्ती विश्वोदयप्रलयनाटकसूत्रधारः।।

शिवरात्रि
विक्रमी संवत्— २०७५
शाङ्कशब्द— १२३१
दिनाङ्क— ४—३—२०१९

भगवत्पादीप
स्वामी विशुद्धानन्द गिरि
श्री विश्वनाथ धाम
भौण कलाहोड़ सुन्दरनगर
मण्डी हिमाचल प्रदेश

अनुक्रमणिका

सङ्केतानां विवरणम्

अ०सू०	अष्टाध्यायी सूत्र
ईशा०उ०	ईशावास्योपनिषत्
उप०सा०	उपदेशसाहस्री
ऐ०उ०	ऐतरेयोपनिषत्
क०उ०	कठोपनिषत्
के०उ०	केनोपनिषत्
खं०ख०	खण्डनखण्डखाद्य
गी०	भगवद्गीता
चि०	चित्सुखी
छा०उ०	छान्दोग्योपनिषत्
जै०न्या०मा०	जैमिनीय न्यायमाला
जै०सू०	जैमिनिय सूत्र
तं०वा०	तन्त्र वार्तिक
तै०उ०	तैत्तिरीयोपनिषत्
तै०ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै०सं०	तैत्तिरीय संहिता
नृसिहो०	नृसिंहतापिनी उपनीषत्
न्या०कु०	न्याय कुसुमाञ्जली
न्या०सू०	न्याय सूत्र
पं०द०	पञ्चदशी
पा०सू०	पाणिनी सूत्र
प्रश्नो०	प्रश्नोपनिषत्
बृ०उ०	बृहदारण्यकोपनिषत्
ब्र०सि०	ब्रह्मसिद्धि
ब्र०सू०	ब्रह्मसूत्र
मां०का०	माण्डूक्य कारिका
मां०उ०	माण्डूक्योपनिषत्
मनु०	मनुस्मृति
महा० भा०	महाभारत
मु०उ०	मुण्डकोपनिषत्
यो०वा०	योगवासिष्ठ
ल०च०	(अद्वैतसिद्धिव्याख्या) लघुचन्द्रिका
विष्णु पु०	विष्णुपुराण
श्वेता०उ०	श्वेताश्वतरोपनिषत्
सं०शा०	संक्षेपशारीरक

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता

अद्वैतसिद्धिः

द्वितीयः परिच्छेदः

१— अथ अखण्डार्थलक्षणविचारः

हेयं निरूप्य बन्धाख्यं तन्निवृत्तेर्निबन्धनम्।
यज्ज्ञानं तदखण्डार्थमादेयमधुनोच्यते।।१ ।।

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिकृता

सत्यानन्दप्रबोधिका

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

विश्वोद्भवस्थितिलयादिषु हेतुमेकं गौरीपतिं विदिततत्त्वमनन्तकीर्तिम्।
मायाश्रयं विगतमायमचिन्त्यरूपं बोधस्वरूपममलं हि शिवं नमामि।।
अरुणकिरणजालैरञ्जिता सावकाशा, विधृतजपवटीका पुस्तकाभीतिहस्ता।
इतरकरवराढ्या फुल्लकल्हारसंस्था, निवसतु हृदि बाला नित्यकल्याणशीला।।
वक्तारमासाद्य यमेव नित्या सरस्वती स्वार्थसमन्विताऽऽसीत्।
निरस्तदुस्तर्ककलङ्कपङ्का नमामि तं शङ्करमर्चिताङ्घ्रिम्।।
ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो वंशर्षिभ्यो महद्भ्यो
नमो गुरुभ्यः। सर्वोपप्लवरहितः प्रज्ञानधनः प्रत्यगर्थो ब्रह्मैवाहमस्मि।।

प्रथम परिच्छेद के निरूपण के अनन्तर द्वितीयपरिच्छेद का निरूपण क्यों किया जा रहा है? इसका समाधान देते हुए और प्रथम परिच्छेद में अज्ञान और अज्ञान प्रयुक्त हेय पदार्थ का निरूपण करते हुए प्रथम परिच्छेद के समाप्ति के अवसर पर आचार्यप्रवर ने कहा था कि '' तदहमस्मि पूर्णो हरिः।'' इस वाक्य का स्पष्टीकरण अखण्डार्थविषयक तत्त्वज्ञान के निरूपण विना सम्भव नहीं हो सकता है। इसको स्पष्ट करने के लिए और अखण्डार्थविषयकतत्त्वज्ञान के विषय में पूर्वपक्षी द्वारा कथित दोषाभासों के निराकरणार्थ आचार्यप्रवर अद्वैतसिद्धिकार द्वितीय परिच्छेद को प्रारम्भ करते हुए कह रहे हैं कि—

हेयं निरूप्य बन्धाख्यं तन्निवृत्तेर्निबन्धनम्।
यज्ज्ञानं तदखण्डार्थमादेयमधुनोच्यते।।१ ।।

बन्धाख्यं हेयं निरूप्य= अज्ञान और अज्ञान प्रयुक्त प्रपञ्चरूपबन्ध संज्ञक हेय पदार्थ का प्रथम परिच्छेद में निरूपण करने के पश्चात्, तन्निवृत्तेर्निबन्धनम्= उक्त बन्ध की निवृत्ति का कारणीभूत, यद् आदेयम् अखण्डार्थम् ज्ञानम्= जो उपादेय (ग्रहणीय) अखण्डार्थ विषयक तत्त्वज्ञान है, तद् अधुना उच्यते= उसका निरूपण इस द्वितीय परिच्छेद में किया जा रहा है। (अखण्डार्थज्ञान का तात्पर्य यह है कि अखण्ड है अर्थ (विषय) जिस ज्ञान का वह ज्ञान अखण्डार्थज्ञान कहा जाता है और अखण्डार्थ वाक्य का तात्पर्य

तच्चाखण्डार्थं द्विविधम्। एकं पदार्थनिष्ठमपरं वाक्यार्थनिष्ठम्। एकैकञ्च पुनर्वैदिकलौकिकभेदेन द्विविधम्। पदार्थनिष्ठं वैदिकमपि द्विविधम्। तत्पदार्थनिष्ठं त्वंपदार्थनिष्ठञ्च। तत्र 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'इत्यादि तत्पदार्थनिष्ठम्। 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' इत्यादि त्वंपदार्थनिष्ठम्। 'प्रकृष्टप्रकाशः' इत्यादि तु लौकिकं पदार्थनिष्ठम्। वाक्यार्थनिष्ठमपि वैदिकं ''तत्त्वमस्यादि वाक्यम्'', 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि तु लौकिकम्।।२।।

अत्राहुः—किमखण्डार्थत्वम्? न तावन्निर्भेदार्थत्वम्; यतो निर्भेदार्थत्वस्य शब्दबोध्यत्वे विशेषणतायामुपलक्षणतायां च ' निर्घटं भूतलम्'इतिवत् सखण्डार्थतैव स्यात्, शब्दाबोध्यत्वे तु वस्तुगत्या

सत्यानन्दप्रबोधिका

यह है कि अखण्ड अर्थ को बोध कराने वाले वाक्य को अखण्डार्थ वाक्य कहा जाता है।)।।१।।

उक्त अखण्डार्थता के बोधक वाक्य दो प्रकार के होते हैं— (१) एक पदार्थ निष्ठ (महावाक्यार्थ बोधोपयोग्यखण्डवाक्यार्थबोधजनकं पदार्थनिष्ठम्) और (२) दूसरा वाक्यार्थनिष्ठ (अनन्यशेषाखण्डवाक्यार्थबोधजनकं वाक्यार्थनिष्ठम्।) पुनः इन दोनों में से प्रत्येक वैदिक और लौकिक भेद से दो प्रकार का होता है। (अर्थात् पदार्थनिष्ठ अखण्डार्थता के बोधक वाक्य वैदिक और लौकिक भेद से दो प्रकार का होता है और वाक्यार्थनिष्ठ अखण्डार्थता के बोधकवाक्य भी वैदिक और लौकिक भेद से दो प्रकार का होता है।) पदार्थनिष्ठ अखण्डार्थता के बोधक वैदिक वाक्य भी दो प्रकार का होता है—(१) एक तत्पदार्थनिष्ठ और (२) दूसरा त्वंपदार्थ निष्ठ। उक्त दोनों में से ''सत्यं ज्ञानमनन्तम्'' (तै.उ. २—१—१) इत्यादि वाक्य तत्पदार्थनिष्ठ हैं और ''योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः'' (बृ.उ. ४—३—७) इत्यादि वाक्य त्वंपदार्थनिष्ठ हैं। (पदार्थनिष्ठ अखण्डार्थता के बोधक वैदिक वाक्य का निरूपण करने के अनन्तर पदार्थनिष्ठ अखण्डार्थता के बोधक लौकिक वाक्य को स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि) ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इत्यादि लौकिक वाक्य पदार्थनिष्ठ अखण्डार्थता के बोधक हैं। (वाक्यार्थनिष्ठ अखण्डार्थता के बोधक वाक्यों को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि) वाक्यार्थनिष्ठ अखण्डार्थता के बोधक ''तत्त्वमसि'' छा.उ. ६—८—७) इत्यादि अखण्ड ब्रह्मरूप वाक्यार्थ को बोधन कराने वाले वैदिक वाक्य तथा ''सोऽयं देवदत्तः'' इत्यादि अखण्ड देवदत्त रूप वाक्यार्थ को बोधन कराने वाले लौकिक वाक्य माने जाते हैं।।२।।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के द्वारा कथित अखण्डार्थता क्या है? यदि अखण्डार्थता का अर्थ निर्भेदार्थत्व करते हैं? अर्थात् जिस वाक्य का अर्थ भेद रहित वस्तु हो, उस वाक्य को अखण्डार्थता का बोधक मानते हैं, तो ऐसा नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जो अखण्डार्थत्व का अर्थ निर्भेदार्थत्व किया गया है, उसका क्या शाब्दबोध में भान होता है? अथवा निर्भेदार्थत्व (भेदाभाव) का स्वरूप से ब्रह्म में सत्त्व मात्र विवक्षित है, उसका शाब्दबोध में भान नहीं होता है? प्रथम पक्ष का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि निर्भेदार्थत्व का शाब्दबोध में भान होने पर उसे यदि वस्तु का विशेषण मानते हैं तो निर्भेदार्थत्व विशिष्ट वस्तु (ब्रह्म) का बोध होगा और यदि उसे वस्तु का उपलक्षण मानते हैं तो निर्भेदार्थत्वोपलक्षित वस्तु (ब्रह्म) का बोध होगा। उभयता ही अखण्ड वस्तु की बोधकता शुद्धब्रह्मबोधक वाक्य में सिद्ध नहीं होगी अपितु सखण्डार्थता की ही बोधकता वाक्य में सिद्ध होगी। जैसे ''निर्घटं भूतलम्'' इस वाक्य के द्वारा घटाभाव विशिष्टभूतल या घटाभावोपलक्षित भूतल का बोध होने से इस वाक्य में सखण्डार्थता ही मानी जाती है। (सखण्डार्थक वाक्य के द्वारा केवल वस्तु का बोध न होकर उस वस्तु के साथ किसी धर्मादि का भी बोध होता है। अतः ऐसे वाक्यों में सखण्डार्थता मानी जाती है।) द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि

यन्निर्भेदं ब्रह्म तद्बोधकसगुणवाक्यानामपि अखण्डार्थत्वापत्तिः। अथ यन्निर्भेदं वस्तुगत्या तन्मात्रपरत्वम्, न; प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्येऽव्याप्तेः, तेषां धर्मिसमसत्ताकभेदवद्वस्तुपरत्वेन वस्तुगत्या निर्भेदार्थनिष्ठत्वाभावात्। अत एव निर्विशेषार्थत्वमपि न।।३।।

नाप्यपर्यायशब्दानां प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वम्; शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकावित्या—दावनेकप्रातिपदिकार्थपरेऽतिव्याप्तेः। न च—सम्भूयार्थपरत्वमत्र नास्त्येव, प्रत्येकं त्वेकैकार्थपरत्वं इष्टमेवेति

सत्यानन्दप्रबोधिका

निर्भेदार्थत्व (भेदाभाव) का शाब्दबोध में भान न होने पर तो वस्तु स्थिति से जो निर्भेद ब्रह्म है, तद्बोधक सगुण वाक्यों में भी अखण्डार्थत्व की आपत्ति होगी। अर्थात् निर्भेदार्थत्व का शाब्दबोध में भान न मानकर निर्भेदार्थत्व का स्वरूप से ब्रह्म में सत्त्व मात्र विवक्षित मानने पर सगुण ब्रह्म बोधक ''यः सर्वज्ञः सर्ववित्'' (मु.उ. १—१—९) इत्यादि वाक्यों में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि वस्तुतः भेदरहित वस्तु (ब्रह्म) का बोधक सगुण वाक्य भी है किन्तु वह सर्वज्ञत्वादि गुणों का भी बोधक होने के कारण उसमें सखण्डार्थता ही मानी जाती है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि वस्तुगत्या जो भेद रहित पदार्थ है, उस भेदरहित वस्तु मात्र के बोधक वाक्य में अखण्डार्थत्व रहता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि इस प्रकार से वाक्यगत अखण्डार्थत्व का लक्षण करने पर ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इत्यादि अखण्डार्थक लक्षण वाक्यों में अव्याप्ति दोष होगा, क्योंकि ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इत्यादि वाक्य धर्मी {प्रकृष्टप्रकाशरूप धर्म का आश्रय रूप धर्मी (चन्द्र)} के समान सत्तावाला नक्षत्रादि इतर का जो चन्द्र में भेद है। उस भेद वाला वस्तु (चन्द्र) का बोधक होने से उक्त वाक्यों में वस्तुतः भेद रहित वस्तु मात्र की बोधकता नहीं है। अर्थात् उक्त वाक्यों के द्वारा चन्द्र के बोध के साथ—साथ चन्द्रगत नक्षत्रादि के भेद का भी बोध हो रहा है। अतः उक्त वाक्यों के द्वारा भेद रहित वस्तु मात्र की बोधकता नहीं है। अतः उक्त अखण्डार्थत्व के लक्षण में अव्याप्ति दोष है। अत एव = ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इत्यादि अखण्डार्थक लक्षण वाक्यों में अव्याप्ति दोष होने के कारण ही, सिद्धान्ती के द्वारा भेद के स्थान पर विशेष शब्द रखकर अखण्डार्थत्व का लक्षण यह जो बनाया जाता है कि वस्तुगत्या विशेषरहित जो पदार्थ है, उस विशेषरहित वस्तु मात्र के बोधक वाक्य में अखण्डार्थत्व रहता है। इसका भी खण्डन हो गया, क्योंकि भेदरहित के स्थान पर विशेष रहित रखने पर भी उक्त प्रकार से '' प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इत्यादि अखण्डार्थक लक्षणवाक्यों में अव्याप्तिदोष होगा ही, क्योंकि उक्त वाक्यों के द्वारा चन्द्र के बोध के साथ—साथ चन्द्रगत नक्षत्रादि के भेदरूपविशेष का भी बोध होता है।।३।।

अपर्याय शब्दों का प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्व अखण्डार्थत्व है। { लक्षण घटक अपर्याय शब्द के द्वारा यह कहा गया है कि भिन्न—भिन्न शब्द भिन्न—भिन्न रूपेण स्वार्थ स्मृति के द्वारा, प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्व= प्रातिपदिकार्थमात्र की बोधकता में पर्यवसित होते हैं। यहां पर्यवसायित्व कहने का तात्पर्य यह है कि भिन्न—भिन्न शब्द सर्वप्रथम भिन्न—भिन्न अर्थ का बोधन कराते हुए अन्त में जाकर जो प्रातिपादिकार्थ मात्र का बोधन कराते हैं, वह पर्यवसित अर्थ होता है। लक्षण में अपर्याय विशेषण न देने पर ''घटः कलशः'' इत्यादि वाक्यों में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि उक्त वाक्य में भी प्रातिपदिकार्थमात्र की बोधकता है। अपर्याय (भिन्नरूपेण स्वार्थस्मृति के द्वारा) यह विशेषण देने पर अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि उक्त वाक्य के द्वारा भिन्न रूपेण स्वार्थ स्मृति के द्वारा कुम्भ की उपस्थिति नहीं होती है किन्तु घट और कलस इन दोनों से घटत्वेन ही कुम्भ की उपस्थिति होती है।} इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकौ'' इत्यादि पयः और पावक रूप अनेक प्रातिपादिकार्थ के बोधक वाक्यों में

शेषः लक्षणवाक्यत्वादिति नातिव्याप्तिरिति—वाच्यम्, तथापि ब्रह्मण्यसम्भवात्, अभिधया लक्षणया वा वेदान्तवाक्यानां निःसम्बन्धे ब्रह्मणि पर्यवसानानुपपत्तेः। अत एव नैकविशेष्यपरत्वमपि, तद्विशिष्टैकविशेष्यबोधकनीलोत्पलादिवाक्ये अतिव्याप्तेरिष्टापत्तेश्च।।४।।

यत्तु—अपर्यायशब्दानां संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वं वा तेषामेकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्य्यवसायित्वं वा

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि अनेक प्रातिपदिकार्थपरत्व होने से इस वाक्य में अलक्ष्यत्व है किन्तु इसमें लक्षण जा रहा है। जैसे ''कीदृशः पयःपावकौ'' ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर के रूप से ''शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकौ'' इस लक्षण वाक्य को कहा गया। प्रश्न और उत्तर में वैयधिकरण्य न हो जाय। इसलिए यह वाक्य पयःपावकरूप प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायि है। अतः अतिव्याप्ति है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि'' शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकौ'' इत्यादि स्थल पर एकलक्षण वाक्य नहीं है किन्तु दो लक्षण वाक्यों का समुदाय है। जैसे— (१) शीतस्पर्शवत् पयः (२) उष्णस्पर्शवान् पावकः। ये दोनों वाक्य मिलकर किसी प्रातिपदिकार्थ मात्र का बोधन नहीं कराते हैं। इसलिए उक्त दोनों वाक्यों में अखण्डार्थत्व का लक्षण न जाने से अतिव्याप्ति नहीं होगी। प्रत्येक वाक्य पयः और पावक का लक्षण वाक्य है और उसके द्वारा प्रातिपदिकार्थमात्र का बोध होता ही है। अतः उसमें अखण्डार्थत्व का लक्षण जाना इष्ट ही है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त प्रकार से अतिव्याप्ति का वारण हो जाने पर भी ब्रह्म बोधक वेदान्त महावाक्यों में अव्याप्ति दोष होगा, क्योंकि यदि महावाक्य अभिधा (शक्तिवृत्ति) से ब्रह्म का बोध कराता है तो शक्तिवृत्ति के साथ ब्रह्म के सम्बन्ध (शक्तिविषयत्वरूपसम्बन्ध) का भी बोध होगा और लक्षणावृत्ति से ब्रह्म का बोध कराता है तो ''शक्यसम्बन्धो लक्षणा'' यह लक्षणा का लक्षण होने के कारण शक्यार्थ सम्बन्ध का भी बोध होगा। अतः सम्बन्ध से रहित ब्रह्म के बोध में महावाक्यों का पर्यवसान न होने से अव्याप्ति दोष होगा। अत एव = वेदान्त महावाक्यों में अव्याप्ति दोष होने से ही, एक विशेष्यार्थ बोधकत्व को भी अखण्डार्थ का लक्षण नहीं माना जा सकता है। {कहने का भाव यह है कि पूर्वोक्त प्रकार से अभिधा या लक्षणा के द्वारा महावाक्यों के द्वारा ब्रह्म के साथ—साथ सम्बन्ध का भी भान होगा और उस सम्बन्ध का विशेष्य ब्रह्म होगा। इस प्रकार एक विशेष्यार्थबोधकत्व महावाक्य में गया किन्तु सम्बन्धादि रहित ब्रह्म के भान में महावाक्यों का पर्यवसान न होने से अव्याप्तिदोष होगा।} उक्त प्रकार से अखण्डार्थत्व का लक्षण करने पर दूसरा दोष यह होगा कि नीलादि गुण विशिष्ट अर्थ के बोधक ''नीलमुत्पलम्'' इत्यादि सखण्डार्थकत्व बोधक वाक्यों में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि इस वाक्य में भी उत्पल रूप एक विशेष्य की बोधकता है। उक्त प्रकार से अखण्डार्थत्व का लक्षण करने पर हम को (द्वैतवादियों को) इष्टापत्ति भी है, क्योंकि सर्वज्ञतादि अनन्तगुण विशिष्ट भगवद्रूपैकविशेष्यप्रतिपादकत्व वेद वाक्यों में हम भी मानते हैं।।४।।

सिद्धान्ती का यह जो कथन है कि ''तत्'' और ''त्वम्'' इत्यादि अपर्यायशब्दों का संसर्गागोचर प्रमितिजनकत्व है। वह अखण्डार्थत्व है। {लक्षण घटक ''अपर्याय'' शब्द ''घटः'' कलशः ''हस्तः करः'' इत्यादि में अतिव्याप्ति वारण के लिए दिया गया है। लक्षण घटक ''शब्द'' शब्द इन्द्रियों में अतिव्याप्ति वारण के लिए दिया गया है। ''गामानय'' इत्यादि में अतिव्याप्ति वारण के लिए लक्षण घटक ''संसर्गागोचर'' शब्द दिया गया है। वाक्याभास में अतिव्याप्ति वारण के लिए ''प्रमिति'' शब्द दिया गया है। इस पर विशेष विचार चित्सुखी की ''नयनप्रसादिनी'' टीका में अखण्डार्थ निरूपण के उत्तर पक्ष में देखें}

अखण्डार्थत्वम्। तदुक्तं पञ्चपादिकाकृद्भि:—'पदानां परस्परानवच्छिन्नार्थानाम् अनन्याकाङ्क्षाणां अव्यतिरिक्तैकरसप्रातिपादिकार्थमात्रान्वय:' इति। उक्तञ्च तत्त्वप्रदीपिकाकृद्भि:—

'संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम्। उक्ताऽखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता'।। इति।।

तन्न; आद्ये 'अप्राप्तयो: प्राप्ति: संयोग:' इत्यादौ संयोगलक्षणवाक्येऽव्याप्ते:। अथ पदस्मारितपदार्थसंसर्गाप्रमापकत्वं विवक्षितम्, तत्रापि 'द्विषदन्नं न भोक्तव्यम्'इत्येतत्परे 'विषं भुङ्क्ष्व'इति

सत्यानन्दप्रबोधिका

अथवा अपर्यायशब्दों का एकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्व रूप अखण्डार्थत्व है। जैसा कि श्रीपञ्चपादिकार ने कहा है—''पदानां परस्परानवच्छिन्नार्थनामनन्याकांक्षाणामव्यतिरिक्तैकरसप्रातिप्रतिकार्थमात्रान्वय: सोऽयमित्यादि वाक्यस्थपदानामिव।'' {नीलमुत्पलम्— इत्यादि सखण्डार्थबोधक परस्परावच्छिन्नार्थक पदों की व्यावृत्ति करने के लिए पदों का विशेषण ''परस्परानवच्छिन्नार्थानाम्'' दिया गया है। इसी प्रकार ''उद्भिदा यजेत'' इत्यादि सखण्डार्थबोधक स्थल पर उद्भिद् और याग शब्द परस्परानवच्छिन्नार्थक होने पर भी नियोगाकाङ्क्षी माने जाते हैं। अत: ''उद्भिदा यजेत'' इत्यादि स्थल की व्यावृत्ति के लिए पदों का विशेषण ''अनन्याकाङ्क्षाणाम्'' दिया गया है। इसी प्रकार सखण्डार्थ बोधक पदों में कार्यकारणभाव से अन्वय की व्यावृत्ति के लिए ''अव्यतिरिक्त'' (कार्यकारणभाव से रहित), गुण गुण्यादि भाव से अन्वय की निवृत्ति के लिए ''एकरस'', उद्भिद् और यागार्थ के अन्वय की निवृत्ति के लिए ''प्रातिपदिक'' और लिङ्ग तथा संख्यादि के अन्वय की व्यावृत्ति के लिए मात्र पद दिया गया है।} इसी प्रकार तत्त्वप्रदीपिकाकार ने अखण्डार्थनिरूपण के अवसर पर सिद्धान्तपक्ष का समर्थन करते हुए कहा है—

संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम्।
उक्ताखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता।।

{गिराम्= अपर्याय शब्दों की, जो संसर्गागोचर प्रमिति की हेतुता है, वह अखण्डार्थता है। अथवा अपर्याय शब्दों की प्रातिपदिकार्थमात्र पर्यवसायित्व रूप अखण्डार्थत्व है।} इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि प्रथम लक्षण (अपर्यायशब्दानां संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वमखण्डार्थत्वम्) ठीक नहीं है,क्योंकि यह लक्षण ''अप्राप्तयो: प्राप्ति: संयोग:'' इत्यादि संयोगसम्बन्ध के लक्षण वाक्य में अव्याप्त है। अर्थात् उक्त संयोगलक्षण वाक्य में लक्षणवाक्यत्व होने से उसमें उक्त अखण्डार्थत्व का लक्षण जाना चाहिए किन्तु संयोगरूप संसर्गगोचरप्रमितिजनकत्व होने से संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वघटित लक्षण नहीं जा रहा है। अत: उक्त प्रथम अखण्डार्थत्व का लक्षण अव्याप्ति दोष से ग्रस्त है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि पद स्मारित जो पदार्थ हैं, तादृश पदार्थों का जो संसर्ग, तादृशसंसर्गागोचरप्रमितिजनकत्व को अखण्डार्थत्व का लक्षण हम मानते हैं, ऐसा अखण्डार्थत्व का लक्षण विवक्षित होने पर संयोगसम्बन्ध के उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं होगा, क्योंकि उक्त स्थल पर संयोग पदस्मारित संयोग संसर्ग ही प्रमा का गोचर है न कि संयोगादि पद स्मारित संयोगादिरूप पदार्थों का संसर्ग। अत: संयोग के उक्त लक्षण वाक्य में अखण्डार्थत्व का लक्षण समन्वय हो जायेगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त प्रकार से पूर्वोक्त स्थल में अव्याप्तिदोष का वारण ही जाने पर भी ''शत्रु का अन्न भोक्तव्य नहीं है।'' इस अर्थ के बोधक ''विषं भुङ्क्ष्व'' इस सखण्डार्थक वाक्य में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि इस वाक्य के ''विषम्'' और '' भुङ्क्ष्व'' इन दोनों पदों के द्वारा स्मारित जो दो पदार्थ हैं, उन दोनों पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रमात्मक बोध (विष खाओ— ऐसे बोध) की जनकता ''विषं भुङ्क्ष्व'' इस वाक्य में नहीं है, अपितु उससे

वाक्ये अतिव्याप्तिः।।५।।

न च 'द्विषदन्नं न भोक्तव्यम्' इति शास्त्रमूलत्वेन शास्त्रीयपदस्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापकत्वादत्र नातिव्याप्तिरिति वाच्यम्; युक्तिमूलत्वेनास्य शास्त्रमूलत्वासिद्धेः। अथ प्रतिपिपादयिषितपदार्थसंसर्गाप्रमापकत्वमत्र विवक्षितम्, तत्राप्यसम्भवः, चन्द्रब्रह्मादिशब्दार्थानां स्वरूपतो ज्ञाततयाऽप्रतिपिपादयिषितत्वेन संसर्गविशेषप्रतियोगित्वेनैव प्रतिपिपादयिषितत्वात्। अत एव न द्वितीयलक्षणमपि, तथा च लक्षणासम्भवात्

सत्यानन्दप्रबोधिका

भिन्न ''द्विषदन्नं न भोक्तव्यम्'' इस प्रमात्मक बोध की जनकता है।।५।।

यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि आप्तपुरुष के द्वारा कथित ''विषं भुङ्क्ष्व'' इस वाक्य का मूल '' द्विषदन्नं न भोक्तव्यम्'' यह शास्त्रीय वाक्य है। अर्थात् ''द्विषदन्नं न भोक्तव्यम्'' इस प्रकार के किसी शास्त्रीय वाक्य के आधार पर आप्तपुरुष ने ''विषं भुङ्क्ष्व'' इस वाक्य का प्रयोग किया है। इस शास्त्रीय वाक्य में आये हुए पदों के द्वारा स्मारित पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध का बोधन ''विषं भुङ्क्ष्व'' इस वाक्य के द्वारा होता है। अतः ''विषं भुङ्क्ष्व'' इस सखण्डार्थक वाक्य में अखण्डार्थत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''द्विषदन्नं न भोक्तव्यम्'' इस युक्तिमूलक ''विषं भुङ्क्ष्व'' यह वाक्य है, न कि शास्त्रीयमूलक। { कहने का भाव यह है कि यह आप्तपुरुष इस काल में अप्रसक्त शत्रु गृह में भोजन को देखकर मद्विषयक क्रोधवान् है, आप्त होता हुआ भी प्रमाणविरुद्ध कर्तव्यता को कहने वाला होने से। इसलिए ''शत्रु का अन्न भोक्तव्य नहीं है।'' इसी अभिप्राय से आप्तपुरुष ने इस वाक्य का प्रयोग किया है। इसलिए मुझे शत्रु के गृह में भोजन नहीं करना चाहिए—इत्यादिकारकयुक्ति मूलत्व ही ''विषं भुङ्क्ष्व'' इस वाक्य में है न कि शास्त्रीयमूलत्व। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि अखण्डार्थत्व के लक्षण वाक्य में आये हुए संसर्ग शब्द से संसर्गमात्र विवक्षित नहीं है अपितु जिन पदार्थों का प्रतिपादन करना वक्ता को अभीष्ट है, उन पदार्थों का पारस्परिक संसर्गविवक्षित है। इसलिए प्रतिपादन करने की इच्छा का विषयीभूत पदार्थसंसर्ग की अप्रमापकता ही अखण्डार्थता है। ''विषं भुङ्क्ष्व'' इस स्थल पर ''द्विषदन्नं न भोक्तव्यम्'' इस प्रकार शत्रु भोजन की अकर्तव्यता रूप प्रतिपिपादयिषित पदार्थों के संसर्ग की बोधकता ही है, अबोधकता नहीं। अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त प्रकार से अतिव्याप्ति दोष का वारण हो जायेगा किन्तु असम्भव दोष होगा, क्योंकि ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' और ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इत्यादि लक्षण वाक्यों के स्थल पर भी प्रश्नकर्ता चन्द्र और ब्रह्म के स्वरूप को जानता है। अर्थात् प्रश्नकर्ता यह जानता है कि चन्द्र या ब्रह्म नाम की कोई वस्तु है। अतः चन्द्र या ब्रह्म का स्वरूप प्रतिपिपादयिषित नहीं हो सकता है, अपितु अपकृष्टप्रकाशभिन्नत्वेन या प्रकृष्टप्रकाशसंसर्गित्वेन चन्द्र और असत्यभिन्नत्वेन या सत्याद्यर्थ तादात्म्यापन्नत्वेन ब्रह्म प्रतिपिपादयिषित माना जाता है। अर्थात् इतरभिन्नत्वेन अथवा व्यावर्तक धर्मविशिष्टत्वेन बोध करना ही प्रश्नकर्ता को अभीष्ट है। इस प्रकार लक्षणवाक्य भी प्रतिपिपादयिषित इतरभेद के साथ अथवा व्यावतर्क धर्म के साथ लक्ष्य के संसर्ग का प्रमापक ही है अप्रमापक नहीं। अतः असम्भवदोष हो जाता है। अत एव= उक्त प्रकार से असम्भवदोष होने के कारण से ही, द्वितीय लक्षण (तेषामेकप्रातिपदिकार्थपर्यवसायित्वम्) भी सम्भव नहीं है, क्योंकि स्वरूपज्ञात ब्रह्म का असत्यभिन्नत्वेन या सत्याद्यर्थतादात्म्यापन्नत्वेन ही प्रतिपादन होता है। अतः लक्षणस्थ सभी पदों के द्वारा प्रातिपदिकार्थमात्र की बोधकता सम्भव नहीं होने से द्वितीय लक्षण में भी असम्भवदोष है। जिस वस्तु का लक्षण सम्भव नहीं होता है, उस वस्तु की सिद्धि में प्रमाण का उपन्यास नहीं किया जाता

प्रमाणमप्यसम्भवि, अलक्षिते प्रमाणस्योपन्यसितुमशक्यत्वादिति।।६।।

अत्रोच्यते—पदवृत्तिस्मारितातिरिक्तमत्र संसर्गपदेन विवक्षितम्। तथा चापर्यायशब्दानां पदवृत्तिस्मारितातिरिक्तसंसर्गागोचरप्रमाजनकत्वमाद्यलक्षणं पर्य्यवसितम्। तथा च न संयोगलक्षणेऽव्याप्तिः; तस्य पदवृत्तिस्मारितत्वात्। नापि द्विषदन्नभोजननिषेधकेऽतिव्याप्तिः, तत्रानिष्टसाधनत्वसंसर्गस्य पदवृत्त्यस्मारितस्य प्रतिपाद्यत्वात्। शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकावित्यत्र त्वखण्डार्थत्वमिष्टमेव। न च धर्मधर्मिभावासहमखण्डार्थत्वं

सत्यानन्दप्रबोधिका

है, क्योंकि अलक्षित पदार्थ में प्रमाण का उपन्यास करना सम्भव नहीं होता है।।६।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि खण्ड संख्या ५ में कथित ''अपर्यायशब्दानां संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वमखण्डार्थत्वम्'' इस प्रथम लक्षण में स्थित संसर्ग पद से पदवृत्ति (लक्षणा और शक्ति) से स्मारित जो संसर्ग है, उस संसर्ग से भिन्न जो संसर्ग है, उसको संसर्ग पद से कहा गया है। अतः प्रथम लक्षण का आकार होगा—अपर्यायिशब्दों का पदवृत्ति स्मारित संसर्ग से अतिरिक्त संसर्ग अगोचर प्रमिति जनकत्व अखण्डार्थत्व है। मूल में ''अपर्यायशब्दानां पदवृत्तिस्मारितातिरिक्तागोचरप्रमाजनकत्वम्'' ऐसा पाठान्तर भी मिलता है। आद्य लक्षण का ऐसा पर्यवसित स्वरूप होने पर ''अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः'' इस संयोग के लक्षण में अव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि लक्ष्यरूप संयोग रूप अर्थ में पद वृत्तिस्मारितत्व है। अर्थात् लक्ष्य रूप संयोग पद में शक्ति आदि वृत्ति रहती है, उस वृत्ति के द्वारा लक्ष्य रूप जो संयोग है। उसका संसर्गरूप अर्थ स्मारित है, उस स्मारित संयोगरूपसंसर्ग से अतिरिक्त संसर्ग= ''अप्राप्तयोः'' इस पद के अर्थ का ''प्राप्तिः'' इस पद के अर्थ के साथ का संसर्ग है। इस संसर्ग अविषयक प्रमाजनकत्व लक्ष्य के ज्ञान में है। अतः अव्याप्तिदोष नहीं है। उक्त प्रकार से अखण्डार्थकत्व का लक्षण करने पर शत्रु अन्नकर्मक भोजन निषेधक वाक्य (विषं भुङ्क्ष्व) में अखण्डार्थकत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति भी नहीं होगी, क्योंकि उक्तार्थक वाक्य के द्वारा शत्रु अन्न भोजन के साथ में अनिष्टसाधनत्व के संसर्ग का बोध होता है,जो कि किसी वाचक पद की शक्ति—आदि वृत्ति के द्वारा स्मारित नहीं है। अतः उक्तार्थक वाक्य में पदवृत्ति स्मारित संसर्ग से अतिरिक्त संसर्ग प्रमा की जनकता ही है न कि संसर्ग अविषयक प्रमा की जनकता। इसलिए अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा। पूर्वपक्षी ने खण्ड संख्या ४ में ''शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकौ'' इस स्थल पर जो अतिव्याप्ति दोष दिया था। उसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकौ'' यह पय और पावक का लक्षण वाक्य है। अतः इसमें अखण्डार्थत्व का लक्षण जाना अभीष्ट ही है। अतः अतिव्याप्तिदोष नहीं है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''नीलमुत्पलम्'' इत्यादि वाक्य के द्वारा नील और उत्पल ऐसे दो पदार्थों का बोध होता है, जिन दो पदार्थों में विशेषण—विशेष्यभाव (धर्म—धर्मिभाव) होता है। ऐसे स्थल पर भी सिद्धान्ती जब अखण्डार्थत्व नहीं मानते हैं। (क्योंकि यहां पर पदवृत्ति से स्मारित पदाथों के संसर्ग का भान होता है।) तब पयः पावकरूप दो भिन्न धर्मी विषयक ''शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकौ'' इस वाक्य में अखण्डार्थत्व नहीं मान सकते हैं, क्योंकि यहां पर पदवृत्ति से स्मारित दोनों धर्मियों में संसर्ग का भान स्पष्ट रूप से हो रहा है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि विशेषणविशेष्यभाव स्थल पर अखण्डार्थत्व न मानने में जो असहिष्णुता (आपत्ति) है। उस असहिष्णुता को दो भिन्न धर्मी विषयक वााक्य स्थल पर अखण्डार्थत्व न मानने में हेतु नहीं माना जा सकता है, क्योंकि विशेषणविशेष्यभाव (धर्मधर्मिभाव)

कथं धर्मिभेदं सहतामिति वाच्यम्, एकत्रासहिष्णुतायाः सर्वत्रासहिष्णुतायामहेतुत्वात्, शीतस्पर्शवत् पयः, उष्णस्पर्शवान् पावक इति वाक्यार्थभेदाच्च। असम्भवस्तु 'तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वात्' इति हेत्वसिद्ध्युद्धारे निरसिष्यते।।७।।

अत्र च 'घटः कलशः' इत्यादौ संसर्गाप्रमापके एकार्थपरेऽतिव्याप्तिवारणायापर्य्यायशब्दानामिति। तत्रापि बहुवचनेन सम्भूयैकार्थप्रतिपादकत्वस्य लाभान्न'धवखदिरपलाशाः' इत्यादावतिव्याप्तिः। पदज्ञाप्येत्युक्ते अर्थापत्त्या पदज्ञाप्यमनिष्टसाधनत्वमादाय 'विषं भुङ्क्ष्व'इति वाक्ये अतिव्याप्तिः स्यात्तद्वारणाय वृत्तीति, तथाप्यन्विताभिधानवादिमते शक्त्याऽभिहितान्वयवादिमते च लक्षणया वाक्यार्थभूतसंसर्गस्य वृत्तिज्ञाप्यत्वात्

सत्यानन्दप्रबोधिका

रूप पदार्थ से धर्मी भेदरूप पदार्थ भिन्न होता है। दूसरी बात यह है कि ''शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकौ'' इस स्थल पर ''शीतस्पर्शवाला जल है।'' और ''उष्णस्पर्शवाला अग्नि है।'' इस प्रकार से वाक्यद्वय घटक प्रत्येक लक्षणवाक्य को लक्ष्य माना जाता है न कि समुदित वाक्य को। प्रत्येक लक्षण वाक्य में अखण्डार्थत्व का लक्षण जा भी रहा है और उसमें धर्मी भेद भी नहीं है। अतः कोई दोष नहीं है। पूर्वपक्षी ने खंड संख्या ६ में जो असम्भव दोष देते हुए कहा था– तत्राप्यसम्भवः, चन्द्र ब्रह्मादिशब्दार्थानाम्....... प्रतिपिपादयिषितत्वात्। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उक्त असम्भव दोष का निराकरण '' सत्याद्यवान्तरवाक्याखण्डार्थत्वेऽनुमानविचारः'' में ''सत्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठं, ब्रह्मप्रातिपदिकार्थमात्रनिष्ठं वा, लक्षणवाक्यत्वात्, तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वाद्वा, ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इत्यादिवाक्यवत्– इस अनुमान के ''तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वात्'' इस हेतु गत असिद्धिदोष का निराकरण करते समय किया जायेगा।।७।।

अपर्यायशब्दानां पदवृत्तिस्मारितातिरिक्तसंसर्गागोचरप्रमाजनकत्वमखण्डार्थत्वम्'' इस अखण्डार्थत्व के लक्षण का पदकृत्य करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि इस लक्षण में ''अपर्यायशब्दानाम्'' यह विशेषण न देने पर ''घटः कलशः'' इत्यादि संसर्गविषयक एकार्थविषयक प्रमा के जनक वाक्यों में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि उक्त स्थल पर ''पदवृत्तिस्मारितातिरिक्तसंसर्गागोचरप्रमाजनकत्व'' लक्षण का यह भाग समन्वय हो रहा है। ''अपर्यायशब्दानाम्'' कहने पर उक्त स्थल पर अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा, क्योंकि ''घटः कलशः'' इत्यादि पर्यायवाची शब्द हैं। उक्त लक्षण घटक '' अपर्यायशब्दानाम्'' में जो बहुवचन है। उससे मिलकर एकार्थप्रतिपादकत्व का लाभ होता है। अर्थात् ''अपर्यायशब्दानाम्'' से यह अर्थ बोधित है कि जो अनेक शब्द पर्यायवाची न हो और सब मिलकर के एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हो–ऐसे अनेक शब्दों का पदवृत्तिस्मारित संसर्ग से अतिरिक्त संसर्ग अगोचर प्रमिति जनकत्व आद्यलक्षण पर्यवसित होता है। ऐसा होने से ''धवखदिरपलाशाः'' इत्यादि वाक्यों में अतिव्याप्ति नहीं होती है। कहने का भाव यह है कि धव, खदिर और पलाश ये अपर्यायवाची शब्द हैं और तीनों शब्द तीन प्रातिपदिकार्थ का बोधन करा रहे हैं। अतः पदवृत्ति से स्मारित जो संसर्ग उससे अतिरिक्त संसर्ग का बोधन नहीं करा रहे हैं। अतः अतिव्याप्ति होगी। बहुवचन कहने से ये सब मिलकर एक ही अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर रहे हैं। अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी। ''पदवृत्तिस्मारित'' न कहकर ''पदज्ञाप्य'' यह संसर्ग का विशेषण देने पर ''द्विषदन्नभोजनमनिष्टसाधनमित्यर्थं विना आप्तोक्तस्य विषमित्यादिवाक्यस्यार्थवत्त्वमनुपपन्नम्'' इत्यादि रूप अर्थापत्ति के बल पर पद ज्ञाप्य जो अनिष्टसाधनत्व अर्थात् शत्रु अन्नभोजननिष्ठ अनिष्ट साधनत्व संसर्ग है। उस संसर्ग को लेकर ''विषं भुङ्क्ष्व'' इस वाक्य में अतिव्याप्ति होगी। अर्थात् ''विषं भुङ्क्ष्व'' ये दोनों पद अपर्यायवाची है और पदज्ञाप्य

सर्वत्र प्रमाणवाक्येऽतिव्याप्तिः स्यात्तद्वारणाय उक्तं स्मारितेति; आद्य पक्षे कुब्जशक्त्यङ्गीकारात्, द्वितीयपक्षे चाज्ञाताया एव पदार्थनिष्ठाया लक्षणाया वृत्तित्वाङ्गीकारान्न संसर्गस्य पदस्मारितत्वम्,किन्तु अनुभाव्यत्वमिति—अतिव्याप्तिपरिहारः।।८।।

एवं द्वितीयमपि लक्षणं सम्यगेव। तत्राप्येकत्वं प्रातिपदिकार्थस्यैकधर्मावच्छेदेन वृत्तिविषयत्वम्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

जो शत्रु अन्न भोजननिष्ठ अनिष्टसाधनत्वरूप संसर्ग है। उससे अतिरिक्त किसी संसर्ग को बोधन कराने वाला प्रमाजनकत्व भी ''विषं भुङ्क्ष्व'' इस वाक्य में नहीं है। अतः अतिव्याप्ति होगी। ''पदवृत्तिस्मारित'' कहने पर अतिव्याप्ति नहीं होगी,क्योंकि ''विषम्'' और ''भुङ्क्ष्व'' इन दोनों पदों में जो शक्तिवृत्ति है या लक्षणावृत्ति है, इनमें से किसी भी वृत्ति द्वारा शत्रु अन्नभोजननिष्ठ अनिष्टसाधनत्वरूपसंसर्ग स्मारित नहीं है। इसलिए पदवृत्ति से स्मारित संसर्ग से अतिरिक्त उक्त अनिष्टसाधनत्वरूप संसर्ग है। तद् गोचर प्रमाजनकत्व ही ''विषं भुङ्क्ष्व'' इस वाक्य में है न कि तद् अगोचरप्रमाजनकत्व। अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी। पूर्वोक्त प्रकार से ''विषं भुङ्क्ष्व'' इत्यादि वाक्यों में अतिव्याप्ति का वारण होने पर भी अन्विताभिधानवादी प्रभाकर के मत में शक्तिवृत्ति के द्वारा वाक्यार्थभूत संसर्ग की उपस्थिति मानी जाती है और अभिहितान्वयवादी भट्ट के मत में लक्षणावृत्ति के द्वारा वाक्यार्थभूत संसर्ग की उपस्थिति मानी जाती है। इसलिए सभी प्रमाण वाक्यों में अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि उक्त दोनों ही मतों में पदवृत्ति के द्वारा जो वाक्यार्थरूपसंसर्ग का बोधन प्रमाणवाक्यों के द्वारा हो रहा है, उससे अतिरिक्त किसी अन्य संसर्ग के प्रमा की जनकता प्रमाण वाक्यों में नहीं है। इस प्रकार के अतिव्याप्तिदोष के वारण के लिए 'स्मारित' कहा गया है। ''पदवृत्तिस्मारित'' कहने पर अतिव्याप्तिदोष का वारण हो जायेगा। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि आद्य पक्ष में अर्थात् अन्विताभिधानवादी प्रभाकर के मत में प्रकृत्यर्थ तथा प्रत्ययार्थ इन दोनों में शक्तिज्ञात हुई कार्य करती है और संसर्गांश (वाक्यार्थ) में स्वरूप सती होती हुई कार्य करती है। अर्थात् इस मत में पद में दो प्रकार की शक्ति मानी जाती है। प्रथम—घटमानय—यहां पर पद घटत्व और कर्मता के बोध करने की शक्ति वाला है— इस प्रकार से पद में शक्ति का ज्ञान होने पर पद से पदार्थ का बोध होता है। द्वितीय— पद में जो वाक्यार्थ बोध को उत्पन्न करने की शक्ति है। पदनिष्ठ इस शक्ति का ज्ञान होगा तब जाकर वाक्यार्थ बोध होगा—ऐसी बात नहीं है किन्तु वह शक्ति पद में स्वरूप सती (स्वरूप से रहती हुयी) वाक्यार्थ बोध के प्रति कारण हो जाती हैं न कि ज्ञात होकर। इसी को कुब्ज शक्ति कहते हैं। अर्थात् यन्निरूपितत्त्वेन शक्ति का ज्ञान शाब्दबोध का हेतु न हो और स्वरूपसती शक्ति यद्विषयक शाब्दबोध को उत्पन्न करती हो, तद्विषय में वह शक्ति कुब्जशक्ति मानी जाती है। इस प्रकारपदगतकुब्ज शक्ति के द्वारा संसर्गरूप वाक्यार्थ का अनुभव होता है न कि स्मृति। अतः वाक्यार्थ पद के द्वारा अनुभाव्य हुआ। पद के द्वारा स्मारित नहीं। अतः ''पदवृत्तिस्मारित'' कहने से प्रभाकर के मतानुसार प्रमाणवाक्यों में अतिव्याप्ति नहीं होगी। द्वितीय पक्ष में अर्थात् अभिहितान्वयवादी भट्ट के मत में वाक्यार्थबोध के लिए पदार्थनिष्ठ अज्ञात लक्षणा का ही वृत्तित्व स्वीकार किया जाता है, न कि शक्तिवृत्ति को। अर्थात् शक्यसम्बन्धरूप लक्षणा का वाक्यार्थ (संसर्ग) बोधा में सत्त्व होने पर भी उसके ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। इस प्रकार इस मत में भी संसर्ग (वाक्यार्थ) पदवृत्ति के द्वारा स्मारित नहीं है किन्तु अनुभाव्य (अनुभवीयविषयताविशिष्ट) ही है। अतः ''पदवृत्तिस्मारित'' कहने से भट्टमतानुसार भी प्रमाणवाक्यों में अतिव्याप्ति नहीं होगी।।८।।

इसी प्रकार खण्ड संख्या ५ में कहा गया अखण्डार्थत्व का द्वितीय लक्षण

नत्वेकमात्रव्यक्तित्वम्। अतो यौगिकार्थौपगवादिप्रश्नोत्तरे 'श्यामो दीर्घः लोहिताक्ष औपगवः' इत्यादौ अनेकार्थात्मके वनसेनादिप्रश्नोत्तरे एकदेशस्था वृक्षा वनमित्यादौ च नाव्याप्तिः। 'शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकौ' इति तु प्रत्येकमेकैकार्थपरत्वात् संग्राह्यमेव। तदुक्तं कल्पतरुकृद्भिः —

'अविशिष्टमपर्यायानेकशब्दप्रकाशितम्। एकं वेदान्तनिष्णाता अखण्डं प्रतिपेदिरे॥' इति॥९॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

(तेषामेकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वम्) भी उचित ही है। {इस लक्षण के घटक ''एक प्रातिपदिकार्थ'' के द्वारा प्रतिपादित प्रातिपदिकार्थनिष्ठ एकत्व का अर्थ यदि एक प्रातिपदिकार्थ व्यक्ति किया जाता है तब अखण्डार्थ में जहां अनेक प्रातिपदिकार्थ व्यक्तियों का भान होता है, वहां अखण्डार्थत्व का लक्षण न जाने से अव्याप्ति हो जायेगी। जैसे— उपगोरपत्यं पुमान् औपगवः कः? इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर दिया गया—श्यामो दीर्घो लोहिताक्ष औपगवः। (श्यामरङ्ग लम्बे कद और लाल नेत्रों वाला पुरुष उपगु का पुत्र है।) यहां यद्यपि लक्ष्य व्यक्ति एक है किन्तु श्यामत्व दीर्घत्व लोहिताक्षत्व उपगुपुत्रत्व इत्यादि अनेक प्रातिपदिकार्थ व्यक्तियों का भान हो रहा है। इसलिए यहां अव्याप्ति दोष होगा। इसी प्रकार '' किं वनम्?'' इस प्रश्न का उत्तर होता है—एकदेशस्थाः वृक्षाः वनम्। (एकत्र अवस्थित अनेक वृक्षों को वन कहा जाता है।) यहां भी लक्ष्य वन एक ही है किन्तु यहां अनेक प्रातिपदिकार्थ व्यक्तियों का भान हो रहा है। अतः अव्याप्तिदोष होगा। इसी प्रकार ''का सेना?'' इस प्रश्न का उत्तर होता है कि ''गजाः रथाः अश्वाः पदातयः सेना। (गजों से युक्त, रथों से युक्त, अश्वों से युक्त तथा पैदल सैनिकों से युक्त को सेना कहते हैं।) यहां भी लक्ष्य एक है किन्तु अनेक प्रातिपदिकार्थ व्यक्तियों का भान हो रहा है। अतः अव्याप्तिदोष होगा।} इस प्रकार के अव्याप्तिदोष का वारण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि लक्षण घटक प्रातिपदिकार्थनिष्ठ एकत्व का अर्थ एकधर्मावच्छेदेन वृत्तिविषयत्व रूप है न कि एकमात्र व्यक्तित्वरूप। अर्थात् एक धर्मावच्छेदेन प्रातिपदिकरूप पद की वृत्तिविषयता। इस प्रकार से लक्षण घटक प्रातिपदिकार्थनिष्ठ एकत्व का अर्थ करने पर ''उपगोरपत्यं पुमान् औपगवःकः?'' इस प्रकार से यौगिक है अर्थ जिसका ऐसा जो तद्धितान्त औपगवविषयक प्रश्न है। उसके उत्तरभूत जो ''श्यामो दीर्घो लोहिताक्ष औपगवः'' इत्याकारक वाक्य में अव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि एक ही उपगुपुत्रत्व रूप धर्मावच्छेदेन श्याम दीर्घ इत्यादि अनेक प्रातिपदिकार्थ वृत्ति के विषय हैं। इसी प्रकार अनेक जो अर्थ = वृक्ष गज तुरगादि, तदात्मक जो वन और सेनादि तद् विषयक प्रश्न (किं वनम्, का सेना) के उत्तरभूत वाक्य में अव्याप्तिदोष नहीं होगा, क्योंकि वन और सेना के लक्षणस्थल में वनत्वावच्छेदेन और सेनात्वावच्छेदेन अनेक प्रातिपदिकार्थ में वृत्तिविषयत्व है। {यहां वृत्तिविषयत्व का अर्थ— वृत्तिज्ञानाधीन—ज्ञानविषयत्व। वृत्ति शब्द से शक्ति—लक्षणा—कृत्— तद्धित और समास— इनमें से अन्यतम का ग्रहण है। औपगव स्थल पर तद्धितरूप वृत्ति है और वन तथा सेना स्थल पर शक्तिरूपवृत्ति है। अतः तद्धितज्ञानाधीनज्ञानविषयत्वविशिष्टविषयकप्रमितिजनकत्वेन ''श्यामो दीर्घो लोहिताक्ष औपगवः'' इस लक्षण वाक्य में अखण्डार्थत्व का लक्षण समन्वय हो जाता है और शक्तिज्ञानाधीनज्ञानविषयत्वविशिष्टविषयकप्रमितिजनकत्वेन वन सेनादि के लक्षण वाक्यों में अखण्डार्थत्व का लक्षण समन्वय हो जाता है।} अतः अव्याप्ति दोष नहीं है। ''शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयःपावकौ'' यहां पर भी प्रत्येक वाक्य एक अखण्ड अर्थ का बोधक ही है। अतः यह स्थल भी अखण्डार्थत्व लक्षण का लक्ष्य ही है। इसी को स्पष्ट करते हुए कल्पतरुकार ने कहा है—

अविशिष्टमपर्यायानेकशब्दप्रकाशितम्। एकं वेदान्तनिष्णाता अखण्डं प्रतिपेदिरे॥

{अविशिष्ट (पदार्थान्तर से अनन्वित) अनेक अपर्याय शब्दों से प्रकाशित एक वृत्ति विषय को

ननु– प्रवृत्तिनिमित्तभेदे अपर्यायत्वम्, स च अनन्तादिपदेषु न सम्भवति; शुद्धब्रह्ममात्रनिष्ठत्वात्, अतो वेदान्तेषु लक्षणाऽव्याप्तिरिति–चेन्न; प्रवृत्तिनिमित्तभेदं स्वीकृत्यैव लक्षणयाऽनन्तादिपदानां शुद्धब्रह्मपरत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। न च शुद्धे सम्बन्धाभावान्न लक्षणापीति वाच्यम्; अतात्त्विकसम्बन्धेनैव लक्षणोपपत्तेः भ्रमप्रतीतरजतत्वेन सम्बन्धेन शुक्तौ रजतपदलक्षणावत्। शुद्धस्यैव सर्वकल्पनास्पदत्वेन शुद्धे न कल्पितसम्बन्धानुपपत्तिः। यथा चानन्तादिपदानां लाक्षणिकत्वेऽपि ब्रह्मणि नान्तवत्त्वादिप्रसङ्गः तथा वक्ष्यते।।१०।।

इत्यद्वैतसिद्धौ–अखण्डार्थलक्षणोपपत्तिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अर्थात् एकनिर्विशेष अर्थ को वेदान्तनिष्णात आचार्यों ने अखण्डार्थ कहा है।}।।९।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि अपर्यायवाची उन शब्दों को कहा जाता है, जिनके प्रवृत्ति निमित्त (शक्यतावच्छेदक= जातिगुणक्रियादि) भिन्न–भिन्न होते हैं। जैसे घट–पट–मठ इत्यादि स्थल पर प्रवृत्तिनिमित्त घटत्व–पटत्व–मठत्व भिन्न–भिन्न है। अतः घट पट मठ इत्यादि अपर्यायवाची शब्द कहे जाते हैं किन्तु ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तै.उ. २–१–१) इत्यादि स्थल पर सत्य–ज्ञान और अनन्तादि पदों में प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न–भिन्न सम्भव नहीं है,क्योंकि सत्य–ज्ञान और अनन्तादि पदों का शक्य एकमात्र शुद्ध ब्रह्म ही माना जाता है। अतः ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इत्यादि लौकिकवाक्यों में उक्त अखण्डार्थकत्व के लक्षण के जाने पर भी वेदान्त वाक्यों में उक्त अखण्डार्थकत्व के लक्षण के न जाने से अव्याप्तिदोष होगा।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सत्य–ज्ञान–अनन्तादि पदों का प्रवृत्तिनिमित्त सत्यत्व–ज्ञानत्व और अनन्त्वादि भिन्न–भिन्न स्वीकार किया जाता है। अतः सत्यादि पदों में अपर्यायत्व मानना सम्भव है। इस प्रकार प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न–भिन्न होने पर भी लक्षणा के द्वारा सत्यादि सभी पदों का पर्यवसान शुद्ध ब्रह्ममात्र में माना जाता है। इसका निरूपण 'तत्त्वमस्यादिवाक्याखण्डार्थत्वविचार'' में खण्ड संख्या–३ में ''भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोरेकार्थबोध परत्वं सामानाधिकरण्यम्'' इति प्राचां वचोऽपि निष्प्रकारके सुतरामुपपद्यते'' इत्यादि के द्वारा किया जायेगा।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने जो कहा कि प्रवृत्तिनिमित्त के भिन्न–भिन्न होने पर भी लक्षणा के द्वारा सत्यादि पदों का पर्यवसान शुद्ध ब्रह्म में हो जाता है। वह उचित नहीं है, क्योंकि सत्यादि पदों का वाच्यार्थ (शक्यार्थ) सत्यत्वादि है। उससे शुद्ध ब्रह्म का कोई तात्त्विकसम्बन्ध ही नहीं है। अतः शक्य सम्बन्धरूप लक्षणा के द्वारा सत्यादि पदों का पर्यवसान शुद्ध ब्रह्म में नहीं माना जा सकता है।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सत्यादि पदों के शक्यार्थ सत्यत्वादि का शुद्ध ब्रह्म के साथ तात्त्विक सम्बन्ध न होने पर भी कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध है। उस अतात्त्विक सम्बन्ध से ही लक्षणा की उपपत्ति हो जाने से सत्यादि पदों के द्वारा शुद्ध ब्रह्म का बोध हो जायेगा। जैसे ''इदं रजतम्'' इस भ्रमस्थल पर शुक्ति में रजतत्व का वास्तविक कोई सम्बन्ध न रहने पर भी शुक्ति में रजतत्व के अवास्तविक सम्बन्ध को लेकर के शुक्ति में रजत पद की लक्षणा की जाती है। शुद्ध ब्रह्म ही सम्पूर्ण कल्पनाओं का अधिष्ठान हैं अतः शुद्ध ब्रह्म में कल्पिततादात्म्यसम्बन्ध मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी। (पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो कहा जाता है कि ''गङ्गायां घोषः'' इस स्थल पर गङ्गापद का लक्ष्यार्थ जैसे गङ्गा से भिन्न तीरादि होता है वैसे ही अनन्तादि पद का लक्ष्यार्थ अनन्त (ब्रह्म) से भिन्न अन्तवान् ही होना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि) लक्ष्यार्थ हमेशा वाच्यार्थ से भिन्न होता है– यह नियम केवल जहद्लक्षणा स्थल पर ही माना जाता है। प्रकृत में जहदजहद्–लक्षणा (भागत्यागलक्षणा) है। अतः अनन्तादि पदों का लक्ष्यार्थ ब्रह्म हो ही सकता है। इसका निरूपण आगे किया जायेगा।।१०।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामखण्डार्थलक्षणोपपत्तिः

२—सत्याद्यवान्तरवाक्याखण्डार्थत्वेऽनुमानविचारः

एवं लक्षणसम्भवे प्रमाणसम्भवोऽपि। तथाहि सत्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठम्, ब्रह्मप्रातिपदिकार्थमात्रनिष्ठं वा, लक्षणवाक्यत्वात् तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वाद्वा, 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' इत्यादिवाक्यवदिति पदार्थविषयाखण्डार्थत्वानुमानम्। तत्त्वमस्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठम्, आत्मस्वरूपमात्रनिष्ठं वा, अकार्यकारणद्रव्यमात्रनिष्ठत्वे सति समानाधिकरणत्वात् तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वाद्वा, सोऽयमित्यादिवाक्यवदिति वाक्यार्थविषयाखण्डार्थत्वानुमानम्, न च सत्यादिवाक्ये तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वमसिद्धम्; 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति ब्रह्मवेदनस्यैवेष्टसाधनतया तन्मात्र एव बुभुत्सातः तन्मात्रस्यैव प्रश्नविषयत्वात्। न च प्रकृष्टादिवाक्ये

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वोक्त प्रकार से ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तै.२—१—१) इत्यादि वेदान्त वाक्यों में सिद्धान्ती के द्वारा प्रतिपादित जो अखण्डार्थत्व है, उसका लक्षण सम्भव है। इसे पूर्व प्रकरण में जैसे—दिखलाया गया। ठीक उसी प्रकार से उक्त वेदान्त वाक्यों में अखण्डार्थत्व रहता है। इसमें प्रमाण भी सम्भव है—इसको इस प्रकरण में दिखलाया जा रहा है। जैसे—सत्यादि वाक्य अखण्डार्थ के बोधक होते हैं, अथवा ब्रह्मप्रातिपदिकार्थ मात्र के बोधक होते हैं, क्योंकि लक्षणवाक्य है, अथवा तन्मात्रविषयक प्रश्न के उत्तर वाक्य है। यथा—प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः—इत्यादि वाक्य। {अर्थात् ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इस दृष्टान्त वाक्य में अखण्डार्थनिष्ठत्वरूप तथा चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्रनिष्ठत्वरूप साध्य है और लक्षणवाक्यत्वरूप तथा तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वरूप हेतु भी है। अतः व्याप्ति मिल गयी। पक्ष (सत्यादि वाक्य) में लक्षण वाक्यत्व रूप हेतु और तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वरूप हेतु के रहने से पक्षधर्मता भी है। इस प्रकार व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मताज्ञान रूप परामर्श के होने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जाती है।} इस अनुमान के द्वारा पदार्थनिष्ठ अखण्डार्थकत्वसिद्ध होता है। वाक्यार्थनिष्ठ अखण्डार्थकत्व को सिद्ध करने वाला अनुमान इस प्रकार है—''तत्त्वमसि''—इत्यादिवाक्य अखण्डार्थ के बोधक होते हैं अथवा आत्मस्वरूप मात्र के बोधक होते हैं, क्योंकि जिस द्रव्य में कार्य—कारण भाव नहीं है। ऐसे द्रव्यमात्र का बोधक होता हुआ समानाधिकरण (समानविभक्त्यन्त नाना पद वाले) वाक्य है अथवा तन्मात्रविषयकप्रश्न के उत्तर वाक्य हैं। जैसे— सोऽयम्—इत्यादि वाक्य। पक्ष में हेतु के रहने से तथा दृष्टान्त में हेतु और साध्य के रहने से परामर्श की सिद्धि हो गयी। परामर्श के सिद्ध हो जाने पर पक्ष में साध्य की सिद्धि सूपपन्न है। इस प्रकार के अनुमान से वाक्यार्थनिष्ठ अखण्डार्थत्व सिद्ध हो जाता है। पदार्थ निष्ठ अखण्डार्थकत्व साधक अनुमान के पक्ष= सत्यादि वाक्य=सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म—इत्यादि वाक्य में तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्व (ब्रह्ममात्रविषयक प्रश्न की उत्तररूपता) रूप हेतु नहीं है। ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि ''ब्रह्मविदाप्नोति परम्'' (तै०उ० २—१—२) इस प्राकरणिक वाक्य से यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मज्ञान ही प्रतिपिपादयिषित है, ब्रह्ममात्र में ही जिज्ञासा है। अतः ब्रह्ममात्र ही प्रश्न का विषय है। जब ब्रह्ममात्र ही प्रश्न का विषय है तब प्रश्न और उत्तर में वैयधिकरण्य न हो जाय। इसके लिए उत्तर को भी ब्रह्ममात्र विषयक ही मानना होगा। ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इस दृष्टान्त वाक्य में साध्य का अभाव है, क्योंकि इस वाक्य के द्वारा चन्द्र से इतर से भिन्नत्व विशिष्ट चन्द्र का बोध होता है। अतः इस वाक्य से अखण्डार्थ का बोध नहीं है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि ''प्रकृष्टप्रकाशः—इति वाक्यं चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्रनिष्ठम्, तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वात्'' इस प्रकार से अनुमान करके ''यत् यन्मात्रप्रश्नोत्तरं तत् तन्मात्रनिष्ठम्'' (अर्थात् जिस पदार्थ के प्रश्न का जो उत्तर वाक्य है, वह उस पदार्थ मात्र का बोधक है।) इस प्रकार की सामान्य व्याप्ति का आश्रय करके दृष्टान्त वाक्य में साध्य की सिद्धि की जा सकती

साध्यवैकल्यम्; तद्वाक्यं पक्षीकृत्य तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वेन चन्द्रमात्रनिष्ठतायाः सामान्यव्याप्तिमवलम्ब्य साधनात्।१ ।।

एवं 'तत्त्वमसि'आदिवाक्येऽपि तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वं नासिद्धम्; 'कोऽहम्' इत्यात्मस्वरूपस्यैव प्रश्नविषयत्वेन तदधिकप्रत्युक्तेरयुक्तेः। नाप्यत्र दृष्टान्तासिद्धिः, देवदत्तस्वरूपमात्रे पृष्टे अस्य प्रवृत्तेः। न चाप्रयोजकत्वम्; प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यापत्तेः विपक्षबाधकतर्कस्य विद्यमानत्वात्। न च संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वं साध्यमप्रसिद्धम्। प्रत्यक्षादिनापि इदमित्थमिति विशेष(ण)संसर्गगोचराया एव प्रमितेर्जननादिति वाच्यम्;

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। अतः दृष्टान्त में साध्यवैकल्यदोष नहीं दिया जा सकता है।१ ।।

इसी प्रकार से ''तत्त्वमसि'' (छा०उ० ६–८–७) इत्यादि वाक्यों में वाक्यार्थविषयक–अखण्डार्थकत्व के साधक हेतु (तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्व) गत भी स्वरूपासिद्धि दोष नहीं है, क्योंकि '' मैं क्या हूं?'' इस प्रकार से आत्मस्वरूप विषयक ही प्रश्न है। अतः आत्मस्वरूप मात्र से अधिक (धर्म या सम्बन्ध) विषयक उत्तर देना अयुक्त है। (अर्थात् आत्मस्वरूप मात्र में जिज्ञासा है। अतः तन्मात्रविषयक उत्तर को ही युक्तियुक्त माना जा सकता है। उससे अधिक विषयक उत्तर को उचित नहीं माना जा सकता है।) इसी प्रकार तत्त्वमस्यादि पक्षक अनुमान के दृष्टान्त (सोऽयम्इत्यादि वाक्य) में हेतु (तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्व) की असिद्धि भी नहीं है, क्योंकि देवदत्त के स्वरूपमात्रविषयक प्रश्न पूछे जाने पर ''सोऽयम्'' यह उत्तर वाक्य कहा गया है। इस अनुमान में व्यभिचार शङ्का निवर्तकतर्कशून्यत्व रूप अप्रयोजकत्व भी नहीं है, क्योंकि प्रश्न और उत्तर इन दोनों के वैयधिकरण्य की आपत्ति रूप विपक्षबाधक तर्क विद्यमान है। (कहने का भाव यह है कि यदि पूर्वपक्षी कहता है कि प्रश्न केवल स्वरूपविषयक माना जाय और उत्तर स्वरूप तथा उससे अधिक सम्बन्धादि विषयक माना जाय तो क्या आपत्ति होगी? इसके समाधान में कहा गया कि जिसके विषय में प्रश्न नहीं था अर्थात् स्वरूप से अतिरिक्त सम्बन्धादि के विषय में प्रश्न नहीं था और उसके (सम्बन्धादि) विषय में उत्तर दिया गया। इस प्रकार प्रश्न और उत्तर का भिन्न–भिन्न विषय होना रूप वैयधिकरण की आपत्ति होगी।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रकृत अनुमान का साध्य=संसर्गाविषयक प्रमा की जनकता की प्रसिद्धि ही नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा जो प्रमितियां होती हैं वे सभी ''यह इस प्रकार का है'' इस रीति से विशेषसंसर्गविषयक ही होती है।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि निर्विकल्पक ज्ञान मानने वालों के मत में संसर्गागोचरप्रमिति की जनकता निर्विकल्पक ज्ञान (विशेष्यता–प्रकारता–संसर्गागोचर ज्ञान) के जनक इन्द्रिय सन्निकर्षादि रूप प्रत्यक्षप्रमाण में ही प्रसिद्ध है और निर्विकल्पक ज्ञान न मानने वालों के मत में साध्य की प्रसिद्धि इस सामान्यानुमान के द्वारा की जाती है– प्रमात्वं संसर्गागोचरवृत्ति, सकलप्रमावृत्तित्वात्। अभिधेयत्ववत् (पक्ष में हेतु का समन्वय–सकल प्रमावृत्ति=प्रमात्व है। अतः सकलप्रमावृत्तित्व प्रमात्व में चला जायेगा। इस प्रकार से पक्ष में हेतु का समन्वय हो जाता है। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय–सकलप्रमावृत्ति=अभिधेयत्व। अतः सकलप्रमावृत्तित्व अभिधेयत्व में चला गया। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय–दृष्टान्त में साध्य का समन्वय संसर्गागोचर प्रमा में अभिधेयत्व की वृत्ति को लेकर नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अभी तक संसर्गागोचरप्रमा की सिद्धि नहीं हो पायी है। अतः संसर्गागोचर कौन पदार्थ है, जिसमें अभिधेयत्व रहता है–यह सिद्धान्ती को बतलाना पड़ेगा, तब जाकर के दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो पायेगा। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि ज्ञान–इच्छा–द्वेष–अज्ञानादि के ही विषय होते हैं। घटादि के विषय होते नहीं

निर्विकल्पकस्वीकर्तॄणां तस्मिन्नेव प्रसिद्धेः; इतरेषां तु प्रमात्वं संसर्गागोचरवृत्ति, सकलप्रमावृत्तित्वात्, अभिधेयत्ववत् इति सामान्यतः तत्प्रसिद्धेः। यद्यप्यत्रापि अप्रयोजकत्वं सम्भाव्यते; तथापि सन्देहरूपा साध्यप्रसिद्धिर्न दुर्लभा। वस्तुतस्तु प्रकृष्टादिवाक्य एव तत्प्रसिद्धिर्दर्शिता।।२।।

न च लक्षणवाक्यत्वं सत्यादिवाक्येष्वसिद्धम्। सत्यत्वादेः परापरजातितया तस्याश्चान्यत्रापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

हैं। अतः संसर्ग को विषय न करने वाला पदार्थ घटादि है। अतः संसर्गागोचर घटादि, उसमें वृत्ति अभिधेयत्व की है। अतः संसर्गागोचरवृत्तित्व अभिधेयत्व में चला गया। इस प्रकार से व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता रूप परामर्श के बल पर पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जाने से उक्त अनुमान के साध्य की प्रसिद्धि हो जायेगी।) यद्यपि इस सामान्यानुमान में भी अप्रयोजकत्व की शङ्का हो सकती है तथापि साध्य की संशयात्मक प्रसिद्धि दुर्लभ नहीं कही जा सकती है। (अर्थात् इस सामान्यानुमान के द्वारा प्रकृत अनुमान के साध्य का किसी स्थल पर निश्चयात्मक प्रसिद्धि न होने पर भी संदेहात्मक प्रसिद्धि हो ही सकती है। अर्थात् इस सामान्यानुमान से यह ज्ञान हो ही जाता है कि कोई स्थल ऐसा है, जहां पर प्रकृत अनुमान का साध्य रहता है।) वस्तुतः इस प्रकरण के खण्ड संख्या १ में ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इत्यादि वाक्यों में ही प्रकृत अनुमान के साध्य=संसर्गागोचरप्रमाजनकत्व की प्रसिद्धि दिखलायी जा चुकी है।।२।।

शङ्का— (पूर्वपक्षी का कथन है कि इस प्रकरण के खण्ड संख्या १ में सत्यादिवाक्य को पक्ष बनाकर उसमें अखण्डार्थकत्व सिद्ध करने के लिए सिद्धान्ती के द्वारा लक्षणवाक्यत्व को हेतु बनाया था। वह हेतु पक्ष में नहीं बैठेगा। अतः स्वरूपासिद्धिदोष होगा। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि) सत्यादि वाक्यों में लक्षणवाक्यत्व नहीं रहता है, क्योंकि अतिव्याप्ति—अव्याप्ति—असम्भवादि दोषों से रहित असाधारण धर्म (अन्यूनानतिप्रसक्तधर्म) को ही लक्षण कहा जाता है। प्रकृत में सत्यज्ञान—आनन्दादि पदों से अभिहित सत्यत्व—ज्ञानत्व—आनन्दत्व (सुखत्व) आदि धर्म परापर जाति रूप हैं। (अर्थात् नैयायिकादि द्रव्य—गुण—कर्मादि सभी जाति वाले पदार्थों को सत्य मानते हैं। अतः सभी जाति वालों (द्रव्य—गुण—कर्मादि) में सत्यत्व रहता है। जबकि ज्ञानत्व—आनन्दत्व केवल ज्ञान और आनन्द (सुख) रूप गुण में ही रहता है, द्रव्य—गुण—कर्मादि में नहीं रहता है। अतः ज्ञानत्व आनन्दत्व की अपेक्षा से सत्यत्व अधिक देश में रहने के कारण परा जाति है और सत्यत्व की अपेक्षा से ज्ञानत्व—आनन्दत्व कम देश पर रहने के कारण ज्ञानत्व—आनन्दत्व अपरा जाति है।) अतः सत्यत्व—ज्ञानत्व—आनन्दत्व ये तीनों जातियां ब्रह्म से अन्यत्र प्रपञ्च में भी है। अतः सत्यत्वादि को ब्रह्म का असाधारण धर्म नहीं माना जा सकता है। जो असाधारण धर्म (अन्यूनानतिप्रसक्तधर्म) नहीं होता है। वह लक्षण नहीं होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि सत्यादि वाक्य लक्षणवाक्य नहीं है। अतः सत्यादि वाक्य में लक्षणवाक्यत्व हेतु के न होने से स्वरूपासिद्धि दोष है। (यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ब्रह्म में रहने वाले सत्यत्वादि तात्त्विक है और ब्रह्म से भिन्न में रहने वाले सत्यत्वादि अतात्त्विक है। सत्यादि वाक्य के द्वारा ब्रह्मगत सत्यत्वादि तात्त्विक धर्मों को कहा जा रहा है। अतः ब्रह्ममात्र सत्यत्वादि तात्त्विक धर्मों का बोधक होने के कारण सत्यादि वाक्य को लक्षण वाक्य माना ही जा सकता है। अतः पक्ष में लक्षणवाक्यत्व हेतु के रहने से स्वरूपासिद्धि दोष नहीं होगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि) ब्रह्म में सत्यत्वादि को तात्त्विक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अद्वैत श्रुति से विरोध होगा। अर्थात् तात्त्विक ब्रह्म और ब्रह्म में रहने वाले सत्यत्वादि को तात्त्विक मानने पर द्वैतापत्ति होगी। अतः सत्यत्वादि को अतात्त्विक ही मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर ब्रह्म से भिन्न प्रपञ्च में

विद्यमानत्वेनासाधारण्याभावात्, न च तात्त्विकं तद् ब्रह्मणि; अद्वैतश्रुतिविरोधात्, अतात्त्विकं त्वन्यत्रापि तुल्यमिति वाच्यम्। परमार्थसत्यादिरूपताया: ब्रह्मस्वरूपलक्षणत्वात्। अस्मन्मते यद्यपि सत्याद्यन्यतमपदं स्वरूपलक्षणपरम्, ब्रह्मणोऽन्यस्य तदाभासत्वात्; तथापि परैरपि सत्यत्वस्य सत्यत्वे सति ज्ञानत्वस्य सत्यत्वे सत्यानन्दत्वस्य शून्यवादिभिरपि सत्त्वरहितज्ञानानन्दात्मकत्वस्य ब्रह्मणोऽन्यत्राङ्गीकारान्मिलितं विना न निर्विचिकित्सब्रह्मसिद्धिरिति मिलितं लक्षणम्। न चैवं विशिष्टस्य लक्षणत्वे सखण्डार्थत्वप्रसङ्ग:;

सत्यानन्दप्रबोधिका

भी सत्यत्वादि के रहने से उनको ब्रह्म का असाधारण धर्म नहीं माना जा सकता है। अत: सत्यत्वादि साधारण धर्मों के बोधक सत्यादि वाक्य को ब्रह्म का लक्षण वाक्य नहीं माना जा सकता है। इसलिए स्वरूपासिद्धिदोष होगा।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि परमार्थसत्यादिरूपता को ब्रह्म का स्वरूप लक्षण माना जाता है। (अर्थात् सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी ने जो अतिव्याप्ति आदिदोष से रहित अन्यूनानतिप्रसक्तधर्म को लक्षण का लक्षण कहा था। वह नियम तटस्थ लक्षण के लिए है, स्वरूपलक्षण के लिए नहीं, क्योंकि स्वरूपलक्षण लक्ष्य का धर्म नहीं होता है, अपितु लक्ष्यस्वरूप ही होता है। परमार्थसत्यादिरूपता ब्रह्म का स्वरूप होने के कारण (न कि जाति होने के कारण) पक्ष में हेतु गया, क्योंकि ब्रह्म को छोड़कर कोई भी परमार्थ सत्यादिस्वरूप नहीं है। अत: स्वरूपासिद्धि दोष नहीं होगा।) यद्यपि सिद्धान्त मत में ''सत्यं ज्ञानमनन्तम्'' इनमें से कोई भी एक पद ब्रह्म के स्वरूप लक्षण का बोधक है। (अर्थात् सिद्धान्त मत में सत्य—ज्ञान—आनन्द इन तीनों को मिलाकर ब्रह्म का एक स्वरूप लक्षण बनाया जाय—ऐसा आवश्यक नहीं है, अपितु सत्य—ज्ञान और आनन्द इन तीनों में से किसी एक को भी ब्रह्म का स्वरूप लक्षण बनाया जा सकता है, क्योंकि सिद्धान्ती ने सत्यादि का विशेषण परमार्थ दे दिया है। वह परमार्थ सत्यादिस्वरूप ब्रह्म को छोड़कर अन्यत्र नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ब्रह्म से भिन्न सभी पदार्थ परमार्थसत्यादिरूप नहीं हैं।) क्योंकि ब्रह्म से भिन्न में सत्याभासत्व—ज्ञानाभासत्व और आनन्दाभासत्व है। सत्य—ज्ञान और आनन्द इन तीनों को मिलाकर एक लक्षण ब्रह्म का बनाने से क्या लाभ होता है? इसको ''तथापि परैरपि........मिलितं लक्षणम्।'' इस ग्रन्थ से सिद्धान्ती स्पष्ट कर रहे हैं। यहां पर प्रथम अन्वय—तथापि परैरपि सत्यत्वस्य सत्यत्वे सति ज्ञानत्वस्य सत्यत्वे सत्यानन्दत्वस्य ब्रह्मणोऽन्यत्राङ्गीकारान्मिलितं विना न निर्विचिकित्सब्रह्मसिद्धिरिति मिलितं लक्षणम्।'' तथापि= पूर्वोक्त प्रकार से सत्यादि का परमार्थ विशेषण देने पर भी, नैयायिकादियों के द्वारा भी ब्रह्म से भिन्न आकाशादि में परमार्थ सत्यत्व, ज्ञान में परमार्थज्ञानत्व और आनन्द में परमार्थ आनन्दत्व माना जाता है। अत: परमार्थसत्यादिरूपता को पृथक—पृथक ब्रह्म का लक्षण मानने पर आकाशादि द्रव्य, ज्ञान गुण और आनन्द गुण में ब्रह्म के लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। इसलिए ''परमार्थसत्यादिरूपं ब्रह्म जडादिरूपं न वा'' इस प्रकार से संशय होता। इसलिए मिलित लक्षण के विना संशयरहित ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती है। अत: मिलित लक्षण बनाया जाता है। द्वितीय अन्वय—''तथापि शून्यवादिभिरपि सत्त्वरहितज्ञानानन्दात्मकत्वस्य ब्रह्मणोऽन्यत्राङ्गीकारान्मिलितं विना न निर्विचिकित्सब्रह्मसिद्धिरिति मिलितं लक्षणम्।'' तथापि= सत्य ज्ञान और आनन्द में से सत्य पद को छोड़कर ज्ञान और आनन्द पद देने पर भी, शून्यवादिभि:= विज्ञानवादियों के मत में मिथ्याभूतज्ञान का आकार ही मिथ्याभूतज्ञान का विषय है। इसी प्रकार आनन्द भी ज्ञानाकार ही है। अत: ज्ञान से अभिन्न आनन्द है। इस प्रकार विज्ञानवादी के मत में ज्ञानात्मकानन्दत्व ब्रह्म से भिन्न ज्ञानात्मकानन्द में है। अत: अतिव्याप्ति होती

वाच्यस्य सखण्डार्थत्वेऽपि लक्ष्यस्याखण्डत्वात्। यद्यपि सर्वेषां सत्यादिपदानां लक्ष्यमेकमेव निर्विशेषं ब्रह्म; तथापि निवर्तनीयांशाधिक्येन न पदान्तरवैयर्थ्यम्। अतो वाच्यार्थवैशिष्ट्यस्याखण्डसिद्धावुपायत्वान्न तद्विरोधिता।।३।।

ननु— इदं विरुद्धं असाधारणधर्मरूपलक्षणपरवाक्यस्य सखण्डार्थत्वनियमादिति चेन्न सर्वलक्षणवाक्यानां

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। इसलिए ज्ञान और आनन्द के साथ—साथ सत्य पद भी दिया गया। सत्य पद देने पर विज्ञानवादी सम्मत ज्ञानात्मकानन्द में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि विज्ञानवादी ज्ञानात्मकानन्द को सत्य नहीं मानता है। कहने का भाव यह है कि सत्य पद न देने पर ''ज्ञानानन्दात्मकं ब्रह्म जडादिरूपं न वा'' इस प्रकार से संशय होता। इसलिए मिलित लक्षण के बिना संशयरहित ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती है। (मूलस्थ ''निर्विचिकित्स'' के स्थान पर ''निर्विचिकित्सित'' ऐसा पाठान्तर भी है।) अत: मिलित लक्षण बनाया जाता है।

शङ्का —पूर्वपक्षी का कथन है कि सत्यत्व और ज्ञानत्व से विशिष्ट आनन्दत्व को ब्रह्म का लक्षण बनाने पर, उक्त विशिष्ट आनन्दत्व रूपलक्षण लक्ष्य (सत्यत्व और ज्ञानत्व से विशिष्ट आनन्द) में रहेगा। अत: लक्ष्य के विशिष्ट होने के कारण लक्ष्य में सखण्डार्थकत्व की आपत्ति होगी।

समाधान— पूर्वपक्षी का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि लक्ष्य में सखण्डार्थकत्व की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि वाक्यार्थ (सत्यत्वादिविशिष्टवाच्यार्थ= मायाविशिष्ट ब्रह्म) में सखण्डार्थकत्व के होने पर भी वाच्यार्थ (सत्यत्वादि विशिष्ट वाच्यार्थ= माया विशिष्ट ब्रह्म) में सखण्डार्थकत्व के होने पर भी लक्ष्यार्थ (सत्यत्वादि उपलक्षितार्थ=शुद्ध ब्रह्म) अखण्ड ही रहता है। (सिद्धान्ती के कथन का भाव यह है कि सत्यादि वाक्य सर्वप्रथम सत्यत्वादि विशिष्ट ब्रह्म का बोधन कराते हैं। अर्थात् ब्रह्म में असत्यत्व—अज्ञानत्व और अनानन्दत्व नहीं है—यह बोधन कराते हैं। पुन: अन्त में शुद्ध निर्धर्मक (अविशिष्ट) ब्रह्म का बोधन कराते हैं। वह तो अखण्ड ही है।) यद्यपि सत्यादि सभी पदों का लक्ष्य एक ही निर्विशेष ब्रह्म है। अत: एक पद को ही लक्षण मानने पर कोई आपत्ति नहीं है। अत: शेष पदों को देने की आवश्यकता नहीं होती है तथापि सभी पदों के व्यावर्त्य अंश भिन्न—भिन्न होने के कारण अर्थात् सत्य पद के द्वारा असत्य की व्यावृत्ति, ज्ञान पद के द्वारा अज्ञानादि की व्यावृत्ति और आनन्दपद के द्वारा अनानन्द की व्यावृत्ति होने के कारण पदान्तर में वैयर्थ्यता की आपत्ति नहीं होती है। अर्थात् सत्यादि पदों के द्वारा जो लक्ष्यार्थ का बोध होता है। उस लक्ष्यार्थ बोध से अधिक सत्यत्वादि विशिष्ट ब्रह्म और सत्यादि पदों के द्वारा निवर्तनीय असत्यादि का बोध होता है। अत: पदान्तर में व्यर्थतापत्ति नहीं दी जा सकती है। इस प्रकार से वाच्यार्थवैशिष्ट्यविषयकज्ञान अखण्डार्थ की सिद्धि में साधन है। अत: वाच्यार्थवैशिष्ट्बोध को अखण्डार्थसिद्धि का विरोधी नहीं माना जाता है, अपितु साधक ही माना जाता है।।३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के द्वारा अखण्डार्थकत्व रूप साध्य की सिद्धि के लिए दिया गया हेतु= ''लक्षणवाक्यत्वात्'' है। यहां ''लक्षणवाक्यत्वात्'' के घटक लक्षण का विशेषण स्वरूप अथवा तटस्थ कहा नहीं गया है। अत: ''लक्षणवाक्यत्वात्'' से '' स्वरूपलक्षणवाक्यत्वात्'' न लेकर ''तटस्थलक्षणवाक्यत्वात्'' भी लिया जा सकता है। ''तटस्थलक्षणवाक्यत्वात्'' को हेतु बनाने पर यह सद्हेतु न होकर विरुद्धहेत्वाभास हो जायेगा, क्योंकि साध्याभाव से व्याप्त होने के कारण इदम् = लक्षणवाक्यत्वात्— यह विरुद्धहेत्वाभास है। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि स्वरूप लक्षणपरक वाक्य भले ही अखण्डार्थक हो किन्तु लक्षण वाक्यों में से जो तटस्थ लक्षण वाक्य है। वे लक्ष्य

स्वरूपमात्रपर्यवसायित्वेन (सखण्डार्थत्व)नियमासिद्धेः, धर्मलक्षणस्याखण्डत्वविरोधित्वेऽपि स्वरूपलक्षणस्य तदविरोधित्वाच्च। न चाभेदे लक्ष्यलक्षणभावायोगः, अन्तःकरणवृत्तिनिबन्धनाकारभेदेनोभयोपपत्तेः,

सत्यानन्दप्रबोधिका

के असाधारण धर्म का बोधन कराते हैं। अर्थात् असाधारण धर्म से विशिष्ट लक्ष्य का बोधन कराते हैं। अतः तटस्थलक्षण वाक्य सखण्डार्थक ही माने जायेंगे। अर्थात् असाधारण = सजातीय विजातीय से व्यावृत धर्मरूप जो तटस्थ लक्षण है। तादृश लक्षणपरक वाक्य के द्वारा सखण्डार्थकत्व का ही बोध होता है—ऐसा नियम है। अर्थात् ''यद् यद् तटस्थलक्षणबोधकं वाक्यम्, तत्तत्सखण्डार्थकम्।'' ऐसी व्याप्ति है। अतः असाधारण धर्मरूप तटस्थ लक्षण का प्रतिपादक वाक्य अखण्डार्थक का साधक नहीं हो सकता है। पूर्वपक्षी के कथन का आशय यह भी है कि ''लक्षणवाक्यत्वात्'' के घटक लक्षण शब्द से तटस्थलक्षण लेने पर हेतु का आकार होगा— तटस्थलक्षणवाक्यत्वात्। ऐसा हेतु का आकार होने पर पक्ष में हेतु नहीं जायेगा, क्योंकि ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इत्यादि वाक्य ब्रह्म के स्वरूप लक्षण के बोधक है न कि तटस्थ लक्षण के। अतः स्वरूपासिद्धि दोष होगा और पूर्वोक्त प्रकार से विरुद्धहेत्वाभास की भी आपत्ति आयेगी।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सभी लक्षण बोधक वाक्य (स्वरूपलक्षण और तटस्थ लक्षण बोधक वाक्य) लक्ष्य स्वरूप मात्र के बोध में ही पर्यवसित होते हैं। इसको खण्ड संख्या ३ में ''वाच्यस्य सखण्डार्थत्वेऽपि लक्ष्यस्याखण्डार्थत्वात्।'' से कहा जा चुका है। अतः पूर्वपक्षी ने जो व्याप्ति दिखलायी थी—''यद् यद् तटस्थलक्षणबोधकवाक्यं तत् तत् सखण्डार्थकम्।'' इसका खण्डन हो गया। आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि यदि पूर्वपक्षी का कथन यह मान भी लिया जाय कि तटस्थ लक्षण वाक्य सखण्डार्थ का बोधन कराते हैं तब भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि प्रकृत अनुमान के हेतु ''लक्षणवाक्यत्वात्'' के घटक लक्षण शब्द से हम स्वरूप लक्षण लेंगे। तटस्थ लक्षण वाक्य अखण्डार्थकता का विरोधी होने पर स्वरूप लक्षण वाक्य अखण्डार्थता का विरोधी नहीं होता है। प्रकृत अनुमान में ब्रह्म के स्वरूपलक्षण का बोधक वाक्य ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तै०उ० २—१—२) इत्यादि पक्ष कोटि में प्रविष्ट है। अतः पक्ष में हेतु के रहने से स्वरूपासिद्धि की आपत्ति नहीं होगी और साध्य से व्याप्त हेतु के होने से विरुद्ध हेत्वाभास की भी आपत्ति नहीं होगी।

शङ्का— (सिद्धान्ती ने पीछे तटस्थ लक्षण सखण्डार्थपरक मान लिया किन्तु स्वरूप लक्षण सखण्डार्थपरक नहीं माना अपितु अखण्डार्थपरक माना। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि स्वरूपलक्षणपरक वाक्य होता ही नहीं है, क्योंकि) स्वरूपलक्षण लक्ष्य स्वरूप ही होता है। अर्थात् लक्षण और लक्ष्य में कोई भेद ही नहीं होता है और जहां लक्षण और लक्ष्य में भेद नहीं होता है वहां लक्षण और लक्ष्यभाव बनता ही नहीं है। (पूर्वपक्षी के कहने का भाव यह है कि इतर व्यावृत्ति अनुमिति के प्रति जो पक्ष होता है। उस पक्ष को ही लक्ष्य कहा जाता है और हेतु को लक्षण कहा जाता है। लक्ष्य (पक्ष) और लक्षण (हेतु) में अत्यन्त अभेद मानने पर पक्ष में हेतु के सम्बन्ध को मानकर जो पक्षता की उपपत्ति होती है। वह नहीं हो पायेगी।)

समाधान—सिद्धान्ती का कथन है कि यद्यपि स्वरूपलक्षण स्थल पर लक्ष्य और लक्षण में भेद नहीं होता है तथापि भिन्न—भिन्न अन्तःकरण की वृत्तिरूप उपाधि के भेद के कारण एक ही ब्रह्म में भी उपहित रूप से आकार भेद सम्भव होने से एक ही ब्रह्म में लक्ष्यभाव और लक्षणभाव की उपपत्ति हो जायेगी और लक्ष्य (पक्ष) और लक्षण (हेतु) में सम्बन्ध की भी सिद्धि हो जायेगी। यहां पर अन्तःकरण की वृत्ति से ब्रह्म पद का अर्थ जो स्वरूपमात्र है उसकी लक्षणा से जो उपस्थिति है, उसको ग्रहण करना चाहिए और

आवृतत्वानावृतत्ववत्, अन्यथा स्वरूपलक्षणतटस्थलक्षणविभागो न स्यात्। न च यावद्द्रव्यभावित्वाभावित्वाभ्यां व्यवस्था; तावता हि स्थायित्वास्थायित्वव्यवस्था स्यात्, न तु स्वरूपादिरूपा, तव मते पार्थिवरूपादौ स्वरूपलक्षणेऽव्याप्तेश्च, ब्रह्मणि यावद्द्रव्यभाविधर्मविरहाच्च। वस्तुतस्तु—द्वारत्वेन लक्षणे तात्पर्यं न

सत्यानन्दप्रबोधिका

तद्विषयत्वेन ब्रह्म में लक्ष्यता मानी जाती है। इसी प्रकार सत्यादि पदों का अर्थ जो स्वरूप मात्र है, उसकी जो लक्षणा से उपस्थिति है। उसको भी अन्त:करण की वृत्ति से पुन: ग्रहण किया जाता है। तद्विषयत्वेन ब्रह्म में लक्षणत्व की सिद्धि की जाती है। इस प्रकार एक ही ब्रह्म में मनोवृत्ति रूप उपाधि के भेद के कारण लक्ष्यभाव और लक्षणभाव दोनों की सिद्धि हो जाती है। जैसे चिद्स्वरूप और पूर्णानन्द स्वरूप एक ही ब्रह्म है किन्तु अविद्या के द्वारा अधिष्ठान के सामान्य अंश का आवरण न होकर विशेष अंश का आवरण होता है। इस प्रकार से एक ही ब्रह्म में आविद्यक भेद मानकर पूर्णानन्दरूप से आवृतत्त्व और चिद्रूप से अनावृतत्त्व माना जाता है। अन्यथा= स्वरूपलक्षण स्थल पर लक्षण और लक्ष्य में औपाधिक भेद न मानकर निरूपाधिक भेद (वास्तविक भेद) मानने पर, जैसे तटस्थ लक्षण स्थल पर लक्ष्य और लक्षण में वास्तविक भेद रहता है। वैसे ही स्वरूप लक्षणस्थल पर भी लक्ष्य और लक्षण में वास्तविक भेद रहने पर लक्षणों का स्वरूपलक्षण और तटस्थ लक्षण के रूप में विभाग ही नहीं हो पायेगा। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि जितने काल तक लक्ष्य रहता है उतने काल तक उसमें रहने वाले स्थायी धर्म को स्वरूपलक्षण कहा जायेगा। जैसे जितने काल तक द्रव्य=पृथिवी रहती है उतने काल तक उसमें रहने वाले पृथिवीत्व धर्म को पृथिवी का स्वरूप लक्षण कहा जायेगा और जितने काल तक लक्ष्य रहता है उतने काल तक उसमें न रहने वाले धर्म को तटस्थ लक्षण कहा जायेगा। जैसे जितने काल तक पृथिवी रहती है। उतने काल तक उसमें गन्ध नहीं रहती है, क्योंकि उत्पत्ति क्षण में द्रव्य निर्गुण और निष्क्रिय रहता है। अत: गन्ध को पृथिवी का तटस्थ लक्षण कहा जायेगा। इस प्रकार से स्वरूपलक्षण और तटस्थ लक्षण के विभाग की व्यवस्था हो जायेगी। अत: सिद्धान्ती के द्वारा स्वरूप लक्षण स्थल पर औपाधिक भेद मानकर और तटस्थलक्षण स्थल पर वास्तविक भेद मानकर जो स्वरूपलक्षण और तटस्थ लक्षण में विभाग की व्यवस्था की गयी थी। वह अनुचित है, क्योंकि स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण दोनों ही स्थलों पर लक्ष्य और लक्षण में वास्तविक भेद मानकर स्वरूपलक्षण और तटस्थलक्षण के विभाग की व्यवस्था हो जा रही है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त प्रकार से जो व्यवस्था दी गयी है, उस व्यवस्था के अनुसार प्रथम लक्षण का नाम होगा— स्थायी लक्षण और द्वितीय लक्षण का नाम होगा— अस्थायी लक्षण। किन्तु ऐसा कहने से स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण के विभाग की व्यवस्था नहीं हो पायेगी और स्वरूप लक्षण तथा तटस्थ लक्षण—ऐसे नामों की सार्थकता भी सिद्ध नहीं हो पायेगी। दूसरा दोष यह होगा कि पूर्वपक्षी के मत में पृथिवी के रूपादि को पृथिवी का स्वरूपलक्षण माना जाता है किन्तु जब तक पृथिवी रहती है तब रूपादि नहीं रहता है। अत: स्वरूपलक्षण का लक्षण पृथिवी के स्वरूपलक्षण= रूपादि में न जाने से अव्याप्ति दोष होगा। इसी प्रकार सिद्धान्ती के मतानुसार शुद्ध ब्रह्म में यावद्द्रव्यभावी धर्म नहीं माना जाता है। अत: ब्रह्म का कोई स्वरूप लक्षण ही नहीं बन पायेगा। {लघुचन्द्रिकाकार ने स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण को स्पष्ट कहते हुए कहा है— स्वरूपलक्षणं लक्ष्यात्यन्ताभिन्नं, विशेषलक्षणं यावदाश्रयभावि तटस्थलक्षणं स्वकालावच्छेदेन स्वाश्रयनिष्ठमिति विवेको युक्त:। अर्थात् स्वरूपलक्षण लक्ष्य से अत्यन्त—अभिन्न, विशेष लक्षण यावदाश्रयभावी और तटस्थ लक्षण स्वकालावच्छेदेन अपने आश्रय में रहता है— यह व्यवस्था ही युक्तियुक्त है।} वस्तुत:

द्वारिणोऽखण्डार्थत्वं विरुणद्धि। न च स्वरूपज्ञानस्य प्रागेव सामान्यतो जातत्वात् तज्ज्ञाने नैतद्द्वारापेक्षेति वाच्यम्; ज्ञानमात्रेऽस्य द्वारत्वाभावेऽपि संशयादिनिवर्तकैतज्ज्ञाने तद्द्वारापेक्षणात्।।४।।

न च सखण्डवनादिलक्षणवाक्ये व्यभिचारः, तत्रापि साध्यसत्त्वस्य व्युत्पादनात्। न च किं

सत्यानन्दप्रबोधिका

लक्ष्यार्थ के बोध में लक्षण केवल द्वार होता है। अर्थात् लक्षण के द्वारा जो बोध होता है वह लक्ष्यार्थ बोध में व्यापार होता है। जैसे ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इत्यादि लक्षण से पहले सत्यत्वादि से विशिष्ट ब्रह्म का बोध होता है और उसके पश्चात् सत्यत्वादि से उपलक्षित अखण्डार्थ का बोध होता है। इस प्रकार से लक्षण के द्वारा द्वार का बोध हो रहा है द्वारी का नहीं। अतः लक्षण द्वारी = लक्ष्य की अखण्डार्थता के बोध में बाधक नहीं बनता है। (मूलस्थ लक्षणशब्द से लक्षण के द्वारा होने वाला सत्यत्वादि से विशिष्ट जो बोध है, उसको लेना चाहिए।)

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि लक्ष्य (ब्रह्म) का स्वरूप ज्ञान स्वरूप लक्षण के द्वारा होने वाला जो द्वार भूत बोध है, उससे पहले ही सामान्यतः ज्ञात है। अतः लक्ष्य (ब्रह्म) के स्वरूपज्ञान में स्वरूप लक्षण के द्वारा बोधित सत्यत्वादि से विशिष्ट जो बोध है। उस बोध रूप द्वार की आवश्यकता ही नहीं है। इसलिए स्वरूपलक्षण के द्वारा बोधित सत्यत्वादि से विशिष्ट जो बोध है। उस बोध को लक्ष्यार्थ बोध में द्वार नहीं माना जा सकता है। अपितु स्वरूपलक्षण के द्वारा द्वारी का ही बोध होता है—ऐसा मानना चाहिए। ऐसा होने पर स्वरूप लक्षण लक्ष्यार्थ के अखण्डार्थता का बाधक हो ही सकता है। यह पूर्वपक्षी का भाव है।)

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि लक्ष्य के ज्ञानमात्र में अर्थात् लक्ष्य (ब्रह्म) के सामान्य ज्ञान में स्वरूपलक्षण के द्वारा बोधित सत्यत्वादि से विशिष्ट जो बोध है। उसमें द्वारत्व का अभाव होने पर भी सत्यत्वादि से विशिष्टबोध के उत्तरवर्ति सत्यत्वादि से उपलक्षित अखण्डबोधरूप संशयादि निवर्तक लक्ष्यार्थज्ञान में स्वरूपलक्षण के द्वारा बोधित सत्यत्वादि से विशिष्ट जो बोध है। उस बोध को द्वार माना ही जा सकता है। (कहने का भाव यह है कि मिथ्या प्रपञ्च के अधिष्ठान ब्रह्म का सामान्य ज्ञान रहता है। इस ज्ञान के लिए स्वरूप लक्षण के द्वारा बोधित जो बोध है। उसकी द्वार के रूप से अपेक्षा नहीं होती है किन्तु अधिष्ठान ब्रह्म के सामान्य ज्ञान के पश्चात् यह संशय होता है कि ब्रह्म सत्य है या नहीं? ब्रह्म आनन्दस्वरूप है या नहीं? इत्यादि। इसके पश्चात् स्वरूप लक्षण के द्वारा सत्यत्व ज्ञानत्व आनन्दत्व से विशिष्ट ब्रह्म का बोध होता है। इस बोध को ही द्वारभूत बोध कहा जाता है। इस द्वारभूत बोध के पश्चात् ही संशय—विपर्ययादि का निवर्तक सत्यत्वादि से उपलक्षित अखण्डार्थ का बोध होता है। इस प्रकार से स्वरूपलक्षण से जन्य बोध अखण्डार्थ बोध में द्वार माना जाता है।।४।।

शङ्का— सिद्धान्ती के द्वारा इसी प्रकरण के खण्ड संख्या १ में जो अनुमान दिया गया है। उस अनुमान के हेतु (लक्षणवाक्यत्व) में व्यभिचार दोष देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सखण्ड वनादि पदार्थो के लक्षण वाक्यों में लक्षणवाक्यत्व हेतु है, किन्तु अखण्डार्थनिष्ठत्व साध्य के न रहने के कारण व्यभिचार दोष है। जैसे वन का लक्षण वाक्य है— एक देशस्थाः वृक्षाः वनम्। इस लक्षण वाक्य से एकदेशस्थत्वादि विशिष्ट लक्ष्य (वन) का बोध होता है। यह सखण्ड बोध है। अतः इसमें साध्य नहीं है किन्तु लक्षणवाक्यत्व हेतु है। अतः व्यभिचार दोष है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि वनादि पदार्थों के लक्षण वाक्यों में भी एक धर्मावच्छेदेन वृत्ति विषयता को लेकर अखण्डार्थनिष्ठत्व रूप साध्य है। इसका प्रतिपादन

चन्द्रलक्षणमित्यसाधारणधर्मप्रश्नोत्तरे प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्ये व्यभिचारः, तत्र हि न चन्द्रस्वरूपपरत्वम्, किन्तु प्रकर्षाश्रयो यः प्रकाशः, तत्स्वरूपपरत्वम्, तथा च प्रकर्षोपलक्षितप्रकाशव्य– क्तिस्वरूपमात्रप्रतिपादकत्वेन तत्राप्यखण्डार्थत्वाविरोधात्। अत एव धर्मे पृष्टे चन्द्रस्वरूपं वक्तुं नोचितमिति निरस्तम्, धर्मस्यैव स्वरूपत उक्तत्वात्, अन्यथा प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यापत्तेः।।५।।

ननु– इदं बाधितम्, धर्मिज्ञानाधीनसप्रकारकसंशयादिनिवर्तकं मोक्षहेतुं सप्रकारकज्ञानं प्रति साधनत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

''अखण्डार्थलक्षणविचार'' के खण्ड संख्या ९ में किया जा चुका है। अतः लक्षणवाक्य हेतु में व्यभिचार दोष नहीं है।

शङ्का – पूर्वपक्षी का कथन है कि ''कश्चन्द्रः? ऐसा प्रश्न होने पर जो उत्तर दिया जाता है कि ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः।'' ऐसे स्थल पर अखण्ड चन्द्रमात्र का बोध होने पर भी जहां पर ''किं चन्द्रलक्षणम्?'' इस प्रकार से प्रश्नकर्ता चन्द्रमा के उस असाधारण धर्म के विषय में पूछ रहा है जो कि चन्द्रेतर में नहीं रहता है और चन्द्रमा में रहता है। इस प्रश्न के समाधान के लिए जो उत्तर दिया जाता है कि ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः।'' ऐसे स्थल पर प्रकृष्टप्रकाशविशिष्टचन्द्र अर्थात् सखण्ड चन्द्र का बोध होता है। यहां पर साध्य (अखण्डार्थकत्व) के न रहने पर भी हेतु (लक्षणवाक्यत्व) है। अतः हेतु व्यभिचार दोष से ग्रस्त है।

समाधान– सिद्धान्ती का कथन है कि उक्त प्रश्नोत्तर स्थल पर चन्द्र के स्वरूप के विषय में प्रश्न नहीं है किन्तु चन्द्रनिष्ठ असाधारण धर्म के विषय में प्रश्न है और उत्तर वाक्य (प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः) के द्वारा चन्द्रस्वरूप मात्र का बोध नहीं होता है किन्तु प्रकर्ष का आश्रयीभूत जो प्रकाश है जो कि चन्द्रनिष्ठ असाध ारण धर्म है, उस धर्ममात्र का ही अववोधन होता है। अतः उक्त स्थल पर भी प्रकर्ष से उपलक्षित प्रकाश व्यक्ति के स्वरूपमात्र का प्रतिपादक उत्तर वाक्य के होने के कारण उक्तविध वाक्यों में अखण्डार्थकत्व मानने में कोई विरोध नहीं है। अतः उक्त विध वाक्यों में हेतु और साध्य दोनों ही हैं। अतः व्यभिचार दोष नहीं दिया जा सकता है। अत एव = प्रकर्ष से उपलक्षित प्रकाश व्यक्ति के स्वरूप मात्र का प्रतिपादकत्व उक्त उत्तरवाक्य में होने से ही, ''धर्म के विषय में प्रश्न पूछे जाने पर उत्तर वाक्य के द्वारा चन्द्रस्वरूप का कथन करना उचित नहीं है।'' ऐसा पूर्वपक्षी का कथन खण्डित हो गया, क्योंकि धर्ममात्र विषयक प्रश्न के होने पर धर्ममात्र का ही बोध उत्तर वाक्य के द्वारा होता है। अन्यथा= धर्ममात्रविषयक प्रश्न के होने पर धर्म विशिष्टधर्मी अथवा धर्मी का बोध उत्तर वाक्य के द्वारा मानने पर, प्रश्न और उत्तर इन दोनों में वैयधिकरण्य की आपत्ति होगी। अर्थात् प्रश्न और उत्तर के विषय भिन्न–भिन्न होने की आपत्ति होगी, जबकि जिसके विषय में प्रश्न होता है, उसी के विषय में उत्तर दिया जाता है।।५।।

शङ्का–पूर्वपक्षी का कथन है कि खण्ड संख्या १ में सत्यादि वाक्यों में अखण्डार्थकत्व को सिद्ध करने वाला जो लक्षणवाक्यत्व हेतु दिया गया है। वह बाधदोष से ग्रस्त है। अर्थात् लक्षणवाक्यत्व हेतु के साध्य का अभाव पक्ष में अर्थापत्तिरूप प्रमाणान्तर से निश्चित है। अतः उक्त हेतु बाधित है। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि संशयभ्रमादि धर्मी ज्ञान के अधीन और सप्रकारक होते हैं। जैसे ''ब्रह्म अनृतं न वा?'' यह संशय तभी होता है, जब इस संशय से पूर्व में धर्मी (ब्रह्म) का सामान्य ज्ञान हो। इसलिए यह संशय धर्मी ज्ञानाधीन है। इस संशय में अनृत और अनृताभाव प्रकार है। अतः संशय सप्रकारक भी है। ऐसे धर्मी ज्ञानाधीन सप्रकारक संशयादि का निवर्तक जो मोक्ष का हेतुभूत ज्ञान होगा। वह भी सप्रकारक होगा, क्योंकि संशय में जो दो कोटि (अनृत और अनृताभाव) है। उसमें से एक कोटि (प्रकार)

वेदान्तविचारविधानान्यथानुपपत्त्या वेदान्तवाक्ये साध्याभावनिश्चयादिति—चेन्न; अनृतादिप्रतिषेधकव्यावृत्ताकारज्ञानेनैव अनृतादिसंशयादिनिवृत्त्युपपत्तेरन्यथासिद्धत्वात्। नहि सप्रकारकत्वमात्रं तत्र तन्त्रम्। भ्रमकालीनानुवृत्ताकारज्ञानस्य सप्रकारकत्वेन संशयादिनिवर्तकत्वे भ्रमकथैवोच्छिद्येत। ज्ञानस्याज्ञानसमविषयत्वेनैव तन्निवर्तकत्वम्, न तु

सत्यानन्दप्रबोधिका

जो है। वह धर्मी में रहेगा ही। (ऐसे धर्मी के सप्रकारक ज्ञान से संशय की निवृत्ति होगी। इस प्रकार से संशय के निवर्तकीभूत सप्रकारक ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही वेदान्त विचार का विधान किया गया है। इस प्रकार के वेदान्त विचार का विधान तब तक उपपन्न नहीं हो सकता है, जब तक वेदान्त वाक्यों में सप्रकारक ज्ञान की जनकता न मानी जाय। यहां अर्थापत्ति का आकार इस प्रकार है— वेदान्तवाक्यस्य सखण्डार्थत्वं (साध्याभावं) विना धर्मिज्ञानाधीनसप्रकारकसंशयादिनिवर्तकं मोक्षहेतुं सप्रकारकज्ञानं प्रति साधनत्वेन वेदान्तविचारविधानमनुपपन्नम्। इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण से पक्ष में साध्याभाव का निश्चय हो जाने से उक्त हेतु बाधित है। यदि यह शङ्का की जाय कि मोक्ष का हेतु भूत जो ज्ञान है, वह ज्ञान अज्ञान का निवर्तक होता है न कि संशय का। इसका समाधान करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि मोक्ष का हेतु भूत जो ज्ञान है वह संशय का निवर्तक होता है। इसमें श्रुति प्रमाण है— ''भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।'' (मु.उ. २—२—८) इस श्रुति से यह सिद्ध होता है कि परावरत्वादि प्रकारक ब्रह्मज्ञान में संशय निवर्तकत्व है। इस प्रकार संशय के निवर्तक और मोक्ष के हेतुभूत ज्ञान के जनक वेदान्त वाक्यों में सप्रकारत्व सिद्ध हो जाने से अखण्डार्थकत्वरूपसाध्य का अभाव सिद्ध हो गया। अतः उक्त हेतु बाधित है।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि सप्रकारक ज्ञान से ही धर्मिज्ञानाधीन सप्रकारक संशयादि की निवृत्ति होती है— ऐसा कोई नियम नहीं है, अपितु अनृतादि का प्रतिषेधक (व्यावर्तक) जो सत्यत्वादि रूप व्यावृत्त पदार्थ है। तादृश व्यावृत्तसत्यत्वादिपदार्थोपलक्षित जो स्वरूप है। तादृश स्वरूप विषयक ज्ञान निष्प्रकारक ज्ञान है न कि सप्रकारक। ऐसे निष्प्रकारक स्वरूपविषयक ज्ञान से ही ''ब्रह्म अनृतं न वा?'' इत्याकारक संशय की निवृत्ति की उपपत्ति हो जाती है। इसलिए पूर्वोक्त अर्थापत्ति की उपपत्ति अन्य प्रकार से हो जाने से उक्त अर्थापत्ति खण्डित हो गयी। सप्रकारक ज्ञान से ही धर्मिज्ञानाधीनसप्रकारक संशय और भ्रमादि की निवृत्ति होती है—ऐसी व्याप्ति नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि भ्रमस्थल पर शुक्ति को देखकर ''इदं रजतं सत्'' (रजतत्ववप्रकारकज्ञान) हुआ। पुनः उसी शुक्ति को देखकर ''इदं रजतं सत्'') (रजतत्वप्रकारकज्ञान) हुआ। ऐसा अनुवृत्ताकारक भ्रमज्ञान सप्रकारक होता है। इस प्रकार जब प्रथम क्षण में प्रथम सप्रकारकभ्रमज्ञान हुआ। इसके पश्चात् द्वितीय क्षण में अनुवृत्ताकारक सप्रकारक भ्रमज्ञान हुआ। इस द्वितीय क्षण में उत्पन्न अनुवृत्ताकारक सप्रकारक भ्रमज्ञान से ही प्रथम क्षण में उत्पन्न सप्रकारक भ्रमज्ञान का बाध हो जायेगा क्योंकि सप्रकारक ज्ञान से ही सप्रकारकज्ञान की निवृत्ति होती है—ऐसा पूर्वपक्षी मान रहा है। इसी प्रकार द्वितीय क्षण में उत्पन्न अनुवृत्ताकारक सप्रकारकभ्रमज्ञान का तृतीय क्षण में उत्पन्न अनुवृत्ताकारक सप्रकारकभ्रमज्ञान से बाध हो जायेगा। इस प्रकार से भ्रमज्ञान का अनुवृत्ताकारक सप्रकारकभ्रम ज्ञान से ही उच्छेद हो जायेगा। भ्रमज्ञान के बाध के लिए प्रमाज्ञान मानने की आवश्यकता ही नहीं होगी और भ्रमज्ञान के द्वारा जो प्रवृत्ति आदि होती है। वह भी नहीं हो पायेगी। सिद्धान्ती का कथन है कि ''समानविषयकं ज्ञानमज्ञाननिवर्तकम्।'' (अज्ञान का विषय और ज्ञान का विषय समान होने पर ज्ञान अज्ञान का निवर्तक होता है।) ऐसा नियम माना जाता है। ''समानप्रकारकत्वे सति समानविषयकं ज्ञानमज्ञाननिवर्तकम्।''

समानप्रकारकत्वेनापि गौरवात्।।६।।

अज्ञानविषयश्च शुद्धं ब्रह्म, अज्ञानकल्पितस्य तदितरस्याज्ञानविषयत्वायोगात्। तथाच शुद्धब्रह्माकारा चित्तवृत्तिः निष्प्रकारिकैवाज्ञाननिवर्तिका; प्रकारमात्रस्याविद्याकल्पितत्वेन तद्विषयतायां वृत्तेरविद्यासमविषयत्वाभावात्। यथा चाविद्यातत्कार्यविषयं ज्ञानं तदनिवर्तकं तथा व्युत्पादितं प्राक्। द्रव्याद्याकारज्ञानानाञ्च घटाद्याकारत्वस्यानुभवनिरस्तत्वान्न द्रव्याद्याकारज्ञानेन घटाद्याकाराज्ञाननिवृत्तिप्रसङ्गः, द्रव्यत्वघटत्वयोर्भेदेन विषयभेदाच्च। यथा च समानप्रकारकत्वमादायापि न निस्तारः, तथा प्रतिपादितमस्माभिर्वेदान्तकल्पलतिकायामिति दिक्।।७।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

ऐसा नियम नहीं माना जा सकता है क्योंकि उक्त प्रकार से भ्रम के उच्छेद होने की आपत्ति के साथ–साथ गौरवदोष भी होगा, क्योंकि ''समानविषयकं ज्ञानमज्ञाननिवर्तकम्।'' इस नियम में सप्रकारकत्व का भी प्रवेश किया जा रहा है।।६।।

अज्ञान का विषय शुद्ध ब्रह्म ही होता है। अज्ञान से इतर जो अज्ञान से कल्पित पदार्थ हैं, वे अज्ञान के विषय नहीं हो सकते हैं। इसका निरूपण ''अविद्यायाः चिन्मात्राश्रयत्वविचारः'' के खण्ड संख्या १ में किया जा चुका है। अतः शुद्ध ब्रह्म ही अज्ञान का विषय है। फलतः शुद्ध ब्रह्माकारा निष्प्रकारिका अन्तःकरण की वृत्ति ही अज्ञान की निवर्तिका है। प्रकारमात्र अविद्या से कल्पित है। अतः वृत्ति की विषयता में प्रकार का प्रवेश मानने पर अर्थात् वृत्ति का विषय ब्रह्म और अज्ञान कल्पित प्रकार को भी मानने पर अर्थात् वृत्ति का विषय विशिष्ट ब्रह्म (सप्रकारक ब्रह्म) को मानने पर, वृत्ति का विषय विशिष्ट ब्रह्म और अज्ञान का विषय शुद्ध ब्रह्म होने पर वृत्ति का विषय और अज्ञान का विषय समान न होने के कारण वृत्ति के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो पायेगी। अत एव अविद्या विषयक तथा अविद्या प्रयुक्त पदार्थविषयक ज्ञान अज्ञान का निवर्तक नहीं होता है—इसका निरूपण ''दृश्यत्वहेतुविचारः'' के खण्ड संख्या २१ और २२ में किया जा चुका है। (यदि पूर्वपक्षी कहता है कि ज्ञान और अज्ञान समानविषयक और समानप्रकारक होने पर ही ज्ञान अज्ञान का निवर्तक होता है— ऐसा न मानकर केवल समानविषयक ज्ञान और अज्ञान के होने पर ज्ञान अज्ञान का निवर्तक होता है— ऐसा मानने पर ''इदं द्रव्यम्'' इस ज्ञान से भी घट के अज्ञान की निवृत्ति हो जायेगी, क्योंकि ज्ञान का विषय जैसे द्रव्य है, वैसे ही अज्ञान का विषय घट भी द्रव्य है। अतः ज्ञान और अज्ञान का विषय समान हो गये। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि) जब ''इदं द्रव्यम्'' ऐसा ज्ञान होता है तब ''अयं घटः'' ऐसा अनुभव नहीं होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि द्रव्याद्याकारक ज्ञान और घटाद्याकारक ज्ञान भिन्न है। अतः द्रव्याद्याकारक ज्ञान से द्रव्याद्याकारक अज्ञान की निवृत्ति होगी न कि घटाद्याकारक अज्ञान की। दूसरी बात यह भी है कि ''इदं द्रव्यम्'' इस ज्ञान का विषय द्रव्य और द्रव्यत्व है और घट अज्ञान का विषय घट और घटत्व है। इस प्रकार से द्रव्यज्ञान और घट अज्ञान के विषयों में समानता न होकर भिन्नता है। अतः द्रव्य ज्ञान के द्वारा भी घट के अज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी। अतः समान विषयक ज्ञान और अज्ञान के होने पर ही ज्ञान अज्ञान का निवर्तक होता है— ऐसा नियम मानने में कोई आपत्ति नहीं है। ज्ञान और अज्ञान समानप्रकारक होने पर ज्ञान अज्ञान का निवर्तक होता है। ऐसा भी मानकर पूर्वपक्षी दोष का वारण नहीं कर सकता है, क्योंकि ''घटं न जानामि'' इस प्रकार के अज्ञान की निवृत्ति ''जातिमान्'' इस प्रकार के ज्ञान से होने की आपत्ति होगी, क्योंकि ''जातिमान्'' इस ज्ञान में भी घटत्व प्रकार है और ''घटं न जानामि'' इस में भी घटत्व प्रकार है। अतः ऐसे स्थल पर ज्ञान और अज्ञान समानप्रकारक होने से अज्ञान और ज्ञान में निवर्त्य और निवर्तक भाव की आपत्ति होगी। इसका विस्तार

ननु— अस्तु सत्प्रतिपक्षः, तथाहि—सत्यादिवाक्यतात्पर्यविषयः संसृष्टरूपः संसर्गरूपो वा, प्रमाणवाक्यतात्पर्यविषयत्वात्, सम्मतवत्, सत्यादिवाक्यं, स्वतात्पर्यविषयज्ञानाबाध्यसंसर्गपरं, स्वतात्पर्यविषय—ज्ञानाबाध्यस्वकरणप्रमाविषयपदार्थनिरूप्यसंसर्गपरं वा, प्रमाणवाक्यत्वादग्निहोत्रादिवाक्यवत्, 'विषं भुङ्क्ष्व'

सत्यानन्दप्रबोधिका

से निरूपण वेदान्त कल्पलतिका में हमारे द्वारा किया गया है।।७।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य स सत्प्रतिपक्षः।'' अर्थात् जिस हेतु के साध्याभाव को सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु हो। वह हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास कहलाता है। प्रकृत में सिद्धान्ती के द्वारा अखण्डार्थकत्व की सिद्धि के लिए दिया गया हेतु भी सद्हेतु नहीं है अपितु सत्प्रतिपक्षहेत्वाभास है। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी सिद्धान्ती के द्वारा अखण्डार्थकत्व की सिद्धि के लिए किये गये उक्त अनुमान का प्रतिपक्ष अनुमान इस प्रकार से कर रहा है। (१) (सत्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठम्, लक्षणवाक्यत्वात्) सत्यादिवाक्यतात्पर्यविषयः संसृष्टरूपः संसर्गरूपो वा, प्रमाणवाक्यतात्पर्यविषयत्वात्, सम्मतवत्, (नीलमुत्पलमित्यादिवाक्यवत्)। अर्थात् सत्यादि वाक्यों के तात्पर्य का विषय संसृष्टरूप है। (सत्यत्व ज्ञानत्व आनन्दत्व से विशिष्ट ब्रह्म है।) अथवा संसर्गरूप है। (सत्यत्वादि के साथ जो ब्रह्म का सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध रूप है।) प्रामाणिक वाक्य के तात्पर्य का विषयत्व होने से। जैसे ''नीलमुत्पलम्''—इत्यादि वाक्य के तात्पर्य का विषयत्वसंसृष्टरूप (नीलविशिष्ट कमल) या संसर्गरूप (नील और कमल के सम्बन्ध रूप) में है। इस प्रकार प्रमाणवाक्यतात्पर्यविषयत्व हेतु के द्वारा सिद्धान्ती के साध्य (अखण्डार्थकत्व) का अभाव = सखण्डार्थकत्व के सिद्ध हो जाने से सिद्धान्ती का हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास हो गया। {खण्ड संख्या ४ में कहा जा चुका है कि सत्यादि वाक्यों से पहले विशिष्ट ब्रह्म का बोध होता है। इसके पश्चात् अखण्डार्थबोध होता है। अतः सिद्धान्ती के मत में भी सत्यादि वाक्यों के द्वारा विशिष्ट ब्रह्म का बोध माना ही जाता है। इसलिए प्रथम अनुमान में सत्यादि वाक्य का तात्पर्यार्थ= मिथ्या (बाध्य) संसृष्टरूपता या मिथ्या (बाध्य) संसर्गरूपता को लेकर सिद्धसाधनदोष है। इस अरूचि के कारण पूर्वपक्षी अनुमानान्तर कर रहा है।} द्वितीय सत्प्रतिपक्ष अनुमान के प्रथम साध्य के अनुसार सत्प्रतिपक्ष का आकार— (सत्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठम्, लक्षणवाक्यत्वात्) सत्यादिवाक्यं स्वतात्पर्यविषयज्ञानाबाध्यसंसर्गपरम्, प्रमाणवाक्यत्वात्, अग्निहोत्रादिवाक्यवत्। { पक्ष में हेतु का समन्वय—सत्यादि वाक्य प्रमाणवाक्य है। अतः सत्यादि वाक्य में प्रमाणवाक्यत्व हेतु है। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय ''अग्निहोत्रं जुहोति'' यह वाक्य प्रमाण वाक्य है। अतः अग्निहोत्रादि वाक्य में प्रमाणवाक्यत्व हेतु है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—स्व—अग्निहोत्राादिवाक्य, उसके तात्पर्य का विषय—अग्निहोत्रयाग और अपूर्व। इन दोनों का जो सम्बन्ध (साध्यसाधकभावसम्बन्ध) है। उस सम्बन्ध ाविषयक ज्ञान के द्वारा अबाध्य जो संसर्ग (साध्यसाधकभावसंसर्ग) रूप अर्थ के बोधक अग्निहोत्राादि वाक्य है। इस प्रकार पक्ष में हेतु और दृष्टान्त में हेतु और साध्य के रहने से परामर्श की उपपत्ति हो जाने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पक्ष में साध्य का समन्वय—स्व—सत्यादिवाक्य, उसके तात्पर्य का विषय—ब्रह्म, उस ब्रह्म के ज्ञान के द्वारा अबाध्य जो संसर्ग। ऐसे संसर्गरूप अर्थ का बोधक सत्यादि वाक्य है। इस प्रकार प्रमाणवाक्यत्व हेतु के द्वारा सिद्धान्ती के साध्य (अखण्डार्थकत्व) का अभाव =सखण्डार्थकत्व के सिद्ध हो जाने से सिद्धान्ती का हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास हो गया।} द्वितीय सत्प्रतिपक्ष अनुमान के द्वितीय साध्य के अनुसार सत्प्रतिपक्ष का आकार—(सत्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठम्, लक्षणवाक्यत्वात्) सत्यादिवाक्यं स्वतात्पर्यविषयज्ञानाबाध्यस्वकरणप्रमाविषयपदार्थनिरूप्यसंसर्गपरम्, प्रमाणवाक्यत्वात्,

इत्यादौ वाच्यार्थसंसर्गपरत्वाभावेऽपि स्वकरणप्रमाविषयपदार्थसंसर्गपरत्वान्न व्यभिचारः, ''खं छिद्रं कोकिलः पिकः'' इत्यादौ चानतिभिन्नार्थत्वे सामानाधिकरण्यायोगेन छिद्रकोकिलादीनां खपिकादिशब्दवाच्यत्वसंसर्गपरत्वान्न

सत्यानन्दप्रबोधिका

अग्निहोत्रादिवाक्यवत्। { द्वितीय सत्प्रतिपक्ष अनुमान के प्रथम साध्य के अनुसार सत्प्रतिपक्ष अनुमान के जैसे ही पक्ष और दृष्टान्त में हेतु का समन्वय हो जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—स्व—अग्निहोत्रादिवाक्य, उसके तात्पर्य का विषय—अग्निहोत्र याग और अपूर्व का सम्बन्ध (साध्यसाधकभावसम्बन्ध) उसके ज्ञान के द्वारा अबाधित पदार्थ। (उस पदार्थ का दूसरा विशेषण दे रहे हैं।) स्व—अग्निहोत्रादिवाक्य, वह है करण (प्रमाण) जिस प्रमा (अग्निहोत्रादि वाक्यार्थ विषयकज्ञान) का, उस प्रमा का विषयीभूत पदार्थ (संसर्ग)। उस संसर्ग (साध्यसाधकभावसंसर्ग) का बोधक अग्निहोत्रादि वाक्य हैं। इस प्रकार पक्ष में हेतु और दृष्टान्त में हेतु तथा साध्य दोनों के रहने से परामर्श की सिद्धि हो जाने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पक्ष में साध्य का समन्वय—स्व—सत्यादिवाक्य, उसके तात्पर्य का विषय—ब्रह्म, उस ब्रह्म के ज्ञान के द्वारा अबाध्य जो पदार्थ (पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध)। अबाध्य पदार्थ का दूसरा विशेषण दे रहे हैं—स्व—सत्यादिवाक्य, वह है करण (प्रमाण) जिस प्रमा (सत्यादिवाक्यार्थविषयक अबाध्य ज्ञान) का, उस प्रमा का विषयीभूत पदार्थ। उस पदार्थ के द्वारा निरूपणीय जो संसर्ग (पदाथों के पारस्परिक सम्बन्ध) का बोधक सत्यादि वाक्य है। इस प्रकार प्रमाणवाक्यत्व हेतु के द्वारा सिद्धान्ती के साध्य (अखण्डार्थकत्व) का अभाव= सखण्डार्थकत्व के सिद्ध हो जाने से सिद्धान्ती का हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास हो गया।} द्वितीय सत्प्रतिपक्ष अनुमान में प्रथम साध्य को छोड़कर द्वितीय साध्य क्यों कहा गया? इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि द्वितीय सत्प्रतिपक्ष के प्रथम साध्य का हेतु ''विषं भुङ्क्ष्व'' इत्यादि वाक्यों में व्यभिचारी है, क्योंकि ''विषं भुङ्क्ष्व'' इत्यादि वाक्यों में हेतु है किन्तु साध्य नहीं है, क्योंकि ''विषं भुङ्क्ष्व'' इस वाक्य में विषगत कर्मता और भोजन रूप क्रिया वाच्यार्थ है, किन्तु विषपदार्थ और भोजनरूप क्रिया पदार्थ के सम्बन्ध की बोधकता ''विषं भुङ्क्ष्व'' इस वाक्य में नहीं है, अपितु ''विषं भुङ्क्ष्व'' यह वाक्य लिङ्गादि के रूप से ''शत्रु के घर भोजन नहीं करना चाहिए।'' इस अर्थ का बोधक होता है। इस प्रकार स्व (''विषं भुङ्क्ष्व) के तात्पर्य का विषयीभूत जो ज्ञान (द्विषदन्नं न भोक्तव्यम्'' इत्याकारक ज्ञान) उस ज्ञान से अबाध्य जो संसर्ग है। उस संसर्ग की बोधकता ''विषं भुङ्क्ष्व'' इस वाक्य में नहीं है। इस प्रकार से जो व्यभिचार दोष आ रहा था, उसके वारण के लिए द्वितीय सत्प्रतिपक्ष अनुमान में द्वितीय साध्य दिया गया। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''विषं भुङ्क्ष्व'' इत्यादि वाक्यों में द्वितीय सत्प्रतिपक्ष के प्रथम साध्य के न होने पर भी द्वितीय साध्य है। अतः व्यभिचार दोष नहीं है। जैसे ''विषं भुङ्क्ष्व'' का वाच्यार्थ विष खाओ और तात्पर्यार्थ (लक्ष्यार्थ) शत्रु गृह में भोजन मत करो। यहां वाच्यार्थ में संसर्ग की बोधकता न होने पर भी स्व—विषं भुङ्क्ष्व। इस वाक्यरूप करण (प्रमाण) से जन्य जो प्रमा—द्विषदन्नं न भोक्तव्यम्। इसमें जो पदार्थ हैं। उनका पारस्परिक जो सम्बन्ध है, वह अबाधित है और उस अबाधित संसर्ग का बोधक भी वाक्य है। इस प्रकार से उक्त वाक्य में हेतु और साध्य दोनों के रह जाने से व्यभिचार दोष नहीं है। { यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ''खं छिद्रम्'', ''कोकिलः पिकः'' इत्यादि पर्यायशब्दप्रतिपादक प्रमाणवाक्य में प्रमाणवाक्यत्व हेतु है, किन्तु साध्य नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्यों में वाच्यार्थ सामानाधिकरण्यादि रूप संसर्ग नहीं है, क्योंकि ''रक्तो घटः'' इत्यादि के जैसे भिन्नाभिन्न पदार्थों में ही सामानाधिकरण्य रूप संसर्ग देखा जाता है। जबकि पिक और कोकिल पदार्थ में भेदाभेद नहीं है अपितु अत्यन्त अभेद है। अतः संसर्ग नहीं है। अतः उक्त वाक्यों में संसर्ग बोधकता

व्यभिचार इति चेत्।।८।।

न, आद्यानुमाने संसृष्टरूप इति साध्ये संसर्गे, संसर्गरूप इति साध्ये च संसृष्टरूपे पदार्थे व्यभिचारात्, तयोरुभयोरपि प्रमाणवाक्यतात्पर्यविषयत्वात्। द्वितीयानुमाने प्रमाणवाक्यत्वस्याबाध्यपरत्वमात्रेण प्रमितिविषयपरत्वमात्रेण वोपपत्तौ विशिष्टसाध्यस्य तत्रातन्त्रत्वेनाप्रयोजकत्वात्, अलक्षणवाक्यत्वस्योपाधित्वाच्च।।९।।

नापि वेदान्तवाक्यजन्यप्रमा, सप्रकारिका, विचारजन्यत्वात्, संशयनिवर्तकत्वाद्वा, कर्मकाण्डजन्यज्ञानवत्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

न होने से साध्य नहीं रहा। इसलिए व्यभिचार दोष है। इस दोष को वारण करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि} ''खं छिद्रम्'', ''कोकिलः पिकः'' इत्यादि में अनतिभिन्नार्थत्व (यहां भिन्नशब्द का अर्थ है अत्यन्त भिन्न। जो भिन्न को अतिक्रान्त कर गया हो। उसे अतिभिन्न कहते हैं। अर्थात् अतिभिन्न=भेदाभेदवान्। उसके अभाव को अनतिभिन्न कहते हैं। तादृशार्थत्वाभाव को अनतिभिन्नार्थत्व कहते हैं। ऐसे अनतिभिन्नार्थत्व) के होने पर अर्थात् भेदाभेद का अभाव होने पर सामानाधिकरण्य ही नहीं हो सकता है। जबकि ''खं छिद्रम्'' इत्यादि में सामानाधिकरण्य है। अतः यहां पर भी 'छिद्रं खशब्दवाच्यम्'', ''कोकिलः पिकशब्दवाच्यः'' इस प्रकार से छिद्र शब्दवाच्य में खशब्दवाच्यत्व का और कोकिलशब्दवाच्य में पिकशब्द वाच्यत्व का विधान माना जाता है। अतः छिद्र का ख के साथ और कोकिल का पिक के साथ वाच्यत्वरूप संसर्ग की बोधकता उक्त वाक्यों में है। अतः व्यभिचारदोष नहीं है।।८।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रथम सत्प्रतिपक्ष अनुमान में ''संसृष्टरूप'' को साध्य बनाने पर संसर्ग में व्यभिचार दोष होगा, क्योंकि जहां संयोग, समवाय आदि के लक्षण वाक्यों के तात्पर्य का विषय संयोग, समवाय आदि संसर्ग है न कि संसृष्ट। अतः वहां पर साध्य नहीं है किन्तु प्रमाण वाक्य तात्पर्यविषयत्व हेतु है। इसी प्रकार प्रथम सत्प्रतिपक्ष अनुमान में ''संसर्गरूप'' को साध्य बनाने पर संसृष्ट पदार्थ में व्यभिचारदोष होगा, क्योंकि पिक शब्द वाच्यत्वविशिष्ट कोकिलरूप संसृष्ट पदार्थ में साध्य नहीं है किन्तु प्रमाणवाक्यतात्पर्यविषयत्व हेतु है। द्वितीय सत्प्रतिपक्ष अनुमान में प्रमाणवाक्यत्व को अबाध्यार्थबोधकत्व का प्रयोजक मान लेने से ही हेतु की उपपत्ति हो जाती है। अर्थात् '' यत्र यत्र प्रमाणवाक्यत्वं तत्र तत्र अबाध्यार्थबोधकत्वम्'' ऐसी व्याप्ति मानने में कोई दोष नहीं है। अतः प्रमाणवाक्यत्व हेतु पूर्वपक्षी द्वारा कथित विशिष्टसाध्य का प्रयोजक नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार द्वितीय सत्प्रतिपक्ष अनुमान में प्रमाणवाक्यत्व को प्रमितिविषयबोधकत्व का प्रयोजक मान लेने से ही हेतु की उपपत्ति हो जाती है। अर्थात् ''यत्र यत्र प्रमाणवाक्यत्वं तत्र तत्र प्रमितिविषयबोधकत्वम्'' ऐसी व्याप्ति मानने में कोई दोष नहीं है। अतः प्रमाणवाक्यत्व हेतु पूर्वपक्षी द्वारा कथित विशिष्ट साध्य का प्रयोजक नहीं माना जा सकता है। अतः पूर्वपक्षी द्वारा कथित विशिष्ट साध्य प्रमाणवाक्यत्व हेतु से व्यापक न होने से प्रमाणवाक्यत्व हेतु में अप्रयोजकत्व (पक्षे साध्याभावेऽपि हेतोरूपपन्नमप्रयोजकत्वम्।) है। द्वितीय सत्प्रतिपक्ष अनुमान के प्रथम और द्वितीय साध्य को रखने पर भी उसमें अलक्षण वाक्यत्व उपाधि है। जैसे अग्निहोत्रादि वाक्य में खण्ड संख्या ८ में कथित प्रकार से साध्य है और अलक्षणवाक्यत्व भी है, क्योंकि अग्निहोत्रादि वाक्य किसी के लक्षण वाक्य नहीं है। अतः साध्यव्यापकत्व उपाधि में गया। पक्ष में हेतु है किन्तु अलक्षणवाक्यत्व नहीं है, क्योंकि सत्यादिवाक्य ब्रह्म के लक्षण वाक्य है। अतः साधनाव्यापकत्व भी उपाधि में गया। अतः प्रमाणवाक्यत्व हेतु सोपाधिक दोष से ग्रस्त होने के कारण अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है।।९।।

शङ्का— पूर्वोक्त सत्प्रतिपक्ष अनुमानों के खण्डित हो जाने पर पूर्वपक्षी पुनः सत्प्रतिपक्ष अनुमान करते

वेदान्तजन्या प्रमा ब्रह्मप्रकारविषया, ब्रह्मधर्मिकसंशयविरोधित्वात्, ब्रह्मविचारजन्यत्वाद्वा, यदेवं तदेवं, यथा कर्मकाण्डविचारजन्यो निश्चय इति प्रतिसाधनमस्त्विति वाच्यम्। तव मते ज्ञानमात्रस्य सप्रकारकत्वेन विचारजन्यत्वसंशयविरोधित्वयोर्व्यर्थत्वात्, अप्रयोजकत्वात्। निष्प्रकारकज्ञानादपि संशयादिनिवृत्तिसम्भवात्, लक्षणवाक्याजन्यत्वस्योपाधित्वाच्च। अत एव द्वितीयानुमानमपि अपास्तम्, ब्रह्मनिष्ठप्रकारविषयत्वसाधने

सत्यानन्दप्रबोधिका

हुए कह रहा है कि (१) वेदान्त वाक्य जन्य प्रमा सप्रकारिका होती है, क्योंकि उसमें विचार जन्यत्व है अथवा उसमें संशयनिवर्तकत्व है। जैसे कर्मकाण्ड से जन्य ज्ञान। पक्ष में हेतु है और दृष्टान्त (कर्मकाण्ड जन्यप्रमा) में हेतु और साध्य है। अतः परामर्श के मिल जाने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो गयी। इस प्रकार इस अनुमान के द्वारा सिद्धान्ती के साध्य (अखण्डार्थकत्व) का अभाव (सखण्डार्थकत्व) के सिद्ध हो जाने से सिद्धान्ती का हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास हो गया। (२) वेदान्त जन्यप्रमा ब्रह्मनिष्ठ प्रकार विषया है,क्योंकि उसमें ब्रह्म धर्मिक संशय का विरोधित्व है अथवा उसमें ब्रह्मविषयक विचार जन्यत्व है। जैसे कर्मकाण्डविचारजन्य निश्चय। अर्थात् जो यद् धर्मिक संशय का विरोधी होता है अथवा यद् विषयक विचार जन्य होता है, वह तन्निष्ठप्रकारविषयक होता है। जैसे कर्मकाण्डविचारजन्य निश्चय। इस प्रकार दृष्टान्त में हेतु और साध्य के रहने से व्याप्ति मिल गयी और पक्ष में हेतु के रहने से पक्षधर्मता मिल जाने से परामर्श की सिद्धि हो जाने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो गयी। इस प्रकार इस अनुमान के द्वारा सिद्धान्ती के साध्य (अखण्डार्थकत्व) का अभाव=सखण्डार्थकत्व के सिद्ध हो जाने से सिद्धान्ती का हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास हो गया।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी द्वारा कथित अनुमान भी दुष्ट हैं, क्योंकि पूर्वपक्षी के मत में सभी ज्ञान सप्रकारक माने जाते हैं। अर्थात् '' यत्र यत्र ज्ञानत्वं तत्र तत्र सप्रकारकत्वम्।'' ऐसी व्याप्ति में पूर्वपक्षी के मतानुसार कोई दोष नहीं है। इसलिए जब ज्ञानत्व हेतु के द्वारा ही सप्रकारकत्व की सिद्धि हो जा रही है तब विचारजन्यत्व और संशयविरोधित्व हेतु व्यर्थ है। अर्थात् साध्य का साधक नहीं हो सकता। अतः हेतु में अप्रयोजकत्व भी है, क्योंकि जब पक्ष में साध्याभाव के होने पर भी हेतु की उपपत्ति हो जाती है तब हेतु में अप्रयोजकत्व माना जाता है। ''प्रत्यक्षस्य भाविबाधाविचारः'' के खण्ड संख्या ३ और ४ में यह सिद्ध कर दिया गया है कि निष्प्रकारक ज्ञान से भी संशय—भ्रमादि की निवृत्ति होती है। अतः निष्प्रकारक ज्ञान में संशयनिवर्तकत्व हेतु है किन्तु साध्य नहीं है। अतः व्यभिचारदोष है। उक्त अनुमान में लक्षणवाक्याजन्यत्व उपाधि भी है, क्योंकि कर्मकाण्डजन्यज्ञान में साध्य है और वेद के कर्मकाण्ड भाग में आने वाले ''अग्निहोत्रं जुहोति'' इत्यादि वाक्य लक्षणवाक्य नहीं माने जाते हैं। अतः कर्मकाण्डवाक्य से जन्य ज्ञान में लक्षणवाक्याजन्यत्व उपाधि है। अतः साध्य का व्यापकत्व उपाधि में गया। पक्ष (सत्यादिवाक्य जन्यप्रमा) में हेतु है किन्तु उपाधि नहीं है, क्योंकि सत्यादि वाक्य ब्रह्म के लक्षण वाक्य है। अतः साधन का अव्यापकत्व भी उपाधि में है। अतः उक्त हेतु सोपाधिक हो जाने से अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है। अतः एव = पूर्वोक्त प्रकार से व्यर्थत्व और अप्रयोजकत्व इन दोनों दोषों के द्वितीय अनुमान में भी रहने के कारण द्वितीय अनुमान का भी खण्डन हो गया। दूसरा दोष यह है कि ब्रह्मनिष्ठप्रकारविषयत्वसाधन में दृष्टान्त का अभाव भी है, क्योंकि स्थाणुधर्मिक स्थाणुत्वादि प्रकारक संशय का विरोधी ज्ञान स्थाणुगत स्थाणुत्व प्रकार को विषय करता है—ऐसा लोक में देखा जाता है किन्तु सिद्धान्त मत में अज्ञान का निवर्तक शुद्ध ब्रह्म के ज्ञान में कोई प्रकार माना नहीं जाता है। अतः उभयवादी सम्मत दृष्टान्त का अभाव होने से व्याप्ति की सिद्धि ही नहीं हो पायेगी। अथवा दृष्टान्त

दृष्टान्ताभावाच्च। सर्वेषु च प्रतिसाधनेषु प्रश्नोत्तरयोः वैयधिकरण्यापत्तिः प्रतिकूलतर्कोऽवसेयः।।१०।।

ननु दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम्, तथाहि प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्यं न तावदभिधया अखण्डार्थनिष्ठम्, प्रकृष्टादिपदस्याखण्डे अभिधाया अभावात्, त्वयानङ्गीकाराच्च, नापि लक्षणया, प्रकृष्टप्रकाशस्य द्रव्यस्य गुणस्य वा चन्द्रे अन्वयोपपत्तेः, अन्वयानुपपत्तिरूपलक्षणाबीजाभावादिति चेन्न; 'यष्टीः प्रवेशय' इत्यादौ

सत्यानन्दप्रबोधिका

के अभाव का तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी ने द्वितीय अनुमान के लिए व्याप्ति बनायी थी— यो यद्धर्मिकसंशयविरोधी स तन्निष्ठप्रकारकविषयकः, यथा कर्मकाण्डविचारजन्यनिश्चयः। यहां हेतु से पक्ष विषयक संशय विरोधित्व या पक्ष विचारजन्यत्व लेने पर दृष्टान्त में हेतु जायेगा नहीं और हेतु से दृष्टान्त विषयक संशयविरोधित्व या दृष्टान्त विचारजन्यत्व लेने पर पक्ष में हेतु के न जाने से स्वरूपासिद्धि दोष होगा। इस पर विशेष विचार लघुचन्द्रिका में देखें। इसी प्रकार सभी सत्प्रतिपक्ष अनुमानों में प्रश्न और उत्तर के वैयधिकरण्य की आपत्ति को प्रतिकूल तर्क के रूप से प्रदर्शित करना चाहिए। अर्थात् जब प्रश्न प्रकारतादि विनिर्मुक्त वस्तुस्वरूप मात्रविषयक है तब उत्तर को भी प्रकारतादिविनिर्मुक्तवस्तुस्वरूपमात्रविषयक ही होना चाहिए। जब उत्तरवाक्य जन्य ज्ञान में सप्रकारकत्व होगा, तब प्रश्न और उत्तर में वैयधिकरण्य हो जायेगा। ऐसा होने पर "आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे" (आमों के विषय में प्रश्न किया और कोविदार (कचनार) के विषय में विस्तार से उत्तर दिया) पूर्वपक्षी के मत में यह न्याय प्रसक्त होगा।।१०।।

शङ्का— खण्ड संख्या १ में सिद्धान्ती के द्वारा अखण्डार्थकत्व साधक अनुमान में "प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः" इत्यादि वाक्य को दृष्टान्त बनाया गया था। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि "प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः" इस दृष्टान्त में साध्य (अखण्डार्थकत्व) नहीं है, क्योंकि प्रकृष्टप्रकाशादि वाक्य शक्तिवृत्ति से अखण्डार्थ के बोधक नहीं है,क्योंकि प्रकृष्टादि पद में अखण्डार्थ के बोधन की शक्ति नहीं है और शक्तिवृत्ति से प्रकृष्टादि पद अखण्डार्थ का बोधन कराते हैं—ऐसी सिद्धान्ती भी नहीं मानते हैं। लक्षणा वृत्ति से भी प्रकृष्टप्रकाशादि वाक्य अखण्डार्थ के बोधक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि प्रकृष्ट प्रकाशरूपद्रव्य (तेज) अथवा गुण (शुक्लरूप) के साथ चन्द्रमा के अन्वय (सम्बन्ध) की उपपत्ति हो जाती है। अतः अन्वयानुपपत्ति जो लक्षणा का कारण है। उसके न रहने से यहां पर लक्षणा नहीं मानी जा सकती है। {कहने का भाव यह है कि प्रकृष्टप्रकाश का अर्थ प्रकृष्ट प्रकाशरूप द्रव्य (तेज) किया जाय तब चन्द्र के साथ उसके अभेद सम्बन्ध (तादात्म्यसम्बन्ध) की उपपत्ति हो जायेगी और यदि प्रकृष्ट प्रकाश का अर्थ शुक्लरूप किया जाय तब चन्द्र के साथ उसके समवाय सम्बन्ध की उपपत्ति हो जायेगी। "गङ्गायां घोषः" इत्यादि स्थल पर घोष का गङ्गा प्रवाह के साथ अन्वय (सम्बन्ध) की उपपत्ति न होने पर गङ्गा पद की तीर में लक्षणा मानी जाती है किन्तु प्रकृष्टप्रकाशादिरूप वाक्य में अन्वय की अनुपपत्ति नहीं है। अतः यहां लक्षणा नहीं मानी जा सकती है।}

समाधान—लक्षणाबीजं तु तात्पर्यानुपपत्तिरेव न त्वन्वयानुपपत्तिः, काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्रान्वयानुपपत्तेरभावात्। गङ्गायां घोष इत्यादौ तात्पर्यानुपपत्तेरपि सम्भवात्—इस प्रकार वेदान्त परिभाषा के आगम परिच्छेद में जैसे कहा गया है। ठीक उसी प्रकार पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि लक्षणा का बीज अन्वयानुपपत्ति नहीं है किन्तु तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणा का बीज है। जैसे "यष्टीः प्रवेशय" (छडियों को प्रवेश कराओ) इत्यादि लौकिक व्यवहारों में और "तरसमयाः पुरोडाशा भवन्ति" (मांसमय पुरोडाश होते हैं।) इत्यादि वैदिक व्यवहारों में यथाश्रुत पदों के वाच्यार्थों का परस्पर अन्वय अनुपपन्न न होने पर भी तात्पर्य विषयीभूत अन्वय की अनुपपत्ति होने के कारण ही यष्टि

लोके, 'तरसमयाः पुरोडाशा भवन्ति' इत्यादौ वेदे च यथाश्रुतान्वयसम्भवेऽपि यथा तात्पर्यविषयीभूतान्वयानुपपत्त्या यष्टिधरपुरुषेषु सवनीयहविर्मात्रे च यष्टिपुरोडाशशब्दयोर्लक्षणाऽऽश्रिता, तथैवेह तात्पर्यविषयीभूतान्वयानुपपत्तिनिमित्तया लक्षणया अखण्डार्थपरत्वोपपत्तेः, कश्चन्द्र इति चन्द्रस्वरूपे पृष्टे तन्मात्रपरस्यैवोत्तरस्योचितत्वात्।।११।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शब्द की यष्टिधारी पुरुषों (दण्डी पुरुषों) और पुरोडाश पद की सवनीय कर्म में विहित हविर्मात्र अर्थात् सवनीय कर्म में विहित पांच द्रव्यों में लक्षणा की जाती है। {कहने का भाव यह है कि ''यष्टीः प्रवेशय'' इस स्थल पर छडियों का प्रवेश क्रिया के साथ अन्वय की उपपत्ति होती है किन्तु तात्पर्य की उपपत्ति नहीं होती है क्योंकि भोजन के समय यह वाक्य कहा गया है। यहां वक्ता का तात्पर्य छडियाँधारी पुरुषों (दण्डियों) को भोजन कराने में है। अतः तात्पर्यानुपपत्ति के कारण लक्षणा के द्वारा ''यष्टीः प्रवेशय'' का अर्थ होता है– यष्टिधरान् (दण्डिनः) प्रवेशय। अर्थात् दण्डियों को प्रवेश कराओ। इसी प्रकार ''तरसमयाः पुरोडाशा भवन्ति'' इस स्थल पर अन्वय की अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि मांसमय का पुरोडाश के साथ अन्वय हो ही सकता है किन्तु यहां तात्पर्य की अनुपत्ति मानकर लक्षणा के द्वारा पुरोडाश शब्द का अर्थ सवनीय कर्म में विहित पांच द्रव्य किया गया है। अर्थात् सवनीय कर्म में विहित पांचों द्रव्य मांसमय होते हैं। ऐसा अर्थ पूर्वमीमांसा दर्शन के तृतीयान्त्याधिकरण में किया गया है। {जैसे–शाक्त्यानामयनं नाम सत्रं षट्त्रिशब्दादिकम्। तत्र श्रूयते– संस्थिते अहनि गृहपतिर्मृगयां याति। स यान् मृगान् हन्ति, तेषां तरसाः सवनीयाः पुरोडाशाः भवन्ति। (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र–२३–११–१२) अर्थात् शक्तिनामक ऋषि की सन्तति (शाक्त्यायन गणों) के द्वारा छत्तीस वर्षों में सम्पन्न किया जाने वाला जो सत्र है। उसकी एक प्रासङ्गिक क्रिया के विषय में कहा गया कि–दैनिक कर्म के समाप्त हो जाने पर यजमान शिकार खेलने जाता है और शिकार में यजमान जिन मृगों को मारता है। उन मृगों के मांस से द्वितीय दिन सवनीय (सोमाभिषव के दिन होने वाले कर्मों की हवि) पुरोडाश बनाया जाय। किन्तु सवनीय कर्मों में पांच द्रव्य (हवि) विहित हैं– ''सवनीयान् निर्वपति धानाः करम्भः परीवापः पुरोडाशः पयस्या। { सवनीय कर्म में हवि दी जाती है। (१) धानाः = भुने हुए जौ (२) करम्भः = भुने जौ के आटे की बाटी (३) परीवापः = भुने धानों के चावल (४) पुरोडाशः =भुने धानों के चावलों के आटे की बाटी (५) पयस्या = आमिक्षा (फाड़े दूध का पनीर)। यहां संशय होता है कि केवल पुरोडाश को मांसमय बनाया जाय? अथवा पांचों द्रव्यों को। इस प्रकार के संशय होने पर पूर्वपक्ष से कहा गया कि पुरोडाश को ही मांसमय बनाना चाहिए। जबकि पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए सिद्धान्त पक्ष से महर्षि जैमिनी ने कहा–'' मांसं तु सवनीयानां चोदनाविशेषात् (जै.सू.३–८–३९) इस सूत्र में स्पष्ट किया गया कि पुरोडाश पद में अजहल्लक्षणा करके धानादि पांचों द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिए। अतः सवनीय कर्म में विहित पांचों द्रव्यों को मांसमय बनाना चाहिए।} इसी प्रकार प्रकृत में भी तात्पर्यविषयीभूत अन्वय की अनुपपत्ति ही लक्षणा का बीज है। अतः तादृश अनुपपत्ति निमित्तक लक्षणा से अखण्डार्थपरत्व की उपपत्ति हो जाती है। ''कश्चन्द्रः'' इस प्रकार से चन्द्रस्वरूप पृष्ट होने पर चन्द्रस्वरूपमात्रबोधक उत्तर ही उचित होगा। कहने का भाव यह है कि उत्तर देने वाले का तात्पर्य यह है कि प्रश्न और उत्तर में वैयधिकरण्य न हो जाय। इस तात्पर्य की अनुपपत्ति हो रही है जब प्रकृष्टादि वाक्यों का वाच्यार्थ लेकर सखण्डार्थपरक अर्थ कर रहे हैं। अर्थात् प्रश्न का विषय चन्द्रस्वरूपमात्र और उत्तर का विषय विशिष्ट चन्द्र हो जाने से तात्पर्यविषयीभूतान्वय की अनुपपत्ति हो रही है। अतः तात्पर्यविषयीभूत अन्वय की अनुपपत्ति के कारण लक्षणा करके प्रकृष्टादि वाक्यों का अखण्डार्थपरक अर्थ किया जाता है। वह उचित ही है। अतः अखण्डार्थकत्व साधक उक्त अनुमान के दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जायेगा।।११।।

ननु चन्द्रस्वरूपस्य ज्ञातत्वे तत्र प्रश्नो न युज्यते; अज्ञातत्वे धर्मिज्ञानसाध्यबुभुत्सासन्देहयोश्चन्द्र इत्यनूद्य क इति प्रश्नस्य चन्द्रशब्दस्यार्थवत्त्वाज्ञानेनाप्रातिपदिकतया तदुत्तरसुब्विभक्तेश्चायुक्तत्वप्रसङ्गात्, चन्द्रस्वरूपे ज्ञातेऽपि तस्यासङ्कीर्णं स्वरूपं न ज्ञातमिति न युक्तम्, तस्मिन् रूपद्वयाभावात्। असङ्कीर्णत्वेन न ज्ञातमिति चेत्, असङ्कीर्णत्वप्रकारकप्रतीतिपरत्वं पर्यवसितम्, तच्च व्यावर्तकवैशिष्ट्यं वा व्यावृत्तिवैशिष्ट्यं वा,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का—ननु चन्द्रस्वरूपस्य ज्ञातत्वे तत्र प्रश्नो न युज्यते, अज्ञातत्वे धर्मिज्ञानसाध्यबुभुत्सासन्देह—योश्चायुक्तत्वप्रसङ्गात्— इस प्रकार से मूल में प्रथम अन्वय करना चाहिए। इस अन्वय के अनुसार पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रश्नकर्ता को चन्द्रस्वरूप का ज्ञान है? या नहीं? यदि ज्ञान है, तब चन्द्रस्वरूपमात्र विषयक प्रश्न करना युक्ति सङ्गत नहीं होगा और चन्द्रस्वरूप का ज्ञान न होने पर भी चन्द्रस्वरूपमात्रविषयक प्रश्न नहीं हो सकता है, क्योंकि चन्द्ररूपधर्मी के ज्ञान से साध्य जो बुभुत्सा (जिज्ञासा) तथा सन्देह है। इन दोनों की उपपत्ति नहीं हो पायेगी। अर्थात् जिज्ञासा और सन्देह जो कि धर्म है। अतः इस धर्मज्ञान के लिए धर्मी के ज्ञान की आवश्यकता होगी। उस धर्मी ज्ञान के विना उस धर्मी के विषय में न तो किसी की जिज्ञासा हो सकती है और न तो किसी को सन्देह हो सकता है। जिज्ञासा और सन्देह के विना उक्त प्रश्न नहीं हो सकता। द्वितीय अन्वय—अज्ञातत्वे चन्द्र इत्यनूद्य क इति प्रश्नस्यायुक्तत्वप्रसङ्गात्। अर्थात् चन्द्र को जो व्यक्ति सामान्यरूपेण जानता है। वही व्यक्ति चन्द्र का अनुवाद करके ''कश्चन्द्रः'' ऐसा प्रश्न कर सकता है, किन्तु जिस व्यक्ति को चन्द्र का सामान्य ज्ञान भी नहीं है उस व्यक्ति के द्वारा ''कश्चन्द्रः'' ऐसा प्रश्न करना युक्ति सङ्गत नहीं होगा। तृतीय अन्वय— अज्ञातत्वे चन्द्रशब्दस्यार्थवत्त्वाज्ञानेनाप्रातिपदिकतया तदुत्तर—सुब्विभक्तेश्चायुक्तत्वप्रसङ्गात्। अर्थात् जब प्रश्नकर्ता को चन्द्र के स्वरूपमात्र का ही ज्ञान नहीं है तब चन्द्र शब्द के अर्थ का ज्ञान भी नहीं होगा। चन्द्र शब्द में अर्थवत्ता (अर्थ प्रतिपादकता) का ज्ञान न होने पर चन्द्र शब्द की ''अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'' (पा०सू० १—३—४५) इस सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होगी। प्रातिपदिक संज्ञा न होने पर ''प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा'' (पा.सू. २—३—४६) इस सूत्र से चन्द्र शब्द से उत्तर प्रातिपदिकार्थ वाचक सुरूप प्रथमा विभक्ति का प्रयोग सङ्गत नहीं हो पायेगा। मूल में इस प्रकार से अन्वय करें— चन्द्रस्वरूपे ज्ञातेऽपि तस्यासङ्कीर्णं स्वरूपं न ज्ञातमिति (चन्द्र इत्यनूद्य क इति प्रश्नस्योपपत्ते इति— इति शेषः) न युक्तम्, तस्मिन् रूपद्वयाभावात्। अर्थात् यदि कहा जाय कि चन्द्र के दो स्वरूप हैं। (१) सङ्कीर्ण स्वरूप (२) असङ्कीर्णस्वरूप । चन्द्र का सङ्कीर्ण स्वरूप=नक्षत्रादि से अव्यावृत्त चन्द्र का स्वरूप अर्थात् नक्षत्रादि से मिला हुआ चन्द्र का स्वरूप। चन्द्र का असङ्कीर्णस्वरूप= चन्द्र से इतर नक्षत्रादि से व्यावृत्त चन्द्र का स्वरूप। इसमें से चन्द्र के असङ्कीर्ण स्वरूप का ज्ञान न होने पर भी चन्द्र के सङ्कीर्ण स्वरूप का ज्ञान है। अतः चन्द्र का अनुवाद करके ''कश्चन्द्रः'' ऐसे प्रश्न की उपपत्ति हो जायेगी। इस प्रकार से भी नहीं कहा जा सकता है,क्योंकि चन्द्रमा के सङ्कीर्ण और असङ्कीर्ण भेद से दो स्वरूप नहीं माना जाता है अपितु एक ही स्वरूप माना जाता है। अतः उक्त प्रकार से प्रश्न की उपपत्ति नहीं हो सकती है। यदि कहा जाय कि चन्द्रमा का दो स्वरूप नहीं है, किन्तु एक ही स्वरूप है। वही स्वरूप सङ्कीर्ण के रूपसे ज्ञात है किन्तु असङ्कीर्ण के रूप से ज्ञात नहीं है। इसलिए सङ्कीर्णत्वेन जो चन्द्र का स्वरूप ज्ञात है। उस चन्द्र का अनुवाद करके असङ्कीर्णत्वेन चन्द्र के ज्ञान के लिए ''कश्चन्द्र'' ऐसे प्रश्न की उपपत्ति हो जायेगी। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उक्त प्रश्न का असङ्कीर्णत्व प्रकारक चन्द्रविशेष्यक अर्थ की प्रतीति जनन में पर्यवसान मानना होगा। अर्थात् प्रश्न जब असङ्कीर्णत्व प्रकारक चन्द्रविशेष्यक है तब

उभयथाप्यखण्डार्थत्वभङ्ग इति चेन्न; भावानवबोधात्। तथाहि चन्द्रस्वरूपस्य ज्ञातत्वाभ्युपगमादेव तदज्ञातत्वनिबन्धनदोषानवकाशः। ज्ञातत्वेऽपि च विपर्ययविरोधिज्ञानानुदयदशायां तदुदयार्थं प्रश्नो युज्यते एव; अन्यथा सर्वत्र प्रश्नमात्रोच्छेदापत्तेः। अथानभ्यासदशापन्नं ज्ञानं न विपर्ययविरोधि, प्रकृतेऽपि समम्, विषयतुल्यत्वेऽपि ज्ञानविशेषस्यैव विपर्ययनिवर्तकत्वस्य सर्वतन्त्रसिद्धान्तत्वात्।१२।।

'शङ्खः श्वेतो न पीतः' इत्यादिपरोक्षज्ञाने भासते यादृशं श्वैत्यस्वरूपं पीताभावस्वरूपं वा,

सत्यानन्दप्रबोधिका

उत्तर वाक्य भी असङ्कीर्णत्वप्रकारक चन्द्रविशेष्यक बोध को उत्पन्न करेगा। ऐसा होने पर उत्तर वाक्य अखण्डार्थक न होकर सखण्डार्थक होगा। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जिसका वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) ज्ञान में भासता है। उसको प्रकार कहते हैं। अत: असङ्कीर्णत्व को ज्ञान में जब प्रकार कहा गया, तब उसका वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) ज्ञान में भासता है—यह मानना होगा। वह वैशिष्ट्य क्या है? उसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि असङ्कीर्णत्व और ज्ञान में जो सम्बन्ध (वैशिष्ट्य) है। उसको व्यावर्तक वैशिष्ट्य अथवा व्यावृत्तिवैशिष्ट्य कहा जाता है। अर्थात् असङ्कीर्णत्व= सङ्कीर्णत्व का व्यावर्तक धर्म। इसी को असङ्कीर्णत्व और ज्ञान के मध्य में सम्बन्ध माना जा सकता है। अथवा असङ्कीर्णत्व=सङ्कीर्णत्व की व्यावृत्ति। इसको असङ्कीर्णत्व और ज्ञान के मध्य में सम्बन्ध मान लिया जाता है। दोनों ही प्रकार से अखण्डार्थत्व (संसर्गशून्यत्व) भङ्ग हो जाता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी सिद्धान्त मत को समझ ही नहीं पाया है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि चन्द्रस्वरूप के ज्ञातत्वे को हम स्वीकार करते हैं। अत: पूर्वपक्षी के द्वारा चन्द्रस्वरूप के अज्ञातत्वे के कारण जो दोष दिखलाये गये थे। उन दोषों को कोई अवकाश नहीं है। अर्थात् वे दोष सिद्धान्त मत में उठाये ही नहीं जा सकते हैं। चन्द्रस्वरूप के ज्ञातत्व होने पर भी ''चन्द्रः प्रकृष्टप्रकाशो न भवति'' इत्याकारक विपर्यय का विरोधी जो ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इत्याकारक ज्ञान है। उस ज्ञान की अनुदय दशा में उस ज्ञान के उदय के लिए ''कश्चन्द्रः'' इत्याकारक प्रश्न युक्त ही है। अन्यथा= पूर्वपक्षी के द्वारा ज्ञात और अज्ञात दोनों पक्षों में दिये गये दोषों को मानने पर, कहीं पर भी प्रश्न ही नहीं हो पायेगा और जब प्रश्न नहीं होगा तब उसका उत्तर सखण्डार्थ है या अखण्डार्थ है। इसकी चर्चा ही नहीं हो पायेगी। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि अभ्यासदशापन्न ज्ञान=निश्चयात्मक ज्ञान= अप्रामाण्यशङ्का से रहित ज्ञान ही विपर्यय का विरोधी होता है और अनभ्यासदशापन्नज्ञान= अप्रामाण्यशङ्का से युक्त ज्ञान=संशयात्मक ज्ञान विपर्यय का विरोधी नहीं होता है, किन्तु अनभ्यासदशापन्नज्ञान=संशयात्मक ज्ञान हो जाने पर भी जिज्ञासादि के होने से प्रश्न बन जाता है। प्रश्नमात्र का उच्छेद नहीं होता है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि प्रकृत (सिद्धान्तमत) में भी अनभ्यासदशापन्न चन्द्रज्ञान के पश्चात् ''कश्चन्द्रः'' इत्याकारक प्रश्न की उपपत्ति हो जायेगी। अनभ्यासदशापन्न ज्ञान और अभ्यासदशापन्नज्ञान का विषय समान होने पर भी अभ्यासदशापन्न ज्ञान ही विपर्ययादि का विरोधी होता है— इसमें हमारी भी सहमति है, क्योंकि यह सर्वमत सिद्ध सिद्धान्त है।१२।।

जिस देवदत्त को पीलीया रोग है। उस देवदत्त को शङ्ख पीले रङ्ग का दिखायी पड़ रहा है। उस देवदत्त को जब आप्त पुरुष ने कहा कि शङ्ख श्वेत है पीत नहीं, तब देवदत्त को शङ्ख श्वेत है, पीत नहीं है— इस प्रकार के परोक्ष ज्ञान में जैसा श्वेतत्वस्वरूप या पीताभावस्वरूप भासित होता है, वैसा ही पीतरोग के निवृत्त हो जाने पर देवदत्त को जब शङ्ख श्वेत है, पीत नहीं, इस प्रकार के अपरोक्ष ज्ञान में श्वेतत्वस्वरूप

तादृशमेवापरोक्षज्ञानविषयतादशायां विपर्ययविरोधीति विपर्ययविरोधि(ज्ञान)फलोपहितमेव असङ्कीर्णमित्युच्यते। फलोपधानतदभावौ च दोषविशेषतदभावयोर्वैपरीत्येनेत्यन्यदेतत्। तथा च एकमेव स्वरूपं दशाविशेषभेदेन सङ्कीर्णमसङ्कीर्णं चेति सङ्कीर्णतादशायां युगपज्ज्ञानाज्ञानयोरुपपत्तिः। अत एव व्यावृत्तिवैशिष्ट्यं व्यावर्त्तकवैशिष्ट्यं वा असङ्कीर्णत्वमिति—अपास्तम्, 'शङ्खः श्वेतो न पीतः' इत्यत्रोभयसद्भावेऽपि विपर्ययाविरोधित्वरूपसङ्कीर्णताया दर्शनात्।१३।।

'यद्यपि यश्चन्द्रः तत्र चन्द्रत्वं तमोनक्षत्रादिव्यावृत्तिश्चास्तीति मया ज्ञायते एव, तथापि चन्द्रस्वरूपं परं न

सत्यानन्दप्रबोधिका

या पीताभाव स्वरूप भासित होता है। ''शङ्ख श्वेत है, पीत नहीं'' इत्याकारक अपरोक्ष ज्ञान ही विपर्यय का विरोधी होता है। इस कारण से विपर्यय विरोधी ज्ञानरूपफल= अप्रामाण्यशङ्काशून्यज्ञान। उस ज्ञान रूप उपाधि से युक्त जो स्वरूप है। उसको असङ्कीर्ण शब्द से कहा जाता है। फलोपधान और फलोपधानाभाव में दोषविशेष और दोषविशेष का अभाव विपरीत क्रम से प्रयोजक होता है। अर्थात् दोषविशेष (काचकामलादिदोष) के अभाव होने पर फलोपधान होता है और दोषविशेष के होने पर फलोपधानाभाव होता है। यह सब विचारान्तर है। अर्थात् प्रकृत (अखण्डार्थ) से सम्बन्धित नहीं है। फलतः एक ही स्वरूप दशा विशेष के भेद से सङ्कीर्ण तथा असङ्कीर्ण होता है। इसलिए सङ्कीर्णता दशा में एककालावच्छेदेन ज्ञान और अज्ञान की उपपत्ति हो जायेगी। { कहने का भाव यह है कि एक ही चन्द्र स्वरूप का जब तक विपर्यय विरोधी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, तब तक ''अस्ति कश्चित् चन्द्रार्थः'' इस प्रकार का चन्द्र ज्ञान रहता है, किन्तु नक्षत्राादि से इतर भिन्नत्वेन चन्द्र का ज्ञान नहीं रहता है। तत्कालीन चन्द्र के स्वरूप को सङ्कीर्ण कहा जायेगा और जब विपर्यय विरोधी ज्ञान होगा तब नक्षत्रादि से इतर भिन्नत्वेन जो चन्द्र का स्वरूप है। उस स्वरूप को असङ्कीर्ण कहा जायेगा। इसलिए सङ्कीर्णता दशा में सामान्य ज्ञान रहेगा और इतर व्यावृत्त स्वरूप का अज्ञान रहेगा। इसलिए सामान्य ज्ञान रहने से चन्द्र का अनुवाद करके इतर व्यावृत्त स्वरूप का अज्ञान रहने के कारण ''कश्चन्द्रः'' इस प्रकार का प्रश्न बन जायेगा।} अत एव= विपर्यय विरोधी ज्ञान से उपहित स्वरूप ही असङ्कीर्ण है—ऐसा सिद्ध हो जाने से ही, पूर्वपक्षी ने जो असङ्कीर्ण का अर्थ व्यावर्त्तक वैशिष्ट्य या व्यावृत्ति वैशिष्ट्य किया था, उसका खण्डन हो गया। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पीतरोगदशाकालीन ''शङ्ख श्वेत है, पीत नहीं'' इस परोक्षज्ञान में, उभयसद्भावेऽपि = व्यावर्त्तक वैशिष्ट्य और व्यावृत्तिवैशिष्ट्य इन दोनों के रहने पर भी विपर्यय अविरोधित्व रूप सङ्कीर्णता देखी जाती है। अर्थात् पीतरोगदशाकालीन उक्त परोक्षज्ञान के होने पर शङ्ख में व्यावर्त्तक जो श्वेतत्व और पीताभाव है। इनका वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) शङ्ख में है। ऐसा ज्ञान हो जाता है किन्तु उक्त परोक्षज्ञान से पीतरोगदशाकालीन ''शङ्ख पीत है।'' ऐसा भ्रम छूटता नहीं है। अतः उक्त परोक्षज्ञान विपर्यय का विरोधी नहीं होने से तत्कालीन स्वरूप सङ्कीर्ण स्वरूप है। इस प्रकार व्यावर्त्तक वैशिष्ट्य इत्यादि के रहने पर सङ्कीर्णता ही रही न कि असङ्कीर्णता। इसलिए व्यावर्तक वैशिष्ट्य इत्यादि के होने पर असङ्कीर्णता रहती है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है।१३।।

प्रश्नकर्त्ता के अनुभव के माध्यम से सिद्धान्त पक्ष को स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रश्नकर्त्ता कहता है कि यद्यपि जो चन्द्र है, उसमें चन्द्रत्व धर्म है और अन्धकार नक्षत्रादि का भेद है—इन सभी को मैं जानता ही हूँ, परन्तु मैं चन्द्रस्वरूप को नहीं जानता हूँ। इस प्रकार प्रश्नकर्त्ता के अनुभव से यह सिद्ध होता है कि प्रश्नकर्त्ता को व्यावर्तक (चन्द्रत्वधर्म) और अन्धकारादि की व्यावृत्ति (भेद) का वैशिष्ट्य जिज्ञासित नहीं है। अपितु चन्द्रस्वरूप ही जिज्ञासित है, क्योंकि ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इस वाक्य के द्वारा

ज्ञायते' इत्यनुभवेन व्यावर्तकव्यावृत्तिवैशिष्ट्यस्याजिज्ञासितत्वेन जिज्ञासितं चन्द्रस्वरूपमेव विपर्ययविरोधिज्ञानविशेषं जनयता 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' इति वाक्येन बोध्यते इति किमनुपपन्नम्? व्यावृत्तेः शाब्दबोधफलत्वेऽपि तदविषयत्वान्नाखण्डार्थत्वव्याघातः, तद्बोधकपदाभावाच्च। अथ लक्षणया व्यावृत्तेः शाब्दबोधे भानम्, न, वैयर्थ्यात् तत्र तात्पर्याभावेन लक्षणाया अयोगात्। तथाहि चन्द्रे व्यावृत्तिर्बोध्यते व्यक्तिविशेषे वा, नाद्यः, 'या शुक्तिः सा रजतादिभिन्ना' इति ज्ञानेऽपि शुक्तिस्वरूपाज्ञानतत्कार्यविपर्ययदर्शनवत् 'यश्चन्द्रः, स तमआदिविलक्षणः'

सत्यानन्दप्रबोधिका

विपर्ययविरोधी ज्ञानविशेष उत्पन्न होता हुआ जिज्ञासित चन्द्रस्वरूप ही बोधित होता है। अतः सिद्धान्ती के मत में कोई भी अनुपपत्ति नहीं है। चन्द्र गत तमोनक्षत्रादि की व्यावृत्ति (भेद) को ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध का फल मानने पर भी शाब्दबोध को उक्त व्यावृत्ति विषयक नहीं माना जाता है। कहने का भाव यह है कि सर्वप्रथम लक्षण वाक्य से चन्द्रस्वरूपमात्र का बोध होता है। अतः शाब्दबोध का विषय चन्द्रस्वरूप मात्र ही होता है किन्तु इस शाब्दबोध का यह फल होता है कि नक्षत्रादि से चन्द्र की व्यावृत्ति (भिन्नता) का बोध हो जाता है। परन्तु वह व्यावृत्ति शाब्दबोध का विषय नहीं है, केवल चन्दस्वरूप ही उक्त शाब्दबोध का विषय होता है। अतः लक्षण वाक्य के अखण्डार्थक होने में कोई व्याघात नहीं होगा। दूसरी बात यह भी है कि उक्त लक्षणवाक्य में स्थित किसी भी पद का अर्थ व्यावृत्ति नहीं है। अतः शक्तिवृत्ति के द्वारा शाब्दबोध में व्यावृत्ति का भान नहीं माना जा सकता है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि शक्तिवृत्ति के द्वारा शाब्दबोध में व्यावृत्ति का भान न होने पर भी लक्षणा के द्वारा व्यावृत्ति का शाब्दबोध में भान हो जायेगा। ऐसा होने पर शाब्दबोध का विषय व्यावृत्ति हो जायेगी। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि व्यावृत्ति के बोधन में लक्षणवाक्य के वक्ता का तात्पर्य ही नहीं है, क्योंकि लक्षणवाक्य के वक्ता का तात्पर्य चन्द्रस्वरूप मात्र के बोधन में ही है। अतः तात्पर्यानुपपत्तिरूप कारण वाली लक्षणा ही नहीं हो सकती है। अतः लक्षणा के द्वारा शाब्द में व्यावृत्ति का भान नहीं माना जा सकता है। यदि ''तुष्यतु दुर्जनः'' इस न्याय से शाब्दबोध में व्यावृत्ति का भान मान भी लिया जाय तो भी किसी सार्थक्य या प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है। अतः लक्षणा के द्वारा शाब्दबोध में व्यावृत्ति का भान मानना व्यर्थ है। इसको ''तथा हि'' से स्पष्ट किया जा रहा है। (मूल में इस प्रकार से अन्वय करना चाहिए—अथ लक्षणयाव्यावृत्तेः शाब्दबोधे भानम्, न, तत्र तात्पर्याभावेन लक्षणाया अयोगात्, वैयर्थ्यात्— तथाहि चन्द्रे.....) लक्षणा के शाब्दबोध में व्यावृत्ति का भान मानना व्यर्थ है, क्योंकि कौन चन्द्र है? इसका ज्ञान नहीं है, अपितु कोई चन्द्र है—ऐसा सामान्य रूप से चन्द्र का परोक्ष ज्ञान है। उस परोक्ष ज्ञान का विषयीभूत जो चन्द्र है, उसमें व्यावृत्ति का बोध होता है क्या? अथवा चन्द्र व्यक्ति विशेष का इतर भिन्नत्वेन लक्षण वाक्य से बोध हो गया। तब उस बोध का विषयीभूत चन्द्र में व्यावृत्ति का बोध होता है क्या? प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि जब किसी व्यक्ति को शुक्ति में रजत का भ्रम हो रहा है। उस समय इसको यह ज्ञात नहीं है कि पूरोवर्ति वस्तु शुक्ति है किन्तु उसको यह परोक्ष ज्ञान है कि ''जो शुक्ति है वह रजतादि से भिन्न है।'' इस प्रकार के परोक्ष ज्ञान के द्वारा उसको शुक्ति में रजतादि के व्यावृत्ति का बोध है किन्तु ऐसा होने पर भी उस व्यक्ति को शुक्ति स्वरूप का अज्ञान भी है और उस अज्ञान का कार्य जो रजतादि का भ्रम है। वह भी उस व्यक्ति को होते हुए देखा जाता है, ठीक वैसे ही ''जो चन्द्र है वह अन्धकारादि से भिन्न है— इत्याकारक परोक्षज्ञान के होने पर भी चन्द्रस्वरूप का अज्ञान और चन्द्रस्वरूप के अज्ञान का कार्य भ्रम देखा जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि शाब्दबोध में व्यावृत्ति का भान होने पर भी जब भ्रमादि रूकता नहीं

इति ज्ञानेऽपि चन्द्रस्वरूपाज्ञानतत्कार्यविपर्ययादिदर्शनात्। द्वितीये त्वावश्यकत्वाद्व्यक्तिविशेषे एव बोध्यताम्, किं व्यावृत्त्या शब्दानुपस्थितया? व्यक्तिविशेषबोधादेव तत्सिद्धेः। नहि 'धूमोऽस्ति' इति वाक्ये वह्नौ लक्षणा।।१४।।

अत एव विनैव लक्षणां व्यावृत्तिः शाब्दबोधे भासते, 'घटेन जलमाहर' इत्यत्र छिद्रेतरत्ववत्—इति निरस्तम्, छिद्रेतरत्वस्यानन्यलभ्यत्वेन शब्दतात्पर्यविषयत्वेऽपि न व्यावृत्तेस्तथात्वम्, हानोपादानादिवत्

सत्यानन्दप्रबोधिका

है तब शाब्दबोध में व्यावृत्ति का भान मानना व्यर्थ है। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है,क्योंकि उस व्यावृत्ति बोध में व्यक्ति विशेष का बोध होना आवश्यक है, तब उस बोध में केवल व्यक्ति विशेष का ही बोध होता है, इतना ही मानना चाहिए। उस बोध में व्यावृत्ति का बोध होता है— ऐसा मानना व्यर्थ है, क्योंकि लक्षण वाक्यस्थ किसी भी पद के द्वारा व्यावृत्ति की उपस्थिति नहीं हो रही है। दूसरी बात यह है कि जब केवल व्यक्ति विशेष का बोध हो गया। तब उतने मात्र से ही अर्थात् व्यावृत्ति की सिद्धि हो जाती है। जैसे घट व्यक्ति विशेष की सिद्धि होने पर घट पटादि से भिन्न है— यह अपने आप ही सिद्ध हो जाता है। अतः द्वितीय पक्ष में भी शाब्दबोध में व्यावृत्ति का भान मानना व्यर्थ है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य प्रवर कह रहे हैं कि जैसे किसी ने प्रश्न किया कि 'क्या यहाँ वह्नि है?'' उत्तरदाता ने कहा कि ''यहाँ धूम है।'' यहां ''धूमोऽस्ति'' इस वाक्य की वह्नि में लक्षणा नहीं होती है। अपितु ''धूमोऽस्ति'' इस वाक्य से जनित धूम ज्ञान हेतु बनकर वह्नि की अनुमति करा देता है। ठीक इसी प्रकार लक्षण वाक्य व्यावृत्ति का बोध नहीं कराता है अपितु लक्ष्य विशेष मात्र का ही बोध कराता है और वह लक्षण वाक्यजन्य व्यक्ति विशेष का बोध वाद में हेतु बनकर व्यावृत्ति का बोध करा देता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि लक्षणवाक्य से केवल वस्तु के स्वरूप मात्र का ही बोध होता है। अतः लक्षणवाक्य से जन्य शाब्दबोध का विषय व्यावृत्ति नहीं माना जा सकता है।।१४।।

इसी प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा अपने पक्ष की सिद्धि में यह जो कहा जाता है कि शाब्दबोधे =लक्षणवाक्यजन्य बोध में, लक्षणा के विना ही व्यावृत्ति भासती है। इसको पूर्वपक्षी दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कह रहा है कि जैसे ''घटेन जलमाहर'' ऐसा वक्ता के द्वारा कहने पर श्रोता को यह बोध हो जाता है कि छिद्रहीन घट से जल लाओ। यहां छिद्र युक्त घट की व्यावृत्ति का बोधक कोई पद न रहने पर छिद्रयुक्त घट की व्यावृत्ति शाब्दबोध में भासती ही है, वैसे ही लक्षण वाक्य के द्वारा लक्ष्येतर की व्यावृत्ति, विना उसके बोधक पद से ही शाब्दबोध में भासती ही है। अत एव निरस्तम्—इस प्रकार से अन्वय है। अत एव= शाब्दबोध का विषय व्यावृत्ति न होने पर पूर्वपक्षी का उक्त कथन भी निरस्त हो गया। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अनन्यलभ्यत्वेन=घटेन जलमाहर—इस वाक्य रूप शब्दप्रमाण से भिन्न प्रमाणसे छिद्रेतरत्व लभ्य न होने से छिद्रेतरत्व शब्द के तात्पर्य का ही विषय होने से अनन्यलभ्य है किन्तु दार्ष्टान्त में व्यावृत्ति अनन्य लभ्य नहीं है। अर्थात् शब्द प्रमाण से इतर प्रमाण से लभ्य है। जैसे ''धूमोऽस्ति'' इस वाक्य से धूम का ज्ञान होने पर उस धूम ज्ञान को हेतु बनाकर वह्नि का ज्ञान होता है। यहां ''धूमोऽस्ति'' इस वाक्यरूप प्रमाण से अन्य अनुमान प्रमाण से वह्नि की अनुमिति लभ्य है, वैसे ही लक्षणवाक्य रूप शब्दप्रमाण से भिन्न अर्थापत्ति प्रमाण से व्यावृत्ति लभ्य है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जैसे वस्तु के ज्ञान का तीन फल होता है—दान (त्याग), उपादान (ग्रहण) और उपेक्षा। अर्थात् घट का प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा दानादि भासता नहीं है किन्तु दानादि ज्ञान घट प्रत्यक्ष का फल

फलत्वेनान्यलभ्यत्वात्। छिद्रेतरत्वमपि लक्षणां विना न शाब्दबोधविषयः, अन्यथा लक्षणोच्छेदापत्तेः, किन्तु शाब्दबोधविषये जलाहरणसाधने वस्तुगत्या अस्तीत्यन्यत्र विस्तरः। अत एवोक्तमाकरे–'अन्यतो व्यावृत्तिरर्थात्, न शब्दात्' इति। नच कश्चन्द्र इति धर्मप्रश्नोऽयम्ः, कश्चन्द्रधर्म इति स्वाधीने शब्दप्रयोगे निष्प्रयोजनलक्षणाया अन्याय्यत्वात्, तद्बोधनेऽपि अखण्डार्थत्वस्योपपादितत्वाच्च।१५॥

ननु सर्वलक्षणवाक्यानां वस्तुगत्या परस्परभिन्नतत्तत्प्रातिपदिकार्थमात्रविषयज्ञानजनकत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं है। अर्थात् घट प्रत्यक्ष के बाद दूसरा ज्ञान होता है–घटस्त्याज्यः, घटो ग्राह्यः, घट उपेक्षणीयः। जैसे दानादि प्रत्यक्षप्रमाण से भिन्न अन्य प्रमाण से लभ्य है। वैसे ही व्यावृत्ति भी लक्षणवाक्यरूप शब्द प्रमाण से भिन्न अर्थापत्ति प्रमाण से लभ्य है। अर्थापत्ति का आकार इस प्रकार से है– चन्द्रस्य इतरव्यावृत्तिमत्त्वं विना प्रकृष्टप्रकाशरूपलक्षणवत्त्वमनुपपन्नम्। दूसरी बात यह भी है कि छिद्रेतरत्व भी लक्षणा के बिना शाब्दबोध का विषय नहीं होता है। अर्थात् ''घटेन जलमाहर'' इस वाक्यप्रमाण से छिद्रेतरत्व का जो बोध होता है। वह लक्षणा के द्वारा ही होता है, क्योंकि घट पद का वाच्यार्थ कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ है न कि छिद्रहीन तादृश पदार्थ। अतः लक्षणा के द्वारा ही घट पद से छिद्र रहित घट–ऐसा अर्थ किया जाता है। अन्यथा– लक्षणा के विना ही घट पद का शक्तिवृत्ति लक्ष्य अर्थ छिद्रहीन घट करने पर ''शोणः धावति'' ''गङ्गायां घोषः'' इत्यादि स्थलों पर भी शोण शब्द से शोणविशिष्ट अश्व और गङ्गा शब्द से तीर विशिष्ट गङ्गा प्रवाह अर्थ शक्तिवृत्ति से ही लिया ही जा सकता है। इस प्रकार से सर्वत्र लक्षणा मानने की आवश्यकता ही नहीं होगी। वस्तुतः ''घटेन जलमाहर'' इस वाक्य से जन्य शाब्दबोध के विषयीभूत घटरूप जलाहरण के साधन में निश्छिद्रत्व रहता है क्योंकि छिद्रयुक्त घट से जल लाना सम्भव ही नहीं है। इसलिए घट पद की निश्छिद्र घट में लक्षणा की जाती है–इस पर विस्तार से चर्चा अन्यत्र की गयी है। अतएव=व्यावृत्ति अनन्य लभ्य न होने से अर्थात् व्यावृत्ति शब्द प्रमाण से इतर अर्थापत्ति प्रमाण से लभ्य होने से श्री चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका के 'अखण्डार्थनिरूपणे उत्तरपक्षः'' में कहा है कि ''तच्च सर्वं स्वरूपमात्रे पर्यवस्यति, अर्थात् पुनरन्यतो व्यावृत्तिः फलतीति युक्तम्।'' अर्थात् सभी लक्षण वाक्य लक्ष्य के स्वरूप मात्र में ही पर्यवसित होते हैं और शब्द से भिन्न अर्थापत्ति प्रमाण से व्यावृत्ति का बोध होता है शब्द प्रमाण से नहीं। ''कश्चन्द्रः'' यह प्रश्नवाक्य चन्द्रत्व रूप व्यावर्तक धर्म के विषय में है। अर्थात् ''कश्चन्द्रः'' इस प्रश्न के माध्यम से चन्द्र में कौन सा व्यावर्तक धर्म रहता है? इसको प्रश्नकर्ता पूछ रहा है–ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रश्नकर्ता प्रश्न के आकार वाली शब्दावली प्रयोग करने में स्वतंत्र होता है। अतः यदि धर्म विषयक प्रश्न होता तब प्रश्न का आकार होता– कः चन्द्रधर्मः?। कः चन्द्रः? इस प्रकार प्रश्न करके उसकी धर्मविषयक जिज्ञासा में निष्प्रयोजक लक्षणा करना सर्वथा ही अनुचित है। ''तुष्यतु दुर्जनः'' इस न्याय से ''कश्चन्द्रः'' इस प्रश्न के माध्यम से चन्द्र धर्म का बोधन मानने पर भी ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः''इस वाक्य में अखण्डार्थत्व का प्रतिपादन खण्ड संख्या ५ में किया जा चुका है।१५॥

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के मत में वस्तुगत्या सभी लक्षणवाक्य इतरार्थ भिन्न तत्तत्प्रातिपदिकार्थमात्रविषयक ज्ञान के जनक होते हैं। (जैसे चन्द्र का प्रतिपादक वाक्य चन्द्र इतर से भिन्न जो चन्द्र इस प्रातिपदिक का जो अर्थ है। उस अर्थमात्र के बोध का जनक होता है।) इसलिए लक्षणवाक्यों में सप्रकारकज्ञान की जनकता का अभाव है। अतः ''कश्चन्दः'' इस प्रश्नवाक्य में स्थित विशेष्यमात्र = चन्द्रमात्र (जो प्रातिपदिकार्थ है) का बोधक (समर्पक) चन्द्र पद का ही प्रयोग कर उत्तरदाता को करना चाहिए,

सप्रकारकज्ञानजनकत्वाभावात् प्रश्नवाक्यस्थं विशेष्यमात्रसमर्पकं चन्द्रादिपदमेव प्रयोक्तव्यमुत्तरवादिना, किं प्रकृष्टप्रकाशादिपदेनेति—चेन्न; स्वरूपमात्रस्य ज्ञेयत्वेऽपि स्वरूपज्ञानस्य तावत्पदार्थाधीनत्वे सत्येव तावत्पदार्थेतरव्यावृत्तिफलत्वेन सर्वपदानां सफलत्वात्, अन्यथा संशयाद्यनुवृत्तेरनुभवसिद्धत्वात्।।१६।।

ननु उत्तरस्य प्रकृष्टत्वादिविशिष्टबोधपरत्वाभावे तात्पर्यतो यःकश्चिच्चन्द्र इत्येवावबोधनाद्वस्तुतो यस्य कस्यापि चन्द्रत्वं स्यात्, तात्पर्यविषये चायं चन्द्र इति लक्ष्यलक्षणरूपोद्देश्यविधेयविभागाभावेन चन्द्रबुभुत्साया अनिवृत्तिः, कश्चन्द्र इति प्रश्नस्योत्तरं च न स्यादिति—चेन्न; यथा गङ्गासम्बन्धित्वविशिष्टे

सत्यानन्दप्रबोधिका

निष्फल होने से प्रकृष्टप्रकाशादि पदों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

समाधान— पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि उत्तरदाता के द्वारा यद्यपि चन्द्र इस प्रातिपदिकार्थ मात्र का बोध कराना है, तथापि उत्तरदाता यदि चन्द्रमात्र ही बोलता है तब प्रश्नकर्ता को चन्द्रस्वरूप मात्र का बोध नहीं होता है, क्योंकि स्वरूप का ज्ञान तावत् पदार्थों के अधीन होता है। (अर्थात् सर्वप्रथम प्रकृष्टप्रकाशादि जो पदार्थ हैं। उनके साथ चन्द्रस्वरूप का जो वैशिष्ट्य है। उसका बोध द्वार के रूप से होता है। इसके पश्चात् चन्द्रस्वरूप मात्र का बोध होता है। इसलिए चन्द्रस्वरूप मात्र का ज्ञान द्वारभूत प्रकृष्टप्रकाशादि पदार्थ वैशिष्ट्य के ज्ञान के अधीन है।) प्रकृष्टप्रकाशेत्तर नक्षत्रादि के तादात्म्यधी की निवृत्ति रूप फल वाले प्रकृष्ट प्रकाशादि पद हैं। अतः प्रकृष्टप्रकाशादि सभी पदों का प्रयोग सार्थक है। अन्यथा= उत्तरदाता के द्वारा उत्तरवाक्य के रूप से चन्द्रमात्र बोलने पर, प्रकृष्टप्रकाशादि पदों का अज्ञान होने से नक्षत्रादि तादात्म्यज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी। ऐसा होने पर आकाश में स्थित नक्षत्रादि में चन्द्रमा का संशय बना रहेगा—यह सर्वानुभव सिद्ध है।।१६।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः''—इस उत्तर वाक्य को प्रकृष्टत्वादि से विशिष्ट चन्द्र का बोधक न मानकर तात्पर्यतः ''जो कोई चन्द्र है'' इस प्रकार से केवल चन्द्र के स्वरूप मात्र का बोधक मानने पर प्रकृष्टप्रकाश से भिन्न ईटादि किसी भी पदार्थ में चन्द्रत्व मानने की आपत्ति होगी। अर्थात् श्रोता ऐसा समझेगा कि नक्षत्र—ईटादि कोई भी चन्द्र है न कि प्रकृष्टप्रकाश वाला चन्द्र है। वक्ता के तात्पर्य का विषय केवल चन्द्र है—इस प्रकार से मानने पर लक्ष्यलक्षणरूप जो उद्देश्य विधेय का विभाग है। उसको उत्पत्ति न होने से शाब्दबोध नहीं होगा, क्योंकि उद्देश्यता विधेयता के एकत्व होने पर शाब्दबोध नहीं होता है। उत्तरवाक्य से शाब्दबोध न होने पर चन्द्र जिज्ञासा की निवृत्ति नहीं होगी। {''तात्पर्यविषये'' के स्थान पर न्यायामृत में ''तात्पर्यविषयेऽखण्डे'' ऐसा पाठ है। अर्थात् लक्षणवाक्य जन्यज्ञान का तात्पर्य विषय =चन्द्रप्रातिपदिक मात्र है— ऐसा मानने पर। अयं चन्द्रः = प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः—इस वाक्य का अर्थ पूर्वपक्षी के अनुसार प्रकृष्टत्वादि विशिष्ट चन्द्र। ऐसा मानने पर चन्द्र= उद्देश्य = लक्ष्य और प्रकृष्टत्वादि=विधेय=लक्षण। इस प्रकार लक्ष्यलक्षण विभाग बन जायेगा। किन्तु केवल चन्द्र ही लक्षण वाक्य का अर्थ है—ऐसा मानने पर विधेय भी केवल चन्द्र ही होगा। इस प्रकार से उद्देश्य और विधेय दोनों ही चन्द्र हो जायेगा। उद्देश्य और विधेय का विभाग नहीं बन पायेगा। उक्त विभाग न होने से शाब्दबोध नहीं होगा। उत्तर वाक्य से शाब्दबोध न होने पर चन्द्रविषयक जिज्ञासा की निवृत्ति नहीं होगी। अतः ''कश्चन्द्रः'' इस प्रश्न वाक्य के उत्तर वाक्य (प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः) का अर्थ ''अयं चन्द्रः'' (केवल चन्द्रस्वरूप मात्र) नहीं होना चाहिए।

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे ''गङ्गायां धोषः'' यहां पर यद्यपि गङ्गा पद से वक्ता

तात्पर्याभावेऽपि वस्तुगत्या गङ्गासम्बन्ध्येव तीरं गङ्गापदेन लक्ष्यते, यथा वा; 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यादौ व्रीह्यादिस्वरूपे प्रोक्षणादिविधानवैयर्थ्याद्व्रीहिभिर्यजेतेत्यादिवाक्यसिद्धापूर्वसम्बन्धित्वलक्षणायामपि वस्तुगत्या व्रीहित्वाद्याश्रयीभूता एव व्यक्तयो व्रीह्यादिपदैर्लक्ष्यन्ते, तथा प्रकृतेऽपि प्रकृष्टप्रकाशपदाभ्यां वस्तुगत्या स्वाश्रयीभूतैव व्यक्तिर्लक्ष्यते, न तु या काचिदिति विशिष्टतात्पर्याभावेऽपि न पूर्वोक्तदोषः।।१७।।

अयं चन्द्र इति लक्ष्यलक्षणभावाभावेऽपि तदुभयप्रतिपादकपदाभ्यामुपस्थितस्यैकस्वरूपस्यैव

सत्यानन्दप्रबोधिका

का तात्पर्य तीर अर्थ को बोधन कराने में है न कि गङ्गा सम्बन्धित्व विशिष्टतीर अर्थ को बोधन कराने में है। तथापि वस्तुगत्या गङ्गा सम्बन्धी तीर ही लक्ष्य के रूप से ज्ञात होने के कारण गङ्गा सम्बन्धी तीर ही लक्षणा के द्वारा बोधित होता है। {इसी प्रकार प्रकृत में भी यद्यपि उत्तरवादी का विशिष्ट में तात्पर्य नहीं है अपितु शुद्ध तात्पर्य है तथा लक्षणा के द्वारा वस्तुगत्या जो लक्षण सम्बन्धी लक्ष्य है वही बोधित होता है। इसलिए लक्षण वाक्य = विधेय और प्रश्न वाक्य उद्देश्य हो जायेगा। } अथवा जैसे ''ब्रीहीन् प्रोक्षति'' इत्यादि स्थल पर व्रीहि आदि के स्वरूप की निष्पत्ति के लिए प्रोक्षणादि का विधान व्यर्थ माना जाता है, क्योंकि व्रीहि का स्वरूप प्रोक्षण के पहले से ही सिद्ध है। अतः ''व्रीहिभिर्यजेत'' इत्यादि वाक्यों से सिद्ध जो अपूर्व है। तादृश अपूर्व सम्बन्धित्व व्रीहि में व्रीहि पद की लक्षणा होती है। {कहने का भाव यह है कि केवल याग करना किसी का उद्देश्य नहीं होता है किन्तु याग के माध्यम से अपूर्ण को उत्पन्न करना ही याग कर्ता का उद्देश्य होता है। अतः ''व्रीहिभिर्यजेत'' इस वाक्य के द्वारा अपूर्व का साधनीभूत याग को उद्देश्य करके व्रीहि का विधान किये जाने से व्रीहि= अपूर्व सम्बन्धि—यह अर्थ प्राप्त हो जाता है। वह अपूर्व प्रोक्षणादि से रहित व्रीहि के द्वारा प्रयुक्त याग के द्वारा उत्पन्न होता है— इसमें प्रमाण न होने से ''व्रीहीन् प्रोक्षति'' इस विधि के द्वारा अपूर्व सम्बन्धि विधि को उद्देश्य करके प्रोक्षणादि साधन वाली भावना का विधान करना व्यर्थ नहीं है। अतः ''व्रीहिन् प्रोक्षति'' इस वाक्यस्थ व्रीहि पद की अपूर्वसम्बन्धी व्रीहि इस अर्थ में लक्षण करना यद्यपि सिद्ध होता है तथा व्रीहि पद का अपूर्व सम्बन्धि व्रीहि में लक्षणा मानना उचित नहीं है, क्योंकि जैसे गङ्गा पद से गङ्गा से संबंधित अन्य पदार्थ (तीरादि) में लक्षणा होती है, क्योंकि ''शक्यसम्बन्ध'' यह लक्षणा का लक्षण है। इसके अनुसार व्रीहि पद की व्रीहि से सम्बन्धित अन्य पदार्थ में लक्षणा हो सकती है न कि अन्य पदार्थ (अपूर्व) से सम्बन्धित व्रीहि में इस अरूचि के कारण वस्तुगत्या से सिद्धान्ती कह रहे हैं कि} वस्तुगत्या व्रीहि पद का शक्यार्थ जो व्रीहित्व है। उसका आश्रय (सम्बन्धी) व्रीहि व्यक्ति है। वह व्रीहि व्यक्ति ही व्रीहि पद में लक्षणा के द्वारा लक्षित होता है। ठीक इसी प्रकार प्रकृत में भी प्रकृष्टप्रकाशपद का शक्य=प्रकृष्टप्रकाशवत्त्व। उसका आश्रय (सम्बन्धी) = चन्द्रव्यक्ति। वह चन्द्रव्यक्ति ही प्रकाशपद में लक्षणा के द्वारा लक्षित होता है न कि चन्द्र व्यक्ति से भिन्न ईट आदि। अतः विशिष्ट में तात्पर्य न होने पर भी चन्द्र व्यक्ति से भिन्न जो कोई ईटादि व्यक्ति में चन्द्रत्व की प्रसक्ति नहीं होगी। इसलिए '' वस्तुतो यस्य कस्यापि चन्द्रत्वं स्यात्'' ऐसा जो पूर्वपक्षी ने दोष दिया था। उसका खण्डन हो गया।।१७।।

अयं चन्द्रः= प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः—इस स्थल पर पूर्वपक्षी के मतानुसार लक्षणवाक्य के अधीन विशेषणविशेष्यभावरूप जो लक्ष्यलक्षण धर्म है। सिद्धान्ती के मतानुसार उसका अभाव होने पर भी चन्द्रत्वविशिष्ट और प्रकृष्टप्रकाशत्वविशिष्ट—ऐसे उभयप्रतिपादक पदों से उपस्थित केवल चन्द्रस्वरूप में ही उद्देश्य विधेयभाव उपपन्न हो जायेगा। {अर्थात् प्रश्न का विषय के रूप से (विपर्यय का अविरोधी ज्ञान

उद्देश्यविधेयभावसम्भवेन बुभुत्सानिवृत्तेरुत्तरत्वस्य च सम्भवात्। निष्प्रकारस्यापि ज्ञानस्य संशयादिनिवर्तकत्वं प्रागुपपादितमेव। तदेतन्निष्कृष्टम्—प्रश्नोत्तरे तावत् चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्रविषये, चन्द्रप्रातिपदिकार्थश्च प्रकृष्टप्रकाशाश्रयीभूताऽसाधारणी विशेष्यभूता व्यक्तिः, न तु प्रकृष्टप्रकाशविशिष्टा, प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति सहप्रयोगानुपपत्तेः, विशेष्यव्यक्तिश्चाखण्डेत्यखण्डार्थतैव।।१८।।

ननु गामानयेत्यत्र गामुद्दिश्यानयनविधानाद् यथा गोत्वस्य उद्देश्यतावच्छेदत्वादानयनेनानन्वयेऽपि प्रकारत्वं, तथा प्रकृतेऽपि प्रकृष्टप्रकाशस्य चन्द्रप्रातिपदिकार्थत्वेनानन्वयेऽप्युद्देश्यतावच्छेदकत्वात् प्रकारत्वं दुर्वारम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

के विषय के रूप से} चन्द्र उद्‌देश्य (लक्ष्य) हो जायेगा और उत्तरवाक्य के विषय के रूप से (विपर्यय का विरोधी ज्ञान के विषय के रूप से) वही चन्द्र विधेय (लक्षण) बन जायेगा।} अतः ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इस वाक्य में उत्तरवाक्यत्व की उपपत्ति हो जाने से यह उत्तरवाक्य जिज्ञासा का निवर्तक हो जायेगा। यदि शङ्का की जाय कि निष्प्रकारक ज्ञान के द्वारा वुभुत्सा की निवृत्ति कैसे होगी? इसके उत्तर में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि निष्प्रकारक ज्ञान भी संशयादि का निवर्तक होता है। इसका प्रतिपादन खण्ड संख्या १० में किया जा चुका है। इस प्रकार फलितार्थ यह हुआ कि ''कश्चन्द्रः'' यह प्रश्न और ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' यह उत्तर दोनों ही चन्द्ररूप प्रातिपदिकार्थमात्र को विषय करते हैं। चन्द्र प्रातिपदिक का अर्थ प्रकृष्टप्रकाशरूपविशेषण की आश्रयीभूत असाधारणी (इतर व्यावृत्ता) विशेष्य व्यक्ति है। प्रकृष्टप्रकाशविशिष्ट व्यक्ति चन्द्रप्रातिपदिकार्थ नहीं है, क्योंकि चन्द्रप्रातिपदिकार्थ का अर्थ प्रकृष्टप्रकाशविशिष्टव्यक्ति करने पर ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इस प्रकार सहप्रयोग नहीं हो पायेगा। {कहने का भाव यह है कि 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इस वाक्य में आया हुआ प्रकृष्टप्रकाश पद का अर्थ प्रकृष्टप्रकाशविशिष्ट चन्द्र—ऐसा अर्थ करने पर उसके साथ चन्द्र पद का जो अर्थ= प्रश्न का विषयीभूत चन्द्र स्वरूप मात्र का सामानाधिकरण्य नहीं बन पायेगा, क्योंकि प्रकृष्टप्रकाशविशिष्ट चन्द्र और स्वरूपमात्र चन्द्र का अभेद बोधन नहीं होगा, जबकि समानविभक्ति रहने से दोनों में अभेद बोधन हो रहा है।} वह विशेष्य व्यक्ति अखण्ड है। अतः उत्तर वाक्य (लक्षण वाक्य) में अखण्डार्थकता सिद्ध हो गयी।।१८।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि''गामानय'' इस स्थल पर गौ को उद्‌देश्य का आनयन का विधान किया जाता है किन्तु उद्‌देश्यतावच्छेदकीभूत अमूर्त गोत्व का आनयन क्रिया के साथ अन्वय नहीं होता है फिर भी गोत्व में शाब्दबोधीय प्रकारता स्वीकार की जाती है। (अर्थात् आनयन क्रिया का कर्मत्व जो गो व्यक्ति है। उस गो व्यक्ति में प्रकार गोत्व है। गोत्व और आनयन में कर्मक्रियाभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि अमूर्त गोत्व लाया नहीं जा सकता है। फिर भी शाब्दबोध में गोत्वप्रकार रूप से भासता है—यह मानना पड़ेगा, नहीं तो तद्‌वति तद्‌प्रकारकत्व= गोत्ववति गोत्वप्रकारकत्व रूप प्रमा का लक्षण उक्त शाब्दबोध में नहीं जायेगा। अतः गोत्व के शाब्दबोध में रहने से उक्त शाब्दबोध सप्रकारक कहा जायेगा न कि निष्प्रकारक।) ठीक इसी प्रकार से प्रकृत में भी प्रकृष्टप्रकाशवालाचन्द्र उद्‌देश्य है। उद्‌देश्यतावच्छेदक प्रकृष्टप्रकाश है। विधेय चन्द्रप्रातिपदिकार्थ है। यहां पर भी उद्‌देश्यतावच्छेदक प्रकृष्टप्रकाश का विधेय चन्द्रप्रातिपदिकार्थ है। यहां पर भी उद्‌देश्यतावच्छेदक प्रकृष्टप्रकाश का विधेय चन्द्रप्रातिपदिकार्थ के साथ अन्वय (अभेद सम्बन्ध) नहीं हो सकता है, क्योंकि उद्‌देश्यतावच्छेदक=प्रकृष्टप्रकाश विधेय= चन्द्रप्रातिपदिकार्थ नहीं है, क्योंकि प्रकृष्टप्रकाश धर्म है और चन्द्रधर्मी है। फिर भी प्रकृष्टप्रकाश में शाब्दबोधीयप्रकारता मानी जायेगी। अतः लक्षणवाक्य जन्य बोध सप्रकारक होगा, निष्प्रकारक या अखण्डार्थ विषयक नहीं होगा,

नहि गामानयेत्यत्र गोत्वं विनाऽन्वय इति—चेन्न; प्रातिपदिकार्थतावच्छेदकत्वस्य प्रातिपदिकार्थत्वनियत—त्वेनाप्रातिपदिकार्थे तदवच्छेदकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। तथा च प्रकृष्टप्रकाशस्य प्रातिपदिकार्थतावच्छेदकत्वे प्रातिपदिकार्थत्वं दुर्वारमेव।।१९।।

ननु पृथिवीत्ववती पृथिवीत्यादौ पृथिवीत्वस्य विधेयेन पृथिवीप्रातिपदिकार्थत्वेन नानन्वयः; पृथिवीत्वस्य पृथिवीप्रातिपदिकार्थत्वात्, सहप्रयोगस्तु पृथिवीशब्दस्य तद्व्यवहर्तव्यतापरतयेति तत्र व्यभिचार इति—चेन्न,

सत्यानन्दप्रबोधिका

क्योंकि ''गामानय'' इस दृष्टान्त स्थल पर जैसे गोत्व को छोड़कर शाब्दबोध नहीं होता है, ठीक वैसे ही प्रकृत में ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इस स्थल पर प्रकृष्ट प्रकाश को छोड़कर शाब्दबोध नहीं होगा। {मूल में ''चन्द्रप्रातिपदिकार्थत्वेनानन्वये....'' ऐसा लिखा है। इसके अनुसार विधेय = चन्द्रप्रातिपदिकार्थत्व होता है किन्तु विधेय चन्द्रप्रातिपदिकार्थ है। इसको स्पष्ट करने के लिए लघुचन्द्रिका में कहा गया—चन्द्रप्रातिपदिकार्थस्य तादात्म्येन विधेयत्वेऽपि तदर्थत्वस्यापि तच्छरीरप्रवेशेन विधेयत्वोक्तिः। अर्थात् विधेय चन्द्रप्रातिपदिकार्थ है न कि चन्द्रप्रातिपदिकार्थत्व। मूल में चन्द्रप्रातिपदिकार्थत्व इसलिए कहा गया कि चन्द्रप्रातिपदिकार्थत्व चन्द्रप्रातिपदिकार्थ में रहता है। अतः गौण रूप से चन्द्रप्रातिपदिकार्थत्व को विधेय कहा गया है।}

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''यत्र यत्र प्रातिपदिकार्थतावच्छेदकत्वं तत्र तत्र प्रातिपदिकार्थत्वम्। इस व्याप्ति के अनुसार प्रातिपदिकार्थतावच्छेदक सदैव प्रातिपदिकार्थत्व से व्याप्त है। {इस प्रकार अन्वय व्याप्ति के द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि प्रकृष्टप्रकाश को प्रातिपदिकार्थतावच्छेदक मानने पर उक्त व्याप्ति के अनुसार प्रकृष्टप्रकाश को प्रातिपदिकार्थ मानना पड़ेगा। तब ''प्रकृष्टप्रकाशः' इस लक्षणवाक्य के द्वारा प्रातिपदिकार्थ मात्र का ही बोधन होने से (प्रातिपदिकार्थ से भिन्न और किसी का बोधन न होने से) अखण्डार्थ की ही सिद्धि होगी। इसी को व्यतिरेकव्याप्ति के द्वारा आगे स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि} जिसमें प्रातिपदिकार्थत्व नहीं रहेगा, उसमें प्रातिपदिकार्थतावच्छेदकत्व भी नहीं रहेगा। फलतः प्रकृष्टप्रकाश में प्रातिपदिकार्थतावच्छेदकत्व होने पर प्रकृष्टप्रकाश में प्रातिपदिकार्थत्व भी रहेगा। अर्थात् उक्त लक्षणवाक्य के द्वारा चन्द्रप्रातिपदिकार्थ मात्र अखण्डार्थ का ही बोध होगा।।१९।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''पृथिवीत्ववती पृथिवी''— इत्यादि स्थल पर उद्देश्य= पृथिवीत्वविशिष्ट पृथिवी है। यहां उद्देश्यतावच्छेदक पृथिवीत्व का विधेय = पृथिवी प्रातिपदिकार्थत्व के साथ अनन्वय नहीं है अपितु अन्वय ही है, क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदकीभूत पृथिवीत्व में पृथिवीप्रातिपादिकार्थत्व रहेगा, क्योंकि यत्र यत्र प्रातिपदिकार्थतावच्छेदकत्वं तत्र तत्र प्रातिपदिकार्थत्वम्'' ऐसी व्याप्ति है। इस प्रकार उद्देश्यतावच्छेदकीभूत लक्षण का (पृथिवीत्व का) यहां पर विधेय के साथ अन्वय बोधित होता है। ठीक इसी प्रकार अन्यत्र भी (प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः इस स्थल पर भी) लक्षण का विधेय के साथ अन्वय बोधित होगा। ऐसा होने से लक्षणवाक्यों के द्वारा सखण्डार्थता की सिद्धि होगी न कि अखण्डार्थता की। अतः ऐसे लक्षणवाक्यों में हेतु (लक्षणवाक्यत्व) है किन्तु साध्य (अखण्डार्थबोधकत्व) नहीं है। अतः व्यभिचार दोष है। (यहां पर प्रश्न होता है कि ''पृथिवीत्ववती पृथिवी'' यहां उद्देश्यतावच्छेदक पृथिवीत्व और विधेय पृथिवीत्व हैं अतः उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय एक हो जाने से सहप्रयोग नहीं होगा और शाब्दबोध भी नहीं होगा। इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''पृथिवीत्ववती पृथिवी'' इस वाक्य में आया हुआ पृथिवी पद का अर्थ =पृथिवी शब्देन व्यवहर्तव्यता है। जैसे ''घटो घटः'' यहां पर ''घटः घटशब्देन व्यवहर्तव्यः'' है। ऐसा होने पर सहप्रयोग हो जायेगा और उद्देश्यतावच्छेदक (पृथिवीत्व) और विधेय (पृथिवी शब्देन

पृथिवीशब्दार्थत्वेन पृथिवीत्वजातिविशिष्टमजानतः पृथिवीत्वपदेन जातेरुपस्थित्यभावादनन्वय एव स्यात् इति पृथिवीत्वजातिविशिष्टे पृथिवीशब्दार्थत्वग्रहोऽवश्यं प्रागेव श्रोतुर्वक्तव्यः। तथा च वचनवैफल्यमित्यनन्यगत्या जलादिव्यावृत्तगन्धसमानाधिकरणजातिमती पृथिवीत्याद्यर्थे पर्यवसितमुत्तरम्। गन्धसमानाधिकरणजातिमत्त्वादिकञ्च न पृथिवीपदवाच्यमिति कथं नानन्वयः? व्यवहर्तव्यतालक्षणया सहप्रयोगोपपादनं चायुक्तम्, व्यवहर्तव्यतायां हि जहल्लक्षणा, तत्र च स्वार्थहानिः, स्वरूपे तु जहदजहल्लक्षणा, तत्र स्वार्थान्वय इति स्वरूपे जहदजहल्लक्षणाया एवोचितत्वात्। तदुक्तं 'व्याप्तेश्च समञ्जसम्'इति अधिकरणे भाष्यकृद्भिः—'लक्षणायामपि सन्निकर्षविप्रकर्षौ भवत' इति। ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इत्यत्र किमोङ्कारसदृशमुद्गीथमित्यर्थः, किंवा

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्यवहर्तव्यता) के भिन्न–भिन्न होने से शाब्दबोध भी हो जायेगा।

समाधान—पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पृथिवीत्व जाति विशिष्ट ही पृथिवी शब्द का अर्थ है— इसको न जानने वाले व्यक्ति को पृथिवीत्व पद के द्वारा पृथिवीत्व जाति की उपस्थिति न हो पाने के कारण ''पृथिवीत्ववती'' का विधेयार्थ (पृथिवीशब्देन व्यवहर्तव्यता) के साथ अन्वय नहीं हो सकता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि पृथिवीत्व जाति विशिष्ट ही पृथिवी शब्द का अर्थ है—यह ज्ञान श्रोता को अवश्य ही वक्ता के द्वारा ''पृथिवीत्ववती पृथिवी'' इस वाक्य के प्रयोग से पहले ही होना चाहिए। जब श्रोता को पृथिवीत्व जातिविशिष्ट ही पृथिवी शब्द का अर्थ है—यह पहले से ही ज्ञात है। तब उस श्रोता के प्रति पुनः ''पृथिवीत्ववती पृथिवी'' ऐसा ज्ञात ज्ञापनार्थ वचन प्रयोग करना निरर्थक है। इसलिए अन्य गति न होने के कारण ''पृथिवीत्ववती पृथिवी'' इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार करना होगा कि जलादि में न रहने वाली जो जाति है, वह जाति गन्ध के साथ एकाधिकरण में रहने वाली हो— ऐसी जातिवाली पृथिवी है—इत्यादि अर्थ में ही उक्त वाक्य का तात्पर्य स्वीकार करना पड़ेगा। ''पृथिवीत्ववती पृथिवी'' इस वाक्य के दो भाग है। प्रथम भाग = पृथिवीत्ववती। इसका अर्थ किया गया—जलादिव्यावृत्तगन्ध–समानाधिकरणजातिमती। (इसमें पृथिवीत्व का नामोल्लेख नहीं है।) द्वितीय भाग =पृथिवी। इसका अर्थ है—पृथिवी पदवाच्य=पृथिवित्व। (इसमें जलादिव्यावृत्तगन्धसमानाधिकरणजातिमती का नामोल्लेख नहीं है।) अतः उक्त जातिमती का पृथिवीत्व के साथ अन्वय नहीं हो पायेगा। अतः बाध्य होकर के प्रश्नवाक्यस्थ पृथिवी पद का ''पृथिवीस्वरूप'' अर्थ लक्षणा के द्वारा करना पड़ेगा। इसी प्रकार उत्तर वाक्य ''पृथिवीत्ववती'' का अर्थ प्रश्नवाक्य के अनुरूप ही लक्षणा के द्वारा पृथिवी स्वरूप (अखण्डार्थ) करना पड़ेगा। ऐसा करने पर व्यभिचारदोष नहीं होगा और अन्वय भी होगा— पृथिवीस्वरूपमात्रं पृथिवीपदवाच्यम्। पूर्वपक्षी ने सहप्रयोग (अन्वय) के लिए लक्षणा के द्वारा प्रश्नवाक्यस्थ पृथिवी पद का अर्थ —'' पृथिवीशब्देन व्यवहर्तव्या'' किया था। वह उचित नहीं है। इसको स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने पृथिवी पद का ''पृथिवीशब्देन व्यवहर्तव्यता'' अर्थ लक्षणा के द्वारा किया और सिद्धान्त मत में भी पृथिवी पद का स्वरूप अर्थ किया गया। वह भी लक्षणा के द्वारा किया गया किन्तु पूर्वपक्षी को जहल्लक्षणा माननी पड़ेगी, क्योंकि पूर्वपक्षी ने पृथिवी शब्द के वाच्यार्थ पृथिवीत्व का सर्वथा ही त्याग कर दिया। अतः पृथिवीत्व वाच्यार्थरूप स्वार्थ की हानि हो गयी। अतः पूर्वपक्षी का मत उचित नहीं है। जबकि सिद्धान्त मत में भागत्याग लक्षणा करने पर वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग नहीं होता। अतः स्वरूप में भागत्याग लक्षणा करना ही उचित है। अतः सिद्धान्त मत ही समीचीन हैं सिद्धान्त मत के पक्ष में भगवान् सूत्रकार और भगवान् भाष्यकार की सम्मति को दिखलाते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि भगवान सूत्रकार ने ''व्याप्तेश्च समञ्जसम्'' (ब्र०सू०३—३—९)

उद्गीथावयवमोङ्कारमिति विवक्षायां (वीक्षायां) गौण्यां वृतौ स्वार्थहानेरवयवलक्षणैव ज्यायसी। सन्निकृष्टत्वादिति तत्र निर्धारितम्।।२०।।

एतेन—धर्मिणश्चन्द्रस्य सामान्यतो ज्ञातत्वात् नक्षत्रादिभ्यो व्यावर्तकधर्मस्य व्यावृत्तेश्च घटादौ प्रागेव ज्ञातत्वात् विशिष्टविषये एव प्रश्नोतरे, तत्र यदि व्यावृत्तिवैशिष्ट्यमेव प्रष्टुः साक्षाद् बुभित्सितं, तदापि तत्तद्व्यावृत्तेः समासहस्रेणापि वक्तुमशक्यतया वह्निबुभुत्सायां धूममिव व्यावर्तकधर्मवैशिष्ट्यमेवाभिधत्ते, नहि वह्निबोधार्थस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

इस सूत्र में सिद्धान्ती के द्वारा कथित मत को स्वीकार किया है। इसको स्पष्ट करते हुए भगवान भाष्यकार ने उक्त सूत्र के भाष्य में कहा है— नन्वस्मिन्नपि पक्षे समाना लक्षणा, उद्‍गीथशब्दस्यावयवलक्षणार्थत्वात्। सत्यमेवमेतत्। लक्षणायामपि तु सन्निकर्षविप्रकर्षौ भवत एव। किन्तु सिद्धान्ती के पक्ष में भी लक्षणा का प्रसङ्ग समान है, क्योंकि उद्‍गीथ शब्द का ''उद्‍गीथ के अवयव ओंकार'' अर्थ लक्षणा से होता है। यह सत्य है, परन्तु लक्षणा में भी सन्निकर्ष (युक्तत्व) और विप्रकर्ष (अयुक्तत्व) होता ही है। ''ओमित्येतदक्षरमुद्‍गीथमुपासीत'' (छा०उ०१—१—१) यहां पर दोनो में सामानाधिकरण्य को घटित करने के लिए ओंकार का अर्थ जहल्लक्षणा से ओंकार के सदृश उद्‍गीथ किया जाय? अन्यथा उद्‍गीथ पद का अर्थ भागत्यागलक्षणा के द्वारा उद्‍गीथ का अवयवभूत ओंकार किया जाय? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर जहल्लक्षणा मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर वाच्यार्थ का सर्वथा ही त्याग हो जायेगा। जैसे स्ववाच्यसम्बन्धिशूरत्वक्रूरत्वादि धर्मों से माणवक बोधक सिंह पद के स्वार्थ की हानि होती है। ठीक वैसे ही प्राशस्त्य विशेष को निमित्त कर गौणीवृत्ती के द्वारा ओम् इस पद का ओंकार सदृश उद्‍गीथ अर्थ लेने पर स्वार्थ की हानि होगी। अतः इस प्रथम पक्ष में विप्रकर्ष (अयुक्तत्व) है। द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर भागत्यागलक्षणा मानना पड़ता है। इस पक्ष में वाच्यार्थ का सर्वथा त्याग नहीं होता हैं अतः इस पक्ष में सन्निकर्ष (युक्तत्व) हैं इस प्रकार से ब्रह्मसूत्र के इस अधिकरण में निश्चित किया गया है। मूलस्थ '' विवक्षायाम्'' के स्थान पर ''वीक्षायाम्'' ऐसा पाठान्तर है।।२०।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रश्नकर्ता को चन्द्र नामक कोई पदार्थ दुनियां में है—यह ज्ञात होने पर भी कौन पदार्थ चन्द्र है— यह ज्ञात नहीं हैं जो भी चन्द्र होगा, उसमें नक्षत्रादि से व्यावर्तक धर्म चन्द्रत्व होगा—यह भी ज्ञात है और नक्षत्रादि की व्यावृत्ति (भेद) घटादि में है—यह भी ज्ञात है। अतः व्यावर्तक धर्म और व्यावृत्ति विशिष्ट चन्द्र ही उक्त प्रश्न और उत्तर के विषय है। {केवल चन्द्रस्वरूप उक्त प्रश्न और उत्तर के विषय नहीं है। अतः इस लक्षण वाक्य के द्वारा सप्रकारक ज्ञान ही होगा निष्प्रकारक ज्ञान नहीं—यह पूर्वपक्षी का भाव है।} यदि व्यावृत्ति का वैशिष्ट्य ही प्रष्टा को साक्षात् जिज्ञासित है। अर्थात् व्यावृत्ति=भेद। उस भेद का अनुयोगी= चन्द्र और प्रतियोगी= असंख्यपदार्थ। यदि तत् तत् प्रतियोगी के भेद से भिन्न—भिन्न अनन्त पदार्थों की जिज्ञासा है। तब अनन्त पदार्थों के व्यावृत्तियों (भेदों) को हजारों वर्षों से भी नहीं कहा जा सकता है। अतः उत्तर देने वाला व्यावर्तक धर्म के वैशिष्ट्य को ही कहता है। अर्थात्—व्यावृत्ति वैशिष्ट्य को ही जानने की इच्छा प्रश्नकर्त्ता के मन में है किन्तु उत्तर देने वाले ने विचार किया कि इसको हजारों वर्षों में भी नहीं कहा सकता है। अतः व्यावर्तक धर्म के वैशिष्ट्य को उत्तर देने वाला कहता हैं। इस उत्तर के माध्यम से प्रश्नकर्त्ता अपने जिज्ञासा के विषय व्यावृत्ति वैशिष्ट्य को भी जान जायेगा। दूसरे दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे किसी ने पूछा कि पर्वत में क्या वह्नि है? उत्तर देने वाला कहता है कि ''धूमोऽस्ति''। यहाँ पर वह्नि के बोध के लिए जो ''धूमोऽस्ति'' इत्याकारक वाक्य हैं

धूमोऽस्तीति वाक्यस्य न धूमे तात्पर्यम्, न वा यागाक्षेपकस्य 'यदाग्नेय' इत्यादिवाक्यस्य द्रव्यदेवतासम्बन्धे। यदा तु तत्तद्व्यावृत्तेर्वक्तुमशक्यतामवगम्य व्यावर्तकधर्मवैशिष्ट्यमेव पृच्छति, तदा सुतरां प्रश्नोत्तरयोर्विशिष्टपरत्वमिति—निरस्तम्, प्रथमे प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यापत्तेः, द्वितीये श्रुतार्थपरित्यागापत्तेः प्रथमेऽपि श्रुतार्थपरित्यागः स्थित एव। न चानन्यगत्या श्रुतार्थपरित्यागाभ्युपगमः, गत्यन्तरस्योक्तत्वात्।।२१।।

ननु प्रश्नोत्तरयोर्वैयधिकरण्यापत्तेःयदि स्वरूपे लक्षणा, तदा वह्निप्रश्ने धूमोऽस्तीत्युत्तरे वह्नौ लक्षणास्त्विति

सत्यानन्दप्रबोधिका

इस वाक्य का तात्पर्य धूम में नहीं है—ऐसा नहीं। अर्थात्''धूमोऽस्ति'' इस वाक्य का तात्पर्य धूम है किन्तु इस उत्तर के माध्यम से प्रश्नकर्त्ता अपने जिज्ञासित विषय वह्नि को भी जान जाता है। अथवा याग उपपाद्य है और याग का उपपादक द्रव्य देवता सम्बन्धादि का बोधक वाक्य होता है। इस दृष्टान्त स्थल पर उपपाद्य याग का आक्षेपक (उपपादक या अनुमापक) जो ''यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति।'' (तै०सं० २—६—३—३) इत्यादि वाक्य है। इस वाक्य का द्रव्य देवता सम्बन्ध में तात्पर्य नहीं है—ऐसा नहीं। कहने का भाव यह है कि ''यदाऽग्नेयोऽष्टाकपालः'' इस स्थल पर याग का वाचक कोई यजेत—इत्यादि पद नहीं है। इस पर प्रश्न हुआ कि क्या यह वाक्य याग का बोधक है? उत्तर दाता के द्वारा याग बुबोधयिषा से उच्चरित ''यदाग्नेयोऽष्टाकपालः'' इस वाक्य का तात्पर्य अग्निरूप देवता और अग्निदेवताक अष्टाकपालों में संस्कृत पुरोडास रूप द्रव्य के सम्बन्ध में होता है, किन्तु इस उत्तर के माध्यम से प्रश्नकर्त्ता अपने जिज्ञासित विषय याग को भी जान जाता है, क्योंकि किसी, देवता के उद्देश्य से हवि का त्याग ही याग कहा जाता है, यहाँ पर याग उपपाद्य हो जाता है और द्रव्य और देवता का सम्बन्ध उपपादक (आक्षेपक) हो जाता है। जब प्रश्नकर्त्ता तत्तत्प्रतियोगी के भेद से भिन्न—भिन्न अनन्त पदार्थो के व्यावृत्तियों (भेदों) का कथन असम्भव मानकर अनन्त व्यावृत्तियों के संग्राहक व्यावर्तक धर्म का वैशिष्ट्य ही पूछता है तब प्रश्न और उत्तर दोनों की विशिष्टार्थ विषयक है— यह अत्यन्त स्पष्ट है।

समाधान— एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। एतेन का अर्थ आगे स्पष्ट किया जा रहा है। आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के प्रथम पक्ष (व्यावृत्ति विषयक पक्ष) में प्रश्न व्यावृत्ति विषयक और उत्तर व्यावर्त्तक चन्द्रत्व धर्म का वैशिष्ट्य विषयक है। अतः दोनों के साक्षाद् भिन्न विषयकत्व होने से प्रश्न और उत्तर का वैयधिकरण्य हो जाता है। द्वितीय पक्ष (व्यावर्त्तक धर्म विषयक पक्ष) में ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः इस द्वितीय पक्ष में श्रुतार्थ के परित्याग की आपत्ति होगी। अर्थात् ''कश्चन्द्रः'' यह प्रश्न ''जिज्ञासितश्चन्द्रः'' इत्यर्थकत्वेन श्रुत है अर्थात् ''कश्चन्द्रः'' इस प्रश्न में जिज्ञासा का विषय = चन्द्र स्वरूप मात्र श्रुत है। किन्तु पूर्वपक्षी के द्वारा उस प्रश्न का अर्थ ''व्यावर्तकधर्मयुक्तचन्द्रः'' किया जाता है, तब श्रुत चन्द्र स्वरूप का परित्याग हो जायेगा। इसी प्रकार से प्रथम पक्ष में भी ''जिज्ञासितव्यावृत्तिविशिष्टः चन्द्रः'' ऐसा प्रश्न का अर्थ श्रुत नहीं है। अपितु चन्द्र स्वरूप मात्र ही श्रुतार्थ है। फलतः प्रथम पक्ष में श्रुतार्थ का परित्याग हो जाता है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि अन्यगति न होने के कारण श्रुतार्थ के परित्याग को स्वीकार किया गया हैं। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता है क्योंकि स्वरूप मात्र विषय प्रश्नोत्तर है—इसका प्रतिपादन खण्ड संख्या १४ में किया जा चुका है।।२१।।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रश्न निश्चित रूप से स्वरूप परक है। ऐसी स्थिति में उत्तर वाक्य को विशिष्ट परक मानने पर वैयाधिकरण्य की आपत्ति आने के कारण उत्तर वाक्य की स्वरूप में लक्षणा माननी चाहिए— ऐसा यदि सिद्धान्ती का कथन है, तब वह्नि विषयक प्रश्न के उत्तर में ''धूमोऽस्ति'' इस उत्तर

चेन्न; धूमोऽस्तीति वाक्येनाहत्य शक्त्या लिङ्गे बोधिते तत एव वह्निबोधोपपत्तौ तात्पर्यानुपपत्तिकल्प्यलक्षणाया अयोगात्, श्रुतिलिङ्गाधिकरणन्यायेन वाक्यापेक्षया लिङ्गस्य बलवत्त्वाच्च, प्रकृते चासङ्कीर्णचन्द्रस्वरूपसिद्धौ

सत्यानन्दप्रबोधिका

वाक्य के धूम पद की वह्नि में लक्षणा माननी चाहिए। ऐसा होने पर अनुमान ही व्यर्थ हो जायेगा, ऐसा पूर्वपक्षी का भाव हैं।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ''धूमोऽस्ति'' इस वाक्य में विद्यमान सभी पदों की, आहत्य = साक्षात् शक्ति के द्वारा धूम रूप लिङ्ग का बोध हो जाने पर उससे ही (लिङ्ग बोध से ही) वह्नि की अनुमिति की उपपत्ति हो जाती है। अत: तात्पर्यानुपपत्ति मूलक लक्षणा यहाँ मानना सम्भव ही नहीं है। अर्थात् जिज्ञासु का तात्पर्य वह्नि का ज्ञान करना है। उसकी उत्पत्ति उक्त प्रकार से हो गयी तब अनुपपत्ति ही नहीं रही। अत: जब लक्षणा का कारण ही नहीं हैं तब वहां पर कार्य (लक्षणा) नहीं माना जा सकता है। ''धूमोऽस्ति'' इस वाक्यरूप प्रमाण से धूम पद में लक्षणा के द्वारा वह्नि का बोध होता है—ऐसा माना जाय? अथवा ज्ञायमान धूम में हेतु के रूप से वह्नि को बोध कराने की सामर्थ्य रूप जो लिङ्ग प्रमाण से वह्नि का बोध होता है विना लक्षणा के द्वारा ही ऐसा माना जाय? इस प्रकार संशय होने पर आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि श्रुति लिङ्गाधिकरण न्याय से वाक्य की अपेक्षा से लिङ्ग (सामर्थ्य या शक्ति) की प्रबलता होने से भी वह्नि का ज्ञान लिङ्ग से मानना उचित है। कहने का भाव यह है कि जै०सू०३—३—१४ में श्रुतिलिङ्गाधिकरण न्याय का प्रतिपादन किया गया है। इसका विचार ''प्रत्यक्षस्य न्यायै: प्राबल्यविचार:'' के खण्ड संख्या ६ में सत्यानन्दप्रबोधिका में किया जा चुका है। उक्त खण्ड संख्या ६ में श्रुति और लिङ्ग में से श्रुति में प्रबलता स्थापित की गयी है। यहाँ पर लिङ्ग और वाक्य में से लिङ्ग में प्रबलता कही गयी है। जै०सू० ३—३—१४ में लिङ्ग और वाक्य में से लिङ्ग प्रबल होता है। इसको इस प्रकार से स्पष्ट किया गया है— ''स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुषेवं कल्पयामि तस्मिन् सीद अमृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमान:'' (तै०ब्रा०३—७—५) (हे व्रीहि के मेध = सारभूत पुरोडास! तेरे बैठने के योग्य स्योनं = समीचीन स्थान बनाता हूँ। पात्र को घृत की धारा से स्निग्ध और सुसेव्य कर रहा हूँ। उस स्निग्ध संस्कृत पात्र में तुम प्रसन्न मन से विराज मान हो जाओ और यजमान को अमृत (स्वर्ग) में प्रतिष्ठित कर दो।) यहां पर चावलों के आटे की रोटी को पुरोडास के रूप में पकाकर एक पात्र में पहले घृत चुपडा जाता है। इसके प्रश्चात् उस पात्र में वह पुरोडास रखा जाता है। घृत चुपड़ना ''सदन करण'' और पुरोडास रखना ''सादन'' कहलाता है। इस स्थल पर संशय होता है कि वाक्य प्रमाण के बल पर सम्पूर्ण मन्त्र का विनियोग सदन दोनों में किया जाय? अथवा लिङ्ग प्रमाण के बल पर उक्त मन्त्र के पूर्वार्ध का सदनकरण और उत्तरार्ध का सादन में विनियोग किया जाय? ऐसी परिस्थिति में वाक्य प्रमाण से लिङ्ग प्रमाण को बलवान मानकर उक्त मन्त्र के पूर्वार्ध भाग का विनियोग सदन करण और उत्तरार्ध भाग का विनियोग सदन में किया गया है।) अत: वाक्य प्रमाण की अपेक्षा से लिङ्ग प्रमाण बलवान है। इसलिए ''धूमोऽस्ति'' इस वाक्य रूप प्रमाण से धूमपद में लक्षणा के द्वारा वह्नि अर्थ न लेकर ज्ञायमान धूम में हेतु के रूप से वह्नि को बोध कराने का सामर्थ रूप लिङ्ग प्रमाण से वह्नि का बोध होता है। ऐसा मानना ही उचित है। आगे सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है, क्योंकि ''धूमोऽस्ति'' इस स्थल पर वाक्य प्रमाण और लिङ्ग प्रमाण दोनों है। अत: वाक्य की अपेक्षा लिङ्ग प्रमाण को बलवान मानकर उत्तर वाक्य के द्वारा वह्नि का बोध हो जाने से प्रश्न और उत्तर में वैयधिकरण्य की आपत्ति हटायी गयी किन्तु दार्ष्टान्त स्थल पर प्रश्न स्वरूप परक है और उत्तर वाक्य विशिष्टार्थ परक है। यहां पर वैयाधिकरण्य की आपत्ति उक्त प्रकार से नहीं हटायी

वाक्यातिरिक्तप्रमाणाभावेन वैषम्याच्च।।२२।।

ननु किंलक्षणश्चन्द्रः? इत्यस्यासाधारणधर्मविषयकस्य कतमश्चन्द्रः? इत्यस्य जातिविषयकस्यानयोः कतरश्चन्द्रः? इत्यस्य जातिगुणक्रियाभिः पृथक्करणरूपनिर्धारणविषयकस्य प्रश्नस्योत्तर इवात्रापि प्रतिवचने लक्षणोक्तेः प्रश्नेऽपि प्रकृष्टप्रकाशो अप्रकृष्टप्रकाशो वेति धर्मवाचकं पदं कल्पनीयं तत्सूचककिंशब्दप्रयोगाच्चेति—चेन्न; वह्निप्रश्ने धूमोऽस्तीतिप्रतिवचनदर्शनेन प्रतिवचनोक्तत्वस्य प्रष्टुर्बुभुत्सितत्वेऽतन्त्रत्वात्। अथ तत्र

सत्यानन्दप्रबोधिका

जा सकती है, क्योंकि यहां पर केवल वाक्य प्रमाण ही है लिङ्ग प्रमाण नहीं है। अतः ''धूमोऽस्ति'' इस वाक्य से ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इस वाक्य का वैषम्य है। अतः वाक्य प्रमाण के बल पर ही उत्तर वाक्य को चन्द्र स्वरूप का बोधक मानना होगा किन्तु शक्तिवृत्ति के द्वारा चन्द्र स्वरूप का बोध हो नहीं रहा है। (अपितु, विशिष्ट का बोध हो रहा है।) अतः बाध्य हो कर के लक्षणा के द्वारा ही उत्तर वाक्य को स्वरूप का बोधक मानना उचित हैं।।२२।।

शङ्का — (अब तक सिद्धान्ती कहते रहे हैं कि ''कश्चन्द्रः'' यह प्रश्न वाक्य चन्द्रस्वरूप विषयक है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''कश्चन्द्रः'' इस प्रश्न वाक्य का अर्थ केवल चन्द्र है? या विशिष्ट चन्द्र है? इस प्रकार का सन्देह हो सकता है। किन्तु जहाँ प्रश्न वाक्य केवल चन्द्र परक नहीं है अपितु धर्मादि परक है— ऐसा निश्चित है। वहाँ भी प्रश्न वाक्य का उत्तर वाक्य ''प्रकृष्टप्रकाशचन्द्रः'' ऐसा ही है। अतः ''कश्चन्द्रः'' प्रश्न का भी उत्तर वाक्य जो है उसके द्वारा जब चन्द्र का लक्षण ही कहा गया है तब ''कश्चन्द्रः'' यहां भी प्रश्न वाक्य को स्वरूप परक न मानकर धर्मादि का बोधक मानना चाहिए। ऐसा होने पर प्रश्नोत्तर में वैयाधिकरण्य से बचने के लिए उत्तर वाक्य में लक्षणा नहीं करनी पड़ेगी और लक्षण वाक्य के द्वारा विशिष्ट का बोध होने पर लक्षण वाक्य सखण्डार्थ विषयक होंगे। इस आशय से पूर्वपक्षी शङ्का करते हुए कह रहा है कि) ''किं लक्षणश्चन्द्रः'' इस प्रकार असाधारण धर्म विषयक प्रश्न के उत्तर में ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इस प्रकार से ही असाधारण धर्मादि का उल्लेख होता है और ''कतमश्चन्द्रः'' इस प्रकार चन्द्रत्व जाति विषयक प्रश्न के उत्तर में भी ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इस प्रकार से ही असाधारण धर्मादि का उल्लेख होता है। इसी प्रकार ''अनयोः कतमश्चन्द्रः'' इस प्रकार जाति गुण क्रियाओं से पृथक्करण (व्यावर्त्तन) रूप निर्धारण विषयक प्रश्न अर्थात् जब प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि दोनों में से कौन चन्द्र है? अथवा अनेकों में से कौन चन्द्र है? तब दो या अनेक वस्तुओं में भेद की सिद्धि जाति या गुण या क्रिया के द्वारा होगी। उसके बाद उनमें से एक को चन्द्र कहा जाता है। इसलिए जाति गुण क्रियाओं के द्वारा व्यावर्त्तन रूप निर्धारण विषयक प्रश्न के उत्तर में भी ''प्रकृष्टप्रकाशचन्द्रः'' इस प्रकार से ही असाधारण धर्मादि का उल्लेख होता है। अतः ''कश्चन्द्रः'' इस प्रश्न स्थल पर भी ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इस प्रकार असाधारण धर्म रूप लक्षण का उल्लेख देखकर ''कश्चन्द्रः'' इस प्रश्न वाक्य में भी ''प्रकृष्टप्रकाशो वा? अप्रकृष्टप्रकाशो वा चन्द्रः?'' इस प्रकार से धर्मवाचक पद की कल्पना कर लेनी चाहिए, क्योंकि उक्त कल्पना का सूचक किम् शब्द का प्रयोग ''कश्चन्द्रः'' में भी है। अतः प्रश्न वाक्य धर्म परक है— ऐसी कल्पना निराधार नहीं कही जा सकती है।

समाधान— (पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के कथनानुसार व्याप्ति का यह आकार बनता है —''यद् यत् प्रतिवचनोक्तं तत् तत् प्रष्टुर्बुभुत्सितम्।'' किन्तु यह व्याप्ति में व्यभिचार दोष है क्योंकि) पूछने वाले को जो जिज्ञासित है वह ही प्रतिवचन से कहा जाय ऐसा नियम नहीं है। जैसे

बुभुत्सितबोधोपयुक्तत्वात्तदुक्तिः, प्रकृतेऽपि नोपयोग इति केन तुभ्यमभ्यधायि? किंलक्षण इत्यादि प्रश्नतथात्वे तद्वाचकपदवत्त्वस्योपाधित्वात्, क्वचिद्दर्शनमात्रस्याप्रयोजकत्वाच्च, किं शब्दस्य बुभुत्सासूचकत्वेन तस्य ध र्मबुभुत्सानियतत्वाभावाच्च। एवञ्च प्रश्ने धर्मवाचिपदाभावात्तदनुरोधिन्युत्तरे धर्मवाचकं पदं स्वरूपपरमेव। स्वरूपबुभुत्साया

सत्यानन्दप्रबोधिका

वह्नि विषयक प्रश्न होने पर ''धूमोऽस्ति'' ऐसा प्रतिवचन देखा जाता है। यहां उत्तर वाक्य धूम विषयक है और वुभुत्सा वह्नि विषयक है धूम विषयक नहीं है। इसलिए इस स्थल पर व्याप्य के होने पर भी व्यापक नहीं है। अत: व्यभिचार दोष है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि सिद्धान्ती के द्वारा कथित व्यभिचार स्थल पर वह्नि के बोध में उपयुक्त होने के कारण धूम का कथन किया गया है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि प्रकृत में भी वुभुत्सित अखण्ड स्वरूप के बोध में लक्षणोक्ति का उपयोग नहीं है– ऐसा पूर्वपक्षी से किसने कहा? अर्थात् जैसे वह्नि विषयक प्रश्न के उत्तर में धूम का कथन उपयोगी है ठीक वैसे ही चन्द्र स्वरूप विषयक प्रश्न के उत्तर में चन्द्र लक्षण (प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः) का कथन भी उपयोगी है। ''किं लक्षणश्चन्द्रः'' इत्यादिप्रश्नपदसाधारणधर्मबोधकत्व अनुमान– ''कश्चन्द्रः'' इति प्रश्नः धर्मविषयकः तदुत्तरस्य धर्मविषयकत्वात्, किं लक्षणश्चन्द्रः इति धर्मविषयकप्रश्नस्योत्तरवत्। (पक्ष में हेतु का समन्वय–कश्चन्द्रः? इस प्रश्न का उत्तर–प्रकृष्ट प्रकाशश्चन्द्रः इसका शक्तिवृत्ति से धर्मविषयक अर्थ सिद्धान्ती भी मानते है (बाद में भले ही लक्षणा वृत्ति से अखण्ड स्वरूपपरक मानते हों।) अत: पक्ष में हेतु गया। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय–किं लक्षणश्चन्द्रः,? इस प्रश्न का उत्तर = प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः यह धर्म विषयक है। अत: हेतु दृष्टान्त में गया। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय– किं लक्षणश्चन्द्रः? इस प्रश्न का उत्तर (प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः) धर्म विषयक है। अत: दृष्टान्त में साध्य गया। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानरूपपरामर्श के होने पर पक्ष में साध्य की सिद्धि माननी चाहिए। ऐसा पूर्वपक्षी का भाव हैं। सिद्धान्ती का कथन है कि इस अनुमान में ''असाधारणधर्मवाचकपदवत्त्व'' उपाधि है। (दृष्टान्त में साध्य है और उपाधि भी है क्योंकि ''किंलक्षणश्चन्द्रः''? इस प्रश्न का उत्तर=प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः में असाधारण धर्मवाचकपद = प्रकृष्टप्रकाश है। अत: साध्यव्यापकत्व उपाधि में गया किन्तु पक्ष में हेतु है उपाधि नहीं है क्योंकि ''कश्चन्द्रः'' इस प्रश्न में असाधारण धर्म वाचक पद नहीं है। अत: साधनाव्यापकत्व भी उपाधि में है। सोपाधिक हेतु होने से पक्ष में साध्य की सिद्धि नहीं हो पायेगी।) पूर्वपक्षी पर कटाक्ष करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि क्वचिद् दर्शन मात्र के बल पर कोई नियम नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि ऐसे स्थल पर अप्रयोजनकता रहती है। जैसे– रूपवान्–द्रव्यत्वात्, घटवत्। यहां घट में व्याप्ति को देखकर आकाशादि सर्वत्र रूप का अनुमान नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार ''किंलक्षणश्चन्द्रः'' में धर्मविषयकत्व को देखकर ''कश्चन्द्रः'' में भी धर्मविषयक का अनुमान नहीं किया जा सकता है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि किम् शब्द के आधार पर धर्मविषयक बुभुत्सा की कल्पना करनी चाहिए– ऐसा कथन ठीक नहीं है क्योंकि किम् शब्द केवल बुभुत्सा का ही सूचक है, धर्मविषयक बुभुत्सा का नहीं। दूसरी बात यह भी है कि यदि ''तुष्यतु दुर्जनः'' इस न्याय से यह मान भी लिया जाय कि किम् शब्द के बल पर किसी के बुभुत्सा की कल्पना करनी चाहिए। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि धर्मविषयकबुभुत्सा की कल्पना करनी चाहिए। सिद्धान्ती का कथन है कि स्वरूपविषयकबुभुत्सा की कल्पना भी की जा सकती है। अत: धर्मविषयक बुभुत्सा को लेकर दोष नहीं दिया जा सकता है। फलितार्थ यह हुआ कि प्रश्न में धर्मवाचक पद का अभाव होने के कारण उत्तर वाक्य में प्रयुक्त धर्मवाचक पद स्वरूप का ही बोधक है। दूसरी बात यह है कि प्रश्न वाक्य की अपेक्षा से उत्तर वाक्य दुर्बल होता है, क्योंकि प्रश्न वाक्य

उपपादितत्वेन लक्षणाबीजाभावान्न प्रश्नवाक्यस्थं चन्द्रपदं तदसाधारणधर्मलक्षकम्।।२३।।

यत्तु लक्षणवाक्यं चन्द्रव्यवहारकर्तव्यतावैशिष्ट्यपरम्, अतो नाखण्डार्थता, चन्द्रव्यवहारस्तु चन्द्रपदविशेषितो व्यवहारः, नतु चन्द्ररूपार्थविशेषित इति तज्ज्ञानाज्ञानाभ्यां वैयर्थ्यबोधनाशक्यतादोषौ न भवतः। न च वृद्धव्यवहार एव शक्तिग्राहकोऽस्तु, किं लक्षणवाक्येनेति वाच्यम्, उपायस्य उपायान्तरादूषकत्वात्—इति,

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रथम होता है और उत्तर वाक्य चरम होता है और प्रश्न बोधित बुभुत्सा निवृत्ति के प्रति उत्तर वाक्य शेष होता है। इसी लिए आकाशाधिकरण में ''आकाशस्तल्लिङ्गात् (ब्र०सू० १—१—२२) में'' अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश इति होवाच'' (छा० १—९—१) इस स्थल पर प्रश्नवाक्यस्थ लोक पद की प्रबलता के अनुसार ही उत्तरवाक्य में स्थित आकाश पद को ब्रह्मार्थक माना गया है। अतः प्रकृत में भी प्रश्न वाक्य के अनुकूल ही उत्तर वाक्य के पदों का स्वरूप परक अर्थ करना उचित ही है। स्वरूप विषयक जिज्ञासा का उपपादन खण्ड संख्य १४ में किया जा चुका है। ''कश्चन्द्रः'' इस प्रश्नवाक्य के अन्वय की उपपत्ति हो जाने से लक्षणा का कारण (बीज) अन्वयानुपपत्ति प्रश्न वाक्य में नहीं है। अतः प्रश्न वाक्य में स्थित चन्द्र पद की चन्द्र के असाधारणधर्म में लक्षणा नहीं मानी जा सकती है।।२३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त लक्षण वाक्य चन्द्रविषयक व्यवहार ही कर्तव्यता के वैशिष्ट्य का बोधक है। अतः लक्षण वाक्य को अखण्डार्थ का बोधक नहीं माना जा सकता है। यहाँ चन्द्र व्यवहार का अर्थ है— चन्द्र पद विशिष्ट शब्दात्मक व्यवहार न कि चन्द्ररूप अर्थ विशेषित व्यवहार। अतः चन्द्र स्वरूप के ज्ञान से तथा अज्ञान से क्रम से वैयर्थ्य तथा बोधन—अशक्यता ये दोनों दोष नहीं होते हैं। {कहने का भाव यह है कि लक्षण वाक्य = प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः। इस लक्षण वाक्य का अर्थ = प्रकृष्टप्रकाश—चन्द्रशब्देन व्यवहर्तव्य। इस प्रकार से लक्षण वाक्य के द्वारा चन्द्र पदार्थ में चन्द्र शब्द व्यवहार कर्तव्यता के वैशिष्ट्य का बोधन होने से लक्षण वाक्य को अखण्डार्थ नहीं माना जा सकता है। चन्द्र व्यवहार दो प्रकार से हो सकता है। प्रथम—चन्द्र इस शब्द का व्यवहार। द्वितीय—चन्द्र रूप अर्थ का व्यवहार। इनमें से चन्द्र व्यवहार शब्द से चन्द्र पद का ही व्यवहार लेना है न कि चन्द्र अर्थ का व्यवहार। प्रश्नोत्तर में वैयधिकरण्य दोष नहीं हटाया जा सकता है और उत्तर वाक्य में विना प्रश्न वाक्यस्थ चन्द्र पद के चन्द्र व्यवहारशब्द से यदि चन्द्र रूप अर्थ का व्यवहार लेंगे तब दो दोष होगा। प्रथम—यदि प्रश्नकर्त्ता को चन्द्र रूप अर्थ का ज्ञान है तब तो उस अर्थ का व्यवहार भी वह प्रश्नकर्त्ता जानता ही होगा। ऐसे व्यक्ति को लक्षण वाक्य के द्वारा अर्थ के व्यवहार को बोधन कराना व्यर्थ है। द्वितीय दोष यह होगा कि यदि प्रश्नकर्त्ता ने चन्द्र वस्तु को कभी देखा ही नहीं तो भी लक्षण वाक्य के द्वारा अर्थ का व्यवहार का बोध कराना सम्भव नहीं हैं। जैसे जो व्यक्ति वह्नि को जानता ही नहीं, उस व्यक्ति को पर्वत में वह्नि की अनुमिति नहीं हो सकती हैं। ये दोनों दोष (वैयर्थ्य और बोधन की आवश्यकता) शब्दात्मक व्यवहार लेने पर नहीं होंगे, क्योंकि यदि चन्द्र शब्द को जानता है किन्तु उक्त व्यवहार नहीं जानता है तब उसे लक्षण वाक्य के द्वारा उक्त वाक्य के द्वारा उक्त व्यवहार बोधित करना उचित ही है और यदि चन्द्र शब्द को भी नहीं जानता है तब भी उक्त लक्षण वाक्य के द्वारा उक्त व्यवहार को बोध कराना सार्थक ही है। यदि कहा जाय कि किस वस्तु का किस शब्द से व्यवहार करना चाहिए— इसका ज्ञान वृद्ध व्यवहार से ही हो जायेगा। प्रकृत में लक्षण वाक्य भी शब्दात्मक वृद्ध व्यवहार है। अतः उक्त व्यवहार के द्वारा ही चन्द्रार्थ का शक्तिग्रह हो जायेगा। अतः उसे लक्षण परक मानने का क्या प्रयोजन है? ऐसी शङ्का करनी ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ तक एक वस्तु के साधक उपाय अनेक हो वहाँ एक उपाय को उपायान्तर का दूषक नहीं माना जाता है।

तन्न; प्रश्नोत्तरवैयधिकरण्यापत्तेरुक्तत्वात्, प्रश्नवाक्यस्थचन्द्रशब्दे लक्षणाबीजाभावात्, असाधारणं चन्द्रस्वरूपमज्ञात्वा तत्र चन्द्रशब्दविशेषितव्यवहारवैशिष्ट्यस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् तज्ज्ञापनस्यावश्यकत्वेन तेनैव वाक्यप्रामाण्योपपत्तेर्व्यवहारकर्तव्यतापरत्वे मानाभावात्। अत एवोक्तं मानान्तरसिद्धं प्रकृष्टप्रकाश– वैशिष्ट्यमखण्डार्थसिद्धावुपायमात्रम्' इति। अस्मिन् ज्योतिर्मण्डले कश्चन्द्र इति प्रश्नसमये प्रत्यक्षेणेव अन्यदापि प्रकारान्तरेणैव तस्य ज्ञातत्वात्, अन्यथा तस्यानुवाद्यत्वानुपपत्तेः, चन्द्रस्वरूपे तु

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि प्रश्नवाक्य स्वरूप परक है। उत्तर वाक्य (लक्षण वाक्य) को विशिष्ट परक मानने पर प्रश्न और उत्तर में वैयधिकरण्य की आपत्ति खण्ड संख्या २९ में दिखायी जा चुकी है। प्रश्न वाक्य में स्थित जो चन्द्र शब्द है। उस चन्द्र शब्द में लक्षणा के द्वारा चन्द्र विषयक व्यवहार कर्तव्यता रूप अर्थ नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अन्वय की उपपत्ति होने से अन्वयानुपपत्ति रूप लक्षणा का बीज ही नहीं हैं। इसलिए प्रश्नवाक्यस्थ चन्द्र पद में लक्षणा कर के उक्त कर्त्तव्यता रूप अर्थ लेना प्रश्नोत्तर में वैयधिकरण्य दोष नहीं हटाया जा सकता है और उत्तरवाक्य विना प्रश्नवाक्यपस्थ चन्द्र पद के असाधारण चन्द्र स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता है। ऐसा होने पर अज्ञात चन्द्र व्यवहार कर्तव्यता वैशिष्ट्य का ज्ञान अशक्य होगा। इसलिए चन्द्र व्यवहार कर्तव्यता वैशिष्ट्य के लिए भी पहले चन्द्र स्वरूप का ज्ञापन आवश्यक है। (कहने का भाव यह है कि प्रश्नकर्त्ता व्यक्ति को चन्द्र नामक कोई पदार्थ है— यह तो ज्ञात है किन्तु उस चन्द्र के असाधारण स्वरूप का ज्ञान नहीं है। ऐसी स्थिति में जब तक उत्तर वाक्य के द्वारा चन्द्र के असाधारण स्वरूप का बोध प्रश्नकर्त्ता को नहीं कराया जाता तब तक उस प्रश्नकर्त्ता को अमुक वस्तु को चन्द्र शब्द से व्यवहार करना चाहिए। यह बोध नहीं हो पायेगा। इसलिए लक्षण वाक्य के द्वारा सबसे पहले प्रश्नकर्त्ता के जिज्ञासा का जो विषय था— चन्द्र का असाधारण स्वरूप, उसका बोध कराना आवश्यक है।) चन्द्र का असाधारण स्वरूप के ज्ञान का जनक (लक्षण वाक्य) होने मात्र से ही लक्षण वाक्यगत प्रामाण्य की उपपत्ति हो जायेगी। इसलिए लक्षण वाक्य को चन्द्रविषयक व्यवहार कर्तव्यता के वैशिष्ट्य का बोधक माना नहीं जा सकता है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसलिए कल्पतरूकार ने कहा है— ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति प्रकर्षप्रकाशद्वाराचन्द्रलक्षणान्न तद्वैशिष्ट्यम्, मानान्तरादेव तत्सिद्धेः, उपायस्तु वैशिष्ट्यमखण्डार्थसिद्धौ।'' (प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः — इस प्रकार से प्रकर्षप्रकाश के माध्यम से चन्द्र का लक्षण करने पर भी विशिष्ट ज्ञान की सिद्धि नहीं होती हैं। मानान्तर से सिद्ध प्रकृष्ट प्रकाश का वैशिष्ट्य अखण्डार्थसिद्धि में उपाय मात्र है।) अर्थात् इस ज्योतिर्मण्डल में कौन चन्द्र है? इत्याकारक प्रश्न करते समय में जैसे प्रत्यक्ष से चन्द्र ज्ञात होता है वैसे ही प्रकृष्ट प्रकाश का जो वैशिष्ट्य है, तादृश वैशिष्ट्य का जिस काल में इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं है, उस काल में भी प्रकारान्तर = अनुमान से (चन्द्रः प्रकृष्टप्रकाशविशिष्टः तमोनक्षत्रादिभिन्नत्वात्— इत्यादि अनुमान से) और चन्द्र का प्रकृष्ट प्रकाश है— इस शब्द से चन्द्र ज्ञात हो जाता है। इस प्रकार यथा सम्भव प्रमाणान्तर से भी चन्द्र ज्ञात हो जाता है। अन्यथा = प्रकारान्तर से ज्ञात न होने पर अनुवाद्यत्व की अनुपपत्ति होगी। अर्थात् व्यवहार कर्त्तव्यता के प्रति प्रकृष्ट प्रकाशादि का उद्देश्यत्व अवश्य वाच्य है। इसलिए अनुवाद्यत्व आवश्यक है, क्योंकि ज्ञात को उद्देश्य कर के अज्ञात का विधान किया जाता है। प्रकारान्तर के चन्द्र स्वरूप के ज्ञात होने पर भी असङ्कीर्ण ज्ञान का अभाव होने के कारण बुभुत्सा रहती है—इसका प्रतिपादन खण्ड संख्या १४ में किया जा चुका है। इस प्रकार से खण्ड संख्या ९ में कथित अनुमान (सत्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठं लक्षणवाक्यत्वात्, प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यादिवाक्यवत्) में कोई दोष

ज्ञातेऽप्यसङ्कीर्णज्ञानाभावात् बुभुत्सोपपादितैवेति प्रथमानुमानमनाविलम्।।२४।।

द्वितीयानुमानेऽपि नाप्रसिद्धविशेषणत्वबाधसत्प्रतिपक्षसाध्यवैकल्यादयो दोषाः। तथाहि—साध्यं तावत् ब्रह्मप्रातिपदिकार्थविशेष्यनिष्ठत्वम्; अन्यथा ब्रह्मपदस्य यौगिकत्वेन सखण्डार्थत्वप्रसङ्गात्। प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्यञ्च प्रातिपदिकार्थविशेष्यमात्रपरं भवतीति सामान्यव्याप्तौ दृष्टान्ते न साध्यवैकल्यमपि। ब्रह्मप्रातिपदिकार्थविशेष्यमात्रनिष्ठत्वं हि अखण्डार्थत्वमेव। तत्प्रश्नोत्तरत्वहेतुव्युत्पादनमपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं है। अतः इस प्रथम अनुमान के द्वारा अखण्डार्थकत्व की सिद्धि सूपपन्न है। मूल में ''तज्ज्ञानस्यावश्यकत्वेन'' के स्थान पर ''तज्ज्ञापनस्यावश्यकत्वेन'' ऐसा पाठान्तर है।।२४।।

खण्ड संख्या १ में कथित द्वितीय अनुमान (सत्यादिवाक्यं ब्रह्मप्रातिपदिकार्थनिष्ठम्, तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वात्, प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति वाक्यवत्) में भी साध्य की अप्रसिद्धि, बाध, सत्प्रतिपक्ष और दृष्टान्त में साध्यवैकल्यादि दोष नहीं है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि यहाँ पर साध्य = ब्रह्मप्रादिपदिक का जो अर्थ उस अर्थ में जो विशेष्य है, तादृशविशेष्यनिष्ठत्व है। {कहने का भाव यह है कि ''ब्रह्म'' पद यौगिक है। ''वृहि वृद्धौ''} धातु से ''वृहेर्नोऽच्च'' (उणादि सू० ४/१२६) के द्वारा मनिन् प्रत्यय और नकार को अत् आदेश होकर ब्रह्म शब्द बनता है। इसलिए ब्रह्म शब्द ''बृंहति वर्धते व्याप्नोति'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार बृहत्वादि विशेषण से विशिष्ट चैतन्य का बोधक है। शुद्ध चैतन्य अर्थात् अखण्डार्थ का बोधक नहीं है। अतः साध्याप्रसिद्धि दोष आ रहा है। इस दोष से बचने के लिए सिद्धान्ती ने कहा कि ब्रह्म प्रातिपदिकार्थनिष्ठत्व का अर्थ है— ब्रह्म प्रातिपदिकार्थविशेष्यनिष्ठत्व। अर्थात् ब्रह्मप्रादिपदिक का अर्थ बृंहत्वादि विशेषण से विशिष्ट चैतन्य। उसका विशेष्य = उस शुद्ध चैतन्य का बोधक सत्यादि वाक्य है। ऐसा अर्थ लेने पर साध्य की प्रसिद्धि अर्थात् अखण्डार्थ की सिद्धि हो जायेगी। अन्यथा = साध्य में विशेष्य पद जोड़कर ब्रह्मप्रातिपदिकार्थविशेष्यनिष्ठत्व ऐसा साध्य न मानने पर ब्रह्म पद का यौगिक अर्थ लेने पर ब्रह्म पद भी अखण्डार्थ हो जायेगा और बाधदोष होगा। उक्त प्रकार से साध्य (ब्रह्मप्रातिपदिकार्थविशेष्यनिष्ठत्व) लेने पर साध्य पक्ष में विद्यमान है। इसलिए बाध दोष नहीं होगा। ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इत्यादि वाक्य भी प्रातिपदिकार्थविशेष्य मात्र में ही बोधक है। अर्थात् चन्द्र प्रातिपदिक का अर्थ = प्रकृष्ट प्रकाशादि से विशिष्ट चन्द्र। उसमें विशेष्यांश = चन्द्रमात्र, उसकी बोधकता प्रकृष्ट प्रकाशादि वाक्य में है। इस प्रकार से सामान्य व्याप्ति (यद् वाक्यं यन्मात्रविषयकप्रश्नस्योत्तरं तद् वाक्यं तद्विषयप्रातिपदिकार्थविशेष्यनिष्ठम्) के होने पर दृष्टान्त में साध्य का अभाव भी नहीं है। सत्यादि पदों में जो ब्रह्मप्रातिपदिकार्थ विशेष्यमात्रबोधकत्व है, वही अखण्डार्थकत्व है। खण्ड संख्या १ में ''न च सत्यादिवाक्ये..... तन्मात्रस्यैव प्रश्नविषयत्वात्।'' इस प्रकार से तत्प्रश्नोत्तरत्व रूप जो हेतु का व्युत्पादन है। वह भी पूर्वोक्त प्रकृष्टादि वाक्य न्याय से ही है। अतः पक्ष में हेतु के रहने से असिद्धि दोष नहीं है और पक्ष में उक्त प्रकार के साध्य के रहने से बाध दोष भी नहीं है। प्रश्नोत्तरवैयधिकरण्यापत्ति रूप विपक्ष बाधक तर्क से सहकृत होने से हेतु में सत्प्रतिपक्ष दोष तथा अप्रयोजकत्व एवं उपाधि दोष भी प्रसक्त नहीं होते हैं। {कहने का भाव यह है कि न्यायमृतकार ने सत्प्रतिपक्ष अनुमान इस प्रकार से दिया—सत्यादिवाक्यतात्पर्यविषयः संसृष्टरूपः संसर्गरूपो वा, प्रमाणवाक्यतात्पर्यविषयत्वात् सम्मतवत्। सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी के अनुमान में विपक्ष बाधक तर्क नहीं है जब कि सिद्धान्ती का अखण्डार्थ साधक उक्त अनुमान में प्रश्नोत्तरवैयधिकरण्यापत्ति रूप विपक्ष बाधक तर्क है। अतः पूर्वपक्षी का सत्प्रतिपक्ष अनुमान खण्डित हो गया। विपक्षबाधक उक्त तर्क के विद्यमान रहने पर हेतु में अप्रयोजकत्व

पूर्वोक्तप्रकृष्टादिवाक्यन्यायेनैवेति नासिद्धिबाधौ। प्रश्नोत्तरवैयधिकरण्यापत्तिरूपविपक्षबाधकसध्रीचीनतया सत्प्रतिपक्षाप्रयोजकत्वोपाधीनामनवकाशः।।२५।।

न च सत्यादिरूपप्रतिवचने प्रश्नस्य कश्चन्द्र इतिवदश्रवणात्तदुत्तरानुसारेण प्रश्नवाक्ये कल्पनीये धर्मविषयकमेव तत् कल्प्यते बाधकाभावात्, तथाचासिद्धिरिति वाच्यम्; 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'। एकधैवानुद्रष्टव्यमित्यादिवाक्यबलात् सत्यत्वादिवैशिष्ट्याविषयकस्यैव ब्रह्मविषयकवेदनस्य मोक्षजनकत्वात् तदतिरिक्तबुभुत्साविरहेण तद्विषयकप्रश्नवाक्यस्य कल्पयितुमशक्यत्वेन कश्चन्द्र इतीव किं ब्रह्मेत्येव वाक्यं कल्प्यत इति नासिद्धिः।।२६।।

ननु कतम आत्मेत्यत्र कतरः स आत्मेत्यत्र च त्वंपदार्थप्रश्ने 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्'

सत्यानन्दप्रबोधिका

दोष नहीं दिया जा सकता है। न्यायामृतानुसार सिद्धान्ती के अनुमान में ''विशिष्टार्थबोधकत्व'' उपाधि हो सकती है, क्योंकि उन्होंने दृष्टान्त में विशिष्टार्थ बोधकत्व माना है और पक्ष में सिद्धान्ती विशिष्टार्थ बोधकत्व नहीं मान रहे हैं। इस उपाधि का भी खण्डन हो गया, क्योंकि दृष्टान्त विशिष्टार्थ का बोधक नहीं है विशिष्टार्थ का बोधक मानने पर प्रश्नोत्तर में वैयधिकरण्य की आपत्ति होगी। इस प्रकार पूर्वपक्षी का संक्षेप से ही यहाँ पर खण्डन कर दिया गया है।}।।२५।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इस उत्तरवाक्य का ''कश्चन्द्रः'' यह प्रश्न श्रवण होता है किन्तु ''सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म'' इस उत्तरवाक्य ''किं ब्रह्म'' ऐसा प्रश्न श्रुति में श्रवण नहीं होता है। अतः उत्तर के अनुसार प्रश्न वाक्य के कल्पनीय होने पर (स्वरूपमात्रविषयक प्रश्न वाक्य से कल्पना न कर के) धर्म विषयक ही प्रश्न वाक्य की कल्पना की जाती है, क्योंकि धर्मविषयक प्रश्नवाक्य की कल्पना करने में कोई बाधक नहीं है। (कहने का भाव यह है कि उत्तरवाक्य के अनुरूप ही प्रश्नवाक्य (ब्रह्मणः को धर्मः?) की कल्पना करनी होगी। जब उत्तरवाक्य में धर्मबोधक पद है तब प्रश्न वाक्य में भी धर्म बोधकपद होने चाहिए। अन्यथा प्रश्नोत्तर में वैयधिकरण्य हो जायेगा।) इस प्रकार जब प्रश्न होगा धर्मविषयक और उत्तरवाक्य सिद्धान्त मतानुसार धर्मविषयक नहीं है तब ब्रह्मप्रातिपदिकार्थ मात्र प्रश्न का उत्तरवाक्य न होने से हेतु पक्ष में न जाने से स्वरूपासिद्धि दोष होगा।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वप्रथम ''ब्रह्मविदाप्नोति परम्'' (तै०उ० २—१—१) से कहा गया कि ब्रह्मज्ञानी मोक्ष को प्राप्त करता है। इस पर प्रश्न होता है कि मोक्ष का जनकीभूतब्रह्मज्ञान कैसे होगा? (सत्यत्वादि वैशिष्ट्यविषयकब्रह्मज्ञान से अथवा शुद्ध ब्रह्मज्ञान से?) इसका उत्तर दूसरे वाक्य ''एकधैवानुद्रष्टव्यम्'' (बृ० उ० ४—४—२०) से दिया गया कि एकधा = अखण्डरूपेण एव, अनुद्रष्टव्यम् = ब्रह्म को जानना चाहिए। अर्थात् उक्त वाक्यों के बल पर सत्यत्वादिवैशिष्ट्य अविषयक शुद्ध ब्रह्म ज्ञान ही मोक्ष का जनक है। अतः शुद्ध ब्रह्म से अतिरिक्त ब्रह्म में रहने वाले धर्मादि की मुमुक्षुओं को जिज्ञासा ही नहीं रहती है। अतः धर्मवैशिष्ट्यविषयक प्रश्न की कल्पना नहीं की जा सकती है। फलतः ''कश्चन्द्रः? के जैसे ही ''किं ब्रह्म?'' इस प्रकार के ही प्रश्न से कल्पना की जाती है। अतः सत्यादि वाक्य में तन्मात्रविषयकप्रश्नोत्तरत्वरूप हेतु के रहने से स्वरूपासिद्धि दोष नहीं होगा।।२६।।

शङ्का— ''कतम आत्मा'' (बृ०उ० ४—३—७) और ''कतरः स आत्मा'' (ऐ०उ०३—१) यहाँ पर त्वम् पदार्थ विषयक प्रश्नों में क्रमशः ''वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्'' (अ०सू० ५—३—९३) तथा ''किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्'' (अ०सू० ५—३—९२) इन दोनों सूत्रों के द्वारा निर्णित जो जाति, वैशिष्ट्यादि

'द्वयोरेकस्य निर्धारणे डतरच्' इति सूत्राभ्यां निर्णीतजात्याद्यर्थकतमादिपदप्रयोगात् तत्प्रतिवचने 'योऽयं विज्ञानमयः' इत्यादौ पक्षे त्वदभिमतहेतोरसिद्धिः। नच यद्यत्प्रश्नोत्तरं तत्तदखण्डार्थमिति न ब्रूमः, किन्तु यत् यत्प्रश्नोत्तरं तत्तदर्थकमिति वाच्यम्; एवं सामान्यव्याप्त्यव्यभिचारेऽपि तद्बलादेतत् पक्षीकृत्याखण्डार्थत्वसाधनेऽखण्डार्थप्रश्नोत्तरत्वादिति पर्यवसितहेतावसिद्धेरनुद्धारादिति चेत्, नैष दोषः, तात्पर्यविषयस्यैवार्थत्वेन विवक्षितत्वात्, यथाहि धर्मवाचकपदसत्त्वेऽपि उत्तरस्य न धर्मे मुख्यतस्तात्पर्यं तथा प्रश्नेऽपि तद्वाचकतमादिप्रत्ययसत्त्वेऽपि न मुख्यतः तत्परत्वम्, असाधारणात्मस्वरूपस्य मुख्यतो बुभुत्सितस्योपायत्वेन तदुपयोगात्, आत्मस्वरूपबोधस्यैव पुरुषार्थत्वात्।।२७।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

उसके बोधक डतमच् और डतरच् प्रत्ययों का प्रयोग हुआ है। अर्थात् उक्त प्रत्ययों के द्वारा आत्मा के जाति या धर्मविषयक प्रश्न पूछा गया है। इन प्रश्नों के उत्तर में ''योऽयं विज्ञानमयः (बृ० उ० ४—३—७) इस श्रुति से उक्त उत्तर वाक्य से आत्मा में कौन जाति या धर्म रहता है— यही कहा गया है— ऐसा मानना होगा। अन्यथा प्रश्नोत्तरवैयधिकरण्य की आपत्ति होगी। अतः सिद्धान्ती का हेतु अखण्डमात्रविषयकप्रश्नोत्तरत्व उत्तरवाक्यरूपपक्ष में नहीं जाने से स्वरूपासिद्धि दोष होगा। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि जो प्रश्नोत्तर होता है वह अखण्डार्थक होता है— ऐसा हम नहीं मानते हैं अपितु जो प्रश्न यद्विषयक होता है उसका उत्तर भी तद्विषयक ही होता है ऐसा हम मानते हैं। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त प्रकार से मानने पर अर्थात् ''यद् यत् प्रश्नोत्तरं तत्तदर्थकम्'' इस प्रकार की सामान्यव्याप्ति मानने पर दृष्टान्त स्थल पर व्याप्य और व्यापक दोनों के रहने से व्यभिचारदोष नहीं होगा। किन्तु उक्त सामान्य व्याप्ति के बल पर ''योऽयं विज्ञानमयः इस वाक्य को पक्ष बनाकर अखण्डार्थकत्व रूप विशेष साध्य की सिद्धि करने में अखण्डार्थप्रश्नोत्तरत्वरूपविशेष हेतु प्रयोग करना होगा और वह हेतु पूर्वोक्त प्रकार से नहीं जायेगा। अतः पूर्वोक्त स्वरूपासिद्धि दोष पूर्ववत् बना ही रहा।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उक्त दोष नहीं है, क्योंकि ''यद् यत्प्रश्नोत्तरं तत्तदर्थकम्'' इस व्याप्ति का घटक ''अर्थ'' पद से ''मुख्यतात्पर्यविषय'' विवक्षित है। इसलिए हेतु (अखण्डार्थप्रश्नोत्तरत्वात्) का पर्यवसित अर्थ होगा = अखण्डार्थमात्रमुख्यतात्पर्यकप्रश्नोत्तरत्वात्। = जिस प्रश्न का अखण्डार्थ मात्र में मुख्य तात्पर्य है, उस प्रश्न का उत्तर होने से मुख्य तात्पर्य विषय कह देने से यह लाभ होगा कि उत्तर वाक्य में धर्मवाचक पद के रहने पर भी उत्तरवाक्य का धर्म में मुख्य तात्पर्य नहीं होता है। इसी प्रकार प्रश्नवाचक में भी धर्मवाचक डतमच्—डतरच् आदि प्रत्ययों के विद्यमान होने पर भी प्रश्नवाक्य का धर्मादि में मुख्य तात्पर्य नहीं होता है, क्योंकि प्रश्न करने वाला मुमुक्ष है। वह शुद्ध आत्मा के विषय में ही प्रश्न करेगा न की आत्मा के धर्मादि के विषय में, क्योंकि शुद्ध आत्मा के ज्ञान से ही मोक्ष होता है। इसी प्रकार उत्तर वाक्य का मुख्य तात्पर्य शुद्ध आत्मा में बतलाने में ही होता है न कि आत्मा के धर्मादि में। (इस पर प्रश्न होता है कि जब मोक्ष का हेतूभूत शुद्ध आत्मा को ही बतलाना है तक शुद्ध आत्मा विषयक ही प्रश्न और उत्तर क्यों नहीं किये गये? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि) मुख्य रूप से बुभुत्सित जो असाधारण आत्मस्वरूप अखण्डार्थ है। उसका उपाय (साधन) रूप से सत्यत्वादी धर्म वैशिष्ट्य का बोध कराया जाता है। इसका मुख्य तात्पर्य धर्मादि को बोध कराने में नहीं होता है अपितु इधर धर्मों की व्यावृत्ति पहले करायी जाती है और इतर व्यावृत्ति के द्वारा असाधारण आत्मस्वरूप का बोध कराया जाता है, क्योंकि यही परमपुरूषार्थ है। अतः धर्मविषयक प्रश्न और उत्तर भी किया जा सकता है।।२७।।

नच सर्वस्याप्युत्तरस्य प्रश्ननिर्धारितधर्मिनिष्ठानिर्धारितैकधर्मपरत्वाद्विरुद्धो हेतुरिति वाच्यम्, अनिर्धारितनिर्धारणत्वेनैवोत्तरतोपपत्तौ तादृग्धर्मपरत्वस्योत्तरत्वाप्रयोजकत्वेन नियमासिद्धेः। ननु कथं स्वरूपमात्रपरस्य निर्धारकत्वम्? लक्षणवाक्यत्वादिति गृहाण। नच एवमुत्तरजन्यज्ञानस्य निष्प्रकारकतया कथं सप्रकारकसंशयनिवर्तकत्वमिति वाच्यम्, निष्प्रकारकत्वेऽपि संशयनिवर्तकताया उपपादितत्वात्। ननु यदि प्रश्नादुत्तरमधिकविषयं न स्यात्, उत्तरमेव न स्यात्, प्रश्न एवोत्तरं स्यादिति चेन्न, प्रश्नादनधिकविषयत्वेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रश्न करने वाले के द्वारा जिस धर्मों का निर्धारण किया गया है। इस धर्मों में जिस एक धर्म निर्धारण नहीं हो रहा था। उस एक धर्म या उसके वैशिष्ट्य का बोधन सभी उत्तर वाक्यों के द्वारा होता है, चाहे वह उत्तर वाक्य किसी भी प्रश्न का हो जैसे अन्धकार में ऊंची सी वस्तु (धर्मी) निधारित है। किन्तु उसमें पुरुषत्व या स्थाणुत्व धर्म का निर्धारण नहीं हो रहा है। तब प्रश्न कर्ता पूछता है ''किमयं स्थाणु र्वा पुरुषो वा?'' उत्तर देने वाला कहता है— पुरुषोऽयम्। इस उत्तर वाक्य के द्वारा इस धर्मों में पुरुषत्व या उसके वैशिष्ट्य का बोधन होता है न कि शुद्ध धर्मी मात्र का। अतः सत्यादि रूप उत्तर वाक्य के द्वारा अखण्डार्थ मात्र प्रतिपादन नहीं किया गया है किन्तु सत्यत्वादि धर्मों या उनके वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया गया है। अतः तन्मात्रप्रश्नोतरत्व रूप हेतु साध्याभाव से व्याप्त हैं। अतः वह विरुद्ध नामक असद् हेतु है।

समाधान— पूर्वपक्षी ने यह नियम बनाया था कि जिस धर्म (स्थाणुत्व या पुरुषत्व) का निर्धारण नहीं हो रहा है। उसका निर्धारण उत्तर वाक्य के द्वारा होता है। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि उसमें से धर्म पद हटाओ क्योंकि उक्तविधधर्मपरकत्व उत्तरत्व का प्रयोजक नहीं माना जाता है। इसलिए केवल इतना ही नियम है कि जिसका निर्धारण नहीं हो रहा है, उसका निर्धारण उत्तर वाक्यों के द्वारा होता है ऐसा होने मात्र से ही उत्तरत्व की उपपत्ति हो जाती है। अतः पूर्वपक्षी का उक्त नियम के असिद्ध हो जाने से विरुद्ध नामक हेत्वाभास की आपत्ति नहीं होगी। उत्तर वाक्य यदि स्वरूप मात्र का बोधन करते हैं तब इतने मात्र बोधन से अनिर्धारित का निर्धारकत्व उत्तर वाक्यों में कैसे सिद्ध होगा? इस प्रश्न का उत्तर है— लक्षणवाक्यत्व। इसी प्रकार से उत्तर वाक्य जन्य ज्ञान यदि निष्प्रकारक है तब उस ज्ञान से सप्रकारक संशय की निवृत्ति कैसे होगी? इस प्रश्न का उत्तर खण्ड संख्या १८ में दिया जा चुका है कि निष्प्रकारक ज्ञान से भी संशय की निवृत्ति होती है।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती प्रश्नवाक्य को स्वरूपविषयक मानते हैं और उत्तर वाक्य को भी स्वरूपविषयक मानते हैं किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि यदि प्रश्न से उत्तर अधिकविषयक नहीं होगा तब वह उत्तर ही नहीं होगा अपितु प्रश्न ही उत्तर हो जायेगा अर्थात् जैसा प्रश्नवाक्य है वैसा ही उत्तरवाक्य होगा। प्रश्नवाक्य से पृथक अन्य प्रकार का उत्तरवाक्य बोलने की आवश्यकता ही नहीं होगी।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि यद्यपि प्रश्नोत्तर में वैयधिकरण्य की आपत्ति से बचने के लिए उत्तरवाक्य को प्रश्नवाक्य से अधिकविषयक नहीं माना जाता है तथापि उत्तर वाक्य में असाधारण वाचक पदवत्त्वेन या असन्दिग्धधर्मप्रतिपादकत्वेन उत्तरत्व की उपपपत्ति हो जाती है। अत एव = उत्तर वाक्य में असाधारणधर्मवाचकपदवत्त्व अथवा निर्विचिकित्सधर्मिप्रतिपादकत्व रहने से ही, प्रश्न वाक्य को ही उत्तर वाक्य नहीं रहा जा सकता है। दूसरी बात यह है कि प्रश्न वाक्य में अनिर्धारित निर्धारणत्व रूप उत्तरत्व का प्रयोजन नहीं रहता है अपितु उत्तर वाक्य में ही रहता है। अतः प्रश्न वाक्य ही उत्तर वाक्य नहीं होगा।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि ''किं करोमि?'' किमानेयम्?'' इन स्थलों पर स्पष्ट देखा जाता है

असाधारणधर्मवाचकपदवत्त्वेन निर्विचिकित्सधर्मिप्रतिपादकत्वेन वोत्तरत्वसम्भवात्। अत एव प्रश्नो नोत्तरम्, तत्प्रयोजकरूपविरहात्। नच किं करोति किमानेयमित्यादिप्रश्नोत्तरे अध्ययनं करोति गामानयेत्यादौ व्यभिचारः; नहि तत्राध्ययनत्वगोत्वादित्यागेन लक्षणया कर्मादिमात्रपरत्वमिति वाच्यम्, अत्र हि न कृत्यानयनयोः प्रश्नः, किन्तु कृतिकर्मानयनकर्मणोः, अन्यथा किं करणं किमानयनमित्येव पृच्छेत्। तथाच प्रश्नोत्तरयोरध्ययनत्वादिविशिष्टकर्माविषयत्वात् यद् यत् प्रश्नोत्तरं तत्तदर्थकमिति सामान्यव्याप्तौ व्यभिचाराभावात्। एवं सति सत्यादिवाक्यार्थो ब्रह्मप्रातिपदिकार्थमात्रम्, तन्मात्रप्रश्नोत्तरवाक्यार्थत्वादित्यादि न्यायादीपावलीस्थमप्यनुमानं साधु॥२८॥

ननु एकप्रातिपदिकार्थमात्रप्रश्नोत्तरत्वेन एकप्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वेऽपि कथं अखण्डार्थत्वम्? पञ्चकस्य त्रिकस्य वा वैयाकरणमते प्रातिपदिकार्थत्वात्, तदुक्तं—'स्वार्थो द्रव्यं तथा लिङ्गं संख्या कर्मादयोऽपि च।

सत्यानन्दप्रबोधिका

कि ''अध्ययनं करोमि?'' ''गामानय'' इन उत्तर वाक्यों में प्रश्न वाक्य की अपेक्षा अधिक विषमता है। अतः इन स्थलों पर ''तन्मात्रप्रश्नोंत्तरत्व'' हेतु व्यभिचारी है। यदि कहा जाय की लक्षणा के द्वारा उत्तर वाक्यों को अखण्डार्थ में पर्यवसान कर लेगें तो ऐसा भी हो नहीं सकता है, क्योंकि लक्षणा के द्वारा अखण्डार्थ में पर्यवसान के लिए अध्ययनत्व आदि प्रकारों को लक्षण के द्वारा परित्याग करके उत्तरवाक्य का अर्थ क्रिया मात्र करना होगा। किन्तु यह अनुभव विरुद्ध है, क्योंकि उत्तर वाक्य के द्वारा क्रिया मात्र का प्रतिपादन हो नहीं रहा है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त स्थल पर प्रश्न का विषय केवल कृति या केवल अध्ययन नहीं है किन्तु कृति का कर्म और अध्ययन का कर्म ही प्रश्न का विषय है। अन्यथा = यदि कृति और अध्ययन के विषय में ही प्रश्न होता तब ''किं करणम्?'' ''किमानयनम्?'' इस प्रकार से प्रश्न पूछता। यहाँ प्रश्न और उत्तर का क्या विषय है? इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उक्त स्थल पर अध्ययनत्व और गोत्व से विशिष्ट कर्मता न प्रश्न का विषय है न उत्तर का, अपितु अध्ययनत्व कृति कर्मत्वादि से उपलक्षित व्यक्ति स्वरूप मात्र (कर्मकारक मात्र) ही प्रश्न और उत्तर का विषय है। अतः जो जिस प्रश्न का उत्तर है वह तन्मात्रार्थक है — इस सामान्य व्याप्ति में व्यभिचार दोष नहीं है। सामान्य व्याप्ति में व्यभिचार दोष न होने पर सत्यादि वाक्य का अर्थ ब्रह्मप्रातिपदिकार्थ मात्र है, ब्रह्मप्रातिपदिकार्थ मात्र विषयक प्रश्न का उत्तर वाक्य का अर्थत्व होने से—इत्यादि न्यायदीपावलीकार का अनुमान भी निर्दोष है।।२८।।

शङ्का — प्रश्नोत्तर में वैयधिकरण्य की आपत्ति न हो। इसके लिए सिद्धान्ती के द्वारा एक प्रातिपदिकार्थ मात्र है विषय जिस प्रश्न का, उस प्रश्न का उत्तर होने से उत्तर वाक्य भी एक प्रातिपदिकार्थ मात्र का बोधन करता है। ऐसा माना जाता है, किन्तु ऐसा मानने पर भी लक्षणवाक्यगत अखण्डार्थत्व नहीं माना जा सकता है, क्योंकि प्रातिपदिक का अर्थ कुछ वैयाकरणाचार्यों ने पांच प्रकार का माना है और अन्य वैयाकरणाचार्यों ने तीन प्रकार का प्रातिपदिकार्थ माना है। जैसे कि कहा गया है— १. स्वार्थ (गोत्वादिजाति) २. द्रव्य (व्यक्ति) ३. लिङ्ग (पुंस्त्वादि) ४. संख्या (एकत्वादि) ५. कर्मादि (कर्ताकर्मादि षड्विध कारक)— इन पांचों को कुछ आचार्य प्रातिपदिक का अर्थ मानते हैं किन्तु अन्य आचार्य प्राथमिक तीन (स्वार्थ, द्रव्य और लिङ्ग) को ही प्रातिपदिक का अर्थ मानते हैं। तीन को ही प्रातिपदिकार्थ मानने वालों के मत में संख्या तथा कर्ता कर्मादि रूप कारक स्वादिप्रत्ययों के अर्थ माने जाते हैं। इस प्रकार जो अनेक समुच्चय रूप प्रातिपदिकार्थ है। उसको अखण्डार्थ नहीं माना जा सकता है— इसको वैयाकरण मत से पूर्वपक्षी ने दिखलाया। प्रभाकर के मत में कार्यान्वित को प्रातिपादिकार्थ मानते हैं तथा माया के कार्य को सत्य मानने वाले द्वैतवादी विद्वानों के मत में

नामार्थपञ्चकं प्राहुराद्यं त्रिकमथापरे'। इति। प्राभाकरमतेऽस्मदेकदेशिमते चान्वितस्यैव प्रातिपदिकार्थत्वाच्च, अभिहितान्वयवादिमतेऽपि जातिविशिष्टाया एव व्यक्तेः प्रातिपदिकार्थत्वपक्षे प्रातिपदिकार्थस्यैव विशिष्टत्वाच्च। जातावेव शक्तिः व्यक्तिस्तु आक्षेपलभ्येतिमते प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वेन विशेष्यचन्द्रादिव्यक्तिपरत्वं न स्यात्। ब्रह्मपदस्य यौगिकत्वेन सुतरामत्र प्रातिपदिकार्थस्य विशिष्टत्वादिति चेन्न, ब्रह्मप्रातिपदिकार्थविशेष्यांशमात्रपरत्वस्य साध्यत्वात्। तथाच प्रातिपदिकार्थस्य विशिष्टत्वेऽप्यखण्डार्थत्वसिद्धिः॥२९॥

'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्र' इत्यत्र लिङ्गादेरपि प्रातिपदिकार्थत्वेन तद्ग्रहणवैयर्थ्यमाशङ्क्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

इतरपदार्थान्वित को प्रातिपदिकार्थ माना जाता है। अतः सखण्डार्थ ही सिद्ध होगा। अभिहितान्वयवाद में दो पक्ष है। प्रथम पक्ष में जाति से विशिष्ट व्यक्ति को प्रातिपदिकार्थ माना जाता है। अतः अखण्डार्थ की सिद्धि नहीं होगी। द्वितीय पक्ष में गो पद में गोत्व जाति बोधन कराने की शक्ति है और गो व्यक्ति आक्षेप से लभ्य है। इस मत में यदि उत्तर वाक्य प्रातिपदिकार्थमात्र का बोधन कराता है तब भी विशेषणीभूत चन्द्रत्वादि जाति मात्र का ही बोधन होगा न कि विशेष्य चन्द्र आदि व्यक्ति का। अर्थात् इस मत में चन्द्रत्वादि जाति मात्र का बोधन होने से अखण्डार्थ की सिद्धि होने पर भी चन्द्र व्यक्ति का बोधन नहीं हो पायेगा। (खण्ड संख्या २५ में ब्रह्म पद यौगिक कैसे है? इसे स्पष्ट किया गया है।) ब्रह्म पद यौगिक मानने पर यहां सुगमतापूर्वक प्रातिपदिकार्थगत विशिष्टत्व की सिद्धि होगी। अतः लक्षण वाक्य को अखण्डार्थ परक नहीं माना जा सकता है। मूलस्थ ''सुतरामत्र'' के स्थान पर ''सुतरामस्य'' ऐसा पाठान्तर है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योकि खण्ड संख्या २५ में स्पष्ट किया जा चुका है कि द्वितीय अनुमान का साध्य ब्रह्मप्रातिपदिकार्थ में जो विशेष्यांश है तादृश विशेष्यांश मात्र परत्व है। अतः ब्रह्म पद को यौगिक मानने पर भी दोष नहीं होगा, क्योकि ब्रह्म प्रातिपदिक का अर्थ जो विशिष्टात्मक है, उसमें से विशेष्य अंश मात्र का बोधकत्व ही साध्य है। इसलिए सत्यादि वाक्यों के द्वारा विशेष्यांश मात्र का बोधन होने से अखण्डार्थ की सिद्धि हो जायेगी। अतः प्रातिपदिकार्थगतविशिष्टत्व होने पर भी अखण्डार्थत्व की सिद्धि है॥२९॥

पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि प्रातिपदिकार्थ के अर्न्तगत ही लिङ्गादि अनेक अर्थों का समावेश होने से प्रातिपदिकार्थ विशिष्टात्मक है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि''प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा'' (अ०सू० २—३—४६) में भगवान् महाभाष्यकार ने कहा कि— अथ लिङ्गग्रहणं किमर्थम्? स्त्री पुमान् नपुंस्कम्—इत्यत्रापि यथा स्यात्। नैतदस्ति प्रयोजनम्, एष एवाऽत्र प्रातिपदिकार्थः। इदं तर्हि कुमारी वृक्षः कुण्डमिति। अर्थात् जब प्रातिपदिकार्थ के अन्तर्गत लिङ्गादि भी है तब प्रातिपदिकार्थ से पृथक लिङ्गादि का ग्रहण करना व्यर्थ है? इस प्रश्न के समाधान में कहा गया कि पुस्त्व और नपुंस्कत्व के बिना कुमारी तथा नपुंस्कत्व और स्त्रीत्व के विना कुण्डम् इत्यादि में प्रथमा का प्रयोग होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रातिपदिकार्थत्व से व्यभिचरित होने के कारण लिङ्गादि प्रातिपदिकार्थ नहीं हैं अपितु प्रातिपदिकार्थ से अव्यभिचरित वस्तु स्वरूप मात्र ही प्रातिपदिकार्थ है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि प्रातिपदिकार्थ में पञ्चत्वादि है। इसको सिद्धान्त मत में माना नहीं जाता है। अतः अनङ्गीकार होने से पराहत है। दूसरी बात यह है कि उक्त कथन युक्तिविरुद्ध है, क्योंकि द्रव्यादिप्रातिपदिक से गुण तथा कर्म का बोध नहीं होता है। अन्यथा = द्रव्यादिप्रातिपदिक से ही गुण तथा कर्म का बोध मानने पर ''द्रव्यम्'' ऐसा कहने पर जैसे प्रातिपदिकार्थभूत द्रव्य का निश्चय हो जाने से ''द्रव्यं न वा'' यह सन्देह नहीं होता है, ठीक इसी प्रकार से ''द्रव्यम्'' ऐसा कह देने पर प्रातिपदिकार्थभूत द्रव्य के निश्चय के साथ—साथ उस द्रव्य में रहने

प्रातिपदिकार्थपदस्य लिङ्गाद्यविशिष्टस्वरूपमात्राभिधायकतया समाधानस्याभियुक्तैरुक्तेश्च। यत्तु पञ्चकत्वादिकं प्रातिपदिकार्थस्योक्तं, तदनङ्गीकारपराहतं युक्तिविरुद्धञ्च, द्रव्यादिप्रातिपदिकात् गुणकर्मणोरप्राप्तेः। अन्यथा द्रव्यमित्युक्ते 'नीलं पीतं वा? चलति न वा?'इति सन्देहो न स्यात्। न च जिज्ञासान्यथानुपपत्त्या सामान्यतस्तदुक्तावपि विशिष्यानभिधानात् सन्देह इति वाच्यम्; द्रव्यत्वाद्याक्षिप्त–सामान्यज्ञानादेव जिज्ञासोपपत्तेः, सङ्ख्याकर्मत्वादीनां च वचनविभक्त्यादिनैव प्राप्तेश्च। अन्विताभिधानरूपैकदेशिमतमपि न युक्तिसहम्, अन्वयस्याकाङ्क्षादिसहकारिवशात् पदार्थमात्रशक्तादेव सिद्धेः। न च प्रातिपदिकार्थमात्रपरस्य कथमेकदेशपरत्वम्? विशेषणस्यानाकाङ्क्षितत्वेन प्रागेव तदुपपादनात्। न चाप्रयोजकत्वम्, स्वरूपमात्रबुभुत्साप्रवृत्तत्वरूपविपक्षबाधकस्योक्तत्वात्।।३०।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

वाले नीलादि गुण और चलादि क्रिया का भी निश्चय हो जाने से द्रव्य नील है? या पीत है? द्रव्य चलता है? या नहीं चलता है? इत्यादि गुणकर्मविषयकसन्देह नहीं होगा।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि जिज्ञासा की अन्यथानुपपत्ति से अर्थात् सामान्य ज्ञान के बिना विशेष जिज्ञासा की अनुपपत्ति होने से सिद्ध होता है कि "द्रव्यम्" ऐसा कहने पर द्रव्य के साथ–साथ सामान्य रूप से गुण कर्मदि का कथन होने पर नीलत्वादि विशेष रूप से कथन न होने के कारण उक्त प्रकार का सन्देह हो जायेगा।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जिज्ञासा की उपपत्ति के लिए द्रव्य प्रातिपादिक से सामान्य रूप से गुणकर्मादि का कथन मानने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि "गुणकर्मादिवत्त्वं विना द्रव्यत्वमनुपपन्नम्।" इस अर्थापत्ति से द्रव्य सामान्य रूप से गुण कर्म वाला है– यह सिद्ध हो जाता है। इस सामान्य ज्ञान के आधार पर जिज्ञासा की उपपत्ति हो जायेगी। इसी प्रकार एकवचनादि और द्वितीया तृतीयादि विभक्ति के द्वारा संख्या और कर्मत्वादि की प्राप्ति हो जाती है। अतः संख्या और कर्मत्वादि को प्रातिपदिक का अर्थ मानने की आवश्यकता नहीं है। अन्विताभिधानरूप एकदेशी के मतानुसार"गामानय" इस स्थल पर गाम् इस पद का अर्थ केवल "गौ को" इतना ही नहीं है किन्तु आनयन रूप पदार्थान्तर से अन्वित (युक्त = सम्बन्धित) है ।अर्थात् "आनयन सम्बन्धित गौ को" यही गाम् पद का अर्थ है। ऐसा अर्थ सिद्धान्त मत में नहीं माना जाता है, क्योंकि इसमें कोई युक्ति नहीं है। सिद्धान्त मत में केवल स्वार्थ को बोधन कराने की शक्ति पद में रहती है न कि पदार्थान्तर से सम्बन्धित स्वार्थ की। यदि कहा जाय की सभी पद केवल अपने अपने अर्थ को ही यदि कहेंगे तब पदार्थ का पदार्थान्तर से जो सम्बन्ध है, उसका बोधन किससे होगा? इसके समाधान में कह रहे हैं कि एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के सम्बन्ध की सिद्धि आकांक्षा योग्यता सन्निधि की सहकारिता से हो जायेगी। ब्रह्मप्रातिपदिक जब यौगिक है तब बृहत्वादि से विशिष्ट चैतन्य ही ब्रह्म इस प्रातिपदिक का अर्थ होगा। ऐसी स्थिति में बृहत्वादि विशिष्ट चैतन्य का एक देश चैतन्य रूप विशेष्य मात्र का बोधन ब्रह्म इस प्रातिपदिक से कैसे होगा? उसका उत्तर यह है कि विशेषण की आकांक्षा न रहने के कारण विशेषण को छोड़कर के विशेष्य मात्र का ही बोधन ब्रह्म प्रातिपदिक से होगा। इसका प्रतिपादन खण्ड २७ में किया जा चुका है। अखण्डार्थसाधक इस अनुमान में व्यभिचारशङ्कानिवर्तकतर्क शून्यत्वरूप अप्रयोजकत्व भी नहीं है, क्योंकि खण्ड संख्या २६ में स्पष्ट किया जा चुका है कि "एकधैवानुष्टव्यम्" इत्यादि श्रुति वाक्यों के द्वारा स्वरूप मात्र वुभुत्सा के प्रशमनार्थ प्रवृत्त सत्यादि पदों में स्वरूप मात्र की ही बोधकता है न कि विशिष्ट की बोधकता। यही अप्रयोजकत्व की शङ्का का बाधक हैं।। ३०।।

ननु सत्यादिवाक्ये सत्सु विशेषणेषु सस्तुतिकविधिवाक्ये प्राशस्त्य इव विशेषणार्थेऽपि रक्तपटन्यायेनाकांक्षोत्थापनीया, उक्तं हि 'आकांक्षणीयाभाव आकांक्षाया अभाव, इतीति चेन्न, सत्यादिवाक्ये विशेषणे सत्यपि न तद्गोचराकांक्षाकल्पनम्, प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यत्र विशेषणे सत्यपि कश्चन्द्र इति स्वरूपमात्राकांक्षादर्शनात्। न च तत्रापि तत्कल्पनम्, तत्कल्पनं विनापि व्यावृत्तिबोधमात्रेणैव तत्सार्थकत्वोपपत्तेः। व्यावृत्तिविशेषबोधश्च विशेषणपरत्वाभावेऽपि तद्द्वारकस्वरूपज्ञानमात्रेणैवोपपद्यते। ननु सप्रकारकज्ञानस्यैव

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का — सिद्धान्ती ने यह जो कहा कि सत्यत्वादि विशेषण आकांक्षित नहीं है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि सत्यादि वाक्यों में सत्यत्वादि विशेषणों को जब ग्रहण किया गया है तब उन विशेषणों की सार्थकता के लिए ''कीदृशं तद् ब्रह्म'' ऐसी आकांक्षा का उत्थापन करना चाहिए। जैसे सस्तुतिक विधिवाक्य घटक विशेषणार्थक पद में प्राशस्त्य निमित्तक रक्तपटन्याय से आकांक्षा का उत्थापन किया जाता है। (कहने का भाव यह है कि ''वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः'' यह विधि वाक्य है। इसका ''वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति'' यह प्राशस्त्य बोधक अर्थवाद वाक्य हैं। यहां पर ''वायुदेवताकश्वेतपश्वालम्भनं कार्यम्'' ऐसा विधान होने से वाक्यार्थ बोध सम्पन्न हो जाता है, किसी प्रकार की आकांक्षा स्वतः नहीं उठती है, तथापि क्षेपिष्ठत्वादि अर्थवाद वाक्यस्थ वायुदेवताक विशेषणों को सार्थक करने के लिए ''कीदृशी वायुर्देवता, यद् देवताको यागः कार्यः'' इत्याकारक आकांक्षा का उत्थापन करके अर्थवादवाक्यस्थ विशेषण से प्राशस्त्य प्रतिपादन किया जाता है। जैसे ''रक्तः पटो भवति'' यहाँ पर ''पटो भवति'' ऐसा कह देने मात्र से वाक्यार्थ बोध हो जाता है किसी प्रकार की आकांक्षा स्वतः नहीं उठती है, तथापि उत्तर वाक्यस्थ रक्त विशेषण की सार्थकता के लिए ''केन रूपेण विशिष्टः पटः'' ऐसी आकांक्षा उठायी जाती है और उक्त आकांक्षा के शयन के लिए कहा गया है— रक्तः। इसी प्रकार प्रकृत में ''कीदृशं ब्रह्म'' इस आकांक्षा के शयन के लिए सत्यादि कहा गया है। अतः सत्यत्वादि विशेषण आकांक्षित है। अतः सत्यादि वाक्य के द्वारा विशिष्ट का ही बोध होगा।) अर्थवाद रहित विधिवाक्य स्थल पर आंकाक्षणीय किसी विशेषण का उल्लेख ही नहीं होता है। अतः ऐसे स्थल पर आकांक्षा ही नहीं उठती है। जैसा कि कहा गया कि जहां पर आकांक्षणीय पद का अभाव होता है वहाँ आकांक्षा का अभाव होता है किन्तु प्रकृत में आकांक्षणीय पद (सत्यादिपद) का सद्भाव है अतः प्रकृत में आकांक्षा का अभाव नहीं कहा जा सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सत्यादि उत्तर वाक्यों में विशेषण के रहने पर भी विशेषण विषयक आकांक्षा की कल्पना नहीं की जा सकती है, क्योंकि निष्प्रकारक ब्रह्म स्वरूप ही बुभुत्सित है। (इसका प्रतिपादन खण्ड संख्या २६ में किया जा चुका है।) जैसे ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इस उत्तर वाक्य में प्रकृष्टत्वादि विशेषणों के रहने पर भी उनकी आकांक्षा नहीं उठती है, क्योंकि ''कश्चन्द्रः'' इस प्रश्न में चन्द्र स्वरूप मात्र की ही जिज्ञासा है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' यहाँ पर भी विशेषण विषयिणी आकांक्षा की कल्पना होती है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि विशेषण विषयिणी आकांक्षा की कल्पना के विना ही नक्षत्र और तम आदि की प्रकृष्ट और प्रकाश पदों के द्वारा व्यावृत्ति का बोध हो जाने मात्र से प्रकृष्टादि पदों के सार्थक्य की उपपत्ति हो जाती है। प्रकृत में उत्तर वाक्य में जो सत्यत्वादि विशेषण दिये गये हैं। उसके द्वारा ब्रह्म में असत्यत्वादि की व्यावृत्ति का बोधन मात्र किये जाने से उत्तर वाक्य में सत्यत्वादि विशेषणों का कथन सार्थक हो जाता है। व्यावृत्ति बोध की उपपत्ति उत्तर वाक्यस्थ (प्रकृष्टादि और सत्यादि) पदों को विशेषण परक न मानने पर भी हो जाती है, क्योंकि व्यावृत्ति

मोक्षहेतुतया 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'इत्यर्थेन 'य एवं विद्वानमृत इह भवति'इति श्रुत्या 'यो वेद निहितं गुहायाम्'इत्युत्तरवाक्येन च मुमुक्षोः सप्रकारक एव धर्मिज्ञाने साध्ये बुभुत्सोचितेति—चेन्न; निष्प्रकारकज्ञानस्यैव स्वरूपोपलक्षणोपलक्षिताधिष्ठानज्ञानत्वेन भ्रमादिनिवृत्त्या मोक्षहेतुताया उपपादितत्वेन तदनुरोधात् ब्रह्मविदित्यादेः सप्रकारकब्रह्मज्ञानपरतायां मानाभावात्। य एवं विद्वान् इत्यस्यैवं प्रकारत्वं नार्थः, किन्तु एवं प्रकारोपलक्षिततत्वम्, एकधैवेत्याद्यनुसारात्।।३१।।

न च– एवं सगुणवाक्यस्यापि ब्रह्मबुभुत्सायां कर्मकाण्डस्यापि कर्मबुभुत्सायां वैद्यकादिशास्त्रस्यापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

द्वारक अर्थात् व्यावृत्ति बोधन के माध्यम से स्वरूप मात्र का बोधन हो जाता है और उससे ही व्यावृत्ति बोधा की उपपत्ति हो जाती है। मूल में "तद्द्वारक स्वरूपमात्रज्ञानमात्रेणैवोपपद्यते" ऐसा पाठान्तर है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि "उत्कर्ष विशिष्ट ब्रह्म से अभिन्न मैं हूँ।" ऐसा सप्रकारक ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है। मूलस्य "मोक्षहेतुतया" में जो मोक्ष शब्द है। उसका अर्थ पर प्राप्ति है। इसे "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै०उ०२—१—१) में परम् पद से स्पष्ट किया गया है। पर प्राप्ति का अर्थ है—उत्कर्ष विशिष्ट ब्रह्म से अभिन्न मैं हूँ—इसके अज्ञान की निवृत्ति। इस अज्ञान की निवृत्ति उत्कर्ष विशिष्ट ब्रह्म से अभिन्न मैं हूँ—इस ज्ञान से ही हो सकती है। अतः यही ज्ञान मोक्ष का हेतु है। ऐसे ज्ञान वाले को श्रुतिस्थ ब्रह्मविद् पद से कहा गया है। इस प्रकार "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै०उ०२—१—१) से यह सिद्ध हुआ कि "ब्रह्मज्ञानस्य सप्रकारकत्वं विना मोक्षहेतुत्वमनुपपन्नम्।" इसी प्रकार "य एवं विद्वानमृत इह भवति" (नृ०ता०१—६) (उत्कर्षविशिष्ट ब्रह्म मैं हूं ऐसा जानने वाला जीवित ही मुक्त हो जाता है।) इस श्रुति से और "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै०२—१—२) इसके उत्तरभावी वाक्य "यो वेद निहितं गुहायाम्" (तै०उ०१—१—१) (हृदयाकाश में स्थित जो सप्रकारक ब्रह्म है वह मैं हूँ—ऐसा जो जानता है वह मुक्त हो जाता है।) इस श्रुति से मुमुक्ष की धर्मिज्ञानसाध्यबुभुत्सा सप्रकार में ही मानना उचित है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि निष्प्रकारक ज्ञान में ही स्वरूपोपलक्षणोपलक्षिताधिष्ठान ज्ञानत्वेन भ्रमादि की निवृत्ति से मोक्ष की हेतुता का प्रतिपादन "प्रत्यक्षस्य भाविबाधाविचारः" के खण्ड संख्या ४ में और "सत्तात्रैविध्यविचारः" के खण्ड संख्या ५ में किया जा चुका है। अतः पूर्वोक्त प्रतिपादन के बल पर "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै०उ०२—१—१) इत्यादि वाक्यों में निष्प्रकारक ज्ञान बोधकता ही प्रमाणित होती है। दूसरी बात यह है कि उक्त वाक्यों में सप्रकारक ज्ञान बोधकता मानने में कोई भी प्रमाण नहीं है। "य एवं विद्वानमृत इह भवति" (नृ०ता० १—६) इस श्रुतिवाक्य का "एवं प्रकारकज्ञानवान्" ऐसा अर्थ नहीं है कि किन्तु "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (बृ०उ०४—४—२०) इत्यादि स्थल पर जैसे एकधा = एकाकाररूपेण = निष्प्रकारकरूपेण = अखण्डरूपेण—दर्शन विवक्षित है। ठीक इसी प्रकार "एवं प्रकारोपलक्षितज्ञानवान्" ऐसा निष्प्रकारक ज्ञान ही यहां पर विवक्षित है। "य एवं विद्वान्—इत्यस्यार्थे इतरप्रकारत्वं नार्थः" ऐसा पाठान्तर है।।३१।।

शङ्का— एवम्= जिज्ञासा शमनार्थ प्रयुक्त सत्यादि वाक्य अखण्ड ब्रह्म के बोधक स्वीकार करने पर, ब्रह्मबुभुत्सा निवृत्यर्थ प्रवृत्त निर्गुण ब्रह्मप्रतिपादक वाक्यों के जैसे ही सगुण ब्रह्म बोधक वाक्य भी अखण्ड ब्रह्म बोधक माने जायेंगे। इसी प्रकार कर्म बुभुत्सा में आम्नात कर्मकाण्ड बोधक वाक्य अखण्ड कर्म बोधक और औषधादि की बुभुत्सा का शामक वैद्यक शास्त्र अखण्ड औषधादि का बोधक होगा। पूर्वपक्षी के कथनानुसार यह अनुमान पर्यवसित होता है। सगुणादिवाक्यमखण्डार्थबोधकम्, जिज्ञासापूर्वकप्रवर्तमानत्वात्,

औषधादिबुभुत्सायामखण्डब्रह्माखण्डकर्माखण्डौषधादिपरत्वं स्यादिति वाच्यम्; नहि वयं बुभुत्साप्रवृत्तवाक्यत्वमात्रेणाखण्डार्थत्वं ब्रूमः, किन्तु स्वरूपामात्रबुभुत्साप्रवृत्तवाक्यत्वेन। न च तत्रापि स्वरूपमात्रबुभुत्सा; विशिष्टपरत्वे बाधकाभावात्। तत्रापि चेल्लक्षणवाक्यादौ तथा, तदेष्टापत्तेश्च। न च तर्हि सगुणवाक्यानां सत्यशुद्धान्यमिथ्याविशिष्टार्थपरत्वेन प्रामाण्यायोगः, कर्मकाण्डवद् व्यावहारिकप्रामाण्याविरोधात्। ननु ब्रह्मणि धर्म इवालक्षणवाक्यमस्ति, तदप्यखण्डार्थं स्यादिति चेन्न, अवान्तरतात्पर्यमादाय चेत्, तदा ब्रह्मपरत्वस्यैवाभावात् महातात्पर्यमादाय चेत्तदेष्टापत्तेः। किञ्च 'एकधैवा नुद्रष्टव्यम्'इत्याद्यनेकाकारनिषेधवाक्यं 'उदरमन्तरं कुरुते', इत्यादिभेदनिषेधवाक्यं 'केवलो निर्गुणश्च'इति गुणनिषेधकं 'एकमेवाद्वितीयम्'इति

सत्यानन्दप्रबोधिका

निर्गुणवाक्यवत्।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जिज्ञासापूर्वक प्रवृत्त वाक्य मात्र को हम अखण्डार्थक नहीं मानते हैं किन्तु स्वरूप मात्र विषयक जिज्ञासा पूर्वक प्रवृत्त वाक्य को ही हम अखण्डार्थक स्वीकार करते हैं। अर्थात् ''यत्र यत्र स्वरूपमात्रबुभुत्साप्रवृत्तवाक्यत्वं तत्र तत्र अखण्डार्थत्वम्।'' ऐसी व्याप्ति हम मानते हैं। पूर्वपक्षी के द्वारा कथित स्थलों में भी स्वरूप मात्र विषयिणी बुभुत्सा है— ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि निर्गुण प्रकरण में श्रुत ''एकधैवानुद्रष्टव्यम्'' के समान पूर्वपक्षी के द्वारा कथित स्थलों पर विशिष्ट बोधकता का कोई बाधक प्रतीत नहीं होता है। पूर्वपक्षी के द्वारा कथित उक्त स्थलों पर यदि धर्मादि लक्षण वाक्यों में धर्मादि स्वरूप मात्र विषयक जिज्ञासा पूर्वकत्व माना जाता है तब उक्त लक्षण वाक्यों में अखण्डार्थ बोधकता मानना हमें अभीष्ट ही है। पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के द्वारा तर्हि = शुद्ध ब्रह्म के बोधक अखण्डार्थक वाक्यों में ही प्रामाण्य स्वीकार करने पर, जो सगुण ब्रह्म के बोधक वाक्य है। वे सत्य रूप शुद्ध ब्रह्म से भिन्न मिथ्या रूप विशिष्टार्थ के बोधक माने जायेंगे, तब सगुण बोधक वाक्यों में अबाधितार्थ विषयकत्व रूप प्रामाण्य की उपपत्ति नहीं हो पायेगी। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उक्त सगुण ब्रह्म बोधक वाक्यों में अबाधितार्थ विषयक तात्त्विक प्रामाण्य के न होने पर भी व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्व रूप व्यावहारिक प्रामाण्य कर्मकाण्ड वाक्यों के जैसे माना ही जाता है। अतः कोई दोष नहीं है।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि वेद के कर्मकाण्ड में धर्मबोधक जैसे—''अग्निहोत्रं जुहुयात्'' इत्यादि अलक्षण वाक्य हैं वैसे ही वेद के ज्ञानकाण्ड भाग (उपनिषद् भाग) में भी ब्रह्म बोधक ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इत्यादि अलक्षण वाक्य हैं। उक्त सभी अलक्षण वाक्यों में अखण्डार्थ बोधकत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि सिद्धान्ती समस्त वेदान्त वाक्यों को ही अखण्डार्थ परक मान रहे हैं।

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त मत में वेदान्त वाक्यों का दो प्रकार का तात्पर्य माना जाता है—(१) महातात्पर्य (२) अवान्तर तात्पर्य। समग्र वेदान्त वाक्यों का महातात्पर्य अखण्ड ब्रह्म में माना जाता है किन्तु अवान्तर वाक्यों का तात्पर्य अखण्ड ब्रह्म से भिन्न अर्थ के प्रतिपादन में माना जाता है। पूर्वपक्षी अवान्तर तात्पर्य को लेकर यदि वेदान्त अन्तर्गत अलक्षण वाक्यों का अखण्डार्थत्व कह रहा है तब उन वाक्यों का अखण्डार्थ में तात्पर्य न होने से पूर्वपक्षी का कथन अनुचित है और महातात्पर्य को लेकर वेदान्त अन्तर्गत अलक्षण वाक्यों का अखण्डार्थत्व कह रहा है तब सिद्धान्त मत में इष्टापत्ति है। दूसरी बात यह भी है कि ''एकधैवानुद्रष्टव्यम्'' (बृ०उ०४—४—२०) इत्यादि अनेकाकार निषेधक वाक्य, ''उदरमन्तरं कुरुते'' (तै०२—७—१) इत्यादि भेद निषेधक वाक्य ''केवलो निर्गुणश्च'' (श्वे०उ०—६—११)

द्वितीयमात्रनिषेधकवाक्यं च बाधकं, तथा सर्वतोऽनवच्छिन्नवस्तुपरानन्तशब्दब्रह्मशब्दौ च।।३२।।

न च तेषामैक्यभेदाभावादिविशिष्टार्थपरत्वे वेदान्तमात्रस्याखण्डार्थत्वासिद्धिः, सत्यशुद्धान्यमिथ्याविशिष्टार्थपरत्वे प्रामाण्यायोग इति वाच्यम्, ऐक्यभेदाभावादीनां स्वरूपत्वेन विशिष्टपरत्वस्यैवाभावात्। भेदाभावादेः कल्पितप्रतियोगिकतया कल्पितत्वे तु सत्यादिपदवद्विशिष्टार्थाभिधानद्वारा स्वरूपपरत्वेन प्रामाण्योपपत्तेश्च। न च—एवं तेषां लक्षणयाऽखण्डार्थत्वे न तद्विरोधेन विशिष्टार्थस्य सत्यादिवाक्यस्य मुख्यार्थत्यागः, विशेष्यपरस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

इत्यादि गुणनिषेधक वाक्य, ''एकमेवाद्वितीयम्'' (छा०उ०६—२—१) इत्यादि द्वितीयमात्र निषेधक वाक्य हैं। ये अनेकाकार विषयक, भेदपरक, गुणार्थक एवं द्वैतार्थक अलक्षण वाक्यों के अखण्डार्थपरकत्व में बाधक होते हैं, क्योंकि उक्त वाक्यों के द्वारा अखण्ड वस्तु में क्रमशः अनेकाकारता, भेद, गुण तथा द्वैत का अत्यन्त निषेध किया जाता है। ऐसे ही त्रिविध परिच्छेद रहित अर्थ के बोधक ''अनन्त'' पद और ''ब्रह्म'' पद भी सान्त एवं जड़ वस्तु के बोधक अलक्षण वाक्यों के अवान्तर तात्पर्य को अखण्डार्थकत्व मानने में बाधक होते हैं।।३२।।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के द्वारा कथित ''एकधैवानुद्रष्टव्यम्'' (बृ०उ०४—४—२०) ''उदरमन्तरं कुरुते'' (तै०२—७—१) ''केवलो निर्गुणश्च'' (श्वे०उ०६—११) तथा ''एकमेवाद्वितीयम्'' (छा०उ०६—३—१) इत्यादि श्रुतिवाक्य ऐक्य = अभेद अथवा भेदाभाव रूपधर्म से विशिष्ट ब्रह्म का बोधक मानने पर सिद्धान्ती सम्मत वेदान्त मात्र में अखण्डार्थत्व की असिद्धि होगी और सत्य शुद्ध अबाधित अखण्ड वस्तु से भिन्न बाधित विशिष्टार्थ के बोधक होने से उक्त श्रुति वाक्यों में अप्रामाण्य की भी आपत्ति होगी।

समाधान — उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त मत में ऐक्य और भेदाभाव को अधिकरण स्वरूप (ब्रह्मस्वरूप) माना जाता है। अतः उक्त श्रुति वाक्यों के द्वारा विशिष्टार्थ का बोध नहीं होता है अपितु सिद्धान्त मतानुसार वेदान्त मात्र के अखण्डार्थकत्व की सिद्धि होती है। (यदि पूर्वपक्षी कहता है कि भेदाभाव और ऐक्य (अभेद) का प्रतियोगी कल्पित होने के कारण भेदाभाव और ऐक्य भी कल्पित है। अतः इनको अधिकरण स्वरूप नहीं माना जा सकता है। अतः उक्त दोष होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जैसे सत्यादि पदों का द्वारभूत अर्थ जो विशिष्टार्थ है। उस द्वारभूत विशिष्टार्थ को लेकर सत्यादि वाक्य का प्रामाण्य भले ही न होता हो किन्तु पर्यवसित अर्थ जो अखण्डार्थ है। उसको लेकर सत्यादि वाक्यों में प्रामाण्य माना जाता है। ठीक इसी प्रकार ''एकधैवानुद्रष्टव्यम्'' (बृ०उ० ४—४—२०) इत्यादि वाक्यों का ऐक्य या भेदाभाव से विशिष्ट द्वारभूत कल्पित अर्थ को लेकर भले ही प्रामाण्य न माना जाय किन्तु पर्यवसित अर्थ जो अखण्डार्थ है। उसको लेकर सत्यादि वाक्यों में प्रामाण्य माना ही जायेगा।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि ''एकधैवानुद्रष्टव्यम्'' इत्यादि वाक्य जब द्वारभूत अर्थ को अभिधावृत्ति से कहते हैं तब विशिष्टार्थक होते हैं और जब लक्षणावृत्ति से ऐक्य (विशेष्यमात्र) के बोधक होते हैं तब अखण्डार्थक होते हैं—इस प्रकार से सिद्धान्ती के कथन को स्वीकार करने पर सत्यादि वाक्यों के स्थल पर भी ऐसा ही स्वीकार कर लिया जायेगा। अर्थात् सत्यादिवाक्य भी अभिधावृत्ति से सत्यत्वादि विशिष्टार्थ के बोधक होगें। अतः खण्ड संख्या ३२ के अन्तिम में जो सिद्धान्ती ने कहा था कि ''एकधैवानुष्द्रव्यम्'' इस वाक्य से विरोध होने के कारण सत्यादि वाक्य अपने अभिधावृत्ति से बोधित मुख्यार्थ का परित्याग कर देते है। वह सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि विशेष्यपरक ''एकधैवानुद्रष्टव्यम्'' इत्यादि वाक्य से विशिष्ट परक सत्यादि वाक्य से विरोध ही नहीं है, क्योंकि विशिष्ट के गर्भ में ही विशेष्य रहता है।

समाधान — पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''एकधैवानुष्द्रव्यम्'' इत्यादि

विशिष्टपरेणाविरोधादिति वाच्यम्; द्वारतयोपस्थितस्याप्यैक्यभेदाभावादेर्विशिष्टार्थविरोधितया मुख्यार्थत्यागसम्भवात्। न च द्वारतयोपस्थितैक्यादेः मिथ्यात्वे न सत्यत्वादिधर्मपरत्वविरोधिता, सत्यत्वे चापसिद्धान्त इति वाच्यम्; भिन्नत्वे सति सत्यतायामेवापसिद्धान्तात्। न चाभेदे द्वारत्वानुपपत्तिः; कल्पितधर्मताकत्वेन द्वारत्वसम्भवात्। न च अत्र सत्यत्वादेर्द्वारत्वेनोपादानात्तेषामेवैतद्विरोध इति वाच्यम्, सत्यत्वादेः कल्पितजातिरूपस्य द्वारतया स्वरूपेणोपादानेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

श्रुतिवाक्य के द्वारा भले ही अखण्डार्थ बोध के द्वार के रूप में उपस्थित ऐक्य = भेदाभावादि हैं तो भी भेदाभावादि विशिष्टार्थ (भेदार्थ) के विरोधी होते हैं। अतः खण्ड संख्या ३२ के अनुसार सत्यादि वाक्य भी अपने मुख्यार्थ (विशिष्टार्थ) का त्यागकर अखण्डार्थ का बोधक हो जायेगा।

शङ्का — उक्त ''एकधैवानुष्द्रव्यम्'' इत्यादि श्रुति वाक्य के द्वारा अखण्डार्थ बोध में जो द्वार के रूप में उपस्थित ऐक्य, भेदाभावादि हैं। वे मिथ्या हैं? अथवा सत्य हैं? यदि मिथ्या हैं तब उनसे सत्यादि वाक्यों के द्वारा सत्यादि धर्म से विशिष्ट ब्रह्म के बोधन में विरोध नहीं होगा। यदि सत्य है तब द्वैतापत्ति होने के कारण अपसिद्धान्त होगा। मूलस्थ ''सत्यत्वादिधर्मपरत्वविरोधिता'' के स्थान पर ''सत्यत्वादिधर्मपारमार्थ्यविरोधिता'' ऐसा पाठान्तर है।

समाधान — द्वितीय पक्ष को स्वीकार कर अपसिद्धान्तापत्ति का निवारण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उक्त ऐक्य—भेदाभावादि को यदि ब्रह्म से भिन्न और सत्य माना जाय तब पूर्वपक्षी उक्त दोष को दे सकता है किन्तु सिद्धान्त मत में उक्त ऐक्य—भेदाभावादि को ब्रह्म से अभिन्न माना जाता है। अतः द्वैतापत्ति नहीं होगी। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त ऐक्य—भेदाभावादि यदि ब्रह्म से अभिन्न हैं तब वे द्वार—आदि के रूप में ब्रह्म बोध में साधन कैसे बनेंगे। इसका उत्तर यह है कि उक्त ऐक्य भेदाभावादि वस्तुतः ब्रह्म से अभिन्न है। फिर भी ऐक्यादि को काल्पनिक रूप से ब्रह्म का धर्म स्वीकार करके ब्रह्म बोध में द्वार के रूप में साधन मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने यह स्वयं ही स्वीकार किया कि सत्यादि पदों से प्रतिपादित जो सत्यत्वादि धर्म हैं, वे ब्रह्म बोध के साधन (द्वार) हैं और सिद्धान्ती यह भी स्वीकार कर रहे हैं कि उक्त''एकधैवानुष्द्रव्यम्'' और ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा जो ऐक्य भेदाभावादि का बोध होता है। वह बोध सत्यत्वादि द्वार का ही विरोध (बाध) कर देता है, किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर ब्रह्म बोध हो ही नहीं सकता है, क्योंकि यह देखा गया है कि जब साधन नष्ट हो जाता है तब गन्तव्य तक पहुंचा ही नहीं जाता है। अतः साधन = द्वार (सत्यत्वादि) के विरोध के कारण उक्त श्रुति वाक्यों को ऐक्य—भेदाभावादि परक न मानना ही उचित है। ऐसा होने पर सत्यादि वाक्यों की विशिष्ट बोधकता का निवारण नहीं किया जा सकता है।

समाधान — { सिद्धान्ती ने इसी खण्ड संख्या ३३ में ही कहा है कि ऐक्य—भेदाभावादि जो सत्यत्वादि के निषेधक हैं वे ऐक्यादि अधिकरण = ब्रह्म स्वरूप होने के कारण पारमार्थिक हैं और सत्यत्वादि व्यावहारिक (काल्पनिक) है। अतः पारमार्थिक ऐक्यादि का विरोध काल्पनिक सत्यत्वादि नहीं कर सकता है। काल्पनिक पदार्थ को तत्त्वबोध का साधन मानने में कोई आपत्ति नहीं है। इस भाव को ध्यान में रखकर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि} प्रपञ्च साधारण्य से कल्पित स्वकालाबाध्य सत्यत्वादि का व्यावहारिकत्व रूप से उपादान होने पर भी एकधा—इत्यादि निषेधकों के द्वारा बोधित जो पारमार्थिक—ऐक्यादि हैं। वे पारमार्थिकत्वेन सत्यत्वादि काल्पनिक जाति रूप धर्मो के विरोधी होते हैं। व्यावहारिकत्वेन सत्यत्वादि धर्मो को स्वीकार करने

पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधकानामविरोधात्। एतेन ब्रह्मानन्तपदयोरपि बाधकत्वं व्याख्यातम्।।३३।।

ननु 'अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति बृहन्तो ह्यस्मिन् गुणा' {अथर्वशि.४}, इत्यादि श्रुत्या 'महद्गुणत्वाद्यमनन्तमाहुः'इत्यादिस्मृत्या च ब्रह्मानन्तपदयोः सगुणवाचित्वेन निर्वचनात् कथं न ताभ्यां विरोधः? इति–चेन्न; उक्तश्रुतिस्मृत्योः सगुणप्रकरणस्थितब्रह्मानन्तशब्दार्थविषयत्वेन लक्षणवाक्यस्थित–ब्रह्मानन्तशब्दार्थनिर्वचनपरत्वायोगात्।।३४।।

ननु इमे हेतवः प्रतिकूलतर्कपराहताः। तथाहि पक्षदृष्टान्तलक्षणमैक्यपरवाक्यं यदि संसृष्टार्थं न

सत्यानन्दप्रबोधिका

में विरोधी नहीं होते हैं। अतः स्वरूपावगति में सत्यत्वादि को द्वार (साधन) मानने में कोई भी आपत्ति नहीं है। इसी प्रकार न्यायामृतकार ने यह जो कहा हैं कि सिद्धान्ती ब्रह्म और अनन्त शब्द लक्षणा से विशेष्य मात्र के बोधक मानते हैं। जो विशेष्य का बोधक होता है वह विशिष्ट का विरोधी नहीं होता है, क्योंकि विशिष्ट के गर्भ में ही विशेष्य होता है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जिस प्रकार से ऐक्य–भेदाभावादि सत्यत्वादि के बाधक होते हैं वैसे ही ब्रह्म और अनन्त शब्द भी ऐक्य–भेदाभावादि के बोधक होने के कारण अर्थात् अखण्डार्थक होने के कारण विशिष्टार्थ परता के बाधक हो जाते हैं।।३३।।

शङ्का– ब्रह्म और अनन्त शब्द अखण्डार्थक नहीं हैं अपितु विशिष्टार्थक हैं। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि अथर्वशिर उपनिषत् के चतुर्थ खण्ड में ब्रह्म को ब्रह्म क्यों कहा जाता है। इसका निरूपण करते हुए कहा गया कि ''अथ कस्मादुच्यते ब्रह्मेति, बृहन्तोऽस्मिन् गुणाः।'' अर्थात् ब्रह्म को ब्रह्म क्यों कहा जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में श्रुति ने कहा कि इसमें बृहत् (महान्) गुण रहते हैं। इसी प्रकार स्मृति कह रही है– ''योऽनन्तशक्तिभगवाननन्तो महद्गुणत्वाद् यमनन्तमाहुः।'' अर्थात् अनन्त शक्ति भगवान् अनन्त महान गुणों का आधार होने से जिनको अनन्त कहते हैं। इस प्रकार ब्रह्म और अनन्त शब्द विशिष्टता के बोधक श्रुति और स्मृति के द्वारा सिद्ध हो रहे हैं। अतः ब्रह्म और अनन्त शब्द को अखण्डार्थक मानने पर उक्त श्रुति और स्मृति वाक्यों के द्वारा विरोध होगा।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त श्रुति और स्मृति वाक्य सगुण प्रकरण के हैं। अतः सगुण प्रकरण में पठित ब्रह्म और अनन्त शब्द सगुण के बोधक होंगे। निर्गुण प्रकरण में स्थित ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इत्यादि लक्षण वाक्यस्थ ब्रह्म और अनन्त शब्द सगुण के बोधक नहीं होते हैं, अपितु अखण्डार्थक ही होते हैं। {यदि पूर्वपक्षी कहता है कि वेदान्त सर्वत्र सगुणपरक ही है निर्गुण परक वेदान्त अभी तक सिद्ध ही नहीं हुआ है जिससे यह कहा जा सके कि निर्गुण प्रकरण में स्थित ब्रह्म अनन्त शब्द अखण्डार्थक के बोधक होते हैं। ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ''केवलो निर्गुणः वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषरूपेण सर्वं ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्। य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति–अथेतरे दुःखमेवापियन्तीति। द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेद इत्यादि। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्'' इत्यादि अनेक श्रुतियों के द्वारा निर्गुण परक वेदान्त सिद्ध है। इस पर विशेष विचार लघु चन्द्रिका में देखें।''}।। ३४।।

शङ्का – पूर्वपक्षी का कथन है कि खण्ड संख्या १ में कहे गये लक्षणवाक्यत्वादि रूप हेतु प्रतिकूल तर्क से पराहत (स्वकार्याक्षम) हैं। जैसे पक्षीभूत लक्षण वाक्य ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इत्यादि और दृष्टान्तीभूत लक्षण वाक्य ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः''– ''सोऽयम्'' इत्यादि अखण्डार्थ परत्वेन अभिमत वाक्य यदि संसृष्टार्थक (संसृष्ट अर्थ के प्रतिपादक) न हो तब उन्हें वाक्य ही नहीं माना जा सकता है, क्योंकि

स्यात्, वाक्यमेव न स्यात्, आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमत्वाभावात्। आकांङ्क्षा हि अभिधानापर्यवसानम्, तच्च येन विना यस्य न स्वार्थान्वयानुभावकत्वं तदेव तस्यापर्यवसानम्। सन्निधिस्त्वव्यवधानेनान्वयप्रतियोग्युपस्थितिः, योग्यता च एकपदार्थसंसर्गे अपरपदार्थनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकधर्मशून्यत्वम्, नैतत्त्रयं संसर्गाविषये सम्भवति इति।।३५।।

नैष दोषः; अखण्डार्थेऽप्येतत्त्रितयसम्भवात्। तथाहि निराकाङ्क्ष्योरपि यत्किञ्चिदन्वयानुभावकतया

सत्यानन्दप्रबोधिका

उनमें आकांक्षा तथा योग्यता एवं सन्निधि इन तीनों का अभाव होगा। (पूर्वपक्षी का भाव यह है कि आकांक्षादि ये तीनों जिन वाक्यों में होते हैं उनको तो वाक्य माना जा सकता है। जिनमें आकांक्षादि तीनों नही हैं, उनको वाक्य नहीं माना जा सकता है। संसृष्टार्थक वाक्य में आकांक्षादि तीनों होते हैं। अतः उनको वाक्य माना जाता है, किन्तु अखण्डार्थक वाक्य में आकांक्षादि तीनों नही रहते हैं। अतः उनको वाक्य ही नहीं माना जा सकता है। जब दृष्टान्त और पक्ष ही नहीं तब साध्य की सिद्धि हो ही नहीं सकती है। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि) आकांक्षा उसे कहते हैं, जहां कथन का पर्यवसान न हो। कथन के अपर्यवसान का अर्थ यह है कि जिस पद के विना जो पद स्वार्थ बोध कराने में सक्षम नहीं होता है, उसकी उस पद में अभिधान अपर्यवसानता (आकांक्षा) मानी जाती है (जैसे जहां केवल ''गच्छति'' पद का कथन किया गया है, वहां पर देवदत्तादिरूप कर्ता—आदि वाचक पद के विना गच्छति पद में स्वार्थ अन्वय का अनुभावकत्च (बोध जनकत्व) नहीं है। यही उसकी अपर्यवसानता है । इस प्रकार आकांक्षा के निरूपण के पश्चात् सन्निधि का निरूपण करते हुए कह रहे हैं कि व्यवधान से रहित अन्वय (सम्बन्ध) के प्रतियोगियों की उपस्थिति को सन्निधि कहते हैं जैसे ''गामानय'' इस स्थल पर गाम् पद के अर्थ के साथ जिस आनय पद के अर्थ का अन्वय (सम्बन्ध) है। इस सम्बन्ध का अनुयोगी गाम् पदार्थ है और प्रतियोगी आनय पदार्थ है। इस प्रतियोगीभूत आनय पद के अर्थ की उपस्थिति गाम् पद के अर्थ की उपस्थिति के तत् क्षण पश्चात् में होनी चाहिए यही सन्निधि है। (यहां ''प्रतियोग्युपस्थितिः'' का अर्थ प्रतियोगित्व विशिष्ट पदार्थ की उपस्थिति है। सन्निधि के निरूपण के पश्चात् योग्यता का स्वरूप कहा जा रहा है। योग्यता का लक्षण है— एक पदार्थ संसर्ग (इतरपदार्थ संसर्ग) में अपर पदार्थ निष्ठ अत्यन्ताभाव प्रतियोगितावच्छेदक धर्मशून्यत्वरूप है। जैसे ''जलेन सिञ्चति'' इस स्थल पर एकपदार्थ = सेक क्रियादि पदार्थ, संसर्ग = सेकक्रियादि पदार्थ निरूपितकरणरूपसंसर्ग। अपर पदार्थ = जलादि रूप पदार्थ। तन्निष्ठ (जलनिष्ठ) अत्यन्ताभाव = सेकक्रियाकरणरूपसंसर्गो नास्ति'' इत्याकारक अभाव तो मिल नहीं सकता है, क्योंकि जल में सेकक्रियाकरणरूप संसर्ग ही है किन्तु घटादि का अभाव मिला। तादृश अभावीय प्रतियोगिता घटादि में है। प्रतियोगितावच्छेदक धर्म घटत्वादि हैं। तद्वत्ता घटादि में है। तत् शून्यत्व सेक क्रियाकरण रूप संसर्ग में है। अतः यहाँ पर योग्यता है। ''वह्निना सिञ्चति'' इस स्थल पर एक पदार्थ संसर्ग पद से सेक क्रियाकरण रूप संसर्ग लिया। उसमें अपर पदार्थ रूप वह्निनिष्ठ अत्यन्ताभाव प्रतियोगीतावच्छेदक धर्मवत्त्व ही है, तत् शून्यत्व नहीं है। अतः यहाँ पर योग्यता नहीं है। इस प्रकार यह देखा गया कि आकांक्षा सन्निधि और योग्यता ये तीनों संसर्ग सापेक्ष हैं। अतः संसर्ग रहित अखण्डार्थक वाक्य में ये तीनों सम्भव ही नहीं। अतः अखण्डार्थक वाक्य को वाक्य ही नहीं माना जा सकता है।।३५।।

समाधान— पूर्वपक्षी के द्वारा कथित दोष नहीं है क्योंकि आकांक्षा सन्निधि और योग्यता अखण्डार्थक वाक्य में भी सम्भव हैं। पूर्वपक्षी कृत आकांक्षा के लक्षण में अतिव्याप्ति दोष देते हुए सिद्धान्ती कह रहे

तात्पर्यविषयाननुभावकत्वमेवाकांक्षा वाच्या। तथाचान्वयांशो व्यर्थः; येन विना यस्य तात्पर्यविषया–ननुभावकत्वमित्येतावन्मात्रस्यैव सामञ्जस्यात्। तात्पर्यविषयश्च क्वचित्संसृष्टः क्वचिदखण्ड इति न विशेषः। अतः सा तात्पर्यविषयाखण्डार्थानुभवजननात् प्राग्वेदान्तवाक्येऽप्यस्त्येव। आसत्तिरप्यव्यवधानेन शाब्दबोधानुकूलपदार्थोपस्थितिमात्रम्, न त्वन्वयप्रतियोगित्वविशेषितपदार्थोपस्थितिः, गौरवात्। सा च संसर्गबोधकेऽप्यस्त्येव। योग्यतापि तात्पर्यविषयाबाध एव, नत्वेकपदार्थसंसर्ग इत्यादिस्वरूपा, यत्र

सत्यानन्दप्रबोधिका

हैं कि ''घटः कर्मत्वम्'' इस आंकाक्षा रहित दो पद वाले स्थल पर उक्त दोनों पद भी अभेदान्वय के अनुभव को उत्पन्न करते हैं। अतः उन दोनों पदों में से एक पद के विना अपर पद अभेदान्वय के अननुभावक है। अतः आकाक्षां का लक्षण चला गया। इस प्रकार अतिव्याप्ति दोष हो गया। (अतिव्याप्ति दोष इस प्रकार से भी दिया जा सकता है– निराकांक्ष जिन दो पदों ''घटः पटः में कोई आकांक्षा नहीं है। वहां पर भी दोनों पद यत् किञ्चित् अन्वय = अभेदान्वय = अभेदसंसर्ग के भ्रमात्मक अनुभव को उत्पन्न करते ही हैं। यहाँ पर घट पद पट पद के विना अपना (घट पद का) जो अर्थ, उस अर्थ का अभेदान्वय जो पट पदार्थ के साथ है। उस अभेदान्वय के अनुभव को उत्पन्न नहीं करता है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा कथित आकांक्षा का लक्षण निराकांक्ष में चले जाने से अतिव्याप्ति हो गयी। इस प्रकार पूर्वपक्षी कृत आकांक्षा का लक्षण दुष्ट हो जाने पर सिद्धान्ती आकांक्षा का लक्षण बना रहे हैं– तात्पर्यविषयीभूत जो अन्वय है। तादृश अन्वय का अननुभावकत्व को आकांक्षा कहना होगा। ऐसा कहने पर उक्त स्थल पर अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि उक्त स्थल पर कोई तात्पर्य का विषयीभूत अन्वय ही नहीं है। यदि कोई तात्पर्य विषयीभूत संसर्ग होता तब एक पद दूसरे पद के विना उस तात्पर्य विषयीभूत संसर्ग की अननुभाविकता रूप लक्षण उक्त स्थल पर जाता किन्तु उक्त स्थल पर तात्पर्य विषयीभूत संसर्ग ही नहीं है। अतः उक्त स्थल पर लक्षण न जाने से अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा और सत्यं ज्ञानमित्यादि वाक्यों में जो सत्यादि पदों का लक्षणा के द्वारा अभेदान्वय में तात्पर्य है। उस तात्पर्य का विषय जो अभेदान्वय, उसका अनुभावक सत्यादि पद अपर ज्ञान अनन्तादि पदों के विना नहीं हो सकता है। इस प्रकार से आकांक्षा का लक्षणा समन्वय हो जायेगा, किन्तु अन्वय के माध्यम से पदार्थ में तात्पर्य विषयता कहने की अपेक्षा साक्षात् पदार्थ में तात्पर्य विषयता कहने में लाघव है। अतः अन्वय भाग व्यर्थ है। अतः जिसके विना जिसका तात्पर्य के विषय का अननुभावकत्व है—यही आकांक्षा का परिष्कृत लक्षण है। अर्थात् तात्पर्यविषयीभूत अर्थ की अननुभाविकता की आकांक्षा है। ऐसा लक्षण होने पर अखण्डार्थ स्थल पर आकांक्षा का सद्भाव होने में कोई आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि तात्पर्यविषयीभूत पदार्थ किसी स्थल का विशिष्ट होता है और किसी स्थल पर अखण्ड भी होता है। अतः तात्पर्य विषयत्वेन दोनों का संग्रह हो जाने से कुछ विशेष देना आवश्यक नहीं है। प्रकृत में तात्पर्य विषयीभूत अखण्ड अर्थ का बोधन जब तक सत्यादि वेदान्त वाक्य नहीं करते तब तक वेदान्त वाक्यों में आकांक्षा रहती ही है। सन्निधि भी अव्यवधान से शाब्दबोधानुकूल पदार्थ की उपस्थिति मात्र है। पदार्थोपस्थिति की अपेक्षा अन्वय प्रतियोगित्वादि विशिष्ट पदार्थोपस्थिति मानने में गौरव है। ऐसी सन्निधि का लक्षण अखण्डार्थ बोधक वाक्यों में भी है। योग्यता भी तात्पर्य के विषय का जो अबाध तादृश अबाध रूप ही है। पूर्वपक्षी के द्वारा कथित जो योग्यता का लक्षण–''एकपदार्थसंसर्गे अपरपदार्थनिष्ठात्यन्ता–भावप्रतियोगितावच्छेदकधर्मशून्यत्वम्।'' ऐसा योग्यता का लक्षण ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ पर बाधित और अबाधित संसर्ग द्वय सम्भव है, वहाँ पर बाधित तात्पर्य विषयक में अतिव्याप्ति होगी। जैसे ''उत्पत्तिक्षणावच्छिन्नो

बाधिताबाधितसंसर्गद्वयसम्भवः, तत्र बाधिततात्पर्यविषयकेऽतिव्याप्तेः। तात्पर्यविषयाबाधश्चाखण्डार्थेऽपि सुलभः।।३६।।

अथवा अन्वयस्य भेदघटितत्वनियमाभावेनाभेदसंसर्गमादायाकांक्षादिनिर्वाहः कर्तव्यः, एकपदार्थस्याप्यखण्डस्य तात्पर्यविषयत्वमपि नानुपपन्नम्। यत्र हि असाधारणस्वरुपेणैकः पदार्थो ज्ञातः; तत्र पदार्थान्तरविशिष्टः स प्रतिपाद्यते। यत्र तु न तथा ज्ञातः तत्र स न शक्यः पदार्थान्तरैर्विशेष्टुमिति स एव प्रतिपाद्यः, तत्रैव वाक्यपरिसमाप्तेः। प्रकृष्टत्वसत्यत्वादेः तत्तद्वारकत्वरूपबोधेन व्यावृत्तिभेद उपयोगादिति न वाक्यत्वानुपपत्तिलक्षणप्रतिकूलतर्कपराहतिः।।३७।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

घटो रूपवान्'' यहां पर (द्वितीयादिक्षणावच्छिन) घट में रूप का अबाधित तादात्म्य सम्बन्ध अनभिप्रेत उत्पत्तिक्षणावच्छिन घट में भी है। अर्थात् एक पदार्थ=द्वितीयादि क्षणावच्छिन घट में रूप का तादात्म्य सम्बन्ध अबाधित है। वही सम्बन्ध अपर पदार्थ = उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न घट में भी है किन्तु वह बाधित है। यहाँ पर लक्षण जाने से अतिव्याप्ति हो गयी। तात्पर्यविषयाबाध रूप योग्यता अखण्डार्थ में भी सुलभ है।।३६।।

आचार्यप्रवर अद्वैतसिद्धिकार ने पूर्वपक्षी के द्वारा कथित आकांक्षादि के लक्षणों का खण्डन कर आकांक्षादि का निर्दुष्ट लक्षण का उल्लेख कर अखण्डार्थक वाक्यों में समन्वय किया। अब ''तुष्युतु दुर्जनः''इस न्याय से पूर्वपक्षी के द्वारा कथित आकांक्षादि के लक्षणों को स्वीकार कर अखण्डार्थक वाक्यों में समन्वय कर रहे हैं। आचार्यप्रवर का कथन है कि अन्वय (सम्बन्ध) सर्वत्र भेद घटित होगा अर्थात् दो या उससे अधिक में ही सम्बन्ध होता है— ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि स्व में स्व का अर्थात् एक में भी अभेद सम्बन्ध होता ही है। इसलिए अभेद सम्बन्ध को लेकर के अखण्डार्थक बोधक वाक्यों में भी पूर्वपक्षी के द्वारा वर्णित आकांक्षादि के लक्षणों का समन्वय किया ही जा सकता है। ब्रह्म पदार्थ जो कि अखण्ड है। वह भी किसी वाक्य के तात्पर्य का विषय बन ही सकता है। अर्थात् अखण्डार्थ में किसी वाक्य का तात्पर्य होने में अनुपपत्ति नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि किसी वाक्य के द्वारा एक पदार्थ का बोध होने मात्र से ही वह एक पदार्थ पदार्थान्तर से विशिष्ट होगा— ऐसा कोई नियम नहीं हैं। पदार्थान्तर से विशिष्ट वह एक पदार्थ तभी होगा यदि वह एक पदार्थ असाधारण रूप से (पदार्थान्तर से व्यावृत्त रूप से) ज्ञात हो। जैसे घट यदि मठादि से भिन्न रूप से (व्यावृत्त रूप से) बोधित हो तो वह घट पदार्थ मठादि व्यावृत्ति से विशिष्ट हो जायेगा किन्तु जहां पर एक पदार्थ असाधारण रूप से (पदार्थान्तर से व्यावृत्त रूप से) ज्ञात नहीं है, वहां वह एक पदार्थ पदार्थान्तर से विशेषित (विशिष्ट) नहीं किया जा सकता है। इसलिए उसका अविशिष्ट या अखण्ड रूप से ही प्रतिपादन करना होगा और एक पदार्थ (अखण्डार्थ) बोधन में ही वाक्य की परिसमाप्ति होगी। अतः वह वाक्य अखण्डार्थक होगा। पूर्वपक्षी ने खण्ड संख्या ३५ मे यह जो कहा कि ''सत्यादिवाक्यं यदि संसृष्टार्थकं न स्यात्, तदा वाक्यमेव न स्यात्।'' यह उचित नहीं है। क्योंकि सत्यादि और प्रकृष्टादि अपने विरोधी असत्यत्वादि और अप्रकृष्टत्वादि की व्यावृत्ति को द्वार के रूप में बोधन करके उपयोगी सिद्ध होते हैं। इसके पश्चात् अखण्ड वस्तु (ब्रह्म और चन्द्र) का बोध ान करते हैं। इस प्रकार सत्यादि वाक्यों का अवान्तर तात्पर्य संसृष्टार्थ में ही माना जाता है। अतः उनमें वाक्यत्वादि की अनुपपत्ति नहीं होगी। इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा जो वाक्यत्व अनुपपत्ति लक्षण प्रतिकूल तर्क दिया गया था उसका खण्डन हो गया। अतः उक्त प्रतिकूल तर्क से सिद्धान्ती के द्वारा दिये गये हेतुओं की पराहति नहीं होगी।।३७।।

शङ्का— {पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती भी वाक्य को संसृष्टार्थक और अखण्डार्थक मानते हैं।

ननु संसृष्टार्थत्वं न चेत्, तदा वेदान्तानां निर्विषयत्वापत्तिः, अखण्डवाक्यार्थस्य स्वप्रकाश– चिन्मात्रस्याविद्याद्यध्यासाधिष्ठानत्वेन तत्साक्षित्वेन च नित्यसिद्धत्वादिति चेन्न; अनाद्यविद्योप हितत्वेनादोषात्, स्वतःसिद्धस्यापि प्रमाणवृत्तिमन्तरेणाविद्यानिवर्तकत्वाभावात्। प्रमाणवृत्तेश्चाविद्यानिवृत्तिफलोपहितत्वात्, न काप्यनुपपत्तिः। न च बाधकं विना मुख्यार्थत्यागायोगः प्रतिकूलतर्कः, एकरसत्वादिप्रतिपादकश्रुतिनामप्यखण्डार्थपरत्वेन बाधकत्वाभावादिति वाच्यम्, द्वारतयोपस्थितस्यापि बाधकताया उक्तत्वात्।।३८।।

ननु वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानं निष्प्रकारकं चेत्, ज्ञानमेव न स्यात्; ज्ञानस्येच्छादितुल्यतया सविषयकत्ववत्सप्रकारकत्वस्यापि नियमात्, किञ्चित् प्रकारं विना वस्तुनो बुद्धावनारोहाच्चेति चेन्न; व्याप्त्यसिद्धेः,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्वप्रकाशचिन्मात्राखण्डवाक्यार्थनित्य सिद्ध है। अतः उसके लिए वेदान्त वाक्यों का विचार करना व्यर्थ है। परिशेष न्याय से वेदान्त वाक्यों को संसृष्टार्थक ही मानना होगा, इस आशय से पूर्वपक्षी कह रहा है कि) यदि सिद्धान्ती वेदान्त वाक्यों का संसृष्टार्थत्व नहीं स्वीकार करते है तब वेदान्त वाक्यों का कोई विषय ही सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि स्वप्रकाशचिन्मात्राखण्डवाक्यार्थ अविद्यादिरूपाध्यासाधिष्ठानत्वेन और अविद्यादिरूपाध्यास साक्षित्वेन नित्य सिद्ध है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्रकाशचिन्मात्र अखण्ड बोध स्वतः सिद्ध होने पर भी अनादि अविद्या से आवृत्त होने के कारण वह अनभिव्यक्त होता है। तादृश रूपेण नित्यसिद्ध नहीं माना जाता है। अविद्या की निवृत्ति प्रमाणवृत्ति (वेदान्त प्रमाण से जन्य अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति) से होती है। इसलिए प्रमाण वृत्ति को अविद्या की निवृत्ति रूप फल से उपहितत्व होने से प्रमाणवृत्ति के उत्पादन में वेदान्त वाक्यों की सार्थकता सिद्ध हो गयी। अतः कोई भी अनुपपत्ति नहीं है।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि किसी बाधक के विना सत्यादि वाक्यों का जो सत्यत्वादि वैशिष्ट्य रूप मुख्यार्थ है। उसका त्याग नहीं किया जा सकता है। यह भी एक प्रतिकूल तर्क है। जिससे सिद्धान्ती के द्वारा कथित हेतु पराहत है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ''एकधैवानुद्रष्टव्यम्'' इत्यादि एकरसत्व प्रतिपादक श्रुतियां बाधक हैं। तब पूर्वपक्षी कह रहा है कि एक रसत्वादि प्रतिपादक श्रुतियां अखण्डार्थ परक (स्वरूपमात्र बोधक) हैं। वह विशिष्टार्थ का बाधक नहीं हो सकती हैं, क्योंकि स्वरूपमात्र बोध विशिष्ट स्वरूप का विरोधी नहीं होता है, क्योंकि उसके गर्भ में वह विद्यमान है।

समाधान — सिद्धान्ती का कथन है कि इस शङ्का का समाधान खण्ड संख्या ३३ में ''द्वारतयोपस्थितस्यापि ऐक्यभेदाभावादेः विशिष्टार्थविरोधीतया मुख्यार्थत्यागसम्भवात्।'' से कहा जा चुका है।।३८।।

शङ्का — जो भी ज्ञान होता है वह सप्रकारक ही होता है— ऐसी भावना से पूर्वपक्षी कह रहा है कि वेदान्त वाक्य से जन्य ज्ञान को यदि सिद्धान्ती निष्प्रकारक मानेगें तब उसमें ज्ञानत्व ही सिद्ध नहीं हो पायेगा। अर्थात् उसको ज्ञान ही नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ज्ञान इच्छादि के समान जैसे सविषयक होता है ठीक वैसे ही नियमतः सप्रकारक भी होता है। अर्थात् ''यद् यज्ज्ञानं तत्तत् सप्रकारकम्।'' ऐसी व्याप्ति है। दूसरी बात यह भी है कि किसी भी प्रकार के विना वस्तु का बुद्धि में आरोह नहीं होता है। अतः ज्ञान को सप्रकारक ही मानना उचित है। इस लिए सिद्धान्ती के द्वारा वेदान्त वाक्य जन्य निष्प्रकारक अखण्डार्थ बोध जो माना जा रहा है। वह उचित नहीं है। यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने जो व्याप्ति बनायी— यद् यज्ज्ञानं तत्तत् सप्रकारकम्। यह व्याप्ति व्यभिचार दोष से ग्रस्त है, क्योंकि तार्किकादि विशिष्ट ज्ञान

तार्किकादिभिरपि निर्विकल्पकज्ञानाभ्युपगमात्। शब्दवाच्यत्वं तु किञ्चित्प्रकारमन्तरेण सम्भवति न वेति वादिनो विवदन्ते। तच्चास्माभिर्ब्रह्मणो नाभ्युपेयते। आकाशादिपदवत् किञ्चित्प्रयोगोपाधिमादाय तदपि सम्भवत्येव। न च शाब्दत्वेन सविकल्पत्वसाधनम्, स्वरूपोपलक्षणज्ञानाजन्यत्वस्य स्वरूपपरवाक्याजन्यज्ञानत्वस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

के प्रति विशेषण के ज्ञान को कारण मानते हैं। अत: घटत्वविशिष्ट घट ज्ञान के पूर्व में घटत्व का निर्विकल्पक ज्ञान मानते हैं। अत: तार्किकादि के द्वारा मान्य निष्प्रकारक ज्ञान में हेतु के होने पर भी साध्य नहीं है। अत: इस व्याप्ति के आधार पर सभी ज्ञान को सप्रकारक नहीं सिद्ध किया जा सकता है। पूर्वपक्षी ने वह जो कहा था कि किसी प्रकार के विना कोई वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता है। अर्थात् प्रकार के विना कोई वस्तु में शब्द वाच्यत्व सिद्ध नहीं हो पायेगा। इस पर सिद्धान्ती कह रहे है कि ''यत्र यत्र शब्दवाच्यत्वं तत्र तत्र सप्रकारकत्वम्।'' ऐसी व्याप्ति कुछ लोग मानते हैं और कुछ लोग नहीं मानते हैं। अत: इस विषय में विवाद होता है। ''यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते (केनोपनिषद्–१–४)'' यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।। (तै० उ० २–८–१) इत्यादि श्रुतियों से विरोध होने के कारण शब्द वाच्यत्व ब्रह्म में हम नहीं स्वीकार करते हैं अपितु शब्द लक्ष्यत्व मानते हैं। अत: उक्त व्याप्ति के अनुसार ब्रह्म में जब शब्द वाच्यत्व ही नहीं रहा तब सप्रकारकत्व तो रह ही नहीं सकता है। आकाशादि पद के जैसे किञ्चित् प्रयोग उपाधि– (जिस उपाधि को देखकर किसी वस्तु में आकाश पद का प्रयोग होता है उस उपाधि को प्रयोग उपाधि कहते हैं। ऐसी प्रयोग उपाधि) को लेकर ब्रह्म में शब्द वाच्यत्व भी सम्भव हैं। अर्थात् शब्दाश्रयत्व से उपलक्षित आकाश व्यक्ति आकाश पद का शक्य है ठीक वैसे ही त्रिकालाबाध्यत्वादि से उपलक्षित ब्रह्म व्यक्ति को सत्यादि पदों का शक्य हम भी मान लेंगे, इस प्रकार से लक्षणा के विना भी ब्रह्म का ज्ञान सत्यादि पदों से हो सकता है किन्तु इस विषय में हमारा कोई आग्रह नहीं है। यह भाव है पर इस विशेष विचार लघुचन्द्रिका में देखें। पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो अनुमान किया जाता है कि– सत्यादिवाक्यजन्यज्ञानं सविकल्पकम्, शाब्दत्वात्, पटादिज्ञानवत्। इस अनुमान का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के अनुमान में प्रथम उपाधि–स्वरूपोलक्षणज्ञानाजन्यत्व और द्वितीय उपाधि–स्वरूपपरवाक्याजन्यज्ञानत्व है। प्रथम उपाधि = स्वरूपोपलक्षणज्ञानाजन्यत्व में स्वरूप पद से धर्मिस्वरूप मात्र लेना चाहिए और उपलक्षण पद से सत्यत्वादि के वैशिष्ट्य का ग्रहण करना चाहिए। स्वरूप पद का उपलक्षण पद के साथ और उपलक्षण पद का ज्ञान पद के साथ षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस प्रकार प्रथम उपाधि का आकार हुआ–धर्मिस्वरूपमात्रनिष्ठसत्यत्वादि वैशिष्ट्यविषयकज्ञान से अजन्यत्व। दृष्टान्त में साध्य है और उपाधि भी है, क्योंकि धर्मिस्वरूपमात्रनिष्ठसत्यत्वादिवैशिष्ट्य विषयक ज्ञान = सत्यादि वाक्य जन्य शाब्द ज्ञान, उससे अजन्य = पटादिज्ञान। अत: उक्त अजन्यत्व पटादि ज्ञान में गया। इस प्रकार से साध्य व्यापकत्व उपाधि में गया। पक्ष में हेतु है किन्तु, उपाधि नहीं है, क्योंकि सत्यादि वाक्य जन्य ज्ञान रूप पक्ष में उक्त सत्यत्वादि वैशिष्ट्य विषयक ज्ञान जन्यत्व ही है न कि अजन्यत्व। अत: उपाधि में साधन का अव्यापकत्व भी मिल गया। इस प्रकार हेतु सोपाधिक हो जाने से स्वसाध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है। द्वितीय उपाधि के घटक स्वरूप पद का अर्थ है–धर्मिस्वरूपमात्र। अत: द्वितीय उपाधि का आकार होगा–धर्मिस्वरूपमात्रपरकवाक्य से अजन्य ज्ञानत्व। दृष्टान्त में साध्य है और उपाधि भी है क्योंकि धर्मिस्वरूप परक सत्यादि वाक्यों से जन्य ज्ञान निष्प्रकारक होता है और अजन्य ज्ञान सविकल्पात्मक होता है। पदादि ज्ञान सविकल्पात्मक है। अत: उक्त

चोपाधित्वात्, ज्ञानत्वस्येव शाब्दत्वस्यापि सविकल्पकत्वव्याप्यत्वग्रहे मानाभावाच्च। न च वेदान्तानामबुभुत्सितार्थत्वापत्तिः, धर्मिणः प्रागेव ज्ञानात् तत्र बुभुत्साविरहादिति वाच्यम्; स्वरूपस्य ज्ञातत्वेऽप्यसाधारणस्वरूपबुभुत्साया उपपादितत्वात्।।३९।।

नापि विचारविध्यनुपपत्तिः,विचारस्य वेदान्ततात्पर्यनिश्चयादिफलकतया निष्प्रत्यूहनिष्प्रकारक–ब्रह्मज्ञानार्थत्वोपपत्तेः, आपातदर्शनस्य प्रतिबद्धत्वेन अज्ञानानिवर्तकत्वात्। शुद्धब्रह्मविषयाणामप्यधिक–

सत्यानन्दप्रबोधिका

अजन्य ज्ञान = पटादि ज्ञान। इस लिए उक्त अजन्य ज्ञानत्व पटादि ज्ञान में गया। इस प्रकार से साध्य व्यापकत्व उपाधि में गया। पक्ष में हेतु है किन्तु उपाधि नहीं है, क्योंकि सत्यादि वाक्य से उत्पन्न जो शाब्द ज्ञान वह धर्मिस्वरूप परक सत्यादि वाक्यों से जन्य ही है अजन्य नहीं। अतः उक्त अजन्यत्व रूप उपाधि पक्ष में न होने से साधन का अव्यापकत्व उपाधि में गया। इस प्रकार हेतु सोपाधिक हो जाने से स्वसाध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है। दूसरी बात यह भी है कि हेतु व्यभिचार दोष से भी ग्रस्त है, क्योंकि जैसे ''यत्र यत्र ज्ञानत्वं तत्र तत्र सविकल्पकत्वम्'' ऐसी व्याप्ति का व्यभिचार निर्विकल्पक ज्ञान में देखा जाता है ठीक वैसे ही ''यत्र यत्र शाब्दत्वं तत्र तत्र सविकल्पकत्वम्'' इस व्याप्ति का व्यभिचार निर्विकल्पक शाब्दज्ञान में भी देखा जाता है। अतः उक्त हेतु में व्यभिचार दोष होने के कारण साध्यव्याव्यत्व नहीं माना जा सकता है।

शङ्का — पूर्वपक्षी ने खण्ड संख्या ३८ में कहा था कि–''अखण्डवाक्यार्थस्य ....नित्यसिद्धत्वात्'' उसी के अनुसार पुनः शङ्का करते हुए कहा रहा है कि अखण्ड ब्रह्म का ज्ञान सत्यादिवाक्य से जन्य ज्ञान से पहले से ही है। अतः अखण्ड ब्रह्म में बुभुत्सा (जिज्ञासा) का अभाव है। इसलिए सत्यादिवाक्यों को अखण्डार्थक मानने पर सत्यादि वाक्यों में अबुभुत्सितार्थत्व की आपत्ति होगी।

समाधान—पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ब्रह्म के सत् और चित् स्वरूप का ज्ञान होने पर भी आनन्दस्वरूप और जीवाभिन्नत्वादि का ज्ञान नहीं होता है। अतः उसमें बुभुत्सा और सत्यादि वाक्यों में बुभुत्सितार्थ प्रतिपादकत्व युक्तियुक्त है। इस पर विशेष विचार खण्ड संख्या १२–१३–१४ में किया जा चुका है।।३९।।

पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सिद्धान्ती सामान्य रूप से ब्रह्म का ज्ञान वेदान्त विचार से पूर्व से ही मानते हैं और सत्यत्वादि विशिष्ट ब्रह्म का ज्ञान वेदान्त विचार से होता है — ऐसा मानते नहीं हैं। अतः शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान पहले से ही होने के कारण ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध यासितव्यः'' (बृ०उ०४–५–६) इत्यादि वेदान्त विचार विषयक विधि की अनुपपत्ति होगी। इसका समाधान करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि वेदान्त विचार विधि की अनुपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि वेदान्त विचार का फल = वेदान्त तात्पर्य निश्चयादि। वेदान्त का तात्पर्य निष्प्रकारक ब्रह्म ज्ञान में है। अतः अप्रामाण्य शङ्का शून्य ब्रह्मज्ञान के लिए श्रवणादि कर्त्तव्यता रूप विचार विधि की उपपत्ति हो जाती है और ऐसे ब्रह्म ज्ञान से अज्ञान तथा अज्ञान प्रयुक्त प्रपञ्च की निवृत्ति होती है। (पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि वेदान्त विचार से पूर्व से ही ब्रह्म का ज्ञान रहता है। अतः पुनः ब्रह्म ज्ञान की उत्पत्ति के लिए विचार करना व्यर्थ है। इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि) विना विचार के होने वाला आपात ज्ञान असम्भावना विपरीत भावनादि अप्रामाण्य शङ्का रूप प्रतिबन्धकों से युक्त होने के कारण अज्ञान और अज्ञान प्रयुक्त प्रपञ्च का निवर्तक नहीं होता है। वेदान्त विचार से ही अप्रामाण्य शङ्कादि से शून्य ब्रह्म का ज्ञान होता है। अतः शुद्ध ब्रह्म

रणानामप्यारम्भो नानुपपन्नः; विषयादिपञ्चकसम्भवात्। व्यावृत्ताकारेणाज्ञातो हि विषयः, ब्रह्म च तथा भवत्येव। विषयस्वरूपनिर्धारणाधीनञ्च प्रयोजनं न निर्धारणे सप्रकारकत्वमपेक्षते। निष्प्रकारके वस्तुनि स्वरूपनिर्धारणत्वाव्याघातात्। अद्वैताद्युपलक्षिताखण्डार्थज्ञानञ्च निर्धारणम्। तदधीनं प्रयोजनं मुक्तिरेव। पूर्वपक्षसिद्धान्तौ च कल्पितप्रकारावलम्बिनौ। संशयोऽपि कल्पितसमानधर्मधीजन्मैवेति नानुपपत्तिः।।४०।।

अत एव प्रथमाध्यायतृतीयपादीयाधिकरणानामनारम्भ एव प्राप्तः; विषयादिपञ्चकाभावात्, विशिष्याज्ञातो हि विषयः; साधारणधर्मधीजन्यश्च संशयः; मिथ्यासत्यैकप्रकारावलम्बिनौ च पूर्वपक्षसिद्धान्तौ, एकप्रकारेण निर्धारणाधीनञ्च प्रयोजनम्, तच्च पञ्चकं निर्विशेषे कथं स्यादिति परास्तम्, उक्तरीत्योपपत्तेः। न च

सत्यानन्दप्रबोधिका

विषयक अधिकरणों का आरम्भ की अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि विषयादि पंचक सम्भव है। जैसे

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्। प्रयोजनं संगतिश्च शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्।।

अर्थात् (१) विषय (२) संशय (३) पूर्वपक्ष (४) उत्तरपक्ष (५) प्रयोजन (६) संगति— ये अधिकरण के अवयव माने जाते हैं। व्यावृत्ताकार (असाधारण) रूप से अज्ञात पदार्थ विषय होता है। ऐसा ब्रह्म है, क्योंकि उक्त अधिकरणों पर विचार से पूर्व साधारण रूप से ब्रह्म ज्ञात होने पर भी असाधारण रूप से ब्रह्म अज्ञात होता है। विषय स्वरूप निर्धारण के अधीन मोक्षरूप प्रयोजन सिद्ध होता है। प्रयोजन निर्धारण में वस्तु की सप्रकारकता अपेक्षित नहीं होती है, क्योंकि निष्प्रकारक (अखण्ड) ब्रह्म के स्वरूप निर्धारण में किसी प्रकार का व्याघात उपस्थित नहीं होता है। प्रकृत में अद्वैतादि से उपलक्षित अखण्डार्थज्ञान का निर्धारण है। ऐसा निर्धारणाधीन प्रयोजन ही मुक्ति कहा जाता है। पूर्वपक्ष तथा सिद्धान्त ये दोनों ब्रह्म में कल्पित प्रकारों को लेकर बन जाते हैं। इसी प्रकार संशय भी कल्पित समानधर्म विषयकधी से उत्पन्न हो जायेगा। अतः वेदान्त विषयक अखण्ड ब्रह्म को मानने पर भी अधिकरण की अनुपपत्ति नहीं होगी।। ४०।।

अत एव परास्तम्—ऐसा अन्वय करना चाहिए। पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि वेदान्त वाक्यों को अखण्डार्थक मानेंगे तब वेदान्त दर्शन के प्रथमाध्याय के तृतीय पादगत द्युभ्वादि के अधिकरणीभूत सविशेष ब्रह्म के विचार से विरोध होगा, क्योंकि विषयादि पञ्चक का अभाव होगा। जैसे विशेष रूप से अज्ञात विषय कहा जाता है। (पूर्वपक्षी का कहना है कि किसी न किसी धर्म (प्रकार) से विशिष्ट रूप से अज्ञात वस्तु ही विषय होता है। वेदान्त विचारादि से तादृशधर्म विशिष्टत्वेन वस्तु का निर्धारण होता है। ब्रह्म यदि निर्धर्मक है, तब तो वह किसी अधिकरण का विषय ही नहीं हो सकता है।) साधारण धर्म ज्ञान से जन्य संशय होता है। (जैसे ''स्थाणुर्वा पुरुषो वा'' यह संशय = आरोहावरोह (जो पुरुष और स्थाणु का साधारण धर्म है।) के ज्ञान से जन्य है। ब्रह्म में यदि कोई भी धर्म नहीं रहता है तब साधारण धर्म भी नहीं रहेगा और तब साधारण धर्म को लेकर संशय भी नहीं होगा।) वस्तु के मिथ्या और सत्य प्रकारों में से मिथ्या प्रकार का अवलम्बन करने वाला पूर्वपक्ष और सत्यप्रकार का अवलम्बन करने वाला सिद्धान्त पक्ष होता है। (अतः ब्रह्म में कोई भी प्रकार न मानने पर पूर्वपक्ष और सिद्धान्त पक्ष की भी उपपत्ति नहीं हो पायेगी, सत्य और मिथ्या प्रकारों में से एक प्रकार (सत्य प्रकार) के निर्धारण से प्रयोजन सिद्ध होता है। (इस प्रकार प्रयोजन की सिद्धि में भी प्रकार की आवश्यकता है।) अतः उक्त विषयादि पञ्चक वेदान्त वाक्यों को निष्प्रकारक मानने पर सिद्ध नहीं हो पायेगा। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन इस लिए निरस्त हो गया, क्योंकि खण्ड संख्या ४० से विषयादि की उपपत्ति कर दी गयी है।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि ''ब्रह्मविदाप्नोति परम्'' (तै०उ०२—१—१) यह वाक्य शुद्ध ब्रह्म का

'ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्' (तै. २। १। १) इति सामान्यतो ज्ञातत्वात् सत्यादिवाक्यवैयर्थ्यापत्तिः; असाधारणस्वरूपज्ञानार्थत्वेन साफल्यात्। न च सत्यत्वादिविशिष्टे तात्पर्याभावे तात्पर्यतो यत्किञ्चिद् ब्रह्म इत्येव बोधनात् यस्य कस्यापि ब्रह्मत्वं स्यात्; इदं ब्रह्मेति लक्ष्यलक्षणरूपोद्देश्यविधेयविभागाभावाच्चेति वाच्यम्; लक्षणस्वाभाव्याद्वस्तुगत्या तत्स्वरूपलाभस्य प्रागेवोक्तत्वात्, एकस्मिन्नपि कल्पितोद्देश्यविधेयसम्भवात्। अप्राप्तविधेयमात्रपरत्वाद्वाक्यस्य नाखण्डार्थत्वव्याघातः।।४१।।

ननु स्वरूपेण ज्ञातस्य विधेयस्योद्देश्यसंसृष्टतयैव बोधनीयत्वं वाच्यम्। तथाच सखण्डार्थतैव। उक्तं हि—'किञ्चिद्विधीयतेऽनूद्य वाक्येनेति सतां स्थितिः। सत्यज्ञानादिवाक्येन कथ्यतां किं विधीयते।।' इति, नैष

सत्यानन्दप्रबोधिका

बोधक है। इसके पश्चात् आया हुआ ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तै०२—१—१) यह वाक्य भी यदि शुद्ध ब्रह्म का बोधक सिद्धान्ती मानते हैं तब सिद्धान्ती के मत में सत्यादि वाक्य व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि ज्ञात का ज्ञापक होने से यह वाक्य स्वार्थ में प्रामाण्य खो बैठेगा, जब सत्यादि वाक्य के द्वारा विशिष्ट ब्रह्म का बोध माना जायेगा, तब पूर्व वाक्य से शुद्ध ब्रह्म का बोध और सत्यादि वाक्य से विशिष्ट ब्रह्म का बोध होने पर उक्त दोष नहीं होगा।

समाधान — उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ''ब्रह्मविदाप्नोति परम्'' (तै० २—१—१) इस वाक्य से सामान्यतः ब्रह्म का ज्ञान होने पर भी आसाधारण स्वरूप से अर्थात् आनन्दस्वरूप से जीवब्रह्माभिन्नत्व रूप से ब्रह्म का ज्ञान पहले से नहीं होता है। उसका ज्ञान कराने से सत्यादि वाक्य का साफल्य उपपन्न हो जाता है।

शङ्का — जो सत्यत्व ज्ञानत्व अनन्तत्व से विशिष्ट है, वही ब्रह्म है— इस अर्थ में सत्यादि वाक्य का तात्पर्य न मानने पर तात्पर्यतः यत् किञ्चित् ब्रह्म है — ऐसा बोधन मानने पर किसी भी पदार्थ को ब्रह्म मानने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि सत्यत्वादि धर्मरूप विशेषण ही ब्रह्म से भिन्न वस्तु का व्यावर्तक होता है। दूसरी बात यह है कि उद्देश्य और विधेय पृथक—पृथक होते हैं, न कि एक ही होता है। अतः ''यह ब्रह्म है'' इस प्रकार से लक्ष्य लक्षण रूप उद्देश्य और विधेय का विभागाभाव है, क्योंकि लक्ष्य भी निर्विशेष ब्रह्म है और लक्षण वाक्य के द्वारा भी निर्विशेष ब्रह्म कहा जा रहा है। अतः लक्ष्य और लक्षण के विभाग के लिये भी सत्यादि वाक्य से विशिष्ट ब्रह्म का ही बोध मानना चाहिये, अर्थात् सामान्यतः ब्रह्म को उद्देश्य कर के सत्यत्वादि से विशिष्ट ब्रह्म का विधान मानने पर उद्देश्य विधेय के विभाग की उपपत्ति हो पायेगी।

समाधान — उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तुगत्या लक्षण के स्वभाव से लक्षणस्वरूप का ही लाभ होता है। इसका निरूपण खण्ड संख्या—१७ के ''प्रकृतेऽपि प्रकृष्टप्रकाशपदाभ्यां .... न पूर्वोक्तदोषः।'' से किया जा चुका है। एक अखण्ड वस्तु में भी काल्पनिक उद्देश्य विधेयभाव सम्भव है— इसका निरूपण खण्ड सं०— १८ में किया जा चुका है। अतः लक्षण वाक्य का अप्राप्त विधेय मात्र परत्व = लक्ष्य का असाधारण स्वरूप (शुद्ध ब्रह्म) मात्र बोधकत्व होने से अखण्डार्थत्व की हानि नहीं है।।४१।।

शङ्का— स्वरूप से ज्ञात जो विधेय है, उस विधेय का स्वरूपेण ज्ञापन करना व्यर्थ होगा। अतः उस विधेय का उद्देश्य से सम्बन्धित्वेन बोधन करना होगा। जब सम्बन्धित्वेन बोधन होगा तब अवश्य ही सखण्डार्थता लक्षण वाक्य में प्रसक्त होगी। जैसा कि कहा गया है कि — उत्तर वाक्य के द्वारा किसी ज्ञात पदार्थ (उद्देश्य) का अनुवाद कर के किसी अज्ञात पदार्थ का विधान किया जाता है — विद्वानों की ऐसी मर्यादा है। अतः सिद्धान्ती को बतलाना चाहिये कि सत्यादि वाक्य के द्वारा किस उद्देश्य का अनुवाद कर के किस विधेय का विधान किया जा रहा है। अर्थात् जब भी सिद्धान्ती उद्देश्य सम्बन्धित्वेन विधेय को

दोषः; असाधारणस्वरूपस्य प्रमेयतया विधेयत्वात् सत्यत्वादिद्वारकस्वरूपज्ञानेना– साधारणज्ञानपर्यवसानात्; द्वारफलाभ्यामप्राप्तप्रापणसम्भवात्। तथा चोद्देश्यता च विधयेता च स्वरूपमात्रपर्यवसन्नैव।।४२।।

ननु एवं सत्यादिपदानां लक्षणा न स्यात्,अशक्यासदृशान्वयप्रतियोग्युपस्थितिरूपायास्तस्या असम्भवात्तद्बीजस्यान्वयानुपपत्तेश्चात्राभावादिति–चेन्न, वृत्त्या हि पदार्थोपस्थितिः, नतु सैव वृत्तिः, अतो नोक्तरूपा लक्षणा, किन्तु शक्यसम्बन्धः। स च प्रकृतेप्यस्त्येव। उपस्थितिरूपत्वेऽपि लक्षणायास्तात्पर्य–

सत्यानन्दप्रबोधिका

कहेंगे तभी सखण्डार्थता की प्रसक्ति होगी।

समाधान – उक्त दोष नहीं है, क्योंकि सामान्यतः ज्ञात का अनुवाद कर के लक्ष्य का असाधारण स्वरूप (शुद्ध ब्रह्म) जो अज्ञान का नाशक होता है, वही विधेय होता है। {अर्थात् प्रमा ज्ञान वही है, जो ज्ञान अज्ञान का नाशक होता है, जो ब्रह्म सामान्य रूप से ज्ञात है, उस ब्रह्म के असाधारण स्वरूप का बोध लक्षण वाक्य से होने से अज्ञान का नाश होता है। अतः तादृश बोध को प्रमा कहा जायेगा और इस बोध के विषय के रूप से (प्रमेय के रूप से) ब्रह्म के असाधारण स्वरूप का विधान लक्षण वाक्य से होता है} सत्यत्वादि धर्म ब्रह्म में है – इस प्रकार से द्वार भूत अर्थ का बोधन कराता हुआ ब्रह्म के असाधारण स्वरूप का बोध करा के लक्षण वाक्य का असाधारण ज्ञापन में पर्यवसान हो जाता है। इस प्रकार लक्षण वाक्य के द्वारभूत अर्थ और फलीभूत अर्थ के द्वारा अप्राप्त के प्राप्ति अर्थात् अज्ञात का ज्ञापन सम्भव हो जाता है। उद्देश्यता तो शुद्ध ब्रह्म के स्वरूप मात्र के बोधन में है और विधेयता भी द्वार के माध्यम से शुद्ध ब्रह्म का ही बोधन करा रही है। अतः उद्देश्यता और विधेयता दोनों ही शुद्ध ब्रह्म के बोधन में ही पर्यवसित हैं।।४२।।

शङ्का – एवम् = लक्षण वाक्य का पर्यवसान केवल स्वरूप मात्र में मानने पर, सिद्धान्ती सत्यादि पदों में लक्षणा कर के जो स्वरूप मात्र अर्थ लेना चाह रहे हैं, वह नहीं हो पायेगा, क्योंकि जो लक्ष्यार्थ शक्य भी नहीं है, सदृश भी नहीं है और जिस लक्ष्यार्थ का अन्य पदार्थ के साथ अन्वय (सम्बन्ध) होता है, इस सम्बन्ध का अनुयोगी = लक्ष्यार्थ से भिन्न पदार्थ होता है और उस सम्बन्ध का प्रतियोगी लक्ष्यार्थ होता है। ऐसे लक्ष्यार्थ की उपस्थिति को लक्षणा कहते हैं। {जैसे ''गङ्गायां घोषः'' इस स्थल पर गङ्गा पद का लक्ष्यार्थ – जो तट है, वह तट शक्य भी नहीं है और गङ्गा प्रवाह के सदृश भी नहीं है और तट रूप लक्ष्यार्थ का अन्वय अन्य पदार्थ (घोष) के साथ होता है। अतः उक्त अन्वय का अनुयोगी घोष और प्रतियोगी तट होता है। इस प्रकार लक्ष्यार्थ (तट) अशक्य असदृश और अन्वय का प्रतियोगी हो गया। शक्तिवृत्ति के द्वारा शक्यार्थ और गौणीवृत्ति के द्वारा सदृश अर्थ की उपस्थिति होती है। इसलिये यहां शक्ति वृत्ति से जायमान अन्वय प्रतियोगी की उपस्थिति में लक्षणात्व वारण के लिये अशक्य कहा गया है और गौणी वृत्ति से जायमान अन्वय प्रतियोगी की उपस्थिति में लक्षणात्व वारण के लिये असदृश कहा गया है।} प्रकृत में ऐसी लक्षणा असम्भव है, क्योंकि ब्रह्म अशक्य और असदृश तो हो सकता है, किन्तु लक्षण वाक्य के द्वारा पदार्थान्तर के साथ ब्रह्म के अन्वय की उपस्थिति न होने के कारण अन्वय प्रतियोगी की उपस्थिति नहीं होने से लक्षणा का लक्षण नहीं जा रहा है। लक्षणा का बीज जो अन्वयानुपपत्ति है, उसका भी यहां पर अभाव है, क्योंकि यहां केवल ब्रह्म ही पदार्थ है। अतः पदार्थान्तर के अन्वय की अनुपपत्ति रूप लक्षणा भी नहीं कही जा सकती है।

समाधान – उक्त दोष नहीं है, क्योंकि जैसे शक्ति वृत्ति से जो शक्यार्थ अर्थात् पदार्थ की उपस्थिति होती है, वह पदार्थ की उपस्थिति शक्ति वृत्ति से पृथक् होती है। इसी प्रकार गौणीवृत्ति से जो सदृश अर्थ

विषयानुकूलोपस्थितिरेव सा, नोक्तोपस्थितिरूपा; अतात्पर्यविषयतादृगुपस्थितौ गतत्वात्। नापि बीजानुपपत्तिः; तात्पर्यानुपपत्तेरेव बीजत्वात्।।४३।।

नापि सत्यादिपदानां पर्यायतापत्तिः; वाच्यार्थभेदात्। सत्यत्वं ह्यस्मन्मते त्रिकालाबाध्यत्वम्, परमते कुम्भादिसाधारणी परजातिः सत्यपदप्रवृत्तिनिमित्तम्। ज्ञानपदानन्दपदयोरप्यस्मन्मतेऽन्तःकरणवृत्त्युपधानलब्ध भेदचिदानन्दविशेषानुगते ज्ञानत्वानन्दत्वे, परमते तु स्वभावलब्धभेदज्ञानानन्दनिष्ठे अपरजाती प्रवृत्तिनिमित्ते, तथा च लक्ष्यार्थाभेदेऽपि न पर्यायताशङ्का।

सत्यानन्दप्रबोधिका

की उपस्थिति होती है। वह गौणीवृत्ति से पृथक् होती है, ठीक इसी प्रकार जो लक्षणावृत्ति से पदार्थ की उपस्थिति होती है वह लक्षणावृत्ति से पृथक् होती है। अतः पूर्वपक्षी ने जो अशक्य असादृश्य और अन्वय के प्रतियोगी की उपस्थिति को लक्षणा कहा था, उसका खण्डन हो गया, क्योंकि उक्त उपस्थिति और लक्षणा भिन्न –भिन्न हैं। अतः शक्य सम्बन्ध ही लक्षणा है, वह प्रकृति में भी सम्भव है, क्योंकि सत्य पद का शक्यार्थ सत्यत्व धर्म। उसका लक्ष्यार्थ ब्रह्म के साथ कल्पित धर्मधर्मिभाव सम्बन्ध है। सिद्धान्ती का कथन है कि यदि उपस्थिति को लक्षणा माना भी जाय तो भी पूर्वपक्षी के द्वारा कथित उक्त उपस्थिति को लक्षणा नहीं माना जा सकता है, किन्तु तात्पर्य विषय के अनुकूल उपस्थिति को ही लक्षणा कहा जा सकता है। तात्पर्य विषय = ब्रह्म के अनुकूल उपस्थिति = ब्रह्म की उपस्थिति होने से लक्षणा हो जायेगी। पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त उपस्थिति को लक्षणा मानने पर अतिव्याप्ति होगी। जैसे ''गङ्गायां घोषः'' में तात्पर्य का अविषय जो पर्वतादि है। वह भी अशक्य असादृश्य तथा अन्वय के प्रतियोगी हैं। लक्षणा के बीज की भी अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज नहीं माना जाता है, अपितु तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज माना जाता है। वह प्रकृत में भी है।।४३।।

पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सत्य, ज्ञान और आनन्द पदों के द्वारा एक ही शुद्ध ब्रह्म जब कहा जा रहा है, तब सत्यादि पदों में पर्यायिता माननी पड़ेगी। पर्यायिता मानने पर एक ही पद का प्रयोग होगा, शेष पद व्यर्थ हो जायेगा। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सत्य ज्ञान और आनन्द पद का वाच्यार्थ सिद्धान्त मत में और पूर्वपक्षों के मत में भी भिन्न–भिन्न है। अतः पर्यायिता की आपत्ति नहीं होगी। जैसे सिद्धान्त मत में सत्यत्व त्रिकालाबाध्यत्व रूप है। पूर्वपक्षी के मत में सत्य पद का प्रवृत्ति निमित्त (शक्यतावच्छेदक) पटादि साधारणी पर (व्यापक) जाति सत्ता रूप है। इसी प्रकार सिद्धान्त मत में इन्द्रिय सन्निकर्ष से जन्य, जो अन्तःकरण की वृत्ति, उसके द्वारा उपहित जो चैतन्य, उसको ज्ञान कहते हैं। चन्दनादि विषय के साथ त्वग्–इन्द्रिय के सन्निकर्ष से जन्य, जो अन्तःकरण की वृत्ति, उस वृत्ति के द्वारा उपहित जो चैतन्य उसको, आनन्द कहते हैं। उक्त चित् में रहने वाली जाति विशेष को ज्ञानत्व आनन्दत्व कहते हैं। अर्थात् भिन्न–भिन्न अन्तःकरण की वृत्ति एक ही आत्मा की उपाधि बन जाने से एक ही आत्मा, ज्ञान और आनन्द पदों के द्वारा कहा जा सकता है। इस प्रकार सिद्धान्त मत में ज्ञान और आनन्द पदों में औपाधिक भेद है और पूर्वपक्षी के मद में स्वाभाविक भेद है, क्योंकि पूर्वपक्षी के मत में ज्ञानत्व और आनन्दत्व अपरा जाति = सत्ता की व्याप्य जाति है, क्योंकि सत्ता परा जाति है और ज्ञानत्व तथा आनन्दत्व अपरा जाति है। इस प्रकार के ज्ञानत्व और आनन्दत्व ज्ञानादि के प्रवृत्ति निमित्त (शक्यतावच्छेदक) माने जाते हैं। अतः सत्य ज्ञान और आनन्द पदों का लक्ष्यार्थ एक होने पर भी वाच्यार्थ भिन्न–भिन्न होने के कारण पर्यायिता की आपत्ति नहीं है।

ननु कुम्भाद्यनुगतसत्ताया ब्रह्मलक्षणत्वायोगः; मिथ्यासत्यानुगतसामान्याभावात्, तथाचानृताद्व्यावृत्त्यसिद्धिः त्रिकालाबाध्यत्वं ब्रह्मणि श्रौतमिति त्वन्मतहानापत्तिश्चेति—चेन्न; ब्रह्मणः सर्वाधिष्ठानतया तद्रूपसत्तायाः सर्वानस्यूतत्वेन जातित्वव्यपदेशात्, कल्पितधर्मत्वमादाय ब्रह्मव्यक्तिकत्वाच्च। तच्च सत्त्वं त्रिकालाबाध्यत्वमेवेति न तस्य श्रौतत्वहानिः, तस्यानृतं प्रति अधिष्ठानत्वेऽपि अनृताश्रितत्वाभावेन तद्व्यावर्त्तकत्वसम्भवात्। आनन्दत्वादिकल्पितजातिसाहित्येन लक्षणोक्तिः पररीत्या।।४४।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का — कल्पतरुकार ने कहा है —

सत्तादीनां तु जातीनां व्यक्तितादात्म्यकारणात्। लक्ष्यव्यक्तिरपि ब्रह्म सत्तादि न जहाति नः।।

{सत्तादि जातियों का स्वाश्रयव्यक्तियों के साथ तादात्म्य होने के कारण लक्ष्य व्यक्ति रूप हुआ भी ब्रह्म हमारे (सिद्धान्ती के) मत में सत्तादि का परित्याग नहीं करता है। अर्थात् उसमें सत्ता जाति रहती है।}

इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि घटादि में अनुगत जो सत्ता जाति है, उसको ब्रह्म का लक्षण नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि मिथ्या पदार्थ घटादि में और त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्यपदार्थ ब्रह्म में एक ही सत्ता जाति सम्भव नहीं है। यदि उक्त दोनों में एक ही सत्ता जाति स्वीकार करेंगे, तब ब्रह्म के लक्षण की घटादि में अतिव्याप्ति हो जायेगी और घटादि रूप मिथ्या पदार्थों से सत्य ब्रह्म की व्यावृत्ति नहीं हो पायेगी अर्थात् ब्रह्म मिथ्या नहीं है, यह सिद्ध नहीं हो पायेगा। दूसरी बात यह भी है कि सिद्धान्ती का यह जो मत है कि श्रुति के द्वारा त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्त्व का ब्रह्म में प्रतिपादन होता है— इसकी हानि हो जायेगी, क्योंकि घटादि साधारण सत्त्व को ब्रह्म में मान रहे हैं। मूलस्थ ''तथाचानृताद्व्यावृत्यसिद्धिः'' के स्थान पर ''तथा चानृताद् व्यावृत्त्यसिद्धेः'' ऐसा पाठान्तर है। ''त्वन्मतहानापपत्तिश्चेति'' के स्थान पर ''त्वन्मतहानापत्तेश्च'' ऐसा पाठान्तर है।

समाधान — उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि घट पटादि सभी मिथ्या पदार्थों का अधिष्ठान ब्रह्म है और यह नियम है कि अधिष्ठान में अध्यस्त सभी पदार्थों में अधिष्ठान की अनुवृत्ति होती है। अतः ब्रह्म रूप सत्ता की अनुवृत्ति ''घटः सन्—पटः सन्'' इत्यादि रूप से घटादि मिथ्या पदार्थों में होती है। इसी ब्रह्म रूप सत्ता में जाति शब्द का प्रयोग गौण रूप से कल्पतरुकार ने कर दिया है। वास्तव में वह जाति नहीं है, अपितु ब्रह्म स्वरूप ही है। उक्त सत्ता ब्रह्म स्वरूप होने पर भी ब्रह्म का धर्म है— ऐसी कल्पना लोग करते हैं। उन लोगों की कल्पना के अनुसार उक्त सत्ता को ब्रह्म का धर्म कह दिया जाता है और उक्त सत्ता का आश्रय ब्रह्म व्यक्ति हो जाता है। वह ब्रह्मरूप सत्त्व त्रिकालाबाध्यत्वरूप ही है। अर्थात् त्रिकालाबाध्यत्व का अर्थ है— त्रिकालबाधविषयत्वाभाव। अभाव अधिकरण स्वरूप होने के कारण उक्त त्रिकालबाधविषयत्वाभावरूप सत्त्व ब्रह्म स्वरूप ही है। अतः त्रिकालाबाध्यत्वोपलक्षितसत्त्वस्वरूप के श्रौतत्व की हानि नहीं होगी। उक्त ब्रह्मरूप सत्ता मिथ्याघटादि का अधिष्ठान होने पर भी मिथ्या घटादि के आश्रित नहीं रहती है। अतः घटादि मिथ्या पदार्थों से उसका व्यावर्तकत्व भी उपपन्न हो जाता है। आनन्दत्वादि रूप जो कल्पित जातियां हैं, उन्हीं के साहित्य से सत्यत्व में जो लक्षण की उक्ति है, वह पूर्वपक्षी की रीति से है। अर्थात् पूर्वपक्षी का यह जो कथन होता है कि सिद्धान्ती के मतानुसार सत्य पद के द्वारा ही ब्रह्म का लक्षण पूर्ण हो जाता है, तब आनन्दादि पद व्यर्थ हो जायेंगे। इसका समाधान यह है कि सिद्धान्त मत में सत्य और आनन्द तथा ज्ञान एक होने पर भी पूर्वपक्षी के मत में भिन्न—भिन्न हैं। अतः तुम जिसको सत्य पद से कहते हो और जिसको ज्ञान तथा आनन्द पद से कहते हो, वही हमारे मत में ब्रह्म है। इसको स्पष्ट करने के लिये उक्त प्रकार से लक्षण किया गया है।।४४।।

न च धर्मिसमानसत्ताकभेदं विनैवौपाधिकभेदमात्रेणाकाशत्वादेरिव ज्ञानत्वादेरपि जातित्वायोग इति वाच्यम्। ज्ञानत्वादीनां धर्मिसमसत्ताकभेदवदुपहितवृत्तित्वात्। तर्हि शुद्धस्य कथं ज्ञानत्वादि लक्षणम्? नहि गन्धो जलस्य लक्षणमिति चेन्न; उपहितवृत्तित्वेऽपि उपधेयवृत्तित्वानपायात्। तदुक्तं—'सत्यत्वादिविशिष्टशबलब्रह्मवाचिनां सत्यादिपदानां शुद्धे ब्रह्मणि लक्षणा' इति। न च—अनृतस्वरूपे शबले सत्यत्वायोगः, योगे वा ततो नानृतव्यावृत्तिरिति वाच्यम्; शबले हि सत्यता एषैव यत् परमार्थसंसर्गेण प्रतीयमाने तस्मिन् सत्यशब्दसङ्गतिग्रहः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि आकाशत्व रूप धर्म का धर्मी घटाकाश मठाकाश में वास्तविक भेद नहीं है, अपितु केवल औपाधिक भेद है। इस औपाधिक भेद को लेकर के आकाशत्व को जाति नहीं माना जाता है, क्योंकि वस्तुत: आकाश एक व्यक्ति है। एक व्यक्ति में जाति नहीं मानी जाती है, क्योंकि जातित्व के परिगणित छ: बाधकों में एक व्यक्ति वृत्तित्व भी है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म एक व्यक्ति है। उसमें औपाधिक भेद मानकर ज्ञानत्व सत्यत्व को जाति नहीं माना जा सकता है। यदि एक व्यक्ति में भी औपाधिक भेद मानकर जाति मानेंगे तब तो जाति बाधक जो एक व्यक्ति वृत्तित्व है, वह निरवकाश हो जायेगा। अत: धर्मिसमानसत्ताकभेद को जातित्व का प्रयोजक मानना चाहिये। जैसे घटत्व धर्म का धर्मी = घट व्यक्ति। उस घट व्यक्ति के समान सत्ताक भेद दूसरे घट व्यक्ति में है। अत: घटत्व को जाति माना जाता है। आकाशत्व धर्म का धर्मी = आकाश व्यक्ति। आकाश व्यक्ति के समान सत्ताक भेद दूसरे आकाश व्यक्ति में नहीं है। अत: आकाशत्व को जाति नहीं माना जाता है। इसी प्रकार सत्यत्व धर्म का धर्मी = ब्रह्म व्यक्ति। ब्रह्म व्यक्ति के समान सत्ताक भेद दूसरे ब्रह्म व्यक्ति में नहीं है। अत: सत्यत्वादि को जाति नहीं माना जा सकता है। यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान — उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि घट विशिष्ट चैतन्य = घट ज्ञान, पट विशिष्ट चैतन्य = पटज्ञान। ये विशिष्ट चैतन्य स्वयं भी कल्पित है और उनमें रहने वाला भेद भी कल्पित है। अत: घट ज्ञानादि = धर्मिसमानसत्ताकभेद वाले हैं। अत: घटज्ञानादि में ज्ञानत्वादि जाति मानने में कोई आपत्ति नहीं है। शुद्ध चैतन्य में ज्ञानत्वादि माना नहीं जाता है। अत: शुद्ध चैतन्य में धर्मिसमानसत्ताकभेद न मिलना हमारे लिये इष्ट ही है।

शङ्का — तर्हि = यदि शुद्ध ब्रह्म में ज्ञानत्वादि नहीं है, किन्तु विशिष्ट ब्रह्म में ज्ञानत्वादि है, तब तो ज्ञानत्वादि विशिष्ट ब्रह्म के ही लक्षण कहे जायेंगे, न कि शुद्ध ब्रह्म के लक्षण कहे जायेंगे। जैसे पृथ्वी में रहने वाला असाधारण गुण जो गन्ध है। वह पृथ्वी का ही लक्षण बनता है। वह जल का लक्षण कभी भी नहीं बनता है। अत: विशिष्ट चैतन्य में रहने वाले ज्ञानत्वादि शुद्ध चैतन्य के लक्षण नहीं कहे जा सकते हैं।

समाधान — उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि उपहित (विशिष्ट) में जो धर्म रहता है, वह उपधेय (शुद्ध विशेष्य) में भी रहता है। अत: उपहित ब्रह्म में ज्ञानत्व रहने पर ब्रह्म में भी ज्ञानत्वादि रहेगा। अत: उपधेय ब्रह्म में भी ज्ञानत्वादि रूप लक्षण चला जायेगा। शुद्धरूपेण ब्रह्म में ज्ञानत्वादि धर्म नहीं रहता है— इस पक्ष में कोई दोष भी नहीं आयेगा। जैसा कि कहा गया है कि सत्यत्वादि विशिष्ट जो शबल (सोपाधिक) ब्रह्म उसका वाचक है सत्यादि पद। अर्थात् सत्यादि पद का वाच्यार्थ विशिष्ट ब्रह्म है न कि शुद्ध ब्रह्म। किन्तु वह सत्यादि पद लक्षणा के द्वारा शुद्ध ब्रह्म का बोधन कराता है।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि सत्यादि पदों के द्वारा जो शबल ब्रह्म का बोधन हो रहा है। उस शबल ब्रह्म को सिद्धान्ती मिथ्या मानते हैं। अत: मिथ्यारूप शबल ब्रह्म में त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्यत्व नहीं रह सकता

तदुक्तं संक्षेपशारीरके–'

आकाशादौ सत्यता तावदेका प्रत्यङ्मात्रे सत्यताकाचिदन्या।
तत्सम्पर्कात् सत्यता तत्र चान्या व्युत्पन्नोऽयं सत्यशब्दस्तु तत्र।। (सं.अ. १।१७८) इति।
एवमानन्दादिपदेष्वपि द्रष्टव्यम्। तथाच कथं तेषां नानृतादिव्यावर्तकत्वम्?।।४५।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। यदि मिथ्या रूप शबल ब्रह्म में त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्यत्व रहता है, तब तो उस सत्यत्व से मिथ्या की व्यावृत्ति नहीं हो पायेगी। जबकि ''व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्'' इस नियम के अनुसार सत्यादि पदों के द्वारा ब्रह्म का लक्षण किया जाता है और उससे मिथ्याभूत घटादि पदार्थो की व्यावृत्ति भी की जाती है।

समाधान – पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि शबल ब्रह्म में सत्यता यही है कि परमार्थ (शुद्ध ब्रह्म) का तादात्म्यसम्बन्ध शबल ब्रह्म में है। अत: शबल ब्रह्म में सत्य शब्द का शक्ति ग्रह हो जाता है। अर्थात् शबल को यद्यपि हम सत्य नहीं मानते हैं, फिर भी सत्य पद में जो शबल को बोध कराने की शक्ति मानी जाती है। उसका कारण यह है कि शबल जो हैं, उसका भान पारमार्थिक ब्रह्म से तादात्म्येन होता है। अत: उसमें सत्य शब्द की प्रवृत्ति बन जाती है। जैसा कि संक्षेप शारीरककार ने कहा है – ''आकाशादि में स्वकालाबाध्यत्व रूप एक सत्यता है और शुद्धात्मा में त्रिकालाबाध्यत्वरूप अन्य सत्यता है। उक्त उभयविध सत्यता वाले आकाशादि और शुद्धात्मा के परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध से निष्पन्न होने वाले विशिष्ट पदार्थ में आकाशादि और आत्मा में रहने वाली सत्यता से भिन्न एक समुदाय रूप सत्यता है। ऐसे विशिष्ट पदार्थ में सत्य शब्द की शक्यार्थता मानी जाती है।'' इसी प्रकार आनन्दादि पदों का भी शक्ति ग्रह प्रकार उपपन्न हो जायेगा। जैसे सुख अभिव्यञ्जक बुद्धिवृत्ति में अर्थात् आत्मा सुखरूप है, उसकी अभिव्यक्ति अनुकूलवस्तु के मिलने पर होती है। इस सुख के अभिव्यञ्जक उस बुद्धिवृत्ति में स्वकालाबाध्यत्व रूप एक आनन्दता है और परमप्रेमास्पदता होने के कारण शुद्ध ब्रह्म में त्रिकालाबाध्यत्व रूप अन्य आनन्दता है। उक्त उभयविध आनन्दवाले बुद्धिवृत्ति और शुद्ध ब्रह्म के परस्परतादात्म्य सम्बन्ध से निष्पन्न होने वाले विशिष्ट पदार्थ में एक समुदाय रूप आनन्दत्व भिन्न ही है। इस विशिष्ट पदार्थ में आनन्द शब्द की शक्यार्थता मानी जाती है। इसको भी संक्षेपशारीरककार ने कहा है–

बुद्धेर्वृत्तौ तावदानन्दतैका प्रत्यङ्मात्रे काचिदानन्दताऽन्या।
तत्सम्पर्कात्तत्र चानन्दताऽन्या व्युत्पन्नोऽयं तत्र चानन्दशब्द:।। (सं०शा० १–१८०)

इसी प्रकार मूलस्थ आनन्दादि के आदि पद से ज्ञान का ग्रहण कर लेना चाहिए। इसको संक्षेपशरीरककार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–

बुद्धेर्वृत्तौ ज्ञानता तावदेका प्रत्यग्बोधे ज्ञानता काचिदन्या।
तत्सम्पर्काज्ज्ञानता तत्र चान्या व्युत्पन्नोऽयं ज्ञानशब्दस्तु तत्र।। (सं०शा०१–१७९)

{अर्थात्–बुद्धि की वृत्ति में स्वकालाबाध्यत्वरूप एक ज्ञानता है। अर्थात् घटाकार बुद्धिवृत्ति में चैतन्य अभिव्यक्त होता है। इसलिए बुद्धि वृत्ति को भी ज्ञान कहते हैं। अन्तरात्मा में पारमार्थिक ज्ञान रूपता है। उन दोनों के तादात्म्याध्यास से निष्पन्न विशिष्ट अर्थ में समुदायरूप ज्ञानता अन्य ही है। उसी विशिष्ट अर्थ में ज्ञान शब्द की शक्ति है।} पूर्वोक्त प्रकार से सत्य–ज्ञान–आनन्द पद लक्षणा वृत्ति के द्वारा पारमार्थिक सत्य शुद्ध ब्रह्म का बोधन कराते हैं, अनृतादि का नहीं। अनृतादि में पारमार्थिक सत्यता न रहने के कारण सत्यादि पद अनृतादि के व्यावर्तक अवश्य हो जायेंगे।।४५।।

एतेन शुद्धादन्यत्र सत्यत्वाद्यसम्भवात् सत्यादिवाक्यस्य लक्षणया अखण्डार्थत्वे शुद्धे सत्यत्वादेरभानात् पर्यायत्वं दुर्वारमिति परास्तम्। स्वरूपमात्रपरत्वेऽपि न पदान्तरवैयर्थ्यम्, व्यावृत्तिभेदबोधनेन साफल्यादिति चोक्तमेव। न च व्यावर्तकस्य सत्यत्वादेस्तात्पर्यतोऽसमर्पणे व्यावृत्त्यसिद्धिरिति वाच्यम्; 'गम्भीरायां नद्यां घोषःप्रतिवसति' इत्यत्र यथा तीरे तात्पर्येऽपि नद्यामगम्भीरव्यावृत्तिरभिधाबलाल्लभ्यते; तात्पर्यविषयागम्भीर–नदीतीरव्यावृत्ततीरबुद्धावुपायत्वात्, तथात्राप्यभिधाबलात् सत्यत्वादिविशिष्टे तात्पर्याभावेऽपि आपाततस्तत्प्रतीतिमात्रेणैव व्यावृत्तिसिद्धिः, तात्पर्यविषयानृतादिव्यावृत्तस्वरूपबुद्धावुपायत्वस्य तुल्यत्वात्। न

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती सत्यत्व–ज्ञानत्व–आनन्दत्वादि को शुद्ध ब्रह्म से भिन्न पदार्थ में मानते नहीं हैं और शुद्ध ब्रह्म निर्धर्मक होने से उसमें सत्यत्वादि धर्म नहीं रहता है–यह भी मानते हैं। सत्य–ज्ञान–आनन्द पद लक्षणा वृत्ति से एक ही शुद्ध ब्रह्म का बोध कराते हैं–यह भी मानते हैं। किन्तु जब सत्यादि पदों के द्वारा एक शुद्ध ब्रह्म का बोध होगा तब सत्यादि पदों को अवश्य ही पर्यायवाची मानना पडेगा। जहां पर्यायवाची अनेक पद होते है वहां एक ही पद का प्रयोग सार्थक माना जाता है। शेष पदान्तर का प्रयोग व्यर्थ होता है। यह पूर्वपक्षी का भाव है। (मूलस्थ ''सत्यत्वादेरभानात्'' के स्थान पर ''सत्यत्वादिरभावात्'' ऐसा पाठान्तर है।)

समाधान— एतेन परास्तम्— ऐसा अन्वय है। एतेन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सत्यादि पद लक्षणा के द्वारा स्वरूप मात्र का बोधक होने पर भी पदान्तर का वैयर्थ्य नहीं है। अर्थात् सत्य पद से ही ब्रह्म का बोधन हो जायेगा, उस सत्य पद से भिन्न ज्ञान और आनन्द पद व्यर्थ होगें–ऐसा नहीं है किन्तु सत्य पद ब्रह्म असत्य नहीं है–ऐसा बोध करायेगा और आनन्द पद ब्रह्म निरानन्द नहीं है–ऐसा बोध करायेगा तथा ज्ञान पद ब्रह्म अज्ञान नहीं है–ऐसा बोध करायेगा। यह सभी अर्थ द्वार के रूप में होगा और पर्यवसित अर्थ शुद्ध ब्रह्म होगा। इस प्रकार सभी पदों की व्यावृत्ति भिन्न–भिन्न है। अतः सभी पद सार्थक है। ''यद्यपि सर्वेषां.............न पदान्तरवैयर्थ्यम्'' इत्यादि वाक्य के द्वारा इसको खण्ड संख्या ३ में कहा जा चुका है।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती सत्यादि पदों का तात्पर्य शुद्ध ब्रह्म में मान रहे हैं न कि सत्यत्वादि विशिष्ट में। अतः सत्यादि पद जब तात्पर्यतः सत्यत्वादि विशिष्ट के बोधक ही नहीं हैं तब असत्यत्वादि के व्यावर्त्तक ही नहीं हो सकते हैं। अर्थात् सत्यादि पदों के द्वारा सत्यत्वादि विशिष्ट = व्यावर्त्तक का बोध हो तब उस व्यावर्त्तक से व्यावर्त्य = असत्यत्वादि की व्यावृत्ति हो पायेगी। किन्तु ऐसा नहीं है। अतः सत्यादि पदों के द्वारा असत्यत्वादि की व्यावृत्ति की सिद्धि नहीं हो सकती है।

समाधान — उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि ''गम्भीरायां नद्यां घोषः प्रतिवसति'' इस स्थल पर गम्भीर पद का गम्भीरत्व में तात्पर्य नहीं है किन्तु केवल तीर में तात्पर्य है। फिर भी गम्भीर पद शक्तिवृत्ति से गम्भीरत्व विशिष्ट का बोध करा ही देता है और उसी से ही अगम्भीरत्व के व्यावृत्ति की सिद्धि हो जाती है, क्योंकि गम्भीर नदी पद के तात्पर्य का विषय = अगम्भीर नदी से संयुक्त तीर से भिन्न (गम्भीर नदी से संयुक्त) तीर है। ऐसी तीर की जो बुद्धि उसके प्रति गम्भीरत्व विशिष्ट बुद्धि उपाय है। अतः पहले जो तात्पर्य का विषय नहीं है ऐसा जो गम्भीरत्व विशिष्ट, उसका पहले गम्भीर पद शक्ति वृत्ति के द्वारा बोध कराकर के उसके बाद अगम्भीर नदी तीर की व्यावृत्ति कर के तात्पर्य का विषय जो तीर है। उसका लक्षणा के द्वारा बोधन कराता है। ठीक इसी प्रकार प्रकृत में भी सत्य पद का सत्यत्व विशिष्ट में तात्पर्य नहीं

च नद्यादिपदलक्ष्ये तीरादावनदीत्वादिवत् सत्यादिपदलक्ष्येऽपि ब्रह्मण्यसत्यत्वाद्यापत्तिः, जहल्लक्षणानभ्युपगमात्।।४६।।

यदि हि तीरादौ नदीत्वादिवत् ब्रह्मण्यपि सत्यत्वादिकमभिधाबलात् न प्रतीयेत तदैवं स्यात्, नत्वेवमस्ति, नद्यादौ नदीत्वादिवत् सत्यत्वादेर्ब्रह्मण्येव प्रतीतेः। न चैवं निर्धर्मकत्वव्याकोपः, व्यावहारिकस्य धर्मस्य सत्वेऽपि स्वसमानसत्ताकधर्मविरहेण तदुपपत्तेः, वाचकानामपि लक्षकत्वमन्यानुपरक्तस्वरूपभानायेत्यन्यत्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

है किन्तु केवल शुद्ध ब्रह्म में है, फिर भी सत्य पद शक्ति वृत्ति से सत्यत्व विशिष्ट का बोधन करा ही देता है और उसी से असत्यत्व की व्यावृत्ति सिद्ध हो जाती है, क्योंकि सत्य पद के तात्पर्य का विषय = शुद्ध ब्रह्म, उस शुद्ध ब्रह्म के बुद्धि के प्रति उपाय = सत्यत्व विशिष्ट बुद्धि है। इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में तुल्यता है।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे लक्षणा के द्वारा अनदीत्व (नदीत्व का भेद) विशिष्ट तीर का बोध नदी पद से होता है ठीक वैसे ही लक्षणा के द्वारा असत्यत्व (सत्यत्व का भेद) विशिष्ट ब्रह्म का बोध सत्य पद से होने पर सत्यादि वाक्य सखण्डार्थक होंगे।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जहां पर जहद् लक्षणा स्वीकार की जाती है, वहां लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ का भेद रहता है। प्रकृत में हमने जहद् लक्षणा नहीं मानी है। अतः सत्यादि पद के द्वारा असत्यत्वादि विशिष्ट ब्रह्म का बोध लक्षणा के द्वारा नहीं होगा। अपितु सत्यादि पदों से भागत्याग लक्षणा के द्वारा शुद्ध ब्रह्म का ही बोध होगा।।४६।।

यदि तीरादि लक्ष्यार्थ में जैसे नदीत्वादि रूप वाच्यार्थ अभिधावृत्ति से प्रतीत नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म में भी सत्यत्वादि रूप वाच्यार्थ अभिधावृत्ति से प्रतीत नहीं होता, तब उक्त प्रकार से असत्यत्वादि की ब्रह्म में आपत्ति हो सकती थी और जहद्लक्षणा माननी पड़ती किन्तु यहाँ वैसा नहीं है, क्योंकि शक्तिवृत्ति के नद्यादि में जैसे नदीत्वादि की प्रतीति होती है वैसे ही सत्यत्वादि की ब्रह्म में प्रतीति होती है। अर्थात् सत्यशब्द से अभिधावृत्ति के बल पर ब्रह्म रूप लक्ष्यार्थ में सत्यत्व का बोध हो ही जाता है, अतः प्रकृत में लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ का भेद नहीं माना जाता है। कहने का भाव यह है कि नदी पद का वाच्यार्थ नदीत्व विशिष्ट तीर नहीं है। अपितु नदीत्व है। अर्थात् नदी शब्द से शक्तिवृत्ति के बल पर लक्ष्यार्थ = तीर में नदीत्व का बोध नहीं होता है। इसलिए यहाँ लक्ष्यार्थ (तीर) में वाच्यार्थ (नदीत्व) का भेद माना जाता है। अतः यहाँ भागत्याग लक्षणा स्वीकार नहीं की जा सकती अपितु जहद् लक्षणा ही स्वीकार की जा सकती है, क्योंकि यहां सम्पूर्ण वाच्यार्थ का त्याग किया जाता है। जहाँ सम्पूर्ण वाच्यार्थ का त्याग किया जाता है और उस वाच्यार्थ से सम्बन्धित लक्ष्यार्थ लेते है। वहाँ पर लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ का भेद होने से सखण्डार्थ की आपत्ति होती है। प्रकृत में सत्य पदार्थ का वाच्यार्थ सत्यत्व विशिष्ट ब्रह्म है। अतः यहाँ वाच्यार्थ में लक्ष्यार्थ का अन्तर्भाव है। यहाँ जहद् लक्षणा स्वीकार करने पर सम्पूर्ण वाच्यार्थ का त्याग होने पर वाच्यार्थ के अन्तर्गत स्थित लक्ष्यार्थ का भी त्याग हो जायेगा। अतः यहां भागत्याग लक्षणा स्वीकार की जाती है, क्योंकि एक अंश का ग्रहण और एक अंश का त्याग करना है। अतः उक्त प्रकार से लक्ष्यार्थ ब्रह्म में असत्यत्वादि की आपत्ति नहीं दी जा सकती है। अपितु भागत्याग लक्षणा के द्वारा एक अंश = शुद्ध ब्रह्म का बोध होने से अखण्डार्थ की सिद्धि होती है।

तदुक्तं कल्पतरुकृद्भिः—

'सत्तादीनां तु जातीनां व्यक्तितादात्म्यकारणात्। लक्ष्यव्यक्तिरपि ब्रह्म सत्तादि न जहाति नः॥' इति। गौर्नित्यो गौरनित्य इत्युभयत्रापि एकदेशान्वयार्थं लक्षणाभ्युपगमेऽपि जातिव्यक्त्योरुभयोरपि तार्किकैर्गोपदार्थत्वाभ्युपगमाच्च॥४७॥

ननु—औपनिषदे पुरुषे धर्मा न प्रत्यक्षेण प्राप्ताः, किन्तु तत्त्वावेदकेन वेदेन, तथा च कथं व्यावहारिका—

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का — सिद्धान्ती ने यह जो कहा कि सत्य पद से शक्ति वृत्ति से सत्यत्व विशिष्ट ब्रह्म अर्थात् ब्रह्म में सत्यत्व है, ऐसा बोध होता है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्रह्म में सत्यत्वादि धर्म स्वीकर करने पर ब्रह्म में जो निर्धर्मकत्व माना जाता है, उससे विरोध होगा।

समाधान— उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि ब्रह्म में व्यावहारिक धर्म का सत्त्व स्वीकार करने पर भी स्वसमानसत्ताक (पारमार्थिक) धर्म के न स्वीकार करने से ब्रह्म में निर्धर्मकत्व की उपपत्ति हो जायेगी। प्रश्न होता है कि जिस ब्रह्म रूप अर्थ में लक्षणा करना चाह रहे हों, वह ब्रह्मरूप लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ में अन्तर्भुक्त ही हैं। अतः ब्रह्म रूप अर्थ को बोधन करने के लिये लक्षणा स्वीकार करना व्यर्थ है। इसका उत्तर देते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि वाचक पद भी लक्षक होते हैं, क्यों? विशेषण से रहित भान के लिये। इसको स्पष्ट करते हुये कल्पतरुकार ने कहा है — ''सत्तादि जातियों का स्वाश्रय व्यक्तियों के साथ तादात्म्य होने के कारण ब्रह्म लक्ष्य व्यक्ति रूप होने पर भी सिद्धान्त मत में सत्तादि जातियों का परित्याग नहीं करता है। अर्थात् सत्तादि की प्रतीति ब्रह्म में होती है, किन्तु प्रतीति होने पर भी सत्तादि मिथ्या हैं। अतः ब्रह्म के निर्धर्मक होने में कोई व्याघात नहीं है।'' ''गौर्नित्यः'' इस स्थल पर नित्यत्व के साथ गोत्व जाति का अन्वय करने के लिये गो पद की गोत्वरूप एक देश में लक्षणा और ''गौरनित्यः'' इस स्थल पर अनित्यत्व के साथ गो व्यक्ति का अन्वय करने के लिये गो पद की गो व्यक्ति रूप एक देश में लक्षणा नैयायिकों के द्वारा स्वीकार होने पर भी गोत्व जाति और गो व्यक्ति दोनों में नैयायिक गो पद की वाच्यता मानते हैं। कहने का भाव यह है कि तार्किक गो पद का वाच्यार्थ जाति और व्यक्ति दोनों में अर्थात् गोत्वविशिष्ट गो व्यक्ति को मानते हैं। किन्तु यदि वाक्य में आये हुये पदार्थान्तर के साथ जाति और व्यक्ति दोनों का अन्वय सम्भव न हो, तब एक का परित्याग और दूसरे का ग्रहण करने के लिये तार्किक भी लक्षणा स्वीकार करते हैं। जैसे ''गोर्नित्यः'' इस स्थल पर गो पद का वाच्यार्थ गोत्व जाति विशिष्ट गो व्यक्ति है,किन्तु इन दोनों का नित्यत्व के साथ सम्बन्ध होना असम्भव होने के कारण लक्षणा के द्वारा गो व्यक्ति का परित्याग कर के केवल गोत्व जाति का गो पद से बोधन मानते हैं। ठीक इसी प्रकार ''गौरनित्यः'' इस स्थल पर गोत्व जाति और गो व्यक्ति दोनों का अन्वय अनित्यत्व के साथ होना असम्भव होने के कारण जाति का परित्याग कर के केवल गो व्यक्ति का बोधन लक्षणा से गो पद के द्वारा स्वीकार करते हैं। ऐसे ही सिद्धान्त मत में भी सत्य पद का वाच्यार्थ सत्यत्व विशिष्ट ब्रह्म होने पर भी ब्रह्म के निर्धर्मकत्व का बोधक श्रुति वाक्यों से विरोध होने के कारण वाच्यार्थ का एकांश सत्यत्व धर्म का परित्याग करके केवल ब्रह्म व्यक्ति का बोधन लक्षणा के सत्य पद के द्वारा होता है। ऐसा स्वीकार करना उचित ही है। यह सिद्धान्ती के कथन का भाव है।।४७।।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्रह्मगत सत्यत्वादि धर्म को व्यावहारिक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उपनिषद् वेद्य ब्रह्म में सत्यत्वादि धर्म प्रत्यक्षादि व्यावहारिक प्रमाणों से अधिगत नहीं है, किन्तु तत्त्वावेदक वेद से ही अधिगत हैं। अतः वेद से अधिगत ब्रह्म जैसे पारमार्थिक है, वैसे ही वेद से अधिगत

इति चेन्न; वेदादापाततः प्रतीतानामपि वेदतात्पर्यविषयत्वाभावादतात्त्विकत्वोपपत्तेः। तात्पर्यविषये हि वेदस्य प्रामाण्यम्, यत्र च तस्य प्रामाण्यं, तदेव तात्त्विकमिति नियमात्। न च वेदस्यातत्परत्वमात्रेण कथं व्यावहारिकत्वम्? बाध्यत्वेन चेत्, प्रस्तरेऽपि यजमानत्वं व्यावहारिकं स्यात्, यजमानत्वस्य तत्रानध्यासादव्यावहारिकत्वे शुक्तिरूप्यादेर्व्यावहारिकत्वापत्तिरिति वाच्यम्। वेदतात्पर्याविषयत्वेन अतात्त्विकत्वे सिद्धे तत्त्वावेदकबाध्यत्वव्यावहारिकावेदकबाध्यत्वाभ्यां व्यावहारिकप्रातिभासिकव्यवस्थोपपत्तेः। न च तत्त्वावेदकस्य विशेष्यमात्रपरत्वान्न बाधकत्वम्, विशेषणबुद्धिद्वारकत्वेन तन्मात्रपरस्यापि बाधकत्वसम्भवात्;

सत्यानन्दप्रबोधिका

सत्यत्वादि धर्म भी पारमार्थिक ही होगा, न कि व्यावहारिक।

समाधान — उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि आपाततः वेद बोधित होने मात्र से कोई भी पदार्थ को पारमार्थिक नहीं माना जाता है, क्योंकि आपाततः प्रतीयमान विषय में वेदों का मुख्य तात्पर्य नहीं होता है। अतः वे अतात्विक होते हैं। मुख्य तात्पर्य के विषय में ही वेद का तात्त्विक प्रामाण्य होता है। अतः वे ही तात्विक होते हैं — ऐसा नियम होने से सत्यत्वादि को तात्त्विक नहीं माना जाता है अपितु व्यावहारिक माना जाता है, क्योंकि सत्यत्वादि धर्मों के बोधन में वेद का मुख्य तात्पर्य नहीं है।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने यह जो कहा कि वेद का मुख्य तात्पर्य सत्यत्वादि के प्रतिपादन में नहीं है। इसलिये सत्यत्वादि को व्यावहारिक माना जाता है। इसमें हेतु क्या है ? यदि कहो कि बाधित होने के कारण सत्यत्वादि को व्यावहारिक माना जाता है। अर्थात् ''सत्यत्वादिधर्मः व्यावहारिकः, बाध्यत्वात्।'' तब तो ''प्रस्तरे यजमानत्वं व्यावहारिक बाध्यत्वात्।'' ऐसा भी अनुमान होने से ''यजमान् प्रस्तरः'' इस स्थल पर भी प्रस्तरगत बाधित यजमानत्व को भी व्यावहारिक मानना होगा। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि यजमानत्व का प्रस्तर में अध्यास न होने से अव्यावहारिकत्व है। {अर्थात् ''प्रस्तरे यजमानत्वं न व्यावहारिकं प्रस्तरे अनध्यस्तवात्।'' और ''ब्रह्मणि सत्यत्वादि धर्मः व्यावहारिकः ब्रह्मणि अध्यस्तत्वात्।''} इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि ''शुक्तिरूप्यं व्यावहारिक शुक्तौ अध्यस्तत्वात्'' इस प्रयोगानुसार शुक्तिरूप्यादि के व्यावहारिकत्व की आपत्ति होगी।

समाधान — पूर्वपक्ष का खण्ड करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सिद्धान्त मतानुसार व्यावहारिकत्व और प्रातिभासिकत्व का प्रयोग इस प्रकार है—''सत्यत्वादि धर्मः व्यावहारिकः तत्त्वावेदकप्रमाणबाध्यत्वात्।'' शुक्तिरजतं प्रातिभासिकं व्यावहारिकावेदकप्रमाणबाध्यत्वात्।'' इसको स्पष्ट करते हुये मूल में कहा गया कि वेद का तात्पर्य जिस पदार्थ में नहीं है, उस पदार्थ में हम अतात्त्विकत्व स्वीकार करते हैं, किन्तु वह पदार्थ यदि तत्वावेदक प्रमाण से बाधित है, तब उस पदार्थ में व्यावहारिकत्व माना जायेगा, यदि वह पदार्थ व्यावहारिक प्रमाण से बाधित है, तब उस पदार्थ में प्रातिभासिकत्व माना जायेगा। इस प्रकार से व्यावहारिक और प्रतिभासिक की व्यवस्था की उपपत्ति हो जाती है।

शङ्का — सिद्धान्ती ने जो कहा कि तत्वावेदक प्रमाण से जो बाधित होता है, वह व्यावहारिक होता है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती की मान्यता यह है कि सत्यादि वाक्य रूप तत्त्वावेदक प्रमाण सत्यत्व विशिष्ट ब्रह्म के विशेष्य = ब्रह्म मात्र का बोधन कराते हैं और विशेषण = सत्यत्वादि का बोधन नहीं कराते हैं। अतः जब तत्त्वावेदक प्रमाण विशेषण का बोधन ही नहीं कराता है, तब तत्त्वावेदक प्रमाण विशेषण = सत्यत्वादि का बाध भी नहीं कर सकता है। ऐसा होने पर सत्यत्वादि धर्मों को व्यावहारिक न

विशेषणेऽप्यवान्तरतात्पर्याभ्युपगमाद्वा। 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादौ तु न विशेषणे अवान्तरतात्पर्यम्; तात्पर्यविषयसिद्धावनुपायत्वात्। महातात्पर्यविषयसिद्ध्युपाये हि अवान्तरतात्पर्यमिति सर्वमतसिद्धम्।।४८।।

ननु—व्यावृत्तयः सत्या? मिथ्या वा? नाद्यः, व्यावर्तकानामपि सत्यत्वापत्तेर्व्यावहारिकाणां पारमार्थिकव्यावृत्त्यसाधकत्वात्, नान्त्यः, शुक्तेः शुक्तितो व्यावृत्तेर्मिथ्यात्वे शुक्तित्वस्य शुक्तिसमसत्ताकत्ववदनृतव्यावृत्तेः ब्रह्मणि मिथ्यात्वे अनृतत्वस्य ब्रह्मसमसत्ताकत्वापत्तेरिति चेन्न; उभयथाप्यदोषात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

मानकर पारमार्थिक मानना चाहिये— ऐसा पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान — उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि विशेषण बुद्धि द्वारकत्वेन विशेष्य मात्र का बोधकत्व होने से सत्यत्वादि धर्मों में बाधकत्व की उपपत्ति हो जायेगी। अर्थात् सत्यादि वाक्य का विशेष्य मात्र = शुद्ध ब्रह्म से तभी तात्पर्य निश्चय होता है, जब द्वार के रूप में ''केवलो निर्गुणश्च'' (श्वे०उ० १—६—११) इत्यादि वाक्यों से निर्धर्मकत्वादि का ज्ञान होता है। यह निधर्मकत्वादि का ज्ञान सत्यत्वादि धर्मों का बाधक होता है। इसका निरूपण खण्ड संख्या ३२ में किया जा चुका है। अतः सत्यत्वादि में व्यावहारिकत्व की उपपत्ति हो जायेगी। {अथवा वेद का जिसमें मुख्य तात्पर्य होगा, उसमें पारमार्थिकत्व मानेंगे और जिसमें अवान्तर तात्पर्य होगा, उसमें व्यावहारिकत्व मानेंगे। ऐसा स्वीकार कर के सिद्धान्ती कह रहे हैं कि} मुख्य तात्पर्य की सिद्धि में सत्यत्वादि उपाय होने के कारण अर्थात् शुद्ध ब्रह्म के बोध में सत्यत्वादि विशिष्ट बुद्धि को द्वार के रूप से स्वीकार किये जाने के कारण सत्यत्वादि विशेषणों में अवान्तर तात्पर्य है, न कि मुख्य तात्पर्य। अतः सत्यत्वादि में व्यावहारिकत्व रहेगा। ''यजमानः प्रस्तरः'' इस स्थल पर प्रस्तर (विशेष्य) के यजमानत्व रूप विशेषण में श्रुति का अवान्तर तात्पर्य नहीं है, क्योंकि प्रस्तर स्तुति रूप जो मुख्य तात्पर्य का विषय है। उस विषय की सिद्धि में वह साधन नहीं है, अर्थात् उक्त स्थल पर तत्सिद्धिपेटिका न्याय से यजमान पद के द्वारा लक्षित जो यजमान कार्य साधकत्व वही मुख्य तात्पर्य विषयीभूत प्रस्तर स्तुति की सिद्धि में उपाय होने के कारण उक्त साधकत्व में 'यजमानः प्रस्तरः' इस श्रुति का अवान्तर तात्पर्य है, क्योंकि महातात्पर्य विषयीभूत पदार्थ की सिद्धि में जो उपाय (साधन) होता है। उस उपाय में अवान्तर तात्पर्य माना जाता है— यह सर्वमत सम्मत है। अतः यजमान में उक्त श्रुतिवाक्य का अवान्तर तात्पर्य न होने से यजमान को व्यावहारिक मानने की आपत्ति नहीं होगी।। ४८।।

शङ्का— खण्ड संख्या ४६ में सिद्धान्ती ने कहा था —''स्वरूपमात्रपरत्वेऽपि न पदान्तरवैयर्थ्यं, व्यावृत्तिभेदबोधनेन साफल्यादिति चोक्तमेव।'' इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि सत्यत्वादि धर्म ब्रह्म में असत्यत्वादि की व्यावृत्ति करा रहा है। यहां पर व्यावर्तक = सत्यत्वादि धर्म हैं और व्यावृत्ति = असत्यत्वादि की हो रही है। ऐसी जो असत्यत्वादि की व्यावृत्तियां हैं, वे क्या सत्य हैं? अथवा मिथ्या हैं? प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि ''यद्— यत् पारमार्थिकस्य बोधकं तत्तत् पारमार्थिकम्।'' (यहां यत् और त्त् पद से व्यावर्तक होना है) अर्थात् जो व्यावर्तक पारमार्थिक (सत्य) व्यावृत्ति का बोधक होगा। उस व्यावर्तक को भी पारमार्थिक (सत्य) मानना होगा। अथवा ''यद् यत् व्यावृत्तिबोधकं तत्—तद् व्यावृत्तिसमानसत्ताकम्।'' ऐसी व्याप्ति होने के कारण व्यावृत्ति के सत्य (पारमार्थिक) होने पर व्यावर्तक (सत्यत्वादि) को भी सत्य मानना होगा, क्योंकि व्याप्ति के बल पर यह सिद्ध कर दिया गया कि व्यावर्तक और व्यावृत्ति की समान सत्ता होती है। अतः व्यावहारिक सत्यत्वादि व्यावर्तक पारमार्थिक व्यावृत्ति के साधक नहीं हो सकते हैं। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि यद् यत् व्यावृत्तिमिथ्यात्वं तत्तद् व्यावृत्तिप्रतियोगिधर्मिसमसत्ताकत्वम्। अर्थात्

तथाहि—व्यावृत्तेर्ब्रह्माभिन्नतया पारमार्थिकत्वेऽपि व्यावर्तकं पारमार्थिकमिति कुतः? नहि यत् पारमार्थिकबोधकं, तत् पारमार्थिकमिति नियमोऽस्ति बोध्यबोधकयोः समसत्ताकत्वस्य पदतदर्थादौ व्यभिचारेण प्रागेव निरस्तत्वात्, दोषाप्रयुक्तभानत्वस्य सत्त्वप्रयोजकत्वात्।।४९।।

नापि व्यावृत्तिबोधकं व्यावृत्तिसमसत्ताकमिति नियमः; स्वाप्नाङ्गनादेरपि स्वजन्यसुखापेक्षया सुखान्तरव्यावृत्तिबुद्धिजनकत्वात्, कारणस्य कार्यव्यावर्तकत्वात्। सा च व्यावृत्तिः तव मते पारमार्थिक्येव। मम मते तु व्यावहारिकी। सर्वथापि प्रातिभासिकव्यावर्तकापेक्षयाधिकसत्ताकैव। न च व्यावृत्तेर्ब्रह्माभिन्नत्वे

सत्यानन्दप्रबोधिका

जो व्यावृत्ति मिथ्या होती है, उस व्यावृत्ति का प्रतियोगी धर्मिसमसत्ताक सत्य होता है। जैसे शुक्ति धर्मी में शुक्तित्व धर्म की व्यावृत्ति (निषेध) मिथ्या होती है। ऐसी मिथ्या व्यावृत्ति का प्रतियोगी = शुक्तित्व धर्मी (शुक्ति) के समान सत्ता वाला सत्य होता है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म में असत्यत्वादि की व्यावृत्ति मिथ्या होने पर उसका प्रतियोगी असत्यत्वादि धर्मी (ब्रह्म) के समान सत्ता वाला पारमार्थिक होगा।

समाधान — पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि दोनों पक्षों को स्वीकार करने पर भी कोई दोष नहीं है। जैसे प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर व्यावृत्ति (निषेध) ब्रह्म के साथ अभिन्न होने से पारमार्थिक होने पर भी व्यावर्तक पारमार्थिक होगा— यह नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जो व्यावर्तक पारमार्थिक व्यावृत्ति का बोधक है। वह व्यावर्तक पारमार्थिक होगा— ऐसा नियम नहीं माना जाता है, क्योंकि बोध्य और बोधक इन दोनों के सम सत्ताकत्व का पद और पदार्थ में व्यभिचार दोष होने के कारण पहले ही बाधोद्धार प्रकरण में निराकरण किया जा चुका है। अर्थात् पूर्व मीमांसकों के अनुसार नग नाग आदि पद नित्य और विभु माने जाते हैं, किन्तु ध्वनि धर्म ह्रस्वत्व दीर्घत्वादि विशिष्टत्वेन ये प्रातिभासिक माने जाते हैं, परन्तु नग नाग आदि पद बोध्य पर्वत हस्ति आदि रूप अर्थ प्रातिभासिक नहीं माना जाता है—इत्यादि विचार ''असतः साधकत्वाभावे बाधकविचारः'' के खण्ड संख्या—३ में किया जा चुका है। रज्जुसर्पादि मिथ्या पदार्थ का दोष प्रयुक्त भान होता है, इसलिये दोषाप्रयुक्त भान गम्यत्व को ही सत्यत्व का प्रयोजक माना जाता है। समसत्ताक बोधक बोध्यत्व को सत्यत्व का प्रयोजक नहीं माना जाता है।। ४९।।

व्यावृत्ति का बोधक व्यावृत्ति समसत्ताक होता है— ऐसी व्याप्ति भी नहीं है, क्योंकि कारण भी कार्य का व्यावर्तक होता है। जैसे प्रातिभासिक स्वाप्निक अङ्गना कारण है और स्वाप्निक अङ्गना जन्य सुख कार्य है। उस कार्य की व्यावृत्ति हो रही है, जाग्रतकालीन सुखान्तर से। अर्थात् जाग्रतकालीन सुख से स्वाप्निक सुख की व्यावृत्ति हो रही है। स्वाप्निक सुख में जाग्रतकालीन सुखान्तर की व्यावृत्ति (भेद) सत्य है और उसका बोधक = व्यावर्तक = स्वाप्निक अङ्गना प्रातिभसिक है। अतः समसत्ताक न होने से उक्त व्याप्ति में व्यभिचार दोष हो गया। इसी को स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि वह व्यावृत्ति पूर्वपक्षी के मतानुसार पारमार्थिक और सिद्धान्ती के मतानुसार व्यावहारिक होने पर भी स्वाप्निक अङ्गना रूप प्रातिभासिक व्यावर्तक की अपेक्षा से अधिक सत्ता वाली है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती व्यावृत्ति को सत्य अर्थात् पारमार्थिक मान रहे हैं, तब वह व्यावृत्ति ब्रह्म से अभिन्न अर्थात् ब्रह्म स्वरूप ही है। अतः ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इस स्थल पर ब्रह्म पद से ही व्यावृत्ति का लाभ होने से ब्रह्म पद से इतर सत्यादि पदों का वैयर्थ्य होगा।

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म इतरों से व्यावृत्त है—इस प्रकार से सामान्यतः व्यावृत्ति ब्रह्म पद के द्वारा सिद्ध होने पर भी ब्रह्म असत्यत्वादि से व्यावृत्त है— इस प्रकार से व्यावृत्ति ब्रह्म

ब्रह्मपदेनैव तल्लाभादितरपदवैयर्थ्यम्; सामान्यतः तत्सिद्धावप्यनृतादिव्यावृत्त्याकारेण तत्सिद्धौ साफल्यात्। एवमज्ञानादिव्यावृत्तीनामन्योन्याभेदे सत्यपदेनैव चारितार्थ्यमिति अपास्तम्; तत्तदाकारेण सिद्धेस्तत्तत्पदं विनानुपपत्तेः। न च—एवं सत्यत्वज्ञानत्वादिधर्माणामपि व्यावृत्तिवत् ब्रह्माभिन्नतया पारमार्थिकत्वमस्त्विति वाच्यम्, इष्टापत्तेः। तदेवं व्यावृत्तेः सत्यत्वे न कोऽपि दोषः।।५०।।

व्यावृत्तेर्मिथ्यात्वपक्षेऽपि नानृतत्वस्य ब्रह्मसमसत्ताकत्वापत्ति; एकबाधकबाध्यत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्, व्यावृत्तिबाधकाबाध्यस्यैव प्रतियोगिनो व्यावृत्त्यधिकसत्ताकत्वम्, नत्वेकबाधकबाध्यस्यापिः, कल्पितरजतव्यावृत्तेः कल्पितरजते मिथ्यात्वेऽपि तदपेक्षया तस्याधिकसत्ताकत्वाभावात्। अधिकं मिथ्यात्वमिथ्यात्वोपपादने द्रष्टव्यम्।।५१।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

पद से नहीं होगी अपितु सत्यादि पदों के द्वारा ही होगी। अतः सत्यादि पदों में साफल्य है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सभी व्यावृत्ति जब ब्रह्म रूप है, तब सभी व्यावृत्तियों को अभिन्न ही माना जायेगा न कि भिन्न—भिन्न। अतः असत्य की व्यावृत्ति अज्ञान की व्यावृत्ति आदि से अभिन्न होने से एक ही सत्य पद से ही सभी व्यावृत्तियों की उपपत्ति हो जाने से शेष ज्ञानादि पद व्यर्थ होंगे— ऐसा पूर्वपक्षी का कथन भी निरस्त हो गया, क्योंकि असत्यत्वादि विशेष व्यावृत्ति की सिद्धि सत्यादि पदों के विना नहीं हो सकती है। अतः सत्यादि पद सार्थक है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती जैसे व्यावृत्तियों को ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण पारमार्थिक मान रहे हैं। ठीक उसी प्रकार सत्यत्व—ज्ञानत्वादि धर्मों को भी ब्रह्म के साथ अभिन्न मानकर पारमार्थिक मान लेना चाहिये।

समाधान — ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि हमको इष्टापत्ति है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर अर्थात् असत्यत्वादि व्यावृत्तियों को सत्य मानने पर किसी भी प्रकार का दोष नहीं है।।५०।।

द्वितीय पक्ष (व्यावृत्तिगत मिथ्यात्व) स्वीकार करने पर भी असत्यत्व में ब्रह्म समसत्ताकत्व की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि एक ही बाधक (ब्रह्म ज्ञान) के द्वारा असत्यत्व और उसकी व्यावृत्ति दोनों ही बाधित हैं। अर्थात् अनृतत्व की व्यावृत्ति का प्रतियोगी अनृतत्व और अनृतव्यावृत्ति इन दोनों का बाध एक ही बाधक के द्वारा होने के कारण दोनों ही मिथ्या सिद्ध हो जायेंगे। जहां पर व्यावृत्ति का प्रतियोगी व्यावृत्ति के बाधक से बाधित नहीं होता है, वहां पर व्यावृत्ति का प्रतियोगी व्यावृत्ति की अपेक्षा से अधिक सत्ता वाला होता है (जैसे शुक्ति में शुक्तित्व की व्यावृत्ति का प्रतियोगी शुक्तिव और उसकी व्यावृत्ति इन दोनों का बाध एक ही बाधक ''इयं शुक्तिः'' के द्वारा नहीं होता है, अपितु केवल व्यावृत्ति का ही बाध होता है। अतः व्यावृत्ति मिथ्या हो जायेगी और प्रतियोगी (शुक्तित्व) अधिक सत्ता वाला अर्थात् धर्मी = शुक्ति के समान सत्ता वाला अर्थात् सत्य सिद्ध हो जायेगा। किन्तु जहां व्यावृत्ति के प्रतियोगी का बाध व्यावृत्ति के बाधक के द्वारा ही हो जाता है, वहां व्यावृत्ति का प्रतियोगी व्यावृत्ति से अधिक सत्ता वाला नहीं होता है। जैसे कल्पित रजत की व्यावृत्ति कल्पित रजत में नहीं है। इसलिये वह व्यावृत्ति मिथ्या है। इन दोनों (कल्पित रजत और कल्पित रजत की व्यावृत्ति) का बाध एक ही बाधक (नेदं रजतम्) के द्वारा हो जाता है। अतः उक्त व्यावृत्ति के मिथ्या होने पर भी कल्पित रजत कभी भी उक्त व्यावृत्ति की अपेक्षा से अधिक सत्ता वाला अर्थात् सत्य नहीं होता है। इस विषय को विस्तार से अवगाहन करने के लिये मिथ्यात्व के मिथ्यात्व निरूपण को देखना चाहिए।।५१।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि तत्व के जानने की इच्छा वाला जो मुमुक्षु है, उसको तत्व का उपदेश

ननु तत्त्वजिज्ञासुं मुमुक्षुं प्रति मिथ्याबोधनायोगः, न चानृतत्वादिभ्रान्तिनिवृत्त्यर्थं तत्; अधिष्ठानब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारेणैव तन्निवृत्तिसम्भवे भ्रान्त्यन्तरोत्पादनायोगात्, नहि वल्मीके स्थाणुरयमिति भ्राम्यतः पुरुषोऽयमित्युपदिश्यत इति चेन्न; निवर्तकाधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कार एव तस्योपायत्वात्, स्थूलारुन्धतीन्यायेन पूर्वपूर्वभ्रमनिवृत्तये काल्पनिकोपदेशस्य पञ्चकोशस्थले दर्शनाच्च। यथा चात्मनि कल्पितेन ब्राह्मण्येनाशङ्कितत्ता ब्राह्मण्यभ्रान्तिर्निवर्तते तथा व्यावहारिक्या व्यावृत्त्या प्रातिभासिक्यनृतादिभ्रान्तिर्निवर्तते। न चासद्व्यावृत्तेर्व्यावहारिकत्वेऽनपोदितप्रामाण्येन 'असद्वा इदमग्र आसीद्'इति वाक्येनासत्त्वस्य पारमार्थिकत्वप्रसङ्गः;

सत्यानन्दप्रबोधिका

करना ही न्याय सङ्गत है। ब्रह्म में अनृतत्व नहीं है— ऐसी व्यावृत्ति जो कि मिथ्या है, उसका बोधन अनुचित है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ब्रह्म में अनृतत्वादि की भ्रान्ति की निवृत्ति के लिए मिथ्या न्यावृत्ति का बोधन किया गया है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि अधिष्ठानभूत ब्रह्म त्तव के साक्षात्कार से ही ब्रह्मनिष्ठ अनृतत्व भ्रान्ति की निवृत्ति होती है। अतः ब्रह्म निष्ठ अनृतत्व भ्रान्ति की निवृत्ति के लिए उक्त व्यावृत्ति जो कि मिथ्या होने से भ्रान्ति रूप है उसका (मिथ्या व्यावृत्ति रूप भ्रान्ति का) उत्पादन अनुचित है, क्योंकि एक भ्रान्ति के निवृत्ति के लिए दूसरी भ्रान्ति का उत्पादन सर्वथा ही अनुचित माना जाता है। जैसे बल्मीक (बॉबी) में जिस देवदत्त को ''यह स्थाणु है।'' इस प्रकार से भ्रान्ति हो रही है। उस भ्रान्ति की निवृत्ति के लिए उसी देवदत्त को ''यह पुरुष है।'' इस प्रकार से बल्मीक का उपदेश उचित नहीं माना जाता है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि भ्रान्ति का निवर्तक जो अधिष्ठान का तत्त्व साक्षात्कार है। उसके प्रति मिथ्या भूत व्यावृत्ति का बोधन उपाय है। अर्थात् अनृतत्व व्यावृत्ति जो कि मिथ्या है, उसका बोधन सत्यादि पदो के द्वारा होने पर अधिष्ठान तत्त्व का साक्षात्कार होता है। जैसे देवदत्त को किसी अन्य तारे में अरुन्धती का भ्रम था अथवा अरुन्धती तारा दिखायी नहीं पड़ रहा है— ऐसा भ्रम था। इस प्रथम भ्रम को हटाने के लिए पहले वसिष्ठ तारे को दिखा कर ''यही अरुन्धती है।'' ऐसा द्वितीय भ्रम ज्ञान उत्पन्न किया जाता है। द्वितीय भ्रम ज्ञान से वसिष्ठ तारे तक दृष्टि पहुंच जाने पर उसके समीपस्थ वास्तविक अरुन्धती का साक्षात्कार होता है। वास्तविक अरुन्धती के साक्षात्कार के प्रति वसिष्ठ ही अरुन्धती है— ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान उपाय है। (इसी प्रकार अधिष्ठान साक्षात्कार में व्यावृत्ति का बोधन रूप भ्रम भी उपाय है।) इसी प्रकार अन्यमय कोश ही आत्मा है— इस भ्रमात्मक ज्ञान की निवृत्ति के लिए प्राणमय कोश को आत्मा कहा गया। प्राणमय कोश आत्मा है— इस भ्रमात्मक ज्ञान की निवृत्ति के लिए मनोमय कोश को आत्मा कहा गया— इस प्रकार पूर्व पूर्व भ्रान्ति की निवृत्ति के लिए उत्तरोत्तर भ्रान्ति का उपदेश पञ्चकोश स्थल पर होता है और अन्त में तत्त्व साक्षात्कार होता है। अर्थात् तत्त्व साक्षात्कार के प्रति भ्रमात्मक ज्ञान साधन है। अर्थात् भ्रम की निवृत्ति तत्त्व साक्षात्कार से होती है— यह होने पर भी तत्त्व साक्षात्कार के प्रति भ्रम ज्ञान साधन होता है और पूर्व भ्रम की निवृत्ति उत्तर भ्रम से भी होती है— यह पञ्चकोश स्थल पर भी देखा गया है। इसी प्रकार आत्मा में कल्पित ब्राह्मणत्व से आशङ्कित अब्राह्मणत्व की भ्रान्ति निवृत्ति होती है ठीक इसी प्रकार से व्यावहारिकी व्यावृत्ति से प्रातिभासिकी अनृतादि की भ्रान्ति निवृत्त होती है। अर्थात् देवदत्त में ब्राह्मणत्व का अभाव है— ऐसा भ्रम था। उस भ्रम को हटाने के लिए देवदत्त में ब्राह्मणत्व है— ऐसा निर्देश किया जाता है किन्तु यह निर्देश भ्रम है, क्योंकि आत्मा में ब्राह्मणत्वादि जाति रहती नहीं है। इस प्रकार एक भ्रम से दूसरे भ्रम की निवृत्ति होती है। ऐसे ही ब्रह्म में अनृतत्व है— ऐसी जो भ्रान्ति पहले थी, वह प्रातिभासिक थी। अब उस भ्रम को हटाने के लिए ब्रह्म में अनृतत्व नहीं है— इस प्रकार से अनृत्तव की

'नेह नाना'इत्यनेन तस्य निषेधात्, असद्वा इत्यादेरन्यपरतत्वस्य प्रागेव दर्शिततत्वाच्च। तथाच मीमांसकमते अनृतस्याप्यर्थवादार्थस्य सत्ये प्राशस्त्य इव मिथ्याभूतानामपि व्यावृत्तीनां सत्ये ब्रह्मणि द्वारत्वेन बोधनं युक्तम्। उक्तं हि–''सत्ये ब्रह्मणि सत्यादिशब्दा व्यावृत्तिद्वारा पर्य्यवस्यन्ति'इति।।५२।।

न च व्यावृत्तिज्ञानस्य धर्मिधीसाध्यत्वेन वैपरीत्यापातः; धर्मविशिष्टधर्मिज्ञानसाध्याया व्यावृत्तेःशुद्ध–

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्यावृत्ति जो कि व्यावहारिक है, उसका बोधन सत्यादि पदों के द्वारा होता है।

शङ्का– सिद्धान्ती ने यह जो कहा कि अनृतादि की व्यावृत्ति व्यावहारिक है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि अनृतादि की व्यावृत्ति को व्यावहारिक मानने पर उस व्यावृत्ति (निषेध) का प्रतियोगी अनृतादि व्यावहारिक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि एक ही आधार में प्रतियोगी और उसकी व्यावृत्ति दोनों समान सत्ताक नहीं होते हैं। जैसे भूतल में व्यावहारिक सत्ता वाला घट का अभाव है। उसका प्रतियोगी घट जो है। उसको उसी भूतल में मानने पर उसकी सत्ता व्यावहारिक न होकर प्रातिभासिक मानी जाती है। ठीक इसी प्रकार अनृतादि की व्यावृत्ति व्यावहारिक होने पर उसका प्रतियोगी अनृतादि व्यावहारिक नहीं हो सकते हैं। अपितु प्रातिभासिक या पारमार्थिक होंगे ''असद् वा इदमग्र आसीत्'' (तै०उ० २–७–१) यह श्रुति वाक्य होने के कारण इसका प्रामाण्य बाधित नहीं हो सकता है। अतः अबाधित प्रामाण्यक श्रुति वाक्य के द्वारा बोधित अनृतादि प्रातिभासिक नहीं होगा। अतः अनृतादि को परिशेष न्याय से पारमार्थिक ही मानना होगा।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''असद् वा इदमग्र आसीत्'' (तै० उ० २–७–१) इस वाक्य के द्वारा ब्रह्म में जिस असत्त्व का बोधन हुआ, उस असत्त्व का यदि अन्य किसी श्रुति वाक्य के द्वारा निषेध नहीं होता तब तो उस असत्त्व को पारमार्थिक मान लिया जाता किन्तु जब ''नेह नानास्ति किञ्चन'' (बृ.उ० ४–४–१९) इस वाक्य के द्वारा ब्रह्म में असत्त्व का भी निषेध कर दिया गया तब असत्त्व को पारमार्थिक माना ही नहीं जा सकता है। ब्रह्मसूत्र और तैत्तिरीय उपनिषद् के भाष्य में भगवान् भाष्यकार ने ''असद वा इदमग्र आसीत्'' इस श्रुति वाक्य का तात्पर्य जगत् की अव्याकृतावस्था के प्रतिपादन में है– इसको तत्–तत् स्थलों पर स्पष्ट किया है। अतः इस श्रुति वाक्य के आधार पर ब्रह्म में असत्त्व को पारमार्थिक सिद्ध नहीं किया जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि मीमांसक मत में ''सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वं यदश्रुशीर्यत तद् रजतमभवत्।'' इत्यादि अर्थवाद वाक्यों का अर्थ बाधित होने के कारण मिथ्या है। तथापि मिथ्याभूत अर्थ का भी यागादि कर्मगत सत्यभूत प्राशस्त्य में द्वारत्वेन बोधन युक्त माना जाता है ठीक इसी प्रकार उक्त मिथ्याभूत व्यावृत्तियों का भी सत्यरूप ब्रह्म में द्वारत्वेन बोधन युक्त है। इसको श्री चित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका के ''अखण्डार्थत्वनिरूपणे उत्तरपक्षः'' में इस प्रकार से कहा है– तथा वेदेऽपि ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इत्यादौ सत्यज्ञानानन्दानन्तात्मशब्दाः अनृतजड़दुःखान्तवत्त्वानात्मत्वभ्रान्तिनिवृत्तिद्वारा लक्ष्ये ब्रह्मणि पर्यवस्यन्ति'' (ऐसे ही वेद में ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इत्यादि वाक्यों में सत्य ज्ञान आनन्द और अनन्त आदि पद क्रमशः असत्य जड़ दुःख आदि की व्यावृत्ति के द्वारा लक्ष्य ब्रह्म में पर्यवसित होगें।) इसी को संक्षेप से मूल में कहा गया कि – सत्य स्वरूप ब्रह्म में सत्यादि शब्द व्यावृत्ति द्वारा पर्यवसित होंगे। अर्थात् लक्ष्य ब्रह्म के समर्पक होते हैं।।५२।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि खण्ड संख्या ५२ में सिद्धान्ती ने कहा– निवर्तकाधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कार एव तस्योपायत्वात्। अर्थात् भ्रान्ति का निवर्तक जो अधिष्ठान का तत्त्वसाक्षात्कार है, उसमें मिथ्याभूत व्यावृत्ति का बोधन साधन है। किन्तु सिद्धान्ती का यह कथन उचित नहीं है, क्योकि अभाव ज्ञान में अधिकरण का

धर्मिज्ञाने द्वारत्वाङ्गीकारात्। न च शाब्दे अर्थे आर्थिकस्य द्वारत्वमनुपपन्नम्, अन्यथा नीलमुत्पलमित्यादेरनीलव्यावृत्तिद्वारा स्वरूपमात्रपरत्वं स्यादिति वाच्यम्। नीलमुत्पलमित्यादौ स्वरूपमात्रबोधे तात्पर्याभावान्न शाब्देऽर्थे आर्थिकार्थापेक्षा, विशिष्टार्थतात्पर्यात्। अत्र तु स्वरूपमात्रे तात्पर्यम्, तच्च आर्थिकार्थस्य द्वारत्वं विनाऽनुपपन्नम्। न च विशेषस्य त्वन्मतेऽभानात् किं प्रागज्ञातं व्यावृत्त्या ज्ञापनीयमिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

ज्ञान साधन होता है। अत: असत्यत्व के अभाव रूप व्यावृत्ति का ज्ञान तभी होगा जब शुद्ध ब्रह्म रूप धर्मी का पहले ज्ञान हो। फलत: सिद्धान्ती के द्वारा कथित साध्य साधन भाव के विपरीत यह मानना होगा कि शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान साधन और उक्त व्यावृत्ति का ज्ञान साध्य है। अत: सिद्धान्ती के कथन के विपरीत सिद्ध होने से सिद्धान्ती का कथन अनुचित है। ऐसे अनुचित कथन के आधार पर जो सिद्धान्ती के द्वारा पीछे समाधान दिया गया। वह सभी अनुचित है— ऐसा पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— पूर्वपक्षी का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अभाव ज्ञान में अधिकरण का ज्ञान साधन होता है— इस मत को स्वीकार करने पर सिद्धान्त मत में कोई दोष नहीं है, क्योंकि सत्यादि पदो के द्वारा पहले सत्यत्वादि धर्म से विशिष्ट ब्रह्म(धर्मी) का ज्ञान होता है और इसके पश्चात् असत्यत्वादि की व्यावृत्ति का ज्ञान होता है। तदन्तर शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान होता है। इस प्रकार उक्त व्यावृत्ति ज्ञान (साध्य) के प्रति साधन = सत्यत्वादि विशिष्ट ब्रह्म रूप धर्मी का ज्ञान है और शुद्ध ब्रह्म ज्ञान (साध्य) के प्रति साधन = उक्त व्यावृत्ति ज्ञान है। अत: कोई दोष नहीं है।

शङ्का— सिद्धान्ती ने कहा था कि सत्यादि पदों से पहले सत्यत्व विशिष्ट ब्रह्म का बोधन होता है और शुद्ध ब्रह्म बोध के प्रति द्वार के रूप से असत्यत्वादि के अभाव रूप व्यावृत्ति का बोधन होता हैं। व्यावृत्ति रूप द्वार भी शाब्द अर्थ है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि व्यावृत्ति शाब्द अर्थ नहीं है अपितु अर्थापत्ति {असत्यत्वाभावं विना ब्रह्मण: सत्यत्वमनुपपन्नम्} लभ्य है। जब कि ब्रह्म रूप धर्मी शाब्द है। शाब्द का शाब्द के साथ ही अन्वय होता है, शाब्द से भिन्न अनुमिति अर्थापत्ति इत्यादि के साथ अन्वय नहीं होता है। अत: अर्थापत्ति से गम्य व्यावृत्ति का शाब्दिक ब्रह्म के साथ अन्वय न होने के कारण उक्त व्यावृत्ति शुद्ध ब्रह्म बोध में साधन नहीं मानी जा सकती है। अन्यथा = शाब्द अर्थ के साथ अशाब्द का अन्वय मानने पर और अर्थापत्ति से लभ्य अर्थ को शाब्दिक बोध में द्वार मानने पर, ''नीलमुत्पलम्'' कहने पर पहले नीलविशिष्ट उत्पल का बोध होगा। इसके पश्चात् अनील व्यावृत्ति का द्वार के रूप से बोध होकर शुद्ध उत्पल के बोध होने की आपत्ति होगी।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। जैसे दृष्टान्त ''नीलमुत्पलम्'' इस स्थल पर स्वरूप मात्र बोध में तात्पर्य का अभाव होने से शब्द अर्थ {नील रूप विशिष्ट अर्थ} में आर्थिकार्थ {अनील व्यावृत्ति रूप अर्थ} की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि इस वाक्य का विशिष्टार्थ में तात्पर्य माना जाता है। दार्ष्टान्त सत्यादि वाक्यों में षड्विध तात्पर्य लिङ्गों के द्वारा स्वरूप मात्र में तात्पर्य निश्चित है, वह तात्पर्य ब्रह्मगत अनृतत्वादि की व्यावृत्ति रूप द्वार के विना उपपन्न नहीं हो सकता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ब्रह्म में कोई विशेष मानते नहीं हैं, क्योंकि ब्रह्म को निर्विशेष मानते हैं। अत: ऐसा कौन सा विशेष अर्थ जो पहले अज्ञात था और बाद में व्यावृत्ति रूप द्वार के द्वारा ज्ञापित होता है। {अर्थात् व्यावृत्ति रूप द्वार के माध्यम से जो पर्यवसित अर्थ (शुद्ध ब्रह्म) का ज्ञान मानते हैं। उस ब्रह्म का ज्ञान पहले से ही ''मै हूँ'' इस प्रकार से है। अब यदि उस ब्रह्म में ऐसे किसी विशेष का ज्ञान

वाच्यम्; अन्याविषयकस्य स्वरूपज्ञानस्य भ्रमविरोधिनः साध्यत्वात्। न चैवमन्याज्ञाने द्वारत्वम्;। अन्यज्ञानप्रतिबन्धद्वारेण शुद्धज्ञान एव द्वारत्वसम्भवात्। न च व्यावृत्तिज्ञान एव स्वरूपज्ञानं द्वारमस्तु; तस्याभिधाबललब्धविशिष्टज्ञानादेवोपपत्तेः।।५३।।

न च प्राचीने ब्रह्मज्ञाननिवर्तकब्रह्मापरोक्षज्ञाने तदज्ञानकार्यस्यान्यस्य भानायोगः, ब्रह्मप्रातिपदिकार्थबुभुत्सायामेव एतद्वाक्यप्रवृत्तिरिति स्वप्रक्रियाविरोधश्चेति वाच्यम्। ब्रह्मापरोक्षज्ञानं हि तत्स्वरूपं वा? वृत्तिरूपं वा? आद्ये

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्यावृत्ति रूप द्वार के माध्यम से होता है। अर्थात् व्यावृत्ति रूप द्वार के माध्यम के विना ब्रह्म गत उस विशेष का बोधन नहीं होता तब तो उस विशेष ज्ञान के द्वार के रूप में व्यावृत्ति का बोधन सार्थक होता, किन्तु सिद्धान्ती ब्रह्मगत कोई विशेष मानते ही नहीं है। यह पूर्वपक्षी का भाव है।}

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है,क्योंकि सामान्य रूप से ब्रह्म का ज्ञान पहले से ही है। परन्तु ब्रह्म ज्ञान का विषय ब्रह्म से भिन्न अन्य पदार्थ भी है— ऐसा ज्ञान अन्य वादियों को है। जबकि ब्रह्म ज्ञान का विषय केवल शुद्ध ब्रह्म ही है, अन्य कोई भी नहीं है। अर्थात् शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान अन्य अविषयक है और भ्रम का विरोधी है— ऐसा विशेष ज्ञान पहले से नहीं था। ऐसा विशेष ज्ञान ही व्यावृत्ति रूप द्वार के द्वारा साध्य है।

शङ्का— कार्यनियतपूर्ववृत्तिता जिसमें होती है उसमें साधनता मानी जाती है। व्यावृत्ति ज्ञान के ठीक बाद में होने वाला ब्रह्म ज्ञान अन्य अविषयक है—इस प्रकार जो ज्ञान होता है, उसी में व्यावृत्ति ज्ञान को साधन मानना चाहिए, न कि शुद्ध ब्रह्म ज्ञान में।

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य ज्ञान = ब्रह्म का ज्ञान ब्रह्म से अन्य असत्यत्वादि को विषय करने वाला है— ऐसा जो भ्रम ज्ञान। ऐसे ज्ञान को व्यावृत्ति ज्ञान ने रोक करके शुद्ध ब्रह्म ज्ञान को करा देता है। {कहने का भाव यह है कि सत्यादि पदों से प्रथम सत्यत्वविशिष्ट ब्रह्म का ज्ञान, द्वितीय—असत्यत्वादि की व्यावृत्ति का ज्ञान, तृतीय—शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान—इस प्रकार से ही माना जाता है। तृतीय स्थान पर ब्रह्म ज्ञान अन्य अविषयक है। इस प्रकार से ज्ञान और चतुर्थ स्थान पर शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान इस प्रकार से नहीं माना जाता है, क्योंकि व्यावृत्ति ज्ञान ब्रह्म ज्ञान अन्य विषयक है— इसको उत्पन्न ही नहीं होने देता है। अतः ब्रह्म ज्ञान अन्य विषयक है— यह फलितार्थ माना जाता है।} पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सत्यादि पदों से प्रथम—सत्यत्वविशिष्ट ब्रह्म का ज्ञान, द्वितीय—शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान, तृतीय—व्यावृत्ति का ज्ञान। इस प्रकार से सिद्धान्ती को मानना चाहिए, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान होने पर ब्रह्मगत असत्यत्वादि की व्यावृत्ति होती हैं। अतः व्यावृत्ति ज्ञान में शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान द्वार सिद्ध होता है। शुद्ध ब्रह्म ज्ञान में व्यावृत्ति का ज्ञान द्वार सिद्ध नहीं होता है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि सत्यादि पदों के द्वारा जो पहले शक्तिवृत्ति से सत्यत्वविशिष्ट ब्रह्म का बोध होता है, उसी से असत्यत्वादि की व्यावृत्ति का बोध हो जाता है और इसके पश्चात् शुद्ध ब्रह्म का बोध होता है। यह सिद्धान्त मत में स्वीकृत है। इसको खण्ड संख्या ४६ में ''तथात्रापि—अभिधाबलात् .... व्यावृत्तिसिद्धिः'' से कहा जा चुका है।।५३।।

शङ्का— सत्यादि पदों से प्रथम— सत्यत्वादि विशिष्ट ब्रह्म का बोध होता है, द्वितीय— शुद्ध ब्रह्म का बोध होता है, तृतीय— असत्यत्वादि की व्यावृत्ति होती है— इस नियम को सिद्धान्ती नहीं मानते हैं। इसको खण्ड संख्या ५३ के अन्तिम में स्पष्ट किया जा चुका है। किन्तु पूर्वपक्षी इस नियम को मानकर कह रहा

नान्यभानानुपपत्तिः; तस्याविद्यानिवर्तकत्वाभावात्। वृत्तिरूपमप्यापातदर्शनं नाविद्यानिवर्तकम्; तस्यासाक्षात्कारत्वाद्वा, साक्षात्कारत्वेऽपि प्रतिबद्धत्वाद्वा। विचारजन्यन्तु फलीभूतं भवत्यविद्यानिवर्तकम्? न तु तत्प्राचीनमिति किमनुपपन्नम्?।५४।।

ननु सत्यशब्देनासद्व्यावृत्तिद्वारा यद्बोधितं तदेव ज्ञानादिपदैरज्ञानादिव्यावृत्तिद्वारा बोध्यमिति पदान्तरवैफल्यम्; न च द्वारविकल्पः, सत्यादिपदानां नित्यवच्छ्रवणात्, एकस्मिन् प्रयोगे व्रीहियवयोरिवैकस्मिन् वाक्ये

सत्यानन्दप्रबोधिका

है कि प्राचीने = व्यावृत्ति ज्ञान से पूर्व में होने वाला, जो ब्रह्म अज्ञान का निवर्तक ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान, उस ज्ञान के होने पर ब्रह्म का अज्ञान और ब्रह्म अज्ञान का कार्य असत्यत्वादि की निवृत्ति हो जाने से असत्यत्वादि का भान ही नहीं होगा। फलतः असत्यत्वादि का भान ही जब नहीं हो रहा है तब असत्यत्वादि की व्यावृत्ति कहना असङ्गत है, क्योंकि किसी की प्राप्ति होने पर ही उसका निषेध किया जाता है। {यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि सत्यादि वाक्य असत्यत्वादि की व्यावृत्ति का बोधन करते हैं तब पूर्वपक्षी का कथन है कि सत्यादि वाक्य को असत्यत्वादि व्यावृत्ति परक मानकर ब्रह्म ज्ञानार्थक नहीं मानने पर} ब्रह्म इस प्रातिपदिक का क्या अर्थ है? ऐसी जिज्ञासा होने पर उसके समाधान के रूप से ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म '' इत्यादि वाक्यों की प्रवृत्ति होती है– ऐसी जो सिद्धान्ती की प्रक्रिया है, उसके साथ विरोध होगा।

समाधान– सिद्धान्ती का कथन है कि ''प्राचीने ब्रह्माज्ञाननिवर्त्तकब्रह्मापरोक्षज्ञाने'' इस वाक्य के घटक ब्रह्म–अपरोक्ष ज्ञान से पूर्वपक्षी क्या कहना चाह रहा है? ब्रह्मस्वरूप ज्ञान {ब्रह्मरूप सामान्य ज्ञान}? अथवा ब्रह्माकार रूप वृत्ति ज्ञान? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर पूर्वपक्षी ने जो दोष दिया था कि ब्रह्म–अपरोक्ष ज्ञान से अज्ञान और अज्ञान का कार्य असत्यत्वादि नष्ट हो जायेंगे। अतः व्यावृत्ति कहना असङ्गत है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ब्रह्म–अपरोक्ष ज्ञान से ब्रह्म का स्वरूप भूत ज्ञान लेने पर ब्रह्म का स्वरूप भूत ज्ञान अज्ञान का साधक होता है बाधक नहीं। अतः ब्रह्म का स्वरूप भूत ज्ञान अज्ञान और अज्ञान के कार्य भूत अन्य {असत्यत्वादि} के भान का विरोधी नहीं होगा। द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर वृत्ति रूप ज्ञान भी दो प्रकार का होता है। प्रथम विचार से पहले महावाक्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान जिसे आपात ज्ञान कहते हैं। द्वितीय–विचार पूर्वक महावाक्य से उत्पन्न होने वाला ज्ञान। इनमें से आपात ज्ञान अविद्यादि का निवर्तक नहीं होता है। इसमें हेतु दे रहे हैं कि वृत्ति रूप आपात ज्ञान प्रत्यक्ष रूप नहीं है। इसलिए अविद्यादि का निवर्तक नहीं होता है। अथवा वृत्ति रूप आपात ज्ञान को प्रत्यक्ष रूप माना भी जाय तब भी वह पापादि या संसयादि के द्वारा प्रतिबन्धित रहने के कारण अविद्यादि का निवर्तक नहीं होता है। वृत्ति ज्ञान यदि विचार जन्य है। तब व्यावृत्ति ज्ञान के पश्चात् (फलीभूत) होने के कारण अविद्यादि का निर्वतक होगा। अर्थात् सत्यापि पदों से प्रथम सत्यत्वादि विशिष्ट ब्रह्म का बोध होगा, द्वितीय – असत्यत्वादि की व्यावृत्ति का बोध होगा, तृतीय – शुद्ध ब्रह्म का बोध होगा। अतः प्राचीन कहना उचित नहीं है। अर्थात् सत्यापि पदों से प्रथम सत्यत्वादि विशिष्ट ब्रह्म का बोध होगा, द्वितीय – शुद्ध ब्रह्म का बोध होगा, तृतीय – असत्यत्वादि को व्यावृत्ति का बोध होगा – ऐसा कहना उचित नहीं है। अतः खण्ड संख्या ५३ के अन्तिम में जो सिद्धान्ती ने कहा था, उसमें कोई भी अनुपपत्ति नहीं है।।५४।।

शङ्का – पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती सत्पद से असत् की व्यावृत्ति द्वारा जिस शुद्ध ब्रह्म का बोध मान रहे हैं, उसी शुद्ध ब्रह्म का बोध ज्ञानादि पदों से अज्ञानादि की व्यावृत्ति के द्वारा होता है–ऐसा भी मान रहे हैं किन्तु जब सत्पद से ही असत् की व्यावृत्ति के द्वारा शुद्ध ब्रह्म का बोध हो गया, तब ज्ञानादि

सत्याद्यनेकपदोपादानायोगात्, अनृतत्वादिभ्रान्तिनिवृत्तिरूपदृष्टकार्याणां भिन्नत्वेन व्रीहियवादिवद् विकल्पप्रयोजकस्यैककार्यत्वस्याप्यभावाच्चेति चेन्न; समुच्चितानां द्वारत्वेन सफलत्वात्। प्रधानस्य ब्रह्मणः प्रतिपत्त्युपयोगिनामानन्दादीनां भावरूपाणां 'आनन्दादयः प्रधानस्य'इत्यनेनास्थूलत्वादीनामभावरूपाणां

सत्यानन्दप्रबोधिका

पदान्तरों से अज्ञानादि की व्यावृत्ति के द्वारा उसी शुद्ध ब्रह्म का बोध मानना व्यर्थ होगा। अत: ज्ञानादि पदान्तरों में वैफल्य की आपत्ति होगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इस श्रुति के द्वारा यह नहीं कहा जा रहा है कि असद् व्यावृत्ति और अज्ञानव्यावृत्ति तथा परिच्छिन्न व्यावृत्ति – इन तीनों के समुच्चय के द्वारा ब्रह्म का बोधन होता है किन्तु असद् व्यावृत्ति और अज्ञान व्यावृत्ति तथा परिच्छिन्न व्यावृत्ति रूप जो ब्रह्म बोधन के द्वार हैं, उन द्वारों में विकल्प हैं। अर्थात् कभी असद् व्यावृत्ति से ब्रह्म का बोधन होता है, कभी अज्ञान व्यावृत्ति से ब्रह्म का बोधन होता है और कभी परिच्छिन्न व्यावृत्ति से ब्रह्म का बोधन होता है। विकल्प स्थल पर किसी का नैष्फल्य नहीं कहा जाता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह है कि जैसे ''व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा'' इत्यादि स्थल पर विकल्प बोधक ''वा'' आदि पदों का उच्चारण है वैसे ही ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इस स्थल पर सत्यादि पदो के साथ विकल्प बोधक ''वा'' आदि पदों का उच्चारण नहीं है, अपितु विकल्प रहित ''अहरहः सन्ध्यामुपासीत'' इत्यादि नित्यानुष्ठान के समान यहाँ ''वा'' आदि पदों से रहित सत्यादि पदों का कथन है। अत: उक्त व्यावृत्ति रूप ब्रह्म बोधन के द्वारों में विकल्प नहीं माना जा सकता है। विकल्प न मानने में दूसरा हेतु यह है कि एक ही याग में यव और व्रीहि—दोनों को ग्रहण कर के याग का अनुष्ठान नहीं किया जाता है अपितु एक याग में यव को और दूसरे याग में व्रीहि को ग्रहण कर के अनुष्ठान होता है ठीक इसी प्रकार एक ही वाक्य में ब्रह्म बोधन रूप एक कार्य के जनक सत्यादि अनेक पदों का ग्रहण उचित नहीं है, क्योंकि एक कार्य (ब्रह्म बोध) एक ही पद के द्वारा हो जायेगा। यदि कहा जाए कि वा शब्द के योग के विना भी एक प्रयोजन वालों में विकल्प स्वीकार किया जाता है। अत: वा शब्द के न होने पर भी विकल्प हो जायेगा। इसके खण्डन के लिए पूर्वपक्षी कह रहा है कि विकल्प न मानने में तृतीय हेतु यह भी है कि यव के द्वारा याग रूप कार्य होता है और व्रीहि के द्वारा भी याग रूप कार्य होता है। अत: विकल्प माना जाता है किन्तु प्रकृत में सत्य पद के द्वारा असत्यत्व भ्रान्ति निवृत्ति रूप दृष्ट कार्य है और ज्ञान पद के द्वारा अज्ञानत्व भ्रान्ति निवृत्ति रूप दृष्ट कार्य है और अनन्त पद द्वारा परिच्छिन्नत्व भ्रान्ति निवृत्ति रूप दृष्ट कार्य है। इस प्रकार भिन्न—भिन्न कार्य होने से विकल्प नहीं माना जा सकता है। कहने का भाव यह है कि घट कार्य और पट कार्य भिन्न—भिन्न होने से तन्तु और कपाल में विकल्प नहीं माना जाता है ठीक वैसे ही प्रकृत में भी विकल्प नहीं मान सकते हैं।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जैस पञ्चप्रयाजों का दृष्ट कार्य भिन्न—भिन्न होने पर भी परमापूर्व रूप अदृष्ट कार्य एक होने के कारण पञ्चप्रयाजों का समुच्चय माना जाता है। अर्थात् पञ्च प्रयाजों के समुच्चय के अनुष्ठान से ही परमापूर्व पैदा होगा न कि पञ्चप्रयाजों में से किसी एक के अनुष्ठान से। ठीक इसी प्रकार सत्यापि पदों का अनृतत्वादि भ्रान्ति निवृत्ति रूप दृष्ट कार्य भिन्न—भिन्न होने पर भी ब्रह्म बोधन रूप कार्य एक होने के कारण यहां भी उक्त व्यावृत्तियों में समुच्चय माना जाता है। अत: समुच्चय घटक तीनों व्यावृत्तियों के उपस्थापन में सत्यादि तीनों पदों का साफल्य हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि किसी एक व्यावृत्ति को ब्रह्म बोधन में द्वार न मानकर के सभी व्यावृत्तियों के समुच्चय को द्वार माना गया है। अत: उक्त व्यावृत्तियों के उपस्थापक सत्यादि सभी पदों की

'अक्षरधियां त्वविरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्'इत्यनेन च सूत्रेण निर्गुणब्रह्मप्रतिपत्तावेव सर्वशाखोपसंहारस्य प्रतिपादितत्वेन द्वारसमुच्चयस्यैवेष्टत्वात्।।५५।।

ननु सगुणे ब्रह्मणि उपासनार्थं भवतु शाखान्तरीयगुणोपसंहारः; निर्गुणब्रह्मप्रतिपत्तौ तु किं शाखान्तरीयगुणोपसंहारेण? सत्यादिपदानां प्रत्येकं लक्षकत्वेन लक्ष्यब्रह्मबोधने प्रत्येकमेव समर्थत्वात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

सफलता सूपपन्न है। ब्रह्म बोधन में द्वार रूप जो उक्त व्यावृत्तियां है। उनमें समुच्च है — इसमें सहमति ब्रह्मसूत्रकार और भगवान् भाष्यकार की है। इसको स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि ''आनन्दादयः प्रधानस्य'' (ब्र०सू ०३—३—११) (प्रधानस्य ब्रह्म के, आनन्दादयः = आनन्दत्वादि धर्मों का सर्वत्र उपसंहार होना चाहिए, क्योंकि सभी शाखाओं में वेद्य ब्रह्म एक है।) इस सूत्र में प्रधानस्य ब्रह्मणः= सत्यत्वादि कल्पित धर्मों की दृष्टि से निर्धर्मक ब्रह्म रूप धर्मी प्रधान है। अर्थात् प्रधानभूत जो ब्रह्म है, उस ब्रह्म के बोध के उपयोगी आनन्दादि भाव रूप सभी धर्मों का सभी शाखाओं में उपसंहार (एकत्रीकरण) प्रतिपादित होने से द्वार समुच्चय में इष्टता प्रदर्शित की गयी है। इसी प्रकार ''अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्''(ब्र.सू.३—३—३) (अक्षरधियाम् =ब्रह्मविषयक विशेष प्रतिषेधक सभी बुद्धिओं का सर्वत्र अवरोधः = उपसंहार होना चाहिए। सामान्यतद्भावाभ्याम् = क्योंकि द्वैत निरसन द्वारा ब्रह्म प्रतिपादन प्रकार सर्वत्र समान है और वही प्रतिपाद्य ब्रह्म सर्वत्र एक रूप से प्रतिज्ञात होता है। औपसदवत् = जैसे उपसद इष्टि मन्त्र सर्वत्र समान है। तदुक्तम् = इसे जैमिनी सूत्र ३—३—८ में कहा गया है।) इस सूत्र में प्रधानभूत ब्रह्म की प्रतिपत्ति में उपयोगी अभाव रूप अस्थूलत्वादि का सभी शाखाओं में उपसंहार प्रतिपादित होने से द्वार समुच्चय में इष्टता प्रदर्शित की गयी है। {अर्थात् ब्रह्म विचार करते समय भिन्न—भिन्न शाखाओं में स्थित जितने भावरूप और अभाव रूप धर्म कहे गये हैं, उन सबको एकत्र करके वे सभी ध ार्म निर्गुण ब्रह्म में कल्पित है। इस प्रकार उन सभी धर्मों का ब्रह्म में लय कर देने से निर्गुण ब्रह्म का बोध ान हो जायेगा। यदि एक धर्म का लय ब्रह्म में करते हैं और दूसरे धर्म का नहीं तब शङ्का बनी रहेगी कि यह धर्म ब्रह्म में कल्पित है कि नहीं? अतः सर्वशाखा में स्थित भावरूप धर्मों और अभाव रूप धर्मों का उपसंहार (एकत्रीकरण) प्रतिपादित होने से द्वार समुच्चय ही इष्ट है।} भगवान् भाष्यकार ने ब्रह्म सूत्र ३—३—३३ के भाष्य में प्रारम्भ में ही व्यावृत्तियों के समुच्चय को कहा है — ''वाजसेनयके श्रूयते —''एतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति — अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्धमलोहितमस्नेहम्।'' (ब्र.उ.३—६—८) इत्यादि। तथा ऽऽथर्वणे श्रूयते —''अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्'' (मु०उ० १—१—५) इत्यादि। तथैवान्यत्रापि विशेषनिराकरणद्वारेणाक्षरं परं ब्रह्म श्राव्यते।'' यहां ''तथैवान्यत्रापि विशेषनिराकरणद्वारेण'' कहकर भगवान् भाष्यकार ने व्यावृत्तियों के समुच्चय में अपनी सहमति प्रदर्शित की है।।५५।।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि उपासक जब सगुण ब्रह्म की उपासना सगुण ब्रह्म के अनेक गुणों का चिन्तन करते हुए करता है तब उसकी उपासना शीघ्र सफल हो जाती है। अतः सगुण ब्रह्म की उपासना के लिए शाखान्तरीय गुणों का उपसंहार (एकत्रीकरण) युक्ति युक्त है, किन्तु निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान के लिए शाखान्तरीय गुणों का उपसंहार करना उचित नहीं हैं, क्योंकि निर्गुण प्रकरण में पठित सत्यादि पदों में से प्रत्येक पद ही लक्षणा वृत्ति के द्वारा लक्ष्यार्थ को बोधन कराने वाला है। अतः किसी एक निर्गुण प्रकरण में पठित जब एक ही सत्य पद से ब्रह्म का बोध हो गया तब उसी ब्रह्म के बोध के लिए शाखान्तरीय आनन्दादि पदों का उपसंहार करना अनुचित है। दूसरी बात यह है ''प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'' इस चन्द्र लक्षण

सत्यत्वादेश्च प्रत्येकं लक्षणत्वात्। नहि प्रकृष्टत्वादिकमिव सत्यत्वादिकमतिव्याप्तमिति चेन्न; प्रकृष्टप्रकाशपदयोरिव सत्यादिपदानामपि कुमतप्राप्तातिव्याप्तिनिवृत्त्यर्थं समुच्चयापेक्षणात्। नह्यनृतव्यावृत्तिबोधनं विना 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यत्र शून्यवादव्यावृत्तब्रह्मसिद्धिः। एवमेकैकपदाभावे सर्वत्रातिव्याप्तिरूहनीया, तथा च सत्यत्वादिकमनृतादिव्यावृत्तिद्वारा शून्यवादादिव्यावृत्तब्रह्मसिद्धेरुपायः। न च व्यावृत्तिः किं ब्रह्मविशेषणत्वेन बोध्या? स्वतन्त्रा वा? आद्ये सखण्डार्थत्वम्, द्वितीये ब्रह्मजिज्ञासुं प्रति तदुपदेशोऽसङ्गत इति वाच्यम्; व्यावृत्तिर्यद्यपि विशेषणतयैवार्थिकबोधे भासते, तथापि न शाब्दबोधे सखण्डार्थत्वम्। यश्चार्थादर्थो न स चोदनार्थ इति न्यायात्। तदुक्तं वार्तिककारैः—'मानान्तरादपोहस्तु न शाब्दस्तेन स स्मृतः।' इति। न

सत्यानन्दप्रबोधिका

में प्रकाश पद न देने पर प्रकृष्ट अन्धकार में अतिव्याप्ति होती है और प्रकृष्ट पद न देने पर दीपक गत प्रकाशादि में अतिव्याप्ति होती है। अतः दोनों पदों को दिया जाता है किन्तु सत्यत्वादि प्रत्येक को ब्रह्म का लक्षण कहने पर कहीं पर भी अतिव्याप्ति — आदि दोष होता नहीं है। अपितु ब्रह्म का बोध हो जाता है। अतः सत्यादि सभी पदों को मिलाकर ब्रह्म का लक्षण कहना उचित नहीं है।

समाधान — उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि इसका समाधान खण्ड संख्या ३ में ''अस्मन्मते यद्यपि सत्याद्यन्यतमपदं स्वरूपलक्षणपरम् ....'' किया जा चुका है। उसी को यहां पर संक्षेप से सिद्धान्ती पुनः कह रहे हैं कि अतिव्याप्ति आदि दोषों के निराशार्थ जैसे चन्द्र लक्षण में प्रकृष्ट और प्रकाश इन दोनों पदों की आवश्यकता होती है ठीक उसी प्रकार शून्यवादादि कुत्सित मतों को लेकर प्राप्त अतिव्याप्ति आदि दोषों को दूर करने के लिए समुच्चयात्मक लक्षण की उपस्थिति कराने के लिए सत्यादि सभी पदों की सार्थकता है। असत् व्यावृत्ति के बोधन के विना ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' {बृ.उ. ३.९.२३} यहां पर शून्यवाद से व्यावृत्त ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती है। इस प्रकार से एक—एक पद के अभाव में सर्वत्र अतिव्याप्ति ऊहनीय है। इसको खण्ड संख्या ३ में देखना चाहिए। फलतः सत्यादि पदों से अनृतादि की व्यावृत्ति जो होती है, वह शून्यवादादि से व्यावृत्त ब्रह्म बोध में उपाय है।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन कि सत्यादि पदों के द्वारा असत्यत्वादि व्यावृत्तियों की प्रतीति होती है। वह प्रतीति क्या लक्षण वाक्य जन्य बोध में व्यावृत्ति विशिष्ट ब्रह्म इस प्रकार से होती है? अथवा लक्षण वाक्य जन्य बोध में उक्त व्यावृत्ति की प्रतीति नहीं होती है। अपितु स्वतन्त्र रूप से उसकी प्रतीति होती है? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर लक्षण वाक्य को सखण्डार्थक मानना होगा। द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर जो ब्रह्म जिज्ञासु केवल ब्रह्म को ही जानना चाहता है। उसके प्रति उक्त व्यावृत्तियों का उपदेश करना असङ्गत होगा।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि व्यावृत्ति यद्यपि विशेषण रूप से आर्थिक बोध में भासित होती है। तथापि शाब्दबोध में सखण्डार्थत्व की आपत्ति नहीं होगी {कहने का भाव यह है कि सत्य पद से प्रथम सत्यत्वविशिष्ट ब्रह्म का बोध होता है। उसके पश्चात् मध्य में आर्थिक बोध (अर्थापत्ति से जन्य बोध) उक्त व्यावृत्ति विशिष्ट ब्रह्म का बोध होता है। इसके पश्चात् अन्त में शुद्ध ब्रह्म का शाब्द बोध होता है। अतः आर्थिक बोध सखण्डार्थक होने पर भी शाब्द बोध (शुद्ध ब्रह्म का बोध) अखण्डार्थक ही है।} ''यश्चार्थादर्थो न स चोदनार्थः'' {जै०सू० ११.३.१४} इस सूत्र के अर्थ को स्पष्ट करते हुए श्री शबर स्वामी ने कहा है कि जो अर्थ किसी शब्द की वृत्ति से अवगत न हो कर अर्थापत्ति से अवगत होता है। वह वाक्यार्थ का घटक नहीं माना जाता है। वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य ने भी कहा है— अपोहस्तु = अनृतादि की व्यावृत्ति, मानान्तरात् = अनुपपत्ति लक्षण प्रमाणान्तर से ज्ञात होती है। तेन = अतः, सः = अनृतादि व्यावृत्ति

चार्थिकेनापि विशेषणेन ब्रह्मणः सखण्डत्वापत्तिः, निर्धर्मकत्वादिश्रुतेर्विशेषणस्य धर्म्यसमानसत्ताकत्वेन सखण्डत्वाप्रयोजकत्वात्।।५६।।

न चानन्तशब्देनान्तवद्व्यावृत्तेस्साक्षादेव बोधनान्न तस्य आर्थिकत्वम्, तथाचानन्तपदस्य सखण्डार्थत्वं स्यादिति वाच्यम्; यद्यपि 'तत्रानन्तोऽन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणम्। स्वार्थार्पणप्रणाड्या तु परिशिष्टौ विशेषणम्।।'

इति तैत्तिरीयवार्तिकोक्तदिशा विधिपदानां स्वार्थार्पणप्रणाडिकया अर्थादितरनिवृत्तिबोधकत्वम्; निषेधपदानान्तु साक्षादिति स्थितम्; तथापि द्वारभूते ज्ञाने सखण्डार्थत्वेऽपि परमतात्पर्यविषयज्ञाने नाखण्डार्थत्वव्याघात

सत्यानन्दप्रबोधिका

को शाब्द बोध का विषय नहीं माना जाता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि शब्द प्रमाण से उक्त व्यावृत्तियों के अधिगत न होने पर भी अर्थापत्त्यादि प्रमाणान्तर से अधिगत अनृतादि व्यावृत्तियों के होने पर उक्त व्यावृत्तियों से विशिष्ट होकर ब्रह्म का बोध सखण्डार्थक ही होगा।

समाधान— उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के समान पारमार्थिक सत्ता वाला यदि कोई विशेषण होता तब उस विशेषण से विशिष्ट ब्रह्म का बोध सखण्डार्थक होता किन्तु ''केवलो निर्गुणश्च'' इत्यादि निर्धर्मक बोधक श्रुति वाक्य ब्रह्मगत धर्मों और विशेषणों का बाध कर देता है। अतः ब्रह्मगत कोई भी धर्म या विशेषण पारमार्थिक सिद्ध नहीं हो पाता है। फलतः अनृतत्वादि व्यावृत्तियां व्यावहारिक मात्र रह जाने से ब्रह्मबोध में सखण्डार्थकत्व की आपत्ति नहीं होगी ।।५६।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सत्य और ज्ञान शब्द से जो असत्यत्वादि की व्यावृत्ति हो रही है। वह आर्थिक है। अतः शाब्दबोध में अन्वय न होने से सखण्डार्थत्व की आपत्ति न होने पर भी अनन्त पद से जो अन्तवत्त्व की व्यावृत्ति हो रही है वह तो आर्थिक नहीं है अपितु साक्षात् शब्द से ही उसका अभिधान हो रहा है। आप ने खण्ड संख्या ५६ में विशेषण रूप से व्यावृत्ति को मानकर समाधान दिया है। अतः अनन्त पद से जो ब्रह्म बोध होगा। उसमें उक्त व्यावृत्ति का विशेषण के रूप से अन्वय होने पर अनन्त पद में सखण्डार्थकत्व की आपत्ति होगी।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि यद्यपि तैत्तिरीय वार्तिक में श्रीसुरेश्वराचार्य जी ने कहा है—

तत्रानन्तोऽन्तवद्वस्तु व्यावृत्यैव विशेषणम्। स्वार्थार्पणप्रणाड्या तु परिशिष्टौ विशेषणम्।।

{अर्थात् तत्र = सत्यादि तीनों पदों में, अनन्तः = अनन्द पद अन्तवद् वस्तु की साक्षात् व्यावृत्ति करता है। अतः उक्त व्यावृत्ति ब्रह्म बोध में विशेषण के रूप से अन्वित होती है। तु = किन्तु परिशिष्टौ = सत्य और ज्ञान पद सत्यत्व—ज्ञानत्व रूप स्वार्थ बोधन के माध्यम से असत्यत्वादि की व्यावृत्ति करता है। अतः उक्त व्यावृत्ति परिशेषतः (अर्थतः) विशेषण मानी जाती है। अतः अर्थतः प्रतीत होने के कारण उक्त अनृतादि व्यावृत्ति ब्रह्म बोध में विशेषण के रूप में अन्वित नहीं होती है।} इस प्रकार तैत्तिरीय वार्तिक में कहे गये के अनुसार विधि रूप सत्यादि पद स्वार्थ बोधन के माध्यम से अर्थतः व्यावृत्ति के बोधक होते हैं और निषेधा रूप अनन्तादि पद साक्षात् व्यावृत्ति के बोधक होते हैं। तथापि शुद्ध ब्रह्म में द्वारभूत अन्तवद् व्यावृत्ति विशिष्ट ब्रह्म ज्ञान के सखण्डार्थक होने पर भी परम तात्पर्य विषयीभूत शुद्ध ब्रह्म के ज्ञान में अखण्डार्थकत्व की हानि नहीं होती है। अतः अनन्त पद को अखण्डार्थक मानने में कोई भी आपत्ति नहीं है। यह पीछे कई बार स्पष्ट किया जा चुका है। इसको स्पष्ट करते हुए न्यायमकरन्द में श्रीआनन्दबोधाचार्य ने कहा है— विज्ञान और आनन्द पद के लक्ष्यार्थ (शुद्ध ब्रह्म) में भेद न होने पर भी व्यावर्तनीय जो अविज्ञान और अनानन्द

इत्यसकृदुक्तम्। एतदेवोक्तमानन्दबोधाचार्य्यैः—'लक्ष्यार्थभेदाभावेऽपि व्यवच्छेद्यविभेदतः। विज्ञानानन्दपदयोः पर्य्यायव्यर्थते नहि।।' इति। एवं पदे लक्षणेतिपक्षे समाहितम्।।५७।।

केचित्त्वत्र वाक्ये लक्षणामाहुः, न पदे। तथाहि यथा 'गम्भीरायां नद्यां घोषः' इत्यत्र गम्भीरनद्योः परस्परमन्वयबोधानन्तरं विशिष्टार्थसम्बन्धितीरं लक्ष्यते, तथा प्रकृते परस्परविशिष्टार्थबोधानन्तरं तत्सम्बन्ध्यखण्डं लक्ष्यते, तथा च न पदवैयर्थ्यम्। न च तत्रापि प्रत्येकं लक्षणा, तथा सति गम्भीरतीरनदीतीरादिलाभेन विशिष्टतीरबुद्धिर्न स्यात्। न च तत्र गम्भीरनदीपदयोरिव इह सत्यादिपदानां परस्परमन्वयबोधकत्वं त्वन्मते

सत्यानन्दप्रबोधिका

है उनमें भेद होने के कारण विज्ञान पद और आनन्द पद में भी पर्यायिता तथा व्यर्थता की आपत्ति नहीं है। जिस मत में पद में लक्षणा मानी जाती है। उस मत के अनुसार सत्यादि प्रत्येक पद लक्षणा के द्वारा अखण्ड ब्रह्म का बोध कराते हैं। इस प्रकार सत्यादि वाक्यों के अखण्डार्थकत्व का निरूपण किया गया। कहने का भाव यह है कि नैयायिक पद में ही शक्ति वृत्ति और लक्षणावृत्ति मानते हैं, वाक्य में नहीं। जब कि पूर्वमीमांसक वाक्य में लक्षणा मानते है, पद में नहीं। किन्तु नैयायिकों का कथन है कि शक्य सम्बन्ध को ही लक्षणा कहते हैं। पद ही शक्त होता है। अतः शक्य सम्बन्ध किसी पद का ही होगा वाक्य का नहीं, क्योंकि वाक्य न तो शक्त होता है और न ही उसका कोई शक्य होता है। अतः शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणा वृत्ति वाक्य में नहीं रह सकती है। अतः सिद्धान्ती ने सर्वप्रथम पद में लक्षणावृत्ति मानकर अखण्डार्थकत्व का उपपादन किया। इसके आगे पूर्वमीमांसक मतानुसार वाक्य में लक्षणा वृत्ति मानकर वेदान्त वाक्यों में अखण्डार्थकत्व का उपपादन होगा।।५७।।

पूर्वमीमांसक मत का अनुसरण करने वाले नवीन अद्वैताचार्यों का मत है कि ''गम्भीरायां नद्यां घोषः'' इस स्थल पर शक्तिवृत्ति से गम्भीर और नदी पद परस्पर अन्वय बोध (गम्भीरत्व विशिष्ट नदी का बोध) कराते हैं। इसके पश्चात् गम्भीरत्वविशिष्ट नदी सम्बन्धी तीर में लक्षणा होती है ठीक इसी प्रकार सत्यादि पदों के द्वारा शक्ति वृत्ति से सत्यत्व—ज्ञानत्व—अनन्तत्व विशिष्ट ब्रह्म का बोध हो जाने पर सत्यत्वादि विशिष्ट ब्रह्म सम्बन्धी अखण्डार्थ (शुद्ध ब्रह्म) में लक्षणा होती है। इस प्रकार पद में लक्षणा न मानकर के वाक्य में लक्षणा मानने पर विशिष्टार्थ विषयक प्राथमिक शाब्द बोध के उत्पादन में सभी पदों का सार्थक्य होने के कारण पदगत वैयर्थ्यता की आपत्ति नहीं आती है। ''गम्भीरायां नद्यां घोषः'' इस स्थल पर प्रत्येक पद में लक्षणा होती है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक पद में लक्षणा मानने पर गम्भीर पद के द्वारा लक्षणा वृत्ति से गम्भीर सम्बन्धी तीर का बोधन होगा और नदी पद के द्वारा लक्षणा वृत्ति से नदी सम्बन्धी तीर का बोधन होगा। गम्भीरत्व विशिष्ट नदी सम्बन्धी तीर का बोधन नहीं हो पायेगा।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे गम्भीर और नदी दोनों पद शक्ति वृत्ति से परस्पर अन्वय (गम्भीरत्व विशिष्ट नदी) का बोधन कराते हैं। इसके पश्चात् लक्षणा वृत्ति से उक्त दोनों पद गम्भीरत्व विशिष्ट नदी से सम्बन्धित तीर का बोधन कराते हैं। परन्तु प्रकृत में लक्षणा करने से पहले सत्य ज्ञान और अनन्त पद शक्ति वृत्ति से परस्पर अन्वय (सत्यत्व ज्ञानत्व विशिष्ट अनन्त) का बोधन नहीं कराते हैं किन्तु तीनों पद पृथक्—पृथक् रूप से शक्ति वृत्ति के बल पर पृथक्—पृथक् अपने वाच्यार्थ का बोधन कराते हैं। इस लिए पृथक्—पृथक् पदों में लक्षणा माननी पड़ेगी। ऐसा होने पर एक पद से ही लक्षणा के द्वारा ब्रह्म बोध हो जाने पर शेष पद व्यर्थ हो जायेंगे। ऐसा पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म के बोध में द्वारीभूत जो परस्पर अन्वय बोध

नास्तीति वाच्यम्, एकस्मिन् ब्रह्मणि द्वारीभूतस्य परस्परार्थान्वयबोधस्य सत्यादिपदैः मिलित्वा जननात्, उत्तरकाले एव लक्षणया अखण्डबोधस्याभ्युपगमात्। न च 'सत्यं ज्ञानम् विज्ञानमानन्दम्' इत्यादौ अन्योन्यानपेक्षाणां सत्यादिपदानां ब्रह्मलक्षकत्वदर्शनात् कथं गम्भीरायामित्यादितुल्यन्यायतेति वाच्यम्; यत्र वस्तुगत्या गम्भीरनद्यभिप्रायेणैव नद्यां घोष इत्युक्तं तत्र परस्परनिरपेक्षलक्षकत्वस्य, गम्भीरायामित्युक्तौ च मिलितलक्षकत्वस्य दर्शनात् गुणोपसंहारन्यायेन द्वारसमुच्चयस्य स्थापितत्वाच्च।।५८।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

(सत्यत्व– ज्ञानत्व–अनन्तत्व विशिष्ट ब्रह्म बोध) को शक्तिवृत्ति से सत्यादि पद मिलकर उत्पन्न करते हैं। इसके पश्चात् अर्थात उक्तविशिष्ट बोध की उत्पत्ति के उत्तर काल में लक्षणा वृत्ति से अखण्ड बोध होता है—ऐसा सिद्धान्त मत होने से कोई दोष नहीं है।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तै०उ० २—१—१) इस स्थल पर ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म (बृ०उ० ३—९—२८) इस बृहदारण्यक उपनिषद् पठित आनन्द पद से अनपेक्षित होकर के सत्यादि पद लक्षणा के द्वारा शुद्ध ब्रह्म का बोध कराता है और बृहदारण्यक उपनिषद् पठित आनन्द पद तैत्तिरीय उपनिषद् पठित सत्य पद की अपेक्षा किये विना ही लक्षणा के द्वारा शुद्ध ब्रह्म का बोध कराता है। इस प्रकार दार्ष्टान्त में सभी पद स्वतन्त्र रूप से (न कि परस्पर अन्वि होकर) ब्रह्म के लक्षक हो रहे हैं। जब कि दृष्टान्त में गम्भीर और नदी पद परस्पर अन्वित हो कर के तीर के लक्षक हो रहे हैं। अर्थात् दार्ष्टान्त में पद में लक्षणा और दृष्टान्त में वाक्य में लक्षणा होने से तुल्य न्याय नहीं है। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य दोष है।

समाधान— दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य नहीं है— इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे है कि जहाँ वक्ता ने गम्भीर पद का उच्चारण नहीं किया किन्तु केवल ''नद्यां द्योषः'' इतना ही कहा। परन्तु वक्ता का नदी पद के द्वारा गम्भीर नदी रूप अर्थ के बोधन में अभिप्राय है। अतः ऐसे स्थल पर गम्भीर पद से अनपेक्षित होकर केवल नदी पद लक्षणा के द्वारा गम्भीरत्व विशिष्ट नदी से सम्बन्धित तीर का बोध न कराता है। ठीक इसी प्रकार ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' इस स्थल पर यद्यपि सत्य और अनन्त पद नहीं है किन्तु वहाँ भी श्रुति सत्य अनन्त विज्ञान आनन्द रूप ब्रह्म के अभिप्राय से ही ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' कहा है। अभिप्राय इस लिए सूचित होता है कि तैत्तिरीयादि श्रुति वाक्यों में सत्यादि पदों का उच्चारण किया गया है। सभी श्रुति वाक्यों के अनुसार ही श्रुति का तात्पर्य अवगत होता है। अतः यहाँ भी सत्यादि पद से निरपेक्ष होकर के ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' यह वाक्य लक्षणा के द्वारा सत्यत्व—अनन्तत्व—ज्ञानत्व और आनन्दत्व से विशिष्ट ब्रह्म से सम्बन्धित शुद्ध ब्रह्म का बोधन कराता है। जहाँ ''गम्भीरायां नद्यां घोषः'' ऐसा कहा गया है। वहाँ गम्भीर और नदी दोनों पद परस्पर अन्वित होकर के लक्षणा के द्वारा गम्भीरत्वविशिष्ट नदी से सम्बन्धित तीर का बोधन कराते हैं। ठीक इसी प्रकार जहाँ ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इस प्रकार सत्य ज्ञान और अनन्त तीनों पद कहे गये हैं, वहाँ तीनों पद परस्पर अन्वित होकर के लक्षणा के द्वारा सत्यत्व—ज्ञानत्व—अनन्तत्व से विशिष्ट ब्रह्म से सम्बन्धित शुद्ध ब्रह्म का बोधन कराते हैं। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि खण्ड संख्या ५५ में कहा जा चुका है कि गुणोपसंहार न्याय के द्वारा भिन्न—भिन्न शाखाओं में पठित गुण पद परस्पर मिलकर अर्थात् परस्पर अन्वित होकर पहले विशिष्ट ब्रह्म का बोध कराते हैं इसके पश्चात्—शुद्ध ब्रह्म का बोध होता है। अतः सत्यादि पद भी इतर निरपेक्ष होकर विशेष्य के लक्षक नहीं माने जाते है। इसलिए पूर्वपक्षी ने यह जो का था कि सत्यादि पद परस्पर अनपेक्ष होकर ब्रह्म के लक्षक होते हैं। उसका खण्डन हो गया।।५८।।

न च परस्परपदसाहित्येन तत्र गम्भीरनदीसम्बन्धितीरं लक्ष्यते, अन्यथा त्वेकैकसम्बन्धि, प्रकृते त्वधि–कलाभो न पदान्तरेणापीति वाच्यम्, तत्रापि युगपद्वृत्तिद्वयविरोधापत्त्या गम्भीरनदीतीरत्वेन लक्षणानभ्युपगमात्, वस्तुगत्या विशिष्टसम्बन्धिनः प्रत्येकपदादपि लाभात्। अथ विशिष्टबुद्धिद्वारत्वाद्वारत्वाभ्यां विशेषः, प्रकृतेऽपि स तुल्य एव। ननु गम्भीरायामित्यत्रापि न मिलिते लक्षणा; किन्तु नदीपद एव; परस्परसाहित्येन

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि ''गम्भीरायां नद्यां घोषः'' ऐसे स्थल पर गम्भीर और नदी परस्पर अन्वित होकर लक्षणा के द्वारा गम्भीरत्वविशिष्ट नदी से सम्बन्धित तीर लक्षित होता है। अन्यथा = जहाँ केवल ''गम्भीरायां घोषः'' अथवा केवल ''नद्यां घोषः'' ऐसा कहा जाता है वहाँ केवल गम्भीर सम्बन्धी तीर अथवा केवल नदी सम्बन्धी तीर लक्षित होता है। अतः दृष्टान्त में एक पद गम्भीरादि के उच्चारण से गम्भीर सम्बन्धी तीर की अपेक्षा से दोनों पदो ंके उच्चारण से अर्थात् ''गम्भीरायां नद्यां घोषः'' ऐसा कहने पर गम्भीरत्व विशिष्ट नदी सम्बन्धी तीर इस प्रकार से अधिक लाभ हो रहा है। जब कि दार्ष्टान्त स्थल पर सत्यादि वाक्य में द्वार के रूप से आनन्द का समुच्चय करने पर शुद्ध ब्रह्म का बोध होगा और न करने पर भी शुद्ध ब्रह्म का बोध होगा। यहाँ अधिक कोई लाभ नहीं है। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है।

समाधान — पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''नद्यां घोषः'' ''गम्भीरायां घोषः'' ''गम्भीरायां नद्यां घोषः'' इन सभी स्थलों पर लक्ष्यार्थ के रूप में केवल तीर का ही भान होता है। नदी सम्बन्धी तीर या गम्भीर सम्बन्धी तीर अथवा गम्भीरत्व विशिष्ट नदी सम्बन्धी तीर का लक्ष्यार्थ के रूप से भान नहीं होता है, क्योंकि उक्त प्रकार से भान के लिए एक साथ शक्ति वृत्ति और लक्षणा वृत्ति की प्रवृत्ति माननी पडेगी। अर्थात् शक्ति वृत्ति से नदी या गम्भीर अथवा गम्भीरत्व विशिष्ट नदी का भान और लक्षणा से तीर का भान एक साथ मानना पडेगा, किन्तु एक साथ वृत्तिद्वय के विरोध के कारण दोनों वृत्तियों की प्रवृत्ति नहीं मानी जाती है। अतः पहले शक्ति वृत्ति के द्वारा नदी या गम्भीर या गम्भीरत्व विशिष्ट नदी का बोध होगा। उसके पश्चात् तत्सम्बन्धित्वेन तीर का बोध लक्षणा से होगा। अतः दृष्टान्त स्थल पर भी गम्भीरादि पद देने पर भी अधिक लाभ नहीं है। अतः दृष्टान्त दार्ष्टान्त में वैषम्य नहीं है। मूलस्थ ''वस्तुगत्या'' से दूसरी युक्ति दे रहे हैं। पीछे कहा जा चुका है कि गम्भीर पद का उच्चारण न करके केवल ''नद्यां घोषः'' कहा गया है, अथवा नदी पद का उच्चारण न करके केवल ''गम्भीरायां घोषः'' कहा गया है। ऐसे स्थल पर नदी पद से भी गम्भीरत्व विशिष्ट नदी सम्बन्धी तीर का लाभ वक्ता के अभिप्राय के बल पर होगा और गम्भीर पद से भी गम्भीरत्व विशिष्ट नदी सम्बन्धी तीर का लाभ वक्ता के अभिप्राय के बल पर होगा। अतः गम्भीर देने पर भी कोई अधिक लाभ नहीं हो रहा है। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य नहीं है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि गम्भीर पद कहने या न कहने पर उभय स्थल पर ही लक्ष्यार्थ के रूप से तीर का ही बोधन होता है। अतः गम्भीर पद देने पर अधिक लाभ नहीं होता है, किन्तु गम्भीर पद देने पर द्वार भूत अर्थ = विशिष्ट बुद्धि (गम्भीरत्वविशिष्ट नदी बुद्धि) का लाभ होगा और गम्भीर पद न देने पर द्वार भूत उक्त विशिष्ट बुद्धि का लाभ नहीं होगा। इस प्रकार से दृष्टान्त में विशेषता है। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दार्ष्टान्त में भी सत्य पद कहने पर अनृतव्यावृत्ति रूप द्वार का लाभ होगा और न रहने पर नहीं होगा। इसी प्रकार ज्ञानादि पदों के देने पर तत्–तत् व्यावृत्तियों का लाभ होगा और न कहने पर लाभ नहीं होगा। इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में तुल्यता ही है।

शङ्का — ''गम्भीरायां नद्यां घोषः'' इत्यादि वाक्य में भी गम्भीर और नदी पदों के समूह (गम्भीरत्वविशिष्ट

विशिष्टबोधानन्तरं स्वज्ञाप्यविशिष्टसम्बन्धिनि लक्षणासम्भवात्, स्वज्ञाप्यसम्बन्ध एव हि लक्षणा; लाघवात्, न तु तद्विशेषः शक्यसम्बन्धः; गौरवात्, तथाच पदद्वये लक्षणा, लक्षणाद्वयं वा न युक्तम्। एवञ्च वृत्तेः पदवृत्तित्वनियमोऽपि सङ्गच्छत इति चेत्।।५९।।

नैतत्सारम्; स्वज्ञाप्यसम्बधो हि लक्षणेति त्वयोच्यते। तच्च ज्ञाप्यं प्रकृते विशिष्टम्, तज्ज्ञापकत्वं चोभयोः साधारणमिति कथं नदीपद एव लक्षणा? न गम्भीरपदे; विनिगमकाभावात्। न च गाम्भीर्येण सह

सत्यानन्दप्रबोधिका

नदी) में लक्षणा नहीं मानी जाती है, अपितु केवल नदी पद की ही तीर में लक्षणा मानी जाती है। गम्भीर और नदी पदों के परस्पर अन्वय से शक्तिवृत्ति के द्वारा गम्भीरत्व विशिष्ट नदी का बोध द्वार के रूप से होता है। इसके पश्चात् स्वज्ञाप्यविशिष्टसम्बन्धिनि= विशिष्ट रूप जो वाक्यार्थ है, वह जैसे वाक्य से ज्ञापित होता है, वैसे ही पद से भी ज्ञापित होता है। अतः स्वज्ञाप्यसम्बन्ध को ही लक्षणा का स्वरूप माना जाता है। यहां स्व पद से लक्षक पद = नदी का ग्रहण है। उससे ज्ञाप्य = गम्भीरत्वविशिष्ट नदी, उस विशिष्ट का सम्बन्धी तीर है। तादृश तीर में नदी पद की लक्षणा है, मिलित की नहीं। {यहां पूर्वपक्षी का भाव यह है कि ''गम्भीरायां नद्यां घोषः'' इस स्थल पर नदी पद में ही लक्षणा होगी, किन्तु नदी पद से ज्ञापित अर्थ गम्भीरत्व विशिष्ट नदी होगा। ऐसे ही ''नद्यां घोषः'' इस स्थल पर भी नदी पद में ही लक्षणा होगी, किन्तु नदी पद से ज्ञापित अर्थ प्रवाह रूप नदी होगा। इस प्रकार नदी पद ही तीर का लक्षक होगा। अर्थात् वाक्य में लक्षणा नही होती है, अपितु पद में ही होती है।} यदि कहा जाय कि जब पद का ही लक्षकत्व है, तब स्वशक्यसम्बन्ध ही लक्षणा का स्वरूप होगा, क्योंकि वाक्यार्थ स्व का शक्य नहीं है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि लाघव से स्वज्ञाप्य सम्बन्ध को ही लक्षणा माना जाता है, स्वशक्य सम्बन्ध को लक्षणा नहीं माना जाता है, क्योंकि ज्ञाप्य सम्बन्ध का ही एक प्रकार विशेष = शक्यसम्बन्ध है। इसलिये प्रकारी की अपेक्षा प्रकारों को लक्षणा का स्वरूप मानने पर गौरव दोष होगा। इस प्रकार एक पद (नदी) में ही लक्षणा मानने से ही जब सर्वत्र व्यवस्था बन जा रही है, तब दो मिलित पदों (गम्भीर और नदी मिलित पदों) की एक तीर में लक्षणा करना उचित नहीं है। इसी प्रकार गम्भीर और नदी दोनों पदों में पृथक्—पृथक् दो बार एक तीर में लक्षणा करना भी उचित नहीं है एवं च = वाक्य में लक्षणा न मानकर पद में लक्षणा मानने से, शक्तिवृत्ति हो या लक्षणा वृत्ति हो। दोनों पद में ही रहती है। यह नियम भी भङ्ग नहीं होता है।।५९।।

समाधान — पूर्वपक्षी के कथन में कोई सार नहीं है, क्योंकि स्वज्ञाप्यसम्बन्ध लक्षणा है — ऐसा पूर्वपक्षी के द्वारा कहा जा रहा है, किन्तु वह ज्ञाप्य = विशिष्ट = गम्भीरत्वविशिष्ट नदी रूप है। त् ज्ञापकत्वम् = उस विशिष्ट (गम्भीरत्व विशिष्ट नदी) का ज्ञापकत्व दोनों पदों (गम्भीर और नदी) में साधारण रूप से है। अतः नदी पद में ही लक्षणा होगी, गम्भीर पद में नहीं। इसमें कोई एकतरपक्षपातिनी युक्ति नहीं है। {कहने का भाव यह है कि जहां दोनों पद (गम्भीर और नदी) प्रयुक्त हुये हैं, वहां यदि केवल नदी पद से गम्भीरत्व विशिष्ट नदी यह अर्थ ज्ञापित हो सकता है, और तत्सम्बन्धी तीर में लक्षणा हो सकती है, तब तो केवल गम्भीर पद से भी गम्भीरत्व विशिष्ट नदी अर्थ ज्ञापित होगा और तत्सम्बन्धी तीर में लक्षणा हो ही सकती है। अतः जब दोनों पदों में लक्षणा हो रही है, तब नदी पद में ही लक्षणा होगी, गम्भीर पद में नहीं। इसमें पूर्वपक्षी के पास कोई विनिगमना नहीं है। अतः मिलित दोनों पदों में लक्षणा मानना चाहिये}।

शङ्का — नदी पद में ही लक्षणा मानी जाय, गम्भीर पद में नहीं। इसके लिये विनिगमना पूर्वपक्षी दे रहा है कि नदी पद नदी रूप द्रव्य का वाचक है, किन्तु गम्भीर पद नदी रूप द्रव्य का वाचक नहीं है, किन्तु

तीरस्य परम्परया सम्बन्धः; नद्याः साक्षात्सम्बन्ध एव विनिगमक इति वाच्यम्; 'निम्नं गभीरं गम्भीरम्'इतिकोशात् गम्भीरपदस्य निम्नरूपनदीद्रव्यवाचित्वेन साक्षात्सम्बन्धस्यापि साधारणत्वात्। न च विशेषणविभक्तेः साधुत्वार्थकत्वाद् गम्भीरपदलक्षणायां विभक्त्यर्थानन्वय इति वाच्यम्; विशिष्टबोधसमये गम्भीरपदस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

नदी में रहने वाला गाम्भीर्य रूप धर्म का वाचक है। इसलिये गम्भीर पद बोध्य गाम्भीर्य के साथ नदी का स्वाश्रयसंयोग रूप परम्परा सम्बन्ध है। जैसे स्व = गाम्भीर्य, उसका आश्रय = नदी, उसके साथ संयोग = तीर का है। जबकि नदी नद बोध्य नदी का तीर के साथ साक्षात् संयोग रूप सम्बन्ध है। अतः जहां लक्ष्यार्थ के साथ साक्षात् सम्बन्ध होगा, वहां लक्षणा होगी, किन्तु जहां लक्ष्यार्थ के साथ परम्परा सम्बन्ध होगा, वहां लक्षणा नहीं होगी। इस विनिगमना के बल पर नदी पद में ही लक्षणा होगी, गम्भीर पद में नहीं।

समाधान — सिद्धान्ती पूर्वपक्षी के द्वारा गम्भीर पद से किया गया गाम्भीर्य धर्म रूप अर्थ का खण्डन कर के दिखा रहे हैं कि गम्भीर पद का अर्थ नदी रूप द्रव्य होता है। ''निम्नं गभीरं गम्भीरं'' (अमर कोश काण्ड १ वर्ग १० श्लोक १५) इस कोशरूप प्रमाण से गम्भीर पद नदी का वाचक है। अर्थात् कोश में निम्न का अर्थ नदी है। उस निम्न का पर्यायवाची के रूप से गम्भीर पद का प्रयोग हुआ है। अतः गम्भीर का भी अर्थ नदी रूप द्रव्य ही होगा। अतः जैसे नदी के साथ तीर का संयोग रूप साक्षात् सम्बन्ध है, वैसे ही गम्भीर के साथ भी तीर का संयोग रूप साक्षात् सम्बन्ध है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा दी गयी विनिगमना का खण्डन हो गया। अतः मिलित दोनों पदों में लक्षणा मानना उचित है।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि ''गम्भीरायां नद्यां घोषः'' इस स्थल पर गम्भीर पद विशेषण और नदी पद विशेष्य है। विशेषण वाचक पदोत्तर विभक्ति का अर्थ विवक्षित नहीं होता है, अपितु उक्त विभक्ति केवल पद साधुत्वार्थक मानी जाती है। जैसे कि कहा गया है कि ''न केवला प्रकृतिप्रयोक्तव्या न केवलः प्रत्ययः''। इस नियम के अनुसार प्रत्यय रहित विशेषण का प्रयोग साधु नहीं होगा। अतः विशेषण वाचक गम्भीर पद उत्तर सप्तमी विभक्ति अविवक्षित होने के कारण उसका अर्थ अधिकरणत्व न होकर विशेष्य वाचक नदी पद के उत्तर सप्तमी विभक्ति का ही अधिकरणत्व अर्थ होगा। ऐसी स्थिति में गम्भीर पद की तीर में लक्षणा की जाती है, तब नदी पद उत्तर सप्तमी विभक्ति की अर्थभूता अधिकरणता का गम्भीर पद लक्ष्य तीर के साथ अन्वय नहीं हो पायेगा। अर्थात् ''नद्यां तीरे घोषः'' इस प्रकार से अन्वय नहीं हो पायेगा, क्योंकि प्रत्यय सदैव अपनी प्रकृति के अर्थ से अन्वित होकर अपने अर्थ (प्रत्यय के अर्थ) के बोधक होते हैं। प्रकृत में नदी पद का लक्ष्यार्थ तीर नहीं है (अपितु गम्भीर पद का लक्ष्यार्थ तीर है)। अतः नदी पद उत्तर सप्तमी विभक्ति की अर्थभूता अधिकरणता का अन्वय तीर से नहीं होगा, किन्तु जब नदी पद की लक्षणा तीर से करेंगे तब नदी पद का लक्ष्यार्थ = तीर प्रकृत्यर्थ होगा और तब नदी पद उत्तर सप्तमी विभक्ति की अर्थभूता अधिकरणता का अन्वय तीर के साथ हो जायेगा। अर्थात् ''नद्यां तीरे घोषः'' ऐसा अन्वय होगा। अतः नदी पद में ही लक्षणा माननी चाहिये, गम्भीर पद में नहीं।

समाधान — पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जब गम्भीरत्व विशिष्ट नदी इत्याकारक विशिष्ट विषयक बोध काल में गम्भीर पद विशेषण होता है, किन्तु सिद्धान्त मत में मिलित में लक्षणा मानी जा रही है। अतः शक्ति वृत्ति से पहले गम्भीरत्व विशिष्ट नदी का बोध होगा, किन्तु इसके पश्चात् गम्भीरता विशिष्ट नदी सम्बन्धी तीर में लक्षणा करते काल में गम्भीर पद स्वतन्त्र नहीं होता अपितु गम्भीर पद और नदी पद दोनों एक होकर तीर के लक्षक होने के कारण विशेष्य हो जाते हैं। (अतः पूर्वपक्षी

विशेषणपदत्वेऽपिविशिष्टसम्बन्धिलक्षणासमये विशेष्यपदत्वात्। विशेषणविभक्तेः साधुत्वार्थकत्वमित्यप्यसम्बद्धम्, अभेदार्थकत्वस्य नैयायिकैः प्रत्येकमन्वयस्य च मीमांसकैररुणाधिकरणसिद्धस्य चाभ्युपगमात्॥६०॥

एवमन्यदपि वाक्यलक्षणोदाहरणमनुसन्धेयम्, गच्छ गच्छसि चेत् कान्तेत्यादि विषं भुङ्क्ष्वेत्यादि च। ननु— अत्र जन्मना मरणानुमानम्, तेन च तत्साधनीभूतायाः गतेरकर्त्तव्यतानुमानमित्यनुमानपरम्परयैव, न

सत्यानन्दप्रबोधिका

ने जो कहा कि लक्षणा के समय में विशेषण गम्भीर पद होगा, उसका खण्डन हो गया। गम्भीर पद जब विशेषण नहीं, तब विशेषण मानकर जो दोष दिया गया था, उसका भी खण्डन हो गया।) पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि विशेषण विभक्ति साधुत्वार्थक होती है, यह कथन की असंङ्गत है, क्योंकि नैयायिकप्रवरश्रीगङ्गेशोपाध्याय ने शब्द खण्ड की न्यायतत्त्वचिन्तामणि में कहा है कि ''यद्वा विशेषणविभक्तिरभेदार्थिका।'' अर्थात् विशेषण वाचक पद के उत्तर की विभक्ति अभेदार्थक होती है। इसी प्रकार पूर्वमीमांसा के तृतीय अध्याय के प्रथम पाद के बारहवें अरुणाधिकरण में कहा गया है कि प्राथमिक शाब्द बोध में प्रत्येक विभक्ति भावनान्वित स्वार्थ का प्रतिपादन करती है। अर्थात् विशेषण विभक्ति और विशेष्य विभक्ति पृथक्–पृथक् रूप से अपने प्रकृत्यर्थ में क्रिया जनकता का बोध कराती है। जैसे — अरुणया पिङ्गाक्षा एकहायन्या सोमं क्रीणाति।'' (जिस गौ का रङ्ग लाल हो और नेत्र पिङ्गल (पीलापन लिये हुये भूरे) वर्ण के हों, ऐसी एक वर्ष की गौ के द्वारा सोमलता खरीदनी चाहिये)। यहां अरुण पद गुणवाचक तथा पिङ्गाक्ष्या और एक हायनी द्रव्य के वाचक है। आरुण्यगुण और पीङ्गाक्षी गौ रूप द्रव्य दोनों में सोम क्रयण की करणता समान है, क्योंकि विशेषण विभक्ति और विशेष्य विभक्ति अपने–अपने प्रकृत्यर्थ में करणता का अभिधान करती है। श्री भाट्टमतानुसार प्रथमतः समस्त विशेषण विशिष्ट भावना (आरुण्यकरणिका पिङ्गाक्ष्येकहायनीकरणिका क्रयणकर्मिका भावना) का विधान माना जाता है। पश्चात् द्रव्य में क्रयण की साक्षात् करणता और आरुण्य गुण में द्रव्य विशेषकत्वेन परम्परया करणता का निश्चय किया जाता है। अर्थात् अरुण रूप गौ द्रव्य का अवच्छेदक होकर क्रय रूप क्रिया का साधन हो जाता है। इस प्रकार ''अरुणया'' यहां विशेषण विभक्ति का करणत्व अर्थ विवक्षित होने के कारण न्यायामृतकार का ''विशेषणविभक्तेः साधुत्वार्थकत्वम्'' यह कथन असङ्गत सिद्ध हो गया॥६०॥

वाक्य लक्षणा का समन्वय जैसे ''गम्भीरायां नद्यां घोषः'' इस उदाहरण स्थल पर किया गया ठीक इसी प्रकार से वाक्य लक्षणा के अन्य उदाहरणों का अनुसन्धान कर के उक्त स्थलों पर भी वाक्य लक्षणा का समन्वय कर लेना चाहिए। इसको स्पष्ट करने के लिए प्रथम दृष्टान्त देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि **जैसे— गच्छ गच्छसि चेत्कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः। ममापि जन्म तत्रैव भूयाद् यत्र गतो भवान्॥**

{यहाँ नायिका नायक के विदेश गमन के अवसर पर कह रही है कि हे कान्त! यदि आप विदेश जाते हैं तो चले जायिए। आप की यात्रा मङ्गलमय हो। (किन्तु आप के जाने के पश्चात् मैं मर जाऊंगी। अतः मरने के बाद) परमात्मा करे कि मेरा भी जन्म वहाँ ही हो जहाँ आप जा रहे हैं।) इस स्थल पर नायिका को नायक का विदेश गमन अभीष्ट नहीं है किन्तु शिष्टाचार के कारण वहा साक्षात् गमन का निषेध न कर के लक्षणा वृत्ति के द्वारा कर रही है। अर्थात् नायिका के इस वाक्य को सुनकर श्रोता नायक को उक्त वाक्य में लक्षणा कर के यह बोध होता है कि ''मया विदेशगमनं न कर्तव्यम्।'' इस प्रकार इस विधि वाक्य की निषेध में लक्षणा की जाती है। इसी प्रकार द्वितीय दृष्टान्त स्थल'' विषं भुङ्क्ष्व ''यह वाक्य है। यहाँ भी इस वाक्य का लक्षणा से अर्थ होता है कि'' शत्रुगृहान्नस्य भोजनं न कर्त्तव्यम्।''

लक्षणा; अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात्। न हि धूमोऽस्तीति वाक्यं वह्निलक्षकम्, विषमित्यादावपि विषभोजनस्येष्टसाधनतोक्त्या शत्रुगृहान्नभोजनस्यानिष्टसाधनत्वमाक्षिप्यते। यद्वाआप्तस्य प्रमाणविरुद्धोपदेष्टृत्वेन कोपोऽनुमीयते। तत्र च प्रसक्तशत्रुगृहान्नभोजनस्य हेतुत्वं कल्पयित्वा तत्राकर्त्तव्यतानुमानम्, न लक्षणेति—चेत्।।६१।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि ''गच्छ गच्छसि'' इत्यादि वाक्य स्थल पर लक्षणा नहीं की जाती है अपितु नायिका कथित जन्म से नायक को नायिका के मरण का अनुमान होता है। जैसे—मद्गमनारम्भोत्तरं प्रतीयमानमेतस्या जन्म, पूर्वशरीरप्राणवियोगरूपमरणपूर्वकं पूर्वशरीरप्राणवियोगेऽसति शरीरग्रहणासमर्थस्य शरीरग्रहणत्वात्, सम्मतवत्। इस अनुमान के द्वारा जो प्रिया मरण की अनुमिति होती है। उस मरण रूप अनुमिति के द्वारा मरण कारणीभूत नायक गमन के निषेध का अनुमान होता है। जैसे—ममेयं गतिरकर्तव्या, मत् प्रियामरणरूपानिष्टसाधनत्वात्, प्रियां प्रति शस्त्रप्रहारवत्। फलतः जो गमन निषेध रूप अर्थ वाक्यगत लक्षणा वृत्ति के द्वारा सिद्धान्ती अवगत कर रहे थे, वह अर्थ जब शब्द इतर प्रमाण = उक्त अनुमान द्वय से अवगत हो रहा है, तब वह अर्थ शब्द प्रमाण से ज्ञात हो रहा है—ऐसा माना नहीं जा सकता है, क्योंकि अनन्य लभ्य (जो शब्द प्रमाण से अन्य प्रमाण के द्वारा ज्ञान न हो कर शब्द प्रमाण से ही ज्ञात हो, उस) अर्थ को ही शब्दार्थ कहा जाता है। जैसे धूम रूप हेतु का उपस्थापक जो ''धूमोऽस्ति'' यह वाक्य है, उसके द्वारा वह्नि की अनुमिति होती है। इसलिए ''धूमोऽस्ति'' इस वाक्य में लक्षणा कर के वह्नि रूप अर्थ अवगत होता है—ऐसा नही माना जाता है और वह्नि रूप अनुमिति को शाब्दबोध भी नहीं माना जाता है। खण्ड संख्या ५६ के अन्तिम में सिद्धान्ती ने स्वयं माना है कि ''यश्चार्थादर्थो न स चोदनार्थः (जै०सू० ११—३—१४)। इसी प्रकार ''विषं भुङ्क्ष्व'' इस द्वितीय दृष्टान्त स्थल पर भी ''शत्रुगृहान्नरूपं विषं भुङ्क्ष्व'' इस वाक्य का वाच्यार्थ = शत्रुगृहान्नभोजनरूपं विषं तव इष्टसाधनम्। किन्तु विष भोजन किसी के भी इष्ट का साधन हो नहीं सकता है, क्योंकि विष भोजन तो मरण रूप अनिष्ट का साधन है। अतः मित्र के प्रति विष भोजन की इष्ट साधनता की उक्ति अनुपपन्न हो कर यह सूचित करती है कि शत्रुगृहान्न भोजन में अनिष्ट साधनता है। यहाँ अर्थापत्ति का आकार होगा— शत्रुगृहान्नभोजनस्यानिष्टसाधनत्वं विना मित्रं प्रति शत्रुगृहान्नरूपविषभोजनस्य इष्टसाधनत्वोक्तिः अनुपपन्ना। अतः जो अर्थ लक्षणा के द्वारा सिद्धान्ती निकालना चाहते हैं, वह अर्थ जब शब्देतर अर्थापत्ति प्रमाण से निकल रहा है तब उस अर्थ को शब्दार्थ नहीं कहा जा सकता है क्योंकि अनन्य लभ्य अर्थ को ही शब्दार्थ कहा जाता है। अथवा किसी आप्त पुरुष के मुख से ''विषं भुङ्क्ष्व'' इस प्रकार के प्रमाण विरुद्ध कथन को सुनकार श्रोता उस आप्त पुरुष में क्रोध का अनुमान इस प्रकार से करता है—अयमिदानीं मह्यं क्रुद्धः आप्तत्वे सति प्रमाणविरुद्धकर्त्तव्यताभिधायित्वात्, सम्मतवत्। आप्त पुरुष में क्रोध है—इसका ज्ञान श्रोता को इस अर्थापत्ति से होता है—आप्तक्रोधस्य शत्रुगृहान्नभोजनमूलकत्वं विना शत्रुगृहान्नभोजनप्रसङ्गे आप्तक्रोधस्य जायमानत्वमनुपपन्नम्। अथवा आप्तपुरुष में क्रोध है, इसके लिए पुनः श्रोता अनुमान करता है—अयं क्रोधः शत्रुगृहान्नभोजनमूलकः तद्भोजनप्रसङ्गे जायमानत्वात्। इस के पश्चात् श्रोता को शत्रुगृहान्नभोजन में अकर्त्तव्यता का अनुमान होता है—शत्रुगृहान्नभोजनम्, न कर्त्तव्यम् आप्तक्रोधहेतुत्वेनानिष्टसाधनत्वात्, विषभक्षणादिवत्। इस प्रकार अकर्त्तव्यता की अनुमिति होने पर श्रोता शत्रुगृहान्नभोजन से विरत हो जाता है। इस प्रकार शत्रुगृहान्नभोजन गत अकर्त्तव्यता अन्य लभ्य अर्थात् शब्द से अन्य अनुमान से अवगत होने के कारण शब्दार्थ नहीं कही जा सकती है। अतः यहाँ पर अकर्त्तव्यता का बोध शब्द की शक्तिवृत्ति या लक्षणावृत्ति से नहीं माना जा सकता है।।६१।।

नैतत्साधु; जन्मना मरणाक्षेपेऽपि तन्मरणे गमनस्य हेतुत्वानाक्षेपात्, शतवर्षानन्तरं जरादिनाऽपि तदुपपत्तेः। तथा च प्रियामरणे हेतुत्वं गमनस्य न लक्षणां विनाऽवगन्तुं शक्यम्। नापि प्रियामरणहेतुत्वेन गमनस्याकर्तव्यत्वानुमानम्; प्रियामरणहेतोरपि तत्त्वेनाज्ञानदशायां गुरुनिर्देशाद्वा आत्मत्राणार्थं वा कुलापकीर्तिपरिहारार्थं वा कर्तव्यत्वदर्शनेन व्यभिचारात्। तथा च गमनस्य प्रियामरणहेतुत्वं तादृशस्य चाकर्तव्यत्वमित्युभयमपि लक्षणाधीनम्, जन्मनिर्देशस्य च प्रकृतेऽनुपयोगात् तेन प्रकृतोपयोगिन्यगमने तात्पर्यं ज्ञाप्यते समुदायस्य।

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान — पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि कथित जन्म से नायक को नायिका के मरण का का अनुमान उक्त प्रकार से हो सकता है किन्तु मरण में गमन की हेतुता का अनुमान नहीं हो सकता है, क्योंकि विदेश गमन को उद्यत नायक यदि उक्त द्वितीय अनुमान के द्वारा यह निश्चय कर लेता है कि मेरा गमन ही नायिका के मरण का हेतु बन रहा है, तब वह गमन की अकर्त्तव्यता को स्वीकार कर लेता किन्तु नायक ने यह अनुभव किया कि नायिकाएं केवल दिखावे के लिए यह सब कहा करती हैं, क्योंकि जिन व्यक्तियों ने विदेश गमन किया, उन सबकी नायिकाएं मर गयी—ऐसा नहीं है किन्तु विदेश गमन करने वाले व्यक्तियों की नायिकाओं में से कुछ शतवर्ष जीवन के पश्चात् जरादि से मृत्यु को प्राप्त हुयी हैं। अत: द्वितीय अनुमान में स्वरूपासिद्धि दोष है। इस लिए द्वितीय अनुमान के द्वारा गमन में अकर्त्तव्यता का ज्ञान न होकर लक्षणा के द्वारा ही गमन में निषेधता का ज्ञान होता है—यह मानना ही उचित है। दूसरी बात यह है कि उक्त द्वितीय अनुमान में व्यभिचार दोष है। इसको स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कर रहे हैं कि प्रिया मरण हेतुत्व के द्वारा गमनगत अकर्त्तव्यत्व का अनुमान भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि व्यभिचारदोष है। व्यभिचारदोष के लिए प्रथम स्थल—किसी काल में नायक का विदेश गमन प्रिया मरण का हेतु है किन्तु ''मेरा गमन प्रिया मरण का हेतु है।'' इस रहस्य को नायक जान नहीं पाया। ऐसे स्थल पर प्रिया की कथित उक्ति के पश्चात् भी विदेश गमन की कर्त्तव्यता नायक में देखी गयी है। ऐसे स्थल पर हेतु है किन्तु साध्य (अकर्त्तव्यत्व) नहीं है। अत: व्यभिचारदोष होगा। व्यभिचारदोष का द्वितीय स्थल — उक्त प्रथम स्थल पर नायक को ज्ञात नहीं था कि उसके विदेश गमन से प्रिया की मृत्यु हो जायेगी किन्तु अब यह दिखा रहे हैं कि नायक को ज्ञात है कि वह विदेश जायेगा तो उसकी नायिका की मृत्यु हो जायेगी किन्तु प्रिया की कथित उक्ति के पश्चात् भी गुरुजनों की अनुल्लङ्घनीय आज्ञा को शिरोधार्य विदेश गमन की कर्त्तव्यता नायकगत देखी गयी है। ऐसे स्थल पर हेतु है किन्तु साध्य न होने के कारण व्यभिचारदोष है। व्यभिचारदोष का तृतीय स्थल—उक्त द्वितीय स्थल पर गुरु आज्ञा से परवस होकर नायक विदेश गमन किया किन्तु अब यह दिखा रहे हैं कि नायक अपने प्राण रक्षा के लिए भी विदेश गमन कर जाता है। जैसे नायक नायिका जा रहे हैं, उसी समय नायिका के ऊपर भयङ्कर शत्रुओं ने आक्रमण कर दिया। नायिका बार—बार कह रही है कि आप यहाँ से गमन कर जायेंगे तो मेरी मृत्यु हो जायेगी किन्तु नायक उन शत्रुओं को हरा सकता नहीं अपितु उन शत्रुओं के द्वारा मारा ही जा सकता है। ऐसे स्थल पर नायिका के कथित उक्ति के पश्चात् भी विदेश गमन की कर्त्तव्यता नायक में देखी गयी है। अत: यहाँ पर हेतु है किन्तु साध्य न होने के कारण व्यभिचारदोष है। व्यभिचारदोष का चतुर्थ स्थल—उक्त तृतीय स्थल पर दिखाया गया कि जीवन संकट के कारण नायक विदेश गमन करता है। अब दिखा रहे है कि प्राण संकट नहीं है किन्तु कुल की अपकीर्ति के लिए भी नायक विदेश गमन करता है। जैसे किसी के कुल की मर्यादा है कि उस कुल के व्यक्ति विदेश गमन परोपकारादि शुभ कार्यो के लिए करते हैं। ऐसे स्थल पर नायक को ज्ञात है कि उसके विदेश

तथा च समुदाय एव लक्षणा। न प्रत्येकपदे, प्रत्येकं तात्पर्यज्ञापकाभावात्। तथा च नात्रानुमितिपरम्परा, न वा प्रत्येकपदे लक्षणा।।६२।।

एवं ''विषं भुंक्ष्व'' इत्यत्रापि विषभोजनेष्टसाधनत्वेन शत्रुगृहान्नभोजनानिष्टसाधनत्वं नाक्षेप्तुं शक्यते; व्यधिकरणत्वात्, तेन विनाप्युभयोरपीष्टसाधनतयोपपत्तिसम्भवाच्च। न हि येन केनचिद्यत्किञ्चिदाक्षिप्यते; किन्तु अनुपपद्यमानेनोपपादकम्। नाप्याप्तत्वे सति प्रमाणविरुद्धोपदेष्टृत्वेन कोपानुमानं कोपेन च तद्धेतौ शत्रुगृहान्नभोजनेऽकर्त्तव्यतानुमानम्। आप्तस्यापि पित्रादेर्भ्रमादिना विनाऽपि कोपं प्रमाणविरुद्धोपदेष्टृत्वदर्शनेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

गमन करने पर नायिका की मृत्यु हो जायेगी किन्तु प्रिया की कथित उक्ति के पश्चात् भी नायक विदेश गमन करता है। अत: यहाँ पर हेतु है कि किन्तु साध्य नहीं है। अत: व्यभिचारदोष है। अत: गमन गत प्रिया मरण हेतुत्व और प्रिया मरण हेतु भूत गमन का अकर्त्तव्यत्व—इन दोनों का ज्ञान लक्षणा के द्वारा ही होता है—यह जो सिद्धान्ती सम्मत कथन है, वह उचित ही है। इसी को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि नायक लक्षणा के द्वारा यह अवगत कर लेता है कि नायिका के जन्म निर्देश का प्रकृत में कोई उपयोगिता नहीं है अपितु नायिका के सम्पूर्ण वाक्य का तात्पर्य गमन की अकर्त्तव्यता में ही है। अत: पद समुदाय भूत वाक्य में ही लक्षणा की गयी है, प्रत्येक पद में लक्षणा नहीं की गयी, क्योंकि वाक्य घटक प्रत्येक पद का तात्पर्य गमन की अकर्त्तव्यता में है—इसका विनगमक कोई हेतु नहीं है। फलत: प्रकृत स्थल में अनुमितिओं की परम्परा नहीं है और प्रत्येक पद में लक्षणा भी नहीं है।।६२।।

इसी प्रकार से ''विष को खाओ'' इस स्थल पर भी इस वाक्य से प्रतिपादित विष भोजननिष्ठ इष्टसाधनत्व के द्वारा शत्रुगृहान्न भोजन निष्ठ अनिष्ट साधनत्व का आक्षेप नहीं हो सकता है, क्योंकि साध्य और साधन में व्यधिकरणत्व है। अर्थात् सभी धूमादि हेतु अपने आधारभूत पर्वतादि में ही वह्नि—आदि साध्य के अनुमापक होते हैं। यह नहीं देखा गया है कि साधन अपने अधिकरण से भिन्न अधिकरण में साध्य की सिद्धि कर रहा हो। प्रकृत में साधनीभूत (उपपादकीभूत) इष्ट साधनत्व विष भक्षण में है और साध्यभूत (उपपाद्यभूत) अनिष्ट साधनत्व शत्रुगृहान्न भोजन में है। अत: इन दोनों में साध्य साधनभाव (उपपाद्य उपपादक भाव) नहीं बन सकता है। दूसरी बात यह है कि जिसके विना जो अनुपपन्न होता है उसी का आक्षेप अनुपपन्न साधन के द्वारा किया जाता है। जिस किसी का जिस किसी के द्वारा आक्षेप नहीं किया जाता है। प्रकृत में विष भक्षण और शत्रुगृहान्नभक्षण—इन दोनों में अनिष्ट साधनत्व के विना इष्ट साधनत्व न रहता तब उससे उसका आक्षेप करना उचित होता किन्तु विष भक्षण और शत्रुगृहान्नभक्षण अनिष्ट साधनत्व के बिना भी विष भक्षण और शत्रुगृहान्नभक्षण में इष्ट साधनत्व भी देखा जाता है। जैसे जीवित रहने पर राजदैवादि के उपघात से मेरा बहुत अधिक अनिष्ट होने वाला है, उस अनिष्ट को निश्चय कर आप्त पुरुष ने यह वाक्य कहा है— ऐसा निश्चय होता है, वहां पर विष भक्षण में इष्ट साधनत्व होता है। इसी प्रकार जब यह निश्चय होता है कि शत्रु गृह में भोजन करने से शत्रुता समाप्त हो जायेगी तब शत्रु गृह में भोजन भी शत्रु सन्तोष द्वारा शत्रुत्वोच्छेद रूप इष्ट का साधन बन जाता है। फलत: जिस किसी से यत् किञ्चित् आक्षिप्त नहीं होता है, किन्तु अनुपपद्यमान से उपपादक आक्षिप्त होता है। पूर्वपक्षी ने यह जो रहा था कि आप्तत्व के होते हुए प्रमाणविरुद्ध अभिधान रूप हेतु के द्वारा आप्तगत कोप का अनुमान और उस कोप के द्वारा कोप के हेतुभूत शत्रुगृहान्न भक्षण में अकर्तव्यता का अनुमान होता है—ऐसा कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि पितादि आप्त पुरुष भी कोप के विना भी भ्रम वश प्रमाण विरुद्ध अभिधान करते हुए देखे जाते

व्यभिचारादाप्तकोपहेतोरपि भ्रमादिना प्रियामरणहेतोरिव कर्तव्यत्वदर्शनेन तत्रापि व्यभिचाराच्च। तथा च अप्रसक्तप्रतिपादनेन प्रसक्तवारणे तात्पर्य्यं ज्ञात्वा तेनाकल्पितपदविभागे समुदाय एव लक्षणां कल्पयति, न तु प्रत्येकपदे, तत्र–तत्र विशिष्य तात्पर्यज्ञापकाभावात्, तथा च पदार्थतात्पर्यान्वयानुपपत्तिभ्यां लक्षणा पदे। वाक्यार्थे तद्द्वयानुपपत्त्या लक्षणा वाक्ये। वाक्यार्थान्वयानुपपत्त्यनिबन्धनत्वं च लक्षणायाः पदवृत्तित्वसाधने उपाधिरित्यवधेयम्।।६३।।

एवमेवार्धमन्तरर्धं बहिरित्यादौ लोक अर्धमन्तर्वेद्यर्धं बहिर्वेदीति वेदेऽपि वाक्य एव लक्षणा। न च

सत्यानन्दप्रबोधिका

हैं। ऐसे स्थल पर हेतु है किन्तु साध्य नहीं है। अतः उक्त हेतु व्यभिचार दोष से ग्रस्त होने के कारण कोपरूप साध्य का अनुमापक नहीं हो सकता है। इसी प्रकार कोप हेतु के द्वारा शत्रुगृहान्न भोजन में अकर्त्तव्यता का अनुमान भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि जो कोप का हेतुभूत पदार्थ है उस कोप के हेतुभूत पदार्थ में आप्त पुरुष को भ्रम हो गया कि ''यह कोप का हेतुभूत पदार्थ नहीं है।'' इसके पश्चात् उस पदार्थ में कर्त्तव्यता का उपदेश आप्त पुरुष ने कर दिया। जैसे प्रिया मरण के हेतुभूत विदेश गमन में कर्त्तव्यता का उपदेश। अर्थात् देवदत्त विदेश गमन को उद्यत है। अत्यन्त रोग से ग्रस्त देवदत्त की पत्नी कहती है—गच्छ गच्छसि चेत् कान्त....। ''पत्नी के इस कोप वचन को सुनकर भी देवदत्त के पिता को भ्रम हो गया कि यह कोप का हेतुभूत वचन नहीं है। अतः पिता ने देवदत्त को विदेश गमन में कर्त्तव्यता का उपदेश कर दिया। ऐसे स्थल पर हेतु (कोप) है किन्तु साध्य (अकर्त्तव्यता) नहीं है। अतः पूर्वपक्षी का अनुमान व्यभिचारदोष से ग्रस्त होने के कारण स्वसाध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है। फलतः अप्रसक्त = पुत्र के प्रति विष खाओ'' ऐसा कथन अप्राप्त है—इसका प्रतिपादन आप्त के द्वारा किये जाने से प्रसक्त (शत्रुगृहान्नभक्षण) के वारण (निषेध) में तात्पर्य जानकर पुत्र उस तात्पर्य ज्ञान के द्वारा पदों के विभाग की कल्पना न कर के अर्थात् कौन पद का उस प्रसक्त वारण में तात्पर्य है। इसके प्रति ध्यान न देकर के ''विषं भुङ्क्ष्व'' इस सम्पूर्ण वाक्य की लक्षणा प्रसक्त वारण में करता है न कि प्रत्येक पद की लक्षणा प्रसक्त वारण में करता है, क्योंकि उक्त प्रसक्त वारण में प्रत्येक पद का तात्पर्य है—इसका ग्राहक कोई भी प्रमाण सुलभ नहीं है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि तब तो कहीं भी पद में लक्षणा नहीं होगी? इसका समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जहाँ पदार्थ तात्पर्य की अनुपपत्ति अथवा पदार्थ अन्वय की अनुपपत्ति होगी। वहाँ पद में लक्षणा मानी जायेगी और जहाँ वाक्यार्थ तात्पर्य की अनुपपत्ति अथवा वाक्यार्थ अन्वय की अनुपपत्ति होगी। वहाँ वाक्य में लक्षणा मानी जायेगी। पूर्वपक्षी के द्वारा लक्षणा में पदवृत्तित्व सिद्ध करने के लिए यह अनुमान किया जाता है—लक्षणा पदवृत्तिः, वृत्तित्वात्, शक्तिवत्। इस अनुमान में सिद्धान्ती वाक्यार्थ अन्वय अनुपपत्ति निबन्धनत्व (कारणत्व) का अभाव रूप उपाधि दोष देते हैं। जैसे दृष्टान्त में साध्य है और उपाधि भी है क्योंकि शक्ति के प्रति वाक्यार्थान्वयानुपपत्ति निबन्धन (कारण) नहीं है। अतः साध्य व्यापकत्व उपाधि में गया। पक्ष में हेतु है किन्तु उपाधि नहीं है, क्योंकि वाक्यगत लक्षणा में वाक्यार्थान्वयानुपपत्ति निबन्धनत्व (कारणत्व) ही माना जाता है। अतः उपाधि में साधनाव्यापकत्व भी गया। अतः सोपाधिक हेतु होने से स्वसाध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है।।६३।।

इसी प्रकार लोक में ''चैत्र कहाँ बैठा है?'' इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया कि ''अर्धमन्तरर्धं बहिः'' अर्थात् चैत्र आधा घर में और आधा बाहर बैठा है। यहाँ सम्पूर्ण वाक्य एक वाक्यतापन्न है। अतः उसका अर्थ ऐसा नहीं किया जा सकता है कि चैत्र आधा गृह के अन्दर बैठा है और आधा गृह के बाहर बैठा है,

तत्राप्यर्धस्यान्तस्त्वे सत्यर्धस्य बहिष्ट्वेनान्तरालानुमानम्, न लक्षणेति वाच्यम्; छिन्ने गृह अन्तरालराहित्येऽपि तद्द्वयदर्शनेन व्यभिचारात्, यथाकथञ्चिदनुमानसम्भवे वा सर्वत्र शब्दप्रमाणोच्छेदापाताच्च। एवञ्च ब्रह्मजिज्ञासापदेन विचारो लक्ष्यत इति विवरणकारोक्तं यज्ञायुधिपदेन यजमानो लक्ष्यते इति संक्षेपशारीरकोक्तं च वाक्यलक्षणयोपपन्नम्; ब्रह्मजिज्ञासायज्ञायुधिशब्दयोः सुबन्तत्वलक्षणपदत्वेऽपि शक्तत्वलक्षणपदत्वाभावेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

क्योंकि उक्त प्रकार से अर्थ करने पर वाक्य भेद हो जायेगा। अतः सम्पूर्ण वाक्य की लक्षणा दरवाजे की चौखट रूप देश विशेष में की जाती है। अर्थात् चैत्र दरवाजे की चौखट पर बैठा है। इसी प्रकार ''अर्धमन्तर्वेदि अर्धं बहिर्वेदि'' इत्यादि वैदिक प्रयोग स्थल पर भी वाक्य में ही लक्षणा मानी गयी है। अर्थात् जिस देश में मीयमान यूप का आधा वेदि के भीतर हो और आधा वेदि के बाहर हो उस सन्धि देश में लक्षणा की जाती है।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि ''अर्धमन्तरर्धं बहिः'' इस स्थल पर वाक्य में लक्षणा नहीं की जाती है अपितु गृह के भीतर और बाहर का जो मध्य देश है। उसको ''अर्धस्यान्तस्त्वे सत्यर्धस्य बहिष्ट्वत्वात्'' इस हेतु के द्वारा सिद्ध किया जाता है। अर्थात् यहाँ अनुमान का आकार होगा—चैत्रः गृहस्यान्तर्बहिर्देशयोरन्तरालदेशवान्, चैत्रार्धस्यान्तस्त्वे सत्यर्धस्य बहिष्ट्वत्वात् यूपगर्तस्थितयूपवत्। इसी प्रकार वैदिक प्रयोग स्थल पर अनुमान का आकार होगा—यूपः वेद्यन्तर्बहिर्देशयोरन्तरालदेशवान्, यूपार्धस्यान्तस्त्वे सत्यर्धस्य बहिष्ट्वत्वात्, गृहान्तरालस्थितचैत्रवत्।

समाधान — लौकिक वाक्य स्थल पर पूर्वपक्षी ने जो अनुमान किया था। उसमें दोष देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जिस गृह की दीवाल गिर गयी है और छत भी टूट गयी है। तादृश गृह में अन्तराल भाग अर्थात् अन्दर बाहर का विभाजन नहीं होता है, क्योंकि दीवाल के होने पर ही अन्दर बाहर का विभाजन होता है किन्तु चैत्र ऐसे गृह के दरवाजे की चौखट पर बैठा है। वहाँ पर भी हेतु के दोनों भाग (अर्धमन्तरर्धं बहिः) है। अतः साध्य के न होने और हेतु के होने से हेतु व्यभिचारदोष से ग्रस्त हो गया। अतः हेतु स्वसाध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है। लौकिक वाक्य स्थल और वैदिक वाक्य स्थल के अभिप्राय से पूर्वपक्षी का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यदि उक्त दोनों स्थलों पर किसी प्रकार से अनुमान मान लिया जाय तब तो सर्वत्र ही शब्द व्यवहार स्थल पर अनुमान कर लिया जायेगा। ऐसा होने पर शब्द प्रमाण मात्र का ही उच्छेद हो जायेगा। इसी प्रकार से ''ब्रह्मजिज्ञासा पद से विचार लक्षित होता है।'' यह विवरणोक्त और यज्ञायुधि पद से यजमान लक्षित होता है—यह संक्षेपशारीरकोक्त वाक्य लक्षणा पक्ष में ही उपपन्न होता है। ''यज्ञायुधि'' के स्थान पर ''यज्ञायुध'' ऐसा पाठान्तर भी है। किन्तु ''यज्ञायुधीति वचने तु जहत्प्रवृत्तिः'' (सं०शा०१—१५७) इस संक्षेपशारीरक ग्रन्थ के अनुसार और ''वेदेऽपि यज्ञायुधि यजमानः स्वर्गलोकमेतीति'' आचार्यमधूसूदनसरस्वती कृत संक्षेपशारीरक की इस टीका के अनुसार ''यज्ञायुधि'' पाठ ही उचित है। अर्थात् यज्ञपात्रों के साथ यजमान स्वर्ग में जाता है। किन्तु अन्त्येष्टि संस्कार के समय अग्निहोत्र स्थित अग्नि से ही चिता को जलाया जाता है और साथ में ही अग्निहोत्रपात्र भी नष्ट कर दिया जाता है। अतः उन पात्रों के साथ यजमान का स्वर्ग में जाना सम्भव ही नहीं है। इस लिए कहा गया है ''यज्ञायुधि'' में जहल्लक्षणा करके पात्र का सम्बन्धी यजमान का ग्रहण करना चाहिए। अथवा विशिष्ट से शुद्ध अतिरिक्त होता है। इस न्याय का अनुसरण करके यज्ञायुधि विशिष्ट यजमान से शुद्ध यजमान अतिरिक्त है। उस शुद्ध यजमान के ग्रहण के लिए जहल्लक्षणा की गयी है। यद्यपि

शक्यसम्बन्धरूपाया लक्षणाया अयोगात्, स्वज्ञाप्यसम्बन्धरूपा तु लक्षणा यौगिकपदसमुदायेऽपि वाक्यस्थानीये नानुपपन्ना। एवं 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' इत्यादौ अर्थवादेऽपि प्राशस्त्यप्रतिपत्तये वाक्य एव लक्षणाऽङ्गीकार्या; प्रत्येकपदात्तदनुपपत्तेः।।६४।।

न च तत्र कर्मणि क्षिप्रदेवताप्रसादहेतुत्वरूपतत्पदार्थसम्बन्धबोधकत्वमेव, न तु तदन्यप्राशस्त्यलक्षकत्वमिति वाच्यम्; पदार्थमात्रसंसर्गबोधे वायुः शीघ्रतम इत्येव धीः स्यात्, न कर्मप्राशस्त्यविषया सा स्यात्। न च

सत्यानन्दप्रबोधिका

''ब्रह्मजिज्ञासा'' और ''यज्ञायुधी'' ये दोनों शब्द वैयाकरण के ''सुप्तिङन्तं पदम्'' (अ०सू० १—४—१४) इस संज्ञासूत्र के अनुसार सुबन्त होने के कारण पद कहे जाते हैं वाक्य नहीं तथापि नैयायिको के ''शक्तं पदम्'' इस परिभाषा के अनुसार शक्तत्व लक्षण पदत्व जो है। उसका ब्रह्मजिज्ञासा और यज्ञायुधि में अभाव होने के कारण उनमें पदत्व नहीं माना जाता है, अपितु पदसमूहरूप वाक्यत्व ही माना जाता है। अर्थात् ब्रह्म इस अर्थ को बोधन कराने की शक्ति ब्रह्म शब्द में है और जिज्ञासा रूप अर्थ को बोधन कराने की शक्ति जिज्ञासा शब्द में है। ब्रह्मजिज्ञासा—इस अर्थ को बोधन कराने की कोई शक्ति ब्रह्मजिज्ञासा इस समास से निष्पन्न शब्द में नहीं मानी जाती है। अर्थात् उन दोनों शक्तियों से भिन्न कोई शक्ति ब्रह्मजिज्ञासा इस पद समुदाय में नहीं मानी जाती है। अतः यह पद समुदाय रूप वाक्य है न कि पद। अतः वाक्यगत लक्षणा के दृष्टान्त रूप से ब्रह्मजिज्ञासादि का उल्लेख करना उचित ही है। यहाँ प्रश्न होता है कि सिद्धान्ती ने नैयायिक के दृष्टि से ब्रह्मजिज्ञासादि को वाक्य माना। किन्तु नैयायिक शक्यसम्बन्ध रूप लक्षणा मानते हैं। उसका समन्वय कैसे होगा? इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यद्यपि ब्रह्मजिज्ञासा एक पद नहीं है। अतः ब्रह्मजिज्ञासा के अर्थ को पदार्थ (शक्य) नहीं कहा जायेगा किन्तु वाक्यार्थ कहा जायेगा। अतः उसमें शक्य सम्बन्ध लक्षणा का समन्वय नहीं होगा। तथापि स्वज्ञाप्यसम्बन्धरूपा लक्षणा वाक्यस्थानीय यौगिक पद समुदाय में भी उपपन्न हो जायेगी। अर्थात् स्व = ब्रह्मजिज्ञासा, उसका अर्थ शक्य नहीं है किन्तु ब्रह्मजिज्ञासा शब्द से ब्रह्मजिज्ञासा रूप अर्थ ज्ञाप्य तो है। अतः ज्ञाप्य = ब्रह्मजिज्ञासा रूप अर्थ। उसका विचार के साथ जो सम्बन्ध। वह सम्बन्ध ही है लक्षणा का लक्षण। इस प्रकार पद समुदाय रूप वाक्य में भी लक्षणा का लक्षण समन्वय हो जायेगा। इस प्रकार से ''वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः'' इस विधिवाक्य के ''वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'' (तै०सं०२—१—२) इत्यादि अर्थवाद वाक्य में भी कर्म प्राशस्त्य के ज्ञान के लिए वाक्य में ही लक्षणा मानी जाती है, क्योंकि प्रत्येक पद में लक्षणा कर के कर्म प्राशस्त्य की प्रतिपत्ति उपपन्न नहीं होती है, क्योंकि प्रत्येक पद का प्राशस्त्य में तात्पर्य है—इसका ज्ञापक प्रमाण का अभाव है।।६४।।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि यद्यपि पूर्व मीमांसक देवता में शरीरवत्ता, हवि का उपभोग, चैतन्य, प्रसन्नता, और फलदातृत्वादि नहीं मानते हैं तथापि पूर्वपक्षी और सिद्धान्ती तो मानते हैं। अतः यहाँ इस प्रकार से अर्थ होगा कि ''वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति'' इस अर्थवादवाक्य में ''वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः'' इस विधि वाक्य से बोधित वायुदेवताक याग रूप कर्म में क्षेपिष्ठा देवता प्रसाद हेतुत्व रूप जो तत् तत् पदार्थ का सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध का बोधकत्व ही है। क्षेपिष्ठा देवता प्रसाद हेतुत्व से अतिरिक्त प्राशस्त्य का लक्षकत्व नहीं है। अर्थात् उक्त अर्थवाद के प्रत्येक के द्वारा शक्तिवृत्ति के बल पर ही वायुदेवताक कर्म में क्षेपिष्ठा वायु देवता की प्रसन्नता का हेतुत्व है। अर्थात् उक्त कर्म करने से वायु देवता प्रसन्न हो कर शीघ्र फल देते हैं। ऐसा क्षेपिष्ठा देवता प्रसाद हेतुत्व रूप प्राशस्त्य कहा गया है। इससे भिन्न अन्य कोई प्राशस्त्य यहाँ कहा नहीं गया है। उक्त प्राशस्त्यरूप अर्थ

लिङ्गाद्यभिधेयकार्यस्यान्वयानुपपत्तिस्तत्र लक्षणाबीजमस्ति, प्रकृते च सर्वपदानां लक्षकत्वादभिधेया- न्वयानुपपत्तिर्नास्ति इति वाच्यम्; केन तुभ्यमभाण्यभिधेयान्वयानुपपत्त्या लक्षणेति? किन्तु तात्पर्यानुपपत्त्या, तच्च तात्पर्यमभिधेयान्वयविषयमन्वयसामान्यविषयं स्वरूपमात्रविषयं वेति न कश्चिद्विशेषः। अन्यथा यष्टीः प्रवेशयेत्यत्र लक्षणा न स्यात्। न च भोजनप्रयोजनकप्रवेशनस्य यष्टिष्वन्वयानुपपत्तेरेवास्तीति वाच्यम्;

सत्यानन्दप्रबोधिका

जब शक्ति वृत्ति से निकल रहा है। तब पदार्थान्वयानुपपत्ति रूप लक्षणा का बीज न होने कारण उक्त स्थल पर लक्षणा नहीं मानी जा सकती है। मूलस्थ ''तत्पदार्थसम्बन्धबोधकत्वमेव'' के स्थान पर न्यायामृत में ''तत्तत्पदार्थसंसर्गबोधकत्वमेव'' पाठ दिया गया है।

समाधान — उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि शक्तिवृत्ति से पदार्थमात्रसंसर्ग = वाक्यार्थ का बोध मानने पर ''वायुः शीघ्रतमः'' इत्याकारक ही बुद्धि होगी। वह बुद्धि कर्मप्राशस्त्य विषया नहीं होगी। अर्थात् पूर्वपक्षी के द्वारा कथित क्षेपिष्ठा देवता प्रसाद हेतुत्व रूप कर्मप्राशस्त्य को विषय करने वाली वाक्यार्थ बोधा की बुद्धि नहीं होगी, क्योंकि क्षेपिष्ठा देवता प्रसाद हेतुत्व यह किसी पद का शक्तिवृत्ति से लभ्य अर्थ नहीं है। अतः अर्थवाद वाक्य की कर्म प्राशस्त्य में लक्षणा ही मानना उचित है। दूसरी बात यह है कि पूर्वमीमांसक मत के अनुसार ही वाक्यलक्षणा के उदाहरण के रूप में उक्त अर्थवाद वाक्य दिया गया है। पूर्वमीमांसक देवता को केवल शब्दात्मक मानते हैं। अतः उनमें प्रसन्नतादि की सिद्धि नहीं हो पायेगी। अतः उक्त देवता प्रसाद (प्रसन्नता) से भिन्न कर्म प्राशस्त्य ही मानना होगा। वह लक्षणा के द्वारा ही उपपन्न होगा।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि वाक्य में लक्षणा होती है। इसको स्पष्ट करने के लिए पूर्वमीमांसा के अनुसार उक्त अर्थवाद वाक्य में लक्षणा कर के कर्मप्राशस्त्य अर्थ लिया गया है—ऐसा मानने पर दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य होगा, क्योंकि लिङ्, लोट्, तव्यादि प्रत्ययों का अभिधेय (वाच्यार्थ) कार्य माना जाता है। {प्रभाकर मतानुसार लिङ्गादि का अर्थ जो कार्य है। उससे अपूर्व लिया जाता है और भाट्टमतानुसार प्रवर्तना (भावना) लिया जाता है।} कर्म की प्रशंसा किये विना कोई भी वैदिक कर्म में कार्यत्व नहीं बन सकता है। अर्थात् कोई भी कर्म करने के लिए तैयार नहीं होगा। कर्म में कार्यत्व की अनुपपत्ति से कर्म जन्य अपूर्व (और भावना) में भी कार्यत्व की अनुपपत्ति आ जायेगी। यहाँ अर्थापत्ति का आकार होगा— प्राशस्त्यं विना कर्मणः (अपूर्वस्य भावनायाः च) कार्यत्वमनुपपन्नम्। इस प्रकार से कार्यान्वयानुपपत्ति जो लक्षणा का बीज है। उसके कारण उक्त अर्थवाद वाक्य स्थल पर लक्षणा की गयी है। प्रकृत (सत्यादि वाक्य) स्थल पर सभी पदों को लक्षक और तात्पर्यार्थानुपपत्ति को लक्षणा का नियामक माना जाता है। अभिधेयार्थानुपपत्ति को लक्षणा का बीज नहीं माना जाता है। इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है।

समाधान — पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी से किसने कहा कि अभिधेयार्थान्वयानुपपत्ति से लक्षणा होती है? अर्थात् सर्वत्र तात्पर्यानुपपत्ति से ही लक्षणा होती है। वह तात्पर्य अभिधेयान्वयविषयक हो या अन्वय सामान्य विषयक हो या स्वरूपमात्र विषयक हो। जहाँ उसकी अनुपपत्ति होगी वहाँ लक्षणा होगी। अभिधेयान्वय विषयक तात्पर्य की अनुपपत्ति होने पर ही लक्षणा होगी, स्वरूपमात्र विषयक तात्पर्य की अनुपपत्ति होने पर लक्षणा नहीं होगी—ऐसा कुछ विशेष नहीं है। कहने का भाव यह है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनों ही स्थलों पर समान रूप से तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज माना जाता है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में अन्तर इतना है कि अर्थवाद स्थल पर कर्म प्राशस्त्य में तात्पर्य होने के कारण अभिधेयार्थान्वयानुपपत्ति रूप तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा का बीज है। अर्थात् वायुगत शीघ्रतादि के अभिधान मात्र से

एवमपि प्रवेशनविशेषे तात्पर्य्यग्रह एवोपजीव्य—इति तदनुपपत्तिरेव लक्षणाबीजमस्तु। विनिगमनाविरहेण द्वयोरपि व्यवस्थितविकल्पेऽप्यस्माकं न क्षतिरित्यवधेयम्।।६५।।

ननु सर्वपदानां लाक्षणिकत्वे वाक्यार्थानुभवो न स्यात्, लाक्षणिकस्याननुभावकत्वादिति चेन्न;

सत्यानन्दप्रबोधिका

अर्थवाद वाक्य की विधि वाक्य के साथ एक वाक्यता सम्भव न होने के कारण पूरे अर्थवाद वाक्य की कर्म प्राशस्त्य में लक्षणा की गयी है और सत्यादि वाक्य स्थल पर स्वरूप में तात्पर्य होने के कारण स्वरूपावगति रूप तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा का बीज है। अर्थात् स्वरूपावगति (अखण्डबोध) की उपपत्ति के लिए सत्यादि वाक्य की स्वरूप मात्र में लक्षणा की गयी है। यदि अभिधेयानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज माना जायेगा तब ''यष्टीः प्रवेशय'' इस स्थल पर यष्टि पद की यष्टिधर में लक्षणा नहीं हो पायेगी, क्योंकि प्रवेश में यष्टि पद के शब्दार्थ के अन्वय की अनुपपत्ति नहीं है। इसका निरूपण खण्ड संख्या ११ में किया जा चुका है।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि ''यष्टीः प्रवेशय'' इस स्थल पर अभिधेयानुपपत्ति रूप लक्षणा का बीज है, क्योंकि वक्ता ने जो कहा कि ''यष्टीः प्रवेशय'' यहाँ वक्ता के द्वारा भोजन के प्रयोजन से प्रवेश कराने के लिए कहा गया है। ऐसी स्थिति में यदि यष्टि का अर्थ ही लिया जाय तब यष्टि के साथ प्रवेश के साथ जो सम्बन्ध वही वाक्यार्थ होगा। अर्थात् भोजन कराने के लिए दण्डों को प्रवेश कराओ। ऐसा होने पर भोजन प्रयोजनक प्रवेश रूप अभिधेयार्थ का यष्टि में अन्वय नहीं होगा। अतः यहाँ पर अभिधेयार्थ अन्वय की अनुपपत्ति हो रही है, जिसके कारण लक्षणा हो जायेगी।

समाधान — सिद्धान्ती का कथन है कि यदि उक्त प्रकार से अभिधेयान्वयानुपपत्ति को माना भी जाय तो भी अभिधेयानुपपत्ति का उपजीव्य (कारण) = भोजन प्रयोजनक प्रवेशन में वक्ता का तात्पर्य है—ऐसे ज्ञान का लाभ तात्पर्य ग्रह के आधार पर ही हो सकता है। अतः अभिधेयानुपपत्ति के उपजीव्यभूत तात्पर्यग्रह की अनुपपत्ति ही ''यष्टीः प्रवेशय'' इस स्थल पर भी लक्षणा का बीज है। यदि पूर्वपक्षी के द्वारा विनिगमक प्रमाण का अभाव दिखाकर अभिधेयानुपपत्ति और तात्पर्यग्रहानुपपत्ति दोनों में से किसी को भी लक्षणा का बीज मानने का विकल्प उपस्थित किया जाता है तब सिद्धान्ती का कथन है कि हमें भी इष्टापत्ति है, क्योंकि उक्त अर्थवाद स्थल पर लक्षणा का बीज तात्पर्यग्रहानुपपत्ति और अन्यत्र अभिधेयानुपपत्ति है। इस प्रकार से व्यवस्थित विकल्प मान लेने पर सिद्धान्त मत में भी कोई हानि नहीं है। अर्थात् जैसे ''ब्रीहिभिर्यजेत'' और ''यवैर्यजेत'' इस स्थल पर व्यवस्थित विकल्प माना जाता है। अर्थात् एक शाखा वाला हमेशा ब्रीहि से याग करेगा और दूसरी शाखा वाला हमेशा यव से याग करेगा। ठीक इसी प्रकार उक्त दृष्टगत स्थल पर सिद्धान्ती तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षण का बीज मानते हैं और पूर्वपक्षी अभिधेयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानता हैं—इस प्रकार से व्यवस्थित विकल्प मानने पर भी सिद्धान्त मत में कोई क्षति नहीं है—यह सिद्धान्ती के कथन का भाव है।।६५।।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि लक्षणा के द्वारा किसी अर्थ का बोधक पद को शाब्द बोध का जनक नहीं माना जाता है किन्तु शक्ति वृत्ति के द्वारा अर्थ को बोध कराने वाले शक्त पद को ही शाब्दबोध का जनक माना जाता है। लक्षक पद को लक्ष्यार्थ का स्मारक माना जाता है न कि अनुभावक। अतः ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इत्यादि वाक्यों में आये हुए सभी पदों को यदि सिद्धान्ती लक्षक मानते हैं तब वाक्यार्थ का अनुभव सिद्धान्ती के मत में उपपन्न नहीं होगा।

समाधान — उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के उक्त कथनानुसार शक्त पद को अनुभावक

लाक्षणिकत्वेऽप्यनुभावकत्वोपपत्तेः। शक्तत्वेन ह्यनुभावकत्वम्, नतु तच्छक्तत्वेन, गौरवात्। लाक्षणिकमपि क्वचिच्छक्तमेव; भट्टाचार्यैर्वाक्यार्थस्य सर्वपदलक्ष्यत्वाभ्युपगमाच्च। तथाहि—अभिहितान्वयवादे पदैः स्वशक्तिवशात् पदार्था अभिधीयन्ते; नतु स्मार्यन्ते; स्मार्यस्मारकसम्बन्धातिरिक्तमूलसम्बन्धकल्पनापत्तेः। एकसम्बन्धिज्ञानं ह्यपरसम्बन्धिस्मारकम्; नतु स्मारकत्वमेव सम्बन्धः; हस्तिपकादिषु तथा दर्शनात्। अत

सत्यानन्दप्रबोधिका

कहा जाता है। उसको मानने पर भी लक्षक पदों को भी अनुभावक मानने में कोई आपत्ति नहीं है। इसको स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि शाब्द बोध में पद शक्तत्वेन जनक होता है, किन्तु प्रकृत अर्थ (लक्ष्यार्थ) में ही शक्त होना चाहिये— यह नियम नहीं माना जा सकता है, क्योंकि गौरवदोष होगा। अर्थात् शक्त की अपेक्षा से लक्ष्यार्थ शक्त मानने पर गौरव दोष होगा, क्योंकि सामान्यकार्यकारणभाव को त्याग कर विशेष रूप से कार्यकारण भाव मानने पर गौरव दोष होता है। दूसरी बात यह है कि तीरादि अर्थ के लक्षक गङ्गादि पद भी प्रवाहादि अर्थ में शक्त होते ही हैं। अतः किसी भी अर्थ में शक्त होने के कारण लक्षक पदों को भी अनुभावक माना ही जा सकता है। आचार्य श्री कुमारिल भट्ट के मतानुसार सभी पद मिलकर के लक्षणा के द्वारा वाक्यार्थ का बोधन कराते हैं। यह नियम ''रामः ग्रामं गच्छति'' और ''गङ्गायां घोषः'' इत्यादि सभी वाक्यों में लगता है। जैसे प्रभाकर मतानुसार अन्विताभिधानवाद में पद अपने में रहने वाली शक्ति के बल पर पदार्थ की स्मृति को उत्पन्न करता है, किन्तु भाट्टमतानुसार अभिहितान्वयवाद में पद स्वनिष्ठ शक्ति के बल से पदार्थ का बोध उत्पन्न करता है, न कि पदार्थ की स्मृति को उत्पन्न करता है, जिसकी स्मृति होती है, वह स्मार्य होता है और जिसके द्वारा स्मृति होती है, वह स्मारक होता है। अतः यदि क के द्वारा ख की स्मृति होती है तो क और ख में स्मार्यस्मारक सम्बन्ध माना जाता है, परन्तु उन दो पदार्थो में ही स्मार्यस्मारक सम्बन्ध माना जाता है, जिन दोनों में स्मार्यस्मारक सम्बन्ध से अतिरिक्त कोई मूल सम्बन्ध रहता हो। जैसे सर्प को देखकर नकुल की स्मृति होती है। वह इसलिये कि उन दोनों में बद्धघातकभावमूलसम्बन्ध है। अतः अन्विताभिधान वाद में जो पद से पदार्थ की स्मृति होती है— ऐसा माना जाता है और पद तथा पदार्थ में स्मार्यस्मारक सम्बन्ध माना जाता है— वह उचित नहीं है, क्योंकि पद और पदार्थ में स्मार्यस्मारक सम्बन्ध से अतिरिक्त अन्य किसी मूल सम्बन्ध की कल्पना की आपत्ति होगी। जब कि ऐसा कोई मूल सम्बन्ध पद और पदार्थ में नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हुये आगे कह रहे हैं कि जैसे सर्प नकुल के बद्धघातकभाव सम्बन्ध का ज्ञान पहले से है। इस सम्बन्ध में एक सम्बन्धी सर्प को देखकर अपर सम्बन्धी नकुल की स्मृति होती है। इस प्रकार यहां बद्धघातक भाव मूल सम्बन्ध है और बाद में स्मार्यस्मारकभाव सम्बन्ध होता है। स्मार्य का स्मारक के साथ केवल मात्र स्वस्मारकत्व ही सम्बन्ध है। (स्व = स्मार्य = नकुल, स्मारक = सर्प, स्मारकत्व = सर्प में, इस प्रकार स्वस्मारकत्व सम्बन्ध से नकुल सर्प में बैठ जायेगा)। इससे अतिरिक्त कोई मूल सम्बन्ध नहीं है — ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि स्मार्य स्मारक से अतिरिक्त मूल सम्बन्ध देखा जाता है। जैसे हस्ती और हस्तिपक (महावत) इन दोनों में मूल सम्बन्ध = संयोग है। अतः मूल सम्बन्ध = संयोग के होने पर ही महावत का ज्ञान हस्ती का स्मारक होता है। अर्थात् स्मार्यरूपगजानुयोगिकसंयोगप्रतियोगित्वेन पूर्वज्ञात हस्तिपकविषयकज्ञान हस्ती का स्मारक होता है। यहां पर मूलभूत संयोग सम्बन्ध होता है। अतएव = मूल सम्बन्ध के अभाव से पद के द्वारा पदार्थ का स्मरण मानना सम्भव न होने के कारण ही वार्तिककार ने कहा है कि मानान्तर के द्वारा गृहीत पदार्थ से अतिरिक्त और किसी का बोध पद उत्पन्न नहीं करता है। (जैसे प्रत्यक्ष से जो घट पदार्थ दिखता है, उसी घट पदार्थ का

एवोक्तम्—' पदमभ्यधिकाभावात् स्मारकान्न विशिष्यते।'' इति अज्ञातज्ञापकत्वाभावान्नानुभावकम्' सम्बन्धान्तराभावाच्च न स्मारकम्, किन्तु शक्त्या ज्ञातज्ञापकमिति स्मारकसदृशमित्यर्थः। स्मृत्यनुभवातिरिक्तञ्च ज्ञानं प्रमाणबलादायातमङ्गीकार्यमेव; पदार्थज्ञाने तत्तानुल्लेखाच्च, तत्तोल्लेखनियमभङ्गेनात्र तत्प्रमोषकल्पने चातिगौरवात्। तथाच पदजन्यस्मृत्यनुभवविलक्षणज्ञानविषयीभूताः पदार्थाः अभिहिता इत्युच्यन्ते।।६६।।

तादृशाश्चाकाङ्क्षाद्यनुसारेण स्वान्वयमनुभावयन्तीति वाक्यार्थो लक्ष्य इत्युच्यते; पदेन यत् बोध्यते; तच्छक्यम्, पदार्थेन यत् बोध्यते; तल्लक्ष्यमिति नियमात्। अत एवोक्तं 'वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति

सत्यानन्दप्रबोधिका

बोध घट पद के द्वारा होता है)। अतः स्मारक से पद का कोई अन्तर नहीं है (किन्तु स्मारक सदृश है)। इसी को स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि स्मृति ज्ञात का ज्ञापक होती है और अनुभव अज्ञात का ज्ञापक होता है। अतः पद से जनित बोध अज्ञातार्थ ज्ञापक न होने के कारण पद को अनुभावक नहीं कहा जा सकता है। मूल सम्बन्ध का अभाव होने के कारण पद को स्मारक भी नहीं कहा जा सकता है किन्तु शक्ति वृत्ति के द्वारा ज्ञातार्थ का ज्ञापक है। फलतः पद को स्मारक के सदृश कहा जा सकता है। {श्री कैलाश आश्रम के षष्ठपीठाधीश्वर श्री महाराज जी की शोधित पुस्तक में ''शक्त्या ज्ञातज्ञापकमिति'' ऐसा पाठ है। प्रश्न होता है कि जहां एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ के सदृश कहा जाता है, वहां दोनों पदार्थो में कोई एक धर्म रहता है। जैसे सिंह के सदृश माणवक है। यहां पर सिंह गत जो शूरत्व क्रूरत्व है, वह माणवल में भी रहता है। प्रकृत में स्मारक सदृश कहा जा रहा है। उसका समन्वय कैसे होगा? इसका समाधान यह है कि जहां हस्ती को देखकर हस्तिपक की स्मृति होती है। वहां स्मारक हस्ती में भी ज्ञात ज्ञापकत्व रहता है और पद में भी ज्ञात ज्ञापकत्व रहता है। अतः ज्ञात ज्ञापकत्व रूप समान धर्म के रहने से पद स्मारक सदृश है — ऐसा कहा ही जा सकता है}। यद्यपि यह पद जन्य ज्ञान अनुभव और स्मरण दोनों से भिन्न जैसा है, तथापि प्रमाण के बल से प्राप्त होने के कारण प्रमात्मक माना जाता है। {कहने का भाव यह है कि सामान्यतः लोक में स्मृति और अनुभव ये दो ही ज्ञान प्रसिद्ध हैं किन्तु पद प्रयोज्य ज्ञान स्थल पर उपदर्शित प्रकार से ये दोनों प्रकार बन नहीं सकते हैं। अतः इन दोनों से विलक्षण ज्ञान मानना पड़ता है, किन्तु इन दोनों से अतिरिक्त होने पर भी इस ज्ञान को भ्रमात्मक माना नहीं जा सकता है, क्योंकि वह ज्ञान पद रूप प्रमाण से उत्पन्न होने के कारण प्रमात्मक रूप से ही स्वीकार किया जाता है}। इसी को स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि पदजन्य पदार्थ ज्ञान में तत्ता का उल्लेख न होने से इसे स्मृति ज्ञान नहीं मान सकते हैं। स्मृति में जो तत्ता का उल्लेख होता है। उस नियम के भङ्ग होने से गौरवदोष और उक्त स्थल पर तत्ता का लोप हो जाता है—ऐसी कल्पना करने से अति गौरव दोष होगा। अतः उक्त ज्ञान को स्मृति रूप नहीं माना जा सकता है। फलतः स्मृति और अनुभव से विलक्षण पद जन्य जो पदार्थ ज्ञान है। उस पदार्थ ज्ञान के विषयीभूत जो पदार्थ है, वे पदार्थ पदों के द्वारा अभिहिता = कहे जाते हैं।।६६।।

तादृशाः = उक्त प्रकार से पद जन्य पदार्थ ज्ञान विषयीभूत पदार्थ, आकाङ्क्षा योग्यता सन्निधि और तात्पर्यज्ञान के अनुसार लक्षणा के द्वारा स्व= पदार्थ समूह, अन्वय = उनका पारस्परिक सम्बन्ध (वाक्यार्थ) के अनुभव को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार से वाक्यार्थ को ही लक्ष्य कहा जाता है, क्योंकि पद के द्वारा जो बोधित होता है, वह शक्य होता है और पदार्थ के द्वारा जो बोधित होता है, वह लक्ष्य होता है— ऐसा नियम है। ऐसा नियम होने के कारण ही कहा गया है कि हम लोगों के मत में सर्वत्र वाक्यार्थ लक्ष्य विधया ही प्रतीत होता है, यही वास्तविक स्थिति है। यद्यपि तीरादि रूप पदार्थ जहां पर लक्ष्य है, वहां पर पद से अभिहित

नः स्थितम्।' इति। यद्यपि पदाभिहितपदार्थस्मार्यत्वं तीरादौ लक्ष्यत्वम्, वाक्यार्थे तु तदनुभाव्यत्वमिति विशेषः; तथापि पदार्थबोध्यत्वमादाय लक्ष्यत्वव्यपदेशः। अत एव पदार्थेन पदार्थलक्षणायां पूर्वसम्बन्धज्ञानापेक्षा, तस्य स्मार्यत्वात्। वाक्यार्थलक्षणायान्तु न तदपेक्षा, तस्यानुभाव्यत्वेन पूर्वसम्बन्धज्ञानानपेक्षत्वात्। पदार्थलक्षणायां पूर्वसम्बन्धज्ञानमेव, वाक्यार्थलक्षणायामाकाङ्क्षादिकमेवेति परस्परनिरपेक्षमुभयं नियामकम्। अतोऽपूर्वे वाक्यार्थे शक्यसम्बन्धितया ज्ञातुमशक्ये कथं लक्षणेत्यपास्तम्; पदार्थलक्षणाया एव तथात्वात्। एवञ्च पदशक्तेः

सत्यानन्दप्रबोधिका

पदार्थ पदार्थरूपलक्ष्यविषयक स्मृति को उत्पन्न करता है और वाक्यार्थ रूप जहां पर लक्ष्य है। वहां पर पदाभिहित पदार्थ लक्ष्यरूप वाक्यार्थ विषयक स्मृति को उत्पन्न नहीं करते हैं, किन्तु अनुभव को उत्पन्न करते हैं– इतनी विशेषता है। {कहने का भाव यह है कि ''घटोऽस्ति'' यहां पर एक बार ही पदार्थों में लक्षणा कर के वाक्यार्थ का बोध होता है, क्योंकि यहां पर दोनों पदों का वाच्यार्थ शक्ति लभ्य है। अतः उन दोनों में से कोई लक्ष्यार्थ नहीं है, केवल वाक्यार्थ ही लक्ष्यार्थ है। जब कि ''गङ्गायां घोषः''इस स्थल पर लक्ष्यार्थ दो हैं। एक तो गङ्गा पद का लक्ष्यार्थ तीर और दोनों पदार्थ (तीर पदार्थ और घोष पदार्थ) मिलकर लक्षणा के द्वारा वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। इन दो लक्ष्यार्थो में से जो तीर रूप लक्ष्यार्थ है। उसका तो पद के द्वारा अभिहित गङ्गा पदार्थ से स्मृति होती है न कि अनुभव। वाक्यार्थ रूप जो लक्ष्यार्थ है। उसका पदों के द्वारा अभिहित पदार्थ समूह से वाक्यार्थ का अनुभव होता है न कि स्मृति।} तथापि ''पदेन यद् बोध्यते तच्छक्यम्, पदार्थेन यद् बोध्यते, तल्लक्ष्यम्'' इस नियमानुसार पदार्थ से बोध्य होने के कारण वाक्यार्थ को लक्ष्यार्थ कहा जाता है। अत एव = पदार्थ रूप लक्ष्य में और वाक्यार्थ रूप लक्ष्य में स्मार्यत्व और अनुभाव्यत्व प्रयुक्त भेद होने से ही पदार्थ (गङ्गादि पदार्थ) से पदार्थ लक्षणा (तीरादि में लक्षणा) में पूर्व सम्बन्ध के ज्ञान की अपेक्षा है। अर्थात् गङ्गादि पदार्थों का तीरादि पदार्थों के साथ जो परस्पर सम्बन्ध है। उस सम्बन्ध का ज्ञान लक्षणा से पूर्व में चाहिये, क्योंकि ऐसे स्थल पर पदार्थ रूप लक्ष्य स्मार्य होता है। पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ लक्षणा में पूर्व सम्बन्ध ज्ञान (पदार्थ का वाक्यार्थ के साथ पूर्व में कोई सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध के ज्ञान) की अपेक्षा नहीं होती है, क्योंकि वाक्यार्थ को अनुभाव्य कहते हैं। अनुभाव्य होने के कारण पूर्व सम्बन्ध के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है, क्योंकि पदार्थ लक्षणा (तीरादि में लक्षणा) में पूर्व सम्बन्ध ज्ञान ही नियामक है। अर्थात् गङ्गा पद के प्रवाह रूप पदार्थ के द्वारा तीर पदार्थ में जहां लक्षणा होती है, वहां पूर्व सम्बन्ध का ज्ञान (गङ्गा प्रवाह से तीर के संयोग सम्बन्ध का ज्ञान) हो, तभी लक्षणा होती है, क्योंकि ऐसे स्थल पर लक्ष्यार्थ को स्मृति रूप माना जाता है। ''पूर्वसम्बन्धज्ञानमेव'' में एव पद के द्वारा आकांक्षादि की व्यावृत्ति कर दी गयी है और वाक्यार्थ लक्षणा में आकांक्षादि नियामक है – इस प्रकार से उक्त दोनों स्थलों पर परस्पर निरपेक्ष नियामक माना जाता है। ''आकांक्षादिकमेव'' में एव पद के द्वारा पूर्व सम्बन्ध ज्ञान की व्यावृत्ति की गयी है। दोनों को परस्पर निरपेक्ष इसलिये कहा गया कि जहां पूर्वसम्बन्ध ज्ञान को नियामक माना गया वहां आकांक्षादि की आवश्यकता नहीं है और जहां आकांक्षादि को नियामक माना गया, वहां पूर्व सम्बन्ध ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। अतः दोनों परस्पर निरपेक्ष है। अतः = वाक्यार्थ लक्षणा में पूर्व सम्बन्ध ज्ञान की अपेक्षा न रहने से, शक्य सम्बन्धितया जानने के लिये अशक्य एवम्भूत जो अपूर्व वाक्यार्थ है। तादृशवाक्यार्थ में लक्षणा कैसे होगी। अर्थात् जैसे किसी ने कहा तुम्हारे पुत्र की मृत्यु हो गयी। यहां पुत्र पदार्थ और मृत्यु पदार्थ का पहले से ज्ञान है, किन्तु पुत्र के साथ मृत्यु के सम्बन्ध का ज्ञान पहले से अपूर्व = अज्ञात है। ऐसे पदार्थों के सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ में लक्षणा नहीं हो सकती है, क्योंकि

पदार्थोपस्थितावेवोपक्षयादुपस्थितानां च पदार्थानामन्वयानुभावकत्वात् सर्वपदलाक्षणिकत्वेपि न वेदान्तवाक्यानामन्वयानुभावकत्वानुपपत्तिः।।६७।।

स्यादेतत्—अभिहितान्वयवादे मा भूदनुपपत्तिः; अन्विताभिधाने तु भवति। तथाहि पदानामन्वयानुभवजननसामर्थ्यमेव शक्तिरित्युच्यते, एकैकपदार्थोपस्थितिस्तु स्मृतिरूपा, न शक्तिसाध्या। एकसम्बन्धिज्ञानादपरसम्बन्धिस्मरणस्य हस्तिपकादिसाधारणत्वात्, अन्वयानुभवजननसामर्थ्यरूपस्य च

सत्यानन्दप्रबोधिका

लक्षणा का लक्षण = शक्यसम्बन्ध है। यहां सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है। अतः लक्षणा नहीं होगी। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन अपास्त हो गया, क्योंकि वाक्यार्थ लक्षणा में पूर्व सम्बन्ध ज्ञान की अपेक्षा होती ही नहीं है। पदार्थ से पदार्थ में जहां लक्षणा होती है, वहां ही पूर्व सम्बन्ध ज्ञान की अपेक्षा होती है, ऐसा नियमवहां हम भी मानते ही हैं। अतः कोई दोष नहीं है। इस प्रकार पदनिष्ठ शक्ति के द्वारा केवल पदार्थ की उपस्थिति होती है और पदार्थ की उपस्थिति कराकर पदनिष्ठ शक्ति क्षीण हो जाती है। अर्थात् पदनिष्ठ शक्ति में पदार्थ उपस्थिति के पश्चात् वाक्यार्थ बोध उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं रहती है। इस प्रकार भिन्न —भिन्न पदों में निष्ठ शक्ति के द्वारा जो भिन्न—भिन्न पदार्थ उपस्थित हुये, उन पदार्थों का जो अन्वय (सम्बन्ध = वाक्यार्थ) के अनुभव को पदार्थ ही उत्पन्न करते हैं। अर्थात् पदनिष्ठ शक्तिवृत्ति से पदार्थ का बोध प्रथम होता है, इसके पश्चात् पदनिष्ठ लक्षणावृत्ति के द्वारा पदार्थों के संसर्ग (वाक्यार्थ) का बोध होता है। इस प्रकार सभी पदों के लाक्षणिक होने पर भी वेदान्त वाक्यों में अन्वय (वाक्यार्थ) के अनुभावकत्व की अनुपपत्ति नहीं होगी। अर्थात् ''सत्यं ज्ञानमन्तं ब्रह्म'' इत्यादि स्थल पर सभी पद मिलकर लक्षणा के द्वारा शुद्ध ब्रह्म का शाब्द बोध कराते हैं— ऐसा मानने में कोई भी आपत्ति नहीं होगी।। ६७।।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि भाट्टाभिमत अभिहितान्वयवाद में पूर्वोक्त प्रकार से सर्वपदों का लाक्षणिकत्व होने पर वेदान्त वाक्यों के अन्वय के अनुभावकत्व की अनुपपत्ति न होने पर भी गुरुमत सम्मत अन्विताभिधानवाद में सर्व पदों का लाक्षणिकत्व होने पर वेदान्त वाक्यों के अन्वय के अनुभावकत्व की अनुपपत्ति होगी, क्योंकि इस मतानुसार पदों में अन्वयानुभव = वाक्यार्थ अनुभव को उत्पन्न करने की सामर्थ्य को शक्ति कहते हैं। अर्थात् शक्तिवृत्ति के बल पर पदों के द्वारा वाक्यार्थ का अनुभव होता है। पृथक्—पृथक् पद के द्वारा पृथक् —पृथक् पदार्थो का जो बोध होता है, वह बोध अनुभव नहीं होता है, किन्तु स्मृति होता है। वह स्मृति पदनिष्ठ शक्ति के बल पर नहीं होती है, अपितु ''एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धि—स्मारकं भवति''। इस नियम के बल पर होती है। जैसे महावत को देखकर हाथी की स्मृति होती है, वैसे ही पद के ज्ञान से पदार्थ की स्मृति होती है। जहां स्मृति होती है वहां स्मार्यस्मारक सम्बन्ध से अतिरिक्त मूल सम्बन्ध कहना पड़ता है। इसलिये कह रहे हैं कि दृष्टान्त में महावत और हाथी में जैसे मूल सम्बन्ध ा संयोग होता है, वैसे ही दार्ष्टान्त में पद और पदार्थ में अन्वयानुभवजननसामर्थ रूप मूल सम्बन्ध रहता है। अत एव = उक्त मूल सम्बन्ध के बल पर पद से पदार्थ की स्मृति होती है, इसलिये पद से जो पदार्थ की स्मृति है। उस स्मृति से भिन्न सर्प को देखकर नकुल की जो स्मृति होती है। वह स्मृति जैसे पदशक्ति के द्वारा साध्य नहीं है। वैसे ही पद से पदार्थ की जो स्मृति होती है, वह भी पद शक्ति के द्वारा साध्य नहीं होती है। इस प्रकार दूसरी स्मृति के साथ पदार्थ स्मृति की समानता है और पद से जो पर्दाथोपस्थिति होती है। उसको स्मृति से भिन्न कल्पना करने में प्रमाण का अभाव भी है। पद का अध्याहार न करके अर्थ का अध्याहार करने में कोई बाधक न हो तो पद का अध्याहार न करके केवल अर्थ का ही अध्याहार किया

मूलसम्बन्धस्य विद्यमानत्वात्। अत एव पदशक्त्यसाध्यत्वात् पदार्थोपस्थितेः स्मृत्यन्तरसाधारणाया–स्तद्वैजात्यकल्पने च मानाभावादर्थाध्याहार एवासति बाधके; न पदाध्याहारः; पुष्पेभ्य इत्यत्र साधुत्वार्थं स्पृहयति पदस्य 'विश्वजिता यजेत'इत्यत्र नियोज्य लाभार्थं स्वर्गकामपदस्य, सौर्ये चरावतिदेशप्राप्ते 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि'इति मन्त्रे प्रकृतौ वाचकपदवत्तया क्लृप्तोपकारे अग्निपदबाधेन वाचकपदलाभाय सूर्य्य पदस्य चाध्याहारेऽपि पदार्थस्मरणाय वाक्यार्थानुभवाय वा तदनपेक्षणात्। शाब्दत्वञ्च

सत्यानन्दप्रबोधिका

जाता है– ऐसा नियम है। अर्थ का अध्याहार करने में जहां बाधक नहीं है, उसमें दृष्टान्त यह है कि जहां ''पिधेहि'' पद का उच्चारण न कर के केवल ''द्वारम्'' पद का उच्चारण किया गया है और दरवाजे को बन्द करो– इस अर्थ में वक्ता का तात्पर्य है – इस अर्थ को श्रोता ने समझ लिया है और अर्थ का अध्याहार करने में कोई बाधक नहीं है। तब पिधानादि रूप अर्थ का ही अध्याहार होता है न कि ''पिधेहि'' इत्यादि रूप पद का। अर्थ का अध्याहार करने में जहां बाधक है, वहां पद का अध्याहार होता है– इसमें दृष्टान्त दे रहे हैं कि ''स्पृहेरीप्सितः'' (अ०सू० १–४–३६) स्पृहयति पद का प्रयोग होने पर इष्टवस्तु की सम्प्रदान संज्ञा होती है। सम्प्रदान संज्ञा होने पर चतुर्थी विभक्ति होगी। अब यदि कोई व्यक्ति ''पुष्पाणि इच्छति'' ऐसा प्रयोग करता है तब यह प्रयोग भी शुद्ध होता है, किन्तु ''इच्छति'' पद के स्थान पर ''स्पृहयति'' पद का प्रयोग करता है, तब ''पुष्पाणि'' के स्थान पर ''पुष्पेभ्यः'' करना पडेगा। ऐसी स्थिति में यदि किसी व्यक्ति ने ''इच्छति'' या ''स्पृहयति'' कोई भी पद का प्रयोग न कर के केवल ''पुष्पेभ्यः'' कहा तब ''पुष्पेभ्यः'' इस चतुर्थी विभक्ति को साधु सिद्ध करने के लिये ''स्पृहयति'' पद का अध्याहार करना होगा। यदि ''स्पृहयति'' पद का अध्याहार न करके ''स्पृहयति'' के अर्थ का अध्याहार किया जाता है। तब ''पुष्पेभ्यः'' यह चतुर्थी विभक्ति साधु नहीं होगी, क्योंकि अष्टाध्यायी सूत्र का अर्थ है ''स्पृहयति'' पद का प्रयोग होने पर इष्ट वस्तु की सम्प्रदान संज्ञा होती है न कि ''स्पृहयति'' पद के अर्थ का प्रयोग होने पर सम्प्रदान संज्ञा होती है। यह पद का अध्याहार न करके अर्थ का अध्याहार करने में बाधक है। अतः बाधक के कारण अर्थ का अध्याहार न करके ''स्पृहयति'' इस पद का अध्याहार होता है। इसी प्रकार आगे के दृष्टान्तों में बाधक के होने पर पद का अध्याहार होता है। जैसे ''विश्वजिता यजेत'' यहां पर ''स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्'' (जै०सू० ४–३–१३) के अनुसार प्रभाकर सम्मत नियोज्य (अधिकारो) के लाभ के लिये ''स्वर्गकाम'' पद का अध्याहार होता है। इसी प्रकार विकृतियाग में वाक्य आता है–सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चस्कामः। किन्तु किस मन्त्र से सौर्य चरु का निर्वाप हो– वह मन्त्र विकृति याग में लिखा नहीं है। तब प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या''। इस अतिदेश के बल पर प्रकृतियागीय ''अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि'' यह मन्त्र प्राप्त हुआ, किन्तु याग का उपकारक जो मन्त्र होता है, वह यागीय देवता के वाचक पद से युक्त होना चाहिये। यह नियम प्रकृति याग में देखा गया है। अतः सौर्य यागीय अपूर्व अग्नि देवता वाचक पद से युक्त मन्त्र के द्वारा उत्पन्न नहीं होगा, क्योंकि दोनों के देवता अग्नि और सूर्य भिन्न–भिन्न हो गये। अतः अतिदेश से प्राप्त मन्त्र में आये हुये अग्नि पद का बाध कर सूर्य पद का अध्याहार कर के विकृति याग का उपयोगी ''सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि'' ऐसा मन्त्र का आकार माना जाता है। यहां यदि अर्थाध्याहार किया जाता है तब ''सूर्याय जुष्टं निर्वपामि'' यह मन्त्र का आकार बन ही नहीं पायेगा और जब मन्त्र नहीं बनेगा तब याग नहीं होगा। यही यहां अर्थाध्याहार करने में बाधक है। दार्ष्टान्ति में पदार्थ स्मरण के लिये या वाक्यार्थ अनुभव के लिये पद के अध्याहार की अपेक्षा नहीं है। जैसे अनुच्चरित

पदजन्यान्वयानुभवत्वेनैव; न पदजन्योपस्थितिजन्यान्वयानुभवत्वेन; गौरवात्।।६८।।

अत एव योग्यतावच्छेदकस्य छिद्रेतरत्वादेः पदादनुपस्थितस्यापि पदजन्यान्वयानुभवविषयत्वाच्छाब्दत्वम्; अन्यैरप्यनुकूलत्वप्रतियोगित्वादीनां तथात्वाभ्युपगमात्। एवं च चैत्रोऽयमित्यादौ लोके 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इत्यादौ च वेदे प्रत्यक्षोपस्थितानामेव चैत्रोद्भिदादिपदानां नामत्वेनान्वयः; अन्यथा चैत्रपदवाच्योऽयं उद्भित्पदवाच्येन यागेन इत्यादि कल्पने लक्षणाप्रसङ्गात्, अगृहीतसङ्गतिके पदे तदयोगात्। 'घटः पटो

सत्यानन्दप्रबोधिका

''पिधेहि'' के अर्थ की स्मृति के लिये अथवा पूरे वाक्य (द्वारं पिधेहि) के अनुभव के लिये ''पिधेहि'' इस पद के अध्याहार की कोई अपेक्षा नहीं है क्योंकि पिधानादिरूप अर्थ का अध्याहार करने मात्र से ही उक्त स्मरण और अनुभव हो जाता है। वाक्यार्थ बोध को जो शाब्द अनुभव माना जाता है वह तो पद से वाक्यार्थ का अनुभव उत्पन्न होने मात्र से ही माना जाता है। पद से जो पदार्थ की उपस्थिति होती है, उस पदार्थ की उपस्थिति से वाक्यार्थ अनुभव उत्पन्न होने से वाक्यार्थ को शाब्द बोध नहीं माना जाता है, क्योंकि पदजन्यान्वयानुभवत्व की अपेक्षा पदजन्यपदार्थोपस्थितिजन्यान्वयानुभवत्व में गौरवदोष है।। ६८।।

अतएव = पदजन्योपस्थितिजन्यान्वयानुभवत्वेन शाब्दत्व न होने से और पद जन्य अन्वयानुभवत्व ही शाब्दत्व का प्रयोजक होने से ही, ''घटेन जलमाहर'' इस स्थल पर घट पद से अनुपस्थित घटगत योग्यतावच्छेदक छिद्रेतरत्व के होने पर भी पदजन्यान्वयानुभवविषयत्व होने से शाब्दत्व है। {कहने का भाव यह है कि घट में जो जलाहरण की योग्यता है, उसका अवच्छेदक छिद्रेतरत्व (फूटे घट से भिन्न होना चाहिये) जब कहा जाता है कि ''घटेन जलमाहर'' तब श्रोता इस वाक्य का यह अर्थ समझता है कि छिद्रेतर घट से जल लाओ। किन्तु छिद्रेतरत्व तो किसी पद से उपस्थित नहीं है। फिर भी वह शाब्द बोध के अन्तर्गत माना गया, क्योंकि वह पद से जन्य होने वाले वाक्यार्थ के अनुभव में विषय होता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि पद जन्य पदार्थ उपस्थिति जन्य वाक्यार्थ अनुभव होने से वाक्यार्थ बोध को शाब्द बोध नहीं माना जाता है। अपितु पद जन्य अन्वयानुभवत्व ही शाब्दत्व का प्रयोजक होता है}। इसी प्रकार नैयायिकादि भी अनुकूलता, प्रतियोगिता के वाचक कोई पद का उच्चारण न होने पर भी पद से जन्य होने वाले वाक्यार्थ अनुभव के विषय रूप से भासित होने के कारण अनुकूलतादि में शाब्दत्व मानते हैं। एवम् = पद से ही वाक्यार्थ अनुभव मानने के कारण ही, ''चैत्रोऽयम्'' इत्यादि लोक में और ''उद्भिदा यजेत पशुकामः'' इत्यादि वेद में प्रत्यक्षादि से उपस्थित चैत्र और उद्भिदादि पदों का नामत्वेन अन्वय होता है। कहने का भाव यह है कि जैसे किसी का नाम पद्मलोचक है, किन्तु वह टेडी—आंख वाला और काना है। अतः यहां पद्मलोचन पद का अर्थ कमलनेत्र न लेकर केवल व्यक्ति का नाम मात्र लिया जाता है। अतः पद से पदार्थ की उपस्थिति न होकर के पद से ही वाक्यार्थ बोध होता है। अन्यथा = पदजन्योपस्थितिजन्यान्वयानुभव के रूप से वाक्यार्थ बोध को शाब्द बोध मानने पर चैत्रपदवाच्योऽयम्, उद्भिदपदवाच्येन यागेनेष्टं भावयेत्'' इस प्रकार से लक्षणा करनी पडेगी। यदि कहो कि उक्त प्रकार से लक्षणा कर लेंगे तब कह रहे हैं कि अगृहीत सङ्गतिक पद में लक्षणा नहीं हो सकती है। अर्थात् पद में पहले शक्ति ग्रह हो, तब जाकर उस पद की लक्षणा होती है। जैसे गङ्गा पद में प्रवाह की शक्ति है, तब उसकी तीर में लक्षणा होती है। ''चैत्रोऽयम्'' यह प्रयोग वहां होता है जहां कोई व्यक्ति पूछता है कि चैत्र कौन है? इस व्यक्ति को चैत्र इस पद में किस व्यक्ति को बोध कराने की शक्ति है। इसका ज्ञान नहीं रहता है। अतः शक्ति ग्रह न होने से लक्षणा नहीं हो सकती है। इसी प्रकार उद्भिद् के विषय में भी समझना चाहिये। ''घटः पटो न''। यहां पर जैसे विभक्ति

न' इत्यत्र नञन्वय इव चैत्रोऽयमित्यादिनामधेयान्वयेऽपि विभक्त्यर्थद्वारत्वानपेक्षणेन व्युत्पत्त्यन्तरकल्पनात्। नञन्वये विभक्त्यर्थापेक्षायां जितमद्वैतवादिभिः, नीलं सुगन्धि महदुत्पलमितिवत् घटपटनञर्थानामभेदान्वयोपपत्तेः। नामधेये विभक्त्यर्थापेक्षायां वेदे नामधेयत्वं न सिद्ध्येत् इति जितं पूर्वपक्षिणा, 'सोमेन यजेत' इत्यत्रेव मत्वर्थलक्षणयोद्भिदा यजेतेत्यादावपि विशिष्टविधित्वोपपत्तेः; उभयत्र लक्षणायास्तुल्यत्वेऽपि प्रवृत्तिविशेषकरत्वेन विधित्वस्यैवोचितत्वात्। वार्तिककाराणां तु पदार्थोपस्थितेः पदशक्तिसाध्यत्वात्तदर्थं सर्वत्र पदाध्याहाराङ्गीकारेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

के अर्थ को माध्यम न बनाकर अर्थात् विभक्ति के अर्थ को अविवक्षित कर नञ् का नामार्थ के साथ अन्वय होता है (कहने का भाव यह है कि किसी पद के उत्तर में जो विभक्ति रहती है, उस विभक्ति के अर्थ का बोधक पहले होगा। उसके बाद ही उस पद का शेष पदों से अन्वय होगा, किन्तु यह नियम ''घटः पटो न'' इस स्थल पर लिया नहीं जाता है, क्योंकि घट पद नञ् और पट दोनों विशेषण पदों का विशेष्य है। जब कि यह नियम है कि विशेष्य और विशेषण में समान विभक्ति हो, तब विशेषण विभक्ति का अर्थ अभेद होता है। इस नियम के अनुसार ''घटः पटो न'' इस वाक्य से ''घटो भेदाभिन्नपटाभिन्नः'' ऐसे बोध की आपत्ति होगी। ऐसा अर्थ कोई मानता नहीं है। अतः यहां पर जैसे विशेषण विभक्ति का अर्थ अविवक्षित है)। ठीक इसी प्रकार ''चैत्रोऽयम्'' इत्यादिस्थल पर भी नाम का नामार्थ के साथ अन्वय में भी विभक्ति का अर्थ माध्यम नहीं बनाया जाता है। अपितु व्युत्पत्त्यन्तर की कल्पना की जाती है। अर्थात् ''विशेष्यविभक्तिजातीयविशेषणविभक्तेरभेदार्थकत्वम्'' इस व्युत्पत्ति से भिन्न व्युत्पत्ति = यन्नामार्थे चैत्रादिनाम्नो वाच्यतासम्बन्धेनान्वयः, तन्नामसमानविभक्तिकत्वं तस्यापेक्ष्यते। अर्थात् जिस नामार्थ में चैत्रादि नाम का वाच्यता सम्बन्ध से अन्वय होता है, उस नाम का समानविभक्तिकत्व चैत्रादि नाम को अपेक्षित है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर ''चैत्रनामकोऽयम्'' ऐसा अर्थ होगा। नञर्थ के अन्वय में विभक्त्यर्थ की अपेक्षा होने पर अद्वैतवादी की विजय निश्चित है, क्योंकि ''नीलं सुगन्धिमहदुत्पलम्'' यहां पर जैसे नीलादि पदार्थों का अभेदेन अन्वय होता है, वैसे ही ''घटः पटो न'' इस स्थल पर भी घट और पट के साथ नञर्थ का अभेदेन अन्वय होगा। अर्थात् ''घटो भेदाभिन्नपटाभिन्नः'' ऐसा अद्वैत सिद्ध होगा। (यह पूर्वपक्षी का व्यङ्ग है, क्योंकि ऐसा बोध माना नहीं जाता है।) नाम का नामार्थ के अन्वय में नाम इस विशेषण के उत्तर में जो विभक्ति उसके अर्थ की अपेक्षा होने पर अनादि वेद में सादि नाम सम्भव न होने के कारण पूर्वपक्षी विजयी हो जाता है (अर्थात् पद से ही वाक्यार्थ अनुभव हो जायेगा। मध्य में पद से पदार्थ की उपस्थिति नहीं माननी पडेगी)। इसको स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि ''सोमेन यजेत''। यहां पर जैसे ''सोमवता (सोमलतारूपद्रव्यविशिष्टेन) यागेन इष्टं भावयेत्'' ऐसी मत्वर्थ लक्षणा होती है, वैसे ही ''उद्‌भिदा यजेत'' इस स्थल पर भी ''उद्‌भिद्वता (उद्‌भिदद्रव्य विशिष्टेन) यागेन इष्टं भावयेत्'' ऐसी विशिष्ट विधि ही पूर्वपक्षी को मान्य है। जब कि सिद्धान्ती को ''उद्‌भिद्पदवाच्येन यागेन इष्टं भावयेत्'' ऐसा अर्थ करना पड़ेगा। यद्यपि ''उद्‌भिद्द्रव्यविशिष्टेन यागेन इष्टं भावयेत्'' यह अर्थ भी पूर्वपक्षी के द्वारा लक्षणा के बल पर किया जा रहा है और ''उद्‌भिद्पदवाच्येन यागेन इष्टं भावयेत्'' यह अर्थ भी सिद्धान्ती के द्वारा लक्षणा के बल पर ही किया जा रहा है। इस प्रकार दोनों ही पक्षों में लक्षणा मानी जा रही है। तथापि नामधेय पक्ष में नाम का सङ्कल्पादि में उपयोग होने पर भी मत्वर्थ लक्षणा पक्ष में याग के द्रव्य विशेष का लाभ हो जाने से यागानुष्ठान में द्रव्यान्वेषण प्रयुक्त विलम्ब न हो कर याग का अविलम्बे अनुष्ठान हो जायेगा। इसलिये मत्वर्थ लक्षणा के द्वारा जो विशिष्ट विधि पक्ष है, वही उचित है। वार्तिककार श्री कुमारिल भट्ट ने

नामधेयान्वये व्युत्पत्त्यन्तराश्रयणमस्त्येव। तथा च स्वयमेव व्युत्पादितं नामधेयाधिकरण इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या। प्रकृतमनुसरामः।।६९।।

एवं स्थिते लाक्षणिकमपि अन्वयानुभावकञ्चेदन्वयानुभवजननसामर्थ्यमेव शक्तिरिति लाक्षणिकस्यापि तद्वत्त्वान् मुख्यजघन्यविभागो न स्यात्। तथा च लिङ्गाधिकरणविरोधः। तत्र हि 'बर्हिर्देवसदनं दामि'इत्यादिमन्त्राणां मुख्ये जघन्ये चार्थे लिङ्गाद्विनियोगः उत मुख्य एवेति संशय्य उभयोरपि शाब्दत्वादुभयत्रापि विनियोग इति प्राप्ते, मुख्य एव इति सिद्धान्तितम्। 'अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात् तस्मादुत्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

अभिहितान्वयवाद में पदार्थ की उपस्थिति पद शक्ति से साध्य होती है। अतः पदार्थ उपस्थिति के लिये सर्वत्र पद का अध्याहार किया जाता है, किन्तु नामधेय के अन्वय के लिये व्युत्पत्त्यन्तर (विशेष्यविभक्तिजातीयविशेषणविभक्तेरभेदार्थकत्वम् — इस व्युत्पत्ति से भिन्न व्युत्पत्ति = यन्नामार्थे चैत्रादि नाम्नो वाच्यतासम्बन्धेनान्वयः तन्नामसमानविभक्तिं तस्य (नामार्थस्य) अपेक्ष्यते) का आश्रय किया जाता है। इसको स्वयं वार्तिककार ने नामधेयाधिकरण (जै०सू० १—४—१) में प्रतिपादित किया है। अब इस प्रसक्त = मूल प्रसङ्ग, अनुप्रसक्त = मूल प्रसङ्ग से सम्बन्धित अर्थात् प्रासङ्गिक चर्चा का अधिक विस्तार करना अनावश्यक है। अतः प्रकृत का अनुसरण करते हैं।।६९।।

एवं स्थिते = पद जन्य अन्वयानुभव को ही शाब्दबोध माना जाता है— यह पक्ष निश्चित हो जाने पर भी यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि सत्यादि पद लक्षणा से बोध कराते हैं, तब अन्वयानुभवजननसामर्थ ही कही जाती है। अतः लाक्षणिक सत्यादि पद में भी अन्वयानुभवजननसामर्थ रूपा शक्ति माननी पडेगी। तब शक्तिवृत्ति मुख्य होती है और लक्षणावृत्ति जघन्य (गौण) होती है। इस प्रकार के विभाग की उपपत्ति नहीं हो पायेगी। अर्थात् अभी तक शक्त को मुख्य समझते थे और लाक्षणिक को जघन्य समझते थे। इसी प्रकार शक्ति के द्वारा बोध्य अर्थ को मुख्य समझते थे और लक्षणा के द्वारा ज्ञाप्य अर्थ को जघन्य समझते थे, परन्तु अब पद गत समान रूप से अर्थ बोधकता होने से और अर्थ भी एक ही प्रकार का होने से मुख्य जघन्य विभाग नहीं बन पायेगा। यदि इष्टापत्ति कहते हो तब लिङ्गाधिकरण (जै०सू० ३—२—१) का विरोध उपस्थित होगा। अर्थात् जहां मुख्य मानना सम्भव है वहां जघन्य मानना अनुचित है— यही लिङ्गाधिकरण न्याय है— इससे विरोध हो जायेगा। इसको स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि उस लिङ्गाधिकरण में ''बर्हिदेवसदनं दामि'' अर्थात् देवताओं का जो सदन =आसन, उसके लिये बर्हि का मैं छेदन कर रहा हूं। यह मन्त्र कुशादि बर्हिः की लवन (काटना) क्रिया का प्रकाशक है। इसलिये लिङ्ग (शब्दसामर्थ्य) प्रमाण के आधार पर लवन क्रिया में ही विनियुक्त होता है, किन्तु लवनीय बर्हिः दो प्रकार की होती है— मुख्य और गौण। अतः यह संशय उपस्थित होता है कि मुख्य और गौण दोनों प्रकार की बर्हिः की लवन क्रिया में उक्त मन्त्र का लिङ्ग प्रमाण से विनियोग होता है। अथवा मुख्य बर्हिः के ही लवन क्रिया में उक्त मन्त्र का लिङ्ग प्रमाण से विनियोग होता है। इस प्रकार से संशय कर के पूर्वपक्ष से कहा गया कि दोनों अर्थों में शाब्दत्व है। अतः दोनों में ही विनियोग होगा। सिद्धान्त पक्ष से कहा गया कि शब्दसामर्थ्य रूप लिङ्ग प्रमाण मुख्यार्थ में ही मन्त्र का विनियोजक होता है, गौणार्थ में नहीं। यह कहां कहा गया है? इसके लिये जै०सू० ३—२—१ का उल्लेख कर रहे हैं — ''अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात् तस्मादुत्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात्।'' {अर्थाभिधानसामर्थ्यात् = कौन कर्म का अनुष्ठान करना है, इस कर्म के अर्थ को प्रकाशन करने की सामर्थ्य (शक्ति) मन्त्र में है इसलिये, मन्त्रेषु शेषभावः स्यात् = सभी मन्त्र को यज्ञों का अंग माना

नित्यसंयोगाद्' इति।।७०।।

अर्थाभिधानसामर्थ्यरूपाल्लिङ्गाच्छ्रुत्यविनियुक्तेषु बर्हिर्देवसदनं दामीत्यादिमन्त्रेषु शेषभावो विनियोगः स्यात्। तच्च सामर्थ्यं मुख्ये, न जघन्ये। शब्दसामर्थ्यादुपस्थितो ह्यर्थो मुखमिवाव्यवहितो भवतीति मुख्य उच्यते। मुख्यार्थसम्बन्धादुपस्थितस्तु जघनमिव व्यवहितो भवतीति जघन्य उच्यते, तथा च जघन्येऽर्थे विनियोगं ब्रुवतापि तदुपस्थितये मुख्योपस्थितिर्वक्तव्या। तथाचोत्पत्तिसम्बन्धः स्वभावसम्बन्धोऽर्थाभिधानसम्बन्ध एव विनियोजकः स्यात्; तस्यार्थनियतत्वात्, तावतैव स्वाध्यायविधेश्चरितार्थत्वात्। मुख्यसम्बन्धस्तु न लिङ्गम्; अनेकेषां मुख्यसम्बन्धित्वेनार्थानियमाच्चरमत्वाच्चेति सूत्रार्थः। अत एव मुख्यसम्भवे लक्षणा नोपादेयेति

सत्यानन्दप्रबोधिका

जाता है। तस्मात् = मन्त्रों के यज्ञ का अंग होने के कारण उत्पत्तिसम्बन्धः= मुख्य अर्थ के साथ ही कर्म का स्वभाव सम्बन्ध= अनादिसम्बन्ध होगा। उस पर हेतु दे रहे हैं। अर्थेन नित्यसंयोगात् = मुख्य अर्थ के साथ ही शब्द का स्वाभाविक सम्बन्ध = अनादि सम्बन्ध रहता है}।।७०।।

अन्विताभिधानवादी सूत्र की व्याख्या करते हुये कह रहा है कि अनुष्ठेय कर्म के अर्थ को प्रकाशन करने की सामर्थ्य रूप लिङ्ग से (श्रुति से किसी भी अर्थ में नहीं) नियुक्त ऐसे जो ''बर्हि र्देवसदनं दामि'' इत्यादि मन्त्र हैं। {अर्थात् ''श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्।'' (जै०सू० ३—३—१४) इस नियम के अनुसार लिङ्ग प्रमाण की अपेक्षा श्रुति प्रमाण बलवान होने के कारण श्रुति प्रमाण से जिस मन्त्र का विनियोग होगा। उस मन्त्र का विनियोग लिङ्ग प्रमाण से नहीं होगा। ''बर्हिर्देवसदनं दामि'' इस मन्त्र का विनियोग श्रुति प्रमाण से नहीं किया गया है, किन्तु लिङ्ग प्रमाण से ही विनियोग किया गया है।} अतः ऐसे मन्त्रों में शेषत्व रूप से विनियोग होगा, और वह अर्थाभिधानरूप सामर्थ्य मुख्य में है, जघन्य में नहीं, क्योंकि शब्द सामर्थ्य से उपस्थित अर्थ मुख के जैसे अव्यवहित होता है। अतः वह मुख्य कहा जाता है। मुख्यार्थ के सम्बन्ध से उपस्थित हुआ अर्थ जघन (कटि प्रदेश का पृष्ठ भाग) के जैसे व्यवहित होता है। अतः जघन्य कहा जाता है। जघन्य अर्थ में विनियोग को कहने वाले से भी जघन्य की उपस्थिति के लिये प्रथमतः मुख्यार्थ की उपस्थिति वक्तव्य होती है। अतः उत्पत्ति सम्बन्ध = स्वभाव सम्बन्ध =अर्थाभिधान सम्बन्ध = मुख्यार्थाभिधान सामर्थ्य ही विनियोजक होगा, क्योंकि उक्त सामर्थ्य अर्थ के साथ नियत होती है। अर्थात् शब्द का मुख्यार्थ एक ही रहता है, वह बदलता नहीं है। अतः वह नियत है किन्तु गौणार्थ एक शब्द के अनेक होते हैं। वे बदलते रहते हैं। अतः गौणार्थ अनियत कहा जाता है। तावतैव = मुख्यार्थाभिधान सामर्थ्य अर्थ के साथ नियत है—ऐसा निश्चय हो जाने पर ''स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'' यह स्वाध्यायविधि भी चरितार्थ हो जाती है। अर्थात् स्वाध्यायविधि यह कहती है कि अर्थावबोध सहित वेदाध्ययन करना चाहिये। यह तब सम्भव होगा जब यह निश्चय हो जाय कि मुख्यार्थाभिधानसामर्थ्य अर्थ के साथ नियत है। तब अर्थावबोधपूर्वक वेदाध्ययन होगा। मुख्यार्थ के प्रकाशन की सामर्थ्य को ही लिङ्ग प्रमाण माना जाता है, मुख्यार्थ के सम्बन्ध को नहीं, क्योंकि मुख्यार्थ के सम्बन्धी (गौणार्थ) तो अनेक होते हैं और वे अर्थ के अव्यभिचारी नहीं होते और प्रथम उपस्थित नहीं होते अपितु मुख्यार्थ विषयक उपस्थिति के पश्चात् उपस्थित होते हैं। यही जैमिनि सूत्र का अर्थ है। अत एव = लिङ्गाधिकरण का विरोध होने से ही ''मुख्य का सम्भव होने पर लक्षणा उपादेय नहीं होती है।'' यह सर्व तन्त्र सिद्धान्त है। शक्ति पद निष्ठ वृत्ति है और लक्षणा पदार्थ वृत्ति है। वह लक्षणा अनेक प्रकार की होती है। उन प्रकारों का निरूपण विषयान्तर होने से यहां आवश्यक नहीं है। अतः लिङ्गाधिकरण विरोध परिहार के लिये यह मानना आवश्यक है कि

सर्वतन्त्रसिद्धान्तः। पदवृत्तिर्हि शक्तिः पदार्थवृत्तिश्च लक्षणा; सा च बहुप्रकारेत्यन्यत्। लाक्षणिकपदेन अन्वयप्रतियोग्युपस्थितौ कृतायां यदवशिष्टं शक्तं, तदेवान्वयानुभावकम्। अर्थवादपदानां सर्वेषां लाक्षणिकत्वेऽपि तदेकवाक्यतापन्नं विधिपदमेवानुभावकम्। 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इति न्यायात्। तथा च सत्यादिपादानां सर्वेषामपि लाक्षणिकत्वे कथमन्वयानुभवोपपतिः।।७१ ।।

इति चेत्, नैषदोषः। शक्यस्यैवान्वयानुभवाभ्युपगमात्, लक्षणा त्वेकदेशत्यागमात्राय नत्वशक्यार्थोपस्थितये गौर्नित्य इत्यादिवत्। अत एव वाचकानामेव स्वार्थे लक्षणेयमित्युक्तं प्राक्। ननु जहल्लक्षणाभ्युपगमे

सत्यानन्दप्रबोधिका

लाक्षणिक पदों के द्वारा अन्वय के प्रतियोगीभूत पदार्थों की उपस्थिति हो जाने के पश्चात् जो अवशिष्ट शक्त पद होते हैं, वे ही अन्वय विषयक अनुभव (वाक्यार्थ) के जनक होते हैं {कहने का भाव यह है कि ''गङ्गायां घोषः''। यहां पर लाक्षणिक पद = गङ्गा, यहां गङ्गा पद के वाच्यार्थ प्रवाह का घोष के साथ आधारआधेयभाव सम्बन्ध नहीं बन रहा है। उस सम्बन्ध के अन्वय की अनुपपत्ति के बल पर जिस प्रवाह संयुक्त तीर रूप अर्थ का सम्बन्ध घोष के साथ होना सम्भव है। उस तीर का बोधन गङ्गा प्रवाह रूप पदार्थ ने किया। ऐसे तीर का बोधन हो जाने के पश्चात् शेष जो घोष पद है। उसने शक्ति वृत्ति के बल पर अपने पदार्थ का उपस्थापन किया। वह घोष पद अन्वय = वाक्यार्थ का अनुभावक (अनुभव का जनक) है। अतः इस अन्विताभिधानवाद में लाक्षणिक पद वाक्यार्थ बोधक नहीं है}। यद्यपि अर्थवाद वाक्य घटक सभी पद लाक्षणिक होते हैं, उनमें कोई भी अनुभावक नहीं होता है तथापि अर्थवाद से एकतापन्न जो विधि वाक्य है। वही अन्वय का अनुभावक होता है। इसको स्पष्ट करते हुये पूर्वमीमांसा में कहा है — ''विधिना तु एकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः।'' (जै०सू० १—२—७) {विधि वाक्यों की स्तुति के कारण अर्थवाद वाक्य विधि वाक्य से एकतापन्न है। अतः स्तुति विधायक मात्र अर्थवाद वाक्य भी प्रामाणिक माने जाते हैं।} पूर्वोक्त प्रकार से जब शक्त पद ही अन्वय के अनुभावक हैं, तब सभी पदों के लाक्षणिक होने पर अन्वय के अनुभावक की उपपत्ति नहीं हो सकती है।। ७१ ।।

समाधान — उक्त प्रकार से यदि पूर्वपक्षी कहता है तो भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि सत्यादि पद शक्ति वृत्ति के द्वारा सत्यत्व विशिष्ट चैतन्य का बोध कराता है। उसी शक्तार्थ में विशेष्य के रूप से शुद्ध चैतन्य रूप अर्थ अन्तर्गत है। अतः वह शुद्ध चैतन्य भी शक्यार्थ है। वही शुद्ध चैतन्य रूप शक्यार्थ वाक्यार्थ का बोधक है। अतः शुद्धात्मानुभावकत्व ही सत्यादि पदों में है। अर्थात् लाक्षणिक पद अनुभावक नहीं होता है। यह नियम भागत्यागलक्षणा में नहीं माना जाता है। अपितु भागत्याग लक्षणा से भिन्न जो लक्षणायें हैं, उनमें यह नियम माना जाता है कि लाक्षणिक पद अनुभावक नहीं होते हैं। प्रकृत में यहां भागत्यागलक्षणा तो केवल विशेषण भाग के त्याग के लिये मानी जाती है, शक्यार्थ से बहिर्भूत किसी अर्थ के बोधान के लिये लक्षणा नहीं मानी जाती है। जैसे ''गौर्नित्यः'' इस वाक्य में गोत्वविशिष्ट गो रूप शक्यार्थ के एक देशभूत गो द्रव्य का परित्याग के लिए गो शब्द की गोत्व जाति में लक्षणा है न कि अशक्यार्थ की उपस्थिति के लिए। अतः गो द्रव्य का परित्याग लक्षणा के द्वारा हो जाने पर ''गोत्वं नित्यम्'' इस प्रकार के वाक्यार्थ में ''गौर्नित्यः'' यह वाक्य पर्यवसित हो जाता है। अत एव = उक्त प्रकार से शुद्धात्मानुभावकत्व सत्यादि पदों में होने से ही, वाचक सत्यादि पदों की स्वार्थ में लक्षणा होती है—यह पहले कहा गया है।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती सर्वत्र शुद्धात्मानुभव के लिए भागत्याग लक्षणा ही मानते हैं—ऐसा नहीं है, अपितु जहल्लक्षणा भी मानते हैं। अतः भागत्याग लक्षणा स्थल पर पूर्वोक्त प्रकार से

कथमन्वयानुभवः? शक्यैकदेशस्यापि तत्राभावात्। तथाचोक्तं संक्षेपशारीरके—

'साभासाज्ञानवाची यदि भवति पुनर्ब्रह्मस्तथाहम्।
शब्दोऽहङ्कारवाची भवति तु जहती लक्षणा तत्र पक्षे' (सं.शा.अ. १।१६९)

इति। चेन्न, अस्मिन्पक्षे अन्विताभिधानवादानभ्युपगमान्न दोषः। पक्षद्वयाश्रयणं तु जहदजहल्लक्षणापक्ष एव। तथा च दर्शितं तत्रैव—

'अभिहितघटना यदा तदानीं स्मृतिसमबुद्धियुगं पदे विधत्तः।
परदृशि पुनरन्विताभिधाने पदयुगलात् स्मृतियुग्ममेव पूर्वम्'। (सं.शा. १।३८४)

सत्यानन्दप्रबोधिका

शुद्धात्मानुभावकत्व सत्यादि पदों में होने पर भी जहल्लक्षणा स्थल पर लाक्षणिक पदों में अन्वयानुभावकत्व नहीं बन सकता है, क्योंकि जहल्लक्षणा स्थल पर शक्यार्थ का एक देश भी शेष नहीं वचता है। जहल्लक्षणा सिद्धान्ती ने कहाँ माना है? इस स्थल को स्पष्ट करने के लिए पूर्वपक्षी संक्षेपशारीरक (१—१६९) गत कथन का उल्लेख कर रहा है—

साभासाज्ञानवाची यदि भवति पुनर्ब्रह्मशब्दस्तथाहम्,
शब्दोऽहङ्कारवाची भवति तु जहती लक्षणा तत्र पक्षे।
नौरेषा रौति लोहं दहति विषधरो रज्जुरग्रे तवासा
वित्यत्रेवात्मवस्तुन्यपि भवतु जहल्लक्षणा को विरोधः।।

यदि ब्रह्म शब्द आभास के सहित अज्ञान (जिस अज्ञान में चित् का आभास पडा है—ऐसा चिदाभास युक्त अज्ञान) का वाची हो और अहम् शब्द अहङ्कार वाची हो तब इस पक्ष में जहल्लक्षणा होती है। जैसे यह नौका रोती है, लोह पिण्ड जलाता है, यह विषधर रज्जु तुम्हारे सामने है—इत्यादि स्थल पर जहल्लक्षणा होती है वैसे ही आत्मवस्तु के बोध के लिए ''अहं ब्रह्मास्मि'' इस वाक्य में भी जहल्लक्षणा मानने में कोई विरोध नहीं है।

समाधान — जिस संक्षेपशारीरक ग्रन्थ का आश्रय करके पूर्वपक्षी ने दोष का उद्भावन किया था। उसी ग्रन्थ का आश्रय कर के आचार्यप्रवर समाधान देते हुए कह रहे हैं कि उक्त प्रकार से जहल्लक्षणा मानने वाले पक्ष में अन्विताभिधानवाद नहीं माना जाता है। अतः कोई दोष नहीं होगा। अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद—इन दोनों मतों का आश्रय भागत्याग लक्षणा पक्ष में ही किया जाता है। इसको संक्षेपशारीरक (१—३८४) में भी स्पष्ट रूप से दिखाया गया है—

अभिहितघटना यदा तदानीं स्मृतिसमबुद्धियुगं पदे विधत्तः।
परदृशि पुनरन्विताभिधाने पदयुगलात् स्मृतियुग्ममेव पूर्वम्।।

{यदा = जब, अभिहितघटना = अभिहितान्वयवाद (मानते हैं) तदानीम् = तब, पदे = अहम् और ब्रह्म ये दोनों पद अथवा तत् और त्वम् ये दोनों पद, परदृशि = शुद्धात्मा में, पूर्वम् = शाब्दबोध से पूर्व, स्मृतिसमबुद्धियुग्म् = स्मृति के समान बुद्धि को उत्पन्न करते हैं। पुनरन्विताभिधाने= किन्तु अन्विताभिधानवाद में, पदयुगलात् = उक्त दोनों पदों से शुद्धात्मा विषयक शाब्द बोध से पूर्व स्मृतियाँ ही उत्पन्न होती है। अतः सत्यादि का वाक्यों में नाना पद ज्ञान जन्य ज्ञान का लाभ है।} सर्वथा सिद्धान्त के अनुकूल होने के कारण तत्त्वप्रदीपिकाकारादिकों ने अभिहितान्वयवाद को ही स्वीकार किया है। अतः कोई दोष नहीं है। तार्किक मत कथित अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद से भिन्न है—इसका प्रतिपादन वेदान्तकल्पलतिका में किया

इति। तत्त्वप्रदीपिकाकृदादयस्तु अभिहितान्वयपक्षमेवोररीचक्रुः, सर्वथापि सिद्धान्तानुकूलत्वादिति न किञ्चिदवद्यम्। तार्किकमतस्योभयपक्षबहिर्भावादिकं च वेदान्तकल्पलतायां व्युत्पादितमित्युपरम्यते।।७२।।

इत्यद्वैतसिद्धौ सत्याद्यवान्तरवाक्याखण्डार्थतोपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

गया है। अतः तार्किकादि के मत के विषय में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। अतः अब इस विषय में उपराम किया जाता है।।७२।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां सत्याद्यवान्तरवाक्याखण्डार्थतोपपत्तिः

३—तत्वमस्यादिवाक्यस्याखण्डार्थकत्वविचारः

एवं तत्त्वमस्यादिमहावाक्यपक्षकानुमानमपि निर्दोषम्। न च सोऽयं देवदत्त इत्ययं दृष्टान्तः साध्यविकलः; विशिष्टाभेदस्य बोधयितुमशक्यत्वात्। तथाहि—किमत्र तद्देशकालविशिष्ट एतद्देशकालवैशिष्ट्यं प्रतिपाद्यते, एतद्देशकालविशिष्टे वा तद्देशकालवैशिष्ट्यं, तद्विशेषणयोरैक्यं वा, तद्विशिष्टयोरैक्यं वा? नाद्यः, तद्देशकालवैशिष्ट्यस्याप्रत्यक्षत्वेनानुद्देश्यत्वात्, तत्कालादेरिदानीं सत्त्वापत्तेश्च। न द्वितीयः; एतत्कालादेरन्यदा

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्धान्त पक्ष का समर्थन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अखण्डार्थकत्व के साधक जिस प्रकार से ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तै०उ०२—१—१) इत्यादि वेदान्त के जो अवान्तर वाक्य है, तादृश अवान्तर वाक्य पक्षक अनुमान दोषों से रहित है ठीक उसी प्रकार से तत्त्वमस्यादि रूप जो महावाक्य है, तादृश महावाक्य पक्षक अनुमान भी निर्दोष है। अर्थात् तत्त्वमस्यादि महावाक्य अखण्डार्थ बोधक है— इस सिद्धान्त में कोई भी दोष नहीं है। तत्त्वमस्यादि महावाक्य पक्षक अनुमान तत्त्वमस्यादिवाक्यमखण्डार्थनिष्ठम्, आत्मस्वरूपमात्रनिष्ठं वा,अकार्यकारणद्रव्यमात्रनिष्ठत्वे सति समानाधिकरणत्वात्, तन्मात्रप्रश्नोत्तरत्वाद् वा, सोऽयमित्यादिवाक्यवत्— ऐसा तत्त्वमस्यादि महावाक्यपक्षक अनुमान भी दोषों से रहित ही है। इस अनुमान का समन्वय ''सत्याद्यवान्तरवाक्याखण्डार्थत्वेऽनुमानविचारः'' के खण्ड संख्या १ में किया जा चुका है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि अखण्डार्थ साधक उक्त अनुमान के दृष्टान्त (सोऽयं देवदत्तः) में साध्य —(अखण्डार्थनिष्ठत्व या स्वरूपमात्रनिष्ठत्व) नहीं है, क्योंकि ''सोऽयं देवदत्तः'' इस वाक्य के द्वारा अखण्ड देवदत्त का बोध नहीं होता है अपितु तत्ताविशिष्ट और इदन्ता विशिष्ट तथा अभेद रूप संसर्ग का बोध होता है। फलतः ''सोऽयं देवदत्तः'' इस वाक्य के द्वारा सखण्डार्थक बोध होने से दृष्टान्त में साध यविकलता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं हैं, क्योंकि विशिष्ट में अभेद का बोधन करना शक्य नहीं है। इसको स्पष्ट करने के लिए कह रहे हैं कि क्या — (१) ''सोऽयं देवदत्तः'' इस वाक्य के द्वारा तत् देशकाल विशिष्ट वस्तु रूप उद्देश्य में एतद् देशकाल का सम्बन्ध रूप विधेय का बोधन होता है? अर्थात् क्या व्यवहित देशकाल विशिष्ट में अव्यवहित देशकाल का वैशिष्ट्य प्रतिपादन किया जाता है? (२) अथवा एतद्देशकाल विशिष्ट वस्तु रूप उद्देश्य में तत् देशकाल का सम्बन्ध रूप विधेय का बोधन होता है? अर्थात् क्या अव्यवहित देशकाल विशिष्ट में व्यवहित देशकाल का वैशिष्ट्य प्रतिपादन किया जाता है? (३) अथवा तद्देशकाल और एतद् देशकाल में जो तत् और एतद् विशेषण भाग है। इन दोनों विशेषणों (तत् और एतद्) का ऐक्य प्रतिपादन किया जाता है? (४) अथवा तद्देशकाल विशिष्ट और एतद् देश काल विशिष्ट जो दो पदार्थ हैं, उन दोनों में अभेद का प्रतिपादन किया जाता है? प्रथम पक्ष का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि तद् देश और तत् काल तथा इन दोनों का वैशिष्ट्य (संसर्ग) इस समय (देवदत्त के प्रत्यक्षकाल) में प्रत्यक्ष नहीं है। अतः तद्देशकाल की विशिष्ट वस्तु को उद्देश्य नहीं बनाया जा सकता है। कहने का भाव यह है कि प्रत्यक्षतः जो देवदत्त ज्ञात है। उसको उद्देश्य कर के अज्ञात (तद्देशकाल) को ज्ञापन करने के लिए ''सोऽयं देवदत्तः'' यह वाक्य कहा जाता है। तद्देशकाल का विशिष्टत्व प्रत्यक्ष नहीं है। अतः तद्देशकाल विशिष्टत्व एतद् देशकाल वैशिष्ट्य के प्रति उद्देश्यतावच्छेदक नहीं बन सकता है। यदि तद् देशकाल विशिष्टत्व को उद्देश्यतावच्छेदक बनाया जाता है तब तद् देश (परोक्ष देश) और तत्काल (भूतकाल) को वर्तमान काल में सत्ता मानने की आपत्ति होगी,

सत्त्वापत्तेः; न तृतीयः बाधात्। अत एव न चतुर्थोऽपि; विशेषणस्य भिन्नत्वेन विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धात्मकस्य विशिष्टस्य भिन्नत्वात्; अतिरिक्तत्वेऽपि विशेषणभेदेन विशेष्यभेदेन च तद्भेदनियमात्। तथा चोभयविशेषणपरित्यागेन विशेष्यमात्रमभिन्नं बोध्यत इति सिद्धमखण्डार्थत्वम्।१ ।।

तदुक्तम्—'अविरुद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि विशिष्टयोर्द्वयोः। घटते न यदैकता तदा नतरां तद्विपरीतरूपयोः'।। (सं.शा. १।१६७) इति। यदा हि दण्डी कुण्डलीत्यादौ दण्डकुण्डलादेरेकदेशकालावस्थितत्वेनाविरोधेऽपि न

सत्यानन्दप्रबोधिका

क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदक विधेय कालीन होता है। उद्देश्यतावच्छेदक विधेय कालीन होने के कारण ही द्वितीय पक्ष का खण्डन हो जाता है, क्योंकि उद्देश्यतावच्छेदकी भूत एतद् देशकाल को विधेय भूत तद् देशकाल के पूर्व में मानने की आपत्ति होगी। अर्थात् जब एतद् देशकाल विशिष्ट में तद्देशकाल के वैशिष्ट्य का भान माना जायेगा तब तद्देशकाल वैशिष्ट्य से पूर्व में एतद् देशकाल का विशिष्टत्व मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर वर्तमान कालादि का अतीत काल में सत्त्व मानने की आपत्ति होगी और सुन्दर नगर का हरिद्वार अवच्छेदन सत्त्व मानना पड़ेगा। दोनों विशेषणों का ऐक्य प्रतिपादन किया जाता है— ऐसा तृतीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि सुन्दर नगर का हरिद्वार के साथ ऐक्य बाधित है और वर्तमान काल का अतीत काल के साथ ऐक्य बाधित है। अर्थात् दो विरुद्ध विशेषणों में एकता सम्भव ही नहीं हो सकती है। इसी प्रकार विरुद्ध विशेषणों से विशिष्ट दो पदार्थों में भी एकता सम्भव नहीं हो सकती है। अतः विशिष्टों का ऐक्य प्रतिपादन किया जाता है— ऐसा चतुर्थ पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि यह पक्ष भी बाधित है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि केचित् मत में विशेषण को विशिष्ट से अभिन्न माना जाता है, क्योंकि विशिष्ट पदार्थ विशेष्य, विशेषण और उनके सम्बन्ध का संकलित रूप ही होता है। अतः इस पक्ष में विशेषण के भिन्न—भिन्न होने पर विशेषण विशेष्य और इन दोनों का जो सम्बन्ध, एतत् त्रितयात्मक रूप है। विशिष्ट भी भिन्न—भिन्न ही होगा। केचित् मत में विशेषण को विशिष्ट से अभिन्न न मानकर भिन्न माना जाता है, क्योंकि विशेषण केवल एक पदार्थ रूप है और विशिष्ट त्रितयात्मक रूप होता है। अतः इस पक्ष में विशेषण के भिन्न होने पर उससे विशिष्ट पदार्थ का सहजतः भेद सिद्ध हो जायेगा। फलतः गत्यन्तर के अभाव से उभयविध विशेषणों (तद्देशकाल और एतद् देशकाल) का परित्याग कर के अभिन्न स्वरूप विशेष मात्र (देवदत्त मात्र) का बोधन ''सोऽयम्'' इस वाक्य के द्वारा होता है। अतः अखण्डार्थकत्व रूप साध्य की ''सोऽयम्'' इस प्रत्यभिज्ञात्मक दृष्टान्त वाक्य में सिद्धि हो जाती है।१ ।।

आचार्यप्रवर स्व कथन में पूर्वाचार्य श्रीसंक्षेपशारीरककार की सम्मति दिखलाते हुए कह रहे हैं कि इसी प्रकार से संक्षेपशारीरक में कहा गया है—

अविरुद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि विशिष्टयोर्द्वयोः।
घटते न यदैकता तदा नतरां तद्विपरीतरूपयोः।। (संक्षेप०१— १६७)

अन्वय— यदा अविरुद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि द्वयोः विशिष्टयोः एकता न घटते तदा नतराम् (एकता घटते)।

श्लोकार्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जब ''दण्डी कुण्डली देवदत्तः'' इस स्थल पर एक देश में एक काल में देवदत्त में रहने वाला दण्ड और कुण्डल रूप अविरोधी विशेषण वाले विशिष्ट ''दण्डवान् देवदत्तः'' और ''कुण्डलवान् देवदत्तः'' में भी अभेद नहीं हो सकता है क्योंकि अभेद मानने पर दण्ड और कुण्डल रूप विशेषणों में भी अभेद की आपत्ति होगी। तब परस्पर विरुद्ध विशेषण वाले अर्थात् एक देश और एक काल में न रहने वाले विशेषण युक्त ''सोऽयं देवदत्तः'' इस स्थल पर तत्ता और इदन्ता रूप

तद्विशिष्टयोरैक्यम्, विशेषणयोरप्यैक्यापत्तेः; तदा कैव कथा सोऽयमित्यत्र तत्तेदन्तयोरेककालानवस्थाननियमेन परस्परविरुद्धत्वात्तद्विशिष्टयोरैक्यस्य। लक्षणयैक्यबोधनं तूभयत्रापि समानम्। लाक्षणिकत्वेऽपि दण्डी कुण्डलीत्यादौ विशिष्टतात्पर्यान्नाखण्डार्थत्वव्यवहारः; सोऽयमित्यत्र तु 'अयं स न वा? अयं नैव स' इत्यादिसंशयविपर्यय—(विरोधि)ज्ञानविषयीभूताभेदमात्रस्य बुभुत्सितत्वेन तत्रैव तात्पर्यादखण्डार्थत्वम्; नह्यस्मिन् बुभुत्सिते अन्यत् प्रतिपादयितुमुचितमित्युक्तम्।।२।।

तत्तेदन्तोपस्थितिद्वारकाभेदबोधस्यैव भेदभ्रमविरोधितया नान्यतरपदवैयर्थ्यम्। प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षस्याप्य—भिज्ञाद्वयोपस्थितस्वरूपातिरिक्ताविषयत्वेऽपि उभयोपस्थितिद्वारकाभेदबोधनेन भ्रमनिवर्तकत्वम्, तत्समानार्थकं

सत्यानन्दप्रबोधिका

विशेषणों से विशिष्ट पदार्थ का अभेद सुतराम् सिद्ध नहीं हो सकता है। यदि लक्षणा के द्वारा दण्ड से उपहित का कुण्डल से उपहित के साथ अभेद तुम मानते हो तब हमारे मत में भी लक्षणा के द्वारा तत्ता से उपलक्षित का इदन्ता से उपलक्षित के साथ अभेद मानने में कोई भी आपत्ति नहीं है। उभयत्र लाक्षणिकत्व समान होने पर भी अर्थात् लक्षणा से अभेद बोधन उभयत्र समान होने पर भी ''दण्डी कुण्डली देवदत्तः'' इत्यादि स्थल पर अखण्डार्थकत्व का व्यवहार नहीं होता है, क्योंकि इस वाक्य का विशिष्टार्थ के बोधन में तात्पर्य माना जाता है और ''सोऽयं देवदत्तः''इत्यादि स्थल पर अखण्डार्थकत्व का व्यवहार होता है, क्योंकि इस स्थल पर ''वह यह है या नहीं?'' इत्याकारक रूप संशय ज्ञान तथा ''यह वह नहीं है,'' इत्याकारक रूप विपर्ययज्ञान के विषयीभूत तत्पदार्थ और इदम् पदार्थ का अभेद मात्र बुभुत्सित है। अतः प्रकृत प्रत्यभिज्ञा वाक्य का तात्पर्य अभेद में होने से अखण्डार्थकत्व मानना ही उचित है, क्योंकि अन्य वस्तु के बुभुत्सित होने पर अन्य प्रतिपादन करने के लिए उचित नहीं है— इसका निरूपण पहले किया जा चुका है।।२।।

तत्ता और इदन्ता की उपस्थिति रूप द्वार के माध्यम से जो अभेद बोध होता है। उस अभेद बोध में ही भेदभ्रम की विरोधिता होने से अन्यतर पद का वैयर्थ्य नहीं है। (कहने का भाव यह है कि ''अयं नैव सः (यह वह नहीं है।) ऐसा कहने पर यदि वक्ता कहता है कि ''वही है'' (अर्थात् यह शब्द का उच्चारण नहीं किया।) तब यद्यपि अभेद का बोधन हो जायेगा किन्तु उस अभेद बोधन से भेद भ्रम नहीं हटेगा किन्तु जब यह कहा जायेगा कि ''वही यह है'' तब पहले श्रोता को तत्ता विशिष्ट की स्मृति होगी और उससे तत्ता की उपस्थिति होगी। जिसको मूलकार ने अभेद बोधन में द्वार के रूप से कहा है। इसी प्रकार इदन्ता विशिष्ट का प्रत्यक्ष होगा और उससे इदन्ता की उपस्थिति होगी। यह भी अभेद बोधन में द्वार के रूप से होगी। इस प्रकार तत्ता इदन्ता की उपस्थिति के द्वारा अभेद का बोधन होगा। इस प्रकार के अभेद बोधन से ही भेद भ्रम हटेगा। इसलिए ''सः'' और ''अयम्'' यह दोनों ही पद सार्थक हैं। यद्यपि अभिज्ञा द्वय से उपस्थित जो स्वरूप (विषय) उस विषय से अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता है तथापि उभयोपस्थितिद्वारकाभेदबोधन में ही भेद भ्रम की निवर्तकता होती है। {कहने का भाव यह है कि श्रोता का भेद भ्रम था कि यह पूर्वदृष्ट देवदत्त नहीं है। इस भेद भ्रम को दूर करने के लिए वक्ता ने श्रोता के प्रति 'सोऽयं देवदत्तः' इस प्रकार से कहा। अब यदि वक्ता के कहने से श्रोता को शाब्द बोधात्मक प्रत्यभिज्ञा न होकर अपने आप ही प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष हुआ और श्रोता को जो भेद भ्रम था उसकी निवृत्ति भी इसी प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष के द्वारा हो गयी। यहाँ पर जो श्रोता को प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष हुआ उसके पहले उसी श्रोता को ही ''अयं देवदत्तः'' इस प्रकार प्रत्यक्षात्मक अभिज्ञा होती है और फिर उस अभिज्ञा के बल पर पूर्वदृष्ट देवदत्त की स्मृत्यात्मक अभिज्ञा होती है। इस प्रकार दो अभिज्ञा के बाद ही उसी श्रोता को प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष

च वाक्यमेतदिति न विशिष्टपरम्। यथा चाभिज्ञाद्वयात् प्रत्यभिज्ञाया विषयवैलक्षण्याभावेऽपि द्वारविशेषनिबन्धनज्ञानगतवैलक्षण्यादेव फलभेदः, तथा स्मृतिरूपायास्तदिदम्पदार्थोपस्थितेरनुभवरूपस्य वाक्यार्थबोधस्य। एवञ्च 'भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोरेकार्थबोधपरत्वं सामानाधिकरण्यम्'इति प्राचां वचोऽपि निष्प्रकारके सुतरामुपपद्यते।।३।।

ननु सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा तावन्नाखण्डार्थविषया; तत्र प्रत्यक्षे शब्दवृत्तेर्लक्षणाया अभावात्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

होता है। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि अभिज्ञा द्वय के द्वारा जिस देवदत्त का उपस्थापन हुआ, उसी देवदत्त का उपस्थापन प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। इस प्रकार से अभिज्ञा द्वय का जो विषय है उससे अतिरिक्त विषय प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष का नहीं है। इस पर प्रश्न होता है कि विषय एक होने पर भी प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष के द्वारा ही भेद भ्रम की निवृत्ति होती है, अभिज्ञा द्वय के द्वारा नहीं— ऐसा क्यों? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि उभय = तत् कालीन देवदत्त और एतत् कालीन देवदत्त— इन दोनों की उपस्थिति प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष (अभेद बोधन) के पूर्व में होने पर भी उक्त अभेद बोधन के द्वारा भेद भ्रम की निवृत्ति होगी न कि अभिज्ञा द्वय से, क्योंकि वहाँ उभय उपस्थिति द्वारा अभेद का बोधन ही नहीं हुआ। ''सोऽयं देवदत्तः'' इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष जो है। उसी के समानार्थक ''सोऽयं देवदत्तः'' यह वाक्य है। अतः इस वाक्य को विशिष्टार्थ परक नहीं माना जा सकता है। पूर्वोक्त प्रकार के अभिज्ञा द्वय (पूर्वदृष्ट देवदत्त की स्मृत्यात्मक अभिज्ञा और वर्तमान देवदत्त की प्रत्यक्षात्मक अभिज्ञा) से प्रत्यभिज्ञा प्रंत्यक्ष (सोऽयं देवदत्तः इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा) के विषय में वैलक्षण्य के न होने पर भी द्वार विशेषाधीन ज्ञानगत जो वैलक्षण्य है (अर्थात् अभिज्ञा द्वय में द्वारकत्व नहीं है और प्रत्यभिज्ञा में अभिज्ञा द्वय के द्वारा जो उभय की उपस्थिति है वह द्वार है अभेद बोधन में।) इसलिए प्रत्यभिज्ञा के द्वारा भेद भ्रम की निवृत्ति होती है, और अभिज्ञा के द्वारा भेद भ्रम की निवृत्ति नहीं होती है— ऐसा फल में भेद माना जाता है। इसी प्रकार अनुभव रूप वाक्यार्थ बोध से पहले तत्पदार्थ और इदम्पदार्थ की उपस्थिति स्मृति रूप है और उससे जन्य जो वाक्यार्थ—बोध, इन दोनों में जो फल भेद = स्मृति द्वय के द्वारा भेद भ्रम की निवृत्ति नहीं होती है और वाक्यार्थ अनुभव के द्वारा भेद भ्रम की निवृत्ति होती है यह फल भेद ऊपर बतलाए गये द्वार विशेषाधीन ज्ञान गत वैलक्षण्य मात्र से ही होता है। ऐसा होने से प्राचीन आचार्यों द्वारा कथित भिन्न प्रवृत्ति निमित्तक दो पक्षों का एकार्थबोधकत्व रूप सामानाधिकरण्य भी निष्प्रकारक ज्ञान में सुतराम् उपपन्न हो जाता है। अर्थात् तत् और त्वम् इन दोनों पदों में सामानाधिकरण्य है— ऐसा प्राचीन आचार्यों का कथन भी समुचित है, क्योंकि तत् पद का प्रवृत्ति निमित्त सर्वज्ञत्व और त्वम् पद का प्रवृत्ति निमित्त अल्पज्ञत्व ये दोनों भिन्न—भिन्न है फिर भी दोनों मिलकर अखण्डार्थ रूप एक ही अर्थ का बोधन करते हैं और वह अखण्डार्थ निष्प्रकारक है।।३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रत्यभिज्ञा दो प्रकार से होती है एक प्रत्यक्ष से दूसरी शब्द से, दोनो ही प्रकार की प्रत्यभिज्ञा अखण्डार्थ विषयक नहीं हो सकती है। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''सोऽयं देवदत्तः'' इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष (दूसरे को ''सोऽयं देवदत्तः'' ऐसा उपदेश अर्थात् प्रत्यभिज्ञाभिलाप करने से पूर्व स्वयं को होने वाला प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष) अखण्डार्थ विषयक नहीं हो सकता है, क्योंकि उस प्रत्यभिज्ञा रूप प्रत्यक्ष में शब्द की लक्षणा वृत्ति नहीं होती है। अर्थात् अखण्डार्थ का बोधन लक्षणा से होता है, वह लक्षणा शब्द में रहती है शब्देतर प्रत्यक्षादि में नहीं रहती है। अतः प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष को लक्षणा के द्वारा अखण्डार्थ विषयक सिद्ध नहीं किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि

तत्तेदन्तोल्लेखित्वेन तत्र निष्प्रकारकत्वस्यानुभवपरास्तत्वात्, तदनुल्लेखे त्वभिज्ञातो विषयवैलक्षण्यानुपपत्तेः तथा च शाब्दप्रत्यभिज्ञाऽपि तथा, स्वप्रत्यभिज्ञावगतस्य परं प्रति बोधनादिति चेन्न, वृत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रत्यक्षस्य विशिष्टाभेदविषयत्वे बाधस्य प्रतिबन्धकतया स्वरूपाभेदमात्रविषयत्वात्। अभेदश्च न प्रकारः, स्वरूपतया प्राधान्यात्। तत्तेदन्तयोरपि न प्रकारता, भासमानाभेदरूपवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वाभावात्। अत एव न तस्यास्तत्तेदन्तोल्लेखिता, तदभिलापे तु निरन्तरोत्पन्नाभिज्ञाद्वयादेव तथोल्लेखव्यवहारात् तत्र च लक्षणा

सत्यानन्दप्रबोधिका

''सोऽयं देवदत्तः'' इस वाक्य से जन्य बोध में तत्ता और इदन्ता और अभेद रूप प्रकार के उल्लेख का अनुभव होने से ''सोऽयं देवदत्तः'' इस ज्ञान को निष्प्रकारक न मानकर सप्रकारक ही मानना उचित होगा। यदि सिद्धान्ती अखण्डार्थ उपपत्ति के लिए कहते हैं कि उस प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष में तत्ता और इदन्ता का उल्लेख नहीं होता है, केवल देवदत्त का ही उल्लेख होता है तब पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त प्रकार से सिद्धान्ती के कहने पर भी अखण्डार्थ की उपपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि ''अयं देवदत्तः'' ऐसा अभिज्ञा रूप ज्ञान जो प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष से पहले हुआ था, उसका विषय देवदत्त और सिद्धान्ती के कथनानुसार प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष का विषय देवदत्त होने से विषय में भेद ही नहीं होगा। अतः प्रत्यभिज्ञा में अभिज्ञा से विषय वैलक्षण्य की उपपत्ति के लिए प्रत्यभिज्ञा में तत्तेदन्ता रूप प्रकार का उल्लेख मानना ही पड़ेगा, ऐसा होने पर सप्रकारकत्व की सिद्धि होगी। दूसरी बात यह है कि तत्तेदन्ता का उल्लेख न मानने पर जैसे अभिज्ञा को अखण्डार्थविषयक नहीं माना जाता है वैसे ही प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष को भी अखण्डार्थ विषयक नहीं माना जा सकता हैं। फलतः वक्ता का अपना प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष ज्ञान तत्ता और इदन्ता का ग्राहक होने के कारण जब निष्प्रकारक नहीं है तब उसी वक्ता के शब्द के द्वारा उत्पादित शाब्द प्रत्यभिज्ञा में तत्तेदन्ता रूप प्रकार का उल्लेख होने से निष्प्रकारकत्व की सिद्धि नहीं होगी क्योंकि वक्ता अपने को होने वाले प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष के अवगत विषय का ही शब्द के द्वारा दूसरे को अवगत कराता है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षात्मक प्रत्यभिज्ञा को शब्दवृत्ति लक्षणा की अपेक्षा न होने पर भी प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष से अखण्डार्थ का ही बोध होगा, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष का विषय यदि तत्ता विशिष्ट और इदन्ता विशिष्ट का अभेद मानेंगे तब स्पष्ट बाध होगा, क्योंकि जब विशेषण = तत्ता और इदन्ता में अभेद नहीं हो सकता है तब तत्ता और इदन्ता से विशिष्ट में भी अभेद नहीं हो सकता है। अतः प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष का विषय उक्त विशिष्टाभेद मानने में बाध ही प्रतिबन्धक हो जायेगा। इसलिए प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष का विषय स्वरूप अभेद मानना पड़ेगा और वह अखण्डार्थ होगा। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि अभेद को ही प्रकार माना जाय, तब उत्तर दे रहे है कि अभेद प्रकार नहीं हो सकता है, क्योंकि उक्त ज्ञान के विषयीभूत देवदत्त के स्वरूप का अभेद विशेषण नहीं हो सकता है, क्योंकि देवदत्त अपने स्वरूप से अभिन्न होने के कारण वह अभेद विशेषण न रहकर विशेष्य रूप देवदत्त होकर प्रधान रूप से ही उपस्थित होता है। इसी प्रकार उक्त ज्ञान में तत्ता और इदन्ता भी प्रकार नहीं हो सकते हैं, क्योंकि प्रकार का लक्षण है— भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वम्। अर्थात् जिसका वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) ज्ञान में भासता है, उसी को प्रकार कहते हैं। प्रकृत में तत्ता इदन्ता का अभेद रूप वैशिष्ट्य विशेष्य (देवदत्त) में नहीं भासता है, क्योंकि किसी को भी देवदत्त तत्ता और इदन्ता से अभिन्न है ऐसा ज्ञान नहीं होता है। अतः उक्त प्रतियोगित्व तत्ता इदन्ता में नहीं गया। अतः तत्ता इदन्ता में प्रकारता नहीं होने से प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष में तत्ता इदन्ता का प्रकार के रूप से उल्लेख नहीं होता है, किन्तु ''सोऽयं देवदत्तः'' इत्यादि शब्दात्मक प्रत्यभिज्ञा के प्रयोग स्थल पर निरन्तर

लब्धपदैव। सर्वत्र निर्विकल्पकाभिलाप इयं गतिः।।४।।

न चाभिज्ञाया अविशेषः, सप्रकारकत्वनिष्प्रकारकत्वाभ्यामेव विशेषात्। फलवैलक्षण्यन्तूक्तमेव। अत एव तत्तोपलक्षितप्रतियोगिकभेदरहित इदन्तोपलक्षितदेवदत्तस्वरूपे तात्पर्याद् यथा ज्ञानमुपदेशोऽप्युपपद्यते। भेदविरहश्च न कश्चिद्धर्मः किन्तु स्वरूपमेव। तदेव चैक्यमित्युच्यते। न चायमस्ति नियमः स्वेन यथावगतं परं प्रति तथैव वाच्यमिति; समूहज्ञानेनापि श्रोतृबुभुत्सितैकदेशोपदेशदर्शनात्, ज्ञानमात्रसाध्यत्वात् बुभुत्सानुसारित्वाच्चोपदेशस्य। एवञ्च विशिष्टविषयादपि ज्ञानादखण्डोपदेशोपपत्तिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

उत्पन्न अभिज्ञा द्वय (तत्ता विषयक स्मृति और इदन्ता विषयक प्रत्यक्ष) से ही उक्त वाक्य में भी तत्ता इदन्ता बोधक पदों का प्रयोग होता है। ऐसे शब्दात्मक प्रत्यभिज्ञा स्थल पर लक्षणा प्रत्यक्ष वृत्ति न होने पर भी शाब्दवृत्ति होने के कारण तत्तेदन्ता से उपलक्षित व्यक्ति मात्र में लक्षणा हो ही सकती है। फलतः ''य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मि'' ''(बृ०उ. १–४–१०) ''आत्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि'' (बृ०उ० १–४–९) ''आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति'' (बृ०उ०४–४–१२) इत्यादि वेद में और ''सोऽयम्'' इत्यादि लोक में सर्वत्र निर्विकल्पाभिलाप में यह गति है। अर्थात् लक्षणा के द्वारा शुद्ध व्यक्ति मात्र का बोधन होता है।।४।।

पूर्वपक्षी ने खण्ड संख्या ४ में कहा था– तदनुल्लेखे त्वभिज्ञातो विषयवैलक्षण्यानुपपत्तेः। इसका निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सिद्धान्त मतानुसार मानने पर अभिज्ञा और प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष में अविशेषता (समानरूपता) आ जायेगी– ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि विषयवैलक्षण्य न होने पर भी अभिज्ञा में सप्रकारकत्व है और प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष में निष्प्रकारकत्व है। अतः सप्रकारकत्व निष्प्रकारकत्व प्रयुक्त विशेषता दोनों में बनी रहेगी। दोनों के फलों में वैलक्षण्य खण्ड संख्या ३ में ''द्वारविशेषनिबन्धनज्ञानगतवैलक्षण्यादेव फलभेदः'' से दोनों के फलों में वैलक्षण्य (भेद भ्रमनिवर्तकत्वानिवर्तकत्व) कहा जा चुका है। अतः एव = प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष के निष्प्रकारक होने से ही, शब्दात्मक प्रत्यभिज्ञा में भी इदन्तोपलक्षित देवदत्त स्वरूप में तत्तोपलक्षित प्रतियोगिक भेद का विरह होने से देवदत्त के स्वरूप मात्र का शाब्द– बोधात्मक ज्ञान निष्प्रकारक ही होता है। ऐसा होने पर वक्ता को जैसी प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष हुआ वैसा ही अभिलाप वक्ता के द्वारा शब्दात्मक प्रत्यभिज्ञा का हुआ। अतः ज्ञानानुरूप शब्द प्रयोग भी उत्पन्न हो जाता है। अभाव के अधिकरण स्वरूप होने के कारण देवदत्त में तत्तोपलक्षितप्रतियोगिक भेद का विरह कोई धर्म नहीं माना जाता है अपितु देवदत्त का स्वरूप ही माना जाता है। उसे ही ऐक्य शब्द से भी कहा जाता है। पूर्वपक्षी ने खण्ड संख्या ४ में कहा था–स्वप्रत्यभिज्ञावगतस्य परं प्रति बोधनात्। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ऐसा नियम नहीं माना जा सकता है कि वक्ता को जो पदार्थ जिस रीति से अवगत हुआ हो वह पदार्थ अन्य के प्रति भी उसी रीति से कहा जाय, क्योंकि वक्ता को जहाँ समूहालम्बन के रूप से ज्ञान हुआ किन्तु श्रोता की जिज्ञासा के अनुरूप एक व्यक्ति मात्र का उपदेश देखा जाता है जैसे दश व्यक्ति जा रहे हैं और प्रश्नकर्ता एक व्यक्ति के विषय में पूछता है। ऐसे स्थल पर वक्ता को यद्यपि दश व्यक्तियों का ज्ञान है किन्तु उत्तर एक व्यक्ति के विषय में ही देता है। उपदेश हमेशा ज्ञान से साध्य और प्रश्नकर्ता की जिज्ञासा के अनुसार ही होता है। फलतः जिस वक्ता को विशिष्ट विषयक ज्ञान है और प्रश्न कर्ता को अखण्ड व्यक्ति मात्र की जिज्ञासा है। ऐसे स्थल पर विशिष्ट विषयक ज्ञान वाले वक्ता के द्वारा अखण्ड वस्तु का उपदेश सम्भव है। विशेषण और उपलक्षणादि का विवेक ''असतः साधकत्वाभावे बाधकविचारः'' के खण्ड संख्या १५ में स्पष्ट किया जा चुका है। अतः यहाँ पर उसका विस्तार नहीं किया

विशेषणोपलक्षणादिविवेकश्चान्यत्र स्पष्ट इति नेह प्रतन्यते। तथा च न दृष्टान्तः साध्यविकलः। एवं तत्त्वमस्यादिमहावाक्येऽपि बोद्धव्यम्।।५।।

ननु चिन्मात्रस्य चिन्मात्रेण सहाभेदबोधने इष्टापत्तिः; अप्रसक्तनिषेधश्च अभेदश्चेत् स्वरूपमेव तस्य स्वप्रकाशतया नित्यसिद्धत्वेनोपदेशवैयर्थ्यम्, तदस्फुरणे च तद्बुभुत्साद्यनुपपत्तिः, तत्त्वम्पदार्थशोध–केनावान्तरवाक्येनैवोपपत्त्या महावाक्यवैफल्यञ्च; एकपदेनैवोपपत्तेः पदान्तरवैयर्थ्यञ्च, भ्रमकालज्ञाताधि–काप्रतिपत्तेर्महावाक्यात् भेदभ्रमनिवृत्तिश्च न स्यादिति चेन्न चैतन्यस्य नित्यसिद्धत्वेऽपि सार्वज्ञ्याद्युपलक्षितस्वरूपज्ञानस्याज्ञानादिनिवर्तकस्य साध्यत्वात्। न चैवं सप्रकारता, तत्तादिवत्

सत्यानन्दप्रबोधिका

जा रहा है। अतःपूर्वपक्षी के द्वारा कथित दृष्टान्त में साध्य की विकलता नहीं है। दृष्टान्त के जैसे ही ''तत्त्वमसि'' इत्यादि महावाक्यरूप पक्ष में साध्य का समन्वय समझना चाहिए। ऐसा हो जाने से उक्त अखण्डार्थ साधक अनुमान निर्दोष सिद्ध हो गया।।५।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ''तत्त्वमसि'' इत्यादि वाक्यों के द्वारा क्या सर्वज्ञत्व उपलक्षित चिन्मात्र का अल्पज्ञत्व उपलक्षित चिन्मात्र से अभेद सिद्ध कर रहे हैं? अथवा भेद निषेध? प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि चिन्मात्र का चिन्मात्र के साथ अभेद बोधन में इष्टापत्ति है। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि अप्रशक्त प्रतिषेध की आपत्ति होगी, क्योंकि चिन्मात्र का चिन्मात्र से भेद मानते ही नहीं हैं। अतः जब भेद ही प्रसक्त नहीं है तब उसके निषेध करने की आवश्यकता ही नहीं है। अभेद यदि चैतन्य का स्वरूप ही है तब तो अभेद रूप चैतन्यस्वरूप स्वप्रकाश होने से नित्य सिद्ध है। नित्यसिद्ध होने से महावाक्य के उपदेश द्वारा उसका बोधन कराना व्यर्थ है। महावाक्य के द्वारा अभेद का बोधन न होने पर महावाक्य से अभेद विषयिणी बुभुत्सा अभेद विषयक संशयादि की निवृत्ति नहीं हो पायेगी। अभेद को चैतन्य रूप मानने पर अभेद रूप चैतन्य मात्र का बोध महावाक्यों के विना ही तत् पद का शोधक ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तै० उ० २–१–१) इत्यादि अवान्तर वाक्यों से और त्वम् पद का शोधक ''योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः'' (बृ०उ० ४–३–७) इत्यादि अवान्तर वाक्यों से हो जाने से महावाक्यों के व्यर्थता की आपत्ति होगी। महावाक्यों के एक पद से ही अभेद रूप चैतन्य स्वरूप की उपपत्ति हो जाने से महावाक्यों के पदान्तरों का वैयर्थ्य भी प्रसक्त होगा। अभेद रूप चैतन्य मात्र तो भ्रमकाल में ही अधिष्ठान रूप से स्फुरित होता है। महावाक्यों के उपदेश से भी यदि अभेद रूप चैतन्य मात्र का ही स्फुरण होता है। अर्थात् भ्रमकाल में ज्ञात पदार्थ से अधिक की महावाक्य से प्रतिपत्ति नहीं होती है, ऐसा मानने पर महावाक्य से भेद भ्रम की निवृत्ति ही नहीं होगी।

समाधान– पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि अधिष्ठान रूप से चैतन्य सामान्य का ज्ञान पहले से होने पर भी सर्वज्ञत्वोपहित शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान और अल्पज्ञत्वोपहित शुद्ध आत्मा का ज्ञान पहले से नहीं रहता है अपितु उसका अज्ञान रहता है। उसी अज्ञान की निवृत्ति महावाक्यों के द्वारा बोधित सर्वज्ञत्वादि उपहित चैतन्य स्वरूप के ज्ञान से होती है। ''असतः साधकत्वाभावे बाधकविचारः'' के खण्ड संख्या १५ में स्पष्ट किया जा चुका है कि विशेषण से विशिष्ट स्थल पर और उपलक्षण से उपलक्षित स्थल पर सप्रकारक बोध होने पर भी उपाधि से उपहित स्थल पर सप्रकारक बोध नहीं होता है, क्योंकि उपाधि कार्यानन्वयी होने से बोध में प्रकार विधया भासती नहीं हैं। मूल में उपलक्षित का अर्थ उपहित है। अथवा जैसे उपाधि कार्यानन्वयी होती है। वैसे ही उपलक्षण भी कार्यानन्वयी होता है– ऐसा पक्ष मानने पर मूलस्थ

सार्वज्ञ्यादीनामन्वयबोधाप्रकारत्वात्, उपायान्तरेणैतादृशज्ञानासम्भवाच्च नोपदेशवैयर्थ्यादयो दोषाः। भ्रमप्रतीतभेदाश्रयतावच्छेदकप्रतियोगितावच्छेदकद्वयोपलक्षितस्वरूपमात्रज्ञानस्य भेदभ्रमनिवर्तकत्वेन विषयावैलक्षण्येऽपि फलवैलक्षण्यात्, शङ्खश्वैत्यविषयत्वे तुल्येऽपि तदनुमाननिवर्त्यपीतभ्रमस्य तत्प्रत्यक्षनिवर्त्यत्वदर्शनात्।।६।।

अत एवोक्तं विवरणे 'अभिज्ञातः प्रत्यभिज्ञायास्तावन्न प्रमेयतो विशेषः; अभिज्ञया ज्ञातस्यैव देवदत्तैक्यस्य प्रत्यभिज्ञयापि ग्रहणात्। न हि देवदत्तस्य स्वेनैक्यमभिज्ञायां न भाति। न च तस्यैक्यान्तरमस्ति यदनभिज्ञातं प्रत्यभिज्ञायते। ननु एकस्य कालद्वयसम्बन्धः प्रत्यभिज्ञागोचर इति चेन्न; ऐक्ये कालद्वयसम्बन्धस्याभिज्ञाद्वयादेव

सत्यानन्दप्रबोधिका

उपलक्षित शब्द का अर्थ उपलक्षित ही होता है, क्योंकि जब काक आकाश में उड़ रहा है तब उसके नीचे के गृह का बोध होता है किसी उत्तृणत्वादि का बोध नहीं होता है तब काकोपलक्षित गृह से केवल गृह का ही बोध होता है। अतः चैतन्य स्वरूप ज्ञान में तत्तादि के समान सर्वज्ञत्वादि प्रकार विधया प्रतीत नहीं होते है। अतः सप्रकारता की आपत्ति नहीं होगी। महावाक्य से भिन्न अवान्तर वाक्यादि के द्वारा अज्ञानादि निवर्तक ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि तत् और त्वम् बोधक दोनों अवान्तर वाक्यों से पृथक्–पृथक् शोधित चैतन्य का बोध हो सकता है किन्तु दोनों चैतन्य अभिन्न है। ऐसा जो अज्ञानादि का निवर्तक बोध होता है– वह अवान्तर वाक्यों से नही हो सकता है। अतः महावाक्योपदेश में वैयर्थ्यादि रूप दोष की आपत्ति भी नहीं होगी। जहाँ भेद होता है वहाँ उस भेद के अनुयोगी (आश्रय) और प्रतियोगी होते है। प्रकृत में भ्रम काल दशा में सर्वज्ञत्वविशिष्ट ब्रह्म में अल्पज्ञत्वविशिष्ट जीव का भेद रहता है। उस भेद का अनुयोगितावच्छेदक सर्वज्ञत्व और प्रतियोगितावच्छेदक अल्पज्ञत्व है। सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व रूप अवच्छेदक धर्मों से उपलक्षित स्वरूप मात्र का ज्ञान भेद भ्रम का निवर्तक होता है। अतः तत्त्वम् पदार्थ शोधक अवान्तर वाक्य जन्य ज्ञान से महावाक्य जन्य ज्ञान में विषय वैलक्षण्य न होने पर भी फल में वैलक्षण्य होता है। जैसे देवदत्त पीलिया रोग से ग्रस्त है और उसे शङ्ख पीला दिखायी पड़ रहा है। किन्तु वह अनुमान कर रहा है कि–पूरोवर्तिशङ्खः श्वेतः, शङ्खत्वात्, पूर्वदृष्टशङ्खवत्। परन्तु इस अनुमान से शङ्खगत पीतत्व का भ्रम निवृत्त नहीं होता है। अपितु जब ''श्वेतः शङ्खः'' इस प्रकार का प्रत्यक्ष होता है तभी शङ्खगत पीतत्व भ्रम की निवृत्ति होती है क्योंकि प्रत्यक्ष भ्रम की निवृत्ति परोक्ष ज्ञान से न होकर अपरोक्ष ज्ञान से ही होती है। यहाँ पर प्रत्यक्ष और अनुमिति के विषयों में वैलक्षण्य न होने पर भी फल में वैलक्षण्य देखा जा रहा है, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान से ही शङ्खगत पीतत्व भ्रम निवृत्त हो रहा है।।६।।

ऐसा होने के कारण ही श्रीविवरणकार ने विवरण में कहा है अभिज्ञा से प्रत्यभिज्ञा की विषयतः भिन्नता नहीं होती है, क्योंकि ''अयं देवदत्तः'' इस अभिज्ञा से ज्ञात जो देवदत्त का अपने से एक्य (अभेद) का ही प्रत्यभिज्ञा से प्रकाश होता है। देवदत्त का अपने साथ जो अभेद है, वह अभेद अभिज्ञा में नहीं भासित होता है– ऐसी बात नहीं है और अभिज्ञा के द्वारा बोधित अभेद (ऐक्य) से भिन्न दूसरा कोई ऐक्य नहीं है जो कि अभिज्ञा के द्वारा अज्ञात होकर प्रत्यभिज्ञा के द्वारा बोधित होता है। अर्थात् अभिज्ञा और प्रत्यभिज्ञा दोनों के द्वारा एक ही ऐक्य का बोधन होता है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि एक पदार्थ का कालद्वय के साथ जो सम्बन्ध है वह प्रत्यभिज्ञा का विषय बनता है जबकि अभिज्ञा में ऐसा नहीं है। अर्थात् प्रत्यभिज्ञा से पहले अभिज्ञा दो होती है। प्रथम अभिज्ञा = ''अयं देवदत्तः''। इस अभिज्ञा के द्वारा देवदत्त का वर्तमान काल के साथ सम्बन्ध बोधित होता है और

सिद्धेः। तस्मात् कालद्वयसम्बन्धिपदार्थैक्यविषयत्वे द्वयोरप्यविशिष्टे प्रत्यभिज्ञाया एव कालद्वयपरामर्शित्वेन पदार्थभेदभ्रमनिवर्तकत्वम्, नाभिज्ञायाः। एवं तत्त्वमसीति वाक्यस्य सत्यादिवाक्यात्तत्पदाच्च प्रमेयावैलक्षण्येऽपि धर्मद्वयपरामर्शित्वेन भेदभ्रमनिवर्तकत्वात् प्रामाण्यम्। उक्तञ्च कात्यायनेन 'सिद्धन्तु निवर्तकत्वात्' इति।।७।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

दूसरी अभिज्ञा = ''सः देवदत्तः''। इस अभिज्ञा के द्वारा देवदत्त का पूर्वकाल के साथ सम्बन्ध बोधित होता है। इस प्रकार से अभिज्ञा के द्वारा देवदत्त का एक—एक काल के साथ सम्बन्ध बोधित होता है, जबकि प्रत्यभिज्ञा के द्वारा देवदत्त का दोनों कालों के साथ सम्बन्ध का बोधन होता है। अतः अभिज्ञा से प्रत्यभिज्ञा के विषय में वैलक्षण्य है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ऐक्य में कालद्वय का सम्बन्ध अभिज्ञा द्वय से ही सिद्ध होता है अर्थात् दोनों कालों से सम्बन्धित देवदत्त एक ही है— इस प्रकार देवदत्त ऐक्य में काल द्वय का जो सम्बन्ध उसका बोधन दोनों अभिज्ञा (तत्पद जन्य अभिज्ञा और इदं पद जन्य अभिज्ञा) अलग—अलग यद्यपि नहीं कर सकता किन्तु दोनों अभिज्ञा रूप समुदाय के द्वारा काल द्वय का ऐक्य के साथ सम्बन्ध का बोधन हो जायेगा। फलतः काल द्वय सम्बन्धी जो देवदत्तादि गत ऐक्य रूप विषयत्व अभिज्ञा द्वय और प्रत्यभिज्ञा दोनों में ही समान रूप से होने पर भी प्रत्यभिज्ञा को ही काल द्वय परामर्शित्व होने से अर्थात् अभिज्ञा दो होते हैं और उनमें से एक—एक के द्वारा एक—एक काल का ही परामर्श होता है जबकि एक ही प्रत्यभिज्ञा के द्वारा दोनों कालों का (एतत् काल और तत् काल का) परामर्श होता है। इसलिए प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ही पदार्थनिष्ठ भेद भ्रम की निवृत्ति होती है, अभिज्ञा के द्वारा नहीं। इसी प्रकार से ''तत्त्वमसि'' इस वाक्य को ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इस वाक्य से और स्वघटक तत् पद से प्रमेय का वैलक्षण्य न होने पर भी धर्मद्वय परामर्शित्वेन भेद भ्रमनिर्वतकत्व होने से प्रामाण्य है। अर्थात् सत्यादिवाक्य और सत्यादि पदों का विषय (प्रमेय) भी शोधित चैतन्य मात्र है जो कि तत्त्वमसि वाक्य का भी विषय है। अतः दोनों के प्रमेयों में भेद नहीं है, तथापि धर्म द्वय सर्वज्ञत्व अल्पज्ञत्व इनसे उपलक्षित स्वरूपमात्र का बोधक होने के कारण तत्त्वमसि वाक्य भेद भ्रम का निवर्तक है जबकि सत्यादि वाक्य और सत्यादि पदों के द्वारा चैतन्य मात्र का बोधन होने पर भी वह भेद भ्रम का निवर्तक नहीं होता है। अतः तत्त्वमसि वाक्य में प्रामाण्य है, क्योंकि भेद भ्रम के निवर्तक ज्ञान में प्रामाण्य माना जाता है। जैसा कि महर्षि कात्यायन ने—वृद्धिरादैच् (अ.सू. १—१—१) के वार्तिक में कहा है— सिद्धन्तु = व्याकरण का प्रामाण्य सिद्ध है, क्यों? निवर्तकत्वात् = भ्रम निवर्तक होने से। अर्थात् शङ्का की गयी कि ''रामः'' इत्यादि शब्द पहले से ही सिद्ध है। व्याकरण शास्त्र उसी को सिद्ध करता है। अतः व्याकरण शास्त्र में ज्ञात ज्ञापकत्वेन अप्रामाण्य की शङ्का होती है। इसका समाधान दिया गया कि भ्रम का निवर्तक होने के कारण व्याकरण शास्त्र में प्रामाण्य माना जाता है। अर्थात् मृजादि धातुओं से मृजन्ति इत्यादि रूपों का साधुत्व ज्ञान हो जाने पर भी ''मार्ष्टि'' इत्यादि रूपों में यह भ्रम हो जाता है। कि यह मृजि धातु का साधु रूप नहीं है, उस भ्रम की निवृत्ति के लिए ''मृजेर्वृद्धिः'' (अ.सू. ७—२—११४) और ''व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः'' (अ.सू. ८—२—२६) इत्यादि सूत्रों की सहायता से मार्ष्टि रूप का साधुत्वत्व किया जाता है। इस प्रकार असाधुत्वभ्रमनिवृत्यर्थ व्याकरण का प्रामाण्य सिद्ध होता है। ठीक इसी प्रकार ''तत्त्वमसि'' इत्यादि शास्त्र में ज्ञात ज्ञापकत्व होने पर भी भ्रम विशेष निवृत्ति रूप प्रयोजन का सत्त्व होने से तत्त्वमस्यादि का प्रमाण्य सिद्ध हो जाता है। यह सिद्धान्ती का भाव है।।७।।

स्यादेतत्—अभिज्ञया वस्तुत एकस्मिन् कालद्वयसम्बन्धस्य देवदत्ताभेदस्य च ग्रहणेऽपि प्रत्यभिज्ञया एकस्मिन् कालद्वयसम्बन्ध इति वा, कालसम्बन्ध्येक इति वा ग्रहणेन प्रमेयत एव भेदः। न हीदमिति ज्ञानं वस्तुतः शुक्तौ शुक्त्यभेदग्राह्यपि इयं शुक्तिरिति ज्ञानवदिदन्त्वशुक्तित्वाधार एक इत्याकारम्, अन्यथा तु फलतोऽपि विशेषो न स्यात्; कालद्वयपरामर्शस्य भेदभ्रमेऽपि सत्त्वात्। एवं तत्वमसीत्यत्रापीति। उच्यते—न हि प्रत्यभिज्ञायामैक्यं प्रकार इति कस्यचिन्मतम्, तस्य स्वरूपत्वेन विशेष्यत्वात्। अभेदस्वरूपविषयत्वे

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— मूलस्थ ''अभिज्ञया'' के स्थान पर न्यायामृत में ''अभिज्ञाभ्याम्'' ऐसा पाठ है। पूर्वपक्षी का कथन है कि वस्तुतः दो अभिज्ञाओं के द्वारा देवदत्त में कालद्वय (तत् काल और एतत् काल अर्थात् अतीत काल और वर्तमानकाल) का सम्बन्ध ग्रहण होने पर भी और तत् कालीन देवदत्त से एतत् कालीन देवदत्त का अभेद ग्रहण होने पर भी प्रतीयमान नहीं होता है। अर्थात् एक ही देवदत्त में काल द्वय का सम्बन्ध और अभेद का ग्रहण वस्तुतः होता है। किन्तु एकत्वाकारेण प्रतीयमान देवदत्त में प्रतीति की दृष्टि से नहीं होता है, क्योंकि अभिज्ञा दोनों पृथक्—पृथक् हैं। जबकि प्रत्यभिज्ञा स्थल पर एकत्वाकारेण प्रतीयमान देवदत्त में उक्तकाल द्वय का सम्बन्ध और काल द्वय सम्बन्धी एक (अभेद) का ग्रहण भी होता है और उसकी प्रतीति भी होती है। अतः अभिज्ञाओं से प्रत्यभिज्ञा का विषयतः भेद है और प्रत्यभिज्ञा सखण्डार्थग्राही है। {मूलस्थ ''वस्तुतः'' का अर्थ है कि वस्तुदृष्टि से है न कि प्रतीति दृष्टि से। आगे पूर्वपक्षी जो दृष्टान्त देने जा रहा है उसमें ''इदम् '' दार्ष्टान्त में अभिज्ञा स्थानीय है और ''इयं शुक्तिः'' दार्ष्टान्त में प्रत्यभिज्ञा स्थानीय है।} जैसे ''इदम्'' इत्याकारक ज्ञान स्थल पर ''इदम्'' यह ज्ञान वस्तुतः शुक्ति में शुक्ति के अभेद को ग्रहण करता हुआ भी ''इयं शुक्तिः,'' के जैसे इदन्त्व और शुक्तित्व के आधार में एकत्व को ग्रहण नहीं करता है। अर्थात् ''इयं शुक्तिः'' इस ज्ञान में जैसे इदन्त्व और शुक्तित्व एकाधार में हैं—इत्याकारकत्व है, वैसे ही ''इदम्'' इस ज्ञान में नहीं है। अन्यथा = इदम् इत्याकारक ज्ञान स्थल पर और ''इयं शुक्तिः'' इत्याकारक ज्ञान स्थल पर विषयतः भेद न मानने पर, उन दोनों ज्ञानों के फलों में भी वैलक्षण्य सिद्ध नहीं हो पायेगा, जबकि फल वैलक्षण्य का अनुभव होता है। जैसे ''इदम्'' यह ज्ञान भ्रम निवर्तक नहीं है और ''इयं शुक्तिः'' यह ज्ञान भ्रम निवर्तक है। कालद्वय के परामर्श मात्र से प्रत्यभिज्ञा में भ्रमनिवर्तकत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि काल द्वय सम्बन्ध का भान भेद भ्रम में भी होता है। नायं सः। अतः तत्त्वमसि इत्यादि वाक्य के विषय से सत्यादि वाक्यों के विषय में वैलक्षण्य है और तत्त्वमसि इत्यादि वाक्य सर्वज्ञत्व— अल्पज्ञत्वादि धर्मों के ग्राही होने पर भी भेद भ्रम के निवर्त्तक नहीं हो सकते है, जैसे प्रत्यभिज्ञा काल द्वय का परामर्शी होने पर भी भेद भ्रम का निवर्तक नहीं होता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''सोऽयम्'' इस स्थल पर तत्ता—इदन्ता और अभेद को पूर्वपक्षी ने प्रकार माना था। उनमें से तत्ता इदन्ता ये दोनों उपलक्षण होने के कारण प्रकार विधया ज्ञान में भासेगा नहीं यह पीछे कहा जा चुका है। अतः इस पर चर्चा नहीं की गयी है। केवल एकत्व (अभेद) को प्रकार मानने का खण्डन किया जा रहा है। ''सोऽयम्'' इस प्रत्यभिज्ञा स्थल पर अभेद (एकत्व) को प्रकार किसी के मत में भी सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह अभेद विशेष्य वस्तु का स्वरूप होने के कारण विशेष्य रूप हो जाता है, प्रकार रहता ही नहीं है। अभेद वस्तु का स्वरूप होता है—ऐसा आप और हम दोनों ही मानते हैं किन्तु पूर्वपक्षी तत्ता और इदन्ता उभय प्रकारा प्रत्यभिज्ञा मानते हैं और हम निष्प्रकारा प्रत्यभिज्ञा मानते हैं, क्योंकि तत्ता और इदन्ता को हम उपलक्षण मानते

तुल्ये तत्तेदन्तोभयप्रकारिका सेति तव मतम्, निष्प्रकारिकैवेति मम। एकत्वञ्च नैकत्वसङ्ख्या; गुणादावभावात्, तज्ज्ञानस्य भेदभ्रमाविरोधित्वाच्च, किन्तु भेदविरहरूपं स्वरूपमित्युक्तम्। अन्यथा तदभिलापकवाक्यमपि सोऽयमेक इति स्यात्, नतु सोऽयमिति।।८।।

सोऽयमिति वाक्ये त्वैक्यस्य प्रकारत्वं तत्प्रतिपादकपदाभावादेव दूरनिरस्तम्। भेदभ्रमे कालद्वयपरामर्शेऽपि भ्रमप्रतीतभेदाश्रयतावच्छेदकेत्यादिनिरुक्तफलवैलक्षण्यमुपपन्नमेव। अत एव

''उपाधिभेदभिन्नार्थो येनैक: प्रतिपाद्यते। तदपि स्यादखण्डार्थं महत् खं कुम्भखं यथा।।''

इत्यादि कल्पतरूक्तं 'घटाकाशो महाकाश इत्युक्तेश्चैक्यधीर्यथा'इति वार्तिकञ्च निरवद्यम्। तथा च

सत्यानन्दप्रबोधिका

हैं। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि एकत्व (अभेद) को देवदत्त का स्वरूप न मानकर देवदत्त में रहने वाली एकत्व संख्या रूप मानेगें तब कह रहे हैं कि एकत्व को एकत्व संख्यात्मक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जहाँ पर ''सोऽयं गुण:'' इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा होगी, वहाँ पर गुण में एकत्व संख्या रूप गुण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि गुण में गुण माना नहीं जाता है। कहने का भाव यह है कि ''एक: गुण:'' इस स्थल पर गुण में एकत्व भासता है। यह भासने वाला एकत्व को गुण स्वरूप माना जाय? अथवा संख्या रूप। संख्या रूप मानने पर गुण में गुण न मानने वाले सिद्धान्त से विरोध होगा। एकत्व को गुण स्वरूप मानने पर कोई दोष नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि देवदत्त एकत्व संख्या वाला है— ऐसा ज्ञान भेद भ्रम का विरोधी भी नहीं होगा, क्योंकि यह कोई अधिष्ठान रूप तत्त्व साक्षात्कार नहीं है। जो अधिष्ठान रूप तत्त्व साक्षात्कार रूप होता है वही ज्ञान भ्रम का विरोधी होता है। अत: एकत्व को भेदाभाव = अभेद रूप माना जाय। वह अभेद देवदत्त का स्वरूप ही है। इसे हमने कहा ही है। अन्यथा = एकत्व (अभेद) को देवदत्त स्वरूप न मानकर प्रकार मानने पर एकत्व के उपस्थापक पद का प्रयोग भी आवश्यक होगा, क्योंकि पदार्थों के संसर्गो भान जैसे संसर्ग मर्यादया होता है। अर्थात् विना सम्बन्ध के वाचक पद के भी सम्बन्ध का भान होता है, वैसे प्रकार का भान नहीं हो सकता है, अपितु प्रकार वाचक पद का प्रयोग होना आवश्यक है। अत: ''सोऽयम्'' इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा न होकर ''सोऽयमेक:'' इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा होने की आपत्ति होगी।।८।।

पूर्वपक्षी के द्वारा ''सोऽयम्'' इस वाक्य में एकत्व (अभेद) को प्रकार मानना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि एकत्व प्रतिपादक पद का अभाव है। भेद भ्रमे = नायं स: = तत् कालीन देवदत्त एतत् कालीन नहीं है—इत्याकारक भेद भ्रम स्थल पर काल द्वय का परामर्श होता है और ''सोऽयम्'' इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा स्थल पर भी कालद्वय का परामर्श होता है। किन्तु भेद भ्रम स्थल पर काल द्वय का भान होने पर भी भ्रम प्रतीत भेद अनुयोगितावच्छेदक और प्रतियोगितावच्छेदक से उपलक्षित स्वरूप मात्र की प्रतीति न होने के कारण भ्रम निवर्तकत्व नहीं है और प्रत्यभिज्ञा स्थल पर उक्त स्वरूप मात्र की प्रतीति होती है। जिसे खण्ड संख्या ६ में स्पष्ट किया जा चुका है। अत: प्रत्यभिज्ञा में भ्रम निवर्तकत्व है। इस प्रकार से फल में विलक्षणता उपपन्न हो जाती है। अत एव = उक्त क्रम से व्यवस्था के दोष रहितत्व होने से ही कल्पतरुकार का यह कथन अत्यन्त उचित है—

उपाधिभेदभिन्नार्थो येनैक: प्रतिपाद्यते।
तदपि स्यादखण्डार्थं महत् खं कुम्भखं यथा।।

{सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व उपाधियों के भेद से भिन्न हुआ अर्थ जब तत्त्वमसि इत्यादि वाक्य के द्वारा

तत्त्वमसि वाक्यमखण्डार्थम्, उपाधिभेदभिन्नेऽर्थे ऐक्यप्रतिपादकत्वात्, घटखं महाखमिति वाक्यवदित्युक्तं भवति। एवञ्च 'सत्यज्ञानादिरेतत्संसर्गव्यतिरेकिणि अर्थे प्रमाणम्, मानत्वात्, नयनादिप्रमाणवत्' इति चित्सुखाचार्योक्तमपि साधु। सत्यादिवाक्यमेतत्पदार्थसंसर्गव्यतिरिक्त एवार्थे प्रमाणमिति सावधारणं साध्यं विवक्षितम्, तेन संसर्गातिरिक्तसंसर्गिण्यपि प्रामाण्याङ्गीकारात् न सिद्धसाधनम्। कण्टकोद्धारस्तु पूर्ववत्। एवमन्येषामपि प्रयोगाः यथायथमुपपादनीयाः।।९।।

तस्मात् वृथा रोदिषि मन्दबुद्धे तव भ्रमादेव हि दुःखमेतत्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

सर्वज्ञत्वोपहित चैतन्य और अल्पज्ञत्वोपहित चैतन्य में एकता प्रतिपादित होती है। तब वह वाक्य भी अखण्डार्थक होता है। जैसे घट रूप उपाधि और महत्त्व (व्यापकत्व) रूप उपाधि से भिन्न दो पदार्थ एक है ऐसे अर्थ का प्रतिपादन जैसे ''घटाकाशो महाकाशः'' इस वाक्य के द्वारा होता है।} 'महत् खं कुम्भखं यथा'' इसको स्पष्ट करते हुए वार्तिककार ने कहा है—

घटाकाशो महाकाश इत्युक्तौ एक्यधीर्यथा।
तथेहापि कथं नाम प्रत्यग्धीः स्यादितीर्यते।।

{जैसे घटाकाश महाकाश है ऐसा कहने पर ऐक्य धी होती है वैसे ही तत्त्वमसि इत्यादि वाक्यों से ऐक्य धी = अखण्डार्थक बोध होता है— इसे कहा जायेगा।} यह वार्तिककार का कथन भी सूपपन्न है। यहाँ पर यह अनुमान का आकार बनता है— तत्त्वमस्यादि वाक्य अखण्डार्थनिष्ठ हैं, उपाधिभेदभिन्नार्थ में ऐक्य प्रतिपादकत्व होने से जैसे ''घटखं महाखं'' वाक्य। इसी प्रकार तत्त्वप्रदीपिका के ''अखण्डार्थनिरूपणे उत्तरपक्षः'' में श्रीचित्सुखाचार्य के द्वारा कथित अनुमान भी निर्दुष्ट है—

सत्यज्ञानादिगीरेतत्संसर्गव्यतिरेकिणि।
अर्थे प्रमाणं मानत्वान्नयनादिप्रमाणवत्।।

अर्थात् ''सत्यं ज्ञानमनन्तम्'' इत्यादि वाक्य सत्यादि पदार्थों का पारस्परिक जो संसर्ग है उससे भिन्न अर्थ में प्रमाण हैं, प्रमाण होने से, जैसे चक्षुरादि प्रमाण। अर्थे प्रमाणम्— ऐसा साध्य होने पर सिद्धसाधनदोष होगा, क्योंकि सखण्डार्थवादी भी इस वाक्य का संसर्गार्थ में प्रमाण मानता है। अतः संसर्गातिरिक्तार्थे कहा गया। ऐसा होने पर भी घटादि संसर्ग से अतिरिक्त सत्यादि संसर्गार्थ में प्रामाण्य वादी मानता है। इसलिए संसर्ग का विशेषण दिया गया एतत् (एतत् पदार्थ)। ऐसा होने पर भी एतत् पदार्थ संसर्गातिरिक्त संसर्गी रूप अर्थ में प्रामाण्य वादी भी मानता है। इस सिद्धसाधनता दोष को निवारण करते हुए आचार्यप्रवर अद्वैतसिद्धिकार कह रहे हैं कि सत्यादि वाक्य एतत् पदार्थ संसर्ग व्यतिरिक्तार्थ में ही प्रमाण है— इस प्रकार से सावधारण साध्य विवक्षित है। ऐसा होने पर पूर्वपक्षी संसर्ग और संसर्गी में उक्त वाक्य का प्रामाण्य मानता है किन्तु संसर्गातिरिक्तमात्र में उक्त वाक्य का प्रामाण्य नहीं मानता है। अतः सिद्धसाधनदोष नहीं होगा। दृष्टान्त में मानत्व हेतु है और साध्य भी है क्योंकि चक्षुरादि भी सत्यादि पदार्थों के संसर्ग से अतिरिक्त घटाद्यर्थ में प्रमाण हैं। इस अनुमान पर कथित पूर्वपक्षी के दोषों का निराकरण पूर्वोक्त उक्तियों के द्वारा कर लेना चाहिए। इसी प्रकार से अन्य अद्वैताचार्यों के द्वारा प्रदर्शित अखण्डार्थ साधक अनुमान प्रयोगों में निर्दोषता का उपपादन सुगमता पूर्वक किया जा सकता है।।९।।

तस्मात् = माया प्रयुक्त संसार ध्वंसक जीवब्रह्मैक्यज्ञान सर्वथा निर्दोष है। ऐसे अन्तःस्थ निधि को न जानने से द्वैतदर्शी मन्दबुद्धि तू वृथा ही आनन्दमार्ग में असन्तुष्ट हुआ रोदन कर रहा है। तुझको तेरे निज

तस्यापनोदो विहितः प्रमाणैस्तुभ्यं तु रोचेत स नेति चित्रम्।।१ ।।
मानं वेदान्तवाक्यानि निर्गुणाखण्डबोधनात्।।
निर्गुणत्वं च तस्योक्तं श्रुत्या युक्तिसहायया।।२।।
इह कुमतिरतत्त्वे तत्त्ववादी वराकः प्रलपति यदकाण्डे खण्डनाभासमुच्चैः।
प्रतिवचनममुष्मै तस्य को वक्तु विद्वान् न हि रुतमनुरौति ग्रामसिंहस्य सिंहः।।३।। — १०।।

इत्यद्वैतसिद्धौ तत्त्वमस्यादिमहावाक्याखण्डार्थत्वोपपत्तिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

रूप के भ्रम से ही यह दुःख प्रतीत हो रहा है। तस्य = उस तेरे भ्रम का, अपनोद = ध्वंस अकाट्य प्रमाणों के द्वारा बतला दिया गया है। सः = वह अपनोद तुझको नहीं रुचिकर हो तो कोई आश्चर्य नहीं। अर्थात् जिस पुरुष में बुरे जो संस्कार दृढ़ हो जाते हैं वे तुरन्त ध्वस्त नहीं होते हैं। विशेषतया अशास्त्रीय संस्कार तो शीघ्र नष्ट नहीं होते हैं। इस अभिप्राय से पद्य का चतुर्थ पाद है।।१ ।।

द्वितीय श्लोक से आचार्यप्रवर इस प्रकरण में कथित सिद्धान्ती के भावों को संगृहीत कर दिखला रहे हैं—निर्गुण तथा अखण्ड जो ब्रह्म तादृश ब्रह्म के बोधक होने से वेदान्त वाक्यों में प्रमाण्य है। सद्युक्ति सहकृत श्रुतियों से तस्य = ब्रह्म का निर्गुणत्व कहा गया है।।२।।

तृतीय श्लोक से आचार्यप्रवर इस प्रकरण में कथित पूर्वपक्षी का भाव क्या है? और उस पर अपना विचार क्या है? इसको दिखला रहे हैं— इह = प्रकृत विषय में, अतत्त्वे तत्त्ववादी = सिद्धान्ती को जो तत्त्व अभिप्रेत नहीं है उसको अपना सिद्धान्त कहने वाला होने से, वराकः = पुरुषार्थ शून्य, कुमतिः = कुतर्कों से वैदिक अर्थों को विपरीत कर जगत् में अनर्थ फैलाने वाला द्वैतवादी अकाण्ड में जो खण्डनाभास का, उच्चैः = करभादिवत् ऊपर ग्रीवा कर के प्रलाप कर रहा है। ऐसे द्वैती के प्रलाप के लिए कौन विद्वान्, प्रतिवचनम् = उत्तर को कहेगा, क्योंकि सारमेय के शब्द के पीछे सिंह शब्द नहीं करता है। अर्थात् व्यर्थ बोलने वालों के साथ विद्वान् विचार करना नहीं चाहते हैं। जितना कथन उसका प्रकृत से सम्बन्ध रखता हो उतने का ही उत्तर देना उचित समझते हैं यह भाव है।।१०।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां तत्त्वमस्यादिमहावाक्याखण्डार्थत्वोपपत्तिः

४—ब्रह्मणो निर्गुणत्वविचारः

कैवल्यश्रुत्या तावदात्मा निर्गुणः। ननु—'बृहन्तोऽस्य धर्मा' इति श्रुत्या 'ब्रह्मेशानादिभिर्देवैः समेतैः यद्गुणांशकः। नावसाययितुं शक्यो व्याचक्षाणैश्च सर्वदा॥' इति स्मृत्या च ब्रह्म, धर्मवत्, पदार्थत्वादित्याद्यनुमानेन च स्वसमानसत्ताकधर्मवत् ब्रह्मेति—चेत्, मैवम्; न तावच्छ्रुत्या सगुणत्वसिद्धिः। सगुणप्रकरणस्थाया उपास्तिविधिविषयविशेषणसमर्पकत्वेन तत्परत्वाभावात्। न चापूर्वत्वात् सत्यकामादौ विशेषणे तात्पर्य्यम्

सत्यानन्दप्रबोधिका

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ (श्वे०उ०६—११)

इस श्रुति से आत्मा निर्गुण है— यह सिद्ध होता है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ब्रह्म में कैवल्य है। अर्थात् ब्रह्म केवल है। अर्थात् ब्रह्म में गुण धर्म आदि कुछ भी नहीं है। इसको बतलाने वाली उक्त श्रुति के द्वारा आत्मा निर्गुण सिद्ध होता है। जब ब्रह्म निर्गुण है— यह सिद्ध हो गया तब उस ब्रह्म के बोधक वेदान्त वाक्य अखण्डार्थक स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं—यह सिद्धान्ती का भाव है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्रह्म निर्गुण नहीं है अपितु सगुण है। ब्रह्म के सगुण होते ही ब्रह्म को बतलाने वाले वाक्य सखण्डार्थक सिद्ध होते है— यह पूर्वपक्षी का भाव है। ब्रह्म सगुण है— इसमें श्रुति—स्मृति और अनुमानादि प्रमाण हैं। जैसे ''बृहन्तोऽस्य धर्माः'' इस श्रुति से ब्रह्म में महान धर्म (गुण) कहा गया है। ब्रह्म में गुण है— इसको स्मृति भी कह रही है—

ब्रह्मेशानादिभिर्देवैः समेतैर्यद्गुणांशकः।
नावसाययितुं शक्यो व्याचक्षाणैश्च सर्वदा॥

(सर्वदा व्याख्यान करने वाले ब्रह्मा और शङ्कर आदि देवगण मिलकर भी जिस पर ब्रह्म के गुणों के एक अंश का निश्चय करने में शक्य नहीं हैं। ऐसा पर ब्रह्म अनन्त गुणों से युक्त सिद्ध होता है)। ब्रह्म धर्मवत् पदार्थत्वात्, घटवत् इत्यादि अनुमान से भी ब्रह्म में सगुणता सिद्ध होती है। सिद्धान्ती काल्पनिक ध र्मों को लेकर सिद्धसाधन दोष नहीं दे सकते हैं, क्योंकि यहाँ धर्म शब्द से तात्पर्य है स्वसमानसत्ताकधर्म। अतः फलितार्थ हुआ— स्वसमानसत्ताकधर्मवद् ब्रह्म। स्व=ब्रह्म के समान सत्ता वाला धर्म लेने पर उक्त सिद्धसाधन दोष नहीं होगा। इस प्रकार से उक्त धर्म बोधक श्रुति स्मृति और अनुमानादि का कोई बाधक नहीं है। अतः उनके द्वारा ब्रह्म में धर्मवत्ता की सिद्धि हो जाती है। यह पूर्वपक्षी के कथन का भाव है।

समाधान—पूर्वपक्षी ने श्रुति के द्वारा ब्रह्म में धर्मवत्ता की सिद्धि की है— वह उचित नहीं है, क्योंकि सगुण प्रकरण में स्थित उक्त श्रुतियाँ उपासना विधि के विषयभूत विशेषण का समर्पक (बोधक) होने के कारण ब्रह्म की सगुणता के प्रतिपादन में उनका तात्पर्य नहीं है। अर्थात् जिसका मन निर्गुण ब्रह्म में स्थिर नहीं हो रहा है। उसके लिए गुण की कल्पना कर के ब्रह्म में धर्म विशेष प्रकरण उपासना विधायकत्व उक्त श्रुति के द्वारा कहा जा रहा है न कि ब्रह्म में वास्तविक धर्म वैशिष्ट्य विधान में उक्त श्रुति का तात्पर्य है—यह सिद्धान्ती के कथन का भाव है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युः विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः।'' (छा०उ० ८—१—५) इत्यादि स्थल पर यदि सत्यकामादि विशेषण श्रुति से अन्य प्रमाणों से सिद्ध होता तब तो श्रुति को उसका अनुवादक माना जा सकता था, तब उन विशेषणों (गुणों) को बतलाने में श्रुति का तात्पर्य नहीं है— ऐसा सिद्ध होता किन्तु ऐसा है नहीं। अतः मानान्तर से अनधिगत

अपूर्वत्वेऽप्यन्यशेषस्याततपरत्वदर्शनात्, यथाहि 'जर्त्तिलयवाग्वा वा जुहूयात् गवीधुकयवाग्वा वा जुहुयाद्'इत्यादौ जर्त्तिलयवाग्वादेर्होमसाधनत्वस्य ' अनाहुतिर्वै जर्त्तिलाश्च गवीधुकाश्च'इति निन्दायाश्च 'अजक्षीरेण जुहोति'इति विध्येकवाक्यतया अतत्परत्वं, तथैवात्राप्युपपत्तेः; निर्गुणप्रकरणस्थायास्तु अद्वितीयब्रह्मप्रतिपत्त्युनुकूलनिषेधा–पेक्षितविषयसमर्पकतया अन्यथासिद्धेः।।१ ।।

न च–'किञ्चन'इत्यादिसामान्यवाचकपदेनैव ब्रह्मातिरिक्तसर्वनिषेध्योपस्थितौ विशेषग्रहणमनर्थकमिति वाच्यम्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

सत्यकामादि को बतलाने में श्रुति का तात्पर्य मानना चाहिए। ऐसा होने पर सत्यकामादि गुणों की सिद्धि होने से ब्रह्म में सगुणता की सिद्धि हो जाती है।

समाधान– जिस श्रुति वाक्य से जो पदार्थ कहा गया है उसी का बोधन उस श्रुति के द्वारा जब होता है तब उस श्रुति वाक्य में तत्परत्व रहता है। जब श्रुति वाक्य का तात्पर्य अन्य में होता है तब उस श्रुति वाक्य में अतत्परत्व होता है। पूर्वपक्षी का कथन है कि ''यत्र यत्र अपूर्वत्वं तत्र तत्र तत्परत्वम्।'' सिद्धान्ती का कथन है कि ''यत्र यत्र अपूर्वत्वे सति अनन्यशेषत्वं तत्र तत्र तत्परत्वम्।'' इस व्याप्ति के अनुसार यदि किसी श्रुति वाक्य में अपूर्वत्व है किन्तु अन्यशेषत्व है तब उस श्रुति वाक्य में अतत्परत्व ही माना जाता है। इसको आचार्यप्रवर दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जैसे ''जर्तिल यवाग्वा वा जुहुयाद्, गवीधुकयवाग्वा वा जुहुयाद्'' (तै०सं० ५–४–२) (अर्थात् जर्तिल (काला तिल) के यवागू (लपसी) के द्वारा अग्नि होत्र याग करे अथवा गवीधुक (जंगली गेहूँ) के यवागू के द्वारा अग्नि होत्र याग करे)। यह अर्थवाद वाक्य है। इस वाक्य के द्वारा जर्तिलयवाग्वादि का होम साधनत्वेन जो विधान किया जा रहा है उसमें अपूर्वत्ता है किन्तु यह अर्थवाद वाक्य ''अजक्षीरेण जुहोति''इस विधि वाक्य का शेष है। अतः उक्त अर्थवाद वाक्य में अतत्परत्व माना गया क्योंकि उक्त अर्थवाद वाक्य का तात्पर्य जर्तिलयवाग्वादि के विधान में नहीं है अपितु उक्त विधि से विहित विधान की स्तुति मात्र में है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा तत्परत्व के लिए बनायी गयी व्याप्ति दोष युक्त है और सिद्धान्ती के व्याप्ति में कोई दोष नहीं है। इसको दूसरे दृष्टान्त से भी स्पष्ट कर रहे है कि ''अनाहुर्तिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्च''। यहाँ कहा गया कि जर्तिल और गवीधुक ये दोनों आहुतियों में गण्य नहीं हैं। इस प्रकार से जर्तिल और गवीधुक के होमसाधनत्व की निन्दा की गयी। इस निन्दा में इस वाक्य का तात्पर्य नहीं है अपितु ''अजक्षीरेण जुहोति'' इस विधि वाक्य के स्तुति में तात्पर्य है। यहाँ पर भी अर्थवाद वाक्य में अपूर्वत्व होने पर भी अनन्यशेषत्व नहीं है। अतः उसमें अतत्परत्व माना गया है। उपरोक्त विषयक विचार पूर्वमीमांसा के अध्याय १० पाद ८ अधिकरण ४ में है। प्रकृत में ''सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः'' इत्यादि वाक्यों का गुण विधान में तात्पर्य नहीं है अपितु निर्गुण प्रकरण में स्थित सगुण श्रुति अद्वितीय ब्रह्म विषयक बोध के अनुकूल जो निषेध (नेह नानास्ति किञ्चन) तादृश निषेध को अपेक्षित जो विषय–प्रतियोगी, तादृश प्रतियोगी समर्पकतया अतत्परत्व होने से सगुणत्व के प्रति साधकत्व नहीं हो सकती है। अर्थात् ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इत्यादि का शेष होने से ''सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः'' इत्यादि वाक्य तत्परक नहीं हैं। अतः इन वाक्यों के द्वारा सत्यकामादि गुणों का विधान नहीं माना जा सकता है।।१ ।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''नेह नानास्ति किञ्चन'' (बृ०उ० ४–४–१९) इस श्रुति वाक्य के घटक सामान्य वाचक ''किञ्चन'' पद से ही ब्रह्म से अतिरिक्त सर्व निषेध्य की उपस्थित हो जाती है। अतः ''सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः'' इत्यादि विशेषार्थ वाक्यों को निषेध्य समर्पक न मानकर गुणविधायक ही मान

अलौकिकतया वाक्यप्रमेयत्वभ्रमव्युदासार्थत्वात्। अत एव श्रुतिप्राप्तस्य श्रुत्या निषेधे अहिंसावाक्यम्, अग्नीषोमीयहिंसायाः, अग्रहणवाक्यञ्च षोडशिग्रहणस्य, असद्वेत्यादिवाक्यं ब्रह्मसत्त्वस्य भेदवाक्यं चैक्यस्य निषेधकं स्यादिति निरस्तम्, प्रकृते श्रुतिप्राप्तत्वस्यैवाभावात्। श्रुतिप्राप्तत्वं हि न तत्प्रसक्तत्वम्; अतिप्रसङ्गात्; तत्प्रमितत्वस्य च प्रकृते अभावात्। अहिंसावाक्यस्यावैधहिंसाविषयत्वेन समानविषयत्वाभावात्, समानविषयत्वे

सत्यानन्दप्रबोधिका

लेना उचित है।

समाधान— उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि सत्यकामादि धर्म अलौकिक हैं। इसलिए सगुण उपासना विधि का इन गुणों में तात्पर्य होगा— इस भ्रम की निवृत्ति के लिए निर्गुण प्रकरण में निषेध के लिए धर्मों का कथन किया गया है। अथवा यदि सत्यकामादि गुण श्रुति में सुना नहीं गया होता तो केवल गुणोपासना विधि को सुनकर साधारण लोग दुर्गुणों में भी ईश्वर के गुण की कल्पना कर लेते। इस भ्रम के निराकरण के लिए विशेष रूप से सत्यकामादि इत्यादि वाक्यों के द्वारा ईश्वर के गुणों का वर्णन किया गया है। अर्थात् चित्तशुद्धि के लिए और निर्गुण बोध के लिए निषेध्य सर्मपक के लिए कल्पित गुण युक्त ईश्वर की उपासना का विधान उक्त श्रुति के द्वारा किया गया है।

शङ्का— श्रुति से प्राप्त का श्रुति से निषेध मानने पर अर्थात् सत्यकामादि वाक्य के द्वारा ईश्वर के गुण रूप से जो सत्यकामादि प्राप्त हैं, उन प्राप्त गुणों का ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इस वाक्य के द्वारा निषेध ा मानने पर अनेक आपत्तियाँ आयेगी। जैसे ''न हिंस्यात् सर्वाभूतानि '' यह अहिंसा वाक्य ''अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'' इस वाक्य से विहित अग्नीषोमीय हिंसा का निषेधक हो जायेगा और ''नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'' यह अग्रहण वाक्य ''अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'' इस ग्रहण वाक्य का निषेधक होगा। इसी प्रकार ''असद् का इदमग्र आसीत्'' (तै० उ० २—७) यह असद् पद घटित वाक्य ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'' (छा०उ० ६—२—१) इस सद्पद घटित वाक्य का निषेधक मानना होगा तथा ''द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते'' (मु०उ० ३—१—१) इत्यादि भेदपरक वाक्य ''तत्त्वमसि'' (छा०उ० ६—८—७) इत्यादि अभेद परक वाक्य का निषेधक मानना होगा।

समाधान— अत एव निरस्तम्— ऐसा अन्वय करना चाहिए। अत एक=अन्यशेष वाले वाक्य अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं रखते है। प्रकृत में कथित सभी षष्ठ्यन्त वाक्य का विषय अन्य शेष नहीं हैं। अतः इनका निषेध तत्—तत् वाक्यों के द्वारा नहीं होगा। आगे कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने हमारे इस नियम ''श्रुति प्राप्त का श्रुति के द्वारा निषेध होता है।'' पर आक्षेप किया कि श्रुति प्राप्त का श्रुति के द्वारा निषेध नहीं होता है, किन्तु ऐसा आक्षेप श्रुतिप्राप्त का अर्थ विना समझे ही किया है, क्योंकि प्रकृत = जहाँ निर्गुण वाक्य के द्वारा जो श्रुति प्राप्त गुणों आदि का निषेध किया गया है। वहाँ वास्तव में सत्यादि गुण श्रुति के द्वारा प्राप्त ही नहीं हैं। अतः पूर्वपक्षी के नियम को मानने पर भी हमारे पक्ष में दोष नहीं होगा। इसको ही स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि श्रुतिप्राप्तत्व श्रुतिप्रसक्तत्व रूप नहीं है क्योंकि जर्तिलादि जो श्रुति से प्राप्त हैं और अन्यश्रुति से निषेध्य हैं। अतः पूर्वपक्षी के नियम (श्रुति के द्वारा प्राप्त का श्रुति के द्वारा निषेध नहीं होता है।) के अनुसार निषेध नहीं हो पायेगा। ऐसा अति प्रसङ्ग दोष होगा। लघुचन्द्रिकानुसार अतिप्रसङ्ग दोष इस प्रकार से होगा श्रुति से प्रसक्त का श्रुति से निषेध मानने पर विकल्प मानने की आपत्ति होगी। ऐसा होने पर ''न कलञ्जं भक्षयेत्'' एतद् वाक्य घटक ''कलञ्जं भक्षयेत्'' इसको भी प्रमाणान्तर से प्राप्त कलञ्ज

ग्रहणाग्रहणवद्विकल्पापत्तेः। ग्रहणाग्रहणवाक्ययोस्तु सत्यपि समानविषयत्वे एकस्याधिकबलत्वाभावेन बाध्यबाधकभावस्यासम्भावितत्वात्, अन्यथा विकल्पानाश्रयणप्रसङ्गात्। असद्वाक्यभेदवाक्ययोस्तु न ब्रह्मसत्त्वैक्यनिषेधकता, सत्त्वैक्यबोधकयोरेव तत्परत्वेन प्राबल्यात्।।२।।

नाप्यनुमानं ब्रह्मणि तात्त्विकधर्मसाधनायालम्। तथाहि— (१) ब्रह्म, धर्मिसत्तासमानसत्ताकधर्मवत्, उक्तसत्ताकभावरूपधर्मवद्वा, यावत्स्वरूपमनुवर्तमानधर्मवद्वा, तादृशभावरूपधर्मवद्वा, स्वज्ञानाबाध्यधर्मवद्वा,

सत्यानन्दप्रबोधिका

भक्षण का अनुवादित्वेन कलञ्ज भक्षण प्रसञ्जकत्व होने से यहाँ पर विकल्प मानने की आपत्ति होगी। यदि पूर्वपक्षी के नियम का यह अर्थ किया जाये कि श्रुति के द्वारा जो अर्थ प्रमित है उसका श्रुति के द्वारा निषेध नहीं होता है। इस पर सिद्धान्ती कह रहे है कि प्रकृत में जिस सत्यकामादि वाक्य के द्वारा निषेध्य सत्यकामादि का कथन किया गया है, वह अन्यथासिद्ध होने के कारण प्रमित नहीं है। इसको खण्ड संख्या १ की अन्तिम पंक्ति में कहा जा चुका है। हिंसा वाक्य का विषय यागीय वैध हिंसा है और अहिंसा वाक्य का विषय अवैध हिंसा है। अतः दोनों का समान विषय न होने से ''न हिंस्यात्'' इस वाक्य के द्वारा अग्नीषोमीय हिंसा का निषेध नहीं किया जा सकता है। यदि उक्त दोनों वाक्यों का विषय समान माना जाता है तब षोड़शि के ग्रहणाग्रण के जैसे हिंसा अहिंसा में विकल्प मानने की आपत्ति होगी। ग्रहण वाक्य और अग्रहण वाक्य में समान विषयता होने पर भी न्यूनाधिक बलत्व न होने के कारण बाध्य बाधक भाव सम्भव नहीं हो पाता है। अन्यथा = यदि उनमें न्यूनाधिकभाव मानकर बाध्य् बाधक भाव माना जाता तब तो, उन ग्रहणाग्रहण में विकल्प हो ही नहीं सकता। असद् वाक्य ब्रह्म सत्त्व का और भेद वाक्य ऐक्य वाक्य का निषेध नहीं कर सकता है, क्योंकि षड्विध तात्पर्य लिङ्गों से रहित होने के कारण असद् वाक्य और भेद वाक्य तत्परक न होने के कारण दुर्बल हैं और तत्त्वमसि इत्यादि वाक्य षड्विध तात्पर्य लिङ्गों से युक्त होने से तत्परक होने से बलवान है। अतः दुर्बल वाक्यों के द्वारा बलवान वाक्यों का बाध नहीं किया जा सकता है अपितु बलवान वाक्यों के द्वारा दुर्बल वाक्यों का बाध हो जाता है।।२।।

पूर्वपक्षो के द्वारा प्रदर्शित सात अनुमान जो है वे भी ब्रह्मगत तात्त्विक धर्म साधन में समर्थ नहीं है। जैसे (१) ब्रह्म धर्मिसत्तासमानसत्ताकधर्मवद्, पदार्थत्वात् अथवा भावत्वात्, घटवत्। साध्य का अर्थ है— धर्मी जो ब्रह्म तादृश ब्रह्म की सत्ता के समान सत्तावाला जो धर्म है। तादृश धर्मवाला ब्रह्म है। ब्रह्म में काल्पनिक धर्मों को लेकर सिद्धान्ती के द्वारा जो सिद्ध साधन दोष दिया जाता है। उसकी निवृत्ति के लिए धर्म का विशेषण धर्मिसमानसत्ताक दिया गया है। आचार्य श्री मण्डन मिश्र के मत में ब्रह्म में रहने वाला द्वैताभाव सत्य है और उस द्वैताभाव के द्वारा अद्वैत की हानि नहीं होती है—अभाव रूपा नाद्वैतं ध्नन्ति (ब्रह्म सिद्धि)। इस सिद्धसाधन दोष से बचने के लिए साध्य में भाव पद जोड़कर साध्य का आकार कहा— 'उक्त सत्ताकभावरूपधर्मवद्— धर्मिसमानसत्ताक भावरूपधर्मवद्। इसी प्रकार हेतु पदार्थत्व का पद वाच्यत्व अर्थ करने पर शुद्ध ब्रह्म में हेतु के न जाने से स्वरूपासिद्धि दोष होता। अतः दूसरा हेतु भावत्व दिया गया। यहाँ भावत्व= सत्तादात्म्यप्रतियोगित्व। दृष्टान्त घटादि के जैसे पक्ष सद्रूप ब्रह्म में भी उक्त प्रतियोगित्व असिद्ध नहीं है। अथवा यावत्स्वरूपमनुवर्तमानधर्मवत् = यावत् काल को अवधि कर ब्रह्म का स्वरूप है तावत् काल को अवधि कर अनुवर्तमान जो धर्म है। तादृश धर्म वाला ब्रह्म है। इस साध्य में पूर्वोक्त प्रकार से आचार्य श्री मण्डनमिश्र के मतानुसार सिद्धसाधन दोष होगा। अतः कहा— तादृशभावरूपधर्मवत् = यावत् स्वरूपमनुवर्तमानधर्मवत्। अथवा— स्वज्ञानाबाध्यधर्मवत् = ब्रह्मविषयक अपरोक्ष ज्ञान से अबाध्य जो धर्म

तादृशभावरूपधर्मवद्वा, धर्मैर्भावरूपधर्मैर्वा हीनं नावतिष्ठते वा, पदार्थत्वात्, अथवा भावत्वात्, घटवत्। (२) ब्रह्म, स्वज्ञानाबाध्यप्रकारवत्, स्वारोपितव्यावर्तकस्वज्ञानाबाध्यप्रकारवद्वा, अधिष्ठानत्वात्, शुक्तिवत्, (३) ब्रह्म, स्वज्ञानाबाध्यदुःखव्यावर्तकधर्मवत्, दुःखानात्मकत्वात्, घटवत्।।३।।

(४) ब्रह्म, स्वज्ञानाबाध्यप्रकारविशेष्यम्, सन्दिग्धत्वात्, विचार्य्यत्वात्, निर्णेतव्यत्वाद्वा स्थाणुवत्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

तादृश धर्म वाला ब्रह्म है। उक्त प्रकार से द्वैताभाव को लेकर आने वाले सिद्ध साधन दोष के कारण के लिए कहा– तादृश भाव रूप धर्मवत् = स्वज्ञानाबाध्यभावरूप धर्मवत्। अथवा—धर्मैः हीनं नावतिष्ठते= धर्मों से रहित होकर स्थित नहीं होता है। पूर्वोक्त सिद्धसाधनदोष से बचने के लिए कहा—भावरूपधर्मैः हीनं नावतिष्ठते। = भावरूप धर्मों से रहित होकर स्थित नहीं होता है। दृष्टान्त घट में पदार्थत्व और भावत्व हेतु है और साध्य भी है,क्योंकि घट जब तक रहता है तब तक घट के समान सत्ता वाले धर्मों से युक्त रहता हैं और उन धर्मों का घट ज्ञान से बाद भी नहीं होता है। पक्ष में पदार्थत्व हेतु के न रहने पर भी भावत्व हेतु रहता है। अतः पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी– यह पूर्वपक्षी का भाव है। (२) ब्रह्म स्वज्ञानाबाध्यप्रकारवत्, स्वारोपितव्यावर्तकस्वज्ञानाबाध्यप्रकारवद्वा, अधिष्ठानत्वात्, शुक्तिवत्। साध्य = स्वज्ञानाबाध्यप्रकारवत्। स्व= ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मज्ञान से अबाध्य जो प्रकार तादृश प्रकार वाला ब्रह्म है। अनुमान एक के साध्य में धर्मवत् कहा गया था। यहाँ प्रकारवत् कह रहे हैं। इससे ''ब्रह्म यदि तादृश प्रकारवत् न स्यात् तदा किञ्चित् प्रकारकस्य भ्रमनिवर्तकज्ञानस्य विशेष्यं न स्यात्'' इस अनुकूल तर्क का लाभ होता है। केवल ''प्रकारवत्'' साध्य बनाने पर कल्पित सर्वज्ञत्वादि प्रकार को लेकर सिद्धान्ती सिद्धसाधनता दोष देते। अतः स्वज्ञानाबाध्य विशेषण प्रकार का दिया गया है। साध्य घटक ज्ञान पद से अपरोक्ष ज्ञान विवक्षित है अन्यथा परोक्ष ज्ञान से कल्पित सर्वज्ञत्वादि प्रकार का भी बाध सिद्धान्ती नहीं मानते हैं। अतः सिद्धसाधनदोष होता है। अथवा स्वारोपितव्यावर्तकस्वज्ञानाबाध्यप्रकारवत्। इष्ट सिद्धिकार के मतानुसार अविद्यानिवृत्ति रूप पञ्चम प्रकार ब्रह्म ज्ञान से बाध्य नहीं माना जाता है। अतः सिद्धसाधनदोष होगा। इसके परिहार के लिए ''स्वारोपितव्यावर्तकत्व'' कहा गया। साध्य का पक्ष में समन्वय—ब्रह्म में आरोपित मिथ्यात्व का व्यावर्तक होता है सत्यत्व। यही सत्यत्व ब्रह्मज्ञान से अबाधित प्रकार है, तादृश प्रकार वाला ब्रह्म है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—शुक्ति में आरोपित रजतत्व का व्यावर्तक होता है शुक्तित्व। यही शुक्तित्व शुक्ति ज्ञान से अबाधित प्रकार है। तादृश प्रकार वाला शुक्ति है। पक्ष और दृष्टान्त में हेतु है। अतः पक्ष में साध्य की सिद्धि माननी चाहिए—यह पूर्वपक्षी का कथन है। (३) ब्रह्म स्वज्ञानाबाध्यदुःखव्यावर्तकधर्मवद्, दुःखानात्मकत्वात्, घटवत्। दृष्टान्त में हेतु है क्योंकि घट दुःख रूप नहीं है। अतः घट में दुःखानात्मकत्व रहेगा। ब्रह्म दुःखरूप न होने के कारण पक्ष में भी हेतु रहेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—घट में जो घटत्व धर्म है वह घट ज्ञान से अबाध्य है और दुःख का व्यावर्तक धर्म है। तादृश घटत्व धर्मवाला घट है। पक्ष में साध्य का समन्वय– ब्रह्म में जो सुख धर्म है, वह ब्रह्मज्ञान से अबाध्य है और दुःख का व्यावर्तक धर्म है। तादृश सुख धर्म वाला ब्रह्म है। ऐसा मानने में श्रुति की अनुकूलता भी है, क्योंकि ''आनन्दो ब्रह्म (तै०३—६—१) यह श्रुति है। ऐसा होने से ''ब्रह्म स्वज्ञानाबाध्यसुखव्यावर्तकधर्मवत्, सुखानात्मकत्वात्, घटवत्'' इस प्रकार से अनुमानाभास का भी प्रदर्शन नहीं किया जा सकता है।।३।।

(४) ब्रह्म स्वज्ञानाबाध्यप्रकारविशेष्यम्, सन्दिग्धत्वात्, विचार्यत्वात्, निर्णेतव्यत्वाद् वा, स्थाणुवत्। वृत्त्यनियामक परम्परा सम्बन्ध से एक गुण दूसरे गुण में नैयायिकादि मानते हैं। जैसे जहाँ ''एकं रूपम्''

(५)ब्रह्म, वेदान्ततात्पर्य्यगोचरप्रकारवत्, वेदान्तविचारविषयत्वात्, यदेवं तदेवम्, यथा कर्मकाण्डविचारविषयो धर्मः। (६) ईश्वरः सदावाप्तसमस्तकल्याणगुणः, सदा प्रेप्सुत्वे सति तत्र शक्तत्वात्, यो यदा यत् प्रेप्सुर्यत्र शक्तः स तदा तद्वान्, यथा चैत्रः। (७) ईश्वरः, सदा त्यक्तसमस्तदोषः, सदा तज्जिहासुत्वे सति तत्त्यागे शक्तत्वात्, यश्चैवं स तथा, यथा चैत्र इत्याद्यनुमानेषु धर्मिपदस्वपदयोर्यत्किञ्चिद्धर्मियत्किञ्चित्सम्बन्धिपरत्वे घटादिसमसत्ताककल्पितधर्मवत्त्वेन सिद्धसाधनम्,ब्रह्मपरत्वे साध्याप्रसिद्धिः, घटादिधर्मे

सत्यानन्दप्रबोधिका

ऐसा व्यवहार हो रहा है वहाँ पर स्वाश्रयवृत्तित्व सम्बन्ध से एक जाकर रूप में बैठ जाता है। जैसे स्व= एक, उसका आश्रय= घट, उसमें वृत्ति = रूप। अतः उक्त वृत्तित्व रूप में चला गया। इसी प्रकार से ब्रह्माकार वृत्ति में विद्यमान वृत्तित्व रूप प्रकार स्वाश्रयविषयत्व सम्बन्ध से ब्रह्म में रह जायेगा। जैसे स्व = वृत्तित्व, उसका आश्रय = वृत्ति, उसका विषय = ब्रह्म। अतः उक्त विषयत्व ब्रह्म में। अतः सिद्धसाधनदोष होगा। इसलिए साक्षात् सम्बन्ध को दिखलाने के लिए उक्त प्रकारवत्त्व साध्य को छोड़ कर उक्त विशेष्यत्व को साध्य बनाया गया है। जैसे ब्रह्म ज्ञान से अबाधित जो सत्यत्वादि प्रकार हैं। उन प्रकारों का साक्षात् सम्बन्ध से जो विशेष्य है। वह ब्रह्म है। अतः ब्रह्म सगुण है। पक्ष सन्दिग्ध होता ही है। अतः पक्ष में हेतु सन्दिग्धत्व रहेगा। इसी प्रकार ब्रह्म ही विचारणीय है। अतः विचार्यत्व हेतु भी पक्ष में रहेगा तथा विचारणीय निर्णेतव्य होता है। अतः पक्ष में निर्णेतव्यत्व हेतु रहने से पक्षधर्मता की सिद्धि हो जायेगी। इसी प्रकार से स्थाणुर्वा? पुरुषो वा? यहाँ सन्देह है। अतः सन्दिग्धत्व हेतु है। विचारणीय है। अतः विचार्यत्व हेतु है और निर्णय करना है। अतः निर्णेतव्यत्व हेतु है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—स्थाणु अपने ज्ञान के द्वारा अबाधित स्थाणुत्व प्रकार का विशेष्य है। अतः उक्त विशेष्यत्वरूपसाध्य दृष्टान्त में चला गया। यह पूर्वपक्षी का भाव है। (५) ब्रह्म वेदान्ततात्पर्यगोचरप्रकारवत्, वेदान्तविचारविषयत्वात्, यदेवं तदेवं यथा कर्मकाण्डविचारविषयो धर्मः। अर्थात् ब्रह्म वेदान्त के तात्पर्य विषयीभूत जो प्रकार तादृशप्रकार वाला है क्योंकि उसमें वेदान्तविचारविषयत्व है। जो यद् विचार विषयत्व वाला होता है वह तद्विचारगोचर प्रकार वाला होता है। जैसे कर्मकाण्ड का विचार विषय धर्म। इस अनुमान में सिद्धान्ती बाधित प्रकार को लेकर के सिद्धसाधनदोष नहीं दे सकते हैं, क्योंकि वेदान्त ही ऐसा प्रमाण है जिसके तात्पर्य का विषय सर्वथा अबाधित होता है। यहाँ पर पूर्वपक्षी का यह भाव है। (६) ईश्वरः सदावाप्तसमस्तकल्याणगुणः, सदा प्रेप्सुत्वे सति तत्र शक्तत्वात् यो यदा यत्प्रेप्सुः यत्र शक्तः स तदा तद्वान् यथा चैत्रः। अर्थात् ईश्वर सर्व काल में प्राप्त समस्त कल्याण गुणवाला है, क्योंकि सर्वकाल में उक्त गुणों की प्राप्ति की इच्छा वाला होता हुआ तत्र = उक्त विधगुणों की प्राप्ति में समर्थ है। जैसे जो जिस काल में यद् विषयक इच्छा वाला होता है और जिसमें समर्थ होता है। (अर्थात् उसको उत्पन्न करने में समर्थ होता है।) वह उस काल में तद्वान् होता है। जैसे चैत्र जिसकाल में धन विषयक इच्छा वाला होता है और धन को उत्पन्न करने में भी समर्थ होता है। वह चैत्र उस काल में धन वाला होता है। इस प्रकार दृष्टान्त में हेतु और साध्य का समन्वय हो गया। पक्ष में हेतु का समन्वय हो जायेगा, क्योंकि ईश्वर सत्य कामादि गुणों को प्राप्त करने का इच्छुक होता हुआ उन गुणों को अपने में उत्पन्न करने में सदा ही समर्थ है। (७) ईश्वरः सदात्यक्तसमस्तदोषः, सदा तज्जिहासुत्वे सति तत्त्यागे शक्तत्वात्, यश्चैवं स तथा यथा चैत्रः। अर्थात् ईश्वर सर्वदा समस्त दोषों से मुक्त है, क्योंकि सर्वदा समस्त दोषों को त्याग करने का इच्छुक होता हुआ समस्त दोषों को त्याग करने में समर्थ है। जो उक्त हेतुमान् है वह उक्त साध्यवान् है जैसे चैत्र। इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा कथित अनुमानों का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उक्त

ब्रह्मसमानसत्ताकत्वादेरप्रसिद्धेः।।४।।

न च दृष्टान्ते साध्यनिरूपणे तदेव धर्मी, पक्षे तन्निरूपणे ब्रह्मैव धर्मी, धर्मिपदस्वपदादीनां समभिव्याहृतपरत्वादिति—वाच्यम्; शब्दस्वभावोपन्यासस्यानुमानं प्रत्यप्रयोजकत्वात्। स्वरूपपदस्याप्येवमेव ब्रह्मपरत्वे साध्याप्रसिद्धिः, घटादिपरत्वे सिद्धसाधनम्। समभिव्याहृतपरत्वस्य शब्दस्वभावस्यानुमानं प्रति अप्रयोजकत्वमिति दूषणं पूर्ववत्। धर्मैर्विना नावतिष्ठत इत्यस्य ब्रह्म धर्मव्याप्तमित्यर्थः, तथा च सिद्धसाधनम्, यस्मिन्काले देशे वा ब्रह्म, तत्र धर्माः सन्त्येव। न हि कालो देशो वा धर्मरहितः; मायाचित्सम्बन्धस्य कालस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

अनुमानों में आये हुए धर्मी पद और स्व पद से यदि यत् किञ्चित् धर्मी अथवा यत् किञ्चित् सम्बन्धी का ग्रहण करने पर सिद्धसाधनदोष होगा। जैसे प्रथम अनुमान में धर्मी = घट, उसके समान सत्ता (व्यावहारिक सत्ता) वाला सर्वज्ञत्वादि कल्पित धर्म सिद्धान्त मत में भी माना जाता है। अतः सिद्धसाधनदोष होगा। यदि धर्मी और स्व पद से ब्रह्म लेंगे तब दृष्टान्त में साध्य नहीं जायेगा, क्योंकि ब्रह्म के समान सत्ता वाला कोई धर्म घट में नहीं रहता है। अतः साध्याप्रसिद्धि दोष होगा।।४।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उदाहरण वाक्य में दृष्टान्त ही धर्मी पद से अथवा स्व पद से लिया जायेगा और प्रतिज्ञा वाक्य में तथा निगमन वाक्य में ब्रह्म ही धर्मी पद से अथवा स्व पद से लिया जायेगा, क्योंकि धर्मी पद और स्व पद साथ में उच्चरित पदार्थों के ही बोधक होते हैं।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि सर्वनाम आदि शब्द वाक्य जन्य ज्ञान में समभिव्याहित पदार्थ के बोधक होते हैं किन्तु अनुमान में नहीं (कहने का भाव यह है पक्ष में साध्य जिस रूप से प्रतिज्ञात होता है उसी रूप से हेतु के प्रति साध्य का व्यापकत्व उदाहरण में प्रदर्शनीय होता है। इसीलिए ''पर्वतोऽरुणवह्निमान्, धूमात्, यो धूमवान् स शुक्ल वह्निमान्—इत्यादि वाक्य का अनुमान में उपयोग नहीं होता है। अर्थात् पर्वत में अरुण वह्नित्वेन प्रतिज्ञात वह्नि की महानसादि में शुक्लवह्नित्वेन व्याप्ति का प्रदर्शन अनुचित माना जाता है। अतः प्रतिज्ञा वाक्य में पक्ष रूप धर्मिपदार्थबोधकत्वेन साध्यबोधकता है और दृष्टान्त में दृष्टान्तरूपधर्मिपदार्थबोधकत्वेन साध्य बोधकता है—यह शब्द स्वभाव अनुमान में पर्यवसायी नहीं है। अतः सिद्धान्ती के द्वारा कथित साध्याप्रसिद्धि और सिद्धसाधनदोष उक्त अनुमानों में होगा—यह सिद्धान्ती के कथन का भाव है)। इसीप्रकार स्वरूप पद से घटित जो साध्य हैं। उनमें भी स्वरूप पद ब्रह्म परक होने पर दृष्टान्त में साध्याप्रसिद्धि दोष होगा और स्वरूप पद दृष्टान्त परक होने पर सिद्धसाधनदोष होगा। स्वरूप पद स्व समभिव्याहृत पद के अर्थ का बोधक मानकर पक्षपरक और दृष्टान्त परक मानकर साध्य समन्वय नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अनुमान के अवसर पर शब्द स्वभाव का उपन्यास करना अनुचित होता है—यह दूषण पूर्ववत् रहेगा ही। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा है कि ब्रह्म धर्मों के विना स्थित नहीं होता है। अर्थात् जिस देश या काल में ब्रह्म है वहाँ धर्म रहता है। अर्थात् यदा ब्रह्म तदा धर्मः। अथवा—यत्र ब्रह्म तत्र धर्मः। सिद्धान्ती का कथन है कि ऐसी व्याप्ति हम भी मानते हैं, क्योंकि सिद्धान्त मत में भी देश और काल दोनों ही बद्धावस्था (अविद्यावस्था) में ही रहता है। इसलिए काल्पनिक देश और काल में काल्पनिक धर्म रहते ही है। अतः जिस देश में या जिस काल में ब्रह्म है उस देश में और उस काल में धर्म है ही। अतः सिद्धसाधनदोष होगा। मोक्षावस्था में माया चित्सम्बन्ध रूप काल रहता नहीं है। अतः कालादि धर्मों की आपत्ति भी मोक्षावस्था में नहीं होगी। इसी प्रकार स्वज्ञानाबाध्य इत्यादि साध्य स्थल पर स्व से पक्ष लेने पर साध्याप्रसिद्धि और स्व पद से दृष्टान्त लेने पर सिद्धसाधनदोष पूर्ववत् होगा। अत एव = स्व के कारण

मुत्क्यसहवृत्तित्वात्। स्वज्ञानाबाध्य इत्यत्रापि पूर्ववत् स्वपदार्थविकल्पः। अत एव स्वारोपितव्यावर्तक– स्वज्ञानाबाध्यधर्मवदिति निरस्तम्; स्वज्ञानाबाध्यदुःखव्यावर्तकधर्मवदित्यत्रापि स्वपदार्थविकल्पः पूर्ववत्। दुःखव्यावर्तकधर्मवत्त्वेन सिद्धसाधनम्। वेदान्ततात्पर्यगोचरेत्यत्रावान्तरतात्पर्यमादाय सिद्धसाधनम्। मुख्यतस्तात्पर्योक्तौ च वेदान्तवाक्यमुख्यतात्पर्यविषयप्रकाराप्रसिद्ध्या साध्याप्रसिद्धिः। न च यत्तद्भ्यामनुगमय्य साध्यप्रसिद्धिः, तथा शब्दानुगमस्यानुमानं प्रत्यनुपयोगात्॥५॥

ईश्वरः सदावाप्तसमस्तकल्याणगुण इत्यत्र कालं व्याप्य आप्तगुणत्वस्यास्माभिरप्यङ्गीकारात्। न हि निर्धर्मकतायां सत्यां कालसम्बन्धोऽस्ति। किञ्च शुद्धस्य पक्षीकरणे हेत्वसिद्धिः, उपहितस्य पक्षीकरणे अर्थान्तरम्, स्वाभिन्नाप्तसमस्तकल्याणगुणत्वेन सधर्मकत्वायोगाच्च,सिद्धसाधनाच्च, कल्याणगुणानामानन्दादीनां

सत्यानन्दप्रबोधिका

आये हुए साध्याप्रसिद्धि–आदि दोषों के कारण ही ''स्वारोपितव्यावर्तकस्वज्ञानाबाध्यधर्मवत्'' इस साध्य का भी निराकरण हो जाता है। इसी प्रकार स्व पद का विकल्प कर के अर्थात् स्व पद से साध्य लेने पर अथवा स्व पद से दृष्टान्त लेने पर आये हुए दोषों से ही ''स्वज्ञानाबाध्यदुःखव्यावर्तकधर्मवत्'' इस साध्य का भी खण्डन हो गया। दुःखव्यावर्तकधर्मवत्त्वेन साध्य की विवक्षा करने पर सिद्धसाधन दोष होगा, क्योंकि पूर्वाचायों ने दुःख व्यावर्तक आनन्दत्वरूप धर्म को ब्रह्म में स्वीकार किया है और आनन्दत्वरूप धर्म ब्रह्म रूप होने के कारण स्वज्ञानाबाध्य भी होता है। ''वेदान्ततात्पर्यगोचरप्रकारवत्'' इस साध्य स्थल पर प्रश्न होता है कि वेदान्त तात्पर्य शब्द से क्या वेदान्त का अवान्तर तात्पर्य लेना है? अथवा परम तात्पर्य? अवान्तर तात्पर्य लेने पर सिद्धसाधनदोष होगा, क्योंकि अवान्तर तात्पर्य ब्रह्मगत आरोपित सत्यत्वादि धर्मों में होता ही है। परम तात्पर्य लेने पर साध्याप्रसिद्धि दोष होगा, क्योंकि वेदान्त का परम तात्पर्य विषयीभूत ब्रह्म ही होता है न कि कोई धर्मादि। पूर्वपक्षी का कथन है कि यत् तथा तत् इन दोनों से अनुगम कर साध्य की प्रसिद्धि हो जायेगी। यहाँ अनुगम का अर्थ है एक ही शब्द का दृष्टान्त में व्याप्ति समन्वय करते समय एक अर्थ लेते हैं और पक्ष में समन्वय करते समय दूसरा अर्थ लेते है। इसी को शब्दानुगम कहते हैं। यह प्राचीन आचार्यों का मत है। अतः ''यो यद्विचारविषयः स तत्तात्पर्यविषयीभूतप्रकारवान्'' इत्याकारिका सामान्यमुखी व्याप्ति ग्रहण करना सम्भव होने से साध्याप्रसिद्धि दोष निवृत्त हो जायेगा। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे है कि उक्त प्रकार से शब्दानुगम अनुमान के प्रति उपयोगी नहीं होता है। अर्थात् उक्त प्रकार से यत्त्व तथा तत्त्व इन दोनों का अनुगतत्त्व होने से व्याप्ति ग्रह सम्भव होने पर भी पक्ष में साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि साध्य की पक्ष में सिद्धि के लिए पक्ष से अतिरिक्त साध्य का भान आवश्यक होता है। यहाँ पर पक्ष से अतिरिक्त साध्य की प्रसिद्धि ही नहीं है। अतः साध्याप्रसिद्धि दोष होने से उक्त अनुमान दुष्ट है॥५॥

''ईश्वरः सदावाप्तसमस्तकल्याणगुणः'' इस अनुमान में भी सिद्धसाधनदोष है, क्योंकि यहाँ पर कालिक व्याप्ति (यदा ब्रह्म तदा धर्मः) मानने पर सिद्धान्ती को इष्टापत्ति है, क्योंकि जिस काल में ईश्वर है उस काल में आप्तसमस्तकल्याण गुण भी रहता है। मोक्षावस्था में ब्रह्म में मायाचित्सम्बन्ध रूप काल भी नहीं रहता है और गुणादि भी नहीं रहता है। पक्ष कोटि में प्रविष्ट ब्रह्म पद से शुद्ध ब्रह्म को ग्रहण करने पर पक्ष में हेतु नहीं जायेगा, क्योंकि सत्तादात्म्यप्रतियोगित्वाादि भी तद् उपहित ब्रह्म में ही रहते है न कि शुद्ध ब्रह्म में। ब्रह्म पद से उपहित ब्रह्म लेने पर अर्थान्तर दोष होगा, क्योंकि अनुपहित (शुद्ध ब्रह्म) के निर्गुणत्व में कोई अनुपपत्ति नहीं होगी और उपहित ब्रह्म में गुणादि की सिद्धि होने पर इष्टापत्ति है। दूसरी

नित्यत्वेन तत्प्रेप्सायास्तत्र सामर्थ्यस्य च त्वयापि वक्तुमशक्यत्वाच्च। अत एव प्रेप्सादिकं प्रज्ञानघनत्वादिति निरस्तम्। सदा त्यक्तसमस्तदोषत्वे साध्ये चरमवृत्तिपर्य्यन्तं तत्त्यागे सामर्थ्याभावेन हेत्वसिद्धेः। यदा तु तत्सामर्थ्यं तदा त्यक्तदोषत्वमिष्टमेव। प्रकारवत्त्वादौ साध्ये अप्रयोजकत्वमपि।।६।।

न च अधिष्ठानत्वसन्दिग्धत्वाद्यनुपपत्तिरेवानुकूलस्तर्कः; अधिष्ठानत्वे हि स्वारोपितव्यावर्तकवत्त्वं

सत्यानन्दप्रबोधिका

बात यह है कि ब्रह्म से अभिन्न आप्त समस्त कल्याण गुण वाला ब्रह्म है– ऐसा पूर्वपक्षी के अनुमान के द्वारा सिद्ध होने पर भी पूर्वपक्षी को अभीप्सित धर्म की सिद्धि नहीं हो पायेगी, क्योंकि उक्त गुण ब्रह्म से अभिन्न मानते ही धर्मी (ब्रह्म) स्वरूप हो जायेगा और ऐसा होते ही सिद्धसाधनदोष हो जायेगा, क्योंकि अखण्ड ब्रह्म सिद्धान्ती मानते ही है। इस अनुमान का हेतु पक्ष में जा नहीं सकता है, क्योंकि आनन्दादि कल्याण गुणो को ईश्वर में जब नित्य माना जाता है तब उनकी प्रेत्सा (प्राप्त करने की इच्छा) तज्जनन शक्तिमत्ता पूर्वपक्षी के द्वारा और सिद्धान्ती के द्वारा ईश्वर में नहीं मानी जा सकती है। क्योंकि प्रेप्सा सदैव अप्राप्त की और जनन शक्ति सदैव अनित्य वस्तु की होती है सदा प्राप्त और नित्य की नहीं। (त्वयापि वक्तुमशक्यत्वाच्च–यहाँ पर त्वया से पूर्वपक्षी और अपि से सिद्धान्ती का कथन किया गया है।) अत एव = पूर्वोक्त प्रकार से ईश्वर में प्रेत्सादि कहना शक्य न होने से पूर्वपक्षी का यह कथन भी निरस्त हो गया कि प्रेत्सादि ईश्वर में है, प्रज्ञानघनत्वात् = प्रेक्षावत्त्व होने से। अर्थात् जो प्रेक्षावान् (विचारवान्) होता है उसको भी नित्य प्राप्त वस्तु की इच्छा बन जाती है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जो वस्तु नित्य प्राप्त है उसको प्राप्त करने की इच्छा विचारवान् व्यक्ति कर ही नहीं सकता है। अन्तिम अनुमान के साध्य ''सदात्यक्तसमस्तदोषः'' का हेतु (सदा तज्जिहासुत्वे सति तत्त्यागे शक्तत्वात्) स्वरूपासिद्धि दोष से ग्रस्त है, क्योंकि जीव की चरमवृत्ति के द्वारा ही नष्ट होने वाली अविद्या और अविद्या कृत सम्बन्धादि दोषों का नाश होता है। इसको ईश्वर नहीं कर सकता है, क्योंकि अविद्यादि जीव का आवरक है। जिस काल में दोष त्याग की सामर्थ्य है, उस काल में व्यक्तदोषाभाव इष्ट ही है। अर्थात् जीव के तत्त्व धी काल में जब जीव के अविद्यादि दोषों के त्याग करने की सामर्थ्य ईश्वर में आयेगी, इस काल में जीव ईश्वर में अन्तर ही नहीं रहेगा। उस समय त्यक्तदोषत्वरूप साध्य सिद्धान्ती को भी अभीष्ट ही है। उक्त प्रकारवत्त्वाादि रूप साध्य की सिद्धि के लिए जो हेतु दिये गये है, उन हेतुओं में अप्रयोजकत्व (अनुकूलतर्काभाव) है। अतः वे हेतु स्वसाध्य की सिद्धि करने में समर्थ नहीं हैं।।६।।

शङ्काः– पूर्वपक्षी का कथन है कि अप्रयोजकत्व की शङ्का की निवृत्ति के लिए अनुकूल तर्क है। वह इस प्रकार से है–ब्रह्म यदि स्वारोपितव्यार्तकस्वज्ञानाबाध्यप्रकारवत् न स्यात् तर्हि अधिष्ठानं सन्दिग्धं च न स्यात्। अर्थात् कोई वस्तु अधिष्ठान या सन्दिग्ध तभी हो सकती है जब उस वस्तु में दो धर्म रहते हों। जिनमें से एक धर्म इस वस्तु में आरोपित हो (अर्थात् स्व ज्ञान से बाध्य (मिथ्या) हो) और दूसरा धर्म प्रथम धर्म का व्यावर्तक हो। (जैसे शुक्ति में रजतत्व और शुक्तित्व) तथा स्व ज्ञान से अबाध्य प्रकारवाला हो तभी अधिष्ठान बनता है। (अन्यथा अधिष्ठान नहीं बन सकता है।)

समाधान :– पूर्वपक्षी के द्वारा जो अधिष्ठान का प्रयोजक कहा गया है, उसमें स्वज्ञानाबाध्यप्रकारवत्त्व की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसके विना भी अधिष्ठानत्व की उपपत्ति हो जाती है। अतः अधिष्ठानत्व में कल्पिताकल्पितसाधारण स्वारोपितव्यावर्तकवत्त्वं ही प्रयोजक है। अर्थात् अधिष्ठान बनने के लिये दो परस्पर विरोधी धर्म रहना चाहिये। उन दोनों में से एक (प्रथम) धर्म ही आरोपित होना ही चाहिये और दूसरा

तन्त्रं कल्पिताकल्पितसाधारणमित्युक्तत्वात्, स्वज्ञानाबाध्यत्वविशिष्टधर्मं विना तस्यानुपपत्त्यभावात्। सन्दिग्धत्वमपि व्यावर्तकेन कल्पितेनाकल्पितेन वा रूपेणानिश्चिततयैवोपपद्यत इति तस्यापि नानिश्चितसाध्यधर्मं विनानुपपत्तिः। एवं दुःखानात्मकत्वं दुःखव्यावर्तकस्वरूपतयैवोपपन्नं कदाचिद्वक्तव्यम्; अन्यथा अनवस्थानापत्तेः। न हि व्यावर्तकधर्मोऽपि केवलान्वयी, येन स्ववृत्तिः स्यात्। तथा च तदपि व्यावर्तकधर्मं विनाप्युपपन्नं न तत्साधनायालम्। अनवस्थाभिया क्वचिद्धर्मे विश्रान्तौ पदार्थत्वमपि व्यभिचार्येव। न च स्वस्यैव स्ववृत्तित्वान्न

सत्यानन्दप्रबोधिका

धर्म आरोपित या अनारोपित दोनों ही हो सकता है। जैसे स्वारोपितव्यावर्तकवत्त्वं अधिष्ठानत्वम्। स्व = रज्जु, उसमें आरोपित मालात्व सर्पत्व है। स्व = रज्जु, उसमें आरोपित सर्पत्व का व्यावर्तक धर्म मालात्व तद्वान् रज्जु अधिष्ठान है। इसी प्रकार रज्जु में संदिग्धत्व (संदेह) भी दो प्रकार से हो सकता है। प्रथम —यह सर्प है अथवा रज्जु है। द्वितीय—यह सर्प है या माला है। यहां प्रथम में सर्पत्व और रज्जुत्व धर्म का संदेह हुआ और द्वितीय में सर्पत्व और मालात्व का संदेह हुआ। इनमें से प्रथम धर्म सर्पत्व आरोपित है। इसमें पूर्वपक्षी और सिद्धान्ती में विवाद नहीं है, किन्तु द्वितीय धर्म पूर्वपक्षी के अनुसार अकल्पित (सत्य) होना चाहिये और सिद्धान्ती के अनुसार द्वितीय धर्म अकल्पित (रज्जुत्व) या कल्पित (मालात्व) हो सकता है। अतः द्वितीय धर्म जो कि पहले धर्म (सर्पत्व) का व्यावर्तक धर्म है। वह कल्पित—अकल्पित रूप से निश्चित होने पर भी संदेह हो जायेगा। अतः सन्दिग्धत्व की भी अनिश्चित सत्य धर्म के विना अनुपपत्ति नहीं होगी। अर्थात् व्यावर्तक जो धर्म है, उसके अनिश्चित सत्य धर्म के विना भी सन्दिग्धत्व की उपपत्ति हो जायेगी। अतः पूर्वपक्षी के अनुकूल तर्क का खण्डन हो गया। मूलस्थ ''नानिश्चितसाध्यधर्मम्'' के स्थान पर ''नानिश्चितसत्यधर्मम्'' ऐसा पाठान्तर है। इसी प्रकार तृतीय अनुमान का हेतु दुःखानात्मकत्व को लेकर यह जो व्याप्ति होगी कि जहां—जहां हेतु है वहां—वहां साध्य है। ऐसी व्याप्ति को समन्वय करते समय दुःखानात्मकत्व भी दुःखव्यावर्तकस्वरूपत्वेन स्वीकार करना उचित होगा न कि दुःखव्यावर्तकधर्मवत्त्वेन, क्योंकि जब साध्य को ब्रह्म में समन्वय कर रहे हैं तब दुःखव्यावर्तकसत्यधर्म =सुख। तद्वत् = ब्रह्म। किन्तु उक्त सुख रूप धर्म में भी हेतु है। अतः उस सुख में पुनः साध्य का समन्वय करने के लिये दुःख का व्यावर्तक सत्य धर्म मानना पड़ेगा। जो व्यावर्तक धर्म मानेंगे, उसमें भी हेतु रहेगा। अतः उक्त व्यावर्तक धर्म में भी पुनः व्यावर्तक धर्म मानना पड़ेगा। इस प्रकार से अनवस्था होगी। इस अनवस्था से बचने के लिये पूर्वपक्षी को यह मानना पड़ेगा कि जो दुःखानात्मक होगा वह दुःखव्यावर्तक स्वरूप होगा, न कि दुःखव्यावर्तक धर्मवाला। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि दुख का व्यावर्तक धर्म जो सत्यसुख माना है, उसमें हेतु तो जायेगा, किन्तु साध्य भी जायेगा और अनवस्था भी नहीं होगी, क्योंकि दुख का व्यावर्तक धर्म = सत्य सुख है। उक्त सुख में उक्त सुख रहेगा। जैसे प्रमेयत्वादि केवलान्वयी स्व में रहते हैं। अतः अनवस्था नहीं होगी। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी स्वयं ही सुख को केवलान्वयी नहीं मानता है, जिससे स्व की स्ववृत्तिता मानी जा सके। अतः दुःखानात्मकत्व हेतु व्यावर्तक धर्म के विना भी उत्पन्न होने के कारण उक्त व्यावर्तक धर्म रूप साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। इसी प्रकार प्रथम अनुमान के हेतु पदार्थत्व में भी दोष होगा क्योंकि जहां हेतु है वहां साध्य है। इसका समन्वय जब ब्रह्म में करेंगे तब ब्रह्म के समान सत्ताक धर्म = सुख। तद् वत् = ब्रह्म। किन्तु धर्मिसत्तासमानसत्ताकधर्म= सुख में हेतु पदार्थत्व रहेगा। उसमें पुनः साध्य समन्वय करते समय पुनः धर्मान्तर मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर अनवस्था होगी। यदि अनवस्था के भय से धर्मान्तर नहीं मानेंगे तब उसमें हेतु रहेगा किन्तु साध्य के न रहने से

व्यभिचारः, आत्माश्रयात्। न चैवं दृश्यत्वस्यापि स्वस्मिन्नवृत्त्या भागासिद्धिः, स्ववृत्तित्वाभावेऽपि स्वनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य तत्रासिद्धताप्रयोजकस्याभावात्। तस्मान्नानुमानं ब्रह्मसमसत्ताकधर्मे प्रमाणम्।।७।।

किञ्च श्रुतिः अपरब्रह्मविषया; निर्धर्मकश्रुतिविरोधेन विषयभेदस्यावश्यकत्वात्। न च सगुणातिरिक्तस्य परब्रह्मणोऽद्याप्यसिद्धिः; त्वत्पक्षे तात्त्विकगुणवद्व्यक्त्यन्तरस्याभावात्, किंविषयत्वञ्च सगुणश्रुतेरिति वाच्यम्; तात्त्विकत्वपर्य्यन्तस्य सगुणश्रुत्या अविषयीकरणात्, निर्धर्मकत्वश्रुत्या शुद्धब्रह्मसिद्धेश्च। तदुक्तमन्तरधिकरणे कल्पतरुकृद्भिः—

'निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः। ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः।।
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्। तदेवाविर्भवेत् साक्षात् अपेतोपाधिकल्पनम्।।' इति।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्यभिचारदोष होगा। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त धर्म को अपने में मानने पर अनवस्था नहीं होगी। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि स्व में स्व मानने पर आत्माश्रय दोष होगा। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि पक्षकोटि में प्रविष्ट दृश्यत्व में भी मिथ्यात्व साध्य विवक्षित है किन्तु दृश्यत्व में दृश्यत्वत्वादि मानने पर अनवस्था और दृश्यत्व को स्व में न मानने पर भागासिद्धि दोष होगा। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दृश्यत्व जो कि पक्ष (प्रपञ्च) का एक भाग है, उसमें दृश्यत्व के न रहने पर भी दृश्यत्व का अत्यन्ताभाव भी नहीं रहता है, क्योंकि सिद्धान्त मतानुसार एक मात्र ब्रह्म में ही दृश्यत्व का अत्यन्ताभाव रहता है। अतः पक्ष में हेतु का अभाव न होने से भागासिद्धि दोष नहीं होगा, क्योंकि भागासिद्धि दोष वहाँ होता है, जहाँ स्व = पक्ष निष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी हेतु होता है। इसलिए पूर्वपक्षी के द्वारा कथित अनुमान शुद्ध ब्रह्म के समान सत्ता वाले धर्मों की सिद्धि में प्रमाण नहीं हैं अपितु प्रमाणाभास है।। ७।।

किञ्च सगुण प्रतिपादिका श्रुति शुद्ध ब्रह्म से अन्य अपर ब्रह्म (सगुण ब्रह्म) को विषय करती है। निर्धर्मक ब्रह्म बोधक श्रुति के साथ सुगण ब्रह्म प्रतिपादिका श्रुतिका विरोध है, क्योंकि तद्वत्ता बुद्धि के प्रति तदभाववत्ता बुद्धि प्रतिबन्धक होती है। अतः दोनों श्रुतियों के विषयों में भेद अवश्य मानना होगा। इसलिए निर्गुणविषयक श्रुति तत्परक होने के कारण पारमार्थिक प्रामाण्य वाली मानी जाती है और सगुणविषयक श्रुति निर्गुण श्रुति का शेष होने के कारण व्यावहारिक प्रामाण्य वाली है। इस प्रकार से स्वीकार किया जाता है। अतः सगुण बोधक श्रुति वाक्यों से अखण्डार्थ बोधक वाक्यों का कोई विरोध नहीं है— यह सिद्धान्ती का भाव है।

शङ्का :— पूर्वपक्षी का कथन है कि सगुण ब्रह्म से अतिरिक्त निर्गुण ब्रह्म की सिद्धि अभी तक तो हो नहीं पायी है और सिद्धान्तमत में तात्त्विक गुण वाला सगुण ब्रह्म माना नहीं जाता है। अतः सगुणश्रुतिका विषय क्या होगा? अर्थात् सगुण श्रुति को सविषयिका बनाने के लिए तात्त्विक गुणयुक्त सगुण ब्रह्म सिद्धान्ती को मानना चाहिए।

समाधान :— सिद्धान्ती का कथन है कि सगुण श्रुति केवल ब्रह्म गुण वाला है। यही बतलाती है न कि ब्रह्म तात्त्विक गुणवाला है। अतः सगुण श्रुति व्यावहारिक प्रामाण्य वाली स्वीकार करना ही उचित है। अतः तत्परक होने के कारण निर्धर्मक श्रुति का विषयान्तर असम्भव होने से निर्धर्मक श्रुति के द्वारा शुद्ध ब्रह्म की ही सिद्धि होती है। ब्रह्मसूत्र के अन्तरधिकरण में कल्पतरुकार ने निर्गुण श्रुति की शेष सगुण श्रुति है — इसको स्पष्ट करते हुए कहा है —

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्त्तुमनीश्वराः। ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः।।
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्। तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्।।

अत एव स्मृतिसूत्राभ्यां न विरोधः। न च सगुणे 'परःपराणाम्'इत्यादि स्मृत्या परादपि परत्वं स्मर्यते, तथा च कथं सगुणवाक्यानामपरब्रह्मविषयत्वमिति वाच्यम्। जडापेक्षया परः किञ्चिज्ज्ञः तदपेक्षया सर्वज्ञस्य शुद्धापेक्षयाऽपरस्यापि परत्वात्।।८।।

न च 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदसद्वा इदमग्र आसीदिति' श्रुती अपि परापरब्रह्मविषये स्यातामिति वाच्यम्ः अत्रेदमिति प्रपञ्चस्य प्रकृतत्वेन ब्रह्मपरत्वस्य वक्तुमशक्यतया प्रपञ्चस्यैव पूर्वं कारणात्मना सत्त्वं

सत्यानन्दप्रबोधिका

निर्विशेष बह्म को साक्षात्कार करने में जो जिज्ञासु असमर्थ हैं, ऐसे मन्द जिज्ञासुओं पर अनुकम्पा करने के लिये श्रुति के द्वारा सगुण ब्रह्म का निरूपण किया गया है। सगुण ब्रह्म के परिशीलन (व्यवधान रहित सत्कारपूर्वक बहुकालपर्यन्त सजातीय प्रत्ययों के प्रवाह रूप शीलन) से वशीकृत मन में वह सगुण ब्रह्म ही उपाधि कल्पना से रहित हुआ स्वाभिन्नत्वेन अपरोक्ष होता है। अतः एव = पूर्वोक्त प्रकार से सगुण श्रुतियों और निर्गुण श्रुतियों की व्यवस्था की उपपत्ति हो जाने से, पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित खण्ड संख्या—१ की स्मृति से अखण्डार्थत्व का विरोध नहीं होता है और पूर्वपक्षी के द्वारा सगुण परक बतलाने वाले ब्रह्मसूत्र के ''अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्'' (ब्र०सू० १—१—२०) से भी अखडार्थत्व का विरोध नहीं होता है।

शङ्का :— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''परों से भी पर है'' इत्यादि स्मृतियों के द्वारा सगुण ब्रह्म को परब्रह्म से भी पर कहा गया है। अतः सगुण बोधक श्रुति वाक्यों को अपर ब्रह्म विषयक नहीं माना जा सकता है।

समाधान :— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यहां पर जड़ की अपेक्षा से पर किञ्चिज्ज्ञ (जीव) है। यह जीव ही उक्त स्मृति में प्रथम ''पर'' पद से लिया गया है। द्वितीय ''पर'' पद से सगुण ब्रह्म लिया गया है। अतः उपासनीय सगुण ब्रह्म शुद्ध ब्रह्म की अपेक्षा अपर होते हुये भी बद्ध जीव की अपेक्षा उसमें परत्व माना ही जा सकता है। अतः उक्त स्मृति से विरोध नहीं है।।८।।

शङ्का :— पीछे सिद्धान्ती ने कहा था कि सगुणत्व साधक श्रुति अपर ब्रह्म को विषय करती है और निर्गुणत्व साधक श्रुति परब्रह्म को विषय करती है। इस प्रकार से व्यवस्था है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि ऐसा मानने पर ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'' (छा०उ०६—२—१) इस श्रुति को परब्रह्म विषयक मानना चाहिये और ''असद्वा इदमग्र आसीत्'' (तै०उ०२—७) अथवा ''असदेवेदमग्र आसीत्'' (छा०उ० ६—२—१) इन श्रुतियों को अपर ब्रह्म विषयक मानना चाहिये।

समाधान :— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त स्थल पर परापर ब्रह्म विषयक चर्चा नहीं है अपितु उपरोक्त श्रुतियों में जो इदम् पद आया है। उस इदम् पद से प्रपञ्च का ग्रहण किया गया है। वहीं प्रकृत है। अतः सदेव श्रुति के द्वारा प्रथमतः यह कहा जा रहा है कि सृष्टि से पहले प्रपञ्च कारण रूपेण विद्यमान था और असद्वा श्रुति के द्वारा यह कहा जा रहा है कि सृष्टि से पहले प्रपञ्च कार्यरूपेण (अभिव्यक्त नाम रूपात्मक रूपेण) विद्यमान नहीं था। इसी प्रकार ''अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति''। षोडशि पात्र के ग्रहण और अग्रहण बोधक इस वाक्य को भी पर और अपर याग विषयक नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जैसे ''ऐन्द्रवायवं गृह्णाति'' (तै०सं० ४—५—४) यह वाक्य द्रव्य (इन्द्र वायुदेवताक सोमरस) तथा देवता के सम्बन्ध का बोधक होने के कारण याग विषयक माना जाता है। ठीक वैसे ही ''अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'' यह वाक्य भी द्रव्य और देवता के सम्बन्ध का बोधक होता हुआ याग विषयक हो सकता है, किन्तु ''नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'' यह वाक्य षोडशिपात्र के ग्रहणाभाव मात्र का बोधन होने

कार्यात्मना असत्त्वं विषयीकुरुतः। नापि ग्रहणाग्रहणवाक्ये अपि परापरयागविषये; 'ऐन्द्रवायवं ग्रहं गृह्णाति' इत्यादिवत् षोडशिग्रहणवाक्यस्य यागपरत्वेऽपि अग्रहणवाक्यस्य तदभावबोधकतया यागविषयत्वाभावात्। ननु—एवम्'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्'इति श्रुतिरपि नासत्त्वसिद्धार्था, किन्तु शून्यता—पत्तिरूपपरममोक्षपरेति स्यादिति चेन्न; शून्यताया अपुरुषार्थत्वात्, आनन्दावाप्तिरूपमुक्तिप्रतिपादकविरोधाच्च।।९।।

यद्वा—इदानीं सगुणं दशान्तरे निर्गुणमिति वाक्याविरोधः। न च एतावता अनित्यत्वमात्रं गुणानां न त्वदभिमतमिथ्यात्वसिद्धिरिति—वाच्यम्; त्वदभिमततात्त्विकत्वस्याप्यसिद्धेः। उपायान्तरानुसरणञ्च समानम्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

के कारण यागविषयक नहीं हो सकता है। अतः यहां पर परापर याग विषयक प्रसङ्ग का उत्थापन नहीं किया जा सकता है।

शङ्का :—पूर्वपक्षी का कथन है कि निर्गुण श्रुति से विरोध के कारण सगुण श्रुति का स्वार्थ परक अर्थ नहीं लिया जाता है। तब ''असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्'' (तै०उ० २—६—१) इस श्रुति का जो अर्थ नास्तिक की निन्दा है—ऐसा भाष्य में किया गया है —''अथवा यो नास्ति ब्रह्मेति मन्यते स सर्वस्यैव सन्मार्गस्य वर्गाश्रमादिव्यवस्थालक्षणस्याश्रद्दधानतया नास्तित्वं प्रतिपद्यते ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वात् तस्य। अतो नास्तिकः सोऽसन्नसाधुरुच्यते लोके।'' इस प्रकार के अर्थ की सिद्धि नहीं हो पायेगी क्योंकि इस असद्श्रुति की विरोधी श्रुति ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'' (छा० ६—२—१) विद्यमान है। अतः असद् श्रुति के उक्त स्वार्थ (नास्तिक की निन्दा रूप अर्थ) का त्याग करके यह अर्थ करना होगा कि असद्श्रुति के द्वारा माध्यमिक सम्मत शून्यता प्राप्ति रूप परम मोक्ष कहा जा रहा है। बौद्ध मतानुयायी नागार्जुनादि शून्यता प्राप्ति को ही मोक्ष मानते हैं— सर्वोपलम्भोपशमः प्रपञ्चोपशमः शिवः।

समाधान :— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि मन के उपशम रूप शून्यता को पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता है क्योंकि मन का उपशमादि सुषुप्ति आदि में स्वभावतः सिद्ध है। दूसरी बात यह है कि शून्यता प्राप्ति रूप मोक्ष में पूर्वपक्षी भी इष्टापत्ति नहीं दे सकते हैं। ''तुष्यतु दुर्जनः'' न्याय से उक्त श्रुति का तात्पर्य यदि शून्यता प्राप्ति रूप मोक्ष में माना जाय तब ''आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षे प्रतिष्ठितम्'' इत्यादि श्रुतियों से विरोध होगा।।९।।

यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार से सगुणार्थक और निगुर्णार्थक श्रुतियों की व्यवस्था सूपपन्न है तथापि सुगमतापूर्वक उक्त श्रुतियों का विरोध इस प्रकार से भी दूर किया जा सकता है कि इदानीम् =अविद्या अवस्था में ब्रह्म सगुण है और दशान्तरे = मोक्षावस्था में ब्रह्म निर्गुण है।

शङ्का :— अविद्यावस्था में गुण है और मोक्षावस्था में गुण नहीं है—ऐसा स्वीकार करने पर गुण अनित्य है, केवल इतना ही सिद्ध होता है, परन्तु गुण मिथ्या है। यह अर्थ तो सिद्ध नहीं होता है जो कि सिद्धान्ती को अभिमत है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के कथन के अनुसार सिद्धान्ती सम्मत मिथ्यात्व की सिद्धि गुणों में नहीं हो रही है, इससे पूर्वपक्षी खुशी नहीं मना सकता है क्योंकि उक्त प्रकार से गुणों में तात्विकत्व की भी सिद्धि नहीं हो पा रही है, जो कि पूर्वपक्षी को अभीष्ट है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि हम गुणों के तात्विकत्व की सिद्धि के लिए अन्य उपाय का अनुसरण करेंगे। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि हम भी उपायान्तर से गुणों में मिथ्यात्व सिद्धि कर देंगे। उपायान्तर का निरूपण ''न च ज्ञानं नित्यं क्रिया नित्या बलं नित्यं परात्मनः .... से होगा।

यत्तु ब्रह्मेदानीं सत् दशान्तरे त्वसत् इत्यप्यापद्येत इति, तन्न; दशान्तरे निर्गुणत्ववद् असत्त्वस्याबोधनेनाप्रसङ्गात् न च—'ज्ञानं नित्यं क्रिया नित्या बलं नित्यं परात्मन:'। 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य'इत्यादिश्रुत्या ब्रह्मज्ञानादीनां नित्यत्वप्रतिपादनात् सगुणत्वमिति—वाच्यम्; ज्ञानादीनां स्वरूपतया गुणत्वासिद्धे:। स्वरूपातिरिक्तानान्तु चरमसाक्षात्कारपर्यन्तस्थायितया नित्यत्वोपचारात्, 'अपाम सोमममृता अभूम'इत्यादौ अमृतशब्दस्याऽऽभूतसम्प्लवस्थानममृतत्वं हि भाष्यत इति पौराणिकोक्तामृतत्ववत्। अत एव—'एष नित्यो

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का :— पूर्वपक्षी का कथन है कि सगुणार्थक और निगुणार्थक वाक्यों का समन्वय सिद्धान्ती अवस्था विशेष को लेकर कर रहे हैं। तब तो ''सदेव साम्येदमग्र आसीत्'' (छा०उ० ६—२—१) और ''असद्वा इदमग्र आसीत्'' इन श्रुति वाक्यों के अनुसार भी सिद्धान्ती को यह कहना चाहिये कि ब्रह्म अविद्यावस्था में सत् है और मोक्षावस्था में असत् है।

समाधान :— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि मोक्षावस्था में ''साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'' (श्वे०उ० ६—११) इस श्रुति के द्वारा ब्रह्म निर्गुण है। इसका बोधन जैसे होता है वैसे मोक्षावस्था में ब्रह्म असत् है— इसका बोधन नहीं होता है। अत: दशान्तर में ब्रह्म के असत्त्व होने का प्रंसङ्ग नहीं आयेगा। यदि कहा जाय कि ''तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्'' (छा०उ० ६—२—१) इस श्रुति वाक्य के द्वारा दशान्तर में ब्रह्म के असत्त्व का कथन होने से उक्त आपत्ति होगी। इसका समाधान यह है कि उक्त असद् वाक्य के द्वारा ब्रह्म के असत्त्व का प्रतिपादन नहीं किया गया है, क्योंकि असद्वाक्य के आगे का वाक्य ''कथमसत: सज्जायेत'' के द्वारा असत् का खण्डन किया गया है। फलत: यह सिद्ध हुआ कि ''कथमसत: सज्जायेत'' के द्वारा जो निषेध्य असत् है। उसका अनुवाद मात्र उक्त असद् वाक्य के द्वारा किया गया है।

शङ्का :— पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्रह्म के स्वरूप से अतिरिक्त ज्ञानादि को नित्य कहा गया है जैसे— ''ज्ञानं नित्यं क्रिया नित्या बलं नित्यं परात्मन:'' इस श्रुति के द्वारा कहा गया कि ब्रह्म का ज्ञान नित्य है, ब्रह्मगत क्रिया (कृति अर्थात् जगत् धारणानुकूल प्रयत्न) नित्य है। ब्रह्म का बल (विचित्र कार्यानुकूल शक्ति) नित्य है। इसी प्रकार ''एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य'' (बृ०उ० ४—४—२३) इस श्रुति के द्वारा ब्रह्म की महिमा नित्य कही गयी है। इसलिये ब्रह्म को सगुण मानना चाहिए।

समाधान :— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानादि ब्रह्म स्वरूप है। अत: ज्ञानादि में गुणत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। स्वरूपभूत ज्ञानादि से अतिरिक्त मायावृत्त्यात्मक ज्ञानादि चरम साक्षात्कार पर्यन्त रहते हैं। अर्थात् अधिक काल तक रहते हैं। अत: मायावृत्त्यात्मक ज्ञानादि में गौणरूप से नित्यत्व कह दिया गया है। जैसे— ''हम लोगों ने सोम को पिया और अमृत हुए।'' यहां अमृत शब्द से पुराणकार ने कहा है कि ''आभूतसम्प्लवं स्थानममृतत्त्वं हि भाष्यते।'' अर्थात् भूतों के प्रलय पर्यन्त अवस्थान को अमृतत्व कहा गया है। अर्थात् भूतों के प्रलय पर्यन्त स्थायी देव शरीरादि में नित्यता या अमरता का व्यवहार किया जाता है। अत: ब्रह्म में ज्ञानादि गुण की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतएव = स्वरूपभूत ज्ञानादि से अतिरिक्त जो गुण है वे गौण रूप से नित्य होने के कारण, पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ''एष नित्यो महिमा'' यह जो तैत्तिरीय शाखा में आया हुआ वाक्य है। इस वाक्य के द्वारा ब्रह्मगत नित्य गुण कहा गया है — इसका खण्डन हो गया। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् ४—४—२३ में आया हुआ ''एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य'' यह वाक्य भी ब्रह्मगत गुण का बोधक नहीं है, क्योंकि जिन सभी उपाधियों का ''स एष नेति नेति'' (बृ.उ. ४—४—२२) इस पूर्ववाक्य के द्वारा निषेध किया गया है जिसमें ऐसा जो महिमा पद बोध्य

महिमा'इत्यादिवाक्यस्य तैत्तिरीयशाखागतस्य नित्यगुणपरत्वमिति—निरस्तम्; बृहदारण्यकगतस्य तु 'स एष नेति नेति'इति वाक्यप्रतिषिद्धसर्वौपाधिकरूपस्य महिम्नः त्यक्तसर्वेषणपुरुषगतस्य प्रतिपादनेन ब्रह्मगतगुणपरत्वाभावात्। न च—'सर्वस्य वशी'इत्यादौ ब्रह्मणः प्रकृतत्वेन तद्गतगुणपरत्वमिति शङ्क्यम्, 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' इत्यादिवाक्योक्तजीवस्वरूपानुवादेन ब्रह्मस्वरूपताबोधनपरत्वेन ब्रह्मगतगुणपरत्वाभावात्। ब्राह्मणपदस्य 'तदधीते तद्वेद'इतिसूत्रविहिताणन्तस्य ब्रह्मवित्प्रतिपादकतया ब्रह्मपरत्वे लक्षणापत्तेश्च।१०।।

किञ्च सगुणवाक्यानामौपाधिकगुणविषयत्वेन स्वाभाविकनिर्धर्मकत्वश्रुतेर्न विरोधः। न चौपाधिकत्वस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

शुद्ध आत्मा, जो कि सभी एषणाओं से रहित पुरुष में अभिव्यक्त होता है। तादृश आत्मा का प्रतिपादन उक्त वाक्य के द्वारा किया गया है न कि ब्रह्मगत गुण का बोधन किया गया है।

शङ्का :— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः। स न साधुना कर्मणा भूयान्नो असाधुना कनीयान्। एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः एष भूतपालः''। (बृ. उ. ४—४—२२) (वह सबको वश में रखने वाला, सबका शासन करने वाला और सबका अधिपति (अधिष्ठाता) है। वह शुभ कर्म से वृद्धि को प्राप्त नहीं होता और अशुभ कर्म से लघुता को प्राप्त नहीं होता है। यह सर्वेश्वर है। यह भूतों का अधिपति और भूतो का पालन करने वाला है।) इस प्रकार इस वाक्य के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। अतः ब्रह्म के प्रकरण में स्थित इस वाक्य के द्वारा ब्रह्म गत गुणों की सिद्धि हो जायेगी। इसको ब्रह्म का प्रकरण क्यों माना जाय? इसका उत्तर यह है कि बृ. ४—४—२२ के पश्चात्— बृ. उ ४—४—२३ के प्रारम्भ में कहा गया— ''तदेतदृचाभ्युक्तं एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य'' इस वाक्य के ''ब्राह्मण'' पद से ब्रह्म कहा गया है। अतः इसको ब्रह्म का प्रकरण मानना चाहिए।

समाधान :— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी को बृ.उ. ४—४—२२ के वाक्य ''स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽर्न्तहृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते।''(वह यह महान अजन्मा आत्मा जो कि यह प्राणों में विज्ञानमय है और जो हृदय में आकाश है, उसमें शयन करता है।) पर ध्यान देना चाहिए। इस वाक्य के द्वारा स्पष्ट रूप से जो जीव कहा गया है। उसी जीव के स्वरूप का अनुवाद कर के जीव की ब्रह्मस्वरूपता का बोधन ''सर्वस्य वशी'' इत्यादि के द्वारा किया जा रहा है। अतः इस वाक्य को ब्रह्म गत गुण बोधन नहीं माना जा सकता है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि बृ.उ.४—४—२३ में प्रारम्भ में ''ब्राह्मणस्य'' पद से ब्रह्म कहा गया। अतः इसको ब्रह्म का प्रकरण मानना चाहिए—ऐसा कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि ''एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य'' (बृ.उ. ४—४—२३) यहाँ पर '''ब्राह्मण'' पद में ''तदधीते तद्वेद वा'' (अ.सू.४—२—५९) इस सूत्र से जो ब्रह्म को जानता है—इस अर्थ में अण् प्रत्यय हुआ है। अतः ''ब्राह्मणः'' पद से ब्रह्मवेत्ता जीव कहा गया है। अतः इसको ब्रह्म का प्रकरण नहीं माना जा सकता है। यदि ''ब्राह्मणः'' पद से ब्रह्म अर्थ किया जाता है तब यह अर्थ लक्षणा वृत्ति से ही निकलेगा। किन्तु वह उचित नहीं होगा, क्योंकि मुख्य वृत्ति के सम्भव होने पर लक्षणा वृत्ति उचित नहीं मानी जाती है।। १०।।

किञ्च सगुण बोधक श्रुतिवाक्य ईश्वर की उपाधि माया में स्थित जो सत्य कामत्वादि गुण है, उन गुणों का ही प्रतिपादन करते हैं। अतः स्वाभाविक निर्गुणत्व बोधक श्रुतियों से उनका कोई विरोध ही नहीं होता है।

शङ्का— ईश्वर गत गुण सौपाधिक है— इसका अर्थ यदि यह किया जाय कि ईश्वरीय गुण सोपाधिक

सोपाधिकाध्यस्तरूपत्वे श्रुत्यप्रामाण्यापत्तिः, वक्ष्यमाणसत्यत्वश्रुतिविरोधः, उपाधिकल्पितरूपत्वे तूक्तनित्यत्वश्रुतिविरोधः, अन्तःकरणादिरूपोपाधिसृष्टेः प्रागेव ईक्षितृत्वादिश्रुतेरुपाध्यसम्भवश्चेति—वाच्यम्; मायाविदर्शितमायानुवादिवाक्यवत् स्वतो भ्रमजनकत्वाभावेनाप्रामाण्यानापत्तेः, सत्यत्वश्रुतेरन्यथा नेष्यमाणत्वात्, नित्यत्वश्रुतेरन्यथार्थस्योक्तेः, सृष्टेः पूर्वमन्तःकरणाभावेऽपि अविद्याया उपाधेः सत्त्वाच्च। न चौपाधिकत्वे 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' इत्यनेन विरोधः, अस्मदादाविव भौतिकोपाधिकत्वाभावेन योगिष्विव योगार्जितत्वाभावेन स्वाभाविकत्वोक्तेः। न च सङ्कोचकाभावः, निर्गुणवाक्यस्यैव सङ्कोचकत्वात्। न च—स्वाभाविकज्ञानसमभिव्याहारविरोधः, सार्वज्ञ्यादिरूपाविद्यापरिणतस्यैव ज्ञानपदेन विवक्षितत्वाद्बाधक—

सत्यानन्दप्रबोधिका

ईश्वर में अध्यस्त है तब तो सोपाधिक ईश्वर भी मिथ्या और उसमें अध्यस्त गुण भी मिथ्या है तब मिथ्यार्थ प्रतिपादकत्वेन गुणबोधक श्रुति वाक्यों में अप्रामाण्य की आपत्ति आयेगी और ''सत्यः सोऽस्य महिमा'' इस वक्ष्यमाण सत्यत्व बोधक श्रुति से विरोध होगा। उपाधि से जनित गुणों को मानकर गुणों को कल्पित मानने पर पूर्व में कथित''ज्ञानं नित्यं क्रिया नित्या बलं नित्यं परात्मनः'' एवं ''एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य'' इत्यादि गुण गत नित्यत्व प्रतिपादक श्रुतियों से भी विरोध होगा। अन्तःकरणादि रूप जो उपाधियाँ हैं, उन उपाधियों की सृष्टि (उत्पत्ति) से पहले ही श्रुति प्रतिपादित ईक्षितृत्वादि हैं। अतः उनको सोपाधिक नहीं माना जा सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं हैं, क्योंकि मायावी के द्वारा माया के बल पर घट को पट दिखाये जाने पर दर्शक ने जैसा देखा वैसा ही अनुवाद करते हुए कहता है कि यह पट है किन्तु ऐसे वाक्य स्वतः भ्रम के जनक नहीं होते हैं। अतः उसमें अप्रामाण्य नहीं आता है ठीक इसी प्रकार ईश्वर में सत्यकामादि गुण मायावी (ईश्वर) के द्वारा जीवों के ऊपर अनुकम्पा करने के लिए दिखलाया जाता है और श्रुति ने उसी का अनुवाद किया। इसलिए उस श्रुति वाक्य में स्वतः भ्रम जनकत्व न होने से अप्रामाण्य की आपत्ति नहीं आयेगी। मायावी (ईश्वर) के द्वारा जीवों पर अनुकम्पा के लिए सत्यकामादि गुण होते है— इसे खण्ड संख्या ८ में कल्पतरुकार ने कहा है— निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः। ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः।। वक्ष्यमाण सत्यत्व श्रुति व्यावहारिक सत्यत्व परक है—यह आगे कहा जायेगा। अतः उक्त श्रुति से विरोध नहीं है। ''ज्ञानं नित्यम्'' इत्यादि श्रुति के द्वारा चरम साक्षात्कार पर्यन्त स्थायी होने के कारण गौण रूप से नित्य कह दिया गया है— इसका निरूपण खण्ड संख्या १० में किया जा चुका है। सृष्टि के पूर्व में अन्तःकरण रूप उपाधि के न होने पर भी अविद्या रूप उपाधि का सत्त्व होता ही है। पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो शङ्का की जाती है कि ज्ञान बलादि गुणों को औपाधिक मानने पर ''स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'' (श्वे०उ०६—८) इस श्रुति वाक्य के द्वारा ज्ञानादि गुणों को स्वाभाविक (नित्य) बतलाया गया है। अतः विरोध होगा—ऐसी पूर्वपक्षी की शङ्का भी उचित नहीं है, क्योंकि जैसे साधारण जीवों के गुणों में भौतिकत्व रहता है वैसे ईश्वरीय गुणों में भौतिकत्व नहीं रहता है और जैसे योगी के गुणों में योग सम्पादितत्त्व रहता है वैसे ईश्वरीय गुणों में योगसम्पादितत्त्व नहीं रहता है। इसलिए ईश्वरीय गुणों को स्वाभाविक कह दिया गया है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि श्रुति ने जब गुणों को स्वाभाविक कहा और सिद्धान्ती के द्वारा उसका सङ्कोच कर के औपाधिक कहा गया किन्तु इस प्रकार सङ्कोच करने में कोई हेतु नहीं है। अतः ईश्वरीय गुणों को स्वाभाविक ही मानना चाहिए— ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं

सत्त्वासत्त्वाभ्यां समभिव्याहारेऽपि वैरूप्याङ्गीकरणात् पावको ब्राह्मण इतिवत्।।११।।

किञ्च सगुणवाक्यानां न गुणसत्यत्वबोधकत्वम्;सत्यत्वस्यापदार्थत्वात्। न च नित्यत्वोक्तिसामर्थ्याद्विषया–बाधलक्षणस्य प्रामाण्यस्यौत्सर्गिकत्वात् 'सत्यः सोऽस्य महिमा' इत्यादिश्रुतेः स्वरूपतश्च तत्सिद्धिरिति वाच्यम्, प्रथमस्यान्यथासिद्धेरुक्तत्वादुत्सर्गाख्यतर्कस्य व्यवहाराबाधमादायैवोपपादितत्वा'त्सत्यः सोऽस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

है क्योंकि निर्गुणत्व प्रतिपादक श्रुति वाक्य ही उक्त सङ्कोच में हेतु हैं। अतः हेतु के रहने पर उक्त प्रकार से सङ्कोच किया ही जा सकता है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ''ज्ञानं नित्यं क्रिया नित्या बलं नित्यं परात्मनः'' इस स्थल पर स्वाभाविक (नित्य) जो ज्ञान उस ज्ञान के साथ क्रियादि का समभिव्याहार (एक साथ कथन) है, उसके साथ विरोध होगा। अर्थात् ज्ञान के साथ में क्रियादि (प्रयत्नादि) का कथन है। ऐसे में ज्ञान को नित्य माना और क्रियादि को अनित्य माना तब तो समभिव्याहार का विरोध होगा– ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सार्वज्ञ्यादि रूप से परिणत अविद्या को ही उक्त श्रुति में ज्ञान शब्द से कहा गया है। अतः ज्ञान–क्रियादि सभी अनित्य होने से समभिव्याहार का विरोध नहीं है। यदि ज्ञान शब्द से स्वरूपभूत ज्ञान लिया जाता हैं तब भी विरोध नहीं होगा– इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि समभिव्याहृत पदार्थों में भी जहाँ पद के अर्थ का विरोध होने के कारण बाध दिखायी पड़ता है। वहाँ पद का अर्थ बदल दिया जाता है और जहाँ पद के अर्थ का विरोध न होने के कारण बाध नहीं होता है वहाँ पद का यथाश्रुत अर्थ ले लिया जाता है। इस प्रकार से समभिव्याहार स्थल पर भी वैरूप्य अङ्गीकार किया जाता है जैसे ''पावको ब्राह्मणः'' इस स्थल पर पावक पद का और ब्राह्मण पद का समभिव्याहार है किन्तु अभेदान्वय बाधित है। अतः ब्राह्मण पद यथा श्रुतार्थ लिया जाता है और पावक पद का पावक सदृश अर्थ लिया जाता है। ठीक इसी प्रकार से ''ज्ञानं नित्यं क्रिया नित्या'' यहाँ पर ज्ञान पद से यथाश्रुतार्थ लेने में किसी प्रकार का विरोध न होने के कारण ज्ञान पद का अर्थ नित्य ज्ञान लिया जाता है किन्तु क्रियादि का अर्थ नित्य क्रिया करने पर निगुर्ण श्रुति से विरोध होता है। अतः क्रिया पद बोध्य प्रयत्न रूप अर्थ नित्य नहीं लिया जा सकता हैं।।११।।

किञ्च सगुण वाक्य गुणगत सत्यता के बोधक नहीं होते हैं। (अपितु केवल गुणवत्ता के बोधक होते हैं।) क्योंकि सगुण वाक्यों के किसी भी पद का अर्थ गुणगत सत्यत्व नहीं है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने यह जो कहा कि सगुण वाक्यों में किसी भी पद के द्वारा गुणगत सत्यत्व सिद्ध नहीं होता है– ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त सगुण वाक्यों के द्वारा बोधित गुणगत सत्यत्व का बोध चार प्रकार से होता है। प्रथम ''ज्ञानं नित्यं क्रिया नित्या बलं नित्यं परात्मनः'' एवं ''एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य'' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ब्रह्मगत ज्ञानादि गुणों में नित्यत्व का प्रतिपादन किया गया है। जो नित्य होता है वह व्यापक होता है। इसे श्री मद्‌भगवत् गीता में कहा है–''अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्'' (गी. २–१७) जो व्यापक है वह ही सत्य है। जिसे श्रुति स्वयं कह रही है–''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तै० २–१–१) इस प्रकार नित्यत्व सत्यत्व के विना अनुपपन्न होकर के सत्यत्व का आक्षेपक हो जाता है। इस प्रकार उक्त सगुण वाक्यों के द्वारा गुणगत सत्यत्व की बोधकता उपपन्न हो जाती है। द्वितीय–अनधिगताबाधितविषयकत्व ही प्रामाण्य पदार्थ है। वह गुण बोधक वेदान्त वाक्यों में स्वभावतः माना जाता है। अतः विषय (गुण) के सत्य हुए विना सगुण वाक्यों में प्रामाण्य नहीं आ सकता है। इस प्रकार से सगुण वाक्यों के द्वारा गुणगत सत्यत्व की बोधकता सिद्ध हो जाती है।

महिमा'इत्यादौ महिम्नः स्वरूपरूपत्वादविरोधात्, धर्मत्वे तु ब्रह्मसाक्षात्कारेतरानिवर्त्यत्वगुणयोगेन सत्यपदप्रवृत्त्युपपत्तेः। न च– एवं 'सत्यं ज्ञानम्' 'तत्त्वमसि' इत्यादिश्रुत्युक्तब्रह्मसत्यत्वैक्यादिकमपि तात्त्विकं न स्यादिति–वाच्यम्, निर्गुणश्रुतिविरोधस्य तत्रैवात्राभावात्।।१२।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

तृतीय–''सत्यः सोऽस्य महिमा'' इस श्रुति के पद ''सत्य'' के द्वारा स्पष्ट रूप से गुणगत सत्यत्व का कथन किया जा रहा है। चतुर्थ–सिद्धान्ती स्वयं ज्ञानादि गुणों को ब्रह्मस्वरूप मानते हैं। जब ब्रह्म सत्य है तब ब्रह्मस्वरूप गुण भी सत्य ही होगा।

समाधान :– पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि खण्ड संख्या १० में स्पष्ट किया जा चुका है कि उक्त श्रुति के नित्य शब्द से चरम साक्षात्कार पर्यन्त स्थायित्व कहा गया है। अतः गुण बोधक वेदान्त वाक्य का विषय (नित्यत्व) त्रैकालिक निषेध अप्रतियोगित्व रूप सत्य के विना भी चिरकाल स्थायित्व रूप सत्यत्व से उपपन्न हो जाता है। अतः नित्य शब्द के द्वारा त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्व रूप सत्यत्व का आक्षेप नहीं हो सकता है। इस प्रकार से प्रथम पक्ष का खण्डन हो गया। द्वितीयपक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि गुणबोधक वेदान्त वाक्य के विषय (गुण) गत पारमार्थिक सत्यत्व के विना उक्त वाक्यों में स्वाभाविक प्रामाण्य की अनुपपत्ति रूप जो अर्थापत्ति दी गयी थी। उसका खण्डन हो जाता है, क्योंकि व्यवहार काल में विषय अबाध मात्र को लेकर उक्त वाक्यों में प्रामाण्य की उपपत्ति हो जाती है। अतः द्वितीय पक्ष के द्वारा भी गुणगत सत्यत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है। तृतीय और चतुर्थ पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि ''सत्यः सोऽस्य महिमा'' इस स्थल पर महिमा को ब्रह्म का स्वरूप मानने पर सिद्धान्ती को इष्टापत्ति है। इस प्रकार चतुर्थ का समाधान हो गया। महिमा को ब्रह्म का धर्म मानने पर ब्रह्म साक्षात्कार इतर अनिवर्त्यत्व रूप धर्म के योग से सत्य पद की प्रवृत्ति की उपपत्ति हो जायेगी। अतः सत्य पद की प्रवृत्ति के लिए तात्त्विकसत्यत्व रूप धर्म मानने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार से तृतीय पक्ष का भी खण्डन हो गया।

शङ्का :– एवम्–सिद्धान्ती के कथनानुसार ''सत्यः सोऽस्य महिमा'' इस स्थल पर सत्य शब्द से केवल व्यावहारिक सत्यता को कहा गया है, पारमार्थिक सत्यता को नहीं तब। ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तै०उ० २–१–१) इस वाक्य के द्वारा कथित ब्रह्मगत सत्यत्व और ''तत्त्वमसि'' (छा०उ०६–१–१) इस वाक्य के द्वारा कथित जीव और ब्रह्म का ऐक्य भी तात्त्विक न होकर व्यावहारिक मात्र ही होगा। इस पर सिद्धान्ती इष्टापत्ति नहीं दे सकते हैं, क्योंकि ऐसा होने पर ब्रह्म ज्ञान से उक्त सत्यत्व और ऐक्य का भी बाध हो जायेगा।

समाधानः– पूर्वपक्षी के कहने का यह जो भाव है कि सर्वत्र एक शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त एक ही होता है वह उचित नहीं है, क्योंकि विरोधाविरोध के आधार पर प्रवृत्ति निमित्त में भिन्नता भी हो जाया करती है। जैसे ''सैन्धवमानय'' इस वाक्य का प्रयोग जब गमन के समय किया जाता है तब अश्वत्व धर्म सैन्धव शब्द का प्रवृत्ति निमित्त माना जाता है न कि लवणत्व धर्म, क्योंकि लवण के द्वारा गमन मानने पर विरोध होता है। इसी प्रकार भोजन के समय सैन्धव शब्द का प्रवृत्ति निमित्त लवणत्व होता है न कि अश्वत्व, क्योंकि अश्व के द्वारा भोजन मानने पर विरोध होगा। इसी प्रकार प्रकृत में ''सत्यः सोऽस्य महिमा'' इस स्थल पर निर्गुणार्थक श्रुतियों से विरोध के कारण सत्य शब्द के प्रवृत्ति का निमित्त केवल व्यावहारिक सत्यत्व ही माना जाता है किन्तु ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इत्यादि स्थलों पर किसी प्रकार का विरोध न होने के कारण सत्य शब्द पारमार्थिक सत्यत्व और सामानाधिकरण्य निर्देश ''तत्त्वमसि'' में तात्त्विक ऐक्य का बोधक माना जाता है।। १२।।

शङ्काः– पूर्वपक्षी का कथन है सिद्धान्ती ने यह जो कहा कि सगुण श्रुतियों का निर्गुण श्रुतियों से विरोध

ननु—श्रुत्योर्विरोधे नैकस्या अतात्त्विकविषयत्वम्, शास्त्रविरोधे सङ्कोचविकल्पादिना उभयप्रामाण्यस्य पूर्वतन्त्रे व्याकरणे च निर्णीतत्वात्। तथाहि—दशमाध्यायस्थे 'प्राप्तबाधे प्रकृतिवत् कुर्यात्' इत्यादिरूपक्लृप्तस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

होने के कारण सगुण श्रुतियों के विषय में अतात्त्विकत्व (व्यावहारिकत्व) माना जाता है, वह उचित नहीं है, क्योंकि दो श्रुति वाक्यों में परस्पर विरोध होने पर दोनों श्रुति वाक्यों में से किसी भी एक वाक्य को अतात्त्विकार्थक नहीं माना जाता है अपितु दोनों श्रुति वाक्यों में समान रूप से प्रामाण्य माना जाता है। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि एक शास्त्र का दूसरे शास्त्र से जब विरोध होता है वहाँ पर संकुचित वृत्तिक अथवा विकल्पादि से शास्त्र और विरुद्धावगाही शास्त्र इन दोनों के प्रामाण्य को पूर्वमीमांसा तथा व्याकरण में स्वीकार किया गया है। जैसे पूर्वमीमांसा दर्शन में दो प्रकार का बाध कहा गया है (१) प्राप्त बाध (२) अप्राप्त बाध। दशवें अध्याय में प्राप्त बाध और तृतीय अध्याय में अप्राप्त बाध निरूपित है। देवदत्त किसी स्थान पर बैठ गया, उसे वहाँ से हटाना प्राप्त बाध है और देवदत्त के किसी स्थान पर बैठने से पहले ही उस स्थान से देवदत्त को हटा देना अप्राप्त बाध कहा जाता है। इसको क्रमशः प्रथम और द्वितीय दृष्टान्त से कहा जा रहा है। प्रथम दृष्टान्त है— पूर्वमीमांसा के दशवें अध्याय में स्थित प्राप्त बाध के निरूपण के प्रसङ्ग में ''प्रकृतिवद्विकृतिः कुर्यात्'' इत्यादि रूप क्लृप्त अतिदेश वाक्य का कृष्णल आदि में अवघात को छोड़कर केवल व्रीहि में ही विधान कर सङ्कोच दिखाया गया है। द्वितीय दृष्टान्त—पूर्वमीमांसा दर्शन के तृतीय अध्याय में स्थित अप्राप्त बाध के निरूपण के अवसर पर ''ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते'' इस विधि वाक्य के घटक गार्हपत्य पद के उत्तर आयी हुयी द्वितीया विभक्ति रूप श्रुति के अनुरोध पर ''कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र! सश्चसि दाशुषे'' इस ऐन्द्री (इन्द्र शब्द युक्त) ॠचा का विनियोग ''इन्द्र'' पद की शक्ति वृत्ति के अनुसार इन्द्र के उपस्थान में न कर के गौण वृत्ति का आश्रय कर के गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में किया गया है। जहाँ गौण वृत्ति मानी जाती है वहाँ सादृश्य दिखाना पड़ता है। इसलिए लघुचन्द्रिकार ने कहा—गार्हपत्ये गौणत्वादिकमिन्द्रपदस्येन्द्रसदृशत्वरूपेण गार्हपत्ये गौण्या वृत्त्या सम्पादनीयत्वम्। तृतीय दृष्टान्त—व्याकरण शास्त्र में जहाँ पर से पूर्व का नित्य से अनित्य इत्यादि का बाध कहा गया है, वहाँ पर भी सङ्कोच ही किया गया है। प्रथम दृष्टान्त का भाव यह है कि किसी प्रमाण के किसी विषयांश में यदि विशेष (उपकार) दर्शन नहीं देखा जाता है तो उस प्रमाण के उस विषयांश में जो अप्रामाण्य निश्चय होता है वहीं प्राप्त बाध कहलाता है। इसी को सङ्कुचित वृत्तिक भी कहा जाता है। अर्थात् जैसे किसी प्रधान याग में दश कर्म का विधान है। उनका अतिदेश वाक्य के आधार पर अन्यत्र विकृति आदि में विधान प्राप्त हुआ किन्तु उनमें से एक कर्म बाध हो गया और नव कर्मों का विधान हुआ। ऐसे स्थल पर अतिदेश वाक्य रूप प्रमाण का उस नव कर्म अंश में प्रामाण्य सुरक्षित रहा । अर्थात् उसका प्रामाण्य नव कर्मों में सङ्कुचित कर दिया गया और जिस एक कर्म अंश में पहले अतिदेश वाक्य से प्रामाण्य प्राप्त था किन्तु अब उसमें अप्रामाण्य निश्चय हो गया। इसी को प्राप्त बाध कहते हैं। पूर्वमीमांसा दर्शन के दशमाध्याय के प्रथम पाद के प्रथम अधिकरण में ''प्राजापत्यं घृते चरुं निर्वपेत् शतकृष्णलायुष्कामः।'' (आयुष् की कामना वाला पुरुष शतकृष्णल = कृष्णल का अर्थ गुञ्जाफल होता है और रत्तिका परिमाण भी होता है। फलतः शतगुञ्जाफल तुलित स्वर्ण खण्ड हैं जिसमें और प्रजापति है देवता जिसका ऐसा जो चरु उसका घृत में निर्वपन करें) इस विधि वाक्य के द्वारा प्रजापति देवताक कृष्णलचरुद्रव्यक विकृति याग विहित है। इस विकृति याग में जो अङ्ग नहीं कहे गये हैं, उनकी दर्शपूर्णमासरूप प्रधान कर्म के अङ्ग से ''प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्याः'' इस

चोदकस्य कृष्णलादाववघातवर्जमित्यादिरूपः सङ्कोच एव। एवं तार्तीयीकेऽपि अप्राप्तबाधे गार्हपत्यमिति द्वितीयाश्रुत्यनुसारेण इन्द्रशब्दयुक्तमन्त्रलिङ्गस्य गार्हपत्ये गौणत्वादिकमेव। व्याकरणेऽपि यत्र परेण पूर्वस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतिदेश के द्वारा पूर्ति की जाती है। प्रधान कर्म में ''व्रीहीनवहन्ति'' इस वाक्य से पूरोडाश हेतु भूत व्रीहिओं का अवधात विहित है। वह अवघात यहां पर चरुहेतुभूत कृष्णलों का अतिदेशवाक्य से प्राप्त है? या नहीं है? ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष से कहा गया कि यहां पर अचरुभूतकृष्णलों में चरु शब्द का प्रयोग चरु धर्म के विधान के लिये है। इसलिये अवघात का फल जो वितुषीकरण वह यद्यपि यहां पर नहीं है तो भी अतिदेश वचन से श्रपणवत् अवघात करना चाहिये। इसका उत्तर देते हुये सिद्धान्त पक्ष से कहा गया कि जिनके फल का लोप नहीं है, ऐसे जो प्रोक्षणादि धर्म है। अर्थात् प्रोक्षणादि कृष्णलादि में हो सकता है। ऐसे प्रोक्षणादि धर्मों के योग से कृष्णलों में चरु शब्द उपपन्न हो सकता है। अतः अतिदेश अवघात की कल्पना करने में समर्थ नहीं है। पूर्वपक्षी ने जो कहा श्रपणवत्। वह तो ''घृते श्रपयति'' घृत में पकाता है, सेकता है— इस प्रकार से साक्षात् विधान किया जाता है। अतः साक्षात् विहित के दृष्टान्त से अतिदेशलब्ध की प्रसक्ति नहीं हो सकती है। फलतः यहां पर अतिदेशवाक्य संकुचितवृत्तिक हो जाता है। इस प्रकार अवघात का प्रापक अतिदेश वाक्य रूप प्रमाण बाधित हो जाता है—इसे ही प्राप्त बाध कहा जाता है। द्वितीय दृष्टान्त का भाव यह है कि पूर्वमीमांसा के तृतीय अध्याय में ''श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्'' (जै०सू० ३—३—१४) इस सूत्र से जो कहा गया है कि श्रुत्यादि रूप पूर्व—पूर्व प्रमाणों से लिङ्गादि रूप उत्तरोत्तर प्रमाणों का बाध होता है। वह अप्राप्त बाध कहा जाता है, क्योंकि शीघ्र प्रवृत्त श्रुत्यादि से मन्त्रादि का विनियोग हो जाने से आकाङ्क्षादि की शान्ति हो जाने से लिङ्गादि की प्रवृत्ति ही नहीं होती है। इस अप्रवृत्ति को ही अप्राप्त बाध कहा जाता है। जैसे पूर्वमीमांसा के तृतीयाध्याय के तृतीय पाद के सप्तम अधिकरण में विचार किया गया है कि ''ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते'' यहां पर ''गार्हपत्यम्'' इस द्वितीया श्रुति से यह प्रतीत होता है कि इस ऐन्द्रीऋचा के द्वारा गार्हपत्य नामक अग्नि की उपस्थान (पूजा) क्रिया करनी चाहिए। लिङ्ग प्रमाण कहता है कि इस ऋचा के द्वारा इन्द्र देव की प्रार्थना की गयी है क्योंकि ''कदाचन स्तरीरसि नेद्र! सश्चसि दाशुषे'' अर्थात् हे इन्द्र। तुम (न स्तरीरसि) घातक नहीं होते अपितु (दाशुषे) दानशील यजमान पर (सश्चसि) प्रसन्न होते हो। इससे यह प्रतीत होता है कि इस ऋचा का अर्थ प्रकाशन सामर्थ्य रूप लिङ्ग से इन्द्रप्रधानक उपस्थान क्रिया की प्रतीति होती है। इस प्रकार श्रुति और लिङ्ग दोनों प्रमाणों की प्राप्ति होने पर श्रुति के द्वारा लिङ्ग का बाध कर दिया जाता है क्योंकि विनियोजन प्रक्रिया में उत्तरभावी प्रमाण अपने पूर्वभावी प्रमाणों की कल्पना कर के विनियोजक बनता है। इसलिये पूर्व की अपेक्षा विलम्ब से उत्तरभावी प्रवृत्त होता है। जब तक लिङ्ग प्रमाण प्रवृत्त होता है, उससे पहले ही श्रुति प्रवृत्त होकर क्रिया सम्पादन कर चुकी होती है। इस प्रकार प्रवर्त्यमान लिङ्ग का बाध जो श्रुति के द्वारा होता है, उसे अप्राप्त बाध कहा जाता है। तृतीय दृष्टान्त का भाव यह है कि व्याकरण शास्त्र में परिभाषा है —''पूर्व परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं वलीयः।'' अर्थात् पूर्व, पर, नित्य, अन्तरङ्ग और अपवाद में क्रमशः पूर्व की अपेक्षा पर बलवान होते हैं। जैसे महर्षि पाणिनि ने त्रिपादीस्थ सूत्रों के अतिरिक्त ''विप्रतिषेधे परं कार्यम्'' (पा०सू० १—४—२) के सहकार से पूर्व सूत्र की अपेक्षा पर सूत्र को बलवान माना है। इसको स्पष्ट करते हुये भगवान् महाभाष्यकार पतञ्जलि जी ने कहा है —द्वौ प्रसङ्गौ यदान्यार्थौ भवतः एकस्मिंश्च युगपत् प्राप्नुतः तदा परं कार्यम्। अर्थात् भिन्न—भिन्न कार्यार्थक दो विरुद्ध शास्त्र जब किसी स्थान पर युगपत् प्रवृत्त

नित्येनानित्यस्येत्यादिबाध उक्तः, तत्रापि सङ्कोच एव॥१३॥

दशमे विकृतिभूतमहापितृयज्ञप्रकरणस्थे 'नार्षेयं वृणीते' इत्यादि वाक्ये प्रकृतिवत्कुर्यादार्षेयवरणवर्जमिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

होकर स्व—स्व कार्य करना चाहें तब पर शास्त्र का कार्य होगा। इससे पूर्वशास्त्र की दुर्बलता सूचित होती है। दुर्बल का बलवान से बाध किया जाना सर्वविदित है (किन्तु पूर्व शास्त्र के नित्य होने की स्थिति में पर शास्त्र भी दुर्बल होता है)। पूर्व की अपेक्षा पर की प्रबलता का उदाहरण लघुचन्द्रिकाकार ने ''वृक्षेभ्यः'' दिया है। अर्थात् वृक्ष + भ्याम्— यहां अदन्त अंग को दीर्घ करने वाला ''सुपि च'' (पा०सू० ७—३—१०२) यह सूत्र और वृक्ष + सुप्— यहां अदन्त अङ्ग को एकारता का विधान करने वाला ''बहुवचने झल्येत्'' (पा०सू० ७—३—१०३) यह सूत्र ''वृक्ष + भ्यस्'' यहां पर युगपत् प्राप्त है। यहां पर पर सूत्र के द्वारा पूर्व सूत्र का बाध कर दिया गया है। इस बाध का तात्पर्य यह होता है कि ''सुपि च'' को बहुवचन के अतिरिक्त ''वृक्षाभ्याम्'' इत्यादि में संकुचित कर दिया जाता है न कि ''सुपि च'' में अतात्त्विकत्व माना जाता है। इसी प्रकार पर की अपेक्षा नित्य के बलवान होने में इसकी व्यापकता कारण है। जो विधि सर्वथा प्राप्त रहे। वह नित्य कहलाती है। इसमें लघुचन्द्रिका कार ने उदाहरण दिया है— रन्धयति। यह रध धातु का ण्यन्त रूप है। रध धातु से णिच् प्रत्यय कर के तिप् करने पर रध् + इ + ति — यह स्थिति बनती है। ऐसा होने पर ''अत उपधायाः'' (पा०सू० ७—२—११६) से उपधा को वृद्धि प्राप्त होती है और ''रधिजभोरचि'' (पा०सू० ७—१—६१) से नुम् प्राप्त होता है। वृद्धि के होने या न होने दोनों अवस्थाओं में नुम् प्राप्त है। ऐसे कार्य को नित्य कहा जाता है— कृताकृतप्रसङ्गो यो विधिः सः नित्यः। अनित्य की अपेक्षा नित्य कार्य बलवान होता है। अतः पहले नुम् होता है। नुम् के हो जाने पर रकारस्थ अकार की उपधा संज्ञा न होने से वृद्धि रूप कार्य यहाँ पर नहीं होता है किन्तु गद धातु के लिट् लकार में जगाद आदि में वृद्धि रूप कार्य होता है। इस प्रकार यह बाध भी एक प्रकार का सङ्कोच ही है न कि सर्वथा बाध। मूलस्थ ''नित्येनानित्यस्य— इत्यादि बाधः'' में आदि शब्द से अन्तरङ्गादि का ग्रहण कर लेना चाहिए। अर्थात् अन्तरङ्गादि स्थलों पर जो बाध कहा गया है वह भी एक प्रकार का सङ्कोच ही है न कि सर्वथा बाध।॥१३॥

इसी प्रकार पूर्वमीमांसा के दशमाध्याय के अष्टम पाद के प्रथम अधिकरण में विचार किया है कि दर्शपूर्णमास याग की विकृति याग महापितृयाग है।'' प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्याः'' इस अतिदेश वाक्य के बल पर होतावरण — ऋषिवरण आदि के सहित सभी प्रकृतिगत अङ्गों का विधान विकृति याग में प्राप्त हो रहा है, परन्तु महापितृयज्ञ के प्रकरण में पठित ''नार्षेयं वृणीते'' इत्यादि वाक्य के द्वारा विकृति याग में आर्षेय वरण को वर्जित कर दिया गया है। इस पर संशय होता है कि यहां पर विकल्प है या वर्जन अर्थ है? इसके साथ ही यह भी विचार प्राप्त होता है कि ''नार्षेयं वृणीते'' यहां पर प्रतिषेधात्मक अर्थ है? या पर्युदासात्मक है? पूर्वपक्ष से कहा गया कि प्रतिषेधात्मक अर्थ लेना उचित है, क्योंकि ऐसा करने पर आर्षेय पद, वृणोति पद तथा नञ् पद यथा श्रुतार्थ ही रहते हैं और पर्युदास पक्ष में लक्षणा के द्वारा जैसे अब्राह्मणमानय स्थल पर नञ् शब्द और ब्राह्मण शब्द इन दोनों से ब्राह्मणभिन्न क्षत्रियादि लक्षित होता है। वैसे ही यहां पर भी नञ् शब्द आर्षेय शब्द तथा वृणोति इन तीनों से आर्षेय वरणभिन्न अतिदेशप्राप्त प्राकृताङ्ग लक्षित होंगे। अतः लक्षणा की आपत्ति के कारण पर्युदास मानना ठीक नहीं है। अतः यहां पर यह अर्थ होगा कि अतिदेश वाक्य से वरण विहित है और प्रत्यक्ष वचन से प्रतिषिद्ध है। अतः दोनों के अवैयर्थ्य के लिये विकल्प मानना उचित है। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्त पक्ष से कहा गया कि अष्ट

महापितृयज्ञीयप्रकृतिवच्छब्दैकवाक्यतया पर्युदासार्थत्वमेवेत्युक्तम्। यत्र तु प्रकृतिभूतदर्शपूर्णमासप्रकरण–स्थाज्यभागविधायकवाक्यसन्निहिते 'न तौ पशौ करोति' इत्यादौ पाशुकप्रकृतिवच्छब्दैकवाक्यताऽयोगेन पर्युदासार्थत्वासम्भवात् 'प्रकृतिवत्कुर्यादाज्यभागौ तु न कुर्यात्'इति वाक्यभेदेन प्रसज्यप्रतिषेधार्थकत्वमेव

सत्यानन्दप्रबोधिका

दोष की आपत्ति के कारण विकल्प मानना उचित नहीं है। अतः लक्षणा से पर्युदासार्थकत्व पक्ष ही उचित है। इसलिये ''नार्षेयं वृणीते'' में नञ् का अर्थ पर्युदास (तद्भिन्न तत्सदृश) मानकर के उन दो वाक्यों (प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्याः और नार्षेयं वृणीते) को मिलाकर के एक वाक्य बनाया गया और उस एक वाक्य का अर्थ किया गया कि विकृति याग में आर्षेयवरण को छोड़कर के अन्य सभी प्रकृति के अङ्गों का अनुष्ठान किया जाय। इस प्रकार इस बाध स्थल पर भी ''प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या'' का पूर्णरूपेण बाधा न होकर उसके कार्यक्षेत्र का सङ्कोच ही किया गया है। जहां पर प्रकृतिभूत दर्शपूर्णमास के प्रकरण में स्थित आज्यभाग के विधायक ''आज्यभागौ यजति'' इस वाक्य के समीप में ''न तौ पशौ करोति'' (पशुयाग में आज्य भागसंज्ञक दो कर्म नहीं करना चाहिये) यह आज्यभाग निषेधक वाक्य पढ़ा गया है। ''न तौ पशौ करोति'' इस वाक्य की ''प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या'' इस अतिदेश वाक्य के साथ एकवाक्यता नहीं हो सकती है, क्योंकि जिस पशु याग में ''न तौ पशौ करोति'' यह निषेध प्रवृत्त होता है, उसकी प्रकृति अग्नीषौमीय याग है दर्शपूर्णमास नहीं। (यहां ''आज्यभागौ यजति'' स्थल पर ''आज्यं भागो ययोरिति व्युत्पत्या तद्देवते अग्नीषोमौ आज्यभागपदार्थौ'' अर्थात् आज्य और भाग दो कर्म है और इनके देवता अग्नि और सोम है– ऐसे जो आज्य और भाग पदार्थ। इससे सिद्ध हुआ है कि अग्नि और सोम देवता वाला प्रकृति याग अग्नीषोमीय है)। इसलिये आर्षेय वरण के जैसे पर्युदास अर्थ नहीं लिया जाता है। यदि पशुयाग की प्रकृति दर्शपूर्णमास होती तब एक वाक्यता के बल पर पर्युदास अर्थ लेते किन्तु ऐसा नहीं है। अतः यहां दो वाक्य बनेंगे। प्रथम ''पशुयागः प्रकृतिवत् कर्तव्या''। द्वितीय ''पशुयागे आज्यभागौ न कुर्यात्।'' इस प्रकार से वाक्य भेद का आलम्बन कर के प्रसज्य प्रतिषेध अर्थ लिया जाता है। इस पर प्रश्न होता है कि प्राप्ति होने पर ही निषेध होता है। पशु याग में आज्यभाग द्वय कर्म के अनुष्ठान की प्राप्ति ''प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या'' इस अतिदेश वाक्य से हो नहीं सकती है क्योंकि जिस पशु याग में आज्यभागद्वयकर्मो का विधान किया गया है, उसकी प्रकृति दर्शपूर्णमास नहीं है। अतः पशुयाग में निषेध्यभूत आज्यभाग कर्मों की प्राप्ति प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सम्भव नहीं है। इसलिये कोई अनुमित श्रुति वाक्य से ही उसकी प्राप्ति होगी। तब जाकर उक्त निषेधवाक्य के द्वारा उसका निषेध होगा। श्रुति प्राप्त पदार्थ का श्रुति वाक्य के द्वारा अत्यन्त निषेध हो नहीं सकता है। अगत्या विकल्प मानना होगा। विकल्प मानने का यहां यह अर्थ नहीं करना चाहिये कि पशुयाग में आज्यभागद्वय कर्म का अनुष्ठान कर भी सकते हैं और नहीं भी कर सकते हैं, क्योंकि विकल्प मानने पर वाक्य भेद होगा और वाक्य भेद होने पर अष्टदोष होते हैं :–

स्वार्थत्यागोऽन्यार्थक्लृप्तिः प्रकृत्यर्थेऽप्यनन्वयः। अन्वयाश्चाप्रकृत्यर्थे द्वयोरित्यष्टदोषकाः।।

अतः यहां दोनों वाक्यों में से किसी भी वाक्य की पूर्णरूपेण बाध न कर के सङ्कोच ही माना जा रहा है। सङ्कोच यही है कि पशुयाग की प्रकृति (अग्नीषोमीय) के सभी अङ्गकलापों का अनुष्ठान विकृतिभूत पशुयाग में आज्यभागद्वय कर्म को छोड़कर करना चाहिये। इसलिये ''विकल्प इत्युक्तम्'' का अर्थ लघुचन्द्रिकाकार ने किया– तत्राऽपि सङ्कोच एवेति शेषः। अर्थात् विकल्प का अर्थ यहां सङ्कोच ही करना चाहिये। इसमें पूर्वपक्षी के द्वारा वृद्धोक्ति को दिखलाया जा रहा है –

युक्तम्, तत्र पशावाज्यभागयोरन्येनाप्रसक्तेः शास्त्रप्रसक्तस्य सर्वथा बाधायोगाद्विकल्प इत्युक्तम्। तथाचोक्तं– 'को हि मीमांसको ब्रूयाद्विरोधे शास्त्रयोर्मिथः। एकं प्रमाणमितरत्त्वप्रमाणं भवेदिति।।' इति चेत्।।१४।।

न, तत्र शास्त्रयोः प्रामाण्ये समानकक्ष्यतया एकतरस्यात्यन्तिकबाधायोगात्सङ्कोचेन विकल्पेन वा पाक्षिकप्रामाण्यमाश्रितम्, इहत्वेकतरस्य तत्परतया प्रबलत्वादितरस्य चातत्परत्वेन दुर्बलतया वैषम्यात्। यत्तु

सत्यानन्दप्रबोधिका

को हि मीमासको बूयाद् विरोधे शास्त्रयोर्मिथः। एकं प्रमाणमितरत् त्वप्रमाणं भवेदिति।।

{दो श्रुति वाक्यों का परस्पर विरोध उपस्थित होने पर एक ही श्रुति वाक्य प्रमाण भूत है और दूसरा श्रुति वाक्य अत्यन्त अप्रमाण रूप है– इस प्रकार से कौन मीमांसक विद्वान् कहेगा? अर्थात् कोई भी मीमांसक मनीषी नहीं कह सकता है अपितु सङ्कोच या विकल्प कर के दोनों श्रुति वाक्यों की प्रमाणता बनाये रखेगा।} इसी प्रकार प्रकृत में भी सगुणार्थक और निर्गुणार्थक वाक्यों के विरोध स्थल पर सङ्कोचादि ही मानना चाहिए, न कि सर्वथा बाध।।१४।।

समाधान– सर्वप्रथम खण्ड संख्या १३ में जो पूर्वपक्षी ने कहा था, उस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी जिस दृष्टान्त के बल पर दार्ष्टान्त में स्वपक्ष की सिद्धि करना चाह रहा है वह उचित नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। इसी को दिखलाते हुए कह रहे हैं कि दृष्टान्त स्थल पर दोनों शास्त्रों का प्रामाण्य होने से दोनों शास्त्र समकक्ष्य हैं (यदि कहा जाये की समकक्ष्य कैसे है? इसका उत्तर यह है कि अतिदेश वाक्य (प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या) यद्यपि कोई साक्षात् शास्त्र नहीं है किन्तु कल्पनीय शास्त्र वाक्य है। तथापि ''नार्षेयं वृणीते'' इत्यादि प्रत्यक्ष श्रुति का समकक्ष्य ही अतिदेश वाक्य को मानना पड़ेगा, क्योंकि प्राप्ति के विना निषेध हो नहीं सकता है। इस नियम के बल पर नार्षेय वाक्य आर्षेय वरण की प्राप्ति कराने वाले अतिदेश वाक्य की अपेक्षा रखकर ही आर्षेय वरण का निषेध करने में प्रवृत्त हो सकता है। अतः अतिदेश वाक्य नार्षेय वाक्य का उपजीव्य होने के कारण समकक्ष्य है।) इसलिए उन दोनों शास्त्रों में से किसी भी एक शास्त्र का आत्यन्तिक बाध उचित न होने से उन दोनों शास्त्रों में विषय सङ्कोच से या विकल्प से सङ्कुचित विषय घटित प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है और दार्ष्टान्त में निर्गुण बोधक शास्त्र षड्विध तात्पर्य लिङ्गों से युक्त होने के कारण स्वार्थपरक होने से प्रबल है और सगुण बोधक शास्त्र निर्गुण शास्त्र के द्वारा जो निषेध्य (गुण) है। उसका समर्पक होने के कारण निर्गुण शास्त्र का शेष सगुण शास्त्र है और षड्विधतात्पर्य लिङ्गों से युक्त न होने से सगुण शास्त्र स्वार्थ परक न होने से दुर्बल है। अतः निर्गुण शास्त्र और सगुण शास्त्र का समान प्रामाण्य न होने से यहाँ सङ्कोचादि न होकर बाध ही होता है। अर्थात् निर्गुण शास्त्र में तात्त्विक प्रामाण्य माना जाता है और सगुण शास्त्र में तात्त्विक प्रामाण्य का बाध हो जाने से अतात्त्विक प्रामाण्य (व्यावहारिक प्रामाण्य) माना जाता है। पूर्वपक्षी ने खण्ड संख्या १४ में जो कहा था कि ''न तौ पशौ करोति'' इत्यादि स्थल पर विकल्प मानना चाहिए। वह भी उचित नहीं है, क्योंकि ''न तौ पशौ करोति'' यह वाक्य यद्यपि दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित है फिर भी पशौ पद से पशुयाग लिया गया। इसलिए यह पशु याग सम्बन्धित होने के कारण ही पशुयाग के प्रकरण में माना गया, दर्शपूर्णमास के प्रकरण का नहीं माना गया। अतः ''प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या'' इस वाक्य से'' न तौ पशौ करोति'' इस निषेध वाक्य की एक वाक्यता सम्पन्न हो जाती है। जैसे पीछे दिखाया गया कि अतिदेश वाक्य की आर्षेय वरण निषेध वाक्य से एक वाक्यता सम्पन्न हो जाती है। अतः यहाँ पर पर्युदास ही भाष्यकार (श्री शवर स्वामी) ने माना है प्रसज्य नहीं, क्योंकि प्रसज्य पक्ष में विकल्प

'न तौ पशौ करोति' इत्यादौ विकल्प उक्तः; तन्न; पशुप्रकरणस्थस्य पाशुकप्रकृतिवच्छब्दैकवाक्यतया पर्युदासार्थत्वात्, दर्शपूर्णमासप्रकरणस्थस्य तु 'पशावाज्यभागौ न स्तः, अत्र तौ स्तः' इति स्तुत्यर्थत्वात्, वार्तिककारैर्विकल्पे स्वीकृतेऽपि न दोषः, उभयत्र तात्पर्य्यसत्त्वेन विशेषात्।।१५।।

यत्तु— अत्रापि 'विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्' 'उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्'

सत्यानन्दप्रबोधिका

मानने से अष्ट दोषों की आपत्ति होती। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि पशु प्रकरण में ''न तौ पशौ करोति'' को मान भी लिया जाय तो भी दर्शपूर्णमास प्रकरण में पठित ''पशौ आज्यभागौ न स्तः अत्र तौ स्तः'' इस वाक्य के बल पर पुनः एक वाक्यता नहीं मानने के कारण विकल्प मानने की आपत्ति होगी। इसका समाधान देते हुए कह रहे हैं कि दर्शपूर्णमास प्रकरण में जो उक्त वाक्य कहा गया है वह प्रसंशा के लिए है कि पशुयाग में आज्यभाग नहीं है और अत्र = दर्शपूर्णमास में है— इस प्रकार से स्तुत्यर्थ है। वार्तिककार श्रीकुमारिलभट्ट के द्वारा जो विकल्प माना गया है— उसमें भी कोई दोष नहीं है क्योंकि विधि शास्त्र और प्रतिषेध शास्त्र दोनों ही शास्त्रों का स्वार्थ में तात्पर्य है।

विशेषात् ''पद से यह दिखला रहे हैं कि दार्ष्टान्त स्थल पर निर्गुण वाक्य स्वार्थ परक हैं और सगुण वाक्य स्वार्थ परक नहीं है। अतः इन दोनों में बाध्य बाधक भाव बन जाता है किन्तु उक्त दृष्टान्त स्थल पर दोनों ही शास्त्र स्वार्थ परक हैं। अतः चाहे पर्युदास पक्ष मानें जो कि भाष्यकार सम्मत है चाहे विकल्प पक्ष माने जो कि वार्तिकार शास्त्र दीपिकाकार आदि को सम्मत है किन्तु उक्त दोनों शास्त्रों में बाध्य बाधक भाव नहीं है— यही दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में विशेषता है। इस स्थल पर लघुचन्द्रिका की इन पंक्तियों का अवलोकन भी आवश्यक है— यत्तु भाष्यटुप्टीकातन्त्ररत्नशास्त्रदीपिकाधिकरणमाला सूक्तवाक्यस्य पशुप्रकरणस्थत्वं नोक्तमिति तदप्रामाणिकमिति तन्न शुकशारकादिवदूहापोहाक्षमस्य यथाकर्णितं वदतस्तथैव वक्तुं युक्तत्वात्। सर्वतन्त्रस्वतन्त्रैः हि भामतीकारकल्पतरुकारपरिमलकारैः ''तत्साभाव्यापत्तिरुपपतेः'' इत्यधिकरणे पशुप्रकरणस्थं न तौ पशौ करोतिति वाक्यं प्रतिषेधार्थकमुक्तम्। प्राभाकरास्तु तद्वाक्यं पर्युदासार्थमाहुरिति तदधिकरणे कल्पतरावुक्तम्। ''हानौ तूपायन'' इत्याद्यधिकरणेऽपि पशुप्रकरणस्थोक्तवाक्यप्रमितप्रतिषेधानुवादकत्वं दर्शपूर्णमासप्रकरणस्थोक्तवाक्यस्य इति मूले उक्तम्। उपपत्तिस्तु उक्तैव तत्रास्माभिः। न चैतत् सर्वं त्वादृशेन वराकेण अपलपितुं शक्यम्। अथ एवं वार्तिकारादिभिः नानाशाखादर्शिभिः किमिति तन्न उक्तमिति चेत्—श्रृणु रे मूढ़ न्यायव्युत्पादनार्थं वार्तिककारादयः प्रवृत्ताः। तत्र यद्यपि पशुप्रकरणे तद्वाक्यमस्ति, तथापि तत्र तन्नास्ति इति कृत्वाचिन्तया अत्र प्रतिषेधार्थकत्व लाभ इति निखिलतर्काटवीसञ्चारपञ्चाननानामाचार्यप्रभृतीनामेव शास्त्रार्थनिर्णये अधिकारः, न त्वादृशां परोपदेशमात्रगर्तशरणानां भीरुफेरूणाम्। पठन्ति हि वृद्धाः —

मधुसूदनसरस्वत्याः पारं वेत्ति सरस्वती। पारं वेत्ति सरस्वत्या मधुसूदनसरस्वती —इति।। १५।।

शङ्का :— पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्रह्मसूत्र में भी ''विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्'' (ब्र०सू० १—१—१३) (मयट् प्रत्यय विकारार्थ का वाचक है। अतः आनन्दमय शब्द का अर्थ ब्रह्म नहीं है—ऐसा यदि कहो तो ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ प्राचुर्य अर्थ में मयट् प्रत्यय का विधान है। अतः आनन्दमय शब्द से ब्रह्म ही कहा गया है।) ''उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्'' (ब्र०सू० १—१—२७) (''त्रिपादस्यामृतं दिवि'' और ''यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते'' इस प्रकार उपदेश के भेद से प्रकृत ब्रह्म की प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती है—ऐसा यदि कहो तो वह उचित नहीं है, क्योंकि दोनों वाक्यों में भी प्रत्यभिज्ञा का विरोध नहीं है।) ''गौण्यसम्भवात्'' (ब्र०सू० २—३—३) (आकाश की उत्पत्ति श्रुति गौणी है, मुख्य नहीं, क्योंकि

'गौण्यसम्भवात्'इत्यादौ शास्त्रयोर्विरोधे तात्त्विकार्थान्तरपरतोक्ता, न त्वारोपितार्थता; अन्यथेक्षत्याद्यधिकरणेषु सिद्धान्तसाधकानामीक्षणादीनां साङ्ख्याद्यभिमतप्रधानादावारोपसम्भवेन प्रधाननिराकरणादि न सिद्ध्येदिति, तन्न; विकारशब्दादित्यादौ न विरोधेन तात्त्विकार्थान्तरपरत्वमर्थः; किन्तु स्वप्रधाने ब्रह्मणि अवयवत्वासम्भवेन पुच्छपदमुपचरितमित्यर्थः। तदुक्तं टीकायां—पुच्छेऽधिकरण इति। गौण्यसम्भवादिति पूर्वपक्षसूत्रेऽपि 'आत्मनः

सत्यानन्दप्रबोधिका

आकाश की उत्पत्ति में समवायिकारण आदि सामग्री का अभाव है और व्यापक होने से उसमें नित्यत्व का अनुमान होता है। अत: आकाश की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।) इत्यादि स्थलों पर दो शास्त्रों का परस्पर विरोध होने पर अन्यतर शास्त्र में तात्त्विक अर्थान्तर बोधकता कही गयी है न कि एक शास्त्र में तात्त्विक बोधकता और दूसरे शास्त्र में अतात्त्विक बोधकता। अन्यथा = इन दोनों शास्त्रों में से एक का अर्थ अतात्त्विक (आरोपित) है — ऐसा यदि माना जाय तो ''ईक्षतेर्नाशब्दम्'' (ब्र०सू० १—१—५) (श्रुति अप्रतिपादित होने के कारण सांख्य सम्मत प्रधान जगत् का कारण नहीं है, क्योंकि ''तदैक्षत'' श्रुति में जगत् का कारण ईक्षणकर्ता कहा गया है, जबकि जड़ प्रधान में ईक्षण कर्तृत्व नहीं है।) इस सूत्र के द्वारा सांख्यसम्मत प्रधान का निराकरण नहीं हो पायेगा, क्योंकि ''तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति''(छा०उ० ६—३—२) इस श्रुति में वर्णित जो ईक्षण उसके बल पर सिद्धान्ती ने यह पक्ष स्थापित किया है कि जगत्कर्ता चेतन (ब्रह्म) है न कि अचेतन प्रधान। अब यदि एक शास्त्र के अर्थ को आरोपित मानते हैं तो साख्य कह सकता है कि ईक्षण शास्त्र के अर्थ (जगत्कर्ता ने ईक्षण किया—ऐसा अर्थ) को आरोपित मान लेते हैं और तब श्रुति का अर्थ होगा कि जगत्कर्ता ने वास्तव में जगत् सृष्टि का ईक्षण नहीं किया किन्तु श्रुति ने यह आरोप किया कि मानो जगत् कर्ता ने ईक्षण किया। तब तो जगत्कर्ता प्रधान सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि जगत्कर्ता का आरोप प्रधान में भी सिद्ध हो सकता है और तब ईक्षणादि के बल परप्रधान का निराकरण सिद्धान्ती के द्वारा नहीं हो पायेगा।

समाधान— पूर्वपक्षी ने जो कहा कि ''शास्त्रयो: विरोधे तात्त्विकार्थान्तरपरतोक्ता'' अर्थात् ब्रह्म सूत्र के उक्त सूत्रों में दो शास्त्रों का विरोध होने पर तात्त्विक अर्थान्तरपरता कही गयी है। इसका खण्डन करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ब्रह्म सूत्र के उक्त सूत्रों में तात्त्विक अर्थान्तरता कही ही नहीं गयी है। अत: पूर्वपक्षी अनुक्तोपालम्भ मात्र से निरनुयोज्यानुयोग नामक निग्रह स्थान से निगृहीत हो जाता है। (इस निग्रह स्थान की व्याख्या ''प्रत्यक्षस्य लिङ्गबाध्यत्वविचार:'' के खण्ड संख्या—२ में देखें) इसको स्पष्ट करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी यह जो कह रहा है कि ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तै० २—१) इस वाक्य से प्रकरण प्रारम्भ होने से ब्रह्म स्वप्रधान है। अर्थात् किसी का अवयव नहीं है। दूसरी तरफ ''ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'' (तै० २—५) इस वाक्य से ब्रह्म को आनन्दमय का अवयव बतलाया गया। इस प्रकार से विरोध होने के कारण द्वैतवादी के अनुसार यह समाधान दिया गया है कि पुच्छ पद का अवयव रूप प्रसिद्ध अर्थ को न लेकर आधार अर्थ किया गया है और वह अर्थ तात्त्विक है। इसका खण्डन करते हुये अद्वैतसिद्धिकार कह रहे है कि पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि विरोध के कारण उक्त स्थल पर पुच्छ का दूसरा तात्त्विक अर्थ किया गया है। ऐसी बात नहीं है अपितु ब्रह्म का प्रकरण होने के कारण ब्रह्म स्वप्रधान है। अत: वह किसी का अवयव हो नहीं सकता है। इसलिये पुच्छ पद का ब्रह्म में गौण प्रयोग है। इसलिये यहां तात्त्विकार्थपरता नहीं कही गयी है। इस पर प्रश्न होता है किस साम्यता को लेकर गौण प्रयोग हुआ है? इसका उत्तर देते हुये कहा गया कि पुच्छ शरीर का आधार भाग है और ब्रह्म भी आनन्दमय का आधार है। इस प्रकार आधारत्व की साम्यता को लेकर उक्त गौण प्रयोग हुआ। इसी को स्पष्ट करते हुये टीका

आकाशः सम्भूत' इति श्रुतिस्तु गौणी। आकाशोत्पत्तिकारणासम्भवादित्यर्थः, न तु तात्त्विकार्थान्तरविषयत्वम्।।१६।।

'उपदेशभेदात्'इत्यादौ दिवि दिव इति सप्तमीपञ्चमीभ्यामाधारत्वावधित्वयोः प्रतीतेरुपदेशभेदेन न पूर्वनिर्दिष्टब्रह्मणः प्रत्यभिज्ञानमस्तीति प्राप्ते एकस्मिन्नपि श्येने 'वृक्षाग्रे श्येनः वृक्षाग्राच्छ्येन'इति निर्देशदर्शनात एकस्मिन्नेव ब्रह्मणि उभयरूपाविरोध इत्यर्थः, न तु तात्त्विकार्थान्तरपरत्वम्। न चारोपितमीक्षणं प्रधाने सम्भवति; योग्यतामादायैवारोपदर्शनात्। न हि राजामात्ये राजत्वारोप इति स्तम्भादावपि तदारोपः। तथा च चेतन एव ईक्षितृत्वदर्शनाच्चेतने ब्रह्मणि तदारोपो युज्यते नाचेतन इति न सिद्धान्तक्षतिः। किञ्च

सत्यानन्दप्रबोधिका

में कहा गया कि पुच्छ का अर्थ अधिकरण (आधार) है। इसी को भामती टीकाकार ने कहा— आधारपरत्वे च पुच्छशब्दस्य प्रतिष्ठेत्येतदप्युपपन्नतरं भवति। इसी प्रकार ''गौण्यसम्भवात्'' (ब्र०सू० २—३—३) इस पूर्वपक्ष के सूत्र में पूर्वपक्षी के द्वारा कहा गया कि एक जातीय अनेक द्रव्य (कपाल द्वयादि) ही किसी द्रव्य (घटादि) के समवायिकारण होते हैं और समवायि कारणीभूत उन अनेक द्रव्यों (कपालादि) का पारस्परिक संयोग ही असमवायिकारण होता है। आकाश का वैसा कोई समवायि—असमवायिकारण सम्भव न होने के कारण आकाश की उत्पत्ति जो श्रुति में बतलायी गयी है। वह श्रुति ने गौण रूप से कहा है। इस प्रकार यहां तात्त्विकार्थपरता नहीं कही गयी है। अतः द्वैती के द्वारा जो कहा गया था कि यहां तात्त्विकार्थपरता कही है— उसका खण्डन हो गया।।१६।।

''उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्'' (ब्र०सू० १—१—२७) इस सूत्र में पूर्वपक्ष की तरफ से कहा गया कि ''त्रिपादस्यामृतं दिवि'' (छा०उ० ३—१२—६) और ''अथ यदतः परो दिवो ज्योति'' (छा० उ० ३—१३—७) यहाँ क्रमशः द्यु पद उत्तर जो सप्तमी और पञ्चमी है। इन दोनों से क्रमशः आधारत्व और अवधित्व की प्रतीति होने के कारण उपदेश का भेद हो गया। अतः उपदेश का भेद होने से पूर्वनिर्दिष्ट ब्रह्म की प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती है— इस प्रकार का पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त पक्ष से सूत्रकार ने समाधान देते हुए कहा कि उक्त दोनों वाक्यों में विरोध नहीं है। अर्थात् सप्तम्यन्त और पञ्चम्यन्त दोनों प्रकार के उपदेश होने पर भी पूर्वनिर्दिष्ट ब्रह्म का यहाँ प्रत्यभिज्ञान होगा। जैसे लोक में वृक्ष के अग्रभाग से सम्बद्ध श्येन (बाजपक्षी) '' वृक्ष के अग्रभाग में श्येन है।'' और '' वृक्ष के अग्रभाग से परे श्येन है।'' इस तरह दोनों प्रकार से उपदेश किया हुआ देखा जाता है, वैसे ही ''द्यु में होता हुआ ब्रह्म द्यु से परे है'' ऐसा उपदेश किया जाता है। ब्रह्म को असङ्ग मानकर इसको इस प्रकार से कहा जाता है— जैसे लोक में वृक्ष के अग्रभाग से श्येन का सम्बन्ध न होने पर भी ''वृक्ष के अग्रभाग पर श्येन है और वृक्ष के अग्रभाग से परे श्येन है।'' इस तरह दोनों प्रकार से उपदेश देखा जाता है। इसी प्रकार द्यु से परे भी होता हुआ ब्रह्म ''द्यु में'' ऐसा उपदेश होता है। इस प्रकार एक ही ब्रह्म में सप्तमी और पञ्चमी इस प्रकार से उभय विध निर्देश होने पर भी कोई विरोध नहीं है— इत्याकारात्मक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है न कि किसी प्रकार की तात्त्विक अर्थान्तरता का कथन किया गया है। सांख्य सम्मत प्रधान में आरोपित ईक्षण भी नहीं बन सकता है, क्योंकि योग्यता के आधार पर ही किसी वस्तु का अन्य योग्य वस्तु में आरोप किया जाता है न कि अयोग्य वस्तु में आरोप किया जाता है। जैसे कि मन्त्री में राजत्व का आरोप किया जाता है किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि सर्वत्र स्तम्भादि जड़ में भी राजत्व का आरोप कर दिया जाय। फलतः चेतन में ही ईक्षितृत्व की योग्यता देखने से चेतनरूप ब्रह्म में ही उसका आरोप युक्त है, प्रधानादि जड़ पदार्थ में नहीं। अतः किसी भी प्रकार से सिद्धान्त की हानि नहीं है। दूसरी बात यह है कि पूर्वपक्षी के मतानुसार

निषेध्यसमर्पकतयैकवाक्यतयैव प्रामाण्यसम्भवे न वाक्यभेदेन गुणप्रापकता युक्ता। अत एव न 'को हि मीमांसकः'इत्यादिना विरोधः।॥१७॥

ननु— मृडमृदेत्यादेर्यथा 'न क्त्वा सेड्'इति निषेधनिषेधकत्वं, तद्वत् सगुणवाक्यानामपि निर्गुणवाक्यबाधकत्वं किं न स्यादिति—चेन्न; दृष्टान्ते पर्युदासाधिकरणन्यायेन मृडमृदेत्यादिउत्तरविहितान्यसेट्कक्त्वा—

सत्यानन्दप्रबोधिका

यदि अचेतन में ईक्षण माना जाय तो उसे प्रातिभासिक ईक्षण मानना होगा किन्तु जब वाक्य को व्यावहारिक ईक्षण परक (ब्रह्म में ईक्षण का आरोप करने पर वह व्यावहारिक होगा, उसको) मानना सम्भव है तब उस वाक्य को प्रातिभासिक ईक्षण परक मानना उचित नहीं है। आगे यह कह रहे है कि निर्गुण वाक्य (गुणनिषेधक वाक्य) को अपेक्षित जो गुण रूप प्रतियोगी है। उस प्रतियोगी का अनुवादकत्व सगुण वाक्यों में होने से सगुण वाक्यों को गुण परक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अनुवाद वाक्य का स्वार्थ में प्रामाण्य नहीं होता है— इसको दिखलाते हुए कह रहे हैं कि सगुण वाक्यों का निषेध्य समर्थक विधया निर्गुण वाक्यों के साथ एक वाक्यत्वेन ही प्रामाण्य सम्भव है। अतः वाक्य भेद मानकर सगुण वाक्यों में गुण प्रापकत्ता की कल्पना सर्वथा अनुचित हैं अत एव = गुण निषेध परकता सगुण वाक्यों के प्रामाण्य को स्वीकार कर लिए जाने से ''को हि मीमांसकः'' इत्यादि वृद्धोक्ति से विरोध नहीं है, क्योंकि सगुणार्थक वाक्यों में अत्यन्त अप्रामाण्य नहीं कहा गया है।॥१७॥

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे क्त्वा प्रत्यय स्वभावतः कित् है किन्तु उसका निषेध ''न क्त्वा सेट्'' (पा०सू० १—२—१८) अर्थात सेट् क्त्वा कित् नहीं होता है।) इस सूत्र के द्वारा हुआ इस निषेध का भी निषेध किया गया—''मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवसः क्त्वा'' (पा० सू० १—२—७) इस सूत्र के द्वारा। अर्थात् मृड सुखने (तुदा०प०) मृद क्षोदे (क्र्या०प०) गुध रोषे (क्र्या०प०) कुष निष्कर्षे (क्र्या०प०) क्लिशू विबाधने (क्र्या०प०) वद व्यक्तायां वाचि (भ्वा०प०) वस निवासे (भ्वा० प०) इन धातुओं से उत्तर क्त्वा प्रत्यय कित्वत् होता है। इस प्रकार निषेध का भी निषेध हो जाने पर स्वभावतः जो कित्त्व था उसकी प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार ब्रह्म में स्वभावतः जगत् कर्त्तृत्व जीवों पर दयालुता सर्वज्ञता आदि गुण रहते हैं। उसका निषेध निर्गुण वाक्यों के द्वारा किया गया। पुनः उस निषेध (निर्गुण बोधक) वाक्यों का निषेध सगुण वाक्यों के द्वारा हो जाने पर ब्रह्म में स्वभावतः जो गुण है उसकी प्राप्ति हो जाती है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म स्वभावतः गुणवाला होता है यह ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म स्वभावतः सबसे असङ्ग है । जिसे श्रुति कह रही है ''असङ्गो ह्ययं पुरुषः'' (बृ०उ० ४—३—१५) दूसरी बात यह है कि दृष्टान्त में पूर्व— मीमांसा का पर्युदासाधिकरण न्याय लग सकता है किन्तु दार्ष्टान्ति में नहीं लग सकता है। पर्युदासाधिकरण का सिद्धान्त सूत्र है—अपितु वाक्यशेषः स्यादन्यायत्वाद्विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्'' (जै०सू० १०—८—४) (अपितु— यह पूर्वपक्ष व्यावर्तक है, वाक्यशेषः स्यात्— पूर्व वाक्य का अङ्ग माना जायेगा, विकल्पस्यान्यायत्वात्—विकल्प मानने में अष्टदोष होगा जो कि अनुचित है। विधीनामेकदेशः स्यात्—इसलिए इसको विधि का ही एक देश अर्थात् पर्युदास मानना चाहिए।) इस सूत्र के अनुसार ही ''प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्या'' इस अतिदेशविधि का ''न होतारं वृणीते'' इस वाक्य को एक देश (वाक्य शेष) मानना चाहिए। इन दोनों की एक वाक्यता से जैसे ''होतृवरणभिन्नं प्रकृत्यङ्गजातमनुष्ठेयम्'' यह अर्थ प्राप्त होता है वैसे ही ''मृडमृद'' (पा०सू० १—२—७) और ''न क्त्वा सेट्'' (पा०सू० १—२—१८) इन दोनों सूत्रों की एक वाक्यता से ''मृडमृदेत्याद्युत्तरविहितसेटन्यसेट्क्त्वाप्रत्ययः कित् न स्यात्'' यह अर्थ

प्रत्ययकित्त्वनिषेधपरत्वेनैकवाक्यतायां वाक्यभेदेन निषेधनिषेधकत्वाकल्पनात्। न च प्रकृतेऽपि पर्युदासार्थकत्वम्; नेति नेतीति वीप्सायाः प्रसक्तसर्वनिषेधकतया विशेषपरिशेषायोगेन पर्युदासस्याश्रयितुमशक्यत्वात्।।१८।।

यत्तु जगत्कर्तृत्वेनाक्षिप्तसार्वज्ञ्यादेर्निषेधायानुवादे श्रुतेन ज्ञाननिवर्त्यत्वेन जगदारोपाधिष्ठानत्वेन 'स एवेदं सर्वमात्मैवेदं सर्वम्'इति श्रुतेन जीवब्रह्मणोः सार्वात्म्येन चाक्षिप्तं विश्वमिथ्यात्वं ब्रह्मसत्त्वं जीवब्रह्मैक्यञ्च विश्वं सत्यमित्यनेन असद्वा इत्यनेन 'द्वासुपर्णे' त्यनेन च निषेद्धुं 'नेह नानेत्यनेन' सत्यं ज्ञानमित्यनेन' तत्वमसीत्यनेन चानूद्यत इति स्यादिति, तन्न;। 'विश्वं सत्यं' 'द्वा सुपर्णा'इत्यत्र च निषेधद्योतकपदाभावेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्राप्त होता है। अष्ट दोष होने के कारण वाक्य भेद के द्वारा निषेध निषेधकत्व की कल्पना उचित नहीं है। किन्तु दार्ष्टान्त स्थल पर पर्युदासाधिकरण न्याय से निर्गुण वाक्यों में आया हुआ जो नञ् है उसका पर्युदास अर्थ कर सगुण वाक्य और निर्गुण वाक्य दोनों की एक वाक्यता कर के यह अर्थ किया जाय कि श्रुतिविहित सर्वज्ञत्वादि गुणों से भिन्न गुणों का ही निषेध निर्गुण वाक्य के नञ् के द्वारा किया गया है ऐसा जो पूर्वपक्षी अर्थ लेना चाहता है। वह उचित नहीं है क्योंकि ''नेति—नेति'' (बृ०उ० ३—९—२६) इस द्विरुक्ति के द्वारा समस्त आरोप का निषेध कर दिया गया है। कोई विशेष गुण शेष बचता ही नहीं है। अतः यहां पर्युदासाधिकरण का न्याय नहीं लग सकता है। ।१८।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ''ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं विना श्रुतं (श्रुतिकथितं) जगत्कर्तृत्वमनुपपन्नम्।'' इस प्रकार जगत्कर्तृत्व के द्वारा सर्वज्ञत्व का जो आक्षेप हुआ, उस सर्वज्ञत्व का (निर्गुण वाक्य के द्वारा) निषेध करने के लिए ''यः सर्वज्ञ सर्ववित्'' (मु०उ० १—१—९) इस श्रुतिवाक्य से अनुवाद किया गया है ऐसा मानने पर। श्रुतेन ज्ञाननिवर्त्यत्वेन आक्षिप्तं विश्वमिथ्यात्वं विश्वं सत्यमित्यनेन निषेद्धुं नेह नानेत्यनेन अनूद्यते। इस प्रकार से मूल में प्रथम अन्वय करना चाहिये। इसमें अर्थापत्ति का आकार होगा—विश्वस्य मिथ्यात्वं विना श्रुतं (श्रुतिकथितं) ज्ञाननिवर्त्यत्वमनुपपन्नम्। अर्थात् प्रपञ्च में श्रुत ज्ञान निवर्त्यत्व के द्वारा आक्षिप्त मिथ्यात्व का ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य से निषेध करने के लिये ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इस वाक्य से अनुवाद मात्र किया गया— ऐसा मानना होगा। मूल में द्वितीय अन्वय इस प्रकार से होगा— जगदारोपाधिष्ठानत्वेन आक्षिप्तं ब्रह्मसत्त्वं असद्वा इत्यनेन निषेद्धुं सत्यं ज्ञानमित्यनेन अनूद्यते। इसमें अर्थापत्ति का आकार होगा— ब्राह्मणः सत्त्वं विना जगदारोपाधिष्ठानत्वमनुपपन्नम्। अर्थात् ब्रह्म में श्रुत अधिष्ठानत्व के द्वारा आक्षिप्त ब्रह्मसत्व का ''असद्वा इदमग्र आसीत्''। इस वाक्य के द्वारा निषेध करने के लिये ''सत्यं ज्ञानम्'' इस वाक्य से अनुवाद मात्र किया गया है—ऐसा मानना होगा। मूल में तृतीय अन्वय इस प्रकार से कहा गया है — स एवेदं सर्वमात्मैवेदं सर्वमिति श्रुतेन जीवब्रह्मणोः सार्वात्म्येन आक्षिप्तं जीवब्रह्मैक्य द्वा सुपर्णा इत्यनेन च निषेद्धुं तत्त्वमसीत्यनेन चानूद्यते। इसमें अर्थापत्ति का आकार होगा—जीवब्रह्मणोः ऐक्यं विना जीवब्रह्मणोः सार्वात्म्यमनुपपन्नम्। अर्थात् ''स एवेदं सर्वमात्मैवेदं सर्वम्'' (छा० ७—२५—२) इस श्रुति के द्वारा कथित जीवब्रह्म का सार्वात्म्य के द्वारा आक्षिप्त जीवब्रह्मभेद का ''द्वा सुपर्णा'' इस वाक्य से निषेध करने के लिये ''तत्त्वमसि'' इस वाक्य से अनुवाद किया गया है—ऐसा मानना होगा।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि मूल में प्रथम अन्वय करके यह जो कहा गया कि विश्व मिथ्यात्व का ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति के द्वारा निषेध करने के लिये ''नेह नानास्ति किञ्चन'' के द्वारा विश्वमिथ्यात्व का अनुवाद किया गया है, वह कथन ठीक नहीं है क्योंकि ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य में निषेध को बतलाने वाला कोई पद नहीं है। इसी प्रकार मूल के तृतीय अन्वय में ''द्वा सुपर्णा'' में भी कोई

निषेधकत्वासम्भवात्, असद्वा इत्यत्र तु नञ्सत्त्वेऽपि नामपदसमभिव्याहृतत्वेन निषेधकत्वासम्भवात्, 'द्वा सुपर्णा'इत्यस्य पैङ्गिरहस्यब्राह्मणे बुद्धिजीवपरतया व्याकृतत्वेन जीवब्रह्मभेदाबोधकत्वात्, फलतो निषेधत्वोपपादने दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात्। तथाहि—सार्वज्ञ्यस्य निषेधप्रतियोगितया मिथ्याभूतत्वेऽपि नाक्षेपानुपपत्ति:; आरोपितेनाप्याक्षेपकजगत्कर्तृत्वनिर्वाहात्, आक्षिप्तविश्वमिथ्यात्वब्रह्मसत्वजीवब्रह्मैक्यानां निषेधे तु

सत्यानन्दप्रबोधिका

निषेध का सूचक पद नहीं है। अत: इन वाक्यों के द्वारा किसी का निषेध होता है— ऐसा कथन सर्वथा ही असङ्गत है। ''असद्वा इदमग्र आसीत्'' इस वाक्य में नञ् का प्रयोग होने पर भी वह निषेधार्थक नहीं है अपितु पर्युदासार्थक है, क्योंकि नञ् का अन्वय सत् —इस नाम पद के साथ है। जैसा कि कहा गया है —

द्वौ नञौ समाख्यातौ पर्युदासप्रसज्यकौ। पर्युदास:सदृशग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत्।।
पर्युदास: स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्। प्रसज्यप्रतिषेधस्तु क्रियया सह यत्र नञ्।।

अर्थात् नञ् पर्युदासार्थक और निषेधार्थक होता है। पर्युदास का अर्थ तद्भिन्न तद्सदृश और निषेध का अभाव अर्थ लेते हैं। जिस नञ् के बाद नामादि पद हैं वहां पर्युदास अर्थ लिया जायेगा और जिस नञ् के बाद क्रिया है, वहां अभाव अर्थ लिया जायेगा। पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि ''द्वा सुपर्णा'' इस वाक्य के द्वारा जीव ब्रह्म के अभेद का बाध कर के जीव ब्रह्म के भेद का बोध कराया गया है, किन्तु पैङ्गिरहस्य ब्राह्मण में ''द्वा सुपर्णा'' इस वाक्य के द्वारा बुद्धि और जीव का कथन किया गया है, न कि जीव और ब्रह्म का। अत: इस वाक्य के द्वारा जीव और ब्रह्म के भेद का कथन न होने से पूर्वपक्षी का उक्त कथन असङ्गत सिद्ध हो गया। फलत: दार्ष्टान्त में अर्थात् सर्वज्ञतादि के निषेधत्व के उपपादन के लिये सिद्धान्ती ने कहा था ''ब्राह्मण: सर्वज्ञत्वं विना श्रुतं (श्रुतिकथितं) जगत्कर्तृत्वमनुपपन्नम्।'' इस प्रकार जगत् कर्तृत्व के द्वारा जो सर्वज्ञत्व का आक्षेप हुआ। उस सर्वज्ञत्व का निर्गुण वाक्य के द्वारा निषेध करने के लिये ''य: सर्वज्ञ: सर्ववित्'' (मु०उ० १—१—९) इस श्रुति से अनुवाद किया गया है। इस सिद्धान्त पक्ष का विरोध करते हुये पूर्वपक्षी ने इसी खण्ड संख्या १९ के प्रारम्भ में जो तीन दृष्टान्त दिये हैं। उन दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है, क्योंकि दार्ष्टान्त में अर्थापत्ति बन जायेगी परन्तु दृष्टान्त में अर्थापत्ति नहीं बन पायेगी। जैसे ''साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'' (श्वे०उ० ६—११) इत्यादि निर्गुण वाक्यों के द्वारा सर्वज्ञतादि का निषेध हो जाता है। अत: सर्वज्ञतादि में निषेधप्रतियोगित्वेन मिथ्यात्व सिद्ध हो जाने पर भी उसके आक्षेप की अनुपपत्ति नहीं होती है क्योंकि व्यावहारिक सर्वज्ञतादि के द्वारा भी जगत्कर्तृत्व रूप आक्षेपक की सिद्धि हो जायेगी। इस प्रकार दार्ष्टान्त में कोई दोष नहीं है, किन्तु दृष्टान्त में दोष है—जैसे प्रथम दृष्टान्त स्थल पर विश्व मिथ्यात्व जो कि ज्ञाननिवर्त्यत्व के द्वारा आक्षिप्त है। उस विश्व मिथ्यात्व का ''विश्वं सत्यम्'' के द्वारा निषेध करने के लिये ''नेह नानास्ति किञ्चन'' के द्वारा अनुवाद किया। यहां आक्षिप्त विश्व मिथ्यात्व और आक्षेपक ज्ञान निवर्त्यत्व है। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि विश्व मिथ्यात्व का यदि ''विश्वं सत्यम्'' के द्वारा निषेध कर दिया जाय तब विश्व सत्य हो जायेगा। विश्व सत्य हो जाने पर विश्व में ज्ञाननिवर्त्यत्व (जो आक्षेपक है वह) असम्भव हो जायेगा, क्योंकि सत्य की ज्ञान से निवृत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार द्वितीय दृष्टान्त स्थल पर ब्रह्मसत्त्व जो जगदारोपाधिष्ठानत्व रूप आक्षेपक द्वारा अक्षिप्त है। उस ब्रह्म सत्त्व का ''असद्वा'' इस वाक्य के द्वारा निषेध करने के लिए ''सत्यं ज्ञानम्'' के द्वारा अनुवाद किया गया है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि यदि ब्रह्म सत्त्व का निषेध कर दिया जाता है तब तो ब्रह्म असत् हो जायेगा। ब्रह्म असत् हो जाने पर जगदारोपाधिष्ठानत्व रूप आक्षेपक ही सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि आरोप स्थल

ज्ञाननिवर्त्यत्वादीनां त्रयाणामाक्षेपकाणामसम्भवः स्यात्, सत्यस्य ज्ञानादनिवृत्तेः, असत्यस्य अधिष्ठानत्वायोगात्, भेदे सार्वात्म्यायोगाच्च। एतेन— अद्वैतश्रुतेर्निर्गुणश्रुत्यन्तरस्य वा तात्पर्यपरिज्ञानप्राप्तनिर्गुणत्वमेव सगुणवाक्येन निषेद्धुं निर्गुणवाक्येनानूद्यत—इति निरस्तम्; तात्पर्यपरिज्ञानप्राप्तत्वे निषेधार्थमनुवादायोगात्।।१९।।

ननु—'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'इत्यादिना द्रष्टृत्वादिगुणविधानात् न तेन तन्निषेधः; तदर्थं च सगुणवाक्यं नानुवादकम्, अन्यथा सार्वज्ञ्यादेर्व्यावहारिकत्वमपि न स्यात्, नहि निषिद्धे ब्रह्महननादाववान्तरतात्पर्य्यम्। नच औपनिषदस्य ब्रह्मणः सार्वज्ञ्यादिकमनुमानादिसिद्धमिति—चेन्न;

सत्यानन्दप्रबोधिका

पर असत् अधिष्ठान होता ही नहीं है। इसी प्रकार तृतीय दृष्टान्त स्थल पर जीवब्रह्मैक्य जो कि जीव ब्रह्म के सार्वात्म्य (आक्षेपक) के द्वारा अक्षिप्त है। जीव ब्रह्मैक्य का ''द्वा सुपर्णा'' के द्वारा निषेध करने के लिए ''तत्त्वमसि'' के द्वारा अनुवाद किया गया। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि यदि जीव ब्रह्म के ऐक्य का ''द्वा सुपर्णा'' के द्वारा निषेध कर दिया जाता है तब तो जीव ब्रह्म में भेद सिद्ध हो जायेगा। ऐसा होने पर जीव ब्रह्म का सार्वात्म्य (आक्षेपक) असम्भव हो जायेगा, क्योंकि जीव और ब्रह्म में भेद मानने पर दोनों सार्वात्म्य नहीं हो सकते हैं।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि अद्वैत श्रुति या निर्गुण बोधक श्रुत्यन्तर के षड्विध तात्पर्यलिङ्गों के द्वारा निश्चित जो निर्गुणत्व है। उस निर्गुणत्व का ही सगुणवाक्य से निषेध करने के लिए ''साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'' (श्वेता० ६—१०) इत्यादि निर्गुण वाक्यों के द्वारा अनुवाद किया गया है।

समाधान— एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है उसे एतेन से कहा गया। एतेन का अर्थ है—निषेध वाक्य को अपेक्षित जो निषेध्य (निषेध का प्रतियोगी) उसकी प्राप्ति सगुण वाक्य के द्वारा होती है ऐसा मानने से सगुण वाक्य और निर्गुण वाक्य दोनों की जब एक वाक्यता सम्भव है तब वाक्य भेद मानकर इन दोनों वाक्यों की व्याख्या करना अनुचित है। पूर्वपक्षी का उक्त कथन असङ्गत है— इसमें हेत्वन्तर देते हुए कह रहे हैं कि षड्विधतात्पर्य लिङ्ग के द्वारा निर्णीत वस्तु ही प्रमा का विषय होती है। जो प्रमा का विषयीभूत होता है। उसका निषेध नहीं होता है। जब निषेध नहीं होता तब उसके निषेध के लिए उसका अनुवाद मानना सर्वथा ही अनुचित है।।१९।।

शङ्का— ''साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च (श्वेता० ६ — ११) इत्यादि वाक्यों से द्रष्टृत्व चेतृत्व केवलत्वादि गुणों का विधान होने से उक्त वाक्यों के द्वारा सगुण वाक्यों में पठित गुणों का निषेध नहीं माना जा सकता है। अतः निर्गुण वाक्यों के द्वारा निषेध्य गुणों की अनुवादकता सगुण वाक्यों में नहीं सिद्ध हो सकती है। अन्यथा = निर्गुण वाक्यों के द्वारा सार्वज्ञ्यादि गुणों का निषेध मानने पर, सार्वज्ञ्यादि गुणों में व्यावहारिकत्व भी सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि श्रुतिनिषिद्ध पदार्थ में अवान्तर तात्पर्य नहीं होता है। जैसे श्रुतिनिषिद्ध ब्रह्म हत्यादि में श्रुति का अवान्तर तात्पर्य नहीं होता है। यदि कहा जाय कि ''य सर्वज्ञः सर्ववित्'' इत्यादि वाक्य सर्वज्ञादि गुणों का अनुवाद करते हैं। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त श्रुति वाक्य को अनुवादक तभी माना जा सकता है, यदि श्रुति प्रमाण से भिन्न किसी प्रमाण से सर्वज्ञादि गुण ब्रह्म में रहता है— यह सिद्ध हो परन्तु ब्रह्म तो औपनिषद है अर्थात् उपनिषद् प्रमाण मात्र द्वारा गम्य है। अतः उसमें रहने वाले सर्वज्ञादि गुण उपनिषद् भिन्न अनुमानादि किसी प्रमाण के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। अतः उक्त श्रुति वाक्यों को गुणों का अनुवादक नहीं माना जा सकता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''प्रत्यक्षस्य भाविबाधविचारः''

अविद्यासिद्धसाक्षित्वाद्यनुवादेन तटस्थलक्षणद्वारा ब्रह्मपरतया गुणपरत्वाभावात् गुणनिषेधकतोपपत्तेः। नच निषिद्धे ब्रह्महननादाववान्तरतात्पर्याभाववदत्रापि तदभावे सार्वज्ञ्यं व्यावहारिकमपि न स्यादिति—वाच्यम्, देवताविग्रहादौ विधिस्तुतिद्वारतयोपात्ते प्रमाणान्तरप्राप्तिविरोधयोरभावात्; तदत्यागमात्रेण तत्सिद्धिवदत्रापि निषेधौपयिकतयोपात्तस्य सार्वज्ञ्यादेर्मानान्तरादप्राप्तस्य व्यावहारिकप्रमाणानिषिद्धतया व्यवहारदशायामत्यागमात्रेण व्यावहारिकत्वोपपत्तेः। ब्रह्महननादिकं तु मानान्तरप्राप्तमिति विशेषः॥२०॥

नच तद्बोधकत्वं तत्तात्पर्यनियतम्, विशिष्टविधेर्विशेषणबोधकत्वेऽपि विशेषणे अतात्पर्यात्, विशिष्टस्यातिरेकात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

के खण्ड संख्या ५ में, ''अज्ञाने प्रत्यक्षप्रमाणविचारः'' के खण्ड संख्या ५० में, ''अविद्याप्रतीतिविचारः'' के खण्ड संख्या १ में अविद्या से सिद्ध साक्षी पदार्थ है— इसको कहा जा चुका है। जो अविद्या से सिद्ध साक्षित्वादि हैं, उन्हीं का अनुवाद ''साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'' यह वाक्य करता हुआ (न कि विधान करता हुआ) तटस्थ लक्षण प्रणाली से अर्थात् सर्वसाक्षित्वादि वैशिष्ट्य के द्वारा ब्रह्म का बोधक होता है न कि गुण का बोधक होता है। अतः सगुण वाक्यों के द्वारा बोधित गुणों में निर्गुण वाक्य की निषेधकता उपपन्न हो जाती है और निर्गुण वाक्यों के द्वारा निषेध्य गुणों की अनुवादकता सगुणवाक्यों में स्थिर हो जाती है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि जैसे श्रुति के द्वारा निषिद्ध ब्रह्महत्यादि मे श्रुति का अवान्तर तात्पर्य नहीं होता है वैसे ही निर्गुण वाक्यों के द्वारा सगुण वाक्यों में पठित सार्वज्ञ्यादि गुणों का निषेध हो जाने से सार्वज्ञ्यादि गुणों में श्रुति का अवान्तर तात्पर्य सिद्ध नहीं होगा। अवान्तर तात्पर्य के न होने से सार्वज्ञ्यादि में व्यावहारिकत्व की भी सिद्धि नहीं हो पायेगी, क्योंकि अवान्तर तात्पर्य विषयीभूत पदार्थ को व्यावहारिक माना जाता है— ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि ''वज्रहस्तः पुरन्दरः'' इत्यादि अर्थवाद वाक्य से बोधित होता है कि देवता शरीरधारी होते हैं। यह विधि के स्तुति के माध्यम से श्रुति के द्वारा बोधित किया गया। ''वज्रहस्तः पुरन्दरः'' इस वाक्य से बोधित देवता के प्रामाण्य का परित्याग तभी होता यदि उस देवता विग्रह आदि में अनुमानादि प्रमाणान्तर से प्राप्ति या अनुमानादि प्रामाणान्तर से विरोध होता। किन्तु यहाँ प्रामाणान्तर से प्राप्ति या अनुमानादि प्रामाणान्तर से विरोध होता। किन्तु यहाँ प्रामाणान्तर से प्राप्ति या विरोध दोनों ही नहीं है। अतः ''वज्रहस्तः पुरन्दरः'' इस वाक्य का देवता विग्रह में प्रामाण्य का परित्याग करना सम्भव न होने के कारण ''वज्रहस्तः पुरन्दरः'' इस वाक्य के द्वारा व्यावहारिक देवता शरीर की सिद्धि जैसे हो जाती है वैसे ही प्रकृत में ''साक्षी चेता'' इस वाक्य के द्वारा जो गुणादि का निषेध रूप कार्य है। उस निषेध रूप कार्य में औपायिकतया = सहायकतया सगुण बोधक वाक्य हैं। अर्थात् निर्गुणवाक्य के द्वारा जो सर्वज्ञतादि गुणों का निषेध किया गया है। वह निषेध प्राप्ति के विना हो नहीं सकता। अतः ''यः सर्वज्ञः सर्ववित्'' इत्यादि श्रुति के द्वारा जो सर्वज्ञतादि कही गयी है। वह उक्त निषेध का सहायक है। इस प्रकार निषेध वाक्यों के सहायक सगुण वाक्यों से बोधित सर्वज्ञतादि है, उसकी प्राप्ति श्रुति भिन्न प्रमाण से नहीं है और व्यावहारिक प्रमाणों से उनका निषेध न होने से व्यवहार दशा में उनका त्याग नहीं किया जा सकता है। अतः सर्वज्ञतादि विषयक ज्ञान में व्यावहारिक प्रामाण्य स्थिर हो जायेगा। आगे यह दिखा रहे है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। जैसे ब्रह्म हत्यादि प्रमाणान्तर का विषय है और ब्रह्म—सर्वज्ञतादि श्रुति मात्र गम्य है। इस वैषम्य के कारण ब्रह्म हत्यादि में अवान्तर तात्पर्य नहीं माना जाता है किन्तु सर्वज्ञतादि में अवान्तर तात्पर्य माना जाता है।२०॥

शङ्का— जिस प्रमाण के द्वारा जिसका बोधन होता है, उस प्रमाण के द्वारा उसके बोधन में परम तात्पर्य

अन्यशेषतयोपात्तेऽपि सार्वज्ञ्यादौ तात्पर्ये वाक्यभेदापत्तेः। नच—तर्हि

'उपासनायाः कार्यत्वे विष्णोरात्मत्व एव च।
उभयत्रापि तात्पर्यमात्मोपासादिके विधौ'।।

इति स्मृतिविरोध इति—वाच्यम्, देवताधिकरणन्यायेनोभयसिद्धिपरत्वाद् उभयत्र तात्पर्य स्मृतेरप्रमाणत्वात्, यः सर्वज्ञ इत्यादावुपासनाप्रकरणस्थत्वाभावेऽपि तटस्थलक्षणद्वारा ब्रह्मप्रतिपादने तात्पर्येण विशेषणे अतात्पर्यात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

भी होता है। इसके अनुसार व्याप्ति होगी— यत्र यद् बोध्यत्वम्, तत्र तत्तात्पर्यविषयम्। इस व्याप्ति के बल पर सिद्ध हुआ कि ''यः सर्वज्ञः सर्ववित्'' इस वाक्य के द्वारा सर्वज्ञता का बोधन हुआ। अतः इस श्रुति वाक्य का परम तात्पर्य सर्वज्ञता के बोधन में माना जायेगा न कि अवान्तर तात्पर्य।

समाधानः— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त व्याप्ति व्यभिचारदोष से ग्रस्त है। जैसे किसी वाक्य प्रमाण से विशिष्ट विधि का जहाँ बोध होता है, वहाँ पर विशिष्ट विधि का घटक जो विशेषण है, उसका भी बोध होता है किन्तु विशेषण में तात्पर्य विषयता विशिष्ट विधि की नहीं मानी जाती है, क्योंकि विशेषण और विशेष्य से अतिरिक्त ही विशिष्ट को माना जाता है। अतः विशेषण में व्याप्य के होने पर भी व्यापक के न होने से विशेषण में व्यभिचार दोष हो गया। अतः उक्त व्याप्ति भङ्ग हो गयी। पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि निर्गुण वाक्य का शेष सगुण वाक्य है। सगुण वाक्य के द्वारा बोधित सर्वज्ञतादि में अवान्तर तात्पर्य होता है। इस पर यदि पूर्वपक्षी सगुण वाक्यों का परम तात्पर्य भी मानता है तब सगुण वाक्य के द्वारा अवान्तर तात्पर्य और परम तात्पर्य मानने पर वाक्य भेदापत्ति होगी।

शङ्का— पूर्वोक्त व्याप्ति में आये हुए व्यभिचारदोष का वारण करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त व्याप्ति में व्यभिचार दोष नहीं होगा, क्योंकि विशिष्ट विधि का विशेषण में भी तात्पर्य होता है। विशिष्ट विधि का विशेषण में तात्पर्य न मानने पर स्मृति से विरोध होगा। स्मृति का कथन है—

उपासनायाः कार्यत्वे विष्णोरात्मत्व एव च। उभयत्रापि तात्पर्यमात्मोपासादिके विधौ।।

श्लोक का अन्वय— आत्मोपासादिके विधौ उपासनायाः कार्यत्वे विष्णोरात्मत्व एव च उभयत्रापि तात्पर्यम्। अर्थात सगुण वाक्य जो कि सत्यकामत्वादि गुण युक्त ईश्वर की विधि हैं। उनका दो अर्थों में तात्पर्य है। प्रथम—तादृश गुण युक्त ईश्वर की उपासना कार्य (कर्तव्य) है और द्वितीय— सत्यकामादि ईश्वर के स्वरूप ही हैं। इस प्रकार से उभयत्र = उपासना का कार्यत्व और विष्णु का स्वरूपत्व दोनों में ही विधि का तात्पर्य है। अतः विशेषण में भी विधि का तात्पर्य होने से उक्त व्यभिचारदोष नहीं होगा।

समाधान— प्रमाणान्तर से प्राप्ति और विरोध जहाँ नहीं होता है,वहाँ अर्थवाद से देवता विग्रहादि और विधि स्तुति की सिद्धि हो जाती है ठीक ऐसे ही सगुण वाक्य के द्वारा उपासना विधि और व्यावहारिक सत्य कामत्वादि की सिद्धि हो जायेगी किन्तु उन दोनों में (उपासना विधि और व्यावहारिक सत्यकामत्वादि में) तात्पर्य नहीं माना जाता है। अतः उक्त स्मृति भी उक्त उभय तात्पर्य में प्रमाणित नहीं है। इस पर पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सर्वज्ञता का बोधक वाक्य यदि उपासना प्रकरण में पठित होता तो यह कहा जा सकता था कि सर्वज्ञतादि के बोधन में उक्त वाक्य का तात्पर्य नहीं है किन्तु यह वाक्य उपासना प्रकरण में पठित नहीं है। अतः उक्त वाक्य का सर्वज्ञतादि बोधन में मुख्य तात्पर्य मानना चाहिए। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त वाक्य उपासना प्रकरण में पठित न होने पर भी उक्त वाक्य का मुख्य तात्पर्य गुणों में नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उक्त वाक्य का ब्रह्म के तटस्थ लक्षण के बोधन के माध्यम से

अन्यथा एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधापत्तेः। न च–'आत्मेत्येवोपासीत'इत्यत्राद्वैतस्याप्युपास्यत्वेन उपासनाशेषतया अद्वैतासिद्धिः स्यादिति–वाच्यम्; अनेन 'ह्येतत् सर्वं वेद'इत्युत्तरवाक्यस्थविदिसमानार्थतया उपास्तिशब्दस्य क्रियावाचकत्वाभावात्। नच ज्ञाने विधिः, तस्य निराकरिष्यमाणत्वात्। नच–विधिश्रुत्यानर्थक्यम्, बाह्यविषयात् परावृत्यचित्तस्य प्रत्यगात्मप्रवणतासम्पादकत्वात्।।२१ ।।

'अथ योऽन्यां देवतामुपास्त' इत्यादेर्न स वेदेत्युत्तरवाक्यपर्यालोचनया भेददर्शननिन्दापरतया उपास्तिपरता

सत्यानन्दप्रबोधिका

ब्रह्म प्रतिपादन में ही तात्पर्य है न कि विशेषण (गुण) के प्रतिपादन में तात्पर्य है। इसे खण्ड संख्या २० में ''तटस्थलक्षणद्वाराब्रह्मपरतया गुणपरत्वाभावात्'' से भी कहा जा चुका है। अन्यथा = यः सर्वज्ञः सर्ववित्'' (मु० १–१–९) इस वाक्य को ब्रह्म का बोधन न मानकर सर्वज्ञतादि गुण का बोधक मानने पर, जिस प्रश्न (कस्मिन् नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति (मु० १–१–३) के उत्तर में ''यः सर्वज्ञः'' इस वाक्य का कथन किया गया है, वह प्रश्न ही असङ्गत हो जायेगा, क्योंकि प्रश्न ब्रह्म के विषय में है और उत्तर सर्वज्ञतादि रूप गुण के विषय में दिया गया।

शङ्का– पूर्वपक्षी इस भाव को लेकर शङ्का कर रहा है कि जो उपासना प्रकरण में पठित वाक्य है उन वाक्यों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता है– ऐसा मानने पर ''आत्मेत्येवोपासीत'' (बृ०उ० १–४–७) इस श्रुति में अद्वैत भी उपास्य होने से उपासना का अङ्ग है। उपासना बोधक वाक्यों का स्वार्थ में तात्पर्य न होने से उक्त वाक्य के द्वारा अद्वैत की सिद्धि नहीं हो पायेगी। कहने का भाव यह है कि श्रुति में जो एव आया है, उस एव के द्वारा आत्मा के पृथक् गुणों के उपास्यत्व की व्यावृत्ति हो जाने से अद्वैत (गुण से रहित) आत्मा ही उपास्य है। अतः अद्वैत की उपासना कही गयी। इसलिए उपासना का अङ्ग अद्वैत हो गया। उपासना बोधक वाक्यों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता है। अतः अद्वैत की असिद्धि हो गयी।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ''आत्मेत्येवोपासीत'' इस वाक्य के आगे का वाक्य है–''अनेन हि एतत्सर्वं वेद'' (बृ०उ० १–४–७)। इस वाक्य में ज्ञानार्थक वेद का पाठ होने से पीछे वाले वाक्य में पठित उपासीत शब्द का भी अर्थ ज्ञान ही लिया जायेगा, न कि उपासना क्रिया। अतः उपासना क्रिया अर्थ लेकर दिये गये दोष की निवृत्ति हो गयी। यदि कहो कि उपासना का अर्थ ज्ञान लेने पर ज्ञान में विधि मानना होगा– ऐसा नहीं, क्योंकि ज्ञान पुरुष तन्त्र न होकर वस्तु तन्त्र होने के कारण विधेय नहीं होता है– यह आगे कहा जायेगा। इस पर प्रश्न होता है कि ''उपासीत'' यहाँ पर लिङ् प्रत्यय के द्वारा जो विधान किया गया है, वह तो व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि ''उपासीत'' का अर्थ ज्ञान लेने पर ज्ञान में विधान होता ही नहीं है। इसका उत्तर यह है कि उक्त लिङ् प्रत्यय व्यर्थ नहीं हैं, क्योंकि वाह्य विषयों से चित्त को हटाकर जो चित्त की प्रत्यगात्म प्रवणता अर्थात् आत्मरति का विधान है, वह उक्त लिङ् प्रत्यय से होता है। अतः उक्त प्रकार से व्यर्थतापत्ति दोष नहीं दिया जा सकता है।।२१ ।।

इसी प्रकार ''अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते'' (बृ०उ० १–४–१०) इस श्रुति में अद्वैत उपास्य होने से उपासना का अङ्ग है। उपासना बोधक वाक्यों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता है। अतः अद्वैत की सिद्धि नहीं हो पायेगी– यह जो पूर्वपक्षी का कथन है वह भी उचित नहीं है, क्योंकि ''अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते'' (बृ०उ० १–४–१०) इत्यादि वाक्य का तात्पर्य ''य एवं वेद'' (बृ०उ० १–४–१०) इस उत्तर वाक्य के विचार करने पर यह निकलता है कि उक्त वाक्य भेद दर्शन निन्दा का बोधक है, उपासना का बोधक नहीं है। अतः उक्त वाक्य को उपासना परक मानकर दिया गया दोष खण्डित हो गया। इस

शङ्कैव नास्ति। न चोपक्रमानुसारेण उपसंहारनयनम्; अनेन ह्येतत्सर्वं वेदेत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा–विरोधेनोपसंहारस्यैव प्राबल्यात्। यत्तु गुणोपसंहारपादे 'आनन्दादयः प्रधानस्ये'तिसूत्रे आनन्दं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतानामानन्दादीनां 'व्यतिहार' इति सूत्रे। 'तद्योऽहमिति श्रुत्युक्तस्य जीवे ईश्वरत्वस्य ईश्वरे वा जीवत्वस्य उपास्यतयोक्तत्वादुत्तरतापनीयादौ निर्गुणोपास्तेरुक्तत्वेऽपि यथानन्दादेरैक्यस्य निर्गुणत्वस्य च सिद्धिः, तथा सत्यकामत्वादेरपि तात्त्विकतास्त्विति, तन्न; 'आनन्दादय' इति सूत्रेण लक्ष्याखण्डवाक्यार्थसिद्ध्यर्थं वाच्यवाक्यार्थोपसंहारस्य क्रियमाणत्वेन उपास्यत्वानुक्तेः। व्यतिहारसूत्रे च 'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ

सत्यानन्दप्रबोधिका

पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि उपक्रम असञ्जात विरोधी होता है। अतः उपक्रम उपसंहार से बलवान होता है इसलिए ''आत्मेत्येवोपासीत'' (बृ०उ० १–४–७) इस उपक्रम के अनुसार ''य एवं वेद'' (बृ०उ० १–४–१०) इस उपसंहार वाक्य का अर्थ करना चाहिए। अर्थात् जब उपक्रम में ''उपासीत'' से उपासना कही गयी है तब उपसंहार वाक्य के वेद शब्द का अर्थ भी उपासना ही करना चाहिए, इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यद्यपि असञ्जात विरोधि होने से उपसंहार की अपेक्षा उपक्रम बलवान होता है तथापि ''अनेन हि एतत्सर्वं वेद'' (बृ०उ० १–४–७) इत्याकारक जो एक के विज्ञान से सर्व के विज्ञान की प्रतिज्ञा है उसके साथ उपक्रम का विरोध होने से उपक्रम दुर्बल हो जाता है और उपसंहार बलवान हो जाता है। अतः यहाँ उपसंहार के अनुसार ही उपक्रम वाक्य का अर्थ करना चाहिए।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि उपास्यत्वेन निर्दिष्ट सत्यकाम– सर्वज्ञत्वादि गुणों को भी तात्त्विक मानना युक्ति युक्त है। कैसे? इसको स्पष्ट करने के लिए पूर्वपक्षी तीन दृष्टान्त दे रहा है। मूलस्थ प्रथम दृष्टान्त का अन्वय– यत्तु गुणोपसंहारपादे ''आनन्दादयः प्रधानस्य'' इति सूत्रे ''आनन्दं ब्रह्म'' इत्यादि श्रुतानामानन्दादीनां उपास्यतया उक्तत्वादपि यथानन्दादेः (तात्त्विकत्व) सिद्धिः। (अर्थात् गुणोपसंहार में ''आनन्दादयः प्रधानस्य '' (ब्र०सू० ३–३–११) इस सूत्र में ''आनन्दं ब्रह्म'' (तै०उ० २–४–१) इस श्रुति में उपास्यत्वेन निर्दिष्ट आनन्दादि को तात्त्विक माना गया है वैसे ही उपास्यत्वेन निर्दिष्ट सत्यकामादि को भी तात्त्विक माना ही जा सकता है। मूलस्थ द्वितीय दृष्टान्त का अन्वय–व्यतिहार इति सूत्रे ''तद्योऽहम्'' इति श्रुत्युक्तस्य जीवे ईश्वरत्वस्य ईश्वरे वा जीवत्वस्य उपास्यतया उक्तत्वादपि यथा ऐक्यस्य (तात्त्विकत्व) सिद्धिः। अर्थात् ''व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत्'' (ब्र०सू० ३–३–३७) इस सूत्र में ''तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्'' (ऐत०आ० ३–४–३) इस श्रुति के द्वारा जैसे जीव में ईश्वरत्व का और ईश्वर में जीवत्व का अर्थात् जीवेश्वरैक्य का उपास्यतया कथन होने पर भी जीवेश्वरैक्य को तात्त्विक माना गया है वैसे प्रकृत में भी सत्यकामत्वादि को भी तात्त्विक माना ही जा सकता है। मूलस्थ तृतीय दृष्टान्त का अन्वय– उत्तरतापनीयादौ निर्गुणोपास्तेरुक्तत्वेऽपि यथा च निर्गुणत्वस्य (तात्त्विकत्व) सिद्धिः। अर्थात् जैसे उत्तरतापनीयादि उपनिषदों निर्गुणता का उपास्यत्वेन कथन होने पर भी निर्गुणत्व को तात्त्विक माना गया है। वैसे ही प्रकृत में भी उपास्यत्वेन कथित सत्यकामादि को तात्त्विक मानना उचित है।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती का कथन है कि ''आनन्दादयः प्रधानस्य (ब्र०सू०–३–३–११) इस सूत्र के द्वारा वेदान्त सिद्धान्त का लक्ष्यभूत अखण्ड वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए द्वारीभूत वाच्यरूप वाक्यार्थ का उपसंहार किया गया है। अर्थात् निर्गुण ब्रह्म प्रतिपादक श्रुतियों में से किसी श्रुति में ब्रह्म में सत्यस्वरूपत्व कहा गया है, किसी श्रुति में ब्रह्म में आनन्दस्वरूपत्व और किसी श्रुति में ब्रह्म में अस्थूलादि स्वरूपत्व कहा गया है। वाच्यार्थ भूत उन सभी वाक्यार्थों को सर्वत्र उपसंहार (एकत्र) कर

सोऽहम्'इत्युक्तस्य जीवे ईश्वराभेदध्यानस्येश्वरे वा, जीवाभेदध्यानस्योपासनाप्रकरणपठितश्रुत्युक्तस्य जीवेश्वराभेदः सगुणोपासनरूपेणापि दृढीकर्तव्य इत्येवम्परतया ऐक्यस्य उपासनाविषयत्वेऽपि न सत्यकामत्वादिवदतात्त्विकत्वम्। न चैक्यवत् सत्यकामत्वादीनां तात्त्विकता, अनुपासनाप्रकरणस्थतत्पर—वाक्यबोधितत्वाबोधितत्वाभ्यां विशेषात्, उत्तरतापनीयादौ श्रुतोपास्तेर्ज्ञानपरत्वात्, उपास्तेर्विशिष्टविषयत्वेन निर्विशेषविषयत्वाभावात्।।२२।।

यत्तु यथा ध्यानार्थेऽपि सत्यकामादिगुणोपदेशे तद्गुण ईश्वरः प्रसिद्ध्यति, तद्वदैक्यमिति भाष्यपर्यालोचनया ऐक्यवत् सत्यकामत्वादिसिद्धिरिति, तन्न; तत्र स गुणो यस्य स ईश्वरः प्रसिद्ध्यति इत्यर्थः, नतु गुणस्यापि प्रसिद्धिः, निर्गुणश्रुत्यनुसारेणातद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहावेव तात्पर्य्यात्। तथा चैक्यसिद्धावीश्वरस्य निदर्शनत्वम्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

के लक्ष्यभूत अखण्ड वाक्यार्थ (निर्गुण ब्रह्म) को कहा गया है। वहाँ पर आनन्दादि का उपास्यत्व नहीं कहा गया है। व्यतिहार सूत्र में ''तद् योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्'' इस प्रकार उपासना प्रकरण में पठित श्रुति के द्वारा जीव में ईश्वराभेद और ईश्वर में जीवाभेद अर्थात् जीवब्रह्मैक्य सगुण उपासना रूप द्वार के माध यम से दृढ़ीकर्तव्य है— यह कहा जा रहा है। श्रुति की उक्त विध अभिप्रेतार्थकता होने से ऐक्य में उपासना विषयत्व होने पर भी सत्यकामत्वादि के जैसे अतात्त्विकत्व नहीं है अर्थात् तत्परक तत्त्वमसि इत्यादि वाक्यों के द्वारा बोधित होने के कारण ऐक्य तात्त्विक है और तत्परक वाक्यों के द्वारा बोधित न होने के कारण सत्यकामत्वादि गुण अतात्त्विक है। यदि कहा जाय कि जैसे ऐक्य में तात्त्विकत्व मान रहे हैं वैसे ही सत्यकामत्वादि में भी तात्त्विकत्व क्यों नहीं मान रहे हैं? इसका उत्तर यह है कि ऐक्य उपासना प्रकरण में पठित नहीं है अपितु ज्ञानकाण्ड में है और तत्परक वाक्य के द्वारा बोधित है। जबकि सत्यकामत्वादि उपासना प्रकरण में पठित हैं और अतत्परक वाक्य के द्वारा बोधित है। अतः दोनों में एक रूपता नहीं मानी जा सकती है। उत्तरतापनीय उपनिषद् में श्रुत उपास्ति शब्द ज्ञानपरक है, उपासना परक नहीं है। जहाँ उपासना होती है वहाँ पर किसी न किसी विशेष (उपाधि) से विशिष्ट ब्रह्म होता है। उससे भिन्न उपासक जीव होता है, क्योंकि उपास्य और उपासक में भेद होने पर ही उपासना बन सकती है। परन्तु निर्विशेष ब्रह्म तो जीव से अभिन्न है। अतः जीव के लिए निर्विशेष ब्रह्म उपास्य नहीं हो सकता है।।२२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत्'' (ब्र०सू० ३—३—३७) इस सूत्र के भाष्य में कहा है— यथाऽऽध्यानार्थेऽपि सत्यकामादिगुणोपदेशे तद्गुणईश्वरः प्रसिद्ध्यति तद्वत्। (जैसे सत्यकामादि गुणों का उपदेश आध्यान के लिये होने पर भी उन गुणों वाला ईश्वर प्रसिद्ध होता है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये।) इस पर भामती टीका में कहा गया — सत्यकामादिगुणोपदेश इव तद्गुणेश्वरसिद्धिरिति सिद्धमुभयत्रोभयात्मध्यानमिति (जैसे सत्यकामादि गुणों का ध्यान किया जाता है वैसे ही उभयत्र उभयरूपता (ईश्वर में जीव के ऐक्य का और जीव में ईश्वर के ऐक्य का ध्यान करना चाहिये।) इस भाष्य और टीका के अनुसार यह अर्थ होता है कि जैसे ध्यानार्थ भी सत्यकामादि रूप गुणों का उपदेश होने पर भी सत्यकामादि गुण वाला ईश्वर सिद्ध होता है वैसे ही ध्यानार्थ ऐक्य का उपदेश होने पर भी ऐक्य की सिद्धि होती है। फलतः ऐक्य के जैसे सत्यकामादि गुणों की सिद्धि होती है। अर्थात् जैसे ऐक्य तात्त्विक माना जा रहा है वैसे ही सत्यकामादि भी तात्त्विक माने जायेंगे।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त भाष्य घटक ''तद् गुणः'' में अतद्गुणसंविज्ञान बहुब्रीहि है। इसको स्पष्ट करने के लिए विग्रह वाक्य दिखाया गया— सः गुणो यस्य सः तद्गुणः। एवम्भूतः

नतु गुणस्य। एवमेवार्थसिद्धं भवन्नोपेक्षामहे। सत्यकामादिगुणोपदेशात् तद्गुणेश्वरादिसिद्धिरिति टीका नेया। ननु—आनन्दादिवाक्यसत्यकामादिवाक्ययोर्मानान्तराविरोधे तदप्राप्तौ उपासनाविध्यश्रवणे निर्गुणश्रुतिविरोधे च तुल्येऽपि आनन्दादयस्तात्त्विकाः, सत्यकामत्वादयस्त्वतात्त्विकाः इति कथं व्यवस्थेति—चेन्न; आनन्दादीनां ब्रह्मरूपत्वेन निर्गुणश्रुतिविरोधाभावस्य व्यवस्थापकत्वात्। न च —एवं बलशक्त्यादीनामपि 'ज्ञानात्मको

सत्यानन्दप्रबोधिका

ईश्वरः प्रसिद्ध्यतीत्यर्थः। अर्थात् सत्यकामत्वादि गुण है जिसका एवम्भूत ईश्वर प्रसिद्ध होता है— ऐसा अर्थ है। इस प्रकार का समास कर के अर्थ लेने पर गुणों की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतद् गुणसंविज्ञानबहुब्रीहि समास क्यों किया जा रहा है? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि निर्गुण श्रुति के द्वारा गुणों का निषेध कर दिये जाने से ''तद् गुणः'' इस पद में तद्गुणसंविज्ञान बहुब्रीहि मानकर ईश्वर के साथ—साथ गुण की भी सिद्धि नहीं की जा सकती है। अतः अतद् गुण संविज्ञानबहुब्रीहि मानकर केवल ईश्वर की (न कि गुणों की) सिद्धि माननी होगी, क्योंकि जहाँ पर समास घटक पद प्रतिपाद्य गुणों का वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) बहुब्रीहि प्रतिपाद्य अन्य पदार्थ में विवक्षित नहीं होता है। वहाँ पर ही अतद्गुण संविज्ञान बहुब्रीहि समास होता है। इसलिए ऐक्य सिद्धि में केवल ईश्वर को दृष्टान्त बनाया गया है, गुण को दृष्टान्त नहीं बनाया गया है। इस प्रकार से अर्थतः सिद्ध होने वाले ऐक्य को हम लोग उपेक्षित नहीं करते हैं। अर्थात् ''तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्'' इस स्थल पर ईशत्वोपहित में जीवत्वोपहित का जीवत्वोपहित में ईशत्वोपहित का तादात्म्य चिन्तन का विधान किया गया है। उसके निरन्तर चिन्तन के प्रवाह के बल पर उक्त दोनों उपहितों का तादात्म्य दृढ़ होता हुआ अर्थात् जीवत्वेशत्वोपलक्षित का ऐक्य दृढ़ हो जाता है, क्योंकि उक्त उपलक्षित व्यक्ति द्वय के तादात्म्य के विना उक्त उपहित द्वय का तादात्म्य सम्भव नहीं है। इस प्रकार से जो ऐक्य अर्थतः सिद्ध होता है वह तो हम लोगों को अभीष्ट ही है। इसी प्रकार भामती टीका में जो कहा गया कि ''सत्यकामादिगुणोपदेशे तद्गुणेश्वरसिद्धिः'' यहाँ पर भी ''तद्गुण'' की व्याख्या उक्त प्रकार से कर के उक्तार्थ (केवल ईश्वर को न कि गुण) को लेना चाहिए।

शङ्का— सिद्धान्ती के अभी तक के कथन का फलितार्थ यह है कि आनन्दादि तात्त्विक हैं और सत्यकामत्वादि अतात्त्विक (व्यावहारिक) हैं। इस पर पूर्वपक्षी प्रश्न कर रहा है कि ''आनन्दं ब्रह्म'' (तै० उ० २—४—२) तथा ''सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः'' (छा०उ० ८—१—५) ''यः सर्वज्ञः सर्ववित्'' (मु०उ० १—१—९) इत्यादि स्थलों पर मानान्तराविरोध समान है और मानान्तर अप्राप्ति भी समान है तथा सगुण वाक्य उपासना प्रकरण में कहीं पर पठित होने पर भी उपासना प्रकरण से भिन्न प्रकरण ज्ञान प्रकरण में भी पठित है। अतः ज्ञान प्रकरण में पठितत्व भी समान है निर्गुण श्रुति का विरोध भी समान है क्योंकि निर्गुण श्रुति से जैसे सत्यकामत्व सर्वज्ञत्व आदि का निषेध प्रतीत होता है वैसे ही गुणत्वाविशेष से ज्ञान—आनन्द का भी निषेध प्रतीत होता है। इस प्रकार समानता होने पर भी आनन्दादि तात्त्विक है और सत्यकामत्वादि व्यावहारिक है— ऐसा भेद किस के बल पर सिद्धान्ती कर रहे हैं?

समाधान— सत्यकामत्वादि को तात्त्विक मानने पर निर्गुण श्रुति से विरोध होता है और ब्रह्मस्वरूप होने से आनन्दादि को तात्त्विक मानने पर निर्गुण श्रुति से विरोध नहीं है। फलतः उक्त भेद का व्यवस्थापक निर्गुण श्रुति का विरोध और अविरोध है।

शङ्का— एवम् = जो आनन्दादि हैं, वे ब्रह्म स्वरूप है, उनका निर्गुण श्रुति से विरोध नहीं होता है और वे तात्त्विक होते हैं— ऐसा मानने पर, श्रुति में कहा गया—''ज्ञानात्मको भगवान् बलात्मको भगवान्'' और

भगवान्बलात्मको भगवान्’इति श्रुतेः ‘समस्तकल्याणगुणात्मक’ इति श्रुतेश्च (स्मृतेश्च) ब्रह्माभेद इति—वाच्यम्; अस्माकमपि ब्रह्मातिरिक्तिगुणसद्भावप्रद्वेषात्, अभेदे गुणगुणिभावाङ्गीकारस्य पारिभाषिकत्वात्।।२३।।

यत्तु सगुणोपास्तेर्भ्रमत्वे निर्गुणोपास्तेरपि भ्रमतया सम्यक्फलासिद्धिर्ब्रह्मासिद्धिश्च स्यात्। न च—निर्गुणोपासनं यद्यपि भ्रमस्तथापि मणिप्रभायां मणिभ्रम इव सम्यक्फलप्रदम्। तदुक्तम्—

‘स्वयंभ्रमोऽपि सम्वादी यथा सम्यक्फलप्रदः। ब्रह्मतत्त्वोपासनापि तथा मुक्तिफलप्रदा’।।

इति, नापि ब्रह्मासिद्धिः; उपासनस्य भ्रमत्वेऽपि शब्दाज्जायमानस्य ज्ञानस्य प्रमात्वादिति—वाच्यम्; प्रकृतेऽपि तथात्वापत्तेः, मणिप्रभायां मणित्वस्येव ब्रह्मणो मिथ्यात्वाभावेन ध्यानस्यापि सत्यब्रह्मविषयत्वाच्चेति,

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्मृति में कहा गया—समस्तकल्याणगुणात्मकः (समस्तकल्याणगुणात्मकः— इसको न्यायामृत में स्मृति कहा हैं और अद्वैत सिद्धि में श्रुति कहा गया है। इस प्रकार पाठान्तर है) इन श्रुति स्मृति के बल पर पूर्वपक्षी के द्वारा भी ज्ञान—बल—गुणादि को ब्रह्म स्वरूप मानकर निर्गुण श्रुति से विरोध का परिहार कर के ज्ञान—बल—गुणादि को तात्त्विक सिद्ध किया जा सकता है।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि जो ब्रह्म से अभिन्न है अर्थात् ब्रह्मस्वरूप है उसको तात्त्विकादि मानने में हमें कोई विरोध नहीं है। हम ब्रह्म से अतिरिक्त गुणों के तात्त्विक पक्ष का ही निराकरण करते हैं। यदि पूर्वपक्षी उक्त बलादि को ब्रह्म स्वरूप (अभेद) मान लेता है और खड़े होकर गुण गुणीभाव बोलता रहे— इससे सिद्धान्त मत में कोई हानि नहीं होगी किन्तु पूर्वपक्षी का स्वपक्ष ही छूट जायेगा।।२३।।

शङ्का— यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि जिन—जिन श्रुति वाक्यों के द्वारा उपासनाए कही गयी हैं उन—उन श्रुति वाक्यों में भ्रममूलकत्व है। ऐसा नियम होने से सगुण वाक्यों से जो सगुण उपासनाएँ कही गयी है उन उन वाक्यों में भ्रममूलकत्व होने के कारण उन वाक्यों के द्वारा सम्यक् फल की सिद्धि और ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती है। तब पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त व्याप्ति को मानने निर्गुण बोधक वाक्यों से जो निर्गुण उपासनाएँ कही गयी है, उन वाक्यों में भी भ्रममूलकत्व मानना होगा। ऐसा होने पर निर्गुण उपासनाओं (अहंग्रह उपासनादि) का जो क्रममुक्तिरूप फल कहा गया और उसके द्वारा ब्रह्म की सिद्धि कही गयी। वह सभी सिद्ध नहीं हो पायेंगे। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि निर्गुण उपासना यद्यपि भ्रम है तथापि मणि प्रभा में मणि भ्रम के जैसे संवादी भ्रम है। अतः निर्गुण उपासना के द्वारा सम्यक् फल आदि की सिद्धि हो जायेगी। जैसा कि कहा गया है—

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः। मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति।।

स्वयं भ्रमोऽपि संवादी यथा सम्यक्फलप्रदः। ब्रह्मतत्त्वोपासनापि तथा मुक्तिफलप्रदा।।

(देवदत्त को मणिप्रभा में मणिभ्रम हुआ और यज्ञदत्त को प्रदीप प्रभा में मणिभ्रम हुआ। दोनों का ज्ञान समान रूप से मिथ्या है किन्तु देवदत्त जब दौड़ कर जाता है तब इसे मणि मिल जाती है। ऐसे भ्रम को संवादी भ्रम कहते हैं और यज्ञदत्त के दौड़ कर जाने पर मणि नहीं मिलती है। ऐसे भ्रम को विसंवादी भ्रम कहते हैं। संवादी भ्रम स्वयं भ्रम रूप होने पर भी जैसे सम्यक् फल देने वाला होता है, वैसे ही निर्गुण उपासना भ्रम रूप होने पर भी संवादी भ्रमरूप होने के कारण मुक्ति रूप फल को देने वाली हो जायेगी।) ब्रह्म की असिद्धि भी नहीं कही जा सकती है, क्योंकि उपासना का भ्रमत्व होने पर भी निर्गुण उपासना बोधक वाक्य से जायमान ज्ञान में प्रमात्व होने से ब्रह्म की सिद्धि भी हो जायेगी। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि सगुणोपासना वाक्य स्थल पर भी सगुणोपासना में प्रमात्व का अभाव होने पर भी सगुणवाक्य

तन्न, सगुणोपास्तेर्विशिष्टविषयत्वेन भ्रमत्वेऽपि निर्गुणाद्युपास्तेर्निर्विशेषविषयतया भ्रमत्वाभावात्। एवमेव शाब्दसगुणनिर्गुणज्ञानयोरपि; सगुणवाक्यस्य विशेष्यांशसत्यविषयत्वेऽपि विशेषणांशासत्यविषयत्वात्। अत एव ब्रह्मविषयशाब्दधीजन्यस्य तदपरोक्षधीजनकस्य ब्रह्मध्यानस्य अब्रह्मविषयत्वे श्रवणादीनामपि तथात्वापत्तिरिति—निरस्तम्; तेषां विशिष्टाविषयत्वात्, उपास्तेश्च विशिष्टविषयत्वात्।।२४।।

न चेक्षतिकर्मेति सूत्रे 'ईक्षतिध्यानयोरेक: कार्यकारणभूतयो:। अर्थ औत्सर्गिकं तत्त्वविषयत्वं तथेक्षते:'।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

जन्य ज्ञान में प्रमात्व होने से सगुण की सिद्धि की उत्पत्ति हो जायेगी क्योंकि मणिप्रमा में मणित्व का जैसे मिथ्यात्व है वैसे सगुण ब्रह्म निष्ठ मिथ्यात्व नहीं है और सगुण ब्रह्म की उपासना सत्य सगुण ब्रह्म विषयक है।

समाधान — पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि ब्रह्म के सत्य होने पर भी जब मिथ्या रूप विशेषण से वही ब्रह्म विशिष्ट होता है तो उस विशिष्ट ब्रह्म को मिथ्या माना जाता है। मिथ्या विषयक ज्ञान भ्रमात्मक होता है और सत्य विषयक ज्ञान प्रमात्मक होता है—यह जो सिद्धान्ती का मत है। उसके अनुसार समाधान देते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सगुण उपासना माया विशिष्ट ब्रह्म को विषय करती है। माया विशिष्ट ब्रह्म मिथ्या होने के कारण तद्विषयक सगुण उपासना भी भ्रमात्मक है। निर्गुण उपासना निर्विशेष ब्रह्म को विषय करती है। निर्विशेष ब्रह्म सत्य हाने के कारण तद्विषयक निर्गुण उपासना को भ्रमात्मक नहीं माना जा सकता है। एवमेव—सत्यविषयक उपासना प्रमात्मक होती है, मिथ्या विषयक उपासना भ्रमात्मक होती है—इसी प्रकार से शब्द के उत्पन्न होने वाला निर्गुण ज्ञान में प्रमात्व माना जाता है क्योंकि निर्गुण वाक्य का विषय निर्विशेष ब्रह्म सत्य है किन्तु शब्द से उत्पन्न होने वाला सगुण ज्ञान में प्रमात्व नहीं माना जाता है क्योंकि सगुण वाक्य का विषय जो विशिष्ट ब्रह्म है, उसमें विशेष्य अंश के सत्य होने पर भी विशेषण अंश मिथ्या है। अत: शाब्दसगुण ज्ञान मिथ्या होता है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि यदि सिद्धान्ती ब्रह्मध्यान (निर्गुण उपासना) को शुद्ध ब्रह्म विषयक न मानकर विशिष्ट ब्रह्म विषयक मानते हैं तब तो शब्द से होने वाला निर्गुण ब्रह्म का जो परोक्ष ज्ञान है, उससे जन्य ब्रह्म ध्यान (निर्गुण उपासना) है। ब्रह्मध्यान से जन्य ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान है। ब्रह्मापरोक्ष ज्ञान का जनक ब्रह्मध्यान के शुद्ध ब्रह्म विषयक न होने पर ब्रह्मापरोक्ष ज्ञान का जनक श्रवणादि भी शुद्ध ब्रह्म विषयक सिद्ध नहीं हो पायेंगे क्योंकि ब्रह्मापरोक्ष ज्ञान का जनकत्व जैसे ब्रह्मध्यान में है, वैसे ही श्रवणादि में भी है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया, क्योंकि निर्गुण उपासना का विषय निर्विशेष ब्रह्म को माना जाता है। इसी प्रकार श्रवणादि का विषय निर्विशेष ब्रह्म होता है, विशिष्ट ब्रह्म नहीं। अत: ब्रह्म अपरोक्ष ज्ञान के जनक श्रवणादि और ब्रह्मध्यान (निर्गुण उपासना) का विषय निर्विशेष ब्रह्म होने से पूर्वपक्षी उक्त प्रकार से दोष नहीं दे सकता है।।२४।।

शङ्का— भामतीकार ने ''ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्'' (ब्र०सू० १—३—१३) में कहा है —

ईक्षणध्यानयोरेक: कार्यकारणभूतयो:। अर्थ औत्सार्गिकं तत्त्वविषयत्वं तथेक्षते।।

(अर्थात् ईक्षण (ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार) और ध्यान (उपासना) में कार्य कारण भाव होता है। उपासना कारण है और साक्षात्कार कार्य है। कार्य कारण भाव होने से ईक्षण और ध्यान का एक ही विषय होता है। साक्षात्कार तात्त्विक वस्तु को विषय करता है—यह एक औत्सर्गिक (सामान्य) नियम है। औत्सर्गिक नियम का वही बाध होता है जहां कोई बाधक होता है। प्रकृत में कोई बाधक नहीं है। अत: साक्षात्कार का कारणीभूत उपासना भी तत्त्व विषयक होगी।) इस प्रकार भामतीकार ने साक्षात्कार और उपासना का विषय एक ही शुद्ध ब्रह्म माना है। यदि उपासना का विषय विशिष्ट ब्रह्म मानते हैं तो भामतीकार के वचन से विरोध

इति भामत्यां ''परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते'' इतीक्षति कर्मणः परब्रह्मण एव ''परं पुरुषमभिध्यायीत''इति अभिध्यातव्यत्वेनोक्त्या तद्विरोध इति—वाच्यम्; त्रिमात्रोङ्कारावलम्बनोपाधिविशिष्टस्यैव ध्येयत्वोक्त्या शुद्धविषयत्वाभावेन विरोधाभावात्, विशेष्यांशमादाय ईक्षतिसमानविषयत्वोपपत्तेश्च। यत्तु ऐक्याद्युपासनस्य अप्रमाप्रवाहरूपत्वमाशङ्क्य सगुणोपासनसमत्वमुक्तं, तदयुक्तम्; सगुणप्रकरणस्थैक्यवाक्यजन्यैक्यज्ञानस्य सगुणोपास्त्यन्तर्गततया विशिष्टविषयत्वात्, स्वतन्त्रैक्यवाक्यजन्यैक्यज्ञानस्य निर्विशेषविषयत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

होगा। इसी प्रकार ''परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते'' (प्र०उ० ५—५) इस श्रुतिवाक्य के द्वारा कथित ईक्षति (साक्षात्कार) का कर्म (विषय) जो शुद्ध ब्रह्म है, उसी शुद्ध ब्रह्म को ही ''परं पुरुषमभिध्यायीत'' (प्र०उ० ५—५) इस श्रुति वाक्य के द्वारा उपासना का विषय कहा गया है। यदि उपासना का विषय विशिष्ट ब्रह्म को मानते है तब प्रश्नोपनिषद् के इन वाक्यों से विराध होगा।

समाधान — पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि त्रिमात्र ओङ्कार ही अवलम्बन है और वही उपाधि है। उसी उपाधि से विशिष्ट ब्रह्म ही ध्यान (उपासना) का विषय है, न कि शुद्धब्रह्म—ऐसा भामतीकार ने कहा है। अतः भामतीकार के कथन से कोई विरोध नहीं है। ध्यान का विषय जो विशिष्ट ब्रह्म है, उसमें से विशेष्य अंश जो शुद्ध ब्रह्म है वही साक्षात्कार का विषय है। इस प्रकार से उपासना और साक्षात्कार में समानता होने के कारण ध्यान में ईक्षतिसमानविषयत्व कहा गया है।

शङ्का— न्यायामृत में इस शङ्का को इस प्रकार से कहा गया है — ननु ऐक्याद्युपासनं परोक्षप्रमाप्रवाहरूपं न तु ''वाचं धेनुमुपासीत'' इत्यादाविव ज्ञानविजातीयं वृत्त्यन्तरं बुद्धिपूर्वकारोपो वेति चेत्समं प्रकृतिऽपि। इस शङ्का के भावों को अद्वैतसिद्धिकार ने इस प्रकार से कहा—यत्तु ऐक्याद्युपासनस्य अप्रमाप्रवाहरूपत्वमाशङ्क्य सगुणोपासनसमत्वमुक्तम्। न्यायामृत को ध्यान में रखकर इस शङ्का का भाव यह है कि यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ऐक्यादि उपासना का विषय सत्य इसलिये है कि ऐक्यादि की उपासना परोक्ष प्रमा का प्रवाह रूप है। अर्थात् ऐक्य उपासना से मैं ब्रह्म से अभिन्न हूँ— ऐसी ऐक्य की परोक्ष प्रमा रूप प्रवाह होता है। ऐसी प्रमा का प्रवाह रूप जो ऐक्यादि उपासना है, उसका विषय जीव ब्रह्म की एकता है। अतः उसको तात्त्विक माना जाता है इस पर अप्रमा प्रवाह रूप उपासना को लेकर शङ्का उठायी गयी कि ''वाचं धेनुमुपासीत'' यह भी उपासना है। इसके विषय को भी तात्त्विक मानना चाहिए। इसके उत्तर में कहा गया है कि ''वाचं धेनुमुपासित'' यहाँ पर उपासना अप्रमा प्रवाह रूप है, क्योंकि वाणी धेनु होती नहीं है। अतः इसके विषय को तात्त्विक नहीं माना जा सकता है। इसका खण्डन करते हए पूर्वपक्षी ने कहा कि ''समं प्रकृतेऽपि।'' अर्थात् जैसे परोक्ष प्रमा का प्रवाह रूप ऐक्य उपासना के विषय ऐक्य को तात्त्विक मान रहे हैं ठीक उसी प्रकार से पूर्वपक्षी के मत में भी सगुण उपासना भी परोक्ष प्रमा प्रवाह रूप होने के कारण सगुण उपासना के विषय को भी तात्त्विक माना ही जा सकता है। अर्थात् ऐक्योपासना और सगुणोपासना का विषय समान हैं—यह भाव है।

समाधान— उक्त कथन अयुक्त है, क्योंकि ऐक्य उपासना दो प्रकरणों में कही गयी। प्रथम— सगुण प्रकरण, द्वितीय— ज्ञान प्रकरण। सगुण प्रकरण में जो ऐक्य उपासनाएँ कही गयी हैं उनका विषय विशिष्ट है। जैसे— तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्''। इस ऐक्य उपासना का विषय विशिष्ट है, क्योंकि यहाँ पर जीवत्वविशिष्ट और ईश्वरत्वविशिष्ट इन दोनों का जो तादात्म्य = ऐक्य है, वह विषय है। इसी को लघुचन्द्रिका में कहा गया— जीवत्वेश्वरत्वविशिष्टयोः तादात्म्यविषयकत्वात्। ज्ञान प्रकरण में पठित जो

विशिष्टविषयसगुणोपास्तिवैषम्यात्।।२५।।

न च—ऐक्यादेर्विध्यविधिरूपवाक्यद्वयबोधितत्वेन ध्येयत्वज्ञेयत्ववत् सार्वज्ञ्यादेरुपास्तिविधिविषयस्यापि अविधिरूपवस्तुतत्त्वविषयः ''यः सर्वज्ञः'' इत्यादिवाक्यबोधितत्वेन ज्ञेयत्वमप्यस्तीति—वाच्यम्; तस्य तटस्थलक्षणद्वारा परब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वेन तत्त्वमसीत्यादेरिव तत्परत्वाभावात्। अत एव ब्रह्मणि कर्तृत्वादीनामारोप्योपास्यत्वे नाम्नि ब्रह्मवाक्यानामिव ब्रह्मण्यपि कारणवाक्यानां समन्वयस्यावक्तव्यत्वेन समन्वयाद्यध्यायानारम्भापात इति—अपास्तम्; नाम्नो ब्रह्मविकारतया असमन्वयेऽपि ब्रह्मणोऽविकारतया मुमुक्षुज्ञेयत्वेन कारणवाक्यानां तटस्थलक्षणकर्तृत्वादिबोधनद्वारा तत्रैव तात्पर्य्यसम्भवेन समन्वयादेरावश्यकतया

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्वतन्त्र ऐक्य वाक्य (तत्त्वमसि इत्यादि) से जन्य ऐक्य का ज्ञान निर्विशेष विषयक होने के कारण विशिष्ट विषयक सगुणोपासना से विषम होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि ऐक्य उपासना के समान सगुण उपासना को नहीं माना जा सकता है। इसलिए ऐक्य उपासना का विषय ऐक्य जैसे तात्त्विक है वैसा ही तात्त्विक सगुण उपासना का विषय होता है— यह भी नहीं माना जा सकता है।।२५।।

शङ्का—यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ऐक्य जो है वह विधि वाक्य (तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्) के द्वारा जैसै बोधित है वैसे ही अविधिवाक्य (तत्त्वमसि) के द्वारा भी बोधित होता है। अतः ध्येय होने के साथ—साथ ज्ञेय भी है। अतः ऐक्य को तात्त्विक माना जाता है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि सर्वज्ञत्वादि भी सगुण उपासना विधि का विषय होने से ध्येय है और अविधि वाक्य ''यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः'' (मु०उ० १—१—९) है, क्योंकि यहाँ उपासना विधि का प्रकरण नहीं है। इस प्रकार वस्तु तत्त्व विषयक अविधि वाक्य के द्वारा भी सर्वज्ञत्वादि बोधित होने से ज्ञेय है। अतः ध्येय होने के साथ—साथ ज्ञेय होने से सर्वज्ञत्वादि को भी तात्त्विक मानना चाहिए।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''यः सर्वज्ञः सर्वविद्'' यह वाक्य जगत्कर्तृत्व रूप तटस्थ लक्षण द्वारा ब्रह्म बोध के प्रति उपाय (शेष) है। अतः अन्य शेष होने के कारण स्वार्थ परक नहीं होता है। इसलिए स्वार्थ परक ''तत्त्वमसि'' द्वारा जैसे ऐक्य रूप ज्ञेय का बोध होता है वैसे सर्वज्ञत्वादि रूप ज्ञेय का बोध नहीं हो सकता है। अर्थात् सर्वज्ञत्वादि ज्ञेय सिद्ध नहीं हो सकते हैं।

शङ्का— जैसे ''नाम ब्रह्मेत्युपासीत'' (नृ०उ०ता० ५—७) इस श्रुति के द्वारा नाम में ब्रह्मत्व का आरोप कर उपासना का कथन किया गया है। अतः यहाँ पर ब्रह्म प्रतिपादक सम्पूर्ण वाक्यों का नाम में समन्वय करने की जैसे आवश्यकता नहीं होती है वैसे ही ''यः सर्वज्ञः सर्ववित्'' (मु०उ० १—१—९) इत्यादि स्थल पर भी ब्रह्म में सर्वज्ञत्वादि के द्वारा कर्त्तृत्वादि का आरोप कर जगत् के कारणीभूत ब्रह्म की उपासना कही गयी है—ऐसा यदि सिद्धान्ती कहते है तब तो यहाँ भी उपास्यभूत ब्रह्म में ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' (तै० उ० ३—१) इत्यादि जगत्कारण बोधक सम्पूर्ण वाक्यों के समन्वय की आवश्यकता ही नहीं होगी। जब ब्रह्म में जगत्कारणीभूत वाक्यों के समन्वय की आवश्यकता ही नहीं तब वेदान्त दर्शन के समन्वयादि अध्यायों का आरम्भ करना अनावश्यक होगा।

समाधान — अत एव (तत्परकत्वाभावादेव) अपास्तम्। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि नाम ब्रह्म का विवर्तरूप विकार होने से नाम में ब्रह्म बोधक वाक्यों का समन्वय नहीं होता है किन्तु ब्रह्म किसी का विकार रूप नहीं है और मुमुक्षुओं के द्वारा ज्ञेय है, कारणार्थक वेदान्त वाक्यों का तटस्थ लक्षणादि बोधन के द्वारा उक्त ब्रह्म में ही तात्पर्य सम्भव होने से उन वाक्यों का ब्रह्म में समन्वयादि करना आवश्यक है। अतः

तदध्यायारम्भसम्भवात्॥२६॥

न च—' य आत्मापहतपाप्मा'इत्यारभ्य 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' इति सत्यकामत्वादीनामपहतपाप्मत्वादिभिः सह जिज्ञास्यत्वश्रवणात् ज्ञेयत्वमिति—वाच्यम्; अपहतपाप्मत्वादीनां स्वरूपतया जिज्ञास्यकोटिप्रवेशेऽपि सत्यकामत्वादीनां स्वरूपबहिर्भावेन जिज्ञास्यत्वायोगात् तच्छब्देन तेषामपरामर्शात्, यश्चित्रगुर्लम्बकर्णश्च तमानयेत्यादौ योग्यविशेषणस्यैव तच्छब्देन परामर्शदर्शनात्, अस्वरूपत्वे तेषामप्यपरामर्शे विशेष्यांशमात्रपरामर्शः यश्चित्रगुर्बहुधनस्तमानयेत्यादिवत्। अत एव—'एष सर्वेश्वर एष

सत्यानन्दप्रबोधिका

समन्वय, अविरोध, साधन और फलनामक चारों अध्यायों का आरम्भ उचित ही है।॥२६॥

शङ्का — "य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्यः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः।" (छा०उ० ८—७—१) {अर्थात् जो आत्मा (धर्माधर्मादिरूप) पापशून्य, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासा रहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है, उसका अन्वेषण करना चाहिए अर्थात् शास्त्र और आचार्य के उपदेश से उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए अर्थात् स्वसंवेद्यता को प्राप्त कराने योग्य है।} इस श्रुतिवाक्य का आश्रय कर के पूर्वपक्षी का कथन है कि सत्यकामत्वादि का अपहतपाप्मत्वादि के साथ जिज्ञास्यत्वेन श्रवण होने के कारण अपहतपाप्मत्वादि के जैसे ही सत्यकामत्वादि को भी ज्ञेय मानना चाहिए।

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त में अभाव को अधिकरण स्वरूप माना जाता है। अतः अपहतपाप्मत्व (धर्माधर्मादिरूप पाप का अभाव) अधिकरण स्वरूप होने के कारण ब्रह्मस्वरूप है, अतः जिज्ञास्य (ज्ञेय) कोटि में प्रविष्ट हो जाते है। सत्यकामत्वादि गुण माने जाते है, अभावरूप नहीं माने जाते है। अतः अधिकरण स्वरूप न होने के कारण ब्रह्मस्वरूप नहीं माने जाते हैं। अतः सत्यकामत्वादि को जिज्ञास्य (ज्ञेय) कोटि में नहीं माना जाता है। अतः "सोऽन्वेष्टव्यः इस वाक्य के "सः" पद से ज्ञेय कोटि में प्रविष्ट अपहतपाप्मत्वादि का ही परामर्श होगा, सत्यकामत्वादि का नहीं। ज्ञेय कोटि में प्रविष्ट का ही "सः" पद से क्यों परामर्श हो रहा है? इसका उत्तर यह है कि जिस तत्त्व के अज्ञान से बन्धन और ज्ञान से मोक्ष होता है वही जिज्ञासा का विषय होता है। ऐसे आनन्दात्मकाधिकरणस्वरूपत्वेन जीवब्रह्मैक्य और पापशून्यत्वादि ही है सत्यकामत्वादि नहीं। कई विशेषणों का समभिव्याहार होने पर भी प्रकृत क्रिया योग्य विशेषण का ही तत् शब्द से परामर्श होता है। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि "यः चित्रगुः लम्बकर्णश्च तमानय।" इस स्थल पर "चित्रगुः" और "लम्बकर्णः" इन दोनों में बहुव्रीहि समास है किन्तु "चित्रगुः = चित्रा गावो यस्य" यहाँ पर अतद्‌गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है और "लम्बकर्णः = लम्बौ कर्णौ यस्य "यहाँ" पर तद्‌गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है। यहाँ पर अन्य पदार्थ (चैत्र) में चित्रा गो विशेषण है और लम्बकर्ण भी। किन्तु आनयनरूपक्रियान्वयनयोग्य लम्बकर्ण रूप विशेषण का ही तत् शब्द से परामर्श करके लम्ब कर्णवत् पुरुष को लाया जाता है। आनयनरूप क्रिया अन्वय योग्य न होने के कारण चित्रा गो रूप विशेषण का परामर्श तत् शब्द से नहीं होता है। अतः चित्रा गो के सहित पुरुष लाया भी नहीं जाता है। इसी प्रकार दार्ष्टान्त में सत्यकामत्वादि और अपहतपाप्मत्वादि दोनों ही ब्रह्म के विशेषण होने पर भी सत्यकामत्वादि ब्रह्म स्वरूप न होने के कारण ज्ञेय कोटि में आने योग्य नहीं हैं। अतः उनको "सोऽन्वेष्टव्यः" के "सः" पद से नहीं लिया जाता है और अपहतपाप्मत्वादि ब्रह्म स्वरूप होने के कारण ज्ञेय कोटि में आने योग्य होने से उनको "सः" पद से परामर्श कर लेते है। जिस पक्ष में अभाव को अधिकरण स्वरूप नहीं मानते हैं

भूताधिपतिः'इत्यादिधर्मानुक्त्वा तेषां 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादौ मुमुक्षुज्ञेयत्वोक्तेः 'यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्यैष महिमा भुवि' इत्युक्त्वा 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः' इत्यपरोक्षप्रमाविषयत्वस्योक्तेः 'तुरीयं सर्वदृक्सदा'इति तुरीयसावज्ञ्यश्रुतेश्च सर्वज्ञ्यत्वादीनां सत्यत्वादिसिद्धिरिति—निरस्तम्।।२७।।

यत्त्वपहतपाप्मत्वादीनामुपास्यत्वे तेषां भूताकाशेऽपि सम्भवेन दहराकाशस्य ब्रह्मत्वप्रतिपादक—दहराधिकरणविरोध इति, तन्न; चेतनधर्मात्यन्ताभावस्य पाप्मादिविरहस्याचेतने सम्भवेऽपि कामसङ्कल्पादेरचेतने

सत्यानन्दप्रबोधिका

उस पक्ष में ''सः'' पद से अपहतपाप्मत्वादि सभी विशेषणों का परामर्श न हो कर केवल विशेष्य अंश का ही परामर्श होता है। जैसे ''यः चित्रगुः बहुधनः तमानय'' यहाँ अन्य पदार्थ चैत्र का विशेषण गो और बहुधन है किन्तु ''तम्'' पद से उन विशेषणों से रहित विशेष्य चैत्र मात्र का ही परामर्श होता है। अर्थात् ''तमानय'' कहने पर केवल चैत्र को लाते है न कि उसके साथ धन और चित्रा गो को।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''एष सर्वेश्वरः एष भूताधिपतिः'' (बृ०उ० ४—४—२२) इस प्रकार ब्रह्म के सर्वेश्वरत्वादि गुणों का कथन कर के ''तमेतं वेदानुवचेनन ब्राह्मणा विविदिषन्ति'' (बृ०उ० ४—४—२२) इस वाक्य के द्वारा पूर्वोक्त गुणों से विशिष्ट ब्रह्म को ही मुमुक्षुओं के लिए ज्ञेय कहा गया है। इसी प्रकार ''यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि'' (मु०उ०—२—२—७) यहाँ पर ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि गुणों का उल्लेख कर के ''तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः'' (मु०उ० २—२—७) इस वाक्य के द्वारा पूर्वोक्त सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त ब्रह्म को अपरोक्ष प्रमा का विषय कहा गया। ऐसे ही ''तुरीयं सर्वदृक् सदा'' (माण्डूक्य कारिका १—१२) इस श्लोक में तुरीय (शुद्ध ब्रह्म) के सर्वज्ञत्व का कथन किया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वज्ञत्वादि गुण ब्रह्म के जैसे ही सत्य और ज्ञेय हैं।

समाधान :— अत एव निरस्तम्— ऐसा अन्वय करना चाहिए। अत एव का अर्थ है कि अभाव को अधिकरण स्वरूप मानने पर पूर्वोक्त प्रकार से योग्य विशेषणों (अपहतपाप्मत्वादि) का ही ''तमेतम्'' और ''तद् विज्ञानेन'' इत्यादि के तम् पद से परामर्श होता है और अभाव को अधिकरण स्वरूप न मानने पर तम् पद से केवल विशेष्य अंश मात्र का ही परामर्श होता है। फलतः स्वरूप से भिन्न सत्यकामत्वादि जैसे मुमुक्षु को जिज्ञास्य नहीं है, वैसे ही सर्वेश्वरत्वादि भी जिज्ञास्य नहीं है।।२७।

शङ्का— सिद्धान्ती ने ''य आत्माऽपहतपात्मा'' (छा०उ० ८—७—१) इस वाक्य की व्याख्या में कहा कि अभाव अधिकरण स्वरूप होता है। अतः पापाभावादि ब्रह्मस्वरूप है और ज्ञेय कोटि में आते हैं। अर्थात् उपास्य कोटि में नहीं आते हैं। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि दहरपुण्डरीक में ब्रह्म की उपासना प्रकरण में कहा गया— ''एष आत्मापहतपात्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः'' (छा०उ० ८—१—५) (यह आत्मा धर्माधर्मरूपपाप से रहित है तथा जराहीन मृत्युहीन शोकरहित भोजनेच्छारहित पिपासारहित सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है)। इस प्रकार यहां पर उपास्य कोटि में अपहतपाप्मादि को कहा गया है। अतः सत्यकामत्वादि के जैसे अपहतपाप्मत्वादि को भी उपास्य कोटि में मानना होगा। ऐसा होने पर पूर्वपक्षी को जो अभीष्ट था कि सत्यकामत्वादि ज्ञेय कोटि में माने जाय। वह तो सिद्ध नहीं हुआ किन्तु सिद्धान्ती के उपर दोष आयेगा। उसको स्पष्ट करते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि ब्रह्मस्वरूप पापाभावादि को उपास्य मानने पर भूताकाश में अपहतपाप्मत्वादि का आरोप कर के उपासना सम्भव हो जायेगी। जैसे वाणी में धेनुत्व का आरोप कर के उपासना कही गयी—वाचं धेनुमुपासीत। ऐसा होने पर वेदान्त दर्शन के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद के पञ्चम अधिकरण (दहराधिकरण) में भूताकाश को ब्रह्म न कह कर केवल

सम्भावयितुमशक्यत्वेन विरोधाभावात्। यत्तु 'सत्यः सोऽस्य महिमा' इत्यत्र होममात्रानुवादेनाहवनीयस्येव स इति श्रुत्युक्तमहिममात्रानुवादेन सत्यत्वविधानात् सार्वज्ञ्यादिकमपि सत्यम्। 'सत्यः सोऽस्य महिमा' इत्यादेरैन्द्रसूक्तस्थत्वेपि 'तत्त्वायामि सुवीर्यं तद्ब्रह्म पूर्वचित्तय' इति ब्रह्मश्रुत्या 'इन्द्रःसूर्यमरोचयत्। इन्द्रेह विश्वा भुवनानि येमिरे' इत्यादि सूर्यप्रकाशकत्वलिङ्गेन च ज्योतिरधिकरणन्यायेन सूक्तस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

दहराकाश को ब्रह्म कहा गया है। उससे विरोध होगा।

समाधान :— सिद्धान्ती का कथन है कि अभाव अधिकरण स्वरूप होता है। अतः पापाभावादि ब्रह्म स्वरूप है। ऐसे ब्रह्म का बोध हो जाने पर सम्पूर्ण अनर्थों की निवृत्ति हो जाती है किन्तु जिसको मन की मलिनता के कारण ब्रह्म बोध नहीं हो रहा है, उसके लिये उसकी उपासना का विधान किया गया है। किन्तु चेतन में रहने वाला धर्म = पाप्मत्वादि। उनका अत्यन्ताभाव =पात्मत्वादि विरह अचेतन (भूताकाश) में सम्भव होने पर भी अचेतन (भूताकाश) में सत्यकाम —सत्यसङ्कल्पत्वादि होता ही नहीं है। अतः सत्यकामत्वादि से विशिष्ट भूताकाश की उपासना नहीं कही गयी। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि भूताकाश में सत्यकामत्वादि का बुद्धिपूर्वक आरोप कर लेंगे। जैसे ''आदित्यो यूपः'' में यूप में आदित्य का आरोप होता है। अतः भूताकाश में उपासना सम्भव हो जायेगी। इसका उत्तर यह है कि अनारोपेण उपासना सम्भव होने पर आरोप की कल्पना कर के उपासना मानने पर गौरव होगा। अतः दहराधिकरण से कोई विरोध नहीं है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''यदाहवनीये जुहोति'' इस स्थल पर ''जुहोति'' इस पद के द्वारा सामान्य रूप से सभी होमो का अनुवाद करके उनको उद्देश्य बनाकर के अधिकरणत्वेन आहवनीय का विधान किया गया है। अर्थात् सभी होमों को आवाहनीय अग्नि में किया जाय। ठीक इसी प्रकार से ''सत्यः सोऽस्य महिमा'' इस स्थल पर भी ''सः'' पद के द्वारा सामान्य रूप से ब्रह्म की सभी महिमाओं का अनुवाद करके उनको उद्देश्य बनाकर उसमें सत्यत्व का विधान किया गया है। ब्रह्म की सभी महिमाओं के सत्य होने के सार्वज्ञ्यादि गुण भी सत्य सिद्ध हो जायेंगे। यद्यपि ''सत्यः सोऽस्य महिमा'' यह वाक्य इन्द्र देवता से सम्बन्धित सूक्त का भाग है। (लघुचन्द्रिका में लिखा है—येनऽऽसमुद्रमसृजो महीरपः तदिन्द्र वृष्णि ते शवः। सत्यः सोऽस्य महिमा न सन्नशे यं क्षोणीरनुचक्रदे।। इत्यस्या ऋचः हे इन्द्र तत् प्रसिद्धं ते तव शवो बलं वृष्णिवर्षकं अभीष्टफलदं येन बलेन महीर्महतीरपः आसमुद्रं समुद्रपूरणयोग्यं असृजः सृष्टवानसि। स बलरूपोऽस्य समुद्रादेर्जनको महिमा सत्यः। एवं चास्येति षष्ठी नोपचरितार्था। बलस्येन्द्ररूपब्रह्मस्वरूपत्वेऽपीन्द्र—शब्दस्य तदर्थकत्वाभावात्। न सन्नशे न नश्यति। यं महिमानं क्षोणी पृथिव्यादि अनुचक्रदे अनुगच्छति। (क्रदगताविति धातुः। अर्थात् हे इन्द्र जिस अभीष्ट फल देने वाले बल के द्वारा आप ने आसमुद्र समुद्रपूरण योग्य विपुल जल राशि की उत्पत्ति किया। वह समुद्रादि की जनिका महिमा सत्य है। उस महिमा का कभी नाश नहीं होता है और उस महिमा का यह पृथिवी अनुगमन करती है।) इस प्रकार इन्द्र देवता से सम्बन्धित सूक्त का भाग ''सत्यः सोऽस्य महिमा'' है। अतःसूक्त का यह भाग इन्द्र देवता का ही प्रकाशक सिद्ध होता है तथापि पूर्वापर विचार करने पर यह विदित होता है कि उक्त ऐन्द्र सूक्त परमेश्वर परक है, क्योंकि उसी सूक्त में ये ऋचाए भी पठित हैं—

तत्त्वायामि सुवीर्यं तद्ब्रह्म पूर्वचित्तये। येनायतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ।।१ ।।

इन्द्रो महारोदसि पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत्। इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिरे इन्द्रे सुवाना स इन्द्रवः।।२।।

{प्राचीन काल से ब्रह्मवेत्ताओं के द्वारा चिन्तनीय जो असीम शक्ति सम्पन्न ब्रह्म तत्त्व है, उसके ज्ञान

परमेश्वरपरत्वव्यवस्थितेरिति, तन्न; निर्गुणत्वश्रुतिविरोधेन स्वरूपमहत्त्वस्यैव सत्यत्वोक्तेः, षष्ठ्या उपचरितत्वात्, धर्माणामपि व्यावहारिकसत्यत्वोक्तेः।।२८।।

न च ब्रह्मसत्त्वमपि तथा; सत्यस्य सत्यमिति निरतिशयसत्त्वप्रतिपादनविरोधात्, अधिष्ठानत्वानुपपत्तेश्च। न च तत एव सविशेषत्वम्; निर्विशेषत्वेऽपि तत्त्वस्योपपादितत्वात्। न च 'पृथगात्मानम्'इत्यादिश्रुतिषु 'यो मामशेषदोषोत्थगुणसर्वस्वबृंहितम्। जानात्यस्मै प्रसन्नोऽहं दद्यां मुक्तिं न चान्यथा। भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्। सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति'इत्यादिस्मृतिषु च सविशेषज्ञानादेव मोक्षोक्तेः

सत्यानन्दप्रबोधिका

के लिए मैं उसका आश्रय ले रहा हूँ। जिसकी शक्ति के बल पर इन्द्र ने अयतिगणों से धन छीन कर भृगु ऋषि को दिया और प्रस्कण्व ऋषि की रक्षा की। इन्द्र ने अपने बल की महिमा से द्यावापृथिवी का विस्तार किया, सूर्य को प्रकाशित किया। उस इन्द्र के द्वारा ही चन्द्रमा आदि सम्पूर्ण विश्व नियम्य है।} प्रथम ऋचा में स्पष्ट ब्रह्म का कथन किया गया है और द्वितीय ऋचा में सूर्यप्रकाशकत्व रूप लिङ्ग से ब्रह्म के कथन की पुष्टि हो रही है, क्योंकि ''ज्योतिश्चरणाभिधानात्'' (ब्र०सू० १—१—२४) इस सूत्र में यह कहा गया है कि ब्रह्म सामर्थ्य प्रकाशन रूप लिङ्ग प्रमाण जहाँ उपलब्ध हो वहाँ उस प्रमाण से ब्रह्म ही कहा जाता है। फलतः उक्त ऋचा को इन्द्रपरक न मानकर ब्रह्मपरक मानना चाहिए। ब्रह्मपरक होने पर ब्रह्म की सभी महिमा सत्य सिद्ध होने से सार्वज्ञ्यादि भी सत्य सिद्ध हो जायेंगे।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के धर्मभूत सार्वज्ञ्यादि गुणों को सत्य मानने पर निर्गुण श्रुतियों से विरोध होगा। इसलिए ''सत्य सोऽस्य महिमा'' इस श्रुति के द्वारा ब्रह्म की स्वरूपभूत महिमा को ही सत्य कहा गया है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि ''सोऽस्य महिमा'' में षष्ठी विभक्ति है। वह तो सम्बन्ध को कहती है। अतः महिमा ब्रह्म की स्वरूप नहीं हो सकती है अपितु, ब्रह्म की धर्म होगी। इसके उत्तर में कह रहे हैं कि ''सोऽस्य महिमा'' यहाँ पर षष्ठी विभक्ति ''राहो शिरः'' के जैसे औपचारिक है। अथवा सार्वज्ञ्यादि धर्मों को व्यावहारिक सत्य मानकर षष्ठी विभक्ति की उपपत्ति हो जायेगी।।२८।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे ब्रह्मगत सार्वज्ञ्यादि को व्यावहारिक सत्य मान रहे हो वैसे ही ब्रह्मसत्त्व को भी व्यावहारिक मान लेना चाहिए।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि ''सत्यस्य सत्यम्'' (बृ०उ० २—३—६) इस श्रुति के द्वारा ब्रह्मसत्त्व को पारमार्थिक सत्य कहा गया है। ब्रह्म के सत्य को व्यावहारिक मानने पर ब्रह्म मिथ्या सिद्ध हो जायेगा तब वह प्रपञ्च का अधिष्ठान ही नहीं बन पायेगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जो सामान्य धर्मत्वेन ज्ञात हो और विशेष धर्मत्वेन अज्ञात हो वह अधिष्ठान होता है। सिद्धान्ती प्रपञ्च का अधिष्ठान जब ब्रह्म को मान रहे हैं तब अर्थतः यह सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म में सामान्य धर्म और विशेष धर्म होते है अन्यथा ब्रह्म अधिष्ठान ही नहीं बन पायेगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म में भी प्रपञ्च की अधिष्ठानता का उपपादन किया जा चुका है। अर्थात् निर्विशेष में भी कल्पित भेदवत्त्वेन ज्ञातत्व अज्ञातत्व सम्भव होने से निर्विशेष ब्रह्म में अधिष्ठानता उपपन्न हो जाती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि श्रुति और स्मृति से यह सिद्ध होता है कि सप्रकारक ज्ञान ही मोक्ष का हेतु बनता है निष्प्रकारक ज्ञान नहीं। जैसे श्रुति कह रही है— पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टः ततः तेनामृतत्वमेति। (श्वे० उ०—१—६) अर्थात् जीव अपने आप को और प्रेरक परमात्मा को अलग—अलग

सप्रकारकज्ञानस्यैव मोचकत्वमिति—वाच्यम्, परममुक्तिहेतुनिर्गुणसाक्षात्कारोपयोगिसत्त्वशुद्ध्युपायसगुणोपासना—विध्यर्थवादतया साक्षान्मुक्तिहेतुत्वाप्रतिपादकत्वात्। न च निर्गुणज्ञानान्मुक्तिश्रुतिरपि तथा, तत्परत्वातत्परत्वाभ्यां वैषम्यात् सगुणज्ञानस्य फलान्तरश्रवणाच्च।२९।।

यद्यपि 'नास्याब्रह्मवित्कुले भवति' इत्यादिफलान्तरश्रवणं निर्गुणज्ञानेऽपि, स्तुत्यर्थतयोपपादनमपि समानम्, संयोगपृथक्त्वन्यायेन उभयफलत्वोक्तिरपि समाना; तथापि अधिष्ठानतत्त्वावगाहित्वानवगाहित्वाभ्यां निर्गुणसगुणज्ञानयोर्विशेषात्, सगुणज्ञानजन्यमुक्तेरवान्तरमुक्तित्वाच्च। न च 'पुण्यपापे विधूय'इति सर्वकर्मनिवृत्त्युक्तेः

सत्यानन्दप्रबोधिका

जानकर उससे परम प्रीति करने पर मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार स्मृति में कहा है—

यो मामशेषदोषोत्थ गुणसर्वस्वबृंहितम्। जानात्यस्मै प्रसन्नोऽहं दद्यां मुक्तिं न चान्यथा।।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्। सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।। (गी० ५—२९)।

(अर्थात् जो मुझको सम्पूर्ण दोषों से वर्जित और सभी गुणों से युक्त जानता है उसके लिये मैं प्रसन्न हुआ मुक्ति देता हूं, अन्यथा नहीं। यज्ञ तपों का भोक्ता और सर्व लोकों का महेश्वर तथा सम्पूर्ण भूतों का सुहृद इस प्रकार से जो मुझे जानता है, वह परम शान्ति (मुक्ति) को प्राप्त कर लेता है।) इस प्रकार श्रुति और स्मृति में गुणों से युक्त ब्रह्म के ज्ञान से मुक्ति कही गयी है। अत: सप्रकारक ज्ञान में ही मोक्षजनकत्व सिद्ध होता है।

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि परम मुक्ति का हेतु निर्गुण ब्रह्म का निर्विकल्पक साक्षात्कार ही है। उस साक्षात्कार में उपयोगी जो अन्त:करण की शुद्धि कही गयी है। उस अन्त:करण की शुद्धि के लिये सगुणोपासना का विधान किया गया है। उस सगुणोपासना विधि के अङ्ग के रूप में जो अर्थवादवाक्य आयें हैं, उन्हीं अर्थवाद वाक्यों के अन्तर्गत पूर्वपक्षी के द्वारा कथित उक्त श्रुति और स्मृति वाक्य आते हैं। इसलिये उनको मुक्ति के प्रति साक्षात्हेतु नहीं माना जाता अपितु मुक्ति के प्रति उपयोगी जो अन्त:करण की शुद्धि है, उसमें परम्परया उपयोगी सिद्ध होते हैं। इस पर पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सगुण ज्ञान से मुक्ति के प्रतिपादक वाक्यों को यदि अर्थवाद माना जा रहा है तब निर्गुण ज्ञान से मुक्ति प्रतिपादक वाक्यों को भी अर्थवाद मानना चाहिये। इसका समाधान देते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि निर्गुण वाक्य स्वार्थपरक हैं और सगुण वाक्य अन्यार्थपरक हैं। इस वैषम्य के कारण निर्गुण ज्ञान से मुक्ति प्रतिपादक वाक्यों को अर्थवाद नहीं माना जाता है। दूसरी बात यह भी है सगुण ज्ञान से फलान्तर (मन की शुद्धि आदि) का श्रवण होने से उसमें साक्षात् मोक्ष हेतुता नहीं मानी जा सकती है।।२९।।

यद्यपि सगुण ज्ञान में जैसे फलान्तर का श्रवण होता है वैसे ही निर्गुण ज्ञान में भी फलान्तर का श्रवण होता है। जैसे ''नास्याब्रह्मवित् कुले भवति य एवं वेद'' (मु०उ०३—२—९) अर्थात् तत्त्वज्ञ के कुल में अतत्त्वज्ञ जन्म नहीं लेता है। इस प्रकार सगुण ज्ञान के जैसे निर्गुण ज्ञान में भी दोनों फल माने गये। (१) परम मुक्ति और (२) निर्गुण ज्ञान की स्तुति। इस पर प्रश्न होता है कि एक ही निर्गुण ज्ञान मुख्यार्थक और गौणार्थक कैसे होगा? इसका उत्तर देते हुये कह रहे हैं कि पूर्व मीमासां दर्शन में सिद्धान्त पक्ष का समर्थन करने वाला सूत्र है — ''एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्'' (जै०सू० ४—३—५) इस सूत्र में कहा गया है कि एक पदार्थ को उभयार्थक माना जायेगा, यदि उसके विनियोजक वाक्य पृथक् पृथक् उपलब्ध होते हैं। जैसे एक खदिर जन्य यूप की क्रत्वर्थता और पुरुषार्थता दोनों मानी गयी हैं, क्योंकि ''खादिरो यूपो भवति'' और ''खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत'' इस प्रकार विनियोजक वाक्य पृथक् पृथक् उपलब्ध होते हैं। इसी

परममुक्तित्वमेवेति—वाच्यम्; अस्य ब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारहेत्वतिरिक्तकर्मपरत्वात्, अविद्यानाशाभावाच्च परममुक्तित्वासिद्धेः। न च—'निर्गुणज्ञानजन्याया अपि मुक्तेरवान्तरत्वम्; 'असन्नेव'इति श्रुत्युक्तशून्यतायाः परममुक्तित्वमिति—वाच्यम्, शून्यताया असुखरूपत्वेनापुरुषार्थत्वात्, असन्नेवेत्यादिवाक्यस्य शून्यत्वाप्रतिपादकत्वाच्च। यत्तु गुणविशेषविधिसन्निहितस्य सामान्यनिषेधकस्य निष्प्रपञ्चवाक्यस्य विहितगुण—

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रकार प्रकृत में एक ही निर्गुण ज्ञान मुख्यार्थक और गौणार्थक मान लिया जायेगा, क्योंकि ''ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'' इत्यादि वाक्य निर्गुण ज्ञान में मुक्ति फलकत्व का प्रतिपादन करते हैं और ''नास्याब्रह्मवित् कुले भवति'' इत्यादि वाक्य निर्गुण ज्ञान की स्तुति का प्रतिपादन करते हैं। तथापि निर्गुण ज्ञान अधिष्ठान तत्त्व को विषय करता है और सगुण ज्ञान अधिष्ठान तत्व को विषय नहीं करता है—यही दोनों ज्ञानों में भिन्नता है। दूसरी बात यह भी है सगुण ज्ञान से जन्य अवान्तर मुक्ति (क्रम मुक्ति) होती है, परम मुक्ति नहीं।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सगुण ज्ञान से जन्य परम मुक्ति होती है न कि अवान्तर मुक्ति, क्योंकि सगुण ज्ञान से शुभाशुभ कर्मों से जन्य सभी पुण्य पापादि निवृत्त हो जाते हैं। इस में श्रुति प्रमाण है —

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति (मु०उ०३—१—३)।।

अर्थात् (यदा)— जिस काल में (पश्यः पश्यतीति विद्वान् साधकेत्यर्थः) विद्वान् साधक स्वयं प्रकाश स्वरूप सम्पूर्ण जगत् के कर्ता एवं शासक ब्रह्मयोनि (विश्व का अभिन्न निमित्तोपादान कारण) ब्रह्म को देखता है, उस समय वह विद्वान् पाप पुण्य दोनों का त्यागकर विशुद्ध हो अत्यन्त समानता को प्राप्त हो जाता है।

समाधान— उक्त श्रुतिवाक्यस्थ पुण्य पाप शब्द से ब्रह्म तत्त्वसाक्षात्कार का हेतु कर्म जो श्रवण मनन निदिध्यासन हैं, उनसे अतिरिक्त कर्म को कहा गया है। ऐसे कर्मों का ही नाश सगुण ब्रह्म ज्ञान से होता है, न कि सम्पूर्ण कर्मों का। दूसरी बात यह है कि सगुण ब्रह्म ज्ञान से अविद्या का नाश न होने से परम मुक्ति की सिद्धि नहीं हो सकती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सगुण ज्ञान से होने वाली मुक्ति को यदि अवान्तर मुक्ति मानते हैं तब तो निर्गुण ज्ञान से होने वाली मुक्ति को भी अवान्तर मुक्ति माननी चाहिए, क्योंकि आप की मुक्ति में आनन्दरूपता बनी रहती है सर्व शून्यता नहीं मानी जाती है। जबकि सर्व शून्यता को ही परम मुक्ति ''असन्नेव भवति'' (तै० उ० २—६—१) इस श्रुति से कहा गया है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शून्यता में सुख रूपत्व न होने के कारण पुरुषार्थत्व की सिद्धि नहीं होती है। सिद्धान्तानुसार परम मुक्ति में आनन्द रूपता होने से पुरुषार्थत्व की सिद्धि हो जाती है। ''असन्नेव भवति'' इस श्रुति वाक्य के द्वारा शून्यता का प्रतिपादन नहीं किया गया है अपितु सृष्टि से पूर्व प्रपञ्च कारणात्मना विद्यमान था— यह ''समाकर्षात्'' (ब्र०सू० १—४—१५) में स्पष्ट किया जा चुका है।

शङ्का— गुण विशेष विधि के सन्निहित जो सामान्य निषेधक निष्प्रपञ्च वाक्य है। उस वाक्य के द्वारा गुण विशेष विधि से विहित गुणों का निषेध नहीं किया जा सकता है। अर्थात् ब्रह्म में सत्यकामत्वादि विशेष गुण हैं इनको बतलाने वाले वाक्य गुण विशेषविधि हैं। इस वाक्य के समीप में पठित निष्प्रपञ्च वाक्य जो कि सामान्य रूप से यह कहता है कि ब्रह्म में कुछ नहीं है—इसी को सामान्य निषेधक निष्प्रपञ्च वाक्य शब्द से कहा गया है। इस वाक्य के द्वारा गुण विशेष विधि के द्वारा कथित गुण का निषेध नहीं किया जा सकता है। जैसे ''न हिन्स्यात्'' इस वाक्य से यद्यपि सामान्य रूप से सभी हिंसाओं का निषेध किया गया

निषेधकत्वं नास्तीति, तन्न, बाधकस्य निषेधकप्रामाण्यसमकक्ष्यत्व एव सङ्कोचादत्र तदभावात्।।३०।।

यत्तूपासनाप्रकरणस्थत्वमात्रेण उपास्यत्वे उद्गीथोपासनास्थस्य 'स एषोऽनन्तः'इति श्रुतानन्तत्वादेर्भूताकाश उपासनामात्रमिति सुवचत्वेनाकाशाद्यधिकरणे अनन्तत्वादिलिङ्गैर्ब्रह्मत्वोक्त्ययोग इति, तन्न; उपासनाप्रकरणस्थत्वेऽपि निर्गुणश्रुतिविरोधाभावेन तात्त्विकत्वाङ्गीकारात्; तस्य चाकाशादावसम्भवेन तदधिकरणारम्भसम्भवात्। यत्तु सत्यकामत्वादेरनुपास्तिप्रकरणे श्रवणमिति, तन्न; पूषाद्यनुमन्त्रणमन्त्रवत् प्रकरणादुत्कृष्टत्वस्य द्वादशोपसत्तावाक्यवत्

सत्यानन्दप्रबोधिका

है फिर भी ''अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'' इस वाक्य के द्वारा विहित हिंसा से भिन्न हिंसा का निषेध किया गया है। इसी प्रकार निर्गुण श्रुति ''साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'' इस श्रुति वाक्य के द्वारा साक्षित्व चेतृत्व से पृथक् गुणों का निषेध निर्गुण शब्द के द्वारा किया गया।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि बाधक जो गुण विशेष विधायक शास्त्र (इस शास्त्र को मूल में बाधक इसलिए कहा गया कि वह शास्त्र सामान्य निषेध वाक्य के द्वारा सामान्य रूपेण सभी गुणों का निषेध के प्रति बाधक है) और सामान्य निषेधक शास्त्र—इन दोनों का जहाँ प्रामाण्य समान होता है, वहाँ ही सामान्य निषेधक शास्त्र पूर्णतया निषेधक न होकर संकुचितार्थक हो जाता है। प्रकृत में बाधक जो गुण विशेष विधायक शास्त्र है। उसका स्वार्थ में प्रामाण्य नहीं है और सामान्य निषेधक शास्त्र का स्वार्थ में प्रामाण्य है। इस प्रकार उक्त दोनों शास्त्रों का प्रामाण्य का समकक्ष्यत्व न होने से निषेधक शास्त्र दृश्यमात्र का निषेध करता हुआ विहिताविहित समस्त गुणों का निषेध कर देता है।।३०।।

शङ्का— सिद्धान्ती ने यह जो कहा है कि उपासना प्रकरण में स्थित होने मात्र से सत्यकामत्वादि जो उपास्य है। उसमें अतात्त्विकत्व माना जाता है तब तो उद्गीथ उपासना प्रकरण में स्थित ''स एषोऽनन्तः परोवरीयो हास्य भवति'' (छा०उ० १—९—२) इस श्रुति वाक्य से कथित अनन्तादि का कथन उपासना के लिए है तात्त्विकत्व के लिए नहीं है— ऐसा मानना होगा। ऐसा होने पर भूताकाश में भी अनन्तत्व उपास्य बन जायेगा, तब आकाशाधिकरण (ब्र०सू० १—१—८) में जो अनन्त को तात्त्विक मानकर भूताकाश में उसकी अनुपपत्ति दिखाकर आकाश को ब्रह्म परक माना गया है। वह असङ्गत हो जायेगा।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि कोई वाक्य कहीं पर भी पढ़ा गया है, यदि निर्गुण श्रुति से विरोध नहीं है तो उस वाक्य को स्वार्थपरक माना जाता है— यह सिद्धान्त पक्ष है। अतः अनन्तत्वादि उपासना प्रकरण में पठित होने पर भी निर्गुण श्रुति से विरोध नहीं है, क्योंकि अनन्त का अर्थ = अन्त का अभाव। अभाव अधिकरण स्वरूप होने के कारण ब्रह्म स्वरूप है। ऐसा तात्त्विक अनन्त भूताकाश में सम्भव न होने के कारण आकाशाधिकरण को आरम्भ करना और आकाश पद को ब्रह्म परक मानना उचित ही है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जो उपासना प्रकरण में गुण कहे गये है वे ज्ञेय न होने पर भी जो ज्ञान प्रकरण में गुण कहे गये है उनको ज्ञेय मानना चाहिए। अतः दहर उपासना के पश्चात् ज्ञान का निरूपण प्रारम्भ होता है। उस ज्ञान के निरूपण में सत्यकामत्वादि कहे गये है— ''य आत्मापहतपाप्माविजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्य स विजिज्ञासितव्यः।'' (छा०उ० ८—७—१)। अतः अपहतपाप्मत्वादि के जैसे सत्यकामत्वादि को भी तात्त्विक मानना चाहिए।

समाधान— उक्त कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि पूषादि मन्त्र जैसे दर्शपूर्णमास प्रकरण में पठित है किन्तु दर्शपूर्णमास में पूषादि मन्त्रों का विनियोग नहीं होता है, क्योंकि दर्शपूर्णमास कर्म का देवता पूषादि नहीं हैं। अतः पूषादि देवता वाले कर्म में ही लिङ्ग प्रमाण (पूषादि रूढ़ि शब्द है— इसलिए लिङ्ग प्रमाण)

स्तावकत्वस्य वा सम्भवात्। यत्तु वेधाद्यर्थभेदादित्यत्र 'सर्वं प्रविध्य'इत्यादिमन्त्राणामुपासना— प्रकरणादुत्कर्षस्योक्तत्वेन तन्यायेनानन्तादिवाक्यस्योत्कर्षः स्यात्, तस्य वाक्यस्योपास्तिपरत्वे वस्तुतत्त्वपरत्वे च सगुणवाक्यस्यापि तथा स्यादिति, तन्न; स्वरूपपरसत्यं ज्ञानमनन्तमित्यादिवाक्ये अनन्तत्वादेः स्वत एव

सत्यानन्दप्रबोधिका

से अन्वय होता है, इस प्रकार पठित प्रकरण से भिन्न प्रकरण में अन्वय होता है। वैसे ही सत्यकामत्वादि ज्ञेय प्रकरण में पठित हैं किन्तु सत्यकामत्वादि को ज्ञेय नहीं माना जायेगा, क्योंकि ज्ञेय जो ब्रह्म उसका स्वरूप सत्यकामत्वादि नहीं हैं। अतः ज्ञेय प्रकरण से सत्यकामत्वादि का विच्छेद करके सगुण प्रकरण के साथ सम्बन्ध जोड़ा जाता है? मूलस्थ— प्रकरणादुत्कृष्टत्वस्य = प्रकरण से उत्कृष्टत्व का सम्भव होने से = पाठ स्थान को छोड़कर स्वान्वय के लिए उचित देश में जाना। यह दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में समान है। ''पूषाद्यनुमन्त्रणमन्त्रवत् प्रकरणादुत्कृष्टत्वस्य सम्भवात्।'' इसकी व्याख्या की गयी। स्व प्रकरण में ही स्तावक के रूप से अन्वय होना सम्भव है तब स्व प्रकरण से भिन्न में अन्वय करना उचित नहीं है, क्योंकि अन्य प्रकरण में ले जाने से जो एक वाक्यता की प्रतीति हो रही थी, वह भङ्ग हो जायेगी। इस प्रकार प्रथम पक्ष में अरुचि होने पर द्वितीय पक्ष को कह रहे हैं—''द्वादशोपसत्तावाक्यवत् स्तावकत्वस्य सम्भवात्।'' इस विधि वाक्य के द्वारा कहा गया कि साह्न (ज्योतिष्टोम) कर्म में तीन उपसत्संज्ञक कर्म होते हैं और अहीन कर्मों में द्वादश उपसत्संज्ञक होम होते है। यह विधि वाक्य ज्योतिष्टोम प्रकरण में स्थित है। इस पर संशय होता है कि इस विधि वाक्य का प्रकरण में विकल्पादि मानकर समन्वय किया जाय? अथवा ज्योतिष्टोम के प्रकरण से हटाकर अहर्गण के साथ सम्बन्धित किया जाय। सिद्धान्त पक्ष से कहा गया कि उक्त विधि वाक्य को ज्योतिष्टोम प्रकरण से हटाकर अहर्गत के साथ सम्बन्धित किया जाय। किन्तु वार्तिककार ने कहा कि उक्त विधि वाक्य को ज्योतिष्टोम प्रकरण से न हटाकर के भी उक्त विधि वाक्य में सार्थक्य की सिद्धि की जा सकती है। कैसे? इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं— ''तिस्र एव साह्नस्य उपसदो द्वादशाहीनस्य।'' इस वाक्य में अहर्गण रूप अहीन गत उपसदों का द्वादशत्व होने से अनुष्ठान गौरव द्वारा निन्दा के माध्यम से विधेय साह्न (ज्योतिष्टोम) में उपसद तीन होने से (द्वादश उपसद् न होने से) लाघवत्व होने के कारण साह्नगत उपसद त्रय की स्तुति है। इसी प्रकार सगुण ब्रह्म के धर्म सत्यसङ्कल्पादि के द्वारा विधेय निर्गुण ब्रह्म की स्तुति है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''वेधाद्यर्थभेदात्'' (ब्र०सू० ३—३—२५) (प्रविध्यादि मन्त्रों और प्रवर्ग्य आदि कर्मों का विद्याओं में उपसंहार नहीं किया जाता है, क्योंकि वेध आदि अर्थ का भेद है। अर्थात् ''सर्वं प्रविध्य'' इस प्रकार के मन्त्रों के जो अर्थ है वे उपनिषद् में उक्त विद्याओं से सम्बन्ध रहित है। अतः लिङ्ग प्रमाण से उनका विनियोग अभिचार कर्म में होता है और ''देवा ह वै सत्रं निषेदुः'' इत्यादि प्रवर्ग्य कर्म का ''पुरस्तादुपसदां प्रवर्ग्येण प्रचरन्ति'' इस वाक्य प्रमाण से क्रतु के साथ सम्बन्ध होता है।) इस सूत्र में '' सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रवृध्य धमनीः प्रवृज्य शिरोऽभिवृज्य त्रिधा विपृक्तः।'' (हे देवता! शत्रुओं के सर्वाङ्गों को विदिर्ण करो। हृदय को विदीर्णकर शिराओं को तोड़ डाल, मस्तक का सर्व ओर से नाश करो। इस प्रकार मेरा शत्रु तीन प्रकार से छिन्न भिन्न हो।) इत्यादि मन्त्र को उपासना प्रकरण से उत्कर्ष (पृथक्) किया गया है, वैसे ही ''स एषोऽनन्तः'' इस वाक्य का भी उत्कर्ष हो जायेगा। अर्थात् अनन्तादि को उपासना प्रकरण से उत्कर्ष (हटा) कर निर्गुण प्रकरण से जोड़कर अनन्तत्वादि को तात्त्विक मान रहे हो, वैसे ही सत्य कामत्वादि को भी उपासना प्रकरण से उत्कर्ष कर निर्गुण प्रकरण से जोड़ कर तात्त्विक किया जा सकता है। यदि सिद्धान्ती कहते है कि अनन्तादि वाक्य उपासना परक और वस्तु परक दोनों ही है। इस पर पूर्वपक्षी

सत्त्वेन उत्कर्षे प्रयोजनाभावात्, तस्य वस्तुतत्त्वमात्रपरत्वेन उभयपरत्वाभावाच्च, उपास्तिप्रकरणस्थानन्तवाक्यस्य उभयपरत्वेऽपि निर्गुणश्रुतिविरोधेन सगुणवाक्यस्योभयपरत्वाभावात्।।३१ ।।

न चैवं सावज्ञ्यादीनां वाग्धेनुत्वादिवत् प्रातीतिकत्वापत्ति:, वाग्धेनुत्वादेर्बुद्धिपूर्वकारोपविषयतया प्रातीतिकत्वेऽपि सत्यकामत्वादेरीश्वरादन्यत्रासम्भवेन बुद्धिपूर्वकारोपविषयत्वाभावात्। ननु—असदुपासना न घटते;

सत्यानन्दप्रबोधिका

कह रहा है कि ऐसे ही सगुण वाक्य भी उपासना परक और वस्तु परक हो जायेगा।

समाधान— उक्त कथन उचित नहीं है, क्योंकि स्वरूप परक जो ''सत्यं ज्ञानमनन्तंब्रह्म'' (तै०उ० २—१—१) इत्यादि वाक्य हैं, उस वाक्य में अनन्तत्वादि का स्वत: ही सत्त्व है। अत: अनन्तत्वादि के लिए उद्गीथ उपासना के प्रकरण में पठित'' स एषोऽनन्त:'' इस वाक्य को उपासना प्रकरण से उत्कर्ष कर निर्गुण प्रकरण में ले जाने की आवश्यकता ही नहीं है। ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' यह वाक्य वस्तु मात्र परक होने से उभय परक (उपासना परक और वस्तु परक) नहीं माना जा सकता है। उपासना प्रकरण में स्थित अनन्त वाक्य के उभय परक होने पर भी अर्थात् तात्त्विकानन्तत्वादि और उपासना कर्त्तव्यत्व एतदुभय बोधकत्व होने पर भी निर्गुण श्रुतियों से विरोध होने के कारण सगुण वाक्य को उभय परक नहीं माना जा सकता है। अर्थात् सत्यकामत्वादि गुणों की उपासना करो और सत्यकामत्वादि तात्त्विक है— इस प्रकार उभय बोधकता सगुण वाक्यों में नहीं मानी जा सकती है क्योंकि सत्यकामत्वादि को तात्त्विक मानने पर निर्गुण श्रुतियों से विरोध होता है।।३१ ।।

शङ्का— एवम्—सार्वज्ञ्यादि को ज्ञेय न मानकर केवल ध्येय (उपास्य) मानने पर ''वाचं धेनुमुपासीत'' (बृ०उ० ५—८—१) यहाँ पर जैसे वाणी में उपासना के लिए धेनुत्व का आरोप होता है। आरोप होने के कारण वाणी में धेनुत्व को प्रातिभासिक मानते हैं, वैसे ही ब्रह्म में उपासना के लिए सार्वज्ञ्यादि का आरोप होता है। ऐसा मानने पर सर्वज्ञत्वादि को प्रातिभासिक मानना होगा, न कि व्यावहारिक। अर्थात् सर्वज्ञत्वादि को केवल उपासनार्थ मानने पर द्वैतवादी के मत में सर्वज्ञत्वादि में पारमार्थिकत्व की सिद्धि नहीं हो पायेगी किन्तु सिद्धान्ती के मत की भी सिद्धि नहीं हो पायेगी, क्योंकि सिद्धान्ती सर्वज्ञत्वादि को व्यावहारिक मानते हैं जबकि सर्वज्ञत्वादि में प्रातिभासिकत्व सिद्ध हो रहा है। यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— उक्त कथन अनुचित है, क्योंकि उपासक व्यवहार दशा में यह जानता है कि वाक् में धेनुत्व नहीं है अपितु वाक् से अन्यत्र धेनु में धेनुत्व है। यह जानकर भी श्रुति में आस्था होने के कारण श्रुति के कथनानुसार वाक् में धेनुत्व का बुद्धिपूर्वक आरोप कर के उपासना करता है। अत: उसको व्यावहारिक न मानकर प्रातिभासिक माना गया। दार्ष्टान्त स्थल पर ईश्वर से अन्यत्र सर्वज्ञत्वादि की प्रसिद्धि ही नहीं है। अर्थात् ईश्वर में ही सर्वज्ञत्वादि की स्थिति है। अत: यहाँ बुद्धि पूर्वक आरोप करने की आवश्यकता ही नहीं है। आरोप न होने से सर्वज्ञत्वादि को प्रातिभासिक नहीं माना जा सकता है। अपितु व्यावहारिक ही माना जायेगा।।

शङ्का— जिस ब्रह्म में गुण नहीं है, उस ब्रह्म में गुणों का आरोप कर के उपासना की जाती है— ऐसा जो सिद्धान्ती का मत है, वह उचित नहीं है, क्योंकि सिद्धान्ती माया को मिथ्या मानते हैं, उस मिथ्याभूत माया से विशिष्ट ब्रह्म को भी मिथ्या मानते है, वैसे ही आरोपित गुण जब असत् है, तब उन असत् गुणों से विशिष्ट ब्रह्म भी असत् होगा। ऐसे असत् की उपासना सम्भव नहीं है, क्योंकि स्मृति के द्वारा असत् उपासना की निन्दा की गयी है। जैसे—

'नाविद्यमानं ब्रुवते वेदा ध्यातुं न वैदिकाः। न च रमन्त्यहो असदुपासनयात्महनः'

इत्यादि स्मृत्या—'अचेतनासत्यायोग्यान्यनुपास्यान्यफलत्वविपर्ययाभ्याम्'इति सङ्कर्षणसूत्रेणापि निषेधादिति—चेन्न, स्मृतिसूत्रयोरत्यन्तासदुपास्तिनिषेधपरतया तद्विरोधाभावात् 'वाचं धेनुमुपासीत'इत्यादौ

सत्यानन्दप्रबोधिका

नाविद्यमानं ब्रूवते वेदा ध्यातुं न वैदिकाः न च रमन्त्यहो असदुपासनयात्महनः।।

(वेद और वैदिक महर्षिगण उपासना के लिए अविद्यमान (असत्) गुणों का उपदेश नहीं किया करते हैं। दुःख की बात है कि असत् की उपासना से अर्थात् मिथ्या भूत देहादि में मैं गौर वर्ण वाला हूँ, कुलीन हूँ, गुणी हूँ— इत्यादि प्रकार से प्रत्यय की आवृत्ति के द्वारा आत्मा का हनन करने वाले निरुपाधिक आत्मतत्त्व में रमण नहीं किया करते हैं।) मूलस्थ ''इत्यादि स्मृत्या'' के आदि शब्द से श्रीमद्भागवत की वेद स्तुति (भा० १०—८७—२३) का सङ्ग्रह कर लेना चाहिए—

त्वदुनुपंथ कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियवच्चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिये आत्मनि च।
न बत् रमन्त्यहो असदुपासनयात्महनो यदनुशयाद् भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः।।

(अर्थात् तुम्हारे अधीन जो शरीर दिखायी दे रहा है, जो कि मिट्टी में मिलने वाला है, यह शरीर आत्मवत् सुहृद्वत् प्रियवत् भासमान हो रहा है। अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप आप से तदात्म्य के कारण यह शरीर आप जैसा प्रतीत हो रहा है। इस शरीर में ही लोग रमण करते रहते हैं। दुःख की बात है कि आप की तरफ अग्रसर होकर जो आपका हितकारी प्रिय निरूपाधिक स्वरूप है उसमें रमण लोग नहीं करते हैं। जो लोग असत् की उपासना से आत्मा का हनन करने वाले होते हैं, वे लोग कुत्सित शरीर का ही भरण—पोषण में लगे रहने वाले तथा विपरीत भावना से ग्रस्त होने के कारण संसार में भ्रमण करते रहते हैं।) इसी प्रकार सङ्कर्षण सूत्र में भी असदुपासना का निषेध किया गया है— अचेतनासत्यायोग्यान्यनुपास्यान्य—फलत्वविपर्ययाभ्याम्। अर्थात् अचेतन —असत्य—अयोग्य पदार्थ उपासना के लिये उचित नहीं होते हैं, क्योंकि ऐसे पदार्थो की उपासना करने से कोई फल नहीं मिलता है अपितु अनिष्ट फल मिलने की आपत्ति होती है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''मिथ्यात्वे विप्रतिपत्तिप्रदर्शनं तत्प्रयोजनं च'' के खण्ड संख्या—११ में कहा जा चुका है कि पारमार्थिक, व्यावहारिक, प्रातिभासिक और असत् (अलीक) के भेद से चार पदार्थ होते हैं, इसमें से पारमार्थिक और व्यावहारिक पदार्थो से सम्बन्धित उपासनाओं में पूर्वपक्षी को स्वयं कोई आपत्ति नहीं है। अलीक सम्बन्धी उपासना हम भी नहीं मानते हैं। अतः पूर्वपक्षी ने जो स्मृति और सूत्र के द्वारा असत् (अलीक) उपासना का निषेध दिखाया। उससे हमारे सिद्धान्त के साथ कोई विरोध नहीं है। यदि पूर्वपक्षी असत् का अर्थ प्रातिभासिक अर्थ कर के उक्त प्रकार से दोष देना चाह रहा है तो वह उचित नहीं है, क्योंकि ''वाचं धेनुमुपासीत'' इत्यादि स्थल पर श्रुति ने स्वयं वाणी में धेनुत्व का आरोप करके प्रातीतिक उपासना का विधान किया है। तब उक्त स्मृति और सूत्र के द्वारा उसका कैसे निषेध किया जा सकता है? फलतः यह मानना होगा कि उक्त स्थल पर असत् (अलीक) उपासना का ही निषेध किया है। ऐसा होने पर हमारे मत से कोई विरोध नहीं है।

शङ्का— सिद्धान्ती ने ''वाचं धेनुमुपासीत'' इस स्थल पर प्रातीतिक उपासना स्वीकार किया। इसका खण्डन करते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''सिंहो माणवकः'' इत्यादि स्थल पर जैसे गौणार्थक प्रयोग माना जाता है न कि प्रातीतिक। वैसे ही ''वाचं धेनुमुपासीत'' इस स्थल पर धेनु शब्द गौणार्थक है न कि

प्रातीतिकस्याप्युपास्यत्वदर्शनाच्च। न च—तत्र 'रात्रिं धेनुमिवायतीम्'इति श्रुत्यन्तराद्धेनुशब्दोगौणः; 'योषितमग्निं ध्यायीत'इत्यत्रापि 'रेतो जुह्वति'इति श्रुतेः रेतोरूपाहुत्याधारत्वेनाग्निशब्दो गौणः, भाष्योक्तरीत्या यौगिको वा, न त्वारोप इति—वाच्यम्; आरोपेण मुख्यत्वसम्भवे गौणताया अन्याय्यत्वात्। न च गौण्युच्छेदः; यत्रोपासनाया अश्रवणं तत्रारोपस्य निष्प्रयोजनत्वेन गौण्युपपत्तेः; रूढार्थस्य कथमपि सम्भवे योगिकार्थत्वस्यान्याय्यत्वाच्च।।३२।।

एतेन—'नाम ब्रह्म'इत्यत्र 'नामाभिमानिनी चोषा तस्यां ब्रह्म हरिं स्मरेद्'इति स्मृत्यैव ब्रह्माधिष्ठाने नामादौ

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रातीतिक, अर्थात् वाणी में धेनु सादृश्य की उपासना की गयी है। इसको स्पष्ट करते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे ''यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमिवायतीम्'' इस श्रुति में रात्रि में धेनु का सादृश्य कहा गया है। इसी प्रकार ''योषितमग्निं ध्यायीत'' इस स्थल पर भी ''रेतो जुह्वति'' (छा०उ० ५–८–२) इस श्रुति से रेत रूपी आहुती का आधारत्वेन योषित में अग्नि शब्द सादृश्यार्थक है। अर्थात् जैसे आहुति का आधार अग्नि होता है वैसे रेत का आधार योषित होती है। इस प्रकार आहुति आधारत्व रूप सादृश्य के योग से योषित में गौणार्थक अग्नि शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार सिद्धान्ती के मतानुसार अग्नि शब्द गौणार्थक सिद्ध होता है। पूर्वपक्षी के मतानुसार छान्दोग्योपनिषद् के माध्वभाष्य में अग्निशब्द को यौगिक माना है (गौणार्थक या प्रातीतिकार्थक नहीं) जैसे ''नारायणादयाः पञ्चक्रमात् पञ्चाग्नयः स्मृताः। अदनात् (अग्निः) अङ्गनेतृत्वात् (अग्निः) सुतरामचलत्वतः (अग्नि)। अर्थात् नारायणादि पांच अग्नि है, क्योंकि ''अदनादग्निः'' इत्यादि होने से। अतः वाणी में धेनुत्वादि का आरोप और योषितादि में अग्नि आदि का आरोप नहीं माना जा सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि आरोप के द्वारा धेनु आदि शब्दों के मुख्यत्व का सम्भव होने पर गौणत्व को ग्रहण करना युक्ति पूर्ण नहीं होगा। कहने का भाव यह है कि पूर्वपक्षी कह रहा है कि वाणी धेनु जैसी है—इस प्रकार से उपासना करो और सिद्धान्ती कह रहे हैं कि वाणी धेनु ही है— इस प्रकार से उपासना करो। अतः पूर्वपक्षी के मत में गौणता है और सिद्धान्ती के मत में मुख्यता है। जहां गौणार्थ और मुख्यार्थ दोनों उपस्थित होते हैं वहां मुख्यार्थ का ग्रहण करना ही उचित माना जाता है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त प्रकार से मानने पर गौणीवृत्ति का ही उच्छेद हो जायेगा। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जहाँ उपासना का श्रवण नहीं है वहाँ पर आरोप निष्प्रयोजन होने से गौणी वृत्ति को स्वीकार किया जाता है। अतः गौणीवृत्ति का उच्छेद नहीं होगा। कहने का भाव यह है कि कौण्डपायिओं के अयन में कहा है —मासमग्निहोत्रं जुहोति। यहाँ मुख्याग्नि होत्र में जो कर्म अनुष्ठेय है वे सभी मासाग्निहोत्र में करना चाहिये—यह बतलाना ही श्रुति का मुख्य प्रयोजन है। इसी प्रकार ''सिंहो माणवकः'' यहां पर माणवक में सिंह के शूरत्वादि धर्म बतलाना ही मुख्य प्रयोजन है। गौण मानने पर उक्त प्रयोजन का निर्वाह जब हो जाता है तब माणवकादि वास्तव में सिंहादि हैं —ऐसा आरोप करना निष्प्रयोजन है। माध्वभाष्य में जो अग्नि शब्द को यौगिक कहा गया है वह भी उचित नहीं है, क्योंकि किसी भी प्रकार से रूढार्थ सम्भव होने पर यौगिकार्थ का ग्रहण करना युक्ति विरुद्ध होता है, क्योंकि यौगिकार्थ में अवयवार्थ की अपेक्षा प्रयुक्त जो गौरव होता है वह रूढ़ार्थ में नहीं होता है। लघुचन्द्रिका में कहा है—यौगिकार्थस्य च नानावयववृत्तिसापेक्षत्वेन रूढ्यर्थापेक्षया दुर्बलत्वात् गौणार्थत्यागेन यौगिकार्थग्रहणं रथकाराधिकरणविरुद्धमिति भावः।।३२।।

शङ्का— पीछे पूर्वपक्षी ने गौणार्थ को ग्रहण करते हुये कहा कि ''वाणी धेनु जैसी है'' इस प्रकार से उपासना करो। सिद्धान्ती ने मुख्यार्थ को ग्रहण करते हुये इसका खण्डन करके कहा कि ''वाणी धेनु ही है''। इस प्रकार से उपासना करो। पूर्वपक्षी स्वपक्ष की पुष्टि के लिये यह जो कह रहा है कि ''नाम

गौणो ब्रह्मशब्दः, नामेति प्रथमावचनं वसन्तो मारुत इतिवत् सप्तम्यर्थे ब्रह्मेति प्रथमा वा पञ्चम्यर्थे, 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्'इतिवत्, सुपां सुलुग्'इति सूत्रात्, अन्यथा 'श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित्'इति पृष्टवन्तं नारदं प्रति नामोपास्त्युक्तिरयुक्ता स्यात्, प्रतिमायामपि देवतातत्त्वबुद्धित एव फलम्, न तु देवताऽतत्त्वबुद्धितः 'शिला देवता'इति ज्ञानस्य भौम इज्यधीरित्यादिना निषेधादिति—निरस्तम्; आरोपेण मुख्यत्वसम्भवे गौणत्वस्यान्याय्यत्वात्, समानविभक्तिकत्वाभावे इतिशब्दानन्वयप्रसङ्गात्। एवं

सत्यानन्दप्रबोधिका

ब्रह्मेत्युपासीत'' (छा०उ० ७–१–४) यहाँ पर नाम पद से नाम का अभिमान देवता उषा का ग्रहण है क्योंकि स्मृति इसी अर्थ को प्रमाणित करते हुये कह रही है कि— नामाभिमानिनी चोषा तस्यां हरिं स्मरेत्''। अर्थात् नाम की अभिमानिनी जो उषा है, उषा काल में ब्रह्म रूप हरि का स्मरण करें। इस प्रकार ब्रह्म के अधिकरणभूत नाम में ब्रह्म शब्द गौण रूप से प्रयुक्त हुआ है। अथवा ''वसन्तो मारुतः'' इस स्थल पर वसन्त पदोत्तर प्रथमा विभक्ति सप्तमी के अर्थ में प्रयुक्त हुयी है, ऐसे ही नाम पद से सप्तमी के अर्थ में प्रथमा विभक्ति आयी है। अर्थात् जैसे ''वसन्तो मारुतः'' का अर्थ होता है वसन्त में बहने वाला पवन, वैसे ही ''नाम ब्रह्मेत्युपासीत'' का अर्थ होता है— उषा काल में ब्रह्म की उपासना करे। अथवा ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'' इस स्थल पर मुख पदोत्तर प्रथमा विभक्ति पञ्चमी के अर्थ में प्रयुक्त हुयी है, ऐसे ही ब्रह्म पद से पञ्चमी के अर्थ में प्रथमा विभक्ति आयी है। अतः नाम ब्रह्मेत्युपासीत्'' का अर्थ होगा— ब्रह्म हेतुक नाम की उपासना करे। इस पर प्रश्न होता कि उक्त प्रथमा आदि विभक्तियों के परिवर्तन करने में क्या प्रमाण है? इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''सुपां सुलुक्'' (पा० ७–१–३९) यह सूत्र उक्त प्रकार की व्यवस्था में प्रमाण है। अन्यथा— गौण प्रयोग न मानकर के नाम में ब्रह्म का आरोप मानने पर '' आप जैसों से सुना है मैंने कि आत्मवित् शोक को तर जाता है।'' इस प्रकार से शुद्ध आत्मा विषयक नारद के प्रश्न के उत्तर में नामोपासना की उक्ति प्रश्न वैषम्य होने के कारण अयुक्त हो जायेगी। अतः प्रश्न वैषम्यादि दोषों से बचने के लिए उक्त स्थल पर नाम की उपासना न मानकर उक्त प्रकार से ब्रह्म की उपासना मानना ही उचित है। आगे पूर्वपक्षी यह दिखाने जा रहा है कि सिद्धान्ती के मतानुसार आरोप कर के जो उपासना कही गयी है। ऐसी उपासना का कोई फल ही नहीं होता है। अतः ऐसी उपासना का शास्त्र निषेध करता हैं। इसी को स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा कि प्रतिमा देवता का आधार है— इस बुद्धि से उपासना करने से उपासना फल दायिनी होती है और प्रतिमा में देवता के तादात्म्य (अभेद) का आरोप कर अर्थात् प्रतिमा ही देवता है— इस प्रकार आरोप कर के उपासना करने से उपासना फलदायिनी नहीं होती है, क्योंकि शिला (प्रतिमा) देवता है— ऐसे तादात्म्य ज्ञान का निषेध किया गया है। जैसे—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः
यस्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचित् जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोचरः।।

जिस महापुरुष की कुत्सित त्रैधातुक शरीर में आत्मबुद्धि, स्त्री पुत्रादि में आत्मीय बुद्धि तथा पार्थिव प्रतिमा आदि में आराध्य बुद्धि तथा जल में तीर्थ बुद्धि कभी नहीं होती हैं। वह अभिज्ञ पुरुषों में श्रेष्ठ माना जाता है।

समाधान— एतेन निरस्तमिति अन्वयः। एतेन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि खण्ड संख्या ३२ में स्पष्ट कर चुके है कि जब आरोप के द्वारा मुख्यार्थ की प्राप्ति हो जाती है तब गौण अर्थ लेना सर्वथा ही अनुचित है। पूर्वपक्षी ने नाम पदोत्तर प्रथमा विभक्ति को सप्तमी या पञ्चमी मानकर जो अर्थ किया था। उसका खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि नाम और ब्रह्म इन दोनों पदों में समान विभक्ति न मानने पर इति

प्रतिमादावपि देवतात्वारोपेण मुख्यत्वे गौणत्वमन्याय्यमेव। न च भौम इज्यधीरिति निषेधान्न तथा, तस्य भौमातिरिक्तश्चेतनो देवो नास्तीति भ्रमव्युदासपरत्वेनारोपानिषेधकत्वात्, अनात्मोपास्तेस्तु मुख्यं (भूमाख्यं) ब्रह्मोपदेष्टुमेव शाखाचन्द्रन्यानेना वतारितत्वात्, 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते'इति गुणविशिष्टस्य उपास्यस्य ब्रह्मत्वनिषेधाच्च।।३३।।

न च– 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इति श्रुतौ अश्रौतज्ञानस्याकात्र्स्न्येन ज्ञानस्य वा निषेध इति 'तदेव ब्रह्म'इत्यादावपि अश्रौतध्यानस्याकात्र्स्न्येन ध्यानस्य वा निषेधेन नोपास्यस्य ब्रह्मत्वनिषेधः, अन्यथा 'तस्याभिध्यानाद्'इति श्रुतिविरोध इति–वाच्यम्, अन्यदेवेत्यादौ विदितात् प्रमेयात्

सत्यानन्दप्रबोधिका

शब्द का अन्वय ही नहीं होगा। अर्थात् समान विभक्ति मानने पर नाम के साथ ब्रह्म का तादात्म्य होने पर ब्रह्म के साथ इति पद का अन्वय होगा। इसी प्रकार प्रतिमादि में भी देवतात्व का आरोप कर के मुख्यत्व की उपपत्ति जब हो जाती है तब गौणत्व मानना उचित नहीं है। इसको भी खण्ड संख्या ३२ में कहा जा चुका है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि पार्थिव विग्रह में आराध्य बुद्धि निष्फल होती है। इसलिए देवतात्व का आरोप प्रतिमादि में नहीं हो सकता हैं। ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि वह शिलारूप मूर्ति से अतिरिक्त कोई चेतन देवता नहीं है– इस प्रकार के भ्रम का निराकरण करने के लिए कहा गया है। प्रतिमादि में देवतात्व के आरोप का निषेध करने के लिए नहीं कहा गया है। नारद के प्रति भूमाख्य ब्रह्म का उपदेश करने के लिए नामादि अनात्म पदार्थों में जो ब्रह्मेपासना का उपदेश किया गया है। वह शाखा चन्द्रन्याय का अनुशरण कर के किया गया है। अर्थात् जो चन्द्रमा को देख नहीं पा रहा है उसको पहले शाखा दिखाया जाता है। उसके पश्चात् शाखा के ऊपर देखो चन्द्रमा है – इस प्रकार से चन्द्रमा का बोध कराया जाता है। इसी प्रकार शुद्ध ब्रह्म तत्त्व का बोध जो अतिकठिन है। उसका सुगमता पूर्वक बोध उपासना के द्वारा अन्तः करण के शुद्ध होन पर होता है। इसलिए पहले नामादि विशिष्ट ब्रह्म की उपासना कही गयी है। इसके पश्चात् नामादि विशिष्ट ब्रह्म रूप उपास्य में सत्यज्ञेय ब्रह्मस्वरूपत्व का निराकरण कर दिया गया है–''तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।'' (के० १–८) मूलस्थ ''मुख्यं ब्रह्मोपदेष्टुमेव'' के स्थान पर ''भूमाख्यं ब्रह्मोपदेष्टुमेव'' ऐसा पाठान्तर है।। ३३।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''अन्यदेव तद्विदितात्'' (के०उ० १–३) इस स्थल पर श्रुति भिन्न प्रमाण से विदित जो पदार्थ है, उससे ब्रह्म तत्त्व अन्य ही है–इस श्रुति से जैसे अश्रौत ज्ञान में असम्पूर्णता होने से अश्रौत ज्ञान का निषेध किया गया है, वैसे ही ''नेदं यदिदमुपासते'' (के० उ० १–८) इस स्थल पर भी अश्रौत ध्यान में असम्पूर्णता होने से अश्रौत ध्यान का निषेध किया गया है। उपास्य तत्त्व में ब्रह्मत्व का निराकरण नहीं किया गया है। अन्यथा–उपास्य वस्तु में सत्यज्ञेयब्रह्म का निषेध मानने पर श्रुति से विरोध होगा, क्योंकि श्रुति ब्रह्म की उपासना और उसका फल (मोक्ष) कह रही है। जैसे ''तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।'' (श्वे० उ० १–१०) इस श्रुति वाक्य के द्वारा कहा गया है कि ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये और इस उपासना से मोक्ष मिलता है।

समाधान – उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि ''अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि'' (के०उ० १–३) इस श्रुति में स्थित विदित पद से घटादि रूप प्रमेय पदार्थ को कहा गया हे और अविदित पद से अलीक पदार्थ (शशश्रृङ्गादि) को कहा गया। इन दोनों पदार्थो से विलक्षण स्वप्रकाश तत्त्व है। इसका निरूपण इस श्रुति वाक्य के द्वारा होने से पूर्वपक्षी के कथन की सिद्धि में यह वाक्य दृष्टान्त नहीं बन सकता है। उपास्य

घटादेरप्रमेयाच्छशविषाणादेर्वैलक्षण्येन स्वप्रकाशत्वप्रतिपादनपरतया त्वदुक्तार्थादृष्टान्तत्वात्। उपास्ये ब्रह्मत्वनिषेधेऽपि न 'तस्याभिध्यानाद्'इति श्रुतिविरोध:, अभिध्यानशब्दस्य निदिध्यासनवाचकत्वात्, ध्यानपरत्वेऽपि क्रममुक्त्यर्थत्वेन विरोधाभावात्। तस्मात्साधकाभावान्निर्गुणं ब्रह्म; सगुणत्वे बाधकसद्भावाच्च। न चासिद्धि:; मिथ्यात्वश्रुतेर्निर्गुणश्रुतेश्च बाधकत्वात्, मिथ्यात्वश्रुतेरबाधकत्वप्रकारस्य मिथ्यात्ववादे अखण्डार्थवादे च निरासात्।।३४।।

ननु—निर्गुणवाक्यं सगुणवाक्यं बाधते नतु सगुणवाक्यं तदिति किमत्र नियामकम्? न च निषेधकतया निर्गुणवाक्यं प्रबलम्, 'असद्वा'इत्यादिवाक्यस्य सदेवेत्यादिवाक्यात् प्राबल्यापत्तेरिति—चेन्न; अपच्छेदन्यायेन प्राबल्यस्य प्रागेवोक्ते:। निषेधत्वाच्च प्राबल्यम्; 'असद्वा' इत्यत्रासच्छब्दस्यानभिव्यक्तपरत्वेनानिषेधत्वाच्च

सत्यानन्दप्रबोधिका

तत्त्व में सत्यज्ञेय ब्रह्मत्व का निषेध होने पर भी ''तस्याभिध्यानात्'' इस श्रुति वाक्य से विरोध नहीं है, क्योंकि उक्त श्रुति वाक्य में अभिध्यान शब्द से निदिध्यासन कहा गया है। यदि अभिध्यान का उपासना अर्थ भी लिया जाता है तब भी विरोध नहीं होगा, क्योंकि सगुण उपासना भी क्रम मुक्ति रूप फल देने वाली होती है—ऐसा हम भी मानते हैं। फलत: सगुण सत्यत्व के साधक प्रमाण का अभाव होने से और सगुण सत्यत्व के बाधक प्रमाण का सद्भाव होने से अर्थात् ''साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'' इत्यादि वाक्य ब्रह्म निर्गुण हैं— इसमें प्रमाण होने से ब्रह्म निर्गुण सिद्ध हो गया। सिद्धान्ती के कथनानुसार अनुमान होगा—सगुणं मिथ्या, बाध्यत्वात्, शुक्तिरजतवत्। इस अनुमान में स्वरूपासिद्धि दोष नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि मिथ्यात्व को कहने वाली श्रुति रूप प्रमाण और ब्रह्म को निर्गुण कहने वाली श्रुति रूप प्रमाण सगुणत्व के बाधक के रूप में विद्यमान है। मिथ्यात्वश्रुति के अबाधकत्व प्रकार का मिथ्यात्ववाद में और अखण्डार्थवाद में निषेध किया जा चुका है। अर्थात् मिथ्यात्व बोधक श्रुति में जो सगुणत्वादि की बाधकता है। उस बाधकता का अभाव नहीं दिखाया जा सकता है।।३४।।

शङ्का— पूर्वपक्षी सिद्धान्ती से पूछ रहे हैं कि सिद्धान्त मतानुसार निर्गुण वाक्य सगुण वाक्य को बाधित करता है। सगुण वाक्य निर्गुणवाक्य को बाधित नहीं करता है— इसमें क्या नियामक है? यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि निर्गुण वाक्य निषेधक होने से प्रबल है। यही उनकी प्रबलता में नियामक है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि जिन वाक्यों में निषेधकत्व है उन वाक्यों में प्रबलता है— ऐसा नियम मानने पर ''असद्वा इदमग्र आसीत्'' इस निषेधक वाक्य को ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'' इस वाक्य की अपेक्षा प्रबल मानना होगा। प्रबल मानने पर शून्यवाद की आपत्ति होगी, यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि अपच्छेदन्याय से निषेधक वाक्यों का प्राबल्य अपच्छेदन्याय वैषम्य विचार के खण्ड संख्या—३ में कहा जा चुका है कि ''अत एव सगुणसप्रपञ्चश्रुत्यो: निर्गुणनिष्प्रपञ्चश्रुतिभ्यामपच्छेदन्यायेन बाध इति सुष्ठूक्तम्.......।'' परीक्षित निषेधक होने से भी निर्गुण वाक्यों में प्राबल्य माना जाता है। निषेध का विशेषण परीक्षित देने से यह लाभ होता है कि निषेधाभास में अप्राबल्य सिद्ध होने पर भी दोष की आपत्ति नहीं होगी। ''असद्वा इदमग्र आसीत्'' इस वाक्य में असत् पद से सत्ता का निषेध नहीं किया गया है अपितु उत्पत्ति से पूर्व जगत् अव्यक्त रूप से विद्यमान था—यह कहा गया है। अत: यह वाक्य किसी का निषेध नहीं कर रहा है, इसलिये परीक्षित निषेधक न्याय के आधार पर इस वाक्य में प्रबलता दिखाकर दोष नहीं दिया जा सकता है। निर्गुण वाक्य परमपुरूषार्थ पर्यवसायी होने के कारण स्वार्थपरक है। अत: उसमें प्राबल्य है। अत: निर्गुण वाक्य की सन्निधि में पठित

नैतन्नयायेन प्राबल्यम्। निर्गुणवाक्यस्य पुरुषार्थपर्यवसायितया तत्परत्वेन प्राबल्यात् सगुणवाक्यस्य तत्सन्निधिपठितस्य 'फलवत्सन्निधौ'इति न्यायेन तदनुगुणतया नेयत्वात्। न च सगुणज्ञानस्य मोचकत्वम्; तस्य प्रागेव निरासात्। अत एव—सगुणत्वनिर्गुणत्वयोर्विरोधेन समुच्चयायोगात् अनुष्ठान इव च वस्तुनि विकल्पायोगात् एकस्य प्रतीतार्थत्यागरूपे बाधे वक्तव्ये निर्गुणवाक्यस्यैव स युक्तः, नतु प्रबलस्य सगुणवाक्यस्येति निरस्तम्—प्राबल्यासिद्धेः।।३५।।

न च—उपक्रमाधिकरणन्यायेनानुपजातविरोधत्वात्, निर्गुणश्रुतेः प्रतियोगिज्ञानापेक्षतया विलम्बिततत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

सगुण वाक्य ''फलवत् सन्निधौ अफलं तदङ्गं भवति '' अर्थात् फलवाले वाक्य के समीप में पठित निष्फल वाक्य सफल वाक्य का अङ्ग होता है। अतः फलवाला निर्गुण वाक्य के सन्निहित में पठित सगुण वाक्य निर्गुण वाक्य का अङ्ग माना जायेगा। अतः निर्गुण वाक्यजन्य ब्रह्म ज्ञान के अनुकूल जो चित्त की एकाग्रता वही सगुण उपासना का फल है— इसी अर्थ का बोधक सगुण वाक्य है—ऐसा ही अर्थ करना चाहिये। सगुण ज्ञान में भी मोक्षजनकत्व है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इसका निराकरण खण्ड संख्या—३० में किया जा चुका है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सगुणत्व और निर्गुणत्व का विरोध होने से समुच्चय हो नहीं सकता है और क्रिया में जैसे विकल्प होता है, वैसे वस्तु में विकल्प होता नहीं है। अतः दोनों प्रकार के वाक्यों में से किसी एक वाक्य के प्रतीतार्थ का त्याग रूप बाध की आवश्यकता होने पर निर्गुण वाक्यों का ही बाध मानना उचित है, क्योंकि सगुणवाक्य प्रबल है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है क्योंकि निर्गुण वाक्य की अपेक्षा से सगुण वाक्य प्रबल सिद्ध नहीं होते हैं अपितु पूर्वोक्त अपच्छेदन्यायादि से निर्गुण वाक्यों में ही प्रबलता सिद्ध होती है।।३५।।

शङ्का— ''प्रत्यक्षस्य न्यायैः प्राबल्यविचारः'' के खण्ड ५—६—८ में असंजात विरोधी, सापेक्ष निरपेक्ष और सामान्य शास्त्र तथा विशेषशास्त्र आदि की चर्चा की जा चुकी है। उन्हीं असंजातविरोधी आदि को दृष्टान्त बनाकर पूर्वपक्षी सगुण वाक्यों में प्रबलता सिद्ध करने के लिये कह रहा है कि (१) पूर्वमीमांसा (३—३—२) के उपक्रमाधिकरण न्याय से उपक्रम असंजात विरोधी होने के कारण बलवान होता है और उपसंहार संजात विरोधी होने के कारण दुर्बल होता है। प्रकृत में सगुण वाक्य उपक्रम में है। अतः बलवान है और निर्गुण वाक्य उपसंहार में अर्थात् वेद के अन्तिम भाग ज्ञानकाण्ड में है। अतः दुर्बल है। अतः बलवान सगुण वाक्यों के द्वारा दुर्बल निर्गुण वाक्यों का बाध हो जाने से सगुण वाक्यों के द्वारा ब्रह्म में सगुणता सिद्ध हो जाती है। (२) सापेक्ष और निरपेक्ष में निरपेक्ष बलवान होता है और सापेक्ष दुर्बल होता है। जैसे श्रुति से लिङ्ग प्रमाण दुर्बल होता है, क्योंकि श्रुति अविलम्ब रूप से निरपेक्ष विनियोजक होती है और लिङ्ग श्रुति की कल्पना करके विलम्ब से विनियोजक होता है। प्रकृत में सगुण वाक्य निरपेक्ष है, क्योंकि वह निर्गुण वाक्य की अपेक्षा नहीं रखता हैं, जबकि निर्गुण वाक्य सापेक्ष हैं क्योंकि निर्गुण = गुणाभाव के प्रतियोगी गुण के ज्ञान के लिए सगुण वाक्यों की अपेक्षा रखता है। अतः निरपेक्ष सगुण वाक्य बलवान होने के कारण सापेक्ष निर्गुण वाक्य जो दुर्बल हैं। उनका बाधकर के ब्रह्म में सगुणता सिद्ध कर देते है। (३) सामान्य शास्त्र की अपेक्षा विशेष शास्त्र बलवान होता है। जैसे ''यदाहवनीये जुहोति'' यह सामान्य शास्त्र हैं, क्योंकि इसके द्वारा सामान्य रूप से कहा गया कि सभी होम आहवनीय अग्नि में ही होते हैं किन्तु ''पदे जुहोति'' यह विशेष शास्त्र है, क्योंकि इसके द्वारा कहा गया कि सोम क्रयणार्थ गौ को गोष्ठ से लाते समय उसका पैर जहाँ भूमि पर पड़ता है, वहाँ होम किया जाता है। अतः विशेष शास्त्र के द्वारा

लिङ्गाच्छ्रुतेरिव शीघ्रगामित्वात् पदे जुहोतीतिवद्विशेषविषयत्वाच्च सगुणवाक्यस्य प्राबल्यमिति—वाच्यम्, उपक्रमाधिकरणन्यायस्यान्यथासिद्धोपसंहारविषयत्वात्, प्रकृते च तदभावात्। सगुणवाक्यस्य प्रतियोग्युपस्थापकतया शीघ्रगामित्वेन प्राबल्ये ग्रहणवाक्यस्यापि प्राबल्यापत्त्या विकल्पाभावप्रसङ्गात्, सामान्यविषयप्रमाणसमकक्ष्यस्यैव विशेषविषयस्य प्राबल्यात्, प्रकृते च तदभावात्। एतेन—'दीक्षणीयायामनुब्रूयाद्'इतिवत् निरवकाशत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

सामान्य शास्त्र का बाधकर के पद वाली भूमि पर होम होता है। प्रकृत में सामान्य गुण निषेधक निर्गुण वाक्य की अपेक्षा सगुण वाक्य विशेष गुण विधायक होने से बलवान हैं। अत: बलवान सगुण वाक्यों के द्वारा निर्गुण वाक्यों का बाध हो जाने से ब्रह्म में सगुणता की सिद्धि हो जाती है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि (१) पूर्वमीमांसा के उपक्रमाधिकरण में कहा गया है कि असंजात विरोधी उपक्रम तभी बलवान होता है जब संजात विरोधी उपसंहार अन्यथासिद्ध हो। यद्यपि प्रकृत में उपसंहार वाक्य संजात विरोधी है तथापि अन्यथासिद्ध नहीं है अपितु स्वार्थपरक (मुख्यार्थक) होने के कारण अनन्यथासिद्ध है। अत: निर्गुण वाक्य के द्वारा ही सगुण वाक्यों का बाध हो जाता है। (२) निर्गुण वाक्यों को अपेक्षित प्रतियोगी भूत जो गुण हैं। इन गुणों के समर्पक सगुण वाक्य हैं। इसके कारण यदि सगुण वाक्यों को बलवान माना जाता है और ऐसे सगुण वाक्यों के द्वारा निर्गुण वाक्यों का बाध मानने पर ''अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'' यह वाक्य भी ''नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'' इस वाक्य के प्रतियोगी का समर्पक होने के कारण बलवान होकर अग्रहणवाक्य का बाधक हो जायेगा। ऐसा होने पर ग्रहणक वाक्य के द्वारा अग्रहणक वाक्य का बाध ही होगा विकल्प नहीं। जबकि विकल्प होता है। अत: पूर्वपक्षी के नियमानुसार सगुण वाक्य बलवान नहीं होगा। लघुचन्द्रिकानुसार फलितार्थ यह कहा गया है कि फलत: निषेधक वाक्य प्रतियोगी ज्ञापक तथा वाक्यान्तर की अपेक्षा नहीं करता है, क्योंकि निषेधक वाक्य में ही प्रतियोगी का उपस्थापकत्व होता है। निषेधाधिकरण में प्रतियोगी प्रसञ्जकतया अपेक्ष्यमाण होता हुआ भी ग्रहणकादि अग्रहणकादि वाक्य के सर्वथा प्रामाण्याभाव में हेतु नहीं हैं, किन्तु पाक्षिक अग्रहणकादि वाक्य के प्रामाण्याभाव का हेतु हैं। प्रकृत में निर्गुण वाक्य में पुरुषार्थ पर्यवसायित्व प्रयुक्त प्राबल्य होने से और वस्तु में विकल्प सम्भव न होने से निर्गुण वाक्य का सगुण वाक्य से पाक्षिक भी बाध नहीं होता है। अपितु निर्गुणवाक्य के अनुगुणतया सगुण वाक्य का नयन होता है। (३) सामान्य विषयक प्रमाण और विशेष विषयक प्रमाण दोनों ही समकक्ष्य हो तब विशेष विषयक प्रमाण समान विषयक प्रमाण से प्रबल होता है। प्रकृत में सगुण वाक्य व्यावहारिक गुणों को विषय करते हैं और निर्गुण वाक्य पारमार्थिक निर्गुणत्व का प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि गुणाभाव अधिकरण स्वरूप होने से ब्रह्मस्वरूप है। यह पीछे कहा जा चुका है। अत: यहाँ पर सामान्यविशेष न्याय नहीं लग सकता है। अत: इस न्याय के बल पर पूर्वपक्षी सगुण वाक्यों के द्वारा ब्रह्म में सगुणता सिद्ध नहीं कर सकता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ज्योतिष्टोम में अग्नीषोमीय पशु का आलम्बन होता है। उस पशु आलम्बन से पहले ज्योतिष्टोम याग करने में अधिकार दिलाने वाली जो दीक्षा है उस दीक्षा काल से आरम्भ कर के किये जाने वाली जो दीक्षणीया इष्टि आदि हैं। वहाँ पर दो वाक्य आते हैं। प्रथम— ''यत्किञ्चित् प्राचीनमग्नीषोमीयात् तेनोपांशु चरन्ति।'' अर्थात् अग्नीषोमीय पशु का अनुष्ठान करने से पूर्व दीक्षणीया इष्टि आदि अंगों का अनुष्ठान करते समय मन्त्रोच्चारण उपांशु स्वर में किया जाय। द्वितीय— ''यावत्या वाचा कामयेत तावत्या दीक्षणीयायामनुब्रूयात्।'' अर्थात् दीक्षणीया इष्टि आदि में मन्त्रों का उच्चारण उच्च या मन्द

प्राबल्यम्, निर्गुणश्रुतिर्हि 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां' 'दैवी ह्येषा गुणमयी'इत्यादिश्रुतिस्मृतिष्विव सत्त्वादिगुणे सावकाशेति–निरस्तम्; सावकाशनिरवकाशन्यायस्य समकक्ष्यविषयत्वाच्च। अत एव बहुत्वादपि न प्राबल्यम्, 'शतमप्यन्धानां न पश्यति'इति न्यायाच्च।।३६।।

न च–प्रवृत्तिनिमित्तापेक्षैः ब्रह्मादिशब्दैः धर्मिणं निर्दिश्य क्रियमाणं धर्मनिषेधं प्रत्युपजीव्यतया गुणसमर्पकाणां प्राबल्यम्; ग्रहैकत्ववदुद्देश्यविशेषणतया प्रवृत्तिनिमित्तानामविवक्षितत्वात्। न च ग्रहैकत्वन्याये उद्देश्यस्वरूपे

सत्यानन्दप्रबोधिका

कैसे भी कर सकता है। इस प्रकार दोनों वाक्यों में विरोध होने पर समाधान दिया गया कि प्रथम वाक्य सावकाश है और द्वितीय वाक्य दीक्षणीया इष्टि विशेष में विधान करने से निरवकाश है। निरवकाश बलवान होने के कारण उसके द्वारा सावकाश का संकोच किया जाता है। अत: दीक्षणीया इष्टि में उच्चारण उच्च या मन्द जैसा चाहे वैसा कर सकते है किन्तु दीक्षणीया इष्टि से भिन्न में मन्त्रों का उच्चारण उपांशु स्वर में होगा। इसका विवेचन ''प्रत्यक्षस्य न्यायैः प्राबल्यविचारः'' के खण्ड संख्या ९ में देखें।) इसी प्रकार प्रकृत में सगुण वाक्य से बोधित जो सार्वज्ञ्यादि गुण हैं। उन गुणों से भिन्न सतोगुण रजोगुण–तमोगुण के निषेध में निर्गुण वाक्य सावकाश है और सगुण वाक्य निरवकाश है। निरवकाश प्रबल होने से सगुण वाक्यों के द्वारा सार्वज्ञ्यादि गुणों का विधान होने से ब्रह्म में सगुणता की सिद्धि हो जायेगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि निर्गुण वाक्यों के द्वारा सार्वज्ञ्यादि सम्पूर्ण गुणों का निषेध न होकर सतोगुण रजो गुणादि का निषेध होता है, तब सतोगुणादि का विधायक वाक्य कौन है इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ाम्'' (श्वे०उ० १–३) और ''दैवी ह्येषा गुणमयी'' (गी० ७–१४) इत्यादि श्रुति स्मृति के गुण पद से सार्वज्ञ्यादि सम्पूर्ण गुणों का विधान न होकर सतोगुणादि का ही विधान होता है। अर्थात् उक्त श्रुति स्मृति सतोगुणादि के विधान में सावकाश है। इन्हीं के गुणों के निषेध में निर्गुण वाक्य सावकाश है।

समाधान–एतेन निरस्तमित्यन्वयः एतेन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि समान कक्षा वाले दो विरोधी वाक्यों में ही सावकाश निरवकाश न्याय लगता है। प्रकृत में सगुण वाक्य अतत्परक है और निर्गुण वाक्य तत्परक हैं। अत: दोनों में समकक्षता ही नहीं है। अत: उक्त न्याय का अवसर ही नहीं हैं। अत: उक्त न्याय से पूर्वपक्षी ब्रह्म में सगुणता सिद्ध नहीं कर सकता है। समकक्षता का अभाव होने के कारण ही अर्थात् सगुण वाक्य स्वार्थ बोधन में अशक्त होने के कारण ही सगुण वाक्यों के बहुत्व होने से भी सगुण वाक्य अपनी अशक्तता को हटाकर प्रबलता को धारण कर लेंगे। अर्थात् प्रबल हो जायेगे– ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है। जैसे एक अन्धा रूप देखने में अशक्त है तब सैकड़ों अन्धे भी रूप देखने में समर्थ नहीं हो सकते हैं।३६।।

शङ्का– शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त जाति गुण आदि होते हैं। इनकी अपेक्षा कर के ही सर्वत्र शब्दों की प्रवृत्ति होती हैं। अत: प्रकृत में भी शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त जाति गुणादि की अपेक्षा कर के ही ''ब्रह्म निर्गुणम्'' इस स्थल पर ब्रह्म पद के द्वारा धर्मी का निर्देश कर के गुण का निषेध किया जाता है। अर्थात् बृहत्त्वादि गुणों को प्रवृत्ति निमित्त बनाकर के ही ब्रह्म पद प्रयुक्त होता है। अत: बृहत्वादि गुण उपजीव्य हो गया और उपजीक ब्रह्मादि पद हो गये। उपजीव्य उपजीवक से बलवान होने के कारण गुणबोधक सगुणवाक्य बलवान सिद्ध हो जायेगें। अत: सगुणवाक्यों के द्वारा ब्रह्म में सगुणत्व की सिद्धि हो जायेगी।

समाधान– उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि ग्रह में एकत्व जैसे अविवक्षित होता है, वैसे ही उद्देश्य में विशेषणतया प्रवृत्ति निमित्त भी अविवक्षित होता है। अत: प्रवृत्ति निमित्त के रूप से गुण को ग्रहण कर

लब्धे यदधिकं तस्यैवाविवक्षेति स्थितिः; अन्यथा ग्रहत्वस्याप्यविवक्षा स्यात्। अत एवोक्तं हविरार्तिनये 'मृष्यामहे हविषा विशेषणम्, उभयत्वं तु न मृष्यामह इति'इति— वाच्यम्, यच्छब्दो यत्र प्रवृत्तिनिमित्तमर्पयन्

सत्यानन्दप्रबोधिका

सगुण वाक्य को उपजीव्य नहीं बनाया जा सकता है। कहने का भाव यह है कि पूर्वमीमांसा के तृतीय अध्याय के प्रथम पाद के सप्तम अधिकरण में विचार किया गया कि ''ज्योतिष्टोम याग है'' वहाँ कहा गया— य एवं विद्वान् सोमेन यजते। (अर्थात् जो विद्वान् इस प्रकार सोम से यजन करता है) उस सोम याग में सुना जाता है—दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि। दशा—वस्त्र के छोर का नाम है, जिसमें धागे बिन बुने रह जाते हैं। पवित्र सोम रस छानने के वस्त्र के नाम है। यह पवित्र ऊन का बनता है। ग्रह वह पात्र है, जिसमें सोमरस छाना जाता है। पात्र के मुख पर यह वस्त्र रखकर उसमें सोमरस छानते हैं। जो बूँद पात्र पर गिर जाती है उन्हें वस्त्र के छोर से पोछ दिया जाता है। यहां पर संशय होता है कि इस वाक्य के द्वारा एक ग्रह के सम्मार्जन के लिये कहा गया है? अथवा सभी ग्रहों के सम्मार्जन के लिये कहा गया है। ''एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात्'' (जै०सू० ३—१—७—१) इस पूर्वपक्ष के सूत्र से कहा गया है कि एक वचन का प्रयोग देखे जाने से एक ही ग्रह का सम्मार्जन करना चाहिये। ''सर्वेषां वा लक्षणत्वाद् अविशिष्टं हि लक्षणम्'' (जै०सू० ३—१—७—२)। इस सिद्धान्त सूत्र से कहा गया कि सम्मार्जन के उद्देश्यभूत ग्रह में एक वचन अविवक्षित है। अर्थात् सभी ग्रहों का यथायोग्य सम्मार्जन आवश्यक होने से एकत्व अविवक्षित है। ऐसे ही प्रकृत में भी प्रवृत्ति निमित्त अविवक्षित है। अतः सगुणवाक्य में उपजीव्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है सिद्धान्ती ने ग्रहैकत्वाधिकरण का जैसा अर्थ किया वैसा अर्थ नहीं है अपितु उद्देश्य के स्वरूप के लाभ के लिये जो अवच्छेदक आवश्यक होता है। उसकी विवक्षा होती है किन्तु उद्देश्य स्वरूप के लाभ के लिये जो अवच्छेदक अनुपयोगी है उसकी अविवक्षा होती है। उद्देश्य के स्वरूप का सम्पादक अवच्छेदक को स्वीकार न करने पर उद्देश्य की ही सिद्धि नहीं हो पायेगी। जब उद्देश्य रूप ग्रह ही नहीं होगा तब सम्मार्जन किसका होगा। इसलिये कहा गया—यस्योभयं हविरार्तिमार्छेत् स ऐन्दं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्।'' (जिस यजमान को उभय हवि का आर्ति (नाश) प्राप्त होगा, उस यजमान को इन्द्र देवता के उद्देश्य से पञ्चशराव ओदन का निर्वाप करना होगा— इस वाक्य पर विचार करते हुए भाष्य में श्री शबर स्वामी ने कहा ''मृष्यामहे हविषा विशेषणमुभयत्वं तु न मृष्यामहे'' अर्थात् जिस यजमान का सायं और प्रातः उभय कालीन हवि का नाश हो जाता है उस यजमान के द्वारा ही इन्द्र देवता के उद्देश्य से पञ्च शराव ओदन का निर्वाप होगा—''ऐसी बात नहीं किन्तु किसी भी सायं या प्रातःकालीन हवि का नाश हो जाने पर इन्द्र देवता के उद्देश्य से पञ्चशराव ओदन का निर्वाप होगा। यहाँ हवि रूप उद्देश्य गत उभयत्व विशेषण विवक्षित नहीं है किन्तु हवि रूप उद्देश्य के स्वरूप का सम्पादक विशेषण हविष्ट्व विवक्षित है। इसी प्रकार ''ब्रह्म निर्गुणम्'' इस स्थल पर उद्देश्य भूत ब्रह्म में एकत्वादि विशेषणों की विवक्षा न होने पर भी ब्रह्म रूप उद्देश्य के स्वरूप का सम्पादक विशेषण बृहत्त्वादि गुणों की विवक्षा होती है। अन्यथा उद्देश्य का स्वरूप ही निष्पन्न नहीं हो पायेगा। फलतः बृहत्त्वादि गुणों के समर्पक सगुण वाक्य उपजीव्य होने के कारण उपजीवक निर्गुण वाक्यों से प्रबल होंगे और ब्रह्म में सगुणत्व को सिद्ध कर देंगे।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैलक्षण्य है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जो शब्द जहाँ पर प्रवृत्ति के निमित्त को अर्पण करता हुआ धर्मी को उपस्थापित करता है। वहाँ उक्त न्याय लगता है और जो शब्द लक्षणा से धर्मी को उपस्थापित करता है

धर्मिणमुपस्थापयति तत्रायं न्यायः, यस्तु लक्षणयोपस्थापयति, तत्र नायं प्रवर्तते। न च—लक्षकेणापि शब्देन इतरव्यावृत्तमसङ्कीर्णमेव वस्तुस्वरूपमुद्देष्टव्यम्, अन्यथा यत्र क्वचन धर्मनिषेधः स्यादिति—वाच्यम्, गङ्गायामित्यादावितरनदीतीरव्यावृत्ततीरलाभवदत्रापि स्वतो व्यावृत्तवस्तुन एवोद्देश्यत्वसम्भवात् किं धर्मसमर्पणेन? न च—निर्गुणवाक्यस्य छागपशुन्यायेन 'त्रैगुण्यवर्जितं' 'विना हेयैर्गुणादिभिः' इत्यादिविशेषोपसंहार इति—वाच्यम्; 'नेति नेति'इत्यादिवीप्साबलेन प्रसक्तसर्वनिषेधे प्रतीते कतिपयविशेषपरिशेषस्य कर्तुमशक्यत्वात्।।३७।।

अत एव 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'इतिवत् त्रैगुण्यादिनिषेधस्यैव सामान्यविषयत्वम्, सार्वज्ञ्यादौ

सत्यानन्दप्रबोधिका

वहाँ उक्त न्याय नहीं लगता है। दृष्टान्त स्थल पर हविष्ट्व शब्द प्रवृत्ति के निमित्त को अर्पण करता हुआ हवि रूप धर्मी को उपस्थापित कर रहा है। अतः दृष्टान्त स्थल पर उक्त न्याय लग जायेगा। दार्ष्टान्त स्थल पर ''सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म'' इत्यादि वाक्य लक्षणा के द्वारा शुद्ध ब्रह्म रूप धर्मी को उपस्थापित करते है। अतः यहाँ उक्त न्याय नहीं लगता है। अतः ब्रह्म रूप धर्मी के लिए बृहत्त्वादि विशेषण की आवश्यकता न होने से उसके समर्पक सगुण वाक्यों में उपजीव्यत्व के माध्यम से प्रबलता सिद्ध नहीं की जा सकती है। प्रबल न होने से सगुणवाक्यों के द्वारा ब्रह्म में सगुणता सिद्ध नहीं होगी।

शङ्का— सिद्धान्ती ने कहा कि जहाँ लक्षणा के द्वारा धर्मी की उपस्थिति होती है, वहाँ किसी धर्म का उपस्थापन न होकर शुद्ध धर्मी की ही उपस्थिति होती है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि लक्षक शब्द के द्वारा भी इतर व्यावृत्त असङ्कीर्ण (असाधारण धर्म विशिष्ट) ही वस्तु स्वरूप लक्ष्य की उपस्थिति माननी होगी। अन्यथा = लक्षक शब्द के द्वारा इतर अव्यावृत्त और सङ्कीर्ण वस्तु स्वरूप का बोध होता है—ऐसा मानने पर ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इत्यादि स्थल पर सत्यादि पद के द्वारा असत्यादि धर्म का जो निषेध होगा। वह ब्रह्म में न होकर घट—पटादि कहीं पर भी होने की आपत्ति होगी।

समाधान— जैसे ''गङ्गायां घोषः'' इस स्थल पर लक्षणा के द्वारा गङ्गा से इतर यमुना के तीर से व्यावृत्त गङ्गा तीर का लाभ स्वतः हो जाता है वैसे ही ''ब्रह्म निर्गुणम्'' इस स्थल पर सत् से इतर असत्य से स्वतः व्यावृत्त ब्रह्म वस्तु को उद्देश्य बना कर गुण सामान्य का निषेध किया जा सकता है। इसके लिए उद्देश्यगत किसी धर्म की उपस्थिति आवश्यक नहीं है।

शङ्का— जैसे पूर्वमीमांसा के षष्ठ अध्याय के अष्टम पाद के नवम अधिकरण में ''छागस्य वयाया मेदसोऽनुब्रूहि'' इस मन्त्र के बल पर ''अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'' इस स्थल पर पशु पद छाग रूप पशु विशेष परक (न कि पशु सामान्य परक) माना गया है। वैसे ही ''त्रैगुण्यवर्जितम्'' (तीनों गुणों (सतोगुणादि) से रहित है।) ''विना हेयैर्गुणादिभिः'' (हेयगुणादि (सतोगुणादि) से रहित है। इन वाक्यों के अनुसार ही ''साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'' इत्यादि वाक्यों में कथित निर्गुणता का तात्पर्य केवल सतोगुणादि विशेष गुणों के निषेध में ही है, सार्वज्ञ्यादि सभी गुणों के निषेध में नहीं।

समाधान— ''अथात आदेशो नेति नेति'' (बृ०उ० २—३—६) इत्यादि वीप्सा (पुनः पुनः) कथन के द्वारा ब्रह्म में प्रसक्त दृश्य मात्र का निषेध प्रतीत हो रहा है। जब दृश्यमात्र का निषेध हो रहा है तब कुछ दृश्यरूप गुण विशेष को शेष नहीं रख सकते है। अतः निर्गुण वाक्य का सतोगुणादि के निषेध में सङ्कोच करना उचित नहीं है।।३७।।

अत एव = उक्त वीप्सा के द्वारा कुछ विशेष गुणों को शेष रखना सम्भव न होने से ही अर्थात् दृश्यमात्र निषेध रूप लक्ष्य होने से इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए ''त्रैगुण्यवर्जितम्'' इत्यादि विशेष गुण

श्रुतेरमानत्वेनाविरोधादत्रापि काकपद इव मानान्तरानुग्रहस्य तुल्यत्वात्, तथापि विशेषोपसंहारे 'न हिंस्यात् सर्वाभूतानि'इत्यस्य 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यत्रोपसंहारापातात्, व्यर्थहिंसायां विध्यभाववत् सार्वज्ञ्यादिगुणेष्वपि विध्यभावस्य समानत्वात् निषेधसाम्योपपत्तेः। अत एव—'धर्मान् पृथङ् पश्यति'इत्यादिश्रुतेः 'सविशेषणे हि'इति न्यायेन गुणानां पार्थक्यस्यैवनिषेधात् तत्सामान्यादन्यत्रापि तथैव निषेधो युक्त इति—निरस्तम्;

सत्यानन्दप्रबोधिका

निषेध का तात्पर्य सामान्य गुण निषेध में ही माना जाता है। जैसे ''काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'' इस स्थल पर काक विशेष से दधि की रक्षा के लिए कहा गया है किन्तु काक पद से केवल काक विशेष लेने पर दधि रक्षा रूप लक्ष्य की सिद्धि हो नहीं सकती है। अतः लक्ष्य की सिद्धि के लिए लक्षणा के द्वारा काक पद से दधिघातक प्राणीमात्र को लिया जाता है। सार्वज्ञ्यादि के प्रतिपादन में ''यः सर्वज्ञः सर्ववित्'' इत्यादि श्रुति का तात्पर्य न होने से गुणसामान्य के निषेध में कोई विरोध नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि श्वादि से दध्यादि का रक्षण इष्ट का साधन है— इस अर्थ को प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर से जानकर काक पद दधि उपघातक सामान्य का लक्षक है— यह निर्णीत होता है, ऐसे ही निर्गुण श्रुत्यादि प्रमाणों में गुण मात्र निधेषकत्व है— ऐसा जानकर त्रैगुण्यादि पद गुण सामान्य का लक्षक है— यह निर्णीत होता है। तथापि = मानान्तर का अनुग्रह होने पर भी अर्थात् ''त्रैगुण्यवर्जितम्'' वाक्य के द्वारा गुण मात्र का निषेध का बोध करने में मानान्तर (निर्गुण वाक्य) का समर्थन प्राप्त होने पर भी, निर्गुण वाक्य को गुण विशेष का निषेधकत्व स्वीकार करने पर (अर्थात् सामान्य शास्त्र को विशेषार्थ में सङ्कोच करने पर) ''न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'' इस सामान्य निषेध का भी सङ्कोच''ब्राह्मणो न हन्तव्यः'' इस विशेष में ही मानना होगा। अर्थात् सर्वभूत पद ब्राह्मण परक ही हो जायेगा। (यदि पूर्वपक्षी कहता है कि अग्नीषोमीय पशु की हिंसा वैध हिंसा है, उससे भिन्न हिंसा व्यर्थ हिंसा है। उस व्यर्थ हिंसा को करो— ऐसी कोई विधि नहीं है। इसलिए ''न हिंस्यात्'' यह वाक्य व्यर्थ हिंसा (सामान्य हिंसा) का निषेध करेगा और ब्राह्मण हिंसा रूप विशेष हिंसा का भी निषेध करेगा किन्तु प्रकृत में ''यः सर्वज्ञः'' इत्यादि वाक्य सार्वज्ञ्यादि गुणों का विधान करता है। अतः यहाँ विधि वाक्य है। अतः निर्गुण वाक्य के द्वारा सार्वज्ञ्यादि गुणों का निषेध नहीं हो सकता। इसका समाधान देते हुए कह रहे है कि) व्यर्थ हिंसा में जैसे विधि नहीं हैं (अर्थात् तात्पर्य का अभाव है) वैसे ही सार्वज्ञ्यादि गुणों में भी विधि नहीं है, क्योंकि सार्वज्ञ्यादि के विधान में ''यः सर्वज्ञः'' इत्यादि वाक्य का तात्पर्य नहीं है। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में समानता है। ''न हिंस्यात्'' यह वाक्य जैसे व्यर्थ हिंसा अर्थात् सामान्य हिंसा का निषेध करता है वैसे ही निर्गुण वाक्य गुण सामान्य का निषेध करता है। इस प्रकार दोनों ही विशेष का निषेध करने वाले नहीं है अपितु सामान्य का निषेध करने वाले है— यही निषेध में समानता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे—

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति। एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुधावति।। (क०उ० २—१—१४)

{जैसे (दुर्गे) ऊचे शिखर पर बरसा हुआ जल पर्वतीय निम्न प्रदेशों में फैलकर नष्ट हो जाता है वैसे प्रत्येक शरीर में भिन्न—भिन्न आत्माओं को देखने वाला जीव बारम्बार शरीर भेद को ही प्राप्त होता रहता है।) इस श्रुति के द्वारा ब्रह्म में पार्थक्य विशिष्ट गुण (पार्थक्य—विशेषण और गुण—विशेष्य—ऐसा जो पार्थक्य विशिष्ट गुण) का ही निषेध किया गया है। किन्तु ''सविशेषणे हि वर्तमानौ विधिनिषेधौ सति विशेषबाधके विशेषणमुपसङ्क्रामतः'' (अर्थात् जहाँ विशिष्ट का विधान या निषेध किया गया हो वहाँ विशेष्य का विधान या निषेध मानने में यदि बाध उपस्थित हो तो उस विधि या निषेध को विशिष्ट विषयक न मानकर केवल

''सविशेषणे हि'' इति न्यायस्य विशेष्यबाधकावतार एव प्रवृत्तेः, प्रकृते च बाधकाभावात्, सार्वज्ञ्यश्रुतेः बाधकत्वनिरासात्, पार्थक्यनिषेधे ब्रह्ममात्रपरिशेषात् नामान्तरेणाद्वैतवादस्यैवोक्तेश्च।३८।।

यत्तु ज्ञानानन्दयोरभेदे एकतरपरिशेषाभावादत्रापि धर्मधर्मिणोर्नैकतरपरिशेषः, अन्यथा आनन्दस्फुरणयोरन्यतराभावात्, मुक्तिरपुमर्थः स्यादिति, तन्न; ज्ञानानन्दव्यक्त्योरस्ति भेदगर्भैकतरशब्दस्याप्रवृत्तिः। एवमेव त्वन्नये गुणगुणिव्यक्त्योरभेदसम्भवात् अस्य परिभाषामात्रत्वात्। यत्तु साक्ष्यादिचैतन्यस्य (साक्षी चेतेत्यस्य) पूर्वं पश्चादपि गुणोक्तेस्तन्मध्यस्थं निर्गुणवाक्यमपि उपांशुयाजन्यायेन तदनुगुणतया नेयमिति,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

विशेषण विषयक ही माना जायेगा।) इस न्याय के अनुसार पार्थक्य विशिष्ट गुण का निषेध न होकर केवल पार्थक्य का ही निषेध होगा, क्योंकि पार्थक्य विशिष्ट गुण में से विशेष्य गुण का निषेध ब्रह्म में मानने पर सगुण श्रुति से बाध उपस्थित होता है। अतः उक्त न्याय से पार्थक्य विशिष्ट गुण का निषेध न होकर केवल विशेषण—पार्थक्य का ही निषेध होगा। अर्थात् गुणों को पार्थक्यत्वेन = ब्रह्म भिन्नत्वेन नहीं जानना चाहिए किन्तु गुणों को ब्रह्म से अभिन्नत्वेन ही जानना चाहिए। इस प्रकार केवल विशेषण (पार्थक्य) का ही निषेध किया गया है विशेष्य (गुण) का नहीं। इसी प्रकार तत्समानार्थकत्व का सम्भव होने से शाखान्तरीय निर्गुण वाक्यों के द्वारा गुण गत पार्थक्य का ही निषेध होगा न कि गुणों का।

समाधान— अत एव निरस्तमित्यन्वयः। अत एव के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि ''सविशेषणे'' यह न्याय जहाँ विशेष्य में विधि की या निषेध की प्रवृत्ति में कोई बाधक होता है वहाँ पर ही लगता है। जैसे ''घटाकाशमानय'' इस स्थल पर विशेष्यभूत आकाश में आनयन विधि बाधित है। अतः आनयन विधि केवल घट रूप विशेषण में ही पर्यवसित होती है। प्रकृत में ब्रह्मगत विशेष्य भूत गुणों के निषेध में बाधक का अभाव है। अतः यहाँ विशिष्ट (पार्थक्य विशिष्ट गुण) निषेध विशेषण मात्र के निषेध में पर्यवसित नहीं हो सकता है। यदि कहो कि गुणों के निषेध का बाधक सर्वज्ञ श्रुति है तो ऐसा नहीं कह सकते है क्योंकि इसका खण्डन ३४ और ३५ खण्ड में किया जा चुका है। दूसरी बात यह है कि पार्थक्य का निषेध होने पर ब्रह्म मात्र के परिशेष होने से नामान्तर से अद्वैतवाद की ही पुष्टि होती है न कि द्वैतवाद की। अर्थात् भेद का निषेध होने पर भेद्य प्रपञ्च का भी निषेध फलतः सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि भेद्य प्रपञ्च को भेद का व्याप्यत्व होने से भेद रूप व्यापक का निषेध होने पर व्याप्य भूत प्रपञ्च का भी निषेध अवश्य हो जायेगा। इसलिए ब्रह्ममात्र ही परिशेष होने से पूर्वपक्षी के द्वारा नामान्तर से अद्वैततत्त्व का उपपादन ही किया गया है।।३८।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ज्ञान और आनन्द इन दोनों को अभिन्न मानते हैं, किन्तु ब्रह्म या तो ज्ञान स्वरूप है या आनन्द स्वरूप है— इस प्रकार एक का परिशेष सिद्धान्ती को अभीष्ट नहीं होता है अपितु दोनों का ही अस्तित्व अभीष्ट होता है। इसी प्रकार ''धर्मान् पृथङ् न पश्यति'' इत्यादि श्रुति से बोध्य गुण और गुणी का अभेद होने पर भी गुण और गुणी दोनों में से एक का परिशेष नहीं होगा। अर्थात् दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहेगा। अन्यथा आनन्द और स्फुरण (ज्ञान) इन दोनों में से किसी एक का लोप हो जाने पर मोक्ष रूप पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो पायेगी, क्योंकि ज्ञान का लोप होने पर अज्ञात सुख के लिए कोई पुरुषार्थं नहीं करता है। इसी प्रकार आनन्द का लोप हो जाने पर दुःख के लिए कोई पुरुषार्थं नहीं करता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ दो व्यक्तियों में भेद हैं। वहाँ एक व्यक्ति से भिन्न दूसरे व्यक्ति का वाचक एकतर शब्द होता है। प्रकृत में ज्ञान और आनन्द अत्यन्ताभिन्न हैं। इसलिए उसमें

तन्न, गुणान् तटस्थीकृत्य तेषां ब्रह्मपरत्वेन गुणे तात्पर्याभावात्। अत एव— निर्गुणशब्देन गुणमात्रनिषेधो न युक्तः, साक्ष्यादिपदेन द्रष्टृत्वादिविधानव्याघातात्सङ्कोच एवेति—निरस्तम्; द्रष्टृत्वादावत्रापि अतात्पर्यात्। तथाच द्रष्टृत्वादिद्वारकब्रह्मरूपयुक्तार्थतैषा; आगमस्य तत्रैव प्रामाण्यसम्भवात्। एवञ्च 'युक्तोऽयुक्तश्च यत्रार्थः आगमस्य प्रतीयते। स्यात्तत्र युक्त एवार्थः' इत्याद्यस्मन्मत एवोपपन्नतरम्। तस्मादुपक्रमादिन्यायानामन्यविषयत्वात् न तद्बलेन सगुणत्वसिद्धिः।।३९।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

एकतर इस शब्द की वृत्ति से एकतर का परिशेष कहना सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि पूर्वपक्षी के मत में गुण और गुणी में अभेद सम्भव है तब तो पूर्वपक्षी भी अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन कर रहे हैं, केवल अपना नाम ही द्वैतवादी रखा है। ऐसा होने पर हमें कोई आपत्ति नहीं है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'' (श्वे०उ० ६—११) इस निर्गुण वाक्य से पूर्व ''तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्'' (श्वे०उ० ६—७) तथा पश्चात् ''एको वशी निष्क्रियाणां बहूनां एकं बीजं बहुधा यः करोति।'' (श्वे०उ० ६—१२) इत्यादि वाक्यों में गुणों का कथन होने से मध्यस्थ निर्गुण वाक्य भी गुणवाक्यों के अनुसार गुण का ही प्रतिपादक होना चाहिए। जैसे पूर्वमीमांसा के दशम अध्याय के अष्टम पाद के षोडश अधिकरण में कहा गया कि ''उपांशुयाजमन्तरा यजति'' इस वाक्य में काल का उल्लेख न हो पर भी पूर्व और उत्तर के वाक्यों में पौर्णमास काल का उल्लेख होने से उपांशु याज भी पौर्णमास काल में किया जाता है अमावस्या काल में नहीं।

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं हैं, क्योंकि ''साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'' इस निर्गुण वाक्य के पूर्व और उत्तर के जो वाक्य पूर्वपक्षी ने कहे हैं। उन वाक्यों का तात्पर्य गुणाभिधान में नहीं है, अपितु गुणों को तटस्थ (द्वार) बनाकर शुद्ध ब्रह्म के प्रतिपादन में हैं। अत एव = किसी भी वाक्य का तात्पर्य गुणों में न होने से पूर्वपक्षी का यह जो कथन है ''साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'' इस श्रुति के निर्गुण शब्द से गुण मात्र का निषेध करना उचित नहीं है, क्योंकि इस श्रुति वाक्य के साक्षी आदि पद के द्वारा द्रष्टृत्वादि गुणों का विधान किया गया है। इसी वाक्य के द्वारा उन द्रष्टृत्वादि गुणों का निषेध मानने पर व्याघात दोष होगा। अतः सङ्कोच करना पड़ेगा कि श्रुतिविहित गुणों को छोड़कर के अन्य गुणों का निषेध किया गया है— ऐसा पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे है कि उक्त श्रुति वाक्य में साक्षी आदि पदों का तात्पर्य द्रष्टृत्वादि गुणों के अभिधान में नहीं है अपितु द्रष्टृत्वादि को द्वार बनाकर कर शुद्ध ब्रह्म के प्रतिपादन में हैं। जो कि सर्वविध युक्ति युक्त है, क्योंकि आगम में प्रामाण्य शुद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन करने पर ही सम्भव होता है। इस प्रकार सगुण वाक्यों के गुणपरक न होने पर भी और निर्गुण वाक्यों के निर्गुण परक होने से यह जो कहा है—

युक्तोऽयुक्तश्च यत्रार्थः आगमस्य प्रतीयते। स्यात् तत्र युक्त एवार्थो युक्तिश्च त्रिविधा मता।।

{अर्थात् जहाँ पर आगम का युक्त और अयुक्त दो प्रकार का अर्थ प्रतीत होता है, वहाँ पर युक्त अर्थ अर्थात् अवधि अर्थ का ही ग्रहण करना उचित है। तर्क— अनुमान और अर्थापत्ति के भेद से युक्ति तीन प्रकार की होती है।} ऐसा जो विद्वानों का कथन है, वह सिद्धान्त मत में ही ठीक प्रकार से उपपन्न होता है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा पूर्वोक्त उपक्रम श्रुतिलिङ्ग आदि न्याय है। उनका विषय पूर्वपक्षी के द्वारा जो दिखाया गया था उससे अन्य ही है। इसे पीछे स्पष्ट कर दिया गया है। अतः उनके बल से ब्रह्म में सगुणत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है।।३९।।

यत्तु 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' 'अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्'इत्यादिसूत्रेषु धर्माणां तत्तदधिकरणसिद्धान्तसाधकतया आदृतत्वात् सगुणत्वसिद्धिरिति, तन्न; आरोपितब्रह्ममात्रसम्बन्धिगुणोपादानेन सिद्धान्तसिद्ध्युपपत्तेर्गुणतात्त्विकत्व औदासीन्यात्। यच्च अहिंसाग्नीषोमीयवाक्ययोरिव सगुणनिर्गुणवाक्ययोरपि भिन्नविषयतयाऽविरोधे सम्भवत्यपि सगुणवाक्यस्यामानत्वाभिधानं सौगतसौहृदादिति, तन्न, निर्गुणवाक्यस्य तत्परत्वेन प्रबलतया बाधस्यावश्यकत्वेऽपि मानत्वाभिधानस्य ब्रह्मवादिविद्वेषमात्रत्वात्। तस्मान्निर्गुणवाक्यबाधात् सगुणवाक्यमतत्परम्।।४०।।

अनुभूतिः, निर्विशेषा, अनुभूतित्वादिति व्यतिरेक्यनुमानमपि बाधकम्;। न चात्राप्रसिद्धविशेषणत्वम्;

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्'' (ब्र०सू० १—१—२०) (य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते।'' (छा०उ० १—६—६) और ''य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते'' (छा०उ० १—७—१) इस श्रुति में आदित्यमण्डलादि के अन्तर श्रूयमाण पुरुष संसारी नहीं है किन्तु परमेश्वर है, क्योंकि पापशून्यत्वादि उसके धर्मों का उपदेश है।''अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्''(ब्र०सू० १—२—१८) (यः पृथिव्यां तिष्ठन् (बृ०उ० ३—७—१) इस प्रकार अधिदैवादि में प्रतिपादित नियामक परमेश्वर ही है, क्योंकि अमृतत्वादि उसके धर्मों का व्यपदेश है।) इस प्रकार तत्तद् अधिकरण में सिद्धान्त साधकतया जो सूत्र है, उन सूत्रों के द्वारा परमेश्वर में जो धर्मों का कथन किया गया है। उस का आदर सिद्धान्ती को भी करना होगा। अर्थात् उक्त सूत्रों में जो कहा गया है। उसको सिद्धान्ती को मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर सगुणत्व की सिद्धि हो जायेगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त सूत्रों के द्वारा ब्रह्म में जो कतिपय गुणों का उल्लेख है। वे गुण ब्रह्म में आरोपित मात्र है। उन आरोपित गुणों के द्वारा भी तत्तद् अधिकरण में निर्णीत उपासनादि सिद्धान्तों की सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार आरोपित गुण होने से गुणगत तात्त्विकत्व की सिद्धि उक्त सूत्रों के द्वारा नहीं हो सकती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'' इस वाक्य के द्वारा जिस हिंसा का विधान किया गया है। उससे भिन्न हिंसा का निषेध '' न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'' इस वाक्य के द्वारा किया गया है। इसी प्रकार सगुण वाक्यों के द्वारा जिस सार्वज्ञ्यादि गुणों का विधान किया गया है। उससे भिन्न सतोगुणादि गुणों का निषेध निर्गुण वाक्य के द्वारा किया गया है। इस प्रकार से सगुण और निर्गुण वाक्यों में अविरोध होना सम्भव है तब सगुण वाक्यों में अप्रमाणत्व का कथन अद्वैतवादी के द्वारा जो होता है वह वेद न मानने वाले बौद्ध मत के साथ दोस्ती के कारण होता है। यह सिद्धान्ती के ऊपर कटाक्ष है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि निर्गुण वाक्य स्वार्थपरक (मुख्यार्थपरक) होने के कारण प्रबल हैं और सगुण वाक्य अतत्परक होने के कारण दुर्बल हैं। अतः निर्गुण वाक्यों के द्वारा सगुण वाक्यों का बाध होना आवश्यक है। ऐसा होने पर भी पूर्वपक्षी के द्वारा जो सगुण वाक्यों में प्रमाणत्व का कथन किया जा रहा है। वह तो ब्रह्माद्वैतवाद से विद्वेष के कारण से है। यह पूर्वपक्षी के उपर कटाक्ष है। अर्थात् जो द्वैषादि से भरा हुआ है। वह अद्वैतसिद्धान्त को समझ ही नहीं सकता। फलतः तत्परक निर्गुण वाक्यों के द्वारा अतत्परक सगुण वाक्य बाधित होने से सगुण वाक्यों के द्वारा ब्रह्म में सगुणत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है।।४०।।

अनुभूतिः निर्विशेषा, अनुभूतित्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः। यह व्यतिरेकि अनुमान भी ब्रह्म के सगुणत्व

यद्व्यतिरेकेऽसमीहितप्रसक्तिः तन्मानयोग्यमिति सामान्यतः प्रसिद्धेः। विशेषत्वमभावप्रतियोगितावच्छेदकम्, अभावप्रतियोगिमात्रवृत्तित्वात्, घटत्ववदिति विशिष्यापि सत्त्वात्। नापि स्वव्याघातः, निर्विशेषत्वस्य स्वरूपत्वेन विशेषत्वानङ्गीकारात्। न च स्वरूपस्य प्रागेव सिद्धेः स्यादनुमितेर्वैयर्थ्यम्; तेन रूपेण ज्ञानस्योद्देश्यत्वात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

में बाधक है। (अनुभूति में अनुभूतित्व के रहने से पक्ष में हेतु का समन्वय हो जायेगा। दृष्टान्त घट में घटत्व रहता है अनुभूतित्व नहीं रहता है। अतः दृष्टान्त में हेत्वभाव मिल जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का भी अभाव है, क्योंकि घट में घटत्व रूप विशेष रहता है। अतः घट में विशेषत्वाभाव रूप निर्विशेषत्व का अभाव = विशेषत्व (घटत्व) रह गया। इस प्रकार व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान हो जाने पर पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जाती है।) इस अनुमान में साध्य की अप्रसिद्धि दोष नहीं दे सकते हैं क्योंकि जिस वस्तु (निर्विशेषत्व) को न मानने पर अनिष्टापत्ति होती है। (पंचदशी में ब्रह्म को सविशेष मानने पर आत्माश्रय— अन्योन्याश्रय चक्रक— अनवस्थादि दोष रूप अनिष्टापत्ति दिखायी गयी है। उसे यहाँ ग्रहण कर लेना चाहिए।) वह वस्तु (निर्विशेषत्व) अवश्य ही प्रमाण के योग्य होती है—इस प्रकार की सामान्य व्याप्ति के बल पर इस अनुमान के साध्य को प्रसिद्धि हो जाती है। इस प्रकार से सामान्यतः साध्य की प्रसिद्धि दिखाकर अब विशेष रूप से भी साध्य की प्रसिद्धि दिखायी जा सकती है— इस आशय से कह रहे हैं कि— विशेषत्वमभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वम्, अभावप्रतियोगिमात्रवृत्तित्वात्, घटत्ववत्। पक्ष में हेतु का समन्वय—अभावप्रतियोगिमात्रवृत्ति का अर्थ होता है कि जितने अभाव है और उनके जितने प्रतियोगी है। उन सभी प्रतियोगियों में ही रहता हो। (ब्रह्म का अभाव कहीं रहता ही नहीं है। अतः अभाव का प्रतियोगी ब्रह्म होगा ही नहीं। अतः ब्रह्म में विशेषत्व रहता है या नहीं? इसका विचार करने की आवश्यकता ही नहीं। किन्तु) दृश्यमात्र का अभाव कहीं न कहीं होता है। उनके सभी प्रतियोगियों में विशेषत्व रहता है। इस प्रकार दृश्य के जितने अभाव होते है। उन सभी अभावों के प्रतियोगियों में विशेषत्व के रहने से अभावप्रतियोगिमात्रवृत्तित्व विशेषत्व में होने से पक्ष में हेतु का समन्वय हो गया। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—घटाभाव का प्रतियोगी घट। उसमें घटत्व रहता है। अतः घटाभावप्रतियोगिमात्रवृत्तित्व घटत्व में चला गया। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—भूतल में घटत्वेन घटाभाव रहता है। उसका प्रतियोगी घट प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व। अतः उक्तावच्छेदकत्व घटत्व में चला गया। इस प्रकार व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर पक्ष में विशेष रूप से साध्य की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् निर्विशेष = विशेषाभाव का प्रतियोगी = विशेष, प्रतियोगितावच्छेदक = विशेषत्व। इस प्रकार विशेष रूप से साध्य की प्रसिद्धि हो जाती है। पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो कहा जाता है कि अनुभूति में निर्विशेषत्व साध्य की सिद्धि करने पर तो अनुभूति में निर्विशेषत्व धर्म मान लिया और पुनः कहना कि अनुभूति में कोई धर्म नहीं रहता है। ऐसा होने पर स्वप्रामाण्यव्याघात की आपत्ति होगी। इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि निर्विशेषत्व को अनुभूति का स्वरूप माना जाता है, न कि अनुभूति का धर्म, क्योंकि अभाव अधिकरण स्वरूप होने से निर्विशेषत्व = विशेषत्वाभाव अनुभूति का स्वरूप होता है। यह जो कहा गया कि यदि निर्विशेषत्व अनुभूति का स्वरूप है तब तो अनुभूति का स्वरूप अनुमान से पहले ही सिद्ध है—ऐसा होने पर सिद्धसाधनदोष होगा। इसके उत्तर में कह रहे हैं कि सामान्य रूप से अनुभूति का स्वरूप पहले से सिद्ध होने पर भी अनुभूति सभी विशेषों से असङ्ग है अखण्ड है इत्यादि रूप से अनुभूति पहले से सिद्ध नहीं है। उसी को इस अनुमान से सिद्ध किया जा रहा है। अतः सिद्धसाधनदोष नहीं होगा। सगुण श्रुति के द्वारा इस अनुमान में बाध दोष

नापि श्रुतिबाधः; प्रागेव निरासात्, प्रत्युत बहुतरश्रुत्यनुग्रहः। अत एव नाभाससाम्यम्। नाप्यप्रयोजकत्वम्, भिन्नत्वे अभिन्नत्वे सम्बन्धत्वे चातिप्रसङ्गानवस्थाभ्यां धर्मधर्मिभावानुपपत्तेरेव विपक्षबाधकत्वात्। न च सम्बन्धस्य मिथ्यात्ववत् स्वनिर्वाहकत्वान्नानवस्था; अभेदवादे अतिरिक्तस्य वक्तुमशक्यत्वात्।।४१।।

न च—धर्माभावरूपधर्मभावाभावाभ्यां व्याघातेन कुतर्कतास्येति—वाच्यम्; धर्माभावस्य स्वरूपतयैव

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि इसका निराकरण खण्ड संख्या १५ में किया जा चुका है। दूसरी बात यह है कि इस अनुमान को अनेक स्वार्थपरक निर्गुण श्रुतियों का समर्थन प्राप्त है। अत एव = अनेक निर्गुण श्रुतियों का समर्थन प्राप्त होने से ''घटः निर्विशेषः घटत्वात्'' के जैसे आभास साम्यता भी नहीं दी जा सकती है। ''हेतुः अस्तु साध्यं मास्तु'' अर्थात् अनुभूति में अनुभूतित्व रहे किन्तु निर्विशेषत्व न रहे अर्थात् सविशेषत्व रहे। इस प्रकार से अप्रयोजकत्व की शङ्का नहीं की जा सकती है, क्योंकि इस शङ्का के नाशक अनेक विपक्ष बाधक तर्क विद्यमान हैं। इसको स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अनुभूति में रहने वाला विशेष के साथ अनुभूति का धर्मधर्मिभाव मानना होगा किन्तु ऐसा मानने पर प्रथम दोष होगा—भिन्न—भिन्न दो पदार्थों में धर्मधर्मिभाव मानने पर घट और पट में भी धर्मधर्मिभाव मानना रूप अतिप्रसङ्ग होगा। द्वितीय दोष— दो अभिन्न पदार्थों में धर्मधर्मिभाव मानने पर घट और कलश में भी धर्मधर्मिभाव मानना रूप अतिप्रसङ्ग दोष होगा। तृतीयदोष—धर्म और धर्मी में कोई सम्बन्ध नहीं हैं—ऐसा मानने पर किसी का भी धर्म किसी भी धर्मी में बैठ जायेगा—ऐसा अतिप्रसङ्ग की आपत्ति होगी। धर्म का धर्मी के साथ सम्बन्ध मानने पर इस सम्बन्ध का भी धर्म और धर्मी के साथ सम्बन्ध मानना पड़ेगा— इस प्रकार सम्बन्ध का भी सम्बन्ध मानने पर अनवस्था दोष होगा। इस प्रकार से धर्मधर्मिभाव न बन पाना ही विपक्ष बाधक तर्क है। उक्त अनवस्थादोष के निवारण के लिए यदि पूर्वपक्षी कहता है कि प्रपञ्च में मिथ्यात्व के रहने से प्रपञ्च मिथ्या है किन्तु मिथ्यात्व में मिथ्यात्व है या नहीं। नहीं रहने पर मिथ्यात्व सत्य सिद्ध हो जायेगा। इसलिए सिद्धान्ती मिथ्यात्व में मिथ्यात्व मानते है किन्तु मिथ्यात्व में वही मिथ्यात्व मानने पर आत्माश्रयदोष होगा। अन्य मिथ्यात्व मानने पर अनवस्था दोष होगा। इसलिए सिद्धान्ती मिथ्यात्व में मिथ्यात्वान्तर अङ्गीकार नहीं करते अपितु मिथ्यात्व का मिथ्यात्व मिथ्यात्व से ही व्यवहृत होता है वैसे सम्बन्ध का सम्बन्धत्व स्व से ही व्यवहृत होता है। अतः अनवस्था दोष नहीं होगा। इसका समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के मत में ब्रह्म में रहने वाले धर्म का ब्रह्म के साथ भेद नहीं माना जाता है। इसलिए पूर्वपक्षी के मत में ब्रह्म और धर्म के मध्य में ब्रह्म और धर्म से अतिरिक्त सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जब भेद ही नहीं हैं तब सम्बन्ध रह नहीं सकता, क्योंकि सम्बन्ध का भेदनिष्ठत्व सर्वसम्मत है।। ४१।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि ब्रह्म में धर्माभाव रूप धर्म रहता है तब तो उसी से ब्रह्म में सविशेषता आ गयी। अतः ब्रह्म में निर्विशेषता का कथन व्याघात युक्त है। यदि धर्माभाव रूप धर्म ब्रह्म में नहीं है तो ब्रह्म में धर्माभावाभाव= धर्म के रहने से निर्विशेषता का कथन व्याघात से युक्त है। अतः धर्म का खण्डन करने वाले सिद्धान्ती का जो तर्क है उसमें स्व व्याघातकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि अभाव अधिकरण स्वरूप होने से ब्रह्म स्वरूपत्वेन धर्माभाव की सत्ता मानी जाती है। अतः ब्रह्म की निर्विशेषता स्वीकार करने पर किसी भी प्रकार का व्याघात नहीं है। (यदि कहा जाय कि धर्माभाव ब्रह्मस्वरूप है तब उसमें धर्मधर्मिभाव व्यवहार कैसे होगा? इसका उत्तर दे रहे है कि) पूर्वपक्षी के मत में आनन्दादि धर्म ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी धर्मधर्मिभाव के व्यवहार का

सत्त्वाङ्गीकारेण व्याघाताभावात्, अभेदेऽपि भेदकल्पनया धर्मधर्मिभावव्यवहारस्य त्वयापीष्टत्वात्। न च—एवमानन्दस्य ज्ञानमात्रत्वे दुःखज्ञानमप्यानन्दः स्यात्, भिन्नत्वे अखण्डत्वहानिः, एवमेव ब्रह्मणो जगदभिन्नत्वे मिथ्यात्वापत्तिः भिन्नत्वे भेदसत्यत्वमित्यादितर्कबाधात् त्वदभिमतं ब्रह्मापि न सिद्धयेदिति श्रुतिबाधात्तर्काणामाभासत्वं मन्मते समानमिति—वाच्यम्; दुःखज्ञानस्य वृत्तिरूपतया आनन्दस्य नित्यचिन्मात्रानतिरेके अतिप्रसङ्गाभावात्, आरम्भणाधिकरणन्यायेन ब्रह्मव्यतिरेकेण जगतः अभावात् भेदाभेदविकल्पस्यानवकाशात् सगुणश्रुतेरतत्परतया श्रुतिबाधसाम्योक्तेरयुक्तेः, निर्गुणश्रुतेस्तु तत्परतया तदनुगृहीततर्के शुष्कत्वाभावाच्च।।४२।।

यत्तु निर्विशेषत्वस्य भावाभावाभ्यां मूकोऽहमितिवत् स्वव्याघातः, यदि निर्विशेषत्वरूपविशेषोऽप्यनेनैव

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रयोजकीभूत भेद की कल्पना के द्वारा धर्मधर्मिभाव का व्यवहार माना जाता है। इसी प्रकार सिद्धान्त मत में भी ब्रह्मस्वरूप होने पर भी भेद का आरोप कर के धर्मधर्मिभाव व्यवहार की उपपत्ति हो जायेगी।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि आनन्द से ज्ञान अभिन्न है? या भिन्न है? प्रथम पक्ष मानने पर अर्थात् आनन्द को ज्ञान से अभिन्न मानने पर दुःख ज्ञान को भी आनन्द रूप मानने की आपत्ति होगी। द्वितीय पक्ष (आनन्द को ज्ञान से भिन्न) मानने पर ब्रह्म आनन्द स्वरूप और ज्ञानस्वरूप है, इस प्रकार ब्रह्म के दो भिन्न—भिन्न स्वरूप होने पर अखण्डत्व की हानि होगी। इसी प्रकार प्रश्न होता है कि ब्रह्म से जगत् अभिन्न है? या भिन्न है? प्रथम पक्ष मानने पर जगत् के मिथ्या होने से जगत् अभिन्न ब्रह्म भी मिथ्या हो जायेगा। द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर ब्रह्म से जगत् का जो भेद हैं। उसको सत्य मानने से द्वैतापत्ति होगी। इस प्रकार के तर्कों से बाध होने से सिद्धान्ती सम्मत ब्रह्म की सिद्धि नहीं होगी। ''ब्रह्मापि''के अपि पद से कहा कि सिद्धान्ती सम्मत अद्वैत की भी सिद्धि नहीं होगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि निर्गुण श्रुति के द्वारा बाधित होने के कारण पूर्वपक्षी के द्वारा प्रस्तुत तर्क तर्काभास हैं। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि तब तो हम भी कह सकते हैं कि सगुण श्रुति के द्वारा बाधित होने के कारण सिद्धान्ती के द्वारा प्रस्तुत तर्क तर्काभास हैं।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दुःख ज्ञान को अनित्य वृत्ति रूप माना जाता है जब की आनन्द वृत्ति रूप नहीं माना जाता है अपितु स्वरूपभूत चिन्मात्रात्मक माना जाता है। इस प्रकार दुःख ज्ञान और स्वरूपभूत चिन्मात्रात्मक आनन्द भिन्न—भिन्न होने से दुःख ज्ञान में आनन्द रूपता की आपत्ति नहीं आयेगी। आरम्भाधिकरण (ब्र०सू० २—१—६) में भगवान् सूत्रकार और भगवान् भाष्यकार यह सिद्ध कर दिया है कि ब्रह्म से भिन्न प्रपञ्च की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती है तब उक्त प्रकार से भेदाभेद का विकल्प उठा कर दोष देने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता है। सगुण श्रुति अतत्परक और निर्गुण श्रुति तत्परक होने से दोनों श्रुतियों के द्वारा जो बाध है। उसमें समता नहीं कही जा सकती है। अर्थात् सिद्धान्ती के द्वारा दिया गया जो तर्क है उसका बाध अतत्परक सगुण श्रुति नहीं कर सकती है और पूर्वपक्षी के द्वारा दिया गया जो तर्क है उसका बाध स्वार्थपरक निर्गुण श्रुति कर सकती है। इस प्रकार से दोनों में समानता नहीं है। फलतः निर्गुण श्रुति में स्वार्थपरता होने से निर्गुण श्रुति से अनुगृहीत तर्क में शुष्कत्व (अनुग्राहक तर्क शून्यत्व) नहीं है।।४२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि ब्रह्म में निर्विशेषत्व रूप विशेष है तब विशेष के रहते हुए भी ब्रह्म को निर्विशेष कहना ''मूकोऽहम्'' के जैसे वदतो व्याघात दोष है। यदि ब्रह्म में निर्विशेषत्व रूप विशेष नहीं है तब तो जिसमें निर्विशेषत्व धर्म नहीं है। उसको निर्विशेष कहना वदतो व्याघात दोष है। यदि कहा जाय कि ''ब्रह्म निर्विशेष है।'' इस कथन के द्वारा ही निर्विशेषत्व रूप विशेष का भी निषेध हो जाता है। अतः ''ब्रह्म निर्विशेष है'' इस कथन में वदतो व्याघात दोष नहीं दिया जा सकता है। इस प्रकार से वदतो

निषिध्यते, तर्हीयमपि वचनक्रिया मूकोऽहमित्यनेनैव निषिध्यत इति सममिति, तन्न, निर्विशेषत्वस्य विशेषरूपत्वे विशेषत्वेनैव रूपेण तन्निषेधस्याद्वितीयवाक्ये द्वितीयाभावरूपद्वितीयनिषेधस्येवोपपत्तेः, अन्यथा विशेषत्वावच्छिन्ननिषेधप्रतीतेरनुपपत्तेः; अभावानतिरेके तु स्वरूपानतिरेकितया, मूकोऽहमितिवत्स्ववचन—व्याघाताभावस्यैवोक्तत्वाच्च, मूकोऽहमित्यत्र वक्तृत्वतदभावयोरेकरूपेण निषेधाभावात् व्याघातोपपत्तेः। ननु—ब्रह्मणः शून्यानिर्वाच्यव्यावर्तकविशेषाभावे तुच्छत्वमिथ्यात्वाद्यापत्तेः तत्सत्त्वे सविशेषत्वमिति—चेत्, व्यावर्त्त्यसमानसत्ताकविशेषाभावेऽपि व्यावृत्तिबोधसमानसत्ताकधर्मेण भिन्नत्वनिर्विशेषत्वयोरुपपत्तेः।।४३।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्याघात दोष का निवारण करने पर तो ''मूकोऽहम्'' इस प्रकार उच्चारण करना रूप जो वचन क्रिया है। उसका भी ''मूकोऽहम्'' इस कथन के द्वारा निषेध हो जाने से वदतो व्याघात दोष नहीं लगना चाहिए।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है निर्विशेष = विशेषाभाव। यहाँ पर दो मत है। एक मत में अभाव को अधिकरण स्वरूप नहीं माना जाता है। दूसरे मत में अभाव को अधिकरण स्वरूप माना जाता है। प्रथम मत को मानकर समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे कि निर्विशेषत्व (विशेषत्वाभाव) को ब्रह्म से अतिरिक्त मानने पर ब्रह्मातिरिक्तत्व रूप से ही उसके निषेध की उपपत्ति हो जायेगी। अर्थात् ''ब्रह्म निर्विशेषम्'' इस कथन के द्वारा ब्रह्म से पृथक विशेषत्वेन सकल विशेषों का जब हम निषेध करते हैं तब ब्रह्म से पृथक् निर्विशेषत्व धर्म रूप विशेष का भी निषेध हो जाता है। जैसे ''द्वैतं नास्ति'' इस कथन के द्वारा ब्रह्म से पृथक् द्वितीयत्वेन सकल द्वैतों का निषेध जब हम करते हैं तब ब्रह्म से पृथक् द्वैताभाव रूप द्वैत का भी निषेध हो जाता है। अन्यथा = ''ब्रह्म निर्विशेषम्'' इस कथन के द्वारा निर्विशेषत्व रूप विशेष को छोड़कर इतर विशेषों का निषेध मानने पर, जो विशेषत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक (सम्पूर्ण विशेषों का) निषेध कहा जा रहा है। वह उपपन्न नहीं हो पायेगा, क्योंकि निर्विशेषत्व रूप एक विशेष को तुम बचा हुआ मान रहे हो। द्वितीय मत (अभाव को अधिकरण स्वरूप मानने वाला मत) के अनुसार समाधान देते हुये कह रहे हैं कि निर्विशेष = विशेषाभाव अधिकरण स्वरूप होने से ब्रह्मस्वरूप ही है। अतः ''ब्रह्म निर्विशेषम्'' ऐसा कथन होने पर ब्रह्म से पृथक् किसी विशेष धर्म का प्रतिपादन नहीं होता है। अतः पूर्वपक्षी ने जो ब्रह्म से पृथक् निर्विशेषत्व रूप विशेष को दिखाकर व्याघातदोष दिया था, उस का खण्डन हो गया। अतः दृष्टान्त के जैसे दार्ष्टान्त में वदतो व्याघातदोष नहीं है। दृष्टान्त में वदतो व्याघात दोष कैसे है? इसको स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि ''मूकोऽहम्'' इस स्थल पर वक्ता अपनी सकल वचन किया का निषेध करता है, किन्तु ''मूकोऽहम्'' इस प्रकार बोलकर एक वचन क्रिया को कर भी रहा है। अतः वदतो व्याघात दोष होता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ब्रह्म में बौद्धाभिमत शून्य व्यावर्तक तथा सिद्धान्ती अभिमत अनिर्वचनीय प्रपञ्च व्यावर्तक विशेष नहीं मानते हैं? अथवा मानते हैं? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर ब्रह्म भी शून्य के समान तुच्छ और प्रपञ्च के जैसे मिथ्या सिद्ध हो जायेगा। द्वितीय पक्ष मानने पर ब्रह्म में विशेष के रहने पर सविशेषतापत्ति होगी।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि हम ब्रह्म में शून्य और अनिर्वचनीय प्रपञ्च की व्यावृत्ति (भेद) मानते हैं और व्यावर्तक विशेष धर्म भी मानते हैं किन्तु व्यावर्त्य = ब्रह्म के समानसत्ताक व्यावर्तक धर्म विशेष को नहीं मानते हैं अपितु व्यावहारिक सत्ता वाली व्यावृत्ति के समान सत्ता वाला धर्म विशेष मानते हैं। अतः व्यावहारिक सत्ता वाले धर्म विशेष से व्यवहार काल में शून्यादि से भिन्नत्व सिद्ध हो जायेगा और पारमार्थिक निर्विशेषत्व भी बना रहेगा।।४३।।

अत एव—ब्रह्मणो निर्विशेषत्वे विचारविषयत्वानुपपत्तिः।

'इदमित्थमिति ज्ञानं जिज्ञासायाः प्रयोजनम्। इत्थंभावो हि धर्मोऽस्य न चेन्न प्रतियोगिता।।'

इति—निरस्तम्; विचारकाले आरोपितधर्मसम्भवात्। विचारोत्तरकाले च इत्थमिति व्यवहारस्य स्वरूपव्यावृत्त्यादेः कल्पितपार्थक्यमादायोपपत्तेः। ननु—धर्मारोपार्थमपि केचन धर्माः सत्याः स्वीकर्तव्याः; इदन्त्वादिना ज्ञात एव रूप्याद्यारोपदर्शनात्। तदुक्तम्—

'धर्मारोपोऽपि सामान्यधर्मादीनां हि दर्शने।
सर्वधर्मविहीनस्य धर्मारोपः क्व दृश्यते'

इति—चेन्न; इदन्त्वादेरपि सत्यत्वासम्प्रतिपत्तेः, शुद्धेऽप्यध्यासस्योपपादितत्वाच्च, आरोप्यविलक्षणधर्मवत्त्व—

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्रह्म को निर्विशेष मानने पर ब्रह्म में सन्देह विषयत्व तथा विचार विषयत्व की सिद्धि नहीं हो पायेगी, क्योंकि प्रकार को लेकर ही सन्देहादि होता है। जैसे यह स्थाणुत्व वाला स्थाणु है या पुरुषत्व वाला पुरुष है? इसके बाद विचार होता है। सन्देहादि न होने पर विचार का जो फल = सप्रकारक रूपेण वस्तु का निर्णय उसकी भी सिद्धि नहीं हो पायेगी। इसको स्पष्ट करते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि इदम् = ब्रह्म इत्थम्= आनन्दादि विशेषवत्। अर्थात् ब्रह्म का आनन्दादि विशेषवत्त्वेन बोध जिज्ञासा (विचार) का प्रयोजन (फल) होता है। ब्रह्म में इत्थंभाव (आनन्दादि प्रकारत्व) न मानने पर ब्रह्म में अनानन्दादि से व्यावृत्तता की सिद्धि नहीं हो पायेगी। (अर्थात् जैसे स्थाणु में स्थाणुत्व धर्म के रहने से स्थाणुत्व धर्म के द्वारा पुरुषत्व धर्म की व्यावृत्ति कर के स्थाणुत्व वाला स्थाणु की सिद्धि होती है। वैसे ही ब्रह्म में अनानन्द धर्म के रहने से आनन्द धर्म के द्वारा अनानन्द धर्म की व्यावृत्ति कर के आनन्द वाला ब्रह्म है— इसकी सिद्धि हो पायेगी। ब्रह्म में आनन्द धर्म न रहने पर अनानन्द धर्म की व्यावृत्ति न होकर आनन्द धर्म वाले ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो पायेगी। यह पूर्वपक्षी का भाव है।)

समाधान— अत एव निरस्तम् — ऐसा अन्वय है। अत एव के अर्थ को स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि विचारकाल में ब्रह्म में आनन्दादि धर्मों का आरोप कर के उसके द्वारा अनानन्दादि की व्यावृत्ति कर के अखण्ड ब्रह्म का बोध हो जायेगा। यही विचार का प्रयोजन (फल) है। विचार के उत्तरकाल (ज्ञानावस्था) में जीवन्मुक्त में भी अविद्यालेश होता है। अतः अविद्यालेश प्रयुक्त आरोपित धर्मो के माध्यम से अनानन्दादि की व्यावृत्ति कर के अखण्ड ब्रह्म के बोध की उपपत्ति हो जायेगी।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्रह्म में धर्मों का आरोप करने से पहले कोई सत्य धर्म भी ब्रह्म में मानने पडेंगे। जैसे शुक्ति में रजतादि के आरोप से पहले इदन्त्व (पूरोवर्तित्व) आदि सत्य धर्म शुक्ति में माने जाते हैं, क्योंकि इदन्त्वादि रूप से ज्ञात में ही रजतादि का आरोप होता है। जैसा कि कहा गया है—

'धर्मारोपोऽपि सामान्यधर्मादीनां हि दर्शने।
सर्वधर्मविहीनस्य धर्मारोपः क्व दृश्यते'

सामान्य धर्म (पूरोवर्तित्व) आदि का दर्शन होने पर ही रजतत्वादि धर्म का आरोप होता है। सर्व धर्म से रहित धर्मी में किसी भी धर्म का आरोप नहीं देखा जाता है।

समाधान— यद्यपि ''इदं रजतम्'' इत्यादि भ्रम स्थल पर पूरोवर्तित्वादि धर्मों से विशिष्ट अधिष्ठान देखा जाता है, किन्तु उक्त धर्मों में हम पारमार्थिकत्व नहीं मानते हैं। दूसरी बात यह है कि सत्य धर्मों से युक्त धर्मी में जैसे अधिष्ठानत्व की उपपत्ति हो जाती है वैसे ही आरोपित धर्मों से युक्त धर्मी में भी अधिष्ठानत्व

स्यानाद्यविद्यासम्बन्धेनैवोपपत्तेः। अत एव—अभावरूपधर्माङ्गीकारे भावोऽप्यस्तु, प्रामाणिकत्वाविशेषात् इति—निरस्तम्; स्वरूपातिरेकिणोऽभावस्याप्यनङ्गीकारात्, धर्ममात्रे प्रामाणिकत्वस्य निराकृतत्वाच्च। तस्मान्निर्विशेषं परं ब्रह्म।।४४।।

इत्यद्वैतसिद्धौब्रह्मणो निर्विशेषत्वनिर्गुणत्वोपपत्तिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

की उपपत्ति हो जाती है। इसे पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। शुद्ध ब्रह्म में भी आरोप का उपपादन अनादि अविद्या के आधार पर किया जा चुका है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि अधिष्ठान में सत्य धर्म नहीं रहता है—यह मान भी लें तब भी आरोप्य विलक्षण (आरोप्य में न रहने वाला) धर्म यदि अधिष्ठान में रहे तभी आरोप हो पायेगा। इस पर सिद्धान्ती का कथन है अनादि अविद्या सम्बन्ध ही तादृश धर्म होने के कारण पूर्वपक्षी के कथन की हमारे मत में भी उपपत्ति हो जायेगी। अर्थात् आरोप के साथ जो अविद्या का सम्बन्ध सादि है और अधिष्ठान के साथ अविद्या का सम्बन्ध अनादि है। इस प्रकार आरोप में रहने वाला धर्म (अविद्या का सादि सम्बन्ध) उससे विलक्षण अधिष्ठान में रहने वाला धर्म (अविद्या का अनादि सम्बन्ध) है। अतः शुद्ध ब्रह्म में आरोप की उपपत्ति हो जायेगी। पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो अनुमान किया जाता है कि—भावरूपधर्मः ब्रह्मनिष्ठः, प्रामाणिकत्वात्, अभावरूपधर्मवत्। अर्थात् निर्गुणश्रुति रूप प्रमाण के आधार पर सिद्धान्ती ब्रह्म में जैसे विशेषाभावरूप निर्विशेषत्वादि धर्म को मान रहे हैं वैसे ही सगुण श्रुतिरूप प्रमाण के आधार पर ब्रह्म में सार्वज्ञ्यादि धर्मो को भी मान लेना चाहिये, क्योंकि उक्त दोनों श्रुतियों में प्रामाणिकत्व है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव को ब्रह्म स्वरूप से पृथक् नहीं माना जाता है। ऐसा होने से दृष्टान्त में साध्य नहीं रहेगा क्योंकि अभाव धर्म न होकर ब्रह्म स्वरूप हो गया। अभाव रूप ब्रह्म—ब्रह्म निष्ठ हो नहीं सकता। अतः हेतु में व्यभिचार दोष हो गया। अखण्ड ब्रह्म से भिन्न धर्म मात्र की प्रामाणिकता का निराकरण किया जा चुका है। अतः पक्ष और दृष्टान्त में हेतु ही नहीं जायेगा। अतः हेतु स्वरूपासिद्धि आदि दोषों से ग्रस्त होने के कारण साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है। फलतः निर्विशेष (निर्गुण) पर ब्रह्म है—यह सिद्ध हो गया।।४४।।

—इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां ब्रह्मणो निर्विशेषत्वनिर्गुणत्वोपपत्तिः—

५—ब्रह्मनिर्गुणत्वे प्रमाणविचारः

ननु— निर्विशेषे किं प्रमाणमिति चेत्, स्फूर्त्यर्थं वा अज्ञाननिवृत्त्यर्थं वा प्रमाणप्रश्नः। आद्ये स्वप्रकाशतया प्रमाणवैयर्थ्यम्। न च—विप्रतिपन्ने स्वतःसिद्धेर्वक्तुं शक्यतया अतिप्रसङ्गः, अभावव्यावृत्तिबोधक—प्रमाणसत्त्वासत्त्वाभ्यां विशेषात्, द्वितीये उपनिषद एव प्रमाणत्वात्। अत एव प्रत्यक्षमनुमानं वेत्यादिविकल्पस्य नावकाशः।१॥

ननु—कथं तत्रोपनिषत् मानम्? जातिगुणक्रियादिरूपनिमित्ताभावेन मुख्यवृत्तेरयोगात्, अस्वीकाराच्च, आरोपितनिमित्तविषयप्रतीतेर्निर्विशेषे प्रामाण्यायोगात्, गौण्याश्च मुख्यार्थगुणयुक्ततयैव लक्षणायाश्च

सत्यानन्दप्रबोधिका

यदि पूर्वपक्षी कहता है कि ब्रह्म निर्विशेष है—इसमें क्या प्रमाण है? इसका उत्तर देते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि यह प्रमाण विषयक प्रश्न निर्विशेष की स्फूर्ति के लिये है (अर्थात् ब्रह्म का निर्विशेष ज्ञान किस प्रमाण से होता है—इसके अभिप्राय से प्रश्न है) अथवा निर्विशेष ब्रह्म का जो अज्ञान है, उसकी निवृत्ति किस प्रमाण से होती है? इसके अभिप्राय से प्रमाण विषयक प्रश्न है। प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म स्वयंप्रकाश होने से उसका प्रकाश (ज्ञान) किसी प्रमाण से नहीं होता है। अतः उसके ज्ञान के लिये प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि निर्विशेष वस्तु जो कि विवादास्पद है। उसके स्फूर्ति में क्या प्रमाण है? ऐसा जब सिद्धान्ती से पूछा गया तब सिद्धान्ती ने कहा कि वह स्वयंप्रकाश है। उसके विषय में प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार से उत्तर देने पर ''शब्दो नित्यः'' इत्यादि सभी विवादास्पद स्थलों पर जब पूछा जायेगा कि इसमें प्रमाण क्या है ? तो यहां भी कह दिया जायेगा कि शब्द स्वयंप्रकाश और नित्य है। इसमें प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है। अर्थात् प्रत्येक वादी स्वाभिप्रेत अर्थ की प्रतिज्ञा कर प्रमाण पूछने पर कह सकता है कि प्रतिज्ञात अर्थ स्वयंप्रकाश है। इसमें प्रमाणोपन्यास व्यर्थ है। इस प्रकार से अतिप्रसङ्ग होगा। मूलस्थ ''विप्रतिपन्ने'' के स्थान पर ''विप्रतिपन्नमात्रे'' ऐसा पाठान्तर है।

समाधान — मूलस्थ ''अभावव्यावृत्तिबोधकप्रमाणसत्त्वासत्त्वाभ्याम्'' में अभाव पद से परप्रकाश्यात्यन्ताभाव का ग्रहण है और व्यावृत्ति पद से परप्रकाश्य भेद का ग्रहण है। (अभावश्च व्यावृत्तिश्च इति अभावव्यावृत्ती तयोः बोधकं च तत्प्रमाणं च इति अभावव्यावृत्तिबोधकप्रमाणम्। तस्य सत्त्वासत्त्वाभ्याम्।) परप्रकाश्यात्यन्ताभाव बोधक प्रमाण का सत्त्व निर्विशेष ब्रह्म में है और परप्रकाश्य भेद बोधक प्रमाण का सत्त्व निर्विशेष ब्रह्म में है। जबकि शब्द नित्यत्वादि में पर प्रकाश्यात्यन्ताभाव और परप्रकाश्य भेद बोधक प्रमाण का सत्त्व नहीं है। यही दार्ष्टान्त और दृष्टान्त में विशेषता (भिन्नता) होने से उक्त प्रकार से अतिप्रसङ्ग नहीं दिया जा सकता है। अर्थात् दार्ष्टान्त में स्फूर्ति के लिए प्रमाण का वैयर्थ्य है और दृष्टान्त में स्फूर्ति के लिए प्रमाण की आवश्यकता है। द्वितीय प्रश्न (निर्विशेष ब्रह्म का जो अज्ञान है। उसकी निवृत्ति किस प्रमाण से होती है? इस प्रश्न) का उत्तर है कि निर्विशेष ब्रह्म औपनिषद है। इसलिए उपनिषद् प्रमाण से जन्य ज्ञान से निर्विशेष ब्रह्म के अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। अत एव निर्विशेष ब्रह्म में उपनिषदों का ही प्रमाणत्व होने से, प्रत्यक्ष प्रमाण है या अनुमान प्रमाण है— इत्यादि विकल्प को अवकाश नहीं मिलता है।१॥

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि निर्विशेष ब्रह्म में उपनिषद् प्रमाण कैसे है? अर्थात् उपनिषद् प्रमाण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि जाति गुण क्रियादि प्रवृत्ति निमित्त (शक्यतावच्छेदक) के सम्बन्ध से ही शब्द की प्रवृत्ति होती है। सिद्धान्त मत में निर्विशेष ब्रह्म में जाति गुण क्रियादि माना नहीं जाता है। अतः शब्द की

शक्यार्थसम्बन्धितावच्छेदकरूपवत्तयैव स्वार्थोपस्थापकत्वात्, पदस्यान्वयितावच्छेदकरूपेण स्वार्थोपस्थापकतया निर्विशेषे वृत्तिमात्रायोगात्, पदविधया वाक्यविधया चोपनिषद् मानं न निर्विशेषे; संसर्गागोचरत्वाच्चेति—चेन्न; मुख्यगौण्यसम्भवेऽपि लक्षणायाः सम्भवात्। न च लक्षकपदे शक्यार्थसम्बन्धित्वावच्छेदकरूपवत्तया पदमात्रेऽन्वयितावच्छेदकरूपवत्तया च उपस्थितिनियमः, संसर्गबोधकवाक्यस्थपदानामेव तथात्वात्।।२।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

उक्त प्रवृत्ति निमित्त का अभाव होने से निर्विशेष ब्रह्म में शब्दात्मक उपनिषद् की मुख्यवृत्ति (शक्ति वृत्ति) सम्भव नहीं है। अत: उपनिषद् शक्ति वृत्ति से निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए निर्विशेष ब्रह्म में प्रमाण नहीं हो सकता है, और उपनिषद् शक्ति वृत्ति से निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन करते है— यह आप भी नहीं मानते हैं। अत: शक्ति वृत्ति से निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए उपनिषद् निर्विशेष ब्रह्म में प्रमाण नहीं हो सकता है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि निर्विशेष ब्रह्म में शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त जाति गुणादि के न रहने पर भी निर्विशेष ब्रह्म में जाति गुणादि का आरोप कर के शब्द की प्रवृत्ति हो जायेगी। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्रह्म में जाति गुणादि का आरोप होते ही ब्रह्म सगुण सविशेष हो जायेगा। तब शब्दात्मक उपनिषद् की प्रवृत्ति सविशेष ब्रह्म में होने से उपनिषद् सविशेष ब्रह्म में प्रमाण होगा। निर्विशेष ब्रह्म में उपनिषद् का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होगा। निर्विशेष ब्रह्म में गौणी वृत्ति से उपनिषद् प्रमाण नहीं हो सकता है क्योंकि सिंह शब्द का मुख्यार्थ केशरादिमान् प्राणी। उसमें रहने वाला गुण=शूरत्व क्रूरत्वादि। उससे युक्त माणवक होने के कारण माणवक में सिंह शब्द का गौण प्रयोग होता है। निर्विशेष ब्रह्म में कोई गुणादि होता ही नहीं। अत: गौणी वृत्ति से उपनिषद् निर्विशेष ब्रह्म का बोध नहीं करा सकता है। अत: उपनिषद् निर्विशेष ब्रह्म में प्रमाण नहीं हो सकता है। लक्षणावृत्ति के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म का बोध करा के उपनिषद् निर्विशेष ब्रह्म में प्रमाण हो जायेंगे—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि लक्षणा शक्यार्थ सम्बन्धितावच्छेदकीभूत धर्मों के योग से ही स्वार्थ की उपस्थापिका मानी जाती है। जैसे ''गङ्गायां घोषः'' यहां पर गङ्गा पद का शक्यार्थ = प्रवाह। उसका सम्बन्धी =तीर सम्बन्धितावच्छेदक तीरत्व। तद्वत्ता तीर में रहने के कारण लक्षणावृत्ति के द्वारा तीर का बोध होता है, किन्तु निर्विशेष ब्रह्म में कोई धर्म नहीं होता है। अत: लक्षणावृत्ति के द्वारा उपनिषद् निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं कर सकता है। अभिधा गौणी और लक्षणा में से किसी भी वृत्ति से पद तभी बोध करा सकता है जब उस पदार्थ में अन्वयितावच्छेदक धर्म रहता है। जैसे नील पद का अन्वयी = नील पदार्थ, अन्वयितावच्छेदक = नीलत्व। उस नीलत्व के नील पदार्थ में रहने के कारण ही नील पद स्वार्थ का उपस्थापक होता है। निर्विशेष ब्रह्म में कोई धर्म न होने के कारण कोई भी पद किसी भी वृत्ति से निर्विशेष ब्रह्म का बोध नहीं करा सकता है। अत: पद के रूप से अथवा वाक्य के रूप से उपनिषद् निर्विशेष ब्रह्म का बोध करा के प्रमाण नहीं बन सकता है। दूसरी बात यह भी है कि वाक्य को संसर्ग विषयक ज्ञान में ही प्रमाण माना जाता है। जबकि सिद्धान्ती के अनुसार निर्विशेष ब्रह्म के बोध में संसर्ग भासता ही नहीं है। अत: उपनिषद् वाक्य निर्विशेष ब्रह्म में प्रमाण नहीं हो सकते हैं।

समाधान :— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उपनिषद् के द्वारा मुख्यवृत्ति और गौणी वृत्ति से निर्विशेष ब्रह्म का बोध न होने पर भी लक्षणावृत्ति से निर्विशेष ब्रह्म का बोध होना सम्भव है। पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि लक्षक पदों को अपने स्वार्थोपस्थापन में शक्यार्थसम्बन्धितावच्छेदक धर्म की अपेक्षा होती है और पदमात्र में अन्वयितावच्छेदक धर्म की अपेक्षा होती है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि उक्त धर्मों की अपेक्षा संसर्गबोधक वाक्य घटक पदों को ही होती है। अखण्डार्थ बोधक वाक्य घटक पदों को उक्त धर्मों की अपेक्षा नहीं होती है।।२।।

न च–संसर्गागोचरत्वे प्रमाणवाक्यत्वानुपपत्तिः; असन्दिग्धाविपर्यस्तबोधकतया निर्विकल्पकत्वेऽपि प्रामाण्यस्याकाङ्क्षादिमत्तया वाक्यत्वस्य चोपपत्तेर्वृत्तिमन्तरेणापि सुप्तोत्थापकवाक्यस्येव वेदान्तवाक्यस्य निर्विशेषे प्रामाण्यस्य वार्तिककृद्भिरुपपादितत्वाच्च। तथाहि–

'अगृहीत्वैव सम्बन्धमभिधानाभिधेययोः।
हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते सुषुप्ते बोधिताः परैः।।
जाग्रद्वन्न हि सम्बन्धं सुषुप्ते वेत्ति कश्चन'।।

इत्यादिना ग्रन्थेन विनापि सम्बन्धं वाक्यस्य प्रामाण्यमुपपादितम्। लक्षणापक्षेऽपि तात्पर्यविशेषाग्रहेणैवाति–प्रसङ्गभङ्गो वाच्यः। शक्यसम्बन्धस्यानेकत्र सम्भवात्, तात्पर्यविशेषग्रहश्च पुरुषविशेषस्य भवति; न सर्वस्य,

सत्यानन्दप्रबोधिका

वाक्य जन्य ज्ञान में संसर्ग का अगोचरत्व होने पर प्रमाण वाक्यत्व की अनुपत्ति होगी। अर्थात् उसी वाक्य को प्रमा का जनक (प्रमाण) माना जायेगा, जो संसर्ग विषयक होगा–ऐसा नियम हम नहीं मानते हैं। अपितु हमारा मत है कि उसी वाक्य को प्रमा का जनक माना जायेगा, जो असन्दिग्ध (मानान्तर से अनिश्चित) और अविपर्यस्त (अभ्रान्त) अर्थ का बोधक हो। ऐसा नियम होने से निर्विकल्पक वाक्य जन्य ज्ञान संसर्गाविषयक होने पर भी असन्दिग्ध और अविपर्यस्त अर्थ के बोधक होने से उसमें प्रामाण्य की उपपत्ति हो जायेगी और आकाङ्क्षादि वाला होने के कारण निर्विशेष ब्रह्म विषयक उपनिषद् वाक्यों में भी वाक्यत्व की उपपत्ति हो जायेगी। शक्ति गौणी और लक्षणा किसी भी वृत्ति के विना भी वाक्य अपने अर्थ को बोध करा सकता है। इसमें दृष्टान्त दे रहे हैं कि सुप्त पुरुष का उत्थापक वाक्य (उत्तिष्ठत जाग्रत) विना किसी वृत्ति के अपने अर्थ को बोधित करा कर सुप्त पुरुष को जगा देता है। ऐसे ही वेदान्त वाक्यों की निर्विशेषार्थ में कोई वृत्ति न होने पर भी निर्विशेषार्थ के बोधक वेदान्त वाक्य हो जायेगा। इस प्रकार से वेदान्तवाक्यों के निर्विशेष में प्रामाण्य का प्रतिपादन वार्तिककार ने किया है। जैसे–

अगृहीत्वैव सम्बन्धमभिधानाभिधेययोः।
हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते सुषुप्ते बोधिताः परैः।।
जाग्रद्वन्न हि सम्बन्धं सुषुप्ते वेत्ति कश्चन।।

अर्थात् संज्ञा संज्ञि के सम्बन्ध को न ग्रहण कर के ही सुषुप्तावस्था में अन्यों से बोधित हुये लोग निद्रा को छोड़कर प्रबुद्ध होते हैं। सुषुप्ति में जाग्रत् अवस्था के जैसे कोई भी पद पदार्थ के सम्बन्ध को नहीं जानता है– इत्यादि ग्रन्थ से सम्बन्ध के वृत्ति ज्ञान और तात्पर्य ज्ञान के विना ही वाक्य का प्रामाण्य उपपादित किया गया है। इस पर प्रश्न होता है कि शक्ति गौणी और लक्षणावृत्ति के विना ही जब निर्विशेष ब्रह्म का बोध हो जाता है तब सिद्धान्त मत में लक्षणावृत्ति के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म का बोध क्यों माना जाता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि लक्षणावृत्ति पक्ष में जब अतिप्रसङ्ग दिया जाता है तब उसका निवारण करते हुये फलित यही सिद्ध होता है कि लक्षणावृत्ति के विना ही निर्विशेष ब्रह्म का बोध होता है। उसको स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि लक्षणा पक्ष मे पूर्वपक्षी यह अति प्रसङ्ग दे सकता है कि उपनिषद् वाक्य सुनकर शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणावृत्ति के द्वारा जिस किसी व्यक्ति को आत्मसाक्षात्कार हो जाना चाहिये। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जिस निर्विशेष ब्रह्म में उपनिषद् वाक्य का तात्पर्य है। उस तात्पर्य विशेष का ग्रह (निश्चय) सभी लोगों को नहीं होता है। अतः सबको उक्त प्रकार से आत्मसाक्षात्कार होने का अतिप्रसङ्ग नहीं दिया जा सकता है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह

पुरुषगतो विशेषः अन्तःकरणशुद्धिरूपः प्रतिबन्धाभावः। अन्तःकरणाशुद्धिरूपस्य पापस्य च प्रतिबन्धकत्वं 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' इत्यादिशास्त्रसिद्धम्। तथाच प्रतिबन्धक्षये विनापि सम्बन्धं शब्दादात्मसाक्षात्कार इति निरवद्यम्। विस्तृतमिदमस्माभिः गीतानिबन्धने।।३।।

न च—अनिर्धारितैककोटिप्रकारकनिश्चयं प्रत्येव धर्मिज्ञानाधीनविचारस्य जनकत्वात् कथं विचारसध्रीचीनवेदान्तवाक्यजन्यज्ञानस्य निष्प्रकारकत्वमिति—वाच्यम्; संशयनिवृत्तिक्षमज्ञानस्यैव विचारफलत्वात्। तस्याश्च विरोधिकोटिप्रतिक्षेपकोपलक्षितधर्मिज्ञानादप्युपपत्तेर्न तदर्थं सप्रकारकत्वनियमः। न च गौरवम्, प्रमाणवतो

सत्यानन्दप्रबोधिका

रहे हैं कि शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणा वृत्ति से बहुत पुरुषों को सामान्य ज्ञान हो जाता है किन्तु जिस निर्विशेष ब्रह्म में उपनिषद् का तात्पर्य है। उस तात्पर्य विशेष का ग्रह (निश्चय)किसी विशिष्ट पुरुष को होता है सभी पुरुषों को नहीं। इस पर प्रश्न होता है कि पुरुषगत कौन विशिष्टता है जिसके बल पर विशेष पुरुष को ही उपनिषद् के द्वारा प्रतिपाद्य निर्विशेष ब्रह्म का ग्रह होता है? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि पुरुष गत विशिष्टता है अन्तः करण की शुद्धि रूप प्रतिबन्धकता का अभाव। प्रतिबन्धकता क्या है? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि अन्तःकरण की अशुद्धि रूप पाप प्रतिबन्धक है। अतः पाप में प्रतिबन्धकता मानी जाती है। जैसा कि कहा गया है— ज्ञानमुत्पद्यते पुंसा क्षयात् पापस्य कर्मणः। अर्थात् पाप कर्म रूप प्रतिबन्धक जिसका नष्ट हो गया है। ऐसे विशिष्ट पुरुषों को तत्त्वज्ञान हो जाता है। फलतः अन्तःकरण की अशुद्धिरूप जो प्रतिबन्ध है। उस प्रतिबन्ध के क्षय हो जाने पर सम्बन्ध = वृत्तिज्ञान = शक्ति वृत्ति, गौणी वृत्ति और लक्षणा वृत्ति के विना ही वेदान्त वाक्यों के द्वारा आत्म साक्षात्कार हो जाता है— इस कथन में कोई भी दोष नहीं है। इस पर विशेष विचार गीता की गूढ़ार्थदीपिका टीका में हमारे द्वारा किया गया है। अतः इस प्रसङ्ग के सुगमता पूर्वक बोध के लिए गीता टीका को देखना चाहिए।।३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि पुरुष और स्थाणु में जो समान धर्म (समान लम्बाई चौड़ाई) है। तादृश धर्म वाला यह है— ऐसा धर्मी का ज्ञान हो तब बाद में विचार होता है। वह विचार अनिश्चित जो पुरुषत्व— स्थाणुत्वादि हैं। उनमें से एक कोटि प्रकारक निश्चय का जनक माना जाता है। ऐसी स्थिति में विचार सहकृत वेदान्त जन्य ज्ञान भी एक कोटि प्रकारक ही होगा। अतः सिद्धान्ती उक्त ज्ञान में निष्प्रकारकत्व कैसे मान रहे हैं? अर्थात् उक्त ज्ञान में निष्प्रकारकत्व नहीं माना जा सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि संशय की निवृत्ति में समर्थ ज्ञान को ही विचार का फल माना जाता है। (जहाँ पुरुष है वहाँ संशय हो रहा है ''स्थाणुर्वा पुरुषो वा'' ऐसे स्थल पर ध्यान दें।) पुरुषत्व स्थाणुत्व में जो कोटि स्थाणुत्व अभिप्रेत नहीं है। वह विरोधी कोटि है। उसका प्रतिक्षेपक = निवर्तक = पुरुषत्व। जो कि उपलक्षण है। उस उपलक्षण के द्वारा उपलक्षित जो निष्प्रकारक धर्मिज्ञान है। उस निष्प्रकारक धर्मिज्ञान से भी संशय की निवृत्ति हो जाती है। अतः संशय निवृत्ति के लिए ज्ञान को सप्रकारक होना चाहिए—यह नियम नहीं माना जा सकता है। सप्रकारक ज्ञान और निष्प्रकारक ज्ञान इन दोनों को संशय निवृत्ति के प्रति हेतु मानने पर सिद्धान्ती के मत में गौरव होगा जबकि पूर्वपक्षी के मत में लाघव है, क्योंकि केवल सप्रकारक ज्ञान को ही संशय निवृत्ति के प्रति हेतु माना जा रहा है। ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि प्रमाण वाले गौरव को उचित ही माना जाता है। कहने का भाव यह है कि निर्गुण बोध और निर्गुण बोध से अविद्या की निवृत्ति और अविद्या की निवृत्ति से अविद्या जन्य संशयादि की निवृत्ति—यह सभी श्रुति सिद्ध है। अतः प्रामाणिक है। प्रामाणिक होने पर गौरव दोष नहीं होता है।

गौरवस्य न्याय्यत्वात्। न च निर्विशेषविषयकस्य ज्ञानस्य निष्प्रकारकत्वे निर्विशेषत्वासिद्ध्या तत्सिद्ध्यर्थं विशेषाभाव– रूपविशेषविषयत्वस्यावश्यकत्वमिति–वाच्यम्; विशेषाभावस्य स्वरूपतया तत्स्फूर्तौ प्रमाणानपेक्षत्वात्, अखण्डार्थसिद्ध्यनुकूलपृथग्जातपदार्थोपस्थितिविषयत्वमात्रेण विशिष्टव्यवहारोपपत्तेः। तस्मात्सगुणत्वे साधकाभावात् बाधकसद्भावाच्च निर्गुणत्वे तदभावात् निर्गुणमेव ब्रह्म इति सिद्धम्।।४।।

इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो निर्गुणत्वे प्रमाणोपपत्तिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि निर्विशेष विषयक ज्ञान निर्विशेषत्व (विशेषाभाव) रूप प्रकार से रहित है तब उसको निर्विशेष ही नहीं माना जा सकता है। जैसे घटत्व प्रकार न रहने पर पूरोवर्त्ति वस्तु को घट नहीं माना जाता है। अतः निर्विशेष की सिद्धि के लिए विशेषाभाव रूप विशेष (प्रकार) मानना आवश्यक होगा। ऐसा होने पर ज्ञान में सप्रकारकत्व की सिद्धि हो जायेगी।

समाधान– सिद्धान्ती का कथन है कि अभाव अधिकरण स्वरूप होने से विशेषाभाव स्वप्रकाश ब्रह्म स्वरूप है। अतः उसके ज्ञान के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है। अखण्डार्थ सिद्धि से पहले जो द्वार के रूप से पदार्थ ज्ञान (विशेषाभााव ज्ञान) होता है। उसका विषय = विशेषाभाव होने मात्र से उपनिषद् जन्य ज्ञान "विशेषाभाव विशिष्ट" है इस प्रकार व्यवहार हो जाता है। वस्तुतः उस काल में भी निर्विशेष ब्रह्म का ही ज्ञान होता है। इस प्रकार ब्रह्म की सगुणता का साधक प्रमाण का अभाव होने से और बाधक प्रमाण के विद्यमान होने से ब्रह्म की सगुणता सिद्ध नहीं होती है जबकि ब्रह्म की निगुर्णता में बाधक प्रमाण का अभाव होने से और साधक प्रमाण का सद्भाव होने से निर्गुण ही ब्रह्म है – यह सिद्ध हुआ।।४।।

:–इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां ब्रह्मणो निर्गुणत्वे प्रमाणोपपत्तिः–

६—ब्रह्मणो निराकारत्वविचारः

एवं निराकारमपि। ननु—'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्'। 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्' 'विश्वतश्चक्षुः' 'सहस्रशीर्षा' इत्यादिश्रुतिभिः 'पश्य मे पार्थ रूपाणि' 'सर्वतः पाणिपादं तत्' इत्यादिस्मृतिभिः ब्रह्म, सविग्रहम्,स्रष्टृत्वात्, पालयितृत्वादुपदेष्टृत्वादित्याद्यनुमानैश्च विग्रहसिद्धिरिति—चेन्न; आदित्यवर्णमित्यस्याविद्याविलक्षणस्वप्रकाशस्वरूपप्रतिपादनपरतया उपास्यपरतया चोपपत्तेः। न च तमसः परत्वोक्त्योपासनापरत्वानुपपत्तिः, उपास्यविग्रहोपलक्षितस्य तमसः परत्वोक्तेः, नतु रूपविशिष्टस्य।१ ।।

न च—'एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' इत्यत्र वर्तमानत्वेनापरोक्षज्ञानविषयत्वोक्तेरनारोप्यत्वम्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

एवं (ब्रह्म यथा निर्गुणं तथैव) निराकारमपि (सम्भवात्।) अर्थात् जिस प्रकार से ''ब्रह्म निर्गुण है'' यह सूपपन्न है उसी प्रकार से ''ब्रह्म निराकार है'' यह भी सम्भव है।

शङ्का— आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् (श्वे०उ०३—८) यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम् (मु०उ० ३—१—३) ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्। ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपाय वै नमः।। (म०ना०उ० १२—१) विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरूत विश्वतस्पात्— (श्वे०उ० ३—३) सहस्रशीर्षा (मा०सं०३१) इत्यादि श्रुतियों में वर्ण, चक्षु, मुख तथा शिर आदि का कथन होने से ब्रह्म साकार सिद्ध होता है। इसी प्रकार—पश्य में पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ''(गी० ११—५) सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।। (गी० १३—१३) इत्यादि स्मृतियों के द्वारा भी रूप, वर्ण, पाणि, पाद, अक्षि तथा मुखादि का कथन होने से ब्रह्म साकार सिद्ध होता है। ब्रह्म सविग्रहम्, स्रष्टृत्वात्, पालयितृत्वात्, उपदेष्टृत्वात्— इत्यादि अनुमान के द्वारा भी ब्रह्म में साकारता सिद्ध होती है। यहाँ पर स्रष्टृत्व हेतु के लिए दृष्टान्त कुम्भकारादि और पालयितृत्व के लिए दृष्टान्त राजादि और उपदेष्टृत्व हेतु के लिए आर्चायादि को दृष्टान्त बना कर साध्यादि का समन्वय करना चाहिए।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि ''आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'' यह ज्ञेय ब्रह्म बोधक श्रुति वाक्यों में और उपासना परक श्रुतिवाक्यों में आया हुआ है। जैसे ज्ञेय ब्रह्म बोधक वाक्य = यदेकमव्यक्तमनन्तरूपम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तदेव तत्त्वं तदु सत्यमाहुः तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्। यह वाक्य ज्ञेय ब्रह्म का प्रतिपादक होने से यहाँ ''आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'' का अर्थ होगा— अविद्या रूप तम से विलक्षण स्वप्रकाशस्वरूप ब्रह्म। और ''वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'' (श्वे०उ०३—८) यह वाक्य उपासना का प्रतिपादक है। इस प्रकार इसके द्वारा उपास्य ब्रह्म कहा गया है। इस प्रकार कोई भी वाक्य साकार ब्रह्म परक नहीं है। यह जो पूर्वपक्षी का कथन है कि ''तमसः परस्तात्'' इस कथन के द्वारा अविद्या से पर ज्ञेय ब्रह्म को कहा गया है। अतः श्वे०उ० ३—८ का वाक्य ज्ञेय परक ही होगा, उपास्यपरक नहीं होगा। अतः इस वाक्य के द्वारा ब्रह्म की साकारता सिद्ध हो जायेगी। ऐसा कथन उचित नहीं हैं, क्योंकि ''तमसः परस्तात्'' इस वाक्य के द्वारा उपास्य विग्रह से उपलक्षित शुद्ध ब्रह्म का ही कथन किया गया है, सोपाधिक ब्रह्म का नहीं।१ ।।

शङ्का— ''एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते'' (छा०उ०१—६—६) इस स्थल पर ''दृश्यते'' पद के द्वारा वर्तमान कालीन अपरोक्ष ज्ञान की विषयता हिरण्यमय पुरुष में कही गयी है। इससे यह सिद्ध होता है कि उक्त विग्रह वास्तविक है, आरोपित नहीं है क्योंकि योषितगत आरोपित अग्नित्व में वर्तमान कालीन

नहि योषितोऽग्नित्वं दृश्यत इत्युच्यत इति—वाच्यम्; प्रतीकोपासने उपास्यसाक्षात्कारनियमाभावेऽपि सगुणोपासने उपास्यसाक्षात्कारस्य यस्य स्यादद्धेति श्रुतिसिद्धस्य नियतत्वेन तस्यैव दर्शनशब्देनाभिधानात्, विश्वतश्चक्षुरित्यादिश्रुतिस्मृतीनां सर्वात्मकतया सर्वान्तर्यामितया च नियम्यजीवशरीरचक्षुः— पाणिशिरःप्रभृत्यनुवादित्वोपपत्तेः सर्वतः पाणिपादत्वादेस्तु असम्भवात्, त्वयाप्येवमेव वक्तव्यत्वात्। अन्यथा

सत्यानन्दप्रबोधिका

अपरोक्ष ज्ञान की विषयता नहीं कही जाती है। कहने का भाव यह है कि उक्त श्रुति वाक्य में सूर्य रूप अधिकरण में हिरण्यमय पुरुष का दर्शन कहा गया है। यदि हिरण्यमय पुरुष कल्पित होता तो उसका अपरोक्ष दर्शन श्रुति में नहीं कहा जाता। जैसे योषित में अग्नित्व कल्पित है। इसलिये श्रुति के द्वारा योषित में अग्नित्व का अपरोक्षात्मक दर्शन नहीं कहा गया है।

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतीतकोपासना और अहंग्रहोपासना में से जो प्रतीक उपासनायें है। जैसे नाम की ब्रह्म दृष्टि से उपासना, योषित की अग्नि दृष्टि से उपासना इत्यादि स्थल पर उपास्य के साक्षात्कार का नियम नहीं होता है, क्योंकि इन उपासनाओं का तत्तत् फल जो है वही प्राप्त हो जाता है। किन्तु अहंग्रहेण सगुणोपासना स्थल पर उपास्य के साक्षात्कार का नियम माना गया है। जैसे —"यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्ति" (छा०उ० ३—१४—४) अर्थात् जिस अहंग्रहोपासक को उपास्य का अद्धा (साक्षात्कार) होता है। उस उपासक को "उपासना का फल होगा? या नहीं होगा?" इस प्रकार का सन्देह नहीं रहता है। उसको उपास्य प्राप्ति के माध्यम से मुक्ति मिलती है। इसी उपास्य साक्षात्कार को दर्शन शब्द से उक्त श्रुति में कहा गया है। इसको स्पष्ट करते हुये लघु चन्द्रिका में कहा है— तस्योपास्यप्राप्तिद्वारकमुक्तिरूपफलप्राप्तिरिति बोधेनाहंग्रहोपासनायामुपास्यब्रह्मसाक्षात्कारनियमः।....... तथा च तत्तद्गुणविशिष्टस्य ब्रह्मण इन्द्रियसाक्ष्ययोग्यत्वेऽपि तस्यैवाविद्यमानहिरण्मयशरीरविशिष्टत्वादित्य— वर्णत्वाद्याविर्भविनातिशयेन साक्षात्कारसम्भव इति भावः। "विश्वतश्चक्षुः" (श्वे० उ० ३—३) "सहस्रशीर्षा" (मा०सं० ३१—१) इत्यादि श्रुति और "सर्वतः पाणिपादम्" (गी० १३—१३) इत्यादि स्मृति में सर्वात्मकत्वेन अथवा सर्वान्तर्यामित्वेन ईश्वर के द्वारा नियम्य जो सभी जीव हैं। उक्त नियम्यभूत सभी जीवों के शरीरों में विद्यमान जो अनेक चक्षु पाणि आदि हैं। उनका नियमन ईश्वर के द्वारा ही होता है। इसको दिखलाने के लिये उन सभी चक्षु पाणि आदि का अनुवाद उक्त श्रुति के द्वारा किया गया। अर्थात् सभी जीवों के श्रोत्रादि को ईश्वर में आरोपित करके "सहस्रशीर्षा" इत्यादि कहा गया है। "सर्वतः पाणिपादम्" इत्यादि वाक्यों का अर्थ यदि यह करेंगे कि उसके पाणिपाद आदि सर्वत्र है तो वह सम्भव नहीं हो सकता है, क्योंकि यदि पाणि सर्व देशवृत्ति है तब पाद चक्षु श्रोत्रादि सर्वदेशवृत्ति नहीं हो पायेंगे, क्योंकि दो मूर्त पदार्थ एक ही देश में एक ही काल में नहीं रह सकते हैं। अतः ऐसा ही अर्थ उक्त श्रुति स्मृति वाक्यों का पूर्वपक्षी को भी करना होगा न कि ईश्वर का पाणि सर्वत्र है, सर्वत्र पाद है सर्वत्र श्रोत्रादि है। अन्यथा ईश्वर का श्रोत्रादि सर्वत्र है—ऐसा मानने पर इसी लोक में ईश्वर का पाणि आदि वाला विग्रह के विद्यमान होने से परम मुक्ति की प्राप्ति के लिए वैकुण्ठादि लोक में जाने का प्रतिपादन असङ्गत हो जायेगा। इसी प्रकार शरीरधारी ईश्वर का समस्त जगत् में अन्तर्यामी रूप से प्रवेशादि का प्रतिपादन भी असङ्गत हो जायेगा, क्योंकि जब ईश्वर के ही पाणि पादादि सर्वत्र है, तब दूसरा जगत् रूप मूर्त पदार्थ होगा ही नहीं, क्योंकि एक ही देश में एक ही काल में दो मूर्त पदार्थ रहते ही नहीं हैं। इसी प्रकार सिद्धान्तमत में भी ईश्वर को आरोपित विग्रह वाला माना ही जाता है। अतः "ब्रह्म सविग्रहम्" इस अनुमान में सिद्धसाधन दोष है।

देशविशेषावच्छेदेन परममुक्तिप्रतिपादनं गम्यत्वप्रवेष्टृत्वाद्युपपादनं च त्वदीयमसङ्गतं स्यात्। अनुमानेऽपि एवमेव सिद्धसाधनम्। 'विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्' इति सूत्रे अविद्यापरिणामस्य करणस्थानीयस्याङ्गीकारादविरोधात्।।२।।

यत्तु—'तदेवानुप्राविशत्' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादिश्रुतिसिद्धं सर्वगतस्य ब्रह्मणः प्रवेष्टृत्वं गम्यत्वञ्च विग्रहं विना न युज्यते—इति, तन्न, स्वसृष्टकार्याभिव्यक्तत्वस्यैवानुप्रवेशशब्दार्थतया व्यापकस्य मुख्यप्रवेशासम्भवात्, स्वतः प्राप्तस्यापि अविद्यातिरोधाननिवृत्त्यपेक्षया प्राप्यत्वोपचारेण विग्रहानाक्षेपकत्वात्। यत्तु 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' 'यदा पश्यः' इत्यादिश्रुतौ सर्वनाम्ना सविग्रहस्यैव परामर्शात् तज्ज्ञानस्यैव

सत्यानन्दप्रबोधिका

न्यायामृत में यह जो कहा गया है कि ''विकरणत्वान्नेति चेत् तदुक्तम्'' (ब्र०सू० २—१—३१) इस सूत्र में ईश्वरगत कर्तृत्व के लिए ''बुद्धिमान् मनोवान् अंगप्रत्यंगवान्'' इस श्रुति से सकरणत्व की सिद्धि होती है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''विकरणत्वान्नेति चेत् तदुक्तम्'' इस सूत्र में कहा गया है कि ईश्वर में चक्षुरादि रूप करणों का अभाव होने पर भी चक्षुरादि का कार्य जो ईक्षणादि है। उसका करण चक्षुरादि स्थानीय अविद्या परिणाम को स्वीकार किया जाता है। ''पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः'' (श्वे०उ० ३—१९) इस श्रुति के द्वारा उक्त अर्थ को उक्त सूत्र में स्पष्ट किया गया है। अतः इस सूत्र से भी ब्रह्म की वास्तविक निराकारता का विरोध नहीं होता है।।२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशद्''(तै०उ० २—६—१) ''ब्रह्मविदाप्नोति परम्'' (तै०उ० २—१—१) इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादित जो सर्वगत ब्रह्म का प्रवेश कर्तृत्व और ब्रह्म ज्ञानी के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति कही गयी है। वह ब्रह्म को साकार मानने पर ही उपपन्न हो सकती है। अतः ब्रह्म को साकार मानना उचित ही है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वर के द्वारा रचित जो मन आदि कार्य हैं। उन कार्यों में जीवादि विशिष्ट रूपेण स्फुरण होना ही अनुप्रवेश शब्द का अर्थ किया जाता है, क्योंकि व्यापक ब्रह्म का वास्तविक प्रवेश सम्भव ही नहीं हो सकता है। ब्रह्म ब्रह्मवित् का स्वरूप ही है और अपना अपने से स्वरूप प्राप्त हो नहीं सकता है किन्तु अपना स्वरूप जो अनादि अविद्या के आवरण से आवृत है। उस आवरण की निवृत्ति हो जाने पर प्राप्त जैसा होने के कारण गौण रूप से ब्रह्म को प्राप्त कहा गया है। अतः इसके द्वारा ब्रह्म के साकारता की कल्पना नहीं की जा सकती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''तमेव विद्वानमृत इह भवति '' (नृ०पू०ता० १—६) इस श्रुति वाक्य से पीछे ''सहस्रशीर्षा'' और ''पुरुषं कृष्णपिंगलम्'' (नृ०पू०ता १—६) इत्यादि श्रुति वाक्य से सविग्रह ईश्वर का वर्णन है। अतः आगे वाले वाक्य के घटक ''तम्'' इस सर्वनाम से उसी सविग्रह ईश्वर का ग्रहण होगा और उसी के ज्ञान से मोक्ष होता है— यह भी आगे वाले वाक्य (तमेव विद्वानमृत इह भवति) से कहा गया है। अतः ईश्वर के साकारता की सिद्धि होती है। इसी प्रकार ''यदा पश्यः पश्यते रूक्मवर्णम्'' (मु०उ० ३—१—३) इससे सविग्रह ईश्वर का वर्णन है। इसके आगे वाले वाक्य ''तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय'' (मु०उ० ३—१—३) के ''तदा'' इस सर्वनाम के द्वारा सविग्रह ईश्वर का ही परामर्श होगा। अर्थात् सविग्रह ईश्वर के दर्शन काल में पुण्य पाप से रहित होकर मोक्ष को प्राप्त करता है— ऐसा अर्थ होगा। अतः मोक्ष का हेतुभूत प्रमा का विषय होने के कारण ईश्वर विग्रह को तात्त्विक मानना होगा और विग्रह के तात्त्विक होने से ईश्वर को तात्त्विक विग्रह वाला मानना पड़ेगा।

समाधान—उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''तमेव विद्वानमृत इह भवति'' इत्यादि श्रुति वाक्यों में

मोचकत्वे सविग्रहत्वमिति, तन्न, सगुणविद्यायाः क्रममुक्त्यर्थत्वेनान्यथासिद्धेः, साक्षान्मुक्तिजनकत्वपक्षे तदुपलक्षितात्मज्ञानस्यैव मोचकत्वात्। अत एव 'देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः'। इत्यादिस्मृतिरपि—व्याख्याता।।३।।

किञ्च विग्रहः किं भौतिकः, अभौतिको वा? अभौतिकोऽपि मायिकः, अमायिको वा? अमायिकोऽपि ब्रह्मभिन्नः, अभिन्नो वा? भौतिकमायिकावपि स्वकर्मार्जितौ, परकर्मार्जितौ वा? आद्ये संसारित्वापत्तिः, द्वितीये इष्टापत्तिः। ब्रह्मभिन्नत्वे तवापसिद्धान्तः, नेति नेतीति श्रुतिविरोधः, 'अपाणिपाद' इत्यादि श्रुतिविरोधश्च। अभौतिकामायिकब्रह्माभिन्नदेहाङ्गीकारे उक्तश्रुतिविरोधः, चार्वाकमतप्रवेशश्च, प्रमाणाभावश्च। न च 'नाभ्या

सत्यानन्दप्रबोधिका

सगुण उपासना के द्वारा क्रम मुक्ति कही गयी है। उपासना के आधार पर विग्रह को तात्त्विक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि आरोपित शरीर रूप विग्रह से भी उपासना हो जाती है। इस प्रकार तात्त्विक विग्रह की सिद्धि के विना ही आरोपित विग्रह के बोधक के रूप से उक्त श्रुति वाक्य चरितार्थ हो जाते हैं। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त सगुण उपासना साक्षात् मुक्ति का जनक है— इसका बोधन उक्त श्रुति वाक्य कर रहा है। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि साक्षात् मुक्ति जनकत्व पक्ष में भी दोष नहीं है, क्योंकि विग्रह वाले ईश्वर के ज्ञान से ही मोक्ष होता है— ऐसा उक्त श्रुति वाक्य से नहीं कहा जा रहा है, अपितु विग्रह उपलक्षित शुद्ध ब्रह्म के ज्ञान से मोक्ष होता है— यह उक्त श्रुति वाक्य से कहा जा रहा है। अत एव = विग्रहोपलक्षित शुद्ध आत्मा के ज्ञान से ही मोक्ष होता है— इसी अर्थ का बोधक उक्त श्रुतिवाक्यों के होने से ही ''देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः'' (गी० ११—५२) यहाँ पूर्वपक्षी के अनुसार ''सविग्रह ईश्वर का दर्शन देवता लोग सदा करना चाहते हैं।'' ऐसा अर्थ जो किया जा रहा था। वह नहीं लिया जायेगा अपितु तादृश विग्रह से उपलक्षित शुद्ध ब्रह्म तत्त्व के ज्ञान को प्राप्त करना ही देवता लोग सदा चाहते है— ऐसा ही अर्थ लिया जायेगा।।३।।

यहाँ पर पूर्वपक्षी से सिद्धान्ती पूछ रहे हैं कि जिस ईश्वर के विग्रह को तुम मानने के लिए प्रयत्नाभास कर रहे हो, उस ईश्वरीय शरीर के विषय में प्रश्न होता है कि वह ईश्वरीय शरीर क्या भौतिक (भूतों का कार्य) है? अथवा अभौतिक (भूतों का कार्य नहीं) है? अभौतिक पक्ष में भी प्रश्न होता है कि अभौतिक भी मायिक है? अथवा अमायिक है? अमायिक पक्ष में भी प्रश्न होता है कि अमायिक शरीर ब्रह्म से भिन्न है? अथवा अभिन्न है? इसी प्रकार भौतिक विग्रह और मायिक विग्रह के पक्ष में प्रश्न होता है कि भौतिक तथा मायिक विग्रह स्वकीय (ईश्वरीय) कर्मों के आधार पर बना है? अथवा परकीय (जीव) के कर्मों के बल पर बना है? प्रथम पक्ष (स्वकर्मार्जित) को अङ्गीकार करने पर ईश्वर को भी जीव के समान कर्त्ता भोक्ता संसारी मानने की आपत्ति होगी। द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर इष्टापत्ति है, क्योंकि धर्मादि की रक्षा और जीवों पर अनुग्रह करने के लिए जीवों के समष्टि कर्मों से प्रेरित होकर ईश्वर का मायिक विग्रह के रूप में अवतार होता है। जैसे कि कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।। (गी० ४—६)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। (गी० ४—७)

इसी प्रकार ईश्वरीय शरीर को ब्रह्म से भिन्न मानने पर पूर्वपक्षी के मत में अनिष्टापत्ति होगी, क्योंकि पूर्वपक्षी के मत में ब्रह्म के शरीर को ब्रह्म से भिन्न नहीं माना जाता है । ब्रह्म से भिन्न ईश्वरीय शरीर को अमायिक (सत्य) मानने पर ''नेति नेति'' (बृ०उ० २—३—६) इस श्रुति से जो ब्रह्म भिन्न दृश्य मात्र का निषेध किया गया है। उस निषेध की उपपत्ति नहीं हो पायेगी। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि ईश्वरीय शरीर

आसीदन्तरिक्षम्'इति भूतकारणत्वोक्त्या अभौतिकत्वसिद्धिः; 'अग्निर्मूर्द्धा'इत्यादि श्रुतिपर्य्यालोचनयान्तरिक्षादीनां नाभित्वादिपरिकल्पनया विराड्देहप्रतिपादकतया शरीरस्य भूतकारणत्वाप्रतिपादकत्वात्, तमसः परस्तादित्यादेश्च विराड्देहोपलक्षितब्रह्मपरतया विग्रहस्य तमसः परत्वाप्रतिपादकत्वात्। न च 'एको नारायण आसीत् न ब्रह्मा न च शङ्करः'इति श्रुत्या महाप्रलये नारायणस्थित्युक्त्या नित्यविग्रहसिद्धिः, नारायणशब्दस्य 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इति श्रुत्यनुसारेण मायोपहितब्रह्मपरत्वेन विग्रहपरत्वाभावात्।।४।।

न चैतावता चेतनान्तरसाधारण्यम्; अखण्डमायोपहितस्यैव व्यावर्तकत्वात्। न च 'नित्यो नित्यानां

सत्यानन्दप्रबोधिका

से भिन्न दृश्य मात्र का निषेध उक्त श्रुति से किया गया है। तब कह रहे हैं कि ईश्वर के शरीर का भी श्रुति निषेध कर रही है– ''अपाणिपादः'' (श्वे०उ० ३–१९) अतः ईश्वरीय शरीर को सत्य नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार ब्रह्म से अभिन्न अभौतिक और अमायिक शरीर मानने पर पूर्वोक्त प्रकार से ''नेति नेति'' और ''अपाणिपादः'' इत्यादि श्रुतियों से विरोध होगा। दूसरी बात यह है कि यदि ब्रह्म का शरीर ब्रह्म से अभिन्न है तब जीव का शरीर भी जीव से अभिन्न होने पर देहात्मवाद में पर्यवसान होने से चार्वाक मत में प्रवेश की आपत्ति होगी। ब्रह्म से अभिन्न अभौतिक और अमायिक शरीर मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्'' (मा०स० ३१–१३) इस श्रुति के ''नाभ्या'' पद में तृतीया है। वह तृतीया कारण अर्थ में है। अतः सिद्ध होता है कि ईश्वरीय नाभि भूतों का कारण है न कि कार्य। अतः ईश्वरीय शरीर भूतों का कार्य नहीं है अपितु अभौतिक तथा अमायिक है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''अग्निर्मूर्द्धा'' (मा०स०३–१२) इस श्रुति में ''अग्निः'' प्रथमान्त है। अर्थात् अग्नि में विराट पुरुष के मूर्धा का आरोप किया गया है। इसी प्रकार ''नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्'' इस स्थल पर ''नाभ्या'' यहाँ प्रथमा अर्थ में तृतीया है। अर्थात् अन्तरिक्ष में विराट पुरुष के नाभि का आरोप किया गया है। इसको लघु चन्द्रिका में कहा– ''नाभिरित्याद्यर्थे नाभ्या इत्यादिकमिति भावः।'' फलतः अग्नि अन्तरिक्षादि विराट का शरीर है– इसका प्रतिपादन उक्त श्रुति के द्वारा किया जा रहा है। ईश्वरीय शरीर भूतों का कारण है– इसका प्रतिपादन नहीं किया जा रहा है। अतः उक्त श्रुति के द्वारा ईश्वरीय शरीर की सिद्धि नहीं की जा सकती है। तमसः परस्तात्– इस स्थल पर पूर्वपक्षी का कथन है कि ईश्वरीय शरीर तम (माया) से पर अर्थात् अप्राकृत (अभौतिक) है– यह कहा गया है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यहाँ विराट देह से उपलक्षित शुद्ध ब्रह्म को ही तम से पर कहा गया है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ''एको नारायण आसीत् न ब्रह्मा न च शङ्करः'' (महा०ना०उ० १) इस श्रुति से महा प्रलय काल में केवल नारायण की स्थिति के कथन से ईश्वरीय विग्रह में नित्यत्व की सिद्धि हो रही है। इसका समाधान करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'' (छा०उ०६–२–१) इस प्रबल निर्गुण श्रुति के अनुसार ही ''एको नारायण आसीत्'' इस दुर्बल सगुण श्रुति का अर्थ किया जायेगा। अतः उक्त निर्गुण श्रुति के अनुसार नारं जीवसमूहः अयनं नियम्यं यस्य–ऐसी व्युत्पत्ति कर के नारायण शब्द का अर्थ होगा– मायोपहित ब्रह्म। उसी की सत्ता महाप्रलय में कही गयी है ईश्वरीय विग्रह की नहीं।।४।।

शङ्का–एतावता = नारायण को मायोपहित चैतन्य मानने पर चेतनान्तर = जीव। अर्थात् जब ईश्वर मायोपहित है और जीव भी मायोपहित है। तब दोनों में अन्तर ही नहीं रहेगा।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्या को माया का एक खण्ड (प्रदेश) मानने पर माया का प्रदेश (खण्ड) रूप अविद्या जो है। उससे उपहित जीव है और अखण्ड मायोपहित ईश्वर है। इस प्रकार

चेतनश्चेतनानाम्'इति विग्रहनित्यत्वाभावे विशेषोक्तिविरोधः, विग्रहानङ्गीकारेऽपि स्वरूपचैतन्यमादायोपपत्तेः। नापि 'पुरा कल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृतम्'इत्यादौ महाप्रलये देहस्य साक्षात्स्थित्युक्त्या नित्यविग्रहसिद्धिः, सर्वविकारमूलकारणाविद्यायाः संस्कारात्मनावस्थानस्य उदरीकरणशब्दार्थत्वात्। न च मुख्यार्थत्यागः, त्वयाप्यस्यार्थस्यैव वक्तव्यत्वात्, अन्यथा सकलस्य ब्रह्माण्डस्य तदनुप्रवेशमात्रेण प्रलयासिद्धेः।

यत्तु– 'सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य महात्मनः। परमानन्दसन्दोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वदा'। इत्यादौ साक्षान्नित्यत्वोक्तिविरोधः–इति, तन्न, प्रलयपर्य्यन्तस्थायिदुःखभोगानायतनज्ञानमात्रप्रधानदेहपरतया

सत्यानन्दप्रबोधिका

से दोनों में भेद सिद्ध हो जायेगा। माया और अविद्या को अभिन्न मानने पर तब = ईश्वर मायावी = मायाधीश और जीव मायाधीन होने से दोनों में भेद सिद्ध हो जायेगा।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्'' (क०उ० ५–१३) इस श्रुति के द्वारा ईश्वर नित्यों का नित्य है– ऐसी जो विशेषता कही गयी है। वह विशेषता ईश्वरीय शरीर को नित्य मानने पर ही उपपन्न हो सकती है अन्यथा उक्त विशेषता उपपन्न नहीं होगी।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ईश्वरीय विग्रह को न मानने पर भी कल्पमात्र स्थायित्व रूप जो आकाशादि में नित्यत्व है। उसकी अपेक्षा से ईश्वर का स्वरूप नित्य है। इसको उक्त श्रुति के द्वारा कहा गया है। अतः उक्त श्रुति के बल पर ईश्वरीय विग्रह में नित्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''पुराकल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृतम्'' अर्थात् प्रथम कल्प की समाप्ति होने पर ईश्वर स्वकृत विकृत = अपने समस्त कार्य को अपने उदर में लेकर स्थित हो जाता है– इस प्रकार महाप्रलय में उदर शब्द से उदरादि वाले शरीर की साक्षात् स्थिति के कथन से ईश्वरीय विग्रह में नित्यत्व की सिद्धि होती है।

समाधान– ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि अविद्या के द्वारा रचित जो समस्त व्यक्त कार्य है। उसकी महाप्रलय काल में अव्यक्त रूप से अविद्या में जो स्थिति है। उसी को उदर शब्द से कहा गया है। ईश्वरीय शरीर के उदर को उदर शब्द से नहीं कहा गया है। अतः उक्त वाक्य के द्वारा नित्य ईश्वरीय विग्रह की सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त प्रकार से उदर शब्द का अर्थ करने पर मुख्यार्थ का त्याग होगा। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि उदर शब्द का जैसा अर्थ हमने किया है वैसा ही अर्थ पूर्वपक्षी को भी करना होगा। अन्यथा (उदर पद का मुख्यार्थ लेने पर) सकल ब्रह्माण्ड के ईश्वरीय उदर में प्रवेश करने मात्र से महाप्रलय की सिद्धि नहीं हो पायेगी, क्योंकि व्यक्त कार्य वर्ग का अव्यक्त रूपेण कारण में अवस्थिति ही महाप्रलय कही जाती है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ईश्वरीय विग्रह में नित्यत्व न मानने पर ईश्वरीय विग्रह में साक्षात् नित्यत्व का कथन करने वाले वाक्य से विरोध होगा। ईश्वरीय विग्रह में साक्षात् नित्यत्व को कहने वाला वाक्य है–

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य महात्मनः। परमानन्दसन्दोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वदा।।

(अर्थात् उस ईश्वर के सर्व देह नित्य शाश्वत हैं। सर्वकाल में उसका देह परमानन्द सन्दोह (प्रचुर) और ज्ञान मात्र हैं।)

समाधान– सिद्धान्ती का कथन है कि उक्त वाक्य में आये हुए पदों का अर्थ इस प्रकार है। जैसे ''नित्याः'' पद का अर्थ है = प्रलयपर्यन्तस्थायि = प्रलय पर्यन्त अवस्थिति।''परमानन्द सन्दोहा'' का अर्थ

त्वद्विवक्षितपरत्वाभावात्। अत एव जडस्ततो भिन्नश्च।।५।।

न च—'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' 'आप्रणखात् सर्व एवानन्दः' ''मोदो दक्षिणः पक्षः'' ''यदात्मको भगवान् तदात्मिका व्यक्तिः, किमात्मको भगवान्? ज्ञानात्मक ऐश्वर्यात्मक'' इत्यादिश्रुतेर्भेदाभावेऽपि अहिकुण्डलन्यायेन विशेषबलाद्विग्रहत्वोपपत्तिरिति—वाच्यम्, आत्मनो ज्ञानानन्दरूपत्वप्रतिपादनपरत्वेन विग्रहाप्रतिपादकत्वात्। 'विचित्रशक्तिः पुरुषः पुराणः' इत्यादिवाक्यस्य 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' इति सूत्रस्य च मायाशक्तिवैचित्र्यप्रतिपादकत्वेनात्मशक्त्यप्रतिपादकत्वात्, आप्रणखादित्यादेश्च लीलाविग्रहावच्छेदेन दुःखाद्यभोक्तृतयोपपत्तेः। मोदो दक्षिण इत्यादेरानन्दमयकोशप्रतिपादकतया ब्रह्मपरत्वाभावात्। न हि श्रुत्युक्तत्वमात्रेण

सत्यानन्दप्रबोधिका

है = दुःख आदि साक्षात्कार का अनायतन। अर्थात् परमानन्द की प्रचुरता। ''ज्ञानमात्राः'' का अर्थ है = ज्ञान मात्र प्रधान अर्थात् आवरण शून्य। अर्थात् ईश्वर को अपने स्वरूप का ज्ञान सर्वदा रहता है। कहने का भाव यह है कि ईश्वर का शरीर प्रलय पर्यन्त स्थायि परमानन्द की प्रचुरता वाला और आवरण शून्य होता है— यह उक्त वाक्य से कहा गया है। ऐसा अर्थ होने से उक्त वाक्य के द्वारा ईश्वरीय शरीर में नित्यत्व की सिद्धि नहीं होती है। अत एव = ईश्वर का शरीर उक्त प्रकार का होने से ब्रह्म का विग्रह जड़ है और ब्रह्म से भिन्न है यह सिद्ध हो जाता है।।५।।

शङ्का— सिद्धान्ती ने जो कहा कि ईश्वर का शरीर ईश्वर से भिन्न है— उसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है— ''तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति,''(मु०उ० २—२—७)''आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः (आनन्दः)'' (छा०उ० १—६—६) ''मोदो दक्षिणः पक्षः (तै०उ०२—५—१)'' यदात्मको भगवान् तदात्मिका व्यक्तिः, किमात्मको भगवान्? ज्ञानात्मक ऐश्वर्यात्मकः'' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ईश्वर के शरीर से ईश्वर का भेद नहीं है— यह कहे जाने पर भी ईश्वर और ईश्वर के शरीर में भेद व्यवहार अहिकुण्डल न्याय से हो जाता है। अर्थात् वलयाकार सर्प का कुण्डल के साथ अभेद होने पर भी जैसे सर्प तथा कुण्डल इन दोनों में भेदस्थानीय विशेष का सद्भाव होने से ''सर्प का कुण्डल'' इत्याकारक व्यवहार होता है वैसे ही ईश्वर और ईश्वर के शरीर में अभेद होने पर भी इन दोनों में भेद स्थानीय विशेष का सद्भाव होने से ''ईश्वर का शरीर'' इत्याकारक व्यवहार होता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा कथित वाक्य (आनन्दरूपमृतं यद्विभाति) के द्वारा ईश्वरीय शरीर का प्रतिपादन नहीं किया गया है अपितु आत्मा की ज्ञानानन्दरूपता का प्रतिपादन किया गया है। ''विचित्रशक्तिः पुरुषः पुराणः'' इत्यादि वाक्य तथा ''आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि'' (ब्र०सू० २—१—२८) इस सूत्र के द्वारा मायाशक्ति गत विचित्रता का प्रतिपादन किया गया है। इसके द्वारा आत्मा की शक्ति का प्रतिपादन नहीं किया गया है। अतः शक्ति किसी शरीर में रहती है—अतः ईश्वरीय शरीर मानना चाहिए— ऐसा नहीं कहा जा सकता है। ''आप्रणखात्'' इत्यादि वाक्य लीलागृहीत राम—कृष्ण आदि विग्रहावच्छेदेन दुःखादि की अभोक्तृता के प्रतिपादक हैं। ''मोदो दक्षिणः पक्षः'' इत्यादि वाक्य के द्वारा आनन्दमय कोश का प्रतिपादन किया गया है, न कि ईश्वरीय शरीरादि का प्रतिपादन। ''सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य महात्मनः'' इत्यादि श्रुतियों के कथन मात्र से ब्रह्म विग्रहरूप सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि ऐसा होने पर ''ब्रह्मैवेदं सर्वम्'' (नृ०उ०ता०७—३) ''पुरुष एवेदं सर्वम्'' (श्वे०उ० ३—१५) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म में प्रपञ्च रूपता भी मानने की आपत्ति होगी। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ब्रह्म नित्य से भिन्न नहीं, अपराधीन से भिन्न नहीं—इस प्रकार सिद्धान्ती जैसे मानते हैं वैसे ही द्वैती के मत में ब्रह्म विग्रह से भिन्न नहीं— ऐसा

ब्रह्मणो विग्रहरूपता। ''ब्रह्मैवेदं सर्वं पुरुषमेवेदं सर्वम्'इत्यादिश्रुत्या प्रपञ्चरूपतापि ब्रह्मण्यापद्येत। स्वरूपानन्द एव नित्यत्ववदपराधीनत्ववच्च विग्रहत्वकल्पनस्य परिभाषामात्रत्वात्। मन्मतेऽपि ब्रह्मातिरिक्तस्य ब्रह्मसत्तासमानसत्ताकत्वाभिमतस्य ब्रह्मणि निषेधाङ्गीकारात्।।६।।

न च– ''नैषा तर्केण मतिरापनेया'इति तर्कागम्यत्वोक्त्या आत्मन एव विग्रहवत्त्वमिति वाच्यम्; निर्विशेषात्मन एव तर्कागम्यत्वोक्त्या आत्मनो विग्रहवत्त्वस्य तर्कागम्यत्वानुक्तेररूपत्वेन चाक्षुषत्वाप्रसक्त्या पिशाचादिवदन्तर्धानशक्त्यानुपलम्भसमर्थनस्याप्रसक्तसमर्थनत्वात्, विग्रहपक्षे 'अपाणिपाद' इत्यादिश्रुतिविरोध–स्योक्तत्वाच्च। न च–''अदु:खमसुखम्'इत्यादौ प्राकृतसुखनिषेधवदत्रापि प्राकृतावयवनिषेधपरता, अन्यथा

सत्यानन्दप्रबोधिका

माना जा सकता है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ऐसा मानने पर पूर्वपक्षी ने ब्रह्म का एक नाम विग्रह रखा है। यह पूर्वपक्षी की अपनी परिभाषा मात्र है। अर्थात् ब्रह्म का नाम जैसे नित्य तथा अपराधीन है। अत: ब्रह्म नित्य और अपराधीन से अभिन्न मानने में कोई आपत्ति नहीं होती है वैसे ही ब्रह्म का नाम विग्रह है। अत: ब्रह्म और विग्रह में भी अभेद माना ही जा सकता है। इससे अद्वैत सिद्धान्त की कोई हानि नहीं होती है। अद्वैत सिद्धान्त में ब्रह्म से अतिरिक्त ब्रह्म समान सत्ताक वस्तु का निषेध ब्रह्म में किया जाता है।।६।।

शङ्का– ''नैषा तर्केण मतिरापनेया'' (क०उ०२–९) इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ईश्वरीय विग्रह का ज्ञान किसी तर्क के द्वारा नहीं हो सकता है, अपितु ''सर्वे नित्या: शाश्वताश्च देहास्तस्य महात्मन:'' इत्यादि वाक्यों के द्वारा ही होता है। अत: ईश्वर का विग्रहवत्त्व उचित ही है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि निर्विशेष प्रकरणस्थ उक्त श्रुति के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म को ही तर्कागम्य कहा गया है। ब्रह्म के विग्रहवत्त्व को तर्कागम्य नहीं कहा गया है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि जिसमें अन्तर्धान होने की शक्ति होती हैं उसका शरीर होते हुए भी प्रत्यक्ष नहीं होता है– ऐसा नियम है। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे पिशाच में अन्तर्धान की शक्ति होने के कारण पिशाच के शरीर का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है, वैसे ही ईश्वर में अन्तर्धान की शक्ति होने के कारण ईश्वरीय शरीर के होने पर भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। अत: ईश्वरीय शरीर का अपलाप नहीं किया जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए आचार्य प्रवर कह रहे हैं कि दृष्टान्त ही असङ्गत है क्योंकि पिशाच का वायवीय शरीर रूप रहित है। अत: उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष प्रसक्त ही नहीं है। अत: चाक्षुष प्रत्यक्ष की अनुपलब्धि के बल पर पिशाच में अन्तर्धान की शक्ति मानने पर अप्रसक्त समर्थन की आपत्ति होगी। दूसरी बात यह है कि ईश्वरीय शरीर मानने में ''अपाणिपाद:'' (श्वे०उ० ३–१९) इत्यादि श्रुतियों का विरोध खण्ड संख्या ४ में स्पष्ट किया जा चुका है।

शङ्का–पूर्वपक्षी का कथन है कि ''अदु:खमसुखम्'' इत्यादि स्थलों पर दु:ख के साहचर्य से लौकिक सुख का ही निषेध माना जाता है ठीक इसी प्रकार ''अपाणिपाद:'' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा भी लौकिक हस्त पादादि इन्द्रियों का ही निषेध किया गया है अलौकिक दिव्य इन्द्रियों का नहीं। अन्यथा = लौकिक इन्द्रियों का ही निषेध न मानकर लौकिक–अलौकिक सभी इन्द्रियों का निषेध मानने पर ''अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षु: स श्रृणोत्यकर्ण:'' (श्वे०उ० ३–१९) में पश्यति श्रृणोति इत्यादि जो कहा गया है। उससे विरोध होगा, क्योंकि जब चक्षु श्रोत्रादि इन्द्रिय ही नहीं तब देखना श्रवण करना कहना असङ्गत होगा। फलत: जीव के समान लौकिक इन्द्रियों वाला ईश्वरीय विग्रह न होने पर भी अलौकिक इन्द्रियों वाला ईश्वरीय शरीर सिद्ध होता है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि दृष्टान्त स्थल पर ब्रह्म सुख स्वरूप है– इस अर्थ का

''शृणोति पश्यति'इतिवाक्यशेषविरोधः स्यादिति—वाच्यम्; आनन्दादिरूपताप्रतिपादकश्रुतिविरोधेन तत्र सङ्कोचवदत्र सङ्कोचकारणाभावात्, श्रवणदर्शनयोः शब्दरूपसाक्षित्वमात्रेण उपपत्तेर्न तद्विरोधः, अन्यथा त्वन्मतेऽपि ब्रह्मणि चक्षुरादिसाध्यज्ञानानङ्गीकारेण तद्विरोधो दुष्परिहारः स्यात्। अत एव—'अरूपोऽप्राकृतश्च'इतिस्मृत्यैवारूपश्रुतिगत्युक्तेः नामरूपमित्यनेन रूपमात्रनिषेध—इति निरस्तम्, स्मृतेरुपास्यपरत्वेन ज्ञेयब्रह्मप्रतिपादिकायाः श्रुतेः सङ्कोचे कारणाभावात्, श्रुतिस्मृत्योरतुल्यबलत्वाच्च, प्रत्युत 'यत्तदद्रेश्यम्'इत्यादिना परविद्याविषयस्य विग्रहवत्त्वप्रति–

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रतिपादन करने वाली ''आनन्दो ब्रह्म'' (तै०उ० ३—६) इत्यादि श्रुतियों से विरोध होने के कारण ''अदुःखमसुखम्'' इस स्थल पर सुख शब्द से केवल प्राकृत सुख को ग्रहण कर उसका निषेध ''असुखम्'' इस पद के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार ब्रह्म स्वरूप सुख और प्राकृत सुख में से केवल प्राकृत सुख रूप संकुचितार्थ का ग्रहण करना उचित है, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप सुख का निषेध नहीं किया जा सकता है। किन्तु ''अपाणिपादः'' इत्यादि दार्ष्टान्त स्थल पर लौकिक अलौकिक सभी प्रकार के हस्तादि का निषेध ा माना जाता है। यहाँ पर केवल लौकिक हस्तादि का ही निषेध होता है— ऐसा संकुचितार्थ लेने में कोई कारण नहीं है। उक्त श्रुति के शेष भाग में कथित ''**शृ**णोति, पश्यति'' से बोध्य श्रवण दर्शन इन दोनों का शब्द साक्षित्व और रूपसाक्षित्व मात्र से उपपत्ति हो जाने से ''**शृ**णोति पश्यति'' इस श्रुति का विरोध नहीं है। यहाँ श्रावण प्रत्यक्ष और चाक्षुष प्रत्यक्ष न लेकर शब्द साक्षित्वादि इसलिए लिया जाता है, क्योंकि इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्षादि का ''शृणोत्यकर्णः, पश्यत्यचक्षुः'' इत्यादि श्रुति के द्वारा निषेध किया गया है। अतः शब्दादि का साक्षिप्रत्यक्ष मानना ही उचित है। अन्यथा— ब्रह्म में अप्राकृत (अलौकिक) चक्षुरादि इन्द्रियों के मानने पर पूर्वपक्षी के मत में भी ब्रह्म में चक्षुरादि इन्द्रियों से जन्य अनित्य ज्ञान के अनङ्गीकार से ''**शृ**णोति, पश्यति'' इस श्रुति का विरोध दुष्परिहार होगा। अर्थात् ब्रह्म में चक्षुरादि इन्द्रियों के मानने पर उन चक्षुरादि इन्द्रियों से जन्य अनित्य ज्ञान भी मानने की आपत्ति होगी।

शङ्का— पूर्वोक्त शङ्का के जैसे ही पूर्वपक्षी का यह कथन है कि ''अरूपोऽप्राकृतश्च'' इत्यादि स्मृति वाक्य के घटक अप्राकृत पद के अनुरोध से ''अरूपः'' इस पद के द्वारा लौकिक रूप का ही निषेध किया गया है। अतः ''अशब्दमस्पर्शमरूपम्'' (क०उ० १—३—१५) इत्यादि श्रुति वाक्यों के घटक ''अरूपम्'' पद से केवल लौकिक रूप का ही निषेध होगा। अर्थात् ईश्वरीय विग्रह अलौकिक रूप वाला है— यह मानना चाहिए।

समाधान— अत एव निरस्तम्— ऐसा अन्वय करना चाहिए। सिद्धान्ती का कथन है दृष्टान्त के रूप में कथित स्मृति और दार्ष्टान्त के रूप में कथित श्रुति का विषय भिन्न—भिन्न होने के कारण स्मृति के बल पर श्रुति के अर्थ को संकुचित नहीं किया जा सकता है। जैसे स्मृति के द्वारा उपास्य ब्रह्म कहा गया है और श्रुति के द्वारा ज्ञेय ब्रह्म कहा गया है। दूसरी बात यह है कि श्रुति और स्मृति में समान बल नहीं माना जाता है अपितु स्मृति की अपेक्षा श्रुति बलवान होती है। अतः स्मृति के अनुरोध पर श्रुति के अर्थ को नहीं बदला जा सकता है अपितु श्रुति के अनुरोध पर स्मृति के अर्थ को ही बदल दिया जाता है। अतः स्मृति के अप्राकृत पद से प्राकृत विलक्षण मायोपाधिक ब्रह्म को उपास्य कहा गया है और ''अरूपः'' पद से ब्रह्म को रूप सामान्य से शून्य कहा गया है। अतः उक्त स्मृति के द्वारा सिद्धान्त मत में विरोध नहीं दिखाया जा सकता है। प्रत्युत ''द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चापरा च। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्''(मु० १—१—५) इस श्रुति के द्वारा पर विद्या के विषयीभूत ज्ञेय ब्रह्म में स्पष्ट रूप से विग्रहवत्त्व का निषेध किया

पादनविरोधाच्च।।७।।

किञ्च भगवद्विग्रहो न नित्यः, महत्त्वे सति रूपवत्त्वात्, विग्रहत्वाद्वा, नित्यताबोधकत्वाभिमतश्रुतेरन्यथासिद्धेरुक्तत्वाच्च। न च प्राकृतत्वमुपाधिः; साधनव्यापकत्वात्। सावयवत्वादपि न नित्यत्वम्। न च श्रुतिबलात् क्वचित्सावयवोऽपि नित्यः, श्रुत्यन्यथासिद्धेरुक्तत्वात्। ननु—अवयव उपादानं चेत् ब्रह्मविग्रहे

सत्यानन्दप्रबोधिका

गया है। अतः ईश्वरीय विग्रह मानने पर उक्त श्रुति से विरोध होगा। फलतः ज्ञेय ब्रह्म को निराकार मानना ही उचित है।। ७।।

भगवान का शरीर प्राकृत (अनित्य) है— इसको अनुमान प्रमाण के द्वारा सिद्ध करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि— भगवद्विग्रहः न नित्यः महत्त्वे सति रूपवत्त्वाद्, जीवविग्रहवत्। दृष्टान्त में मध्यम महत् परिमाण और रूप रहता है, अतः दृष्टान्त में हेतु गया। जीव शरीर विनाशी है। अतः उसमें साध्य भी है। भगवान् कृष्ण आदि के विग्रह में महत् परिमाण और श्याम रूप के होने से पक्ष में हेतु भी है, अतः व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता का ज्ञान रूप परामर्श के होने पर पक्ष पर साध्य की सिद्धि हो जाती है। हेतु में केवल महत्त्व को कहते तो आत्मा में महत् परिमाण के रहने पर भी साध्य नहीं होता। तब व्यभिचारदोष होता। इस व्यभिचारदोष के वारण के लिए रूपवत्त्व कहा गया है। आत्मा में रूपवत्त्व न होने से व्यभिचारदोष नहीं होगा। इसी प्रकार केवल रूपवत्त्व को हेतु बनाते तो नैयायिक के अनुसार परमाणु में रूपवत्त्व हेतु रह जाता किन्तु साध्य के न होने से व्यभिचारदोष होता। अतः महत्त्व कहा गया। परमाणु में महत् परिमाण न होने से हेतु नहीं जायेगा। अतः व्यभिचारदोष नहीं होगा। इसी प्रकार दूसरा अनुमान है—भगवद्विग्रहः न नित्यः, विग्रहत्वात्, जीवविग्रहवत्। दृष्टान्त में हेतु और साध्य के होने से तथा पक्ष में हेतु के होने से परामर्श की उपपत्ति हो जाती है। परामर्श ज्ञान के बल पर पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पूर्वपक्षी के द्वारा भगवद् विग्रह में नित्यत्व बतलाने वाली श्रुतियों के द्वारा बाधदोष नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि उन श्रुति वाक्यों का तात्पर्य विग्रहोपलक्षित शुद्ध ब्रह्म की नित्यता के प्रतिपादन में है—इसको खण्ड संख्या ५ में स्पष्ट किया जा चुका है। पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के उक्त अनुमान में प्राकृतत्व उपाधि है, क्योंकि दृष्टान्त में साध्य और उपाधि के होने से उपाधि में साध्यव्यापकत्व है और पक्ष में हेतु के रहने पर भी उपाधि नहीं है, क्योंकि ईश्वरीय विग्रह में प्रकृति जन्यत्व नहीं होता है। अतः साधनाव्यापकत्व भी है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'' (श्वे०उ० ४–१०) ''प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया'' (गी० ४–६) इन वाक्यों के द्वारा पक्ष में प्रकृति जन्यत्व सिद्ध होने से पक्ष में उपाधि भी रहेगी। अतः उपाधि में साधन व्यापकत्व के रहने से उक्त हेतु में उपाधि नहीं लगेगी। इसी प्रकार ईश्वरीय विग्रह के अनित्यत्व में यह अनुमान भी है—भगवद्विग्रहः विनाशी, सावयवत्वात्, पटवत्। पूर्वपक्षी के द्वारा कथित ईश्वरीय विग्रह की नित्यता बोधक श्रुतियों के बल पर ईश्वरीय सावयव विग्रह को नित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उक्त श्रुति वाक्यों की अन्यथासिद्धि को खण्ड संख्या ५ में कहा जा चुका है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त अनुमान का हेतु जो सावयवत्व है। उसके अवयव शब्द का अर्थ उपादान कारण किया जाता है तब तो हेतु पक्ष में नहीं जायेगा, क्योंकि ईश्वरीय विग्रह का कोई उपादान कारण नहीं माना जाता है। अतः स्वरूपासिद्धि दोष होगा। यदि अवयव का अर्थ एक देश किया जाता है तब गगन आत्मादि में व्यभिचारदोष होगा, क्योंकि घटाकाश महाकाश का एक देश, अन्तःकरणोपहित आत्मा विभु आत्मा का एक देश माना जाता है। यदि कहा जाय कि एक देश का अर्थ उपादान होता है। उपादान से अन्य अर्थ

नास्त्येव, एकदेशमात्रं चेत्, गगनात्मादौ व्यभिचारः; तयोरप्येकदेशसत्त्वात्, न चोपादानातिरिक्तस्यैकदेशस्यैवाभावः; उपादानतन्त्वन्यहस्तवितस्त्यादिपरिमाणदेशस्य पटादावनुभवादिति—चेन्न; उपादानतन्तूनामेव हस्तवितस्त्यादिपरिमाणवतामनुभवात्। गगनादौ संयोगित्वादिना यदेकदेशसाधनं तदिष्टमेव, अस्माभिस्तत्र सावयवत्वानित्यत्वयोरङ्गीकारात्। यत्तु आत्मनि सुखदुःखयोर्देशभेदेन प्रतीतेरेकदेशसाधनं, तन्न, सुखदुःखयोरन्तःकरणगततया तद्गतत्वाभावात्।।८।।

न च—'गौरनाद्यन्तवती'इत्यादिश्रुत्या अनादिनित्याया अपि प्रकृतेः सत्त्वरजस्तमोरूपैकदेशदर्शनाद्व्यभिचार इति—वाच्यम्; प्रकृतौ नित्यत्वाभावादविद्यातिरिक्तप्रकृतेरभावाच्च। न चाविद्यायामेव व्यभिचारः; तस्या अप्यनित्यत्वेन व्यभिचाराभावात्। न च—जीवानामपि 'द्रोणं बृहस्पतेर्भागं द्रौणिं रुद्रांशसम्भवम्। दुर्वासाः

सत्यानन्दप्रबोधिका

एक देश का होता ही नहीं है। अतः आत्मा आदि का उपादान कारण न होने से आत्मादि में हेतु के न जाने से व्यभिचारदोष नहीं होगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि पट का उपादान कारण जो तन्तु है उस तन्तु से अतिरिक्त हस्त वितस्ति आदि परिमाण के खण्डों को पट के एक देश के रूप से अनुभव किया जाता है। अतः अवयव का अर्थ एक देश करने पर गगनादि में व्यभिचारदोष होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि उपादान को ही एक देश कहा जाता है। पट के उपादान कारण तन्तु के ही हस्त वितस्तादि परिमाण का अनुभव होता है। अतः पटादि के जैसे विग्रह भी मध्यम परिमाण वाला होने से भगवद्विग्रह में परिणामिकारण रूप अवयवत्त्व का अनुमान किया जाता है। पूर्वपक्षी के द्वारा ''गगनमेकदेशवत्, संयोगित्वात् पटवत्।'' इस अनुमान के द्वारा गगनादि में घटादि संयोग को लेकर संयोगित्व हेतु के द्वारा जो एकदेश की सिद्धि की जाती है, वह तो हमको भी इष्ट ही है, क्योंकि सिद्धान्त मत में गगनादि में सावयवत्त्व और अनित्यत्व माना ही जाता है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि एक आत्मा में यज्ञदत्त देशावच्छेदेन सुख और देवदत्त देशावच्छेदेन दुःख की प्रतीति के बल पर ''आत्मा एकदेशवान् देशभेदेन सुखदुःखवत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा आकाशः।'' यह कथन उचित नहीं है क्योंकि सुख दुःखादि अन्तःकरण के धर्म होते हैं आत्मा के नहीं। अतः उक्त अनुमान में स्वरूपासिद्धि आदि दोष है।।८।।

शङ्का— भगवद्विग्रहोऽनित्यः एकदेशवत्त्वात्—इस अनुमान के द्वारा सिद्धान्ती ईश्वरीय शरीर में अनित्यत्व सिद्ध नहीं कर सकते हैं, क्योंकि ''गौरनाद्यन्तवती'' इस श्रुति में गौ शब्द से प्रकृति कहा गया है। अर्थात् प्रकृति अनादि और नित्य है और प्रकृति का सत्त्व रज और तमोरूप एक देश भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार सांख्यसम्मत प्रकृति में हेतु है और साध्य नहीं है। अतः व्यभिचारदोष है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि सिद्धान्त मतानुसार जो अविद्या है वही सांख्यमतानुसार प्रकृति है। अतः प्रकृति में नित्यत्व के न होने से व्याभिचारदोष नहीं होगा। इसी प्रकार अविद्या में भी उक्त हेतु का व्याभिचारदोष नहीं दिखाया जा सकता है, क्योंकि अविद्या भी अनित्य होती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त अनुमान का एक देश हेतु जीव और ईश्वर में व्याभिचारी है, क्योंकि ''द्रोणं बृहस्पतेर्भागं द्रौणिं रुद्रांशसम्भवम्। दुर्वासाः शङ्करस्यांशः'' इत्यादि वाक्यों के द्वारा जीवों में सांशत्व कहा गया है। इसी प्रकार

यस्यायुतायुतांशेऽपि विश्वशक्तिरवस्थिता।
परब्रह्मस्वरूपस्य प्रणमामि तमव्ययम्।।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।

शङ्करस्यांश'इत्यादिनांशोक्तेः ' यस्यायुतायुतांशेऽपि विश्वशक्तिरवस्थिता। परब्रह्मस्वरूपस्य प्रणमामि तमव्ययम्।। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'। इत्यादिना ईश्वरस्याप्यंशोक्तेर्जीवेशयोर्व्यभिचार इति—वाच्यम्; आत्मनोंऽशस्यौपाधिकतया स्वाभाविकत्वाभावात्, त्वन्मते जीवानामणुरूपतया स्वाभाविकांशाभावेन काल्पनिकांशस्यैव वक्तव्यत्वात्। एतेन भगवल्लोकादेरपि नित्यत्वमपास्तम्। न च—'अतो हि वैष्णवा लोका नित्यास्ते चेतनात्मकाः। मत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।' इत्याद्यागमविरोधः; तस्यावान्तरप्रलयस्थत्वपरत्वात्। तस्मान्निर्गुणं निराकारं ब्रह्मेति सिद्धम्।।९।।

इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो निराकारत्वसिद्धिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

इत्यादि वाक्यों के द्वारा ईश्वर में सांशत्व कहा गया है। अतः उक्त अनुमान के द्वारा स्वसाध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है।

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा में जो अंश कहा गया है, वह औपाधिक कहा गया है स्वाभाविक नहीं। यहां पर लघुचन्द्रिकाकार ने कहा कि द्रोणशरीरावच्छिन्न जो वृहस्पतिशरावच्छिन्नमनोजन्य मनश्चक्षुरादिक हैं, तदु—पाधिक आत्मा ही बृहस्पति का अंश कहा जाता है। ''प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति'' (ब्र०सू० ४—४—१५) में कहा गया है कि जो पुरुष उपासना के माहात्म्य से अपने मनः प्रभृति जैसे दूसरे में भी अपने मनः प्रभृति से मनः प्रभृति को उत्पन्न कर दे, वह तदंशित्वेन व्यवहृत होता है और जिसमें उत्पन्न करता है, वह उसका अंशत्वेन व्यवहृत होता है। इसी प्रकार माया कल्पित मनः प्रभृति उपाधियों से ईश्वर का हिरण्यगर्भादि रूप से बहुभवन होना कहा गया है और हिरण्यगर्भादि में तदंशता का व्यवहार होता है। वस्तुतः यह सब माया का विजृम्भण है। पूर्वपक्षी के मतानुसार जीव को अणु रूप माना गया है। इसलिये जीवों का स्वाभाविक अंश नहीं माना जा सकता है, अपितु काल्पनिक अंश ही मानना होगा। इस प्रकार ईश्वर और जीव में वास्तविक अंशत्व न होने से व्यभिचारदोष नहीं दिया जा सकता है। एतेन = सावयवत्त्वेन अनित्यत्व की सिद्धि होने से ही भगवान् के साकेत लोकादि की नित्यता भी निरस्त हो जाती है।

शङ्का— भगवान् के साकेतादि लोकों में अनित्यता नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि आगम से विरोध होगा—

अतो हि वैष्णवा लोका नित्यास्ते चेतनात्मकाः।
मत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।

(अर्थात् अतः वैष्णव लोक साकेतादि नित्य हैं और चेतनात्मक = आवरण बाहुल्य से शून्य है। मेरी कृपा से शाश्वत शान्ति स्थान को प्राप्त होगा)।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुये आचार्य प्रवर कह रहे हैं कि उक्त आगम में स्थित नित्यादि पद के द्वारा अवान्तर प्रलय पर्यन्त स्थिति मात्र को कहा गया है। अतः निर्गुण और निराकार ब्रह्म है— यह सिद्ध हो जाता है।।९।।

—:इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां ब्रह्मणो निराकारत्वसिद्धिः:—

७—ब्रह्मणो ज्ञानत्वानन्दत्वविचारः

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।।१।।

ननु— निर्विशेषं चेत् ब्रह्म, तर्हि ब्रह्मैवैकं ज्ञानात्मकमानन्दात्मकमद्वितीयं नित्यं साक्षि चेति नोपपद्यते। तथाहि— तत्र तावत् ज्ञानत्वं किं जातिविशेषो वा, साक्षाद्व्यवहारजनकत्वं वा, जडविरोधित्वं वा, जडान्यत्वं

सत्यानन्दप्रबोधिका

तत्त्वबोध होने के पश्चात् गुरु विग्रह, शास्त्र तथा भगवद् विग्रहादि में अनित्यत्व मिथ्यात्वादि का निश्चय होने पर भी तत्त्वज्ञ को भी कृतघ्नता की निवृत्ति के लिये तत्त्वबोध के बाद भी गुरु विग्रह, शास्त्र तथा भगवद् विग्रहादि की उपासना करणीय है—इस अर्थ को अद्वैतसिद्धिकार सूचित करने के लिये भगवान् श्री कृष्ण का स्मरण करते हैं। भगवान् श्री कृष्ण के साथ उपलक्षण विधया गुरु और शास्त्र का भी स्मरण समझ लेना चाहिये। दूसरी बात यह है कि सगुण उपासना से अन्तःकरण की शुद्धि के माध्यम से शीघ्र तत्त्वबोध होता है—ऐसा जो अद्वैतसिद्धिकार को स्वानुभव सिद्ध है, उसको सूचित करने के लिये और ''न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्। जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।। (गी० ३—२६) इस न्याय का अनुसरण करते हुये ''सगुण ईश्वर से श्रेष्ठ कोई भी तत्त्व नहीं है'' इस प्रकार अज्ञानियों की सगुण उपासना में प्रीति के लिये सगुण ब्रह्म का स्मरण करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि —

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।।

वंशी से सुशोभित है हाथ जिसका और नवजलधर के समान आभा है जिसकी और विद्युत चाकचिक्य विशिष्ट पीत है वस्त्र जिसका और लाल बिम्बा फल के समान है अधर ओष्ठ जिसका और पूर्ण चन्द्र के समान सुन्दर मुख है जिसका और कमल के समान दिव्य नेत्र है जिसका एवम्भूत जो भगवान् श्री कृष्ण हैं, उनसे श्रेष्ठ किसी भी उपास्य तत्त्व को मैं नहीं जानता हूं। यहाँ पर आचार्यप्रवर ने यह भी सूचित किया है कि ब्रह्म के जिस सगुण रूप की उपासना हम कर रहे हैं। उस सगुण रूप से श्रेष्ठ अन्य कोई भी ब्रह्म का सगुण रूप नहीं है— ऐसा निश्चय कर के उपासना करनी चाहिए—ऐसा होने से ही उपासना का शीघ्र फल प्राप्त होता है और ऐसा उपासक ही श्रेष्ठ होता है। इसको ''कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने'' से प्रस्तुत श्लोक में सूचित किया गया है।।१।।

शङ्का— यदि निर्विशेष बह्म है तब एक बह्म ही ज्ञानात्मक है, आनन्दात्मक है, अद्वितीय है, नित्य है, साक्षी है—यह कथन उपपन्न नहीं हो सकता है। अर्थात् एक ही निर्विशेष बह्म के इतने विशेष कैसे हो सकते हैं? बह्म ज्ञानात्मक है— यहां पर ज्ञानत्व क्या (१) जाति विशेष है ? या (२) साक्षाद् व्यवहारजनकत्व रूप है? (अर्थात् ज्ञान व्यवहार का जनक होता है, क्योंकि विना ज्ञान के कोई व्यवहार होता नहीं है। यहाँ साक्षात् पद क्यों दिया गया? इसका उत्तर यह है कि जैसे घट का जनक कुलाल। कुलाल का जनक =कुलाल का पिता। वह कुलाल का पिता भी परम्परया घट का जनक होता है। ऐसे ही व्यवहार का जनक = ज्ञान। ज्ञान का जनक = इन्द्रियसन्निकर्षादि। वह इन्द्रिय सन्निकर्षादि भी परम्परया व्यवहार के जनक होंगे। अतः इन्द्रियसन्निकर्षादि के वारण के लिये साक्षात् पद दिया गया है। इस प्रकार साक्षात् व्यवहार का जनक = ज्ञान। अतः उक्त जनकत्व ज्ञान में। उसी ज्ञान में ज्ञानत्व रहा। अतः उक्त जनकत्व=ज्ञानत्व। या (३) जड़विरोधित्व? या (४) जड़ान्यत्व? या (५) अज्ञान विरोधित्व? या (६) अर्थप्रकाशात्मकत्व? (यहाँ अर्थ पद क्यों दिया गया? इसका उत्तर यह है

वा, अज्ञानविरोधित्वं वा, अर्थप्रकाशात्मकत्वं वा, पराङ्गीकृतं वा? नाद्यः; वृत्तिप्रतिबिम्बितज्ञानाभासेषु तत्सम्भवेऽपि अखण्डरूपब्रह्मज्ञाने तदयोगात्। न द्वितीयः, फलोपधानस्य सुषुप्त्यादावभावात्, शक्त्यादिरूपस्वरूपयोग्यताया अपि मुक्तावभावात्, न तृतीयः; स्वरूपज्ञानस्य नित्यत्वेन तद्विरुद्धस्य जडस्य नित्यनिवृत्त्यापातात्। न चतुर्थः; 'सत्यं ज्ञानम्'इत्यादौ अनृतव्यावृत्तेरार्थिकत्वोक्तिविरोधात्। न च पञ्चमः, अज्ञानस्य नित्यनिवृत्त्यापातात्। न षष्ठः, मोक्षे अन्यार्थोल्लेखाभावात्, स्वरूपोल्लेखे च

सत्यानन्दप्रबोधिका

कि प्रकाशत्व = अप्रकाशविरोधित्व। अप्रकाशत्व=अज्ञानतमोऽन्यतरत्व। अर्थात् अप्रकाशविरोधित्व अज्ञान और तम में है। किन्तु तम विरोधित्व आलोक में भी है। अतः आलोक में अतिव्याप्ति होगी। अर्थ पद देने पर आलोक तम को तो भगा सकता है, किन्तु उससे अर्थविषयक ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः आलोक में अतिव्याप्ति नहीं होगी) या (७) पराङ्गीकृत अर्थात् दूसरे लोग जो ज्ञानत्व का लक्षण मानते हैं। उसी को हम मानते हैं? प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अन्तःकरण की वृत्ति में प्रतिबिम्बित चिदाभास जो कि नाना हैं उसमें ज्ञानत्व रूप जाति रहेगी किन्तु अखण्ड रूप ब्रह्मात्मकज्ञान के एक होने से उसमें ज्ञानत्व जाति नहीं रहेगी। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि व्यवहार जनकता दो प्रकार की होती है। एक तो तत्काल व्यवहार को उत्पन्न करती है और दूसरी तत्काल व्यवहार को उत्पन्न न करने पर भी व्यवहार उत्पन्न करने की योग्यता (शक्ति) वाली होती है। प्रथम पक्ष में दोष दे रहे हैं कि सुषुप्ति में ज्ञान रहने पर भी कोई व्यवहार उत्पन्न नहीं होता है। इस प्रकार फलोपधायकरूप व्यवहार जनकत्व नहीं गया। यदि कहें कि सुषुप्तिकालीन ज्ञान में तत्काल व्यवहारजनकता न रहने पर भी व्यवहार को उत्पन्न करने की स्वरूप योग्यता रूप शक्ति रहने से उसमें लक्षण चला जायेगा। इस पर कह रहे हैं कि उक्त प्रकार से सुषुप्तिकालीन ज्ञान में लक्षण जाने पर भी मुक्तिकालीन ज्ञान में लक्षण नहीं जायेगा, क्योंकि उस समय कोई शक्ति उसमें नहीं मानी जाती है, क्योंकि शक्ति उसमें मानी जाती है जिसमें भविष्य में कभी न कभी फल (व्यवहार) उत्पन्न होने की सम्भावना हो। किन्तु मुक्ति के बाद में फल (व्यवहारादि) उत्पन्न होने की सम्भावना रहती ही नहीं है। जड़विरोधित्व रूप तृतीय पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि जड़विरोधित्व रूप ज्ञानत्व ब्रह्मज्ञान में मानने पर जड़ वर्ग की नित्य निवृत्ति माननी होगी। जड़विरोधित्वरूप ज्ञानत्व ब्रह्मज्ञान में न मानने पर ब्रह्मज्ञान में लक्षण ही नहीं जायेगा। जड़ान्यत्व रूप चतुर्थ पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तै०उ० २—१—१) यहाँ आनन्द गिरि टीका में कहा— ''सत्यादिषु त्रिषु विशेषणेषु अवान्तरभेदमाह—तत्रानन्तेति (भाष्य)''तत्रानन्तशब्दोऽन्तवत्त्वप्रतिषेधद्वारेण विशेषणम्। सत्यज्ञानशब्दौ तु स्वार्थसमर्पणेनैव विशेषणे भवतः।'' टीका में कथित अवान्तर भेद को स्पष्ट करते हुये टिप्पणीकार ने कहा—अवान्तरभेदमितिव्यावृत्तेरार्थिकत्वस्य त्रिष्वपि समानत्वेऽपि अनन्तशब्दे तु पुरस्ताद्तद्बोधः परस्ताच्च स्वार्थबोधः। द्वयोस्तु तद्वैपरीत्यमित्यवान्तरभेदः। शब्दानां नञ्घटिताघटितत्वमेव चात्र हेतुरित्यवधेयम्। अर्थात् ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इस स्थल पर कहा गया कि ज्ञान पद साक्षात् जड़ की व्यावृत्ति नहीं करता है किन्तु अर्थात् जड़ की व्यावृत्ति करता है। किन्तु जब जड़ से भिन्न को ज्ञान मानेंगे तब ज्ञान शब्द साक्षात् ही जड़ की व्यावृत्ति कर देगा। अतः उक्त भाष्य—टीका टिप्पणी से विरोध होगा। पञ्चम पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि अज्ञान की नित्यनिवृत्ति की आपत्ति होगी। षष्ठ पक्ष (अर्थप्रकाशात्मकत्वरूप) भी नहीं माना जा सकता है क्योंकि मोक्ष में तो ज्ञान रहता है किन्तु ज्ञान से भिन्न किसी अर्थ का उल्लेख अर्थात् अर्थ की विषयिता ज्ञान में नहीं रहती है। यदि कहा जाय कि मोक्ष में किसी अर्थ की विषयिता न रहने पर भी ज्ञान के स्वरूप की ही विषयिता ज्ञान में मान लेंगे तो ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर स्व में स्व विषयकत्व

स्वविषयत्वापातात्। न सप्तमः, पराङ्गीकृतजातेर्व्यवहारहेतुत्वादेर्वा त्वन्मतेऽसम्भवात्, इति—चेन्न; अर्थप्रकाशत्वमेव ज्ञानत्वम्। मुक्तावर्थाभावेऽपि तत्संसृष्टप्रकाशत्वस्य कदाचिदर्थसम्बन्धेनाप्यनपायात्। अत एव—''अर्थप्रकाशरूपत्वं ज्ञानत्वं ब्रह्मणः कथम्। अन्यार्थाभावतो मोक्षे स्वेन स्वस्याप्यवेदनात्'' इति निरस्तम्।।२।।

ननु— आनन्दत्वं जातिविशेषो वा, अनुकूलतया वेदनीयत्वं वा, अनुकूलवेदनत्वं वा, अनुकूलत्वमात्रं वा, ज्ञानात्मकत्वमेव वा, दुःखविरोधित्वं वा, दुःखाभावोपलक्षितस्वरूपत्वं वा, पराङ्गीकृतं वा? नाद्यः; अखण्डस्वरूपानन्दे तदभावात्। न द्वितीयः; मोक्षे वेदितुरभावात्, आत्मनोऽवेद्यत्वाच्च। किञ्चानुकूल्यं

सत्यानन्दप्रबोधिका

की आपत्ति होगी। सप्तम पक्ष को भी सिद्धान्ती नहीं मान सकते हैं, क्योंकि पराङ्गी कृत ज्ञानत्व को गुणत्व व्याप्त जाति अथवा व्यवहार हेतुत्वादि सिद्धान्ती के मत में सम्भव ही नहीं हैं, क्योंकि सिद्धान्ती अखण्ड निर्विशेष ज्ञान स्वरूप ब्रह्म मानते हैं।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि षष्ठ पक्ष को मानने में कोई दोष नहीं है। सिद्धान्त मत में अर्थोपलक्षित प्रकाशत्व को ज्ञानत्व का स्वरूप माना जाता है। यद्यपि मुक्ति अवस्था में अर्थ विशिष्ट प्रकाशत्व नहीं है तथापि संसारावस्था में ज्ञान के साथ विषय का सम्बन्ध होने के कारण अर्थ उपलक्षित प्रकाशत्व मोक्ष में भी सम्भव है। (इसको लघुचन्द्रिका में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—अर्थव्यवहारजनकतावच्छेदकवत्त्व या अर्थेच्छाजनकतावच्छेदकवत्त्व का नाम अर्थप्रकाशत्व है और उक्त जनकतावच्छेदक ज्ञानत्व जाति है और वह जाति तत्तदर्थ के असत्त्व का आपादक जो अज्ञान है। उस अज्ञान का विरोधी जो चेतन है। उस चेतन में रहती है। चेतन का जो उक्त अज्ञानविरोधित्व है। वह घटादि में तथा अविद्यमान सुखादि में तदाकार वृत्ति विशिष्टत्वेन है और विद्यमान सुखादि में सुखादि विशिष्टत्वेन है। विद्यमान सुखादि विषयक वृत्ति को मानने पर तो सुखाद्याकार वृत्तिविशिष्टत्वेन है। यद्यपि उक्त ज्ञानत्व जाति विशिष्ट चेतन निष्ठ है और ज्ञा धातु वाच्यतावच्छेदिका है तथापि उक्त जाति विशिष्ट से भिन्न और ज्ञान पद की लक्ष्यभूत जो व्यक्ति, तादृश व्यक्ति का सत्त्व मुक्ति में होने से ज्ञान का स्वरूप अविनाशी है। इस तात्पर्य से ''मुक्तावर्थाभावेऽपि'' आदि कहा गया है।) अत एव = ज्ञान का उक्त लक्षण मोक्ष में भी सम्भव होने से, पूर्वपक्षी का यह आक्षेप भी निरस्त हो गया कि विदेह मोक्ष में स्वातिरिक्त अर्थाभाव वाला जो ब्रह्म है उसमें अर्थप्रकाशरूपत्व ज्ञानत्व नहीं रह सकता है, क्योंकि स्व से स्व का वेदन नहीं होता है।।२।।

शङ्का— ब्रह्मगत आनन्दत्व क्या (१) जाति विशेषरूप है? या (२) अनुकूलतया वेदनीयत्व रूप है (यह अनुकूल है—इस प्रकार से जिसको जाना जाता है, उसको कहते हैं आनन्द) अथवा (३) अनुकूल वेदनत्व है? (यह अनुकूल है—ऐसा जो ज्ञान उस ज्ञान को आनन्द कहते हैं?) या (४) अनुकूलत्वमात्र है? (अनुकूल को ही आनन्द कहते हैं) या (५) ज्ञानात्मकत्वरूप है? (ज्ञान को ही आनन्द कहते हैं) या (६) दुःखविरोधित्वरूप है? या (७) दुःखाभाव से उपलक्षित आत्मा के स्वरूप को आनन्द कहते हैं? या (८) पराङ्गीकृतरूप है? जाति विशेष रूप प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अखण्ड जो स्वरूपानन्द है। उसमें आनन्दत्व जाति मानी नहीं जा सकती है, क्योंकि एक व्यक्ति में जाति मानी नहीं जाती है। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि मोक्षकाल में वेदयिता का अभाव होता है। आत्मा में वेद्यत्व न होने से अनुकूलतया वेदनीयत्व ब्रह्मानन्द में सम्भव ही नहीं होगा। किञ्च अनुकूलत्व किञ्चित् सापेक्ष होता है। जैसे किसी पुरुष के प्रति कोई अन्यवस्तु अनुकूल होती है। अपने (आनन्द) से भिन्न किसी के प्रति आनन्द अनुकूल है— ऐसा सिद्धान्ती मान नहीं सकते है, क्योंकि आत्मा से अभिन्न आनन्द को मानते हैं। अतः आनन्द के प्रति आनन्द ही अनुकूल है—ऐसा

किञ्चित्सापेक्षं, न चान्यं प्रति तद्युक्तमिति स्वं प्रत्येव वक्तव्यत्वेन सविशेषत्वापातात्। अत एव न तृतीयः, किञ्च वेदनस्वभावादधिकस्यानुकूलस्य स्वाभाविकत्वे सखण्डत्वापातः, औपाधिकत्वे कदाचिदानन्दनिवृत्त्यापातः। न चतुर्थः, उक्तरीत्या आनुकूल्यासम्भवात्। अत एव निरुपाधीष्टत्वमानन्दत्वमिति—निरस्तम्। न पञ्चमः; दुःखादिज्ञानस्यापि आनन्दत्वापातात्। विषयानुल्लेखिज्ञानं तथेति चेन्न, ज्ञानस्य सविषयत्वनियमात्, 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'इत्यादौ विज्ञानपदेनैव दुःखव्यावृत्तिसिद्धावानन्दपदवैयर्थ्यापाताच्च। न षष्ठः, विरोधस्य निवर्तकत्वादिरूपत्वे दुःखस्य नित्यनिवृत्त्यापत्तेः, तादात्म्यायोग्यत्वरूपत्वे घटादावप्यानन्दत्वापातात्, 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'इत्यादौ दुःखव्यावृत्तेरार्थिकत्वोक्त्ययोगाच्च। न सप्तमः, वैशेषिकमोक्षे (मोक्षवत्) त्वदुक्तस्य दुःखाभावे सत्यपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

कहना होगा। तब मोक्ष में आत्मा में भी स्वप्रतियोगिक और स्वानुयोगिक अनुकूलत्व प्राप्त होने के कारण सविशेषापत्ति होगी। अत एव = स्व के प्रति स्व का अनुकूलत्व सम्भव न होने से, अनुकूल वेदनत्व रूप तृतीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि वेदन (ज्ञान) स्वभाव (स्वरूप) से अतिरिक्त ज्ञानगत अनुकूलत्व स्वाभाविक है? या औपाधिक? यदि स्वाभाविक है तब ज्ञानस्वरूप आत्मा से अतिरिक्त अनुकूलत्व को आत्मा में स्वीकार करने पर आत्मा में सखण्डत्वापत्ति होगी। अनुकूलत्व को औपाधिक मानने पर कदाचित् उपाधि के न रहने पर अनुकूलत्व रूप आनन्दत्व का भी अभाव मानना पड़ेगा। अनुकूलत्व मात्र रूप चतुर्थ पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि अनुकूलत्व को स्वाभाविक या औपाधिक मानने पर उक्त प्रकार से दोष होगा। अत एव = अनुकूलत्व के असम्भव होने से ही निरुपाधिक इष्टत्व भी आनन्दत्व का लक्षण है— यह निरस्त हो गया। अर्थात् इष्टत्व भी अनुकूलत्व के समान सम्भव नहीं है। पञ्चम पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि दुःखादि ज्ञान को भी आनन्द रूप मानने की आपत्ति होगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि दुःख ज्ञान में विषय (दुःख) का उल्लेख होने के कारण दुःख ज्ञान आनन्दरूप नहीं होगा क्योंकि विषय का अनुल्लेखि ज्ञान ही आनन्द रूप होता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ज्ञान के सविषयत्व का नियम होने से विषयानुल्लेखी ज्ञान होता ही नहीं है। किञ्च ज्ञान को ही आनन्द रूप मानने पर ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' (बृ०उ०३—९—२८) इत्यादि वाक्यों के विज्ञान पद से ज्ञान और ज्ञान से अभिन्न आनन्द का भी बोध होगा तब विज्ञान पद से ही दुःख की व्यावृत्ति सिद्ध हो जाने पर आनन्द पद के वैयर्थ्य की आपत्ति होगी। दुःख विरोधित्व रूप छठा पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि विरोध का अर्थ निवर्तक करने पर दुःख के नित्यनिवृत्ति की आपत्ति होगी। यदि विरोध का अर्थ तादात्म्यायोग्यत्व करते हैं। अर्थात् दुःख के साथ जिसका तादात्म्य हो नहीं सकता। उसको आनन्द कहते हैं तब घटादि में भी आनन्दत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि घटादि के साथ दुःख का तादात्म्य होता नहीं है। दूसरी बात यह है कि आनन्द यदि दुःख विरोधी है तब ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' (बृ०उ० ३—९—२८) इत्यादि स्थल पर ''आनन्दम्'' इस पद से साक्षात् आनन्द कहा गया है और अर्थात् दुःख की व्यावृत्ति कही गयी है— ऐसा जो सिद्धान्ती का कथन है। वह असङ्गत हो जायेगा, क्योंकि आनन्द का साक्षात् अर्थ दुःख विरोधी = दुःख की व्यावृत्ति है। दुःखाभावोपलक्षितस्वरूपत्व रूप सप्तम पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि एक विंशति दुःखध्वंस रूप वैशेषिक मोक्ष में दुःख का ध्वंसाभाव रहने पर भी उससे भिन्न आनन्द नाम का कोई पदार्थ नहीं रहता है। इस पर सिद्धान्ती दोष देते है कि इस प्रकार का मोक्ष कोई नहीं चाहेगा, जिसमें आनन्द न हो। यही दोष पूर्वपक्षी सिद्धान्ती के उपर दे रहा है कि मोक्ष में दुःखाभाव के रहने पर भी आनन्द का अभाव रहने के कारण सिद्धान्ती सम्मत मोक्ष को भी कोई नहीं चाहेगा। अष्टम पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि पराङ्गीकृत निरुपाधिक अनुकूलवेदनीयत्वादि

आनन्दाभावेनापुमर्थत्वस्य त्वन्मोक्षेऽप्यापातात्। नाष्टमः; पराङ्गीकृतस्य निरुपाध्यनुकूलवेदनीयत्वादेस्त्वन्मते असम्भवात्। यदि चानन्दत्वादेर्दुर्निरूप्यत्वेऽपि तदधिकरणं ब्रह्माबाध्यमानन्दाद्यात्मकं च, तर्हि सत्यत्वादेर्दुर्निरूपत्वेऽपि तदधिकरणं जगदबाध्यं सदात्मकं च स्यादिति—चेत्।।३।।

न, आनन्दत्वस्य निरूपाधिकेष्टत्वरूपत्वात्। न च दुःखाभावे अतिव्याप्तिः; दुःखाभावस्यापि सुखशेषत्वात्; अभावस्य विरोधिभावान्तरत्वाभ्युपगमात्। न च मुक्ताविच्छापाये आनन्दापायापत्तिः; इष्टत्वोपलक्षितस्य स्वरूपस्यानपायात्, उपलक्ष्ये च तदवच्छेदकसत्त्वस्यातन्त्रत्वात्। न च—निरुपाधिकेष्टत्वं स्वाभाविकमौपाधिकं वा; नान्त्यः; ब्रह्मणः आनन्दरूपत्वाभावापत्तेः, आद्ये ज्ञानातिरेकि, तदनतिरेकि वा, आद्ये सखण्डत्वापत्तिः;

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्धान्ती के मत में सम्भव ही नहीं, क्योंकि आनन्द निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप माना जाता है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि आनन्दत्वादि धर्मों का निर्वचन न हो पाने पर भी आनन्दत्वादि का अधिकरणभूत ब्रह्म अबाधित आनन्द रूप माना जाता है तब तो सत्यत्वादि का निर्वचन न होने पर भी सत्यत्वादि का अधिकरणीभूत प्रपञ्च अबाधित सदात्मक मानना चाहिए।।३।।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि निरुपाधिक इष्टत्व को आनन्दत्व कहते हैं। (इसको स्पष्ट करते हुए लघुचन्द्रिकाकार ने कहा है कि अन्येच्छानधीनेच्छाविषयत्वयोग्यत्व = सुखत्व (आनन्दत्व)। विषय सम्बन्ध जन्य जो वृत्ति विशेष तादृशवृत्तिविशेषावच्छिन्न चेतन में सुखत्व जाति की वृत्ति है। मोक्ष में इसका अभाव होने पर भी एतदुपहिताभिन्न आत्म स्वरूप के होने से कोई हानि नहीं है। यदि कहा जाय कि ज्ञानत्व और आनन्दत्व का कादाचित्कत्व मानने पर इन दोनों में अस्वाभाविकत्व आयेगा। जैसे जगत् कारणत्व का कादाचित्कत्व होने पर उसमें अस्वाभाविकत्व होता है। इसका समाधान यह है कि इनका अस्वाभाविकत्व हमको इष्ट है, क्योंकि ऐसा होने पर भी जगत् कारणत्व तटस्थ लक्षण है और लक्षणा से बोध्य जो आनन्दत्वादि से उपलक्षित व्यक्ति है। वह स्वरूप लक्षण है। ऐसा विभाग सम्भव होने से सिद्धान्त में किसी भी प्रकार का व्याघात नहीं है। यदि कहा जाय कि उक्त लक्षण की दुःखाभाव में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि दुःखाभाव सभी को इष्ट हैं। इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि दुःखाभाव सुख का अभिव्यञ्जक होता है। इसलिए निरुपाधिक इष्टत्व दुःखाभाव में नहीं रहता अपितु दुःखाभाव से अभिव्यक्त होने वाले सुख में रहता है। अतः दुःखाभाव में अतिव्याप्ति नहीं होगी। अभाव को अधिकरण स्वरूप मानने वालों के मतानुसार समाधान दे रहे है कि अभाव (दुःखाभाव) को विरोधिभाव (दुःखाभाव विरोधी भाव = सुख) स्वरूप होता है। इस प्रकार सुख रूप ही होने के कारण दुःखाभाव लक्ष्य कोटि में आ गया। अतः उसमें लक्षण जाना अभीष्ट ही है। लक्षण घटक इष्टत्व = इच्छा विषयत्व है। अतः इच्छा को लेकर पूर्वपक्षी का कथन है कि मुक्ति में इच्छा का अभाव होने पर इष्यमाण आनन्द का भी अभाव हो जायेगा। ऐसा कथन ठीक नहीं है क्योंकि मोक्ष में आनन्द पद के वाच्यार्थ का अभाव होने पर भी आनन्द पद से लक्ष्यार्थ स्वरूप का अभाव नहीं होता है। प्रथम परिच्छेद ''प्रत्यक्षस्य भाविबाधविचारः'' के खण्ड संख्या ४ में कहा जा चुका है कि उपलक्ष्य वस्तु में उपलक्ष्यतावच्छेदक धर्म के रहने का नियम नहीं होता है। अतः लक्ष्यतावच्छेदक = इष्टत्व = इच्छाविषयत्व के मोक्ष काल में न रहने पर भी लक्ष्य = अखण्ड स्वरूप रह ही सकता है।

शङ्का— आनन्दस्वरूप ब्रह्म में निरुपाधिक इष्टत्व स्वाभाविक है? या औपाधिक? निरुपाधिक इष्टत्व को औपाधिक मानने पर जब उपाधि नहीं रहेगी तब ब्रह्म में आनन्दत्व के अभाव की आपत्ति होगी। निरुपाधिक इष्टत्व को स्वाभाविक मानने पर वह ज्ञानत्व से भिन्न है? या अभिन्न है? ज्ञानत्व से भिन्न है— इस प्रथम

द्वितीये आनन्दपदवैयर्थ्यमिति—वाच्यम्, ज्ञानानन्दयोरभेदेऽपि कल्पितजातिभेदनिबन्धनप्रवृत्तिकतया पदद्वयप्रयोगस्य व्यावृत्तिभेदेन साफल्यात्। एतेन विषयानुल्लेखिज्ञानमेवानन्द इत्यपि युक्तम्; ज्ञाने विषयोल्लेखनियमस्य प्रागेव निरासात्। एवञ्चानन्दत्वस्य सुनिरूपतया न तन्न्यायेन जगतश्च सदात्मकत्वापादनमिति। किञ्च जगति सदाद्यात्मकत्वे बाधकं दृश्यत्वादिकम्, न त्वानन्दे, तस्य दृगनतिरेकात्। एतेन—'निरुपाध्यनुकूलत्ववेदनीयं सुखं मतम्। निर्विशेषमवेद्यञ्च कथं ब्रह्म सुखात्मकम्'इति— निरस्तम्, परमप्रेमास्पदत्वेन वेद्यत्वात्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

पक्ष में सखण्डत्वापत्ति होगी, क्योंकि मोक्ष में भी आनन्दत्व रहता है— ऐसा कहना पड़ेगा, तब आनन्दत्व सत्य हो जायेगा। ऐसे सत्य धर्म वाला ब्रह्म सखण्ड हो जायेगा। ज्ञानत्व से अभिन्न है— इस द्वितीय पक्ष में ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' (बृ०उ० ३—९—२८) इत्यादि स्थल पर विज्ञान पद से ही दुःख की व्यावृत्ति सिद्ध हो जाने से आनन्द पद व्यर्थ हो जायेगा।

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान और आनन्द इन दोनों का अभेद होने पर भी कल्पित जाति (ज्ञानत्व और आनन्दत्व) के भेद को लेकर ज्ञान पद और आनन्द पद का प्रयोग होता है। अर्थात् कल्पित आनन्दत्व जाति को निमित्त कर के आनन्द पद का प्रयोग होता है और कल्पित ज्ञानत्व जाति को निमित्त कर के ज्ञान पद का प्रयोग होता है और व्यावृत्ति भेद के कारण पद द्वय प्रयोग में साफल्य भी है। अर्थात् आनन्द पद से अनानन्दत्व की व्यावृत्ति और ज्ञान पद से अज्ञानत्व की व्यावृत्ति होने से दोनों पदों का प्रयोग उचित ही है। एतेन = उक्त प्रकार से पद द्वय प्रयोग में साफल्य होने से विषयानुल्लेखी ज्ञान को भी आनन्द मानना उचित ही है। चैतन्य स्वरूप ज्ञान में विषयोल्लेख के नियम का निरास ''जड़त्व हेतुविचारः'' के खण्ड संख्या २ में किया जा चुका है। इस प्रकार से आनन्दत्व का सुनिरूपण होने से पूर्वपक्षी का यह कथन खण्डित हो गया कि आनन्दत्व का निर्वचन न होने पर भी उसका अधिकरण भूत ब्रह्म अबाधित और आनन्द रूप माना जाता है ठीक इसी प्रकार सत्यत्वादि का निर्वचन न होने पर भी उसका अधिकरणभूत जगत् को अबाध्य और सदात्मक मानना चाहिए। दूसरी बात यह है कि जगत् के सदात्मक होने में दृश्यत्वादि बाधक है, क्योंकि ''यत्र यत्र दृश्यत्वं तत्र तत्र मिथ्यात्वम्'' यह पीछे सिद्ध किया जा चुका है। अतः जगत् के सदात्मक मानने में ''जगत् न सत्, दृश्यत्वात्, शुक्तिरजतवत्'' यह अनुमान ही बाधक है। यदि कहो कि ''आनन्दः न सत्, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्'' ऐसा अनुमान आनन्द को सत् मानने में बाधक होगा। इसके उत्तर में कह रहे हैं कि आनन्दतत्त्व दृश्य नहीं है अपितु ब्रह्म से अभिन्न है। अतः दृश्यत्व हेतु पक्ष (ब्रह्माभिन्न आनन्द) में न जाने से स्वरूपासिद्धि दोष होगा। अतः दृश्यत्व हेतु आनन्द के सदात्मक होने में बाधक नहीं होगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि—

निरुपाध्यनुकूलत्ववेदनीयं सुखं मतम्। निर्विशेषमवेद्यं च कथं ब्रह्म सुखात्मकम्।।

अर्थात् जो निरुपाधि = स्वाभाविक रूप से अनुकूल है— इस प्रकार से जाना जाता है। वह सुख है किन्तु ब्रह्म में न तो अनुकूलत्व रूप विशेष है और न वेदनीयत्व है, क्योंकि ब्रह्म निर्विशेष और अवेद्य है। अतः ब्रह्म को सुखात्मक नहीं कहा जा सकता है।

समाधान— एतेन निरस्तम्—ऐसा अन्वय है, एतेन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि ''निरुपाध्यनुकूलत्ववेदनीयत्व'' को हम आनन्द का लक्षण नहीं मानते हैं अपितु ''निरुपाधिकेष्टत्व को आनन्द का लक्षण मानते हैं। इस लक्षण में अतिव्याप्ति आदि दोषों का निवारण किया जा चुका है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि आनन्द में उक्त लक्षण रहता है—इसमें प्रमाण क्या है? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि उक्त लक्षण

सुखवेदनभेदाभावात्, वेदनाभावेनासुखत्वापादनानुपपत्तेः।।४।।

ननु— अद्वितीयत्वं द्वितीयाभावविशिष्टत्वम्?, तदुपलक्षिततत्वं वा? उभयथापि विशेषणमुपलक्षणं वा द्वितीयाभावः प्रामाणिकश्चेत्, तदा तेन सद्वितीयत्वापत्तिः, अप्रामाणिकश्चेत्, तदा द्वितीयेन सद्वितीयत्वापत्तिः। न चाभावे द्वितीयेऽपि न भावाद्वैतहानिः; अभाववद् दृश्यस्य धर्मादेरप्येवं प्रामाणिकत्वे बाधकाभावादिति— चेन्न; प्राभाकररीत्या द्वितीयाभावस्याधिकरणानतिरिक्तत्वेन प्रामाणिकत्वेऽपि तेन सद्वितीयत्वाभावात्। न च—एवमनुपलब्धेः पार्थक्येन प्रमाणत्वोक्तिरयुक्ता, प्रमेयानतिरेकादिति—वाच्यम्; अतिरिक्ताभाववादिमत एव तदुक्तेः;

सत्यानन्दप्रबोधिका

आनन्द में रहता है— इसमें प्रमाण यही है कि परम प्रेमास्पदत्वेन (निरुपाधिकेष्टत्वेन) आत्मा (आनन्द) का अनुभव सर्वजन प्रसिद्ध है। सुख (आनन्द) और वेदन (ज्ञान) में भेद नहीं मानते हैं। अतः वेदनाभाव = अवेद्यत्व के द्वारा ब्रह्म में असुखरूपता का आपादन नहीं किया जा सकता है।।४।।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्रह्मगत अद्वितीयत्व क्या (१) द्वितीयाभावविशिष्टत्वरूप है? या (२) द्वितीयाभावोपलक्षितत्व रूप है? दोनों प्रकार से भी विशेषण या उपलक्षण जो द्वितीयाभाव है। वह यदि तत्त्वावेदक प्रमाण से वेद्य है तब विशेषण रूप या उपलक्षण रूप जो द्वितीयाभाव है। उस द्वितीयाभाव से ब्रह्म में सद्वितीयत्व की आपत्ति होगी। यदि वह द्वितीयाभाव अप्रामाणिक है तब उसका प्रतियोगी द्वितीय सत्य (तात्त्विक) होगा, तब तात्त्विक द्वितीय को लेकर ब्रह्म में सद्वितीयत्व की आपत्ति होगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ब्रह्म से अतिरिक्त तात्त्विक द्वितीयाभावरूप जो द्वितीय पदार्थ है। उस द्वितीय पदार्थ के रहने पर भी भाव रूप अद्वैत मत की हानि नहीं होती है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि द्वितीयाभाव के जैसे दृश्यभूत धर्मादि में भी प्रामाणिकत्व मानने में कोई बाधक नहीं होगा। अर्थात् ''धर्मादयः प्रामाणिकाः, दृश्यत्वात्, द्वितीयाभाववत्।'' इस प्रकार धर्मादि में प्रामाणिकत्व सिद्ध होने से ब्रह्म में सद्वितीयत्व की आपत्ति होगी।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्राभाकरमतानुसार अभाव को अधिकरण स्वरूप माना जाता है। अतः इस मत से द्वितीयाभाव ब्रह्म रूप अधिकरण स्वरूप होगा। अतः ब्रह्म स्वरूप द्वितीयाभाव के प्रामाणिक होने पर भी ब्रह्म में सद्वितीयत्व की आपत्ति नहीं होगी।

शङ्का— एवम् = अभाव को अधिकरण स्वरूप भाव पदार्थ मानने पर प्रत्यक्षादि भिन्नत्वेन अनुपलब्धि के प्रमाणत्व का कथन असङ्गत हो जायेगा, क्योंकि अनुपलब्धि का जो प्रमेय है वही प्रत्यक्षादि का प्रमेय है। अतः प्रत्यक्षादि के द्वारा ही अनुपलब्धि के प्रमेय का बोध हो जायेगा। अर्थात् अभाव जब अधिकरण स्वरूप ही है तब अधिकरण ग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाण से ही अभाव का ग्रहण हो जायेगा। पुनः अभाव के ज्ञान के लिए अनुपलब्धि नामक प्रमाण मानने की आवश्यकता ही नहीं होगी।

समाधान— ऐसा कथन उचित नहीं है क्योंकि जिस प्राभाकर के मत में अभाव को अधिकरण स्वरूप माना जाता है। उनके मत में अनुपलब्धि प्रमाण ही नहीं माना जाता है। जिसके मत में अभाव को अधिकरण स्वरूप नहीं माना जाता है। उनके मत में अभाव के ज्ञान के लिए प्रत्यक्षादि से भिन्न अनुपलब्धि प्रमाण माना जाता है। अतः कोई दोष नहीं है। अभाव को अधिकरण स्वरूप मानने के पक्ष में भी अनुपलब्धि प्रमाण मानने में सार्थक्य है—इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जो लोग अभाव को अधिकरण स्वरूप मानते हैं और अनुपलब्धि प्रमाण को मानते हैं। उनके मतानुसार जब भूतल का घटाभावत्वेन प्रकारेण ज्ञान होगा तब वह ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से होगा और भूतल का जब भूतलत्वेन ज्ञान होगा तब वह प्रत्यक्षादि प्रमाण से होगा।

अतिरिक्ताभावानभ्युपगमेऽपि अभावत्वप्रकारज्ञाने तत्प्रामाण्योपपत्तेश्च। न चानृतव्यावृत्तेरपि ब्रह्ममात्रतया भेदसत्त्वापत्तिः; इष्टापत्तेः; अनृतनिरूपितत्वं परमनृतमिथ्यात्वान्मिथ्या। भेदो ब्रह्माभिन्नतया सत्य एवेति।।५।।

न च— प्राभाकरमते प्रतियोगिमदधिकरणव्यावृत्त्यर्थं कैवल्यादिविशेषोऽवश्यमधिकरणे वक्तव्यः, तथाच स एवाभावः; अन्यथा तेषामप्यनुपपत्तिरेवेति—वाच्यम्; यस्मिन्कदापि न प्रतियोगिसम्बन्धः, तस्मिन्स्वरूपोऽभेद एव कैवल्यम्। यस्मिंश्च कदाचित् सोऽपि, तदा तस्मिन् प्रतियोगिमदधिकरणकालभिन्नकालावच्छिन्नमधिकरणमिति न कैवल्यस्याधिकरणातिरेकः, नवानुपपत्तिरिति। न च—एवं गुणगुण्यभेदवादिमते शौक्ल्यादेरिव शक्त्यादेरपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— यदि अभाव को अधिकरण स्वरूप मानते हैं तब अन्योन्याभाव भी अधिकरण स्वरूप होगा। तब ब्रह्म में जो मिथ्या प्रपञ्च का भेद है, वह भेद भी ब्रह्मस्वरूप होने के कारण सत्य हो जायेगा।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी के कथन में इष्टापत्ति है, क्योंकि अनृत प्रतियोगिक भेद में अनृत निरूपितत्व धर्म मिथ्या है, क्योंकि उस धर्म का निरूपक अनृत मिथ्या है। अतः उक्त धर्म मिथ्या है किन्तु भेद ब्रह्मस्वरूप होने के कारण सत्य है।।५।।

शङ्का— (पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने जिस प्राभाकर मत का आश्रयकर के अभाव को अधिकरण स्वरूप मानकर ब्रह्मगत सद्वितीयत्व की आपत्ति का निराकरण किया। उस प्राभाकर मत में विचार पूर्वक देखा जाय तो अभाव अधिकरण स्वरूप नहीं है अपितु अधिकरण गत कैवल्य पदार्थ ही अभाव रूप है। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि) प्राभाकर मत में लेखनी का अभाव उसी पुस्तक स्वरूप होगा जिस पुस्तक पर लेखनी अभाव का प्रतियोगी लेखनी नहीं है। अतः लेखनी का अभाव लेखनी विशिष्ट पुस्तक स्वरूप न हो जाय इसकी व्यावृत्ति के लिए अधिकरण (पुस्तक) का विशेषण केवलत्व (प्रतियोगी = लेखनी से रहितत्व) देना होगा। अतः अधिकरण गत केवलत्व पदार्थ को ही अभाव रूप मानना उचित है। अर्थात् अभाव को अधिकरण स्वरूप मानने की आवश्यकता नहीं है। अन्यथा = अधिकरण का विशेषण केवलत्वादि न देने पर प्राभाकर मत के अनुसार भी जिस अधिकरण (पुस्तक) में प्रतियोगी (लेखनी) है। उस अधिकरण स्वरूप (लेखनी के) अभाव को नहीं माना जा सकेगा। अतः अभाव को अधिकरण स्वरूप मानकर ब्रह्म गत सद्वितीयत्व की आपत्ति जो दी गयी थी, उसका निवारण नहीं हो सकता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने जो कहा कि अधिकरण से अतिरिक्त और अधिकरण में रहने वाला केवलत्व पदार्थ है। उसको ही अभाव स्वरूप माना जाता है। यह उचित नहीं है, क्योंकि अधिकरण से अतिरिक्त केवलत्व पदार्थ ही नहीं है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जिस अधिकरण = वायु में रूपाभाव के प्रतियोगी रूप का कदापि सम्बन्ध नहीं हुआ है। उस स्थल पर अधिकरण जो अभेद है, उसी का नाम कैवल्य है। अतः इस मत मे भी कैवल्य अधिकरण स्वरूप होने के कारण अभाव अधिकरण स्वरूप ही सिद्ध होता है। जिस भूतल में कदाचित् प्रतियोगी (घट) का सम्बन्ध भी रहता है। इस स्थल पर प्रतियोगिविशिष्ट अधिकरण का जो काल है। उस काल से भिन्न काल से अवच्छिन्न जो अधिकरण है वही कैवल्य है। अतः इस मत में भी कैवल्य = अधिकरण स्वरूप है। अतः प्राभाकर मत में अनुपपत्ति नहीं है। इसलिए प्राभाकर मतानुसार अभाव को अधिकरण स्वरूप मानकर ब्रह्मगत सद्वितीयत्वापत्ति का जो निवारण किया गया था, वह उचित ही है।

शङ्का— एवम् = कैवल्य रूप भाव धर्म को अधिकरण से अतिरिक्त न मानने पर, गुण और गुणी में अभेद मानने वाले वादी के मत में जैसे शुक्लत्वादि गुण को पटादि गुणी से अभिन्न माना जाता है वैसे

भावरूपधर्मस्य ब्रह्माभेदोऽस्त्विति—वाच्यम्; शक्त्यादिना सहाभेदग्राहकमानाभावात्। अस्तु वा द्वितीयाभावोपलक्षितस्वरूपत्वमद्वितीयत्वम्, तस्य चाप्रामाणिकत्वेऽपि तत्प्रतियोगिनो द्वितीयस्य स्वप्नोपभुक्तनिगरणादाविव प्रामाणिकत्वानापत्तेः।।६।।

एतेन—द्वितीयाभावस्य प्रागभावादित्वे द्वितीयस्यानित्यत्वमात्रं स्यात्, नतु मिथ्यात्वम्, अत्यन्ताभावत्वे तूपलक्षणत्वानुपपत्तिः, सदातनत्वात्, श्रुतितात्पर्य्यविषयत्वादिकार्यानन्वयित्वेन उपलक्षणत्वेऽत्यन्ता भावासिद्धिः। एवञ्च ''द्वैताभावस्तात्त्विकश्चेत् तेन स्यात् सद्वितीयता। अतात्त्विकश्चेत् द्वैतेन सद्वितीयत्वमापतेत्।।' इति—परास्तम्;

सत्यानन्दप्रबोधिका

ही भावरूप शक्त्यादि धर्मों को भी ब्रह्म से अभिन्न मान लेना चाहिए, क्योंकि कैवल्य रूप भाव धर्म को अधिकरण स्वरूप मान ही रहे हैं। शक्ति को ब्रह्म से अभिन्न मानने पर ब्रह्म के जैसे शक्ति और शक्ति कार्य सत्य होने जाने से द्वैतापत्ति होगी।

समाधान—सिद्धान्ती का कथन है कि कैवल्य रूप भाव धर्म को अधिकरण स्वरूप इसलिए माना जाता है, क्योंकि ऐसा मानने में अनुपलब्धि आदि प्रमाण हैं। जबकि ब्रह्मगत शक्त्यादि भाव रूप धर्मों को ब्रह्म से अभिन्न मानने में प्रमाण नहीं है। अतः ब्रह्म और शक्त्यादि में अभेद नहीं माना जाता है। अभी तक अभाव को अधिकरण स्वरूप मानकर समाधान दिया गया। अब अभाव को अधिकरण से अतिरिक्त मानकर समाधान दिया जायेगा। उसमें भी अधिकरण से अतिरिक्त जो अभाव है वह प्रामाणिक नहीं है अपितु अप्रामाणिक है— इसको मानकर कह रहे हैं कि द्वितीयाभावोपलक्षित स्वरूपत्व को अद्वितीयत्व मानना भी युक्ति युक्त है। द्वितीयाभाव में अप्रामाणिकत्व होने पर भी द्वितीयाभाव के प्रतियोगी द्वितीय में (द्वैत में) भी अप्रामाणिकत्व (मिथ्यात्व) ही है क्योंकि जैसे स्वप्न में प्रतीयमान निगरण जैसे मिथ्या है, ऐसे ही निगरण क्रिया का कर्म = अन्न भी मिथ्या है। वैसे ही द्वितीयाभाव जैसे दृश्य होने के कारण मिथ्या है वैसे ही द्वितीय भी दृश्य होने के कारण मिथ्या है। अर्थात् द्वितीयः मिथ्या, दृश्यत्वात्, द्वितीयाभाववत्। ''तस्य चाप्रामाणिकत्वेऽपि'' के स्थान पर ''तस्य च प्रामाणिकत्वेऽपि'' ऐसा पाठान्तर भी है। किन्तु श्री कैलास आश्रम के परम पूज्य श्री बड़े महाराज जी की पुस्तक में ''तस्य चाप्रामाणिकत्वेऽपि'' ऐसा पाठ है, जो कि उचित भी है।।६।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि द्वितीयाभावोपलक्षित स्वरूपत्व के घटक द्वितीयाभाव को प्रागभावादि रूप मानने पर जैसे घट प्रागभाव का प्रतियोगी घट के जन्य होने से घट में अनित्यत्व माना जाता है वैसे ही द्वितीय प्रागभाव के प्रतियोगी द्वितीय के जन्य होने से उसमें अनित्यत्व ही सिद्ध होगा, मिथ्यात्व नहीं। द्वितीयाभाव को अत्यन्ताभाव रूप मानने पर द्वितीयाभाव को उपलक्षण नहीं माना जा सकता है क्योंकि कादाचित्क वस्तु ही उपलक्षण होती है, जबकि अत्यन्ताभाव कादाचित्क नहीं है अपितु नित्य है। विशेषण कार्यान्वयी होता है और उपलक्षण कार्यानन्वयी होता है। यदि सिद्धान्ती द्वितीयाभाव में उपलक्षणता सिद्ध करने के लिए श्रुति तात्पर्य विषयत्व रूप कार्य के साथ द्वितीयाभाव का अनन्वय मानते हैं। अर्थात् श्रुति का तात्पर्य केवल ब्रह्म बतलाने में है द्वैत का अत्यन्ताभाव बतलाने में नहीं है। इस प्रकार श्रुति तात्पर्य विषयत्व रूप कार्य के साथ अन्वय न मानकर द्वितीयाभाव में उपलक्षणता सिद्ध करते हैं तब श्रुति तात्पर्य विषयत्वेन श्रुति प्रमाण सिद्धत्व द्वितीयात्यन्ताभाव में नहीं रहेगा और अन्य प्रमाण सिद्धत्व पहले से ही नहीं है। अतः द्वितीयात्यन्ताभाव की असिद्धि होगी। फलतः यह अर्थ सिद्ध होगा कि द्वैताभाव यदि तात्त्विक है तब उस द्वैताभाव से ब्रह्मगत सद्वितीयत्व की आपत्ति होगी। यदि द्वैताभाव अतात्त्विक है तब द्वैताभाव के प्रतियोगी द्वैत से ब्रह्मगत सद्वितीयत्व की आपत्ति होगी।

स्वरूपातिरेकतया तत्प्रमाया अनुद्देश्यत्वात्; तद्बोधस्यावान्तरतात्पर्येण यथाकथञ्चित् सम्भवात्, तात्त्विकत्वे ब्रह्मानतिरेकात्, अतात्त्विकत्वे स्वप्ननिगरणन्यायस्योक्तत्वात्। उपपादितञ्चैतद् विस्तरेण प्रागिति शिवम्।।७।।

ननु—ब्रह्मण एव यन्नित्यत्वमभिमतं, तत् किं सर्वकालसम्बन्धित्वं वा; कालावच्छेदराहित्यं वा, ध्वंसाप्रतियोगित्वं वा, उभयावधिराहित्यं वा। नाद्यौ; अविद्यायां काले चातिव्याप्तेः, अविद्यायाः सर्वकालोपादानत्वेन तत्सम्बन्धनियमादिदानीमेव नान्यदेत्येवंरूपतदवच्छेदरहितत्वाच्च। न तृतीयः; ध्वंसेऽतिव्याप्तेः। न च ध्वंसोऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— पूर्वपक्षी का उक्त कथन इसलिए निरस्त हो जाता है कि ब्रह्म स्वरूप भिन्नत्वेन द्वितीयाभाव की प्रमा कराने में श्रुति के मुख्य तात्पर्य की विषयता नहीं है अपितु श्रुति के अवान्तर तात्पर्य की विषयता द्वितीयाभाव में मानी जाती है। अर्थात् श्रुति द्वितीयाभाव को द्वार के रूप से बतलाती हुयी अद्वितीय तत्त्व का बोध कराती है। इसलिए श्रुति के अवान्तर तात्पर्य की विषयता को लेकर द्वितीयात्यन्ताभाव की सिद्धि हो जायेगी और द्वितीयात्यन्ताभाव में श्रुति के मुख्य तात्पर्य विषयता के अनन्वय को लेकर द्वितीयात्यन्ताभाव में उपलक्षणता की सिद्धि हो जायेगी। फलतः द्वितीयात्यन्ताभाव यदि तात्त्विक है तब वह ब्रह्म से अभिन्न अर्थात् ब्रह्म स्वरूप है और यदि अतात्त्विक है तब स्वाप्न निगरण और अन्न दोनों जैसे मिथ्या होते हैं वैसे ही द्वितीय और द्वितीयात्यन्ताभाव दोनों ही मिथ्या होते हैं। अतः ब्रह्मगत सद्वितीयत्व की आपत्ति नहीं होगी। यह विषय पहले ही विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार से अद्वितीयत्व का निरूपण सूपपन्न हो गया।।७।।

शङ्का— सिद्धान्ती को अभिमत जो केवल ब्रह्मगत नित्यत्व है, वह क्या (१) सर्वकाल सम्बन्धित्व रूप है ? या (२) कालावच्छेदराहित्यरूप है? (अर्थात् जो पदार्थ इस काल में है और उस काल में नहीं है। वह पदार्थ कालावच्छिन्न होता है किन्तु ब्रह्म ऐसा कालावच्छिन्न नहीं है।) या (३) ध्वंस का अप्रतियोगित्व रूप है? या (४) पूर्वावधि तथा उत्तरावधि एतदुभयावधिराहित्य रूप है? (अर्थात् प्रागभाव और ध्वंसाभाव दोनों से रहित है।) प्रथम और द्वितीय दोनों ही पक्ष ठीक नहीं है,क्योंकि इन दोनों लक्षणों की अविद्या और काल में अतिव्याप्ति है,क्योंकि अविद्या सर्वकाल का उपादान कारण होने से नियमतः सर्वकाल सम्बन्धी है। अतः अविद्या में प्रथम लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। इस समय है और उस समय नहीं है— ऐसा जो कालावच्छेद उससे रहित अविद्या है। अतः अविद्या में द्वितीय लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। प्रथम लक्षण की काल में अतिव्याप्ति इस प्रकार से होगी यद्यपि काल अपने से सम्बन्धी नहीं है तथापि न्यायादि में अत्यन्त अभेद में भी तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार किये जाने से काल भी काल का सम्बन्धी हो जायेगा। अन्य मत में दिन मास आदि उपाधियों में से एक उपाधि से अवच्छिन्न काल दूसरी उपाधि से अवच्छिन्न काल से सम्बन्धी हो जायेगा। इस प्रथम लक्षण की अतिव्याप्ति काल में होगी। इस ही काल में है अन्य काल में नहीं—इत्याकारक जो कालकृत परिच्छेद रहितत्व काल में भी है। अतः द्वितीय लक्षण की अतिव्याप्ति काल में हो जाती है। ध्वंसाप्रतियोगित्व रूप तृतीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि ध्वंस का ध्वंस न होने से ध्वंस में अतिव्याप्ति होगी। ध्वंस का ध्वंस मानने पर प्रतियोगी के पुनः उज्जीवन (आविर्भाव) की आपत्ति होगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ध्वंस भी ध्वंस का प्रतियोगी होता है। यह जो कहा कि घट ध्वंस का ध्वंस मानने पर प्रतियोगिभूत घट का पुनराविर्भाव होना चाहिए। इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि प्रतियोगी की उत्पत्ति इसलिए नहीं होगी कि घट प्रागभाव का ध्वंस रूप जो घट है। उस घट का ध्वंस होने पर जैसे प्रागभाव का पुनराविर्भाव नहीं मानते हो उसी प्रकार से घट ध्वंस का भी ध्वंस होने पर भी प्रतियोगी घट

ध्वंसप्रतियोगी, प्रतियोग्यनुन्मज्जनं तु प्रागभावनिवृत्तिरूपस्य घटस्य निवृत्तावपि प्रागभावानुन्मज्जन—वद्युक्तमिति वाच्यम्, एवं सति मोक्षेऽप्यात्मान्यस्य कस्यचिद् ध्वंसस्य वक्तव्यतया लाघवार्थमाद्यध्वंसनित्यताया एव युक्तत्वात्। न च—ध्वंसस्य नित्यत्वेऽपि भावेषु ब्रह्मैव नित्यम्—इति वाच्यम्; निष्प्रतियोगिकत्वेन भावस्य ध्वंसत्वादेरपि नित्यत्वावश्यम्भावात्। न चतुर्थः; एवं परिभाषायामपि ब्रह्मण एव नित्यत्वमित्येतत्फलस्य मुक्तावन्याभावस्यासिद्धिरिति चेत्।।८।।

न, चतुर्थपक्षस्य क्षोदसहत्वात्। न च—अन्त्यावधिरहितस्य ब्रह्मान्यस्य मुक्तावसत्त्वं न सिद्धमिति वाच्यम्;

सत्यानन्दप्रबोधिका

का पुनाविर्भाव नहीं होगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ध्वंस का ध्वंस मानने पर जैसे प्रथम ध्वंस का ध्वंस होता है वैसे ही द्वितीय तृतीय ध्वंस का भी ध्वंस मानना पड़ेगा। इस प्रकार ध्वंस धारा की अनवस्था से बचने के लिए मोक्ष में एक कोई अन्तिम ध्वंस मानना पड़ेगा, जिसका ध्वंस नहीं होता है। अर्थात् एक नित्य ध्वंस मानना पड़ेगा और वह नित्य ध्वंस जन्य होने के कारण आत्मा से भिन्न ही होगा। ऐसा होने पर द्वैतापत्ति होगी। इस दोष से बचने के लिए अन्तिम ध्वंस को नित्य मानने की अपेक्षा से लाघव के लिए प्रथम ध्वंस को ही नित्य मानना उचित होगा। प्रथम ध्वंस नित्य होने पर ध्वंसाप्रतियोगित्व उसमें चला जायेगा और अतिव्याप्ति होगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रथम द्वितीयादि ध्वंस का ध्वंस मानेंगे और मोक्ष में नित्यध्वंस मानेंगे ऐसा मानने पर ध्वंस में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी और मोक्ष में द्वैतापत्ति नहीं होगी क्योंकि भाव पदार्थों में केवल ब्रह्म ही नित्य है। अत: भावाद्वैतपक्ष में कोई दोष नहीं होगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि अभाव सप्रतियोगिक होता है और भाव निष्प्रतियोगिक होता है। अत: मोक्ष में रहने वाला जो नित्य ध्वंस है उस ध्वंस में जो ध्वंसत्व है। वह तो निष्प्रतियोगिक होने के कारण भाव पदार्थ है। उस भाव पदार्थ ध्वंसत्व के नित्य होने के कारण मोक्ष में भावाद्वैत भी सुरक्षित नहीं रहेगा। उभयावधिराहित्यरूप चतुर्थ पक्ष भी नहीं माना जा सकता है,क्योंकि ''एवं परिभाषायामपि= ब्रह्म में अवधि द्वय राहित्य है—ऐसा कहने पर यह सिद्ध हो जाता है कि मुक्ति में ब्रह्म में उक्तविध नित्यत्व है किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि मुक्ति में उक्त विध नित्यत्व वाले ब्रह्म से भिन्न अन्य पदार्थ का अभाव है। कहने का भाव यह है कि मुक्ति में किसी जन्य का सत्व होने पर भी ब्रह्म में उक्त विधि नित्यत्व सिद्ध हो जायेगा। जैसे मुक्ति में उक्त विध नित्यत्व वाला ब्रह्म है— ऐसा होने पर भी ध्वंस से रहित = जो जन्य होने पर भी ध्वंस से रहित है। अर्थात् उसका प्रागभाव रूप प्रथम अवधि नहीं है, क्योंकि वह तो जन्य है किन्तु ध्वंस नहीं हुआ है। अत: ध्वंस रूप द्वितीय अवधि से रहित है—ऐसा पदार्थ भी मुक्ति में रहेगा। फलत: अद्वितीयत्व रूप विशेषण असिद्ध हो जाता है।८।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उभयावधिराहित्य रूप चतुर्थ पक्ष को स्वीकार कर सभी प्रकार के दोषों का निवारण किया जा सकता है। चतुर्थ पक्ष को स्वीकार करने पर पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि मुक्ति में उक्त विधनित्यत्व वाले ब्रह्म के रहने पर भी उस ब्रह्म से अन्य कोई अन्तिम अवधि (ध्वंस) से रहित नित्य पदार्थ का असद्भाव सिद्ध न होने से अद्वितीयत्व विशेषण व्यर्थ है—ऐसा कथन पूर्वपक्षी का उचित नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी जो मुक्ति में एक जन्य पदार्थ मानकर के सिद्धान्त पक्ष पर उक्त दोष दिया किन्तु वह पदार्थ उभयावधि रहित न होने के कारण नित्य नहीं होगा। इसलिए ब्रह्म ही एक मात्र नित्य सिद्ध होगा। ऐसा होने से अद्वितीयत्व रूप विशेषण के सिद्ध न होने पर भी जिसकी सिद्धि का प्रसङ्ग चल रहा है ऐसा नित्यत्वरूप विशेषणान्तर तो सिद्ध हो जाता है। अद्वितीयत्व

विशेषणान्तरस्यैव सिद्धेः। अत एव—

'काले कालापरिच्छिन्ने ध्वंसे चाध्वंसयोगिनि। नित्ये सति कथं नित्यं ब्रह्मैवेति मतं तव॥'

इति—निरस्तम्; कालस्याप्याविद्यकत्वेनान्त्यावधिमत्त्वात्, ध्वंसस्याध्वंसप्रतियोगीत्वेऽपि आद्यावधिमत्वाच्च। नच तावता सद्वितीयत्वम्; तात्त्विकस्य द्वितीयस्यैवमप्यभावात्। न चैवमतात्त्विकत्वे ध्वंसनिवृत्तिः; इष्टत्वात्। न च प्रतियोग्युन्मज्जनम्; तादृग्ध्वंसोपलक्षितस्वरूपस्यैव विरोधित्वात्, प्रागभावस्य प्रतियोगिध्वंसादाविव॥९॥

ननु—कथं दृग्रूपस्य ब्रह्मणः साक्षाद्द्रष्टृत्वरूपं साक्षित्वम्? 'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्' इत्यनुशासनात्

सत्यानन्दप्रबोधिका

रूप सिद्धि का प्रकार पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। इसलिए काल से अपरिच्छिन्न काल के नित्य होते हुए और ध्वंसाप्रतियोगी ध्वंस के नित्य होते हुए ब्रह्म ही नित्य है— ऐसा सिद्धान्ती का जो मत है— वह उचित नहीं है— ऐसा जो पूर्वपक्षी का कथन है, वह खण्डित हो गया, क्योंकि अविद्या और चित् के सम्बन्ध को काल कहा जाता है। वह अविद्या प्रयुक्त है। इसलिए अविद्या के नाश होने पर काल का भी नाश हो जाता है। अतः ध्वंस प्रतियोगित्व काल में चले जाने से अन्त्यावधिवाला ही काल हो गया। अतः उभयावधिराहित्य काल में न रहने से काल को नित्य नहीं मान सकते हैं। इसी प्रकार ''तुष्यतु दुर्जनः'' इस न्याय से ध्वंस का ध्वंस न माने तो भी जो घट हैं। उसमें ध्वंस का प्रागभाव रहता है। इस प्रकार से आद्य अवधि (प्रागभाव)से युक्त ध्वंस होता है। अतः ध्वंस में उभयावधिराहित्य न होने से नित्यत्व नहीं रहेगा। यदि कहा जाय कि ध्वंस का ध्वंस न मानने पर द्वैतापत्ति होगी तो ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से उभयावधिराहित्य रूप नित्यत्व ध्वंस में तो नहीं है। अतः उक्त ध्वंस में तात्त्विकत्व रहेगा नहीं। इस प्रकार अतात्त्विक ध्वंस के रहने पर भी तात्त्विक द्वैत के न रहने के कारण द्वैतापत्ति नहीं होगी। यदि कहा जाय कि ध्वंस को अतात्त्विक मानने पर ध्वंस के निवृत्ति की निवृत्ति माननी पड़ेगी। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि अतात्त्विक ध्वंस का ध्वंस होना हमारे लिए अभीष्ट ही है। यदि कहा जाय कि ध्वंस का ध्वंस मानने पर प्रतियोगी के उन्मज्जन का प्रसङ्ग होगा, ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि अधिष्ठान भूत ब्रह्म ही ध्वंस का ध्वंस स्वरूप है। जो घट ध्वंस तत्त्वज्ञान से जन्य नहीं है वही घट ध्वंस घट की सूक्ष्मावस्था के रूप से (घट के टुकड़े के रूप से) उत्पन्न होता है और जो तत्त्वज्ञान से अविद्यादि का ध्वंस होता है वह तो ब्रह्म स्वरूप होने के कारण उत्पन्न नहीं होता है। ऐसा ध्वंस का ध्वंस रूप जो ब्रह्म है। वही प्रतियोगी के उन्मज्जन का विरोधी है। जैसे घट प्रागभाव का ध्वंस = घट। उसका ध्वंस = घट प्रागभाव के ध्वंस का ध्वंस = कपाल स्वरूप। वही कपाल स्वरूप जो कि घट के प्रागभाव के ध्वंस का ध्वंस स्वरूप है। वही घट प्रागभाव के उन्मज्जन का विरोधी है। अर्थात् घट जब कपाल अर्थात् टुकड़े टुकड़े के रूप में होगा तब वही घट पुनः उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतः उस घट का प्रागभाव भी पुनः उन्मज्जन नहीं हो सकता है।।९।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती जब ब्रह्म को ज्ञान स्वरूप मानते हैं तब ज्ञान स्वरूप ब्रह्म को साक्षी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि ''साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्'' (अ०सू० ५—३—१९) इस सूत्र से कहा गया है कि किसी दृश्यवस्तु के साक्षात् द्रष्टा को साक्षी कहा जाता है। घटादि दृश्यवस्तु के साक्षात् द्रष्टा = साक्षी = ज्ञान स्वरूप ब्रह्म होगा। ऐसा होने पर ज्ञान स्वरूप ब्रह्म (साक्षी) का नाश न होने के कारण घटादि दृश्यवस्तु के ज्ञान से जन्य संस्कार उत्पन्न नहीं होगा और संस्कार के न रहने पर संस्कार जन्य स्मृति की सिद्धि नहीं हो पायेगी।

इति—चेत्, अविद्यातत्कार्यान्यतरप्रतिफलितचैतन्यस्यैव साक्षित्वात्। तथा च दृग्रूपस्यापि उपाधिना द्रष्टृत्वम्। न चोपाधेरपि साक्ष्यधीनसिद्धिकप्रातीतिकाविद्याकार्यत्वेन चक्रकाद्यापत्तिः; उत्पत्तिज्ञप्तिप्रतिबन्धस्याभावाद—विद्यातदुपाधिकद्रष्टृत्वयोरुभयोरप्यनादित्वात्।।१०।।

ननु—साक्षी जीवकोटिर्वा, ब्रह्मकोटिर्वा, उभयानुगतं चिन्मात्रं वा। नाद्यः; जीवो बुध्युपाधिकोऽणुरिति पक्षे

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अविद्या में प्रतिबिम्बित जो चित् वह साक्षी है। अथवा अविद्या का कार्य जो वृत्ति है, उस अविद्या वृत्ति में प्रतिबिम्बित चित् को साक्षी कहते हैं। (यहाँ अविद्योपहित को साक्षी इसलिए नहीं कहा गया कि व्यवहार काल में अविद्योपहित का नाश न होने से संस्कार की उत्पत्ति नहीं हो पायेगी। संस्कार के न होने पर पूर्वानुभूत शुक्तिरजतादि का स्मरण नहीं हो पायेगा।) इस प्रकार ज्ञान स्वरूप शुद्ध ब्रह्म साक्षात् द्रष्टा (साक्षी) न होने पर भी उपाधि (अविद्या या अविद्या की वृत्ति) के माध्यम से शुद्ध ब्रह्म साक्षी बनता है। अत: उपाधि के नाश से साक्षी ज्ञान का नाश होने से संस्कार की उत्पत्ति हो जायेगी और संस्कार के होने से स्मृति की सिद्धि हो जायेगी।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि साक्षी की सिद्धि के लिए शुद्ध ब्रह्म की दो उपाधि सिद्धान्ती ने माना। उसमें से अविद्या वृत्ति को उपाधि मानने पर चक्रक दोष होगा और अविद्या को उपाधि मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि साक्षी की उपाधि रूप जो अविद्या वृत्ति है। उस अविद्या वृत्ति रूप कार्य का कारण जो प्रातीतिक अविद्या है, उस अविद्या की सिद्धि साक्षी के अधीन है, इसलिए चक्रक दोष होगा। जैसे— साक्षी से अविद्या की सिद्धि होती है और अविद्या की सिद्धि से अविद्या के कार्य अविद्यावृत्ति की सिद्धि होती है और अविद्या वृत्ति की सिद्धि से तदुपहित साक्षी की सिद्धि होती है। अत: चक्रक दोष है। अन्योन्याश्रय दोष इस प्रकार से होगा— अविद्या की सिद्धि में साक्षी की अपेक्षा है और साक्षी की सिद्धि में अविद्या रूप उपाधि की अपेक्षा है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उत्पत्ति, ज्ञप्ति और स्थिति में चक्रकादि दोषरूप प्रतिबन्धक का अभाव है, क्योंकि अविद्या और अविद्योपाधिक साक्षी दोनों अनादि है। कहने का भाव यह है कि अविद्या या तद्वृत्ति से उपहित को साक्षी कहे जाने के कारण यद्यपि साक्षी के ज्ञान में अविद्या या तद्वृत्ति के ज्ञान की अपेक्षा है। इस प्रकार प्रथम कोटि स्वीकार होने पर भी अपर कोटि—अविद्या या तद्वृत्ति के ज्ञान में साक्षिविषयक ज्ञान की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि अविद्या या तद्वृत्ति का ज्ञान साक्षिस्वरूप है। अत: ज्ञप्ति में अन्योन्याश्रयदोष नहीं है। अविद्या की उत्पत्ति में साक्षी की अपेक्षा नहीं होती है और साक्षी की उत्पत्ति में अविद्या की अपेक्षा नहीं होती है, क्योंकि दोनों अनादि है। इसी प्रकार वृत्त्युपाधिपक्ष में वृत्ति की उत्पत्ति में साक्षी की अपेक्षा नहीं और साक्षी की उत्पत्ति में वृत्ति की अपेक्षा नहीं, क्योंकि वत्सयुग्मशृङ्ग के जैसे दोनों में समसमयत्व है। फलत: अविद्या या तद्वृत्ति के उत्पत्ति पक्ष में भी अन्योन्याश्रयदोष नहीं है। इसी प्रकार स्थिति पक्ष में भी अन्योन्याश्रयदोष (उपाधि साक्षी में स्थित (आश्रित) है और साक्षी उपाधि में स्थित है— ऐसा अन्योन्याश्रय दोष) नहीं होगा, क्योंकि उपाधि स्वोपहित साक्षी में स्थित होने पर भी उपहित चित् उपाधि में स्थित नहीं है, अपितु शुद्ध चित् में ही आश्रित है।।१०।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के द्वारा सम्मत जो साक्षी पदार्थ है। वह क्या (१) जीव कोटि में माना जाता है? या (२) ब्रह्म कोटि में माना जाता है? या (३) उभयानुगत चैतन्य मात्र माना जाता है। जीव कोटि में साक्षी आता है—यह प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि जीव बुद्धि रूप उपाधि वाला है और अणु (असर्वगत अर्थात् मध्यम परिमाण वाला) है। इस पक्ष में इदमंशावच्छिन्न चैतन्य जो कि

इदमंशावच्छिन्नचिद्वेद्यस्य शुक्तिरूप्यस्य साक्षिवेद्यत्वायोगाच्चक्रकाद्यापातात्, अज्ञानोपाधिकः सर्वगत इति पक्षेऽप्यज्ञानस्यापि साक्ष्यधीनसिद्धिकत्वेनान्योन्याश्रयात्। न द्वितीयः; ब्रह्मण एव साक्षिवेद्यदुःखादिधीः न जीवस्येति वैपरीत्यापातात्, अन्यथा अनवच्छिन्नानन्दधीरपि जीवस्येति स्यात्, ब्रह्मचैतन्यं घटादिप्रकाशकमिति मते अज्ञानाभिभवद्वारा तस्य जीवचैतन्याभेदाभिव्यञ्जकान्तःकरणवृत्तिवत्तादृशवृत्त्यभावाच्च। न तृतीयः; ईश्वरेणेव चिन्मात्रेणापि संसारिदुःखस्य तद्गतत्वेन ग्रहणेऽपि यद्भागो मुक्तस्तस्य चिन्मात्रस्य दुःखाद्युल्लेखरूपोपप्लवापातात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शुक्तिरजत का अधिष्ठान चैतन्य होने के कारण शुक्तिरजत इदमंशावच्छिन्न चैतन्य से वेद्य होता है। अब शुक्तिरजत साक्षिवेद्य तभी हो पायेगा जब साक्षिचैतन्य इदमंशावच्छिन्न चैतन्य एक हो जाय। परन्तु जीव रूप साक्षी की उपाधि जो बुद्धि वह अन्दर है और मध्यम परिमाण वाली है और इदमंशावच्छिन्न चैतन्य की उपाधि इदम् बाहर है। अतः उक्त दोनों चेतन एक नहीं हो पायेगा। अतः शुक्तिरजत साक्षी वेद्य सिद्ध नहीं होगा। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि वृत्ति के द्वारा अन्तःकरण के इदम् देश पर पहुंचने पर दोनों उपाधि (अन्तःकरण और इदम्) एक देशस्थ होने से दोनों चैतन्य एक हो जाने से शुक्तिरजत साक्षी वेद्य हो जायेगा। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त प्रकार से मानने पर चक्रक —अन्योन्याश्रय दोष होगा। (जैसे बुद्ध्युपाधिक जीव पक्ष में बुद्ध्युपहित का इदमंशावच्छिन्न चैतन्य के साथ अभेद मानकर शुक्तिरजत में साक्षिवेद्यत्व कहना पड़ेगा। अतः बुद्ध्युपहित जीव के साक्षित्व सिद्धि के लिये अभेद की कल्पना होगी और अभेद की कल्पना होने पर शुक्तिरजत में साक्षिवेद्यत्व की सिद्धि होगी और शुक्तिरजत में साक्षिवेद्यत्व की सिद्धि होने पर बुद्ध्युपहित जीव रूप साक्षी की सिद्धि होगी। इस प्रकार से चक्रक दोष होगा। इसी प्रकार शुक्तिरजत में साक्षिवेद्यत्व की सिद्धि होने पर उक्त चैतन्यद्वय के अभेद की सिद्धि होगी और अभेद की सिद्धि होने पर साक्षिवेद्यत्व की सिद्धि होगी। इस प्रकार से अन्योन्याश्रय दोष होगा।) अज्ञानोपाधिक सर्वगत जीव को साक्षी मानने पर अज्ञान की सिद्धि में साक्षी और साक्षी की सिद्धि में अज्ञान की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रयदोष होगा। ब्रह्म की कोटि में साक्षी है—ऐसा द्वितीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि साक्षिवेद्य दुःखादि का ज्ञान ब्रह्म को ही होगा, जीव को नहीं। इस प्रकार विपरीतता की प्रशक्ति होगी। अन्यथा = दुःखादि के ब्रह्म वेद्यत्व से ही जीव वेद्यत्व मानने पर, अनवच्छिन्न आनन्द के ब्रह्मवेद्यत्व से ही अनवच्छिन्न आनन्द में जीववेद्यत्व भी मानने की आपत्ति होगी। यदि कहा जाय कि यद्यपि ब्रह्म ही साक्षी है तथापि वृत्ति के माध्यम से वृत्त्यवच्छिन्नब्रह्म चैतन्य के साथ जीव का अभेद हो जाने पर जीव भी साक्षी हो जाता है। अनवच्छिन्न आनन्द जीव के प्रति आवृत्त होने के कारण जीव को अनवच्छिन्न आनन्द का भान नहीं होता है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि ब्रह्म चैतन्य ही घटादि का प्रकाशक है, जीव नहीं। इस मत में सिद्धान्ती यह कह सकते हैं कि जीव को जब घटाद्याकार मनोवृत्ति बनती है तब उस मनोवृत्ति के द्वारा अज्ञान का नाश हो जाने पर ब्रह्म चैतन्य और जीव चैतन्य के अभेद की अभिव्यक्ति हो जाने पर घटादि ब्रह्मवेद्य हो जाने से जीव वेद्य भी हो जाता है, परन्तु जब तक जीव को दुःखाद्याकार मनोवृत्ति नहीं बनती तब तक न अज्ञान का अभिभव होगा, न ब्रह्म चैतन्य और जीव चैतन्य के अभेद की अभिव्यक्ति होगी और न दुःखादिजीव वेद्य होगा। अतः दुःखादि के ब्रह्मवेद्यत्व से जीववेद्यत्व हो जायेगा, यह कथन अनुचित है। यदि कहा जाय कि सुखदुःखादि का आवरण होता ही नहीं। अतः दुःखादि के भान के लिये मनोवृत्ति की अपेक्षा नहीं होती है। अतः दुःखादि में ब्रह्म वेद्यत्व होने से ही जीववेद्यत्व की उपपत्ति हो जाती है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि जीव को जब घटाकार मनोवृत्ति बनेगी तब दुःखादि के साथ भी स्वतः जीव का सम्बन्ध हो जाने से

सुप्तमैत्रं प्रति मैत्रीयाज्ञानादेर्मैत्रीयतयेव जाग्रच्चैत्रीयदुःखादेरपि चैत्रीयतया सुप्तमैत्रं प्रति प्रतीतिप्रसङ्गेण मैत्रेणैतावन्तं कालं दुःखं नावेदिषमिति परामर्शायोगादिति—चेत्।।११।।

न; शुद्धब्रह्मातिरिक्तस्य बुध्युपाधिकजीवातिरिक्तस्य साक्षिणोऽङ्गीकृतत्वेन तत्पक्षोक्तदोषाभावात्। तथा चाविद्यावृत्तिप्रतिफलितं चैतन्यं साक्षी; सुप्तावप्यविद्यावृत्तिस्वीकारस्य प्रागुक्तेः। न चान्योन्याश्रयः, प्रागेव निरासात्, शुद्धस्य साक्षित्वाभावेन मुक्तोपप्लवापाताभावात्। यत्तु सुप्तमैत्रे चैत्रदुःखग्रहणापत्त्या एतावन्तं कालं दुःखं नावेदिषमिति परामर्शविरोध उक्तः, तन्न; साक्षिणः सर्वजीवसाधारण्येऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

दुःखादि का साक्षी जीव को मानना सम्भव हो जाने के कारण ब्रह्म को साक्षी मानना उचित नहीं है। यह पूर्वपक्षी का भाव है। उभयानुगत चैतन्य मात्र साक्षी पदार्थ है— ऐसा तृतीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ईश्वर को जैसे संसारी (जीव) गत दुःख का संसारनिष्ठत्वेन ही ज्ञान होता है न कि ईश्वर निष्ठत्वेन। उसी प्रकार उभयानुगत चिन्मात्र को भी जीव गत दुःख का जीवगतत्वेन ज्ञान यद्यपि हो जायेगा तथापि चिन्मात्र का जो भाग (अंश = जीव) जब मुक्त हो जायेगा तो वह भी चिन्मात्र हो जायेगा तब उसको भी दुःख का ज्ञान हो जाना रूप उपप्लव = दोष की आपत्ति होगी। उभयानुगत चैतन्य मात्र को साक्षी मानने पर दूसरा दोष देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि इस तृतीयपक्ष के अनुसार चैत्र और मैत्र में अनुगत चैतन्य को साक्षी माना जायेगा तब सोये हुए मैत्र के प्रति मैत्रीय अज्ञान की जैसे मैत्रीयतया प्रतीति होती है (यद्यपि सुप्त मैत्र के प्रति मैत्रीय अज्ञानादि की मैत्रीयत्वेन प्रतीति नहीं होती है, केवल अज्ञानत्वेन प्रतीति होती है। अतः पूर्वपक्ष में अज्ञान की मैत्रीयतया प्रतीति कही गयी है। वह अनुभव विरुद्ध है।) वैसे ही मैत्र साक्षी और चैत्र साक्षी अभिन्न होने के कारण जब मैत्र सो रहा है, उसी समय चैत्र साक्षी जाग्रत काल में दुःख का अनुभव कर रहा है, उस समय सोये हुए मैत्र साक्षी को चैत्र गत दुःख का चैत्रीयत्वेन (चैत्रनिष्ठत्वेन) ज्ञान होना चाहिए। सुप्त मैत्र को उक्त प्रकार से दुःख का अनुभव होने पर जागने के पश्चात् मैत्र को ''इतने काल तक मैने दुःख को नहीं जाना'' ऐसा परामर्श नहीं होना चाहिए अपितु ''इतने काल तक मैने चैत्रीयत्वेन दुःख का अनुभव किया''— ऐसा परामर्श होने की आपत्ति होगी।।११।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि शुद्ध ब्रह्म को साक्षी नहीं माना जाता है और बुद्धि उपाधि वाले जीव को साक्षी नहीं माना जाता है। अतः जीव को साक्षी मानकर और ब्रह्म को साक्षी मानकर जो दोष दिये गये थे। उनका स्वतः ही निराकरण हो गया। सिद्धान्त मत में अविद्यावृत्ति में प्रतिफलित चैतन्य को साक्षी माना जाता है। सुषुप्ति में भी अविद्यावृत्ति मानी जाती है— यह प्रथम परिच्छेद में कहा जा चुका है। अविद्या और साक्षी दोनों के अनादि होने से अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा— यह पीछे खण्ड संख्या १० में कहा जा चुका है। शुद्धब्रह्म को साक्षी न मानने से पूर्वोक्त प्रकार से मुक्ति में दुःख के ज्ञान की आपत्ति नहीं दी जा सकती है। यह जो पूर्वपक्षी ने कहा कि सुप्त मैत्र में जाग्रत चैत्र के दुःख के ग्रहण की आपत्ति से ''इतने काल तक दुःख को मैने नहीं जाना'' इत्याकारक परामर्श से विरोध होगा। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है क्योंकि साक्षी के सर्वजीव साधारण होने पर भी तत्तज्जीव चैतन्य के साथ अभेदेन अभिव्यक्त साक्षी ही तत्तद् दुःखादि का भासक माना जाता है। अर्थात् स्वतः या वृत्ति द्वारा तत्तद् दुःखादि रूप विषयावच्छेदेन तत्तज्जीव के साथ साक्षी का अभेद जब होगा तब तत्तद् दुःखादि अवच्छेदेन अनावृत्त होकर साक्षी के द्वारा तत्तद् दुःख का भास होता है। ऐसा होने से पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि सुप्त मैत्र के प्रति जाग्रत् कालीन चैत्रीय दुःख का चैत्रीयतया प्रकाशन साक्षी के द्वारा होना

तत्तज्जीवचैतन्याभेदेनाभिव्यक्तस्य तत्तद्दुःखादिभासकतया अतिप्रसङ्गाभावात्। यच्च सुखादेः स्वानन्तरभाव्यविद्यावृत्तिप्रतिफलितचिद्वेद्यत्वे ज्ञातैकसत्त्वायोग इति, तन्न; मानसत्ववादिमतेऽप्यस्य समानत्वात्। नहि तन्मते ज्ञातैकस्थितिकत्वातिरिक्तं ज्ञातैकसत्त्वमस्ति; दुःखादिसमसमयोत्पन्नवृत्त्यापि ज्ञातैकसत्त्वोपपत्तेश्च। तस्मात् ज्ञानानन्दैकरूपमद्वितीयं नित्यं साक्षि च ब्रह्मेति सिद्धम्।१२॥

इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो ज्ञानत्वानन्दत्वाद्वितीयत्वनित्यत्वसाक्षित्वोपपत्तिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

चाहिए—ऐसा दोष नहीं होगा, क्योंकि पुरुषान्तरीय दुःखादि पुरुषान्तर के प्रति आवृत्त होने के कारण प्रमाण वृत्ति के विना मैत्र को चैत्रीय दुःखादि का भान नहीं हो सकता है। सुखादि के उत्पत्ति काल में अविद्यावृत्ति नहीं बन सकती हैं। बनने पर सुखादि और अविद्यावृत्ति में कार्यकारण भाव नहीं बन पायेगा। जबकि नियम है कि प्रत्यक्ष वृत्ति के प्रति विषय कारण होता है। इसलिए सुखादि के अनन्तर अविद्यावृत्ति बनेगी। ऐसा होने पर पूर्वपक्षी का कथन है कि सुखादि अपने से अनन्तर होने वाली जो अविद्यावृत्ति है, उस अविद्यावृत्ति में प्रतिफलित जो चैतन्य है। उस चैतन्य से सुखादि में वेद्यत्व मानने पर सुखादि में ज्ञातैकसत्त्व सिद्ध नहीं हो पायेगा क्योंकि अविद्या वृत्ति सुखादि के उत्पत्ति काल में नहीं है किन्तु स्थिति काल में हैं। यह दोष भी उचित नहीं है, क्योंकि जो लोग सुखादि का मानस प्रत्यक्ष मानते हैं उनके मत में भी यह दोष आयेगा, क्योंकि पूर्वपक्षी के मत में भी सुखादि के अनन्तर ही मनोजन्य प्रत्यक्षवृत्ति माननी होगी। अन्यथा उन दोनों में कार्यकारण भाव नहीं बन पायेगा। इसलिए पूर्वपक्षी के मत में भी ज्ञातैकस्थितिकत्व से अतिरिक्त ज्ञातैकसत्त्व नहीं माना जा सकता है अर्थात् ज्ञातैकसत्त्व सिद्ध नहीं हो पायेगा अपितु ज्ञातैकस्थितिकत्व सिद्ध होगा। सिद्धान्त मतानुसार सुखादि मे ज्ञातैकसत्त्व कैसे है? इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सुखादि के उत्पत्ति काल में भी अविद्यावृत्ति मानी जा सकती है, क्योंकि अविद्या वृत्ति कोई चाक्षुषादि वृत्ति नहीं है। चाक्षुषादि वृत्ति के प्रति ही विषय कारण बनता है। अतः अविद्यावृत्ति चाक्षुषादि प्रत्यक्ष वृत्ति न होने के कारण सुखादि के उत्पत्ति काल में मानने पर कार्यकारण भङ्ग रूप दोष भी नहीं आयेगा और सुखादि में ज्ञातैकसत्त्व भी सिद्ध हो जायेगा। {दूसरी बात यह है कि सुखादि की उत्पत्ति के अनन्तर काल में ही अविद्यावृत्ति बनती है—ऐसा माना भी जाय तो भी घटादि अविषयक जो अविद्यावृत्ति है। उस अविद्यावृत्ति से उपहित चित् घटादिकों के प्रति साक्षी माना जाता है। इसी प्रकार सुखादि अविषयक जो अविद्यावृत्ति है। इस अविद्यावृत्ति से उपहित चित् सुखादि के प्रति साक्षी हो जायेगा। इस प्रकार सुखादि में साक्षिवेद्यत्व सिद्ध हो जाने से सुखादि में ज्ञातैकसत्त्व भी उपपन्न हो जायेगा। अतः सुखाकार अविद्यावृत्ति हो और उस सुखाकार अविद्यावृत्ति से उपहित साक्षी सुखादि का भासक होगा। अर्थात् स्वविषयक वृत्ति उपहित साक्षी ही स्व का भासक होता है इस पक्ष में वृत्ति के आकार की वृत्ति माननी पड़ेगी। ऐसा मानने पर अनवस्थादि दोष होगा।} इसलिए ज्ञानानन्दात्मक और अद्वितीय तथा नित्य एवं साक्षिब्रह्म है यह सिद्ध हो गया।१२॥

:—इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां ब्रह्मणो ज्ञानत्वानन्दत्वाद्वितीयत्वनित्यत्वसाक्षित्वोपपत्तिः—

८— ब्रह्मण उपादानत्वविचारः

ननु— निर्विशेषं चेत् ब्रह्म, कथं तदेव निमित्तमुपादानमिति अभिन्ननिमित्तोपादानकत्वं जगतः? विकारवत्कारणस्यैवोपादानत्वात्, ब्रह्मणोऽविकारत्वात्, अन्यथा 'निर्विकारोऽक्षरः शुद्धः' इत्यादिश्रुतिविरोधापत्तेरिति—चेन्न; परिणामितयोपादानत्वाभावेऽपि विवर्ताधिष्ठानतयोपादानत्वसम्भवात्। विवर्ताधिष्ठानत्वं च विवर्तकारणाज्ञानविषयत्वमेव। तदुक्तं वार्तिककृद्भिः—'अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम्। अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते।।' इति।। न चोपादालक्षणाभावः; आत्मनि कार्यजनिहेतुत्वस्यैव उपादानलक्षणत्वात्, तस्य च परिणाम्यपरिणाम्युभयसाधारणत्वात्।।१ ।।

ननु—ब्रह्मैवोपादानमुताज्ञानमपि, आद्ये सत्योपादानत्वेन सत्यत्वापत्त्या अज्ञानोपादानकत्वकल्पनविरोधः, द्वितीये सूत्रद्वयस्य रज्जुं प्रतीव ब्रह्माज्ञानयोः समप्राधान्येन वा उपादानत्वम्, निर्विकारश्रुतिस्तु केवलब्रह्मपरेति

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— ब्रह्म यदि निर्विशेष है तब वह प्रपञ्च का निमित्तिकारण और उपादान कारण नहीं बन सकता है, क्योंकि ब्रह्म विकार से रहित है। जब कि विकार वाले कारण को ही उपादान कारण कहा जाता है। अन्यथा = ब्रह्मगत उपादान कारणता की सिद्धि के लिए ब्रह्म को विकारी मानने पर ''निर्विकारोऽक्षरः शुद्धः'' इत्यादि ब्रह्म को विकार रहित बतलाने वाली श्रुतियों से विरोध होगा।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ब्रह्म में परिणामी उपादान कारणत्व न होने पर भी विवर्ताधिष्ठानत्वेन उपादानकारणत्व सम्भव है। विवर्ताधिष्ठानत्व का अर्थ है— विवर्त का कारणीभूत जो अज्ञान तादृश अज्ञानविषत्व। इसका समन्वय इस प्रकार से होगा—अधिष्ठान (ब्रह्म) का विवर्त (प्रपञ्च) का परिणामी कारण = अज्ञान। उस अज्ञान का विषय ब्रह्म। अतः ब्रह्म में विवर्ताधिष्ठानत्वेन उपादानकारणत्व सम्भव है। इसको स्पष्ट करते हुए वार्तिककार ने कहा है—इस द्वैत रूप इन्द्रजाल (मिथ्या) का उपादान कारण जो अज्ञान है। उस अज्ञान का आश्रय कर के ब्रह्म प्रपञ्च का विवर्तोपादान कारण कहा जाता है। उपादान कारण के लक्षण का अभाव ब्रह्म में नहीं है, क्योंकि ''आत्मनि (स्वतादात्म्यवति) कार्यजनिहेतुत्व'' को उपादान कारण का लक्षण कहा जाता है। अर्थात् जिसमें स्वतादात्म्यवत् हो और कार्यजनन हेतुत्व हो। उसको उपादान कहा जायेगा। स्व = कार्य। उसका तादात्म्य परिणामी उपादान कारण और विवर्तोपादान कारण दोनों से रहता है। इसलिए स्वतादाम्यवत् कहने से दोनों का ही ग्रहण हो जायेगा और दोनों में कार्यजनन हेतुत्व है। अतः दोनों में लक्षण चला गया। स्वतादात्म्यवत् कहने से निमित्तकारण में अतिव्याप्ति नहीं होती है, क्योंकि निमित्तकारण से कार्य का तादात्म्य नहीं रहता है।। १ ।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती केवल ब्रह्म को ही प्रपञ्च का उपादान कारण मानते हैं? अथवा ब्रह्म के साथ अज्ञान को भी जगत् का उपादान कारण मानते हैं? केवल ब्रह्म ही प्रपञ्च का उपादान कारण है—इस प्रथम पक्ष को माना नहीं जा सकता है, क्योंकि सत्य ब्रह्म के उपादानत्व होने पर कार्यरूप प्रपञ्च में सत्यत्व की आपत्ति होगी। अर्थात् कारण जब सत्य होगा तब उसका कार्य भी सत्य होगा—ऐसा पूर्वपक्षी का आशय है। दूसरा दोष यह होगा कि सिद्धान्ती प्रपञ्चगत मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए प्रपञ्च को अज्ञान का कार्य मानते हैं किन्तु केवल ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानने पर सिद्धान्ती की अज्ञान को जगत् का उपादान कारण मानने की जो कल्पना है। उस कल्पना से विरोध होगा। ब्रह्म के साथ अज्ञान भी प्रपञ्च का उपादान कारण है—इस द्वितीय पक्ष को भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इस द्वितीय पक्ष में प्रश्न होगा कि (१) दो तन्तुओं से मिलकर के जब रज्जु बनती है तब दोनों तन्तु समान रूप से प्रधान

विवक्षितम्?, उत मायाशक्तिमद्ब्रह्म उपादानम्, निर्विकारश्रुतिस्तु तदनुपरक्तब्रह्मविषयेति विवक्षितम्? उत मायाद्वारा ब्रह्म कारणम्, अंशुरिव तन्तुद्वारा पटं प्रति, निर्विकारश्रुतिस्तु अद्वारकविकारनिषेधिकेति विवक्षितम्? नाद्यः; उभयोः समतयैव विकारित्वेन ब्रह्मणो विशिष्य निर्विकारत्वोक्त्ययोगात्, सितासितसूत्रारब्धपटे सितासितत्ववज्जगति पारमार्थिकत्वानिर्वचनीयत्वयोरापातात्, ब्रह्मस्वभावस्य पारमार्थिकत्वस्य उपादेयधीमात्रस्थत्वे अविद्यास्वभावस्यानिर्वाच्यत्वस्यापि धीमात्रस्थत्वापातात्, तन्मात्रोपादानकत्वस्य तत्तत्सत्त्वप्रयोजकत्वे अनिर्वाच्यत्वस्यापि अभावप्रसङ्गात्, तन्मात्रोपादानकत्वाभावात्।।२।।

द्वितीये ब्रह्मणो मायाख्यहेतूपरागमपेक्ष्य विकारित्वे मृदादिवत् परिणामित्वापत्तिः, विशिष्टस्य ब्रह्मत्वे

सत्यानन्दप्रबोधिका

होकर ही रज्जु के प्रति जैसे उपादान कारण होते हैं वैसे ही क्या ब्रह्म और अज्ञान भी समप्रधान होकर के ही जगत् के प्रति उपादान कारण बनते हैं? यहाँ पर प्रश्न होगा कि यदि ब्रह्म अज्ञान के समान ही जगत् रूप से परिणत (विकृत) होता है तब ब्रह्म भी विकारी हो जायेगा। तब निर्विकार श्रुति का अर्थ क्या करेंगे? इसके उत्तर में सिद्धान्ती क्या यह अर्थ करेंगे कि निर्विकार श्रुति केवल ब्रह्म का बोधक है। अतः ब्रह्म और अज्ञान दोनों के समान रूप से जगत् रूप से परिणत होने पर भी निर्विकार श्रुति से कोई विरोध नहीं होगा। या (२) माया शक्ति वाला ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है—ऐसा मानने पर माया विशिष्ट ब्रह्म को विकारी मानना पड़ेगा, तब निर्विकार श्रुति अज्ञान के सम्बन्ध से रहित ब्रह्म परक है— ऐसा विवक्षित है? या (३) माया के द्वारा ब्रह्म प्रपञ्च का वैसे ही परम्परया उपादान कारण है जैसे तन्तु के द्वारा अंशु (रूई) पट के प्रति परम्परया उपादान कारण बनती है। इस पक्ष में माया रूप द्वार के विना साक्षात् ब्रह्म में विकार नहीं है— इसको निर्विकार श्रुति के द्वारा कहा गया है? प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है? क्योंकि जब ब्रह्म और अज्ञान समान रूप से विकारी हैं तब ब्रह्म में विशेष रूप से निर्विकारत्व का कथन असङ्गत है। {इस पक्ष में यह भी दोष होगा कि जिस युक्ति से सिद्धान्ती केवल ब्रह्म को विकार रहित सिद्ध करेंगे, उसी युक्ति से माया को भी विकार रहित सिद्ध होने की आपत्ति होगी।} सित (श्वेत) और असित (श्याम) तन्तुओं से बने पट में जैसे सितासितत्व रहता है वैसे ही ब्रह्म और अज्ञान इन दोनों से बने जगत् में पारमार्थिकत्व और अनिर्वचनीयत्व के रहने की आपत्ति होगी। यदि कहा जाय कि प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व के सम्बन्ध की प्रतीति प्रातिभासिक है, क्योंकि पारमार्थिक ब्रह्म रूप उपादान के सम्बन्ध से प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व की प्रतीति होती है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि ब्रह्म स्वभाव रूप पारमार्थिकत्व को उपादेय (कार्य = प्रपञ्च) विशेष्यक पारमार्थिकत्व प्रकारकधी विषयक प्रातिभासिक सम्बन्ध प्रतियोगित्व होने पर अविद्या स्वभाव रूप अनिर्वचनीयत्व को भी उपादेय विशेष्यक अनिर्वचनीयत्व प्रकारक धी विषयक प्रातिभासिक सम्बन्ध प्रतियोगित्व मानने की आपत्ति होगी। कहने का भाव यह है कि यदि पारमार्थिकत्व का प्रपञ्च में भान भ्रमात्मक है तब उसी प्रकार अनिर्वचीयत्व का प्रपञ्च में भान भ्रमात्मक मानना पड़ेगा। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रपञ्च का केवल ब्रह्म उपादान कारण होता तब प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व माना जाता किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि ब्रह्म और अज्ञान दोनों ही प्रपञ्च के उपादान कारण हैं। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि प्रपञ्च का केवल अज्ञान उपादान कारण होता तब प्रपञ्च में अनिर्वचनीयत्व माना जाता किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि अज्ञान और ब्रह्म दोनों ही प्रपञ्च के उपादान कारण हैं। अतः प्रपञ्च में अनिर्वचनीयत्व नहीं माना जा सकता है।।२।।

मायाशक्ति विशिष्ट ब्रह्म प्रपञ्च का उपादान कारण है— इस द्वितीय पक्ष में ब्रह्म को माया नामक जो

निर्विकारश्रुतिविरोधः, अब्रह्मत्वे ब्रह्मणः कारणत्वासिद्धिः; विशिष्टस्य मृदादिवत् धर्मिसमसत्ताकरूपान्तरापत्तिरूप–परिणामाद्विवर्तमतहानिश्च। न च–विशिष्टापेक्षया परिणामत्वं शुद्धापेक्षया विवर्तत्वमिति वाच्यम्, शुद्धेऽपि विवर्तार्थमारोपितविकारस्यावश्यकत्वेन निर्विकारश्रुतेः तत्परत्वाभावप्रसङ्गात्। तस्या विशेष्ये तात्त्विकविकाराभाव–परत्वे विशिष्टे विकारोक्त्ययोगः; तत्त्वतो निर्विकारे आरोपितविकाराविरोधात्। न तृतीयः अंशोस्तन्तुं प्रतीव ब्रह्मणो मायां प्रत्युपादानत्वाभावादिति–चेन्न; उभयापरिणामित्वेन तयोः कारणत्वाङ्गीकारात्। न च–तत्पक्षोक्तदोषावकाशः, उभयोः परिणामितया कारणत्वानङ्गीकारात्, किन्त्वज्ञानस्यैव। अत एवासाधारण्येन निर्विकारत्वमपि। न ह्यविद्यासाहित्येऽपि ब्रह्म परिणमते, किन्तु विवर्तत इति।।३।।

न चाविद्यापरिणामत्वेऽपि सत्यत्वापत्तिः; परिणाम्युपादानसमसत्ताकत्वरूपस्य सत्यत्वस्य परिणामत्व–

सत्यानन्दप्रबोधिका

हेतु है, उस हेतु के सम्बन्ध की अपेक्षा से ब्रह्म को विकारी मानने पर मृत्तिका के जैसे परिणामित्व की आपत्ति होगी। इस द्वितीय पक्ष में यह भी प्रश्न होगा कि मायाशक्ति से विशिष्ट तत्त्व को ब्रह्म माना जाता है? या नहीं? यदि माना जाता है तब ब्रह्म को निर्विकार बतलाने वाली श्रुतियों से विरोध होगा। उक्त विशिष्ट तत्त्व को ब्रह्म न मानने पर केवल ब्रह्म असङ्ग होने के कारण उसमें प्रपञ्च की कारणता सिद्ध नहीं होगी। सिद्धान्ती केवल शुद्ध ब्रह्म को पारमार्थिक मानते हैं। उससे अन्य को व्यावहारिकादि मानते हैं। अतः मायाशक्ति विशिष्ट ब्रह्म को व्यावहारिक मानने पर प्रपञ्च भी व्यावहारिक है। अतः मृत्तिकादि के समान समसत्ताकान्यभावरूप परिणाम के सिद्ध हो जाने पर विवर्तवाद की हानि होगी। यदि कहा जाय कि माया शक्ति विशिष्ट ब्रह्म की अपेक्षा से जगत् में परिणामत्व है और शुद्ध ब्रह्म की अपेक्षा से विवर्तत्व है। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म में भी विवर्तत्व के निर्वाह के लिए आरोपित विकार मानना आवश्यक होगा। ऐसा होने पर निर्विकार श्रुति शुद्ध ब्रह्म परक सिद्ध नहीं हो पायेगी। यदि कहा जाय की माया शक्ति विशिष्ट ब्रह्म में विशेष्य जो ब्रह्म है। उस ब्रह्म में तात्त्विक विकार नहीं है– इसी अर्थ को निर्विशेष श्रुति कह रही है। ऐसा मानने पर विशिष्ट में आरोपित विकार मानने की आवश्यकता ही नहीं होगी, क्योंकि तत्त्वतः निर्विकार शुद्ध वस्तु में आरोपित विकार मानने से किसी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता है। तृतीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अंशु (रूई) में तन्तु के प्रति उपादान कारणता जैसे मानी जाती है वैसे ब्रह्म में माया के प्रति उपादान कारणता नहीं मानी जाती है।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ब्रह्म और अज्ञान दोनों जगत् रूप से परिणत होते हैं–ऐसा नहीं माना जाता है किन्तु उभय अपरिणामित्वेन दोनों (ब्रह्म और अज्ञान) को जगत् का (विवर्तोपादान) कारण माना जाता है। अर्थात् उभयत्वावच्छेदेन परिणामित्वाभाववत्तया दोनों को प्रपञ्च का विवर्तोपादान कारण माना जाता है। इसलिए ब्रह्म और अज्ञान एतदुभयोपादानकत्व पक्ष में कथित जो दोष है, वे दोष अब नहीं आयेंगे, क्योंकि ब्रह्म और अज्ञान इन दोनों में परिणामित्वेन कारणता स्वीकृत ही नहीं है, अपितु अज्ञान मात्र में ही परिणामित्वेन कारणता मानी जाती है। अत एव = अज्ञान में ही परिणामी कारणता स्वीकृत होने से ही अर्थात् ब्रह्म में परिणामी कारणता न होने से विशेष रूप से ब्रह्म ही निर्विकार होगा, न कि अज्ञान। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि अविद्या का साहित्य होने पर भी ब्रह्म परिणममान नहीं होता है अपितु विवर्तमान होता है। अर्थात् ब्रह्म का परिणाम प्रपञ्च नहीं है अपितु विवर्त है।।३।।

प्रपञ्च को अविद्या का परिणाम मानने पर प्रपञ्च में सत्यत्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती है, क्योंकि परिणामी उपादान (अज्ञान) के समान (अनिर्वचनीय) सत्ता मात्र के प्रपञ्च में रहने से अज्ञान परिणामत्व का

निर्वाहकत्वात्, ब्रह्मसमसत्ताकत्वाभावेन तदपेक्षया परिणामत्वाभावात्, स्वसमान— सत्ताकविकाराहेतुतया निर्विकारत्वोपपत्तेश्च। न च सत्योपादानत्वे सत्यत्वापत्तिः, परिणाम्युपादानधर्माणामेव मृत्त्वसुवर्णत्वादीनां कार्येऽन्वयदर्शनात् सत्योपादनत्वेऽप्यसत्यत्वोपपत्तेः। न च सत्यासत्यधूमानुगतधूमत्वस्येव सत्यासत्यानुगतो— पादानत्वस्यैकस्याभाव इति वाच्यम्; स्वनिष्ठकार्यजनिहेतुत्वस्योक्तत्वात्। नहि सत्यासत्यवैधर्म्यं साधर्म्यविरोधि, अन्यथा किञ्चिद्वैधर्म्यस्यैव साधर्म्यविरोधित्वे साधर्म्यकथोच्छेदापत्तेः, अनाभासविषयसंस्कारजन्यज्ञानविषयत्वा— देराभासानाभाससाधारणस्य दृष्टान्तेऽपि सत्त्वाच्च।।४।।

ननु—अविद्योपादानत्वकल्पना न युक्ता; ब्रह्मण एव रूप्याकाशाद्युपादानत्वसम्भवात्, अविद्यान्वयव्यतिरेकस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रपञ्च में निर्वाह हो जाता है। प्रपञ्च में ब्रह्म समसत्ताकत्व न होने से ब्रह्म का परिणाम जगत् है— ऐसा नहीं माना जा सकता है, जो विकार (परिणाम) होता है, वह स्वसमानसत्ताक होता है। जैसे दूध का परिणाम दधि दूध के समान सत्ता वाला होता है। ब्रह्म में स्वसमानसत्ताक (पारमार्थिक) विकार की हेतुता न होने से निर्विकारता भी उपपन्न हो जाती है। यह जो कहा था कि ब्रह्म रूप सत्योपादनक होने के कारण प्रपञ्च में सत्यत्व की आपत्ति होगी। वह उचित नहीं है, क्योंकि जो परिणामी उपादान कारण होता है, उसका ही धर्म कार्य में अनुगत देखा जाता है। जैसे घट कटकादि का उपादान कारण जो मृत्तिका—सुवर्णादि है। उसका ध र्म मृत्तिकात्व, सुवर्णत्वादि घट—कटकादि में अनुगत देखे जाते हैं, किन्तु विवर्तोपादन कारण स्थल पर विवर्तोपादान कारण का धर्म कार्य में अनुगत नहीं होता है। जैसे रजतादि का विवर्तोपादान कारण शुक्ति आदि हैं। किन्तु रजतादि में शुक्तित्वादि धर्म अनुगत नहीं होते हैं। अतः ब्रह्मरूप विवर्तोपादान का सत्यत्व धर्म प्रपञ्च रूप कार्य में नहीं रहेगा। फलतः प्रपञ्च में ब्रह्मरूप सत्य विवर्तोपादानकत्व होने पर भी प्रपञ्चगत असत्यत्व की उपपत्ति हो जाती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सत्य धूम (जो वह्नि से निकल रहा है) और असत्य धूम (जो वाष्प को देखकर धूम का भ्रम हो रहा है) इन दोनों में जैसे एक ही धूमत्व धर्म नहीं माना जाता है वैसे ही सत्योपादान (ब्रह्म) और असत्योपादान (अज्ञान) इन दोनों में एक ही उपादानत्व धर्म नहीं माना जा सकता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पीछे खण्ड संख्या १ में स्पष्ट कर चुके हैं कि उपादानत्व = स्वतादात्म्यवति कार्य जनन हेतुत्व। यह विवर्तोपादान और परिणामी उपादान में अनुगत है। जहाँ सत्यत्व और असत्यत्व रूप विरोधी धर्म है। वहाँ किसी भी प्रकार का साधर्म्य नहीं रह सकता है— ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि किञ्चित् वैधर्म्य को साधर्म्य का विरोधी मानने पर किसी भी स्थल पर साधर्म्य माना ही नहीं जा सकेगा। अर्थात् घटत्व जहाँ है वहाँ पटत्व नहीं रहता है किन्तु दोनों में द्रव्यत्वेन साधर्म्य माना जाता है। पूर्वपक्षी के अनुसार इन स्थलों पर भी साधर्म्य नही माना जा सकेगा। पूर्वपक्षी ने जो कहा कि अनाभास (सत्य) धूम और आभास (असत्य) धूम में धूमत्व रूप साधर्म्य नहीं रह सकता है। वह भी उचित नहीं है, क्योंकि उक्त दोनों धूम में सत्य धूम विषयक संस्कार जन्य ज्ञान विषयत्व रूप साधर्म्य रहता है।।४।।

शङ्का— प्रपञ्च में अविद्योपादनकत्व की कल्पना युक्त नहीं है, क्योंकि केवल ब्रह्म को ही शुक्तिरजतादि प्रातिभासिक दृश्य से लेकर आकाशादि व्यावहारिक दृश्य तक का उपादान कारण मानना सम्भव है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि तन्तु और पट में अन्वय व्यतिरेक होने के कारण जैसे पट के प्रति तन्तु को उपादान कारण माना जाता है, वैसे ही अविद्या और प्रपञ्च में अन्वय व्यतिरेक होने के कारण प्रपञ्च

निमित्ततामात्रेणान्यथासिद्धेरिति—चेन्न; घटकुण्डलादेः परिणाम्यपेक्षादर्शनेन गगनादावप्यविद्यायाः परिणामम्युपादानत्वस्यावश्यकत्वात्। न च—असत्यस्य रूप्यादेः सत्यरूपापत्तिमत्परिणाम्यपेक्षा नास्तीति न सर्वत्रोपादेये तदपेक्षानियम इति—वाच्यम्; स्वविषयकाज्ञानानपेक्षस्य तद्भाव इत्येव सत्यरूपापत्तिपदेन विवक्षितत्वात्। नहि ब्रह्माज्ञानस्य रूप्यादिभावापत्तौ स्वविषयकाज्ञानं व्यवधायकमस्ति।।५।।

किञ्च विकारित्वेनाप्यविद्याया उपादानत्वकल्पनम्। न च—ब्रह्मण एवातात्त्विकविकारसम्भवात् न तत्कल्पनमिति—वाच्यम्; तद्विषयकाज्ञानपरिणामत्वव्यतिरेकेण विकारे अतात्त्विकत्वानिर्वाहात्। किञ्च

सत्यानन्दप्रबोधिका

के प्रति अविद्या को उपादान कारण माना जाता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त अन्वय व्यतिरेक अविद्या को प्रपञ्च का निमित्तकारण मान लेने से उपपन्न हो जाने से प्रपञ्च के प्रति अविद्या को उपादान कारण मानने में अन्यथासिद्ध हो जाता है। अतः उक्त अन्वय व्यतिरेक के आधार पर प्रपञ्च के प्रति अविद्या को उपादान कारण नहीं माना जा सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि घट कुण्डलादि में देखा गया है कि अकेला निमित्तकारण (कुलालादि) मृत्तिकादि उपादान कारण के विना घटादि को नहीं बना सकता है। ऐसे ही केवल निमित्त कारण से आकाशादि की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः अविद्या को परिणामी उपादान कारण मानना आवश्यक है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है व्यावहारिक घटादि के लिए व्यावहारिक मृत्तिकादि उपादान कारण की अपेक्षा होती है। अतः सत्यरूपापत्ति रूप परिणाम यहाँ माना जा सकता है किन्तु असत्यरूपापत्ति रूप विवर्त स्थल पर प्रातिभासिक शुक्तिरजतादि के लिए सत्यरूपापत्ति युक्त परिणामी कारण की अपेक्षा नहीं होती है। अर्थात् व्यावहारिक सत्य रजतादि जिस परिणामी कारण से बनता है, मिथ्या रजत के लिए उस परिणामी कारण की अपेक्षा नहीं होती है। अतः सिद्धान्ती ने जो कहा कि निमित्त के रहने पर भी सर्वत्र परिणामी उपादान कारण की आवश्यकता होती है, ऐसे नियम ''यत्र यत्र कार्यत्वं तत्र तत्र परिणाम्युपादानापेक्षत्वम्'' का खण्डन हो गया।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सत्यरूपापत्ति का अर्थ हैं—स्वविषयकाज्ञानानपेक्ष कार्यापत्ति। जैसे मृत्तिकादि उपादान स्वाज्ञाननिरपेक्ष घटादि कार्य को उत्पन्न करते हैं। यह परिणामी उपादान कारण स्थल पर देखा जाता है। किन्तु विवर्तोपादान कारण स्थल पर उक्त प्रकार से कार्य की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है, क्योंकि शुक्त्यादि उपादान कारण स्वविषयक अज्ञान की अपेक्षा कर के रजतादि कार्य को उत्पन्न करते है। प्रकृत में ब्रह्माज्ञान से जब शुक्ति रजतादि से लेकर आकाशादि तक कार्य की उत्पत्ति होती है तब ब्रह्माज्ञान विषयक अज्ञान की अपेक्षा कर के ब्रह्माज्ञान आकाशादि कार्य को उत्पन्न नहीं करता है (मूलस्थ व्यवधायक का अर्थ अपेक्षणीय करना चाहिए) अतः ब्रह्माज्ञान से आकाशादि का होना सत्यरूपापत्ति ही है असत्यरूपापत्ति नहीं। इसलिए आकाशादि कार्य परिणामी उपादान कारण के विना सिद्ध नहीं हो सकता है। फलतः आकाशादि कार्य के प्रति अज्ञान को उपादान कारण मानना परमावश्यक है। अतः सत्यरूपापत्ति स्थल के लिए बनायी गयी उक्त व्याप्ति निर्दुष्ट है।।५।।

किञ्च अविद्या में विकारित्व होने से भी अविद्या में परिणामी उपादानत्व की कल्पना होती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है आरोपितानारोपित साधारण विकार वाला पदार्थ उपादान कारण बनता है, क्योंकि अनारोपित विकार वाली मृतिका घट के प्रति उपादान कारण जैसे होती है वैसे ही आरोपित विकार वाली शुक्ति प्रातिभासिक रजत के प्रति उपादान कारण होती है। इसलिए ब्रह्म भी आरोपित विकार वाला

कार्यापेक्षितस्वसमानसत्ताकोपादानत्वेनाप्यविद्योपादानत्वम्। समानसत्ताकत्वं च रूप्यस्थले सत्त्वद्वैविध्येन वा ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्वरूपप्रातिभासिकत्वमादाय वोपपद्यते। तस्माद्रूप्यतत्तादात्म्ययोरविद्याविकारत्वेऽपि इदमो रूप्यरूपापत्तिरूपो विकारः कथम्? इदं रूप्यरूपमापन्नमिति अप्रतीतेः, आरोपितस्यारोपं विना अयोगादिति—निरस्तम्, रूप्याकारपरिणताज्ञानाधिष्ठानचैतन्यावच्छेदकमात्रतयेदमो रूप्यापत्तेरनङ्गीकारात्।।६।।

यत्तु किमिदमुपादानत्वम्? रूपान्तरापत्तिप्रतीतिं प्रति विषयत्वं वा?, रूपान्तराभेदधीविषयत्वं वा?, कार्याभेदधीविषयत्वं वा। नाद्यः; असिद्धेः; 'शुक्ती रूप्यभावमापन्ना ब्रह्माकाशभावमापन्नम्'इत्यप्रतीतेः। न

सत्यानन्दप्रबोधिका

होकर प्रपञ्च के प्रति उपादान कारण बन जायेगा। अतः प्रपञ्च के उपादान कारणता के लिए विकारित्वेन अविद्या की कल्पना असङ्गत है।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि ब्रह्म विषयक जो अज्ञान हैं, तादृश अज्ञान परिणामत्व के विना विकार में आरोपितत्व ही सिद्ध नहीं होगा। अर्थात् आरोपित विकार वाले पदार्थ को उपादान कारण माना जाता है—ऐसा पूर्वपक्षी ने जो कहा, उसे हम भी मानते हैं किन्तु आरोपित विकारता के निर्वाह के लिए अज्ञान का परिणाम माना जाता है। जैसे शुक्ति का जो अज्ञान है, उस अज्ञान का परिणाम रजत है, ऐसा होने से ही रजतविकार में आरोपितत्व सिद्ध होता है। ऐसे ही ब्रह्म का जो अज्ञान है, उस अज्ञान का परिणाम आकाशादि है, ऐसे होने से ही आकाशादि विकार में अतात्त्विकत्व सिद्ध होता है। फलतः अज्ञान में विकारित्व सिद्ध होने से अज्ञान को प्रपञ्च का उपादान कारण माना जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि कार्य मात्र को स्व (कार्य) समान सत्ताक उपादान की अपेक्षा होने से भी जगत् में अविद्या उपादानकत्व सिद्ध होता है। प्रपञ्च का समानसत्ताक उपादान अविद्या ही हो सकती है ब्रह्म नहीं। अतः ब्रह्म को प्रपञ्च का उपादान नहीं माना जा सकता है। सिद्धान्त मत में जब दो सत्ता मानी जाती है (१) ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता (२) ब्रह्म से इतर आकाशादि प्रपञ्च अज्ञान शुक्तिरजतादि की प्रातिभासिक सत्ता। तब शुक्तिरजत स्थल पर कार्य (रजत) और उपादान (शुक्त्यज्ञान) दोनों की प्रातिभासिक सत्ता होने से स्वसमानसत्ताकत्व उपादान में चला जायेगा। जिस पक्ष में सिद्धान्त मतानुसार तीन सत्ता मानी जाती है। उस पक्ष में ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व रूप प्रातिभासिकत्व मान कर कार्य (रजत) और उपादान (शुक्त्यज्ञान) में स्व समान सत्ताकत्व का निर्वाह हो जायेगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रातिभासिक रजत और प्रातिभासिक रजत का तादात्म्य इन दोनों को अविद्या का विकार होने पर भी इदमर्थ का प्रातिभासिक रजत रूपापत्ति रूप विकार की उपपत्ति नहीं हो पायेगी, क्योंकि ''इदम् रजत रूप को प्राप्त हुआ'' ऐसी आरोपात्मक प्रतीति नहीं होती हैं। आरोपात्मक प्रतीति के विना आरोपितत्व सिद्ध नहीं हो सकता है।

समाधान— ऐसा पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया, क्योंकि अधिष्ठान चैतन्य = इदमवच्छिन्न चैतन्य। इसका अवच्छेदक मात्र इदम् है, वह इदम् रजत के रूप से परिणत नहीं होता है अपितु इदमवच्छिन्न चैतन्य निष्ठ शुक्ति का जो अज्ञान है वह ही रजत रूप से परिणत होता है।।६।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का प्रश्न है कि उपादान कारण किसे कहते हैं? (१) क्या रूपान्तरापत्ति विषयक प्रतीति के विषय को उपादान कारण कहते हो? अर्थात् अन्य रूप से जो परिणत होता है, उसके ज्ञान का जो विषय, उसको उपादान कारण कहते हैं। जैसे मृत्तिका घट रूप से परिणत हुयी— ऐसी जो प्रतीति, उसका विषय जो मृत्तिका है। वह घट के प्रति उपादान कारण है। या (२) रूपान्तराभेदधीविषयत्व? (अन्यरूप के साथ अभेद ज्ञान का जो विषय बनता है। जैसे घट को देखकर ''यह मृत्तिका है'' इस अभेद ज्ञान का विषय

द्वितीयः; तत्त्वंपदार्थयोः क्षीरनीरयोर्मुण्डगोत्वयोश्चोपादानोपादेयतापत्तेः। न तृतीयः; सदृशे सन्निहिते निमित्तेऽपि कार्यभिदभ्रमसम्भवेनातिव्याप्तेरिति, तदनुक्तोपालम्भनतया अपास्तम्। यदपि भ्रमाधिष्ठानत्वेन ब्रह्मणो नोपादानत्वम्, अतीतासतोरनुपादानयोरपि भ्रमाधिष्ठानत्वदर्शनात्, भ्रमाधिष्ठानेऽपि शुक्त्यादावुपादानत्वाव्यवहाराच्चेति, तन्न, चैतन्यस्यैवाधिष्ठानत्वेनातीतादेरनधिष्ठानत्वात्। किञ्च नहि व्यवहाराभावमात्रेण वस्तुव्यतिरेकः; वृक्षादिषु

सत्यानन्दप्रबोधिका

मृत्तिका। वह घट के प्रति उपादान है। या (३) कार्याभेदधी विषयत्व? (घट कार्य को देखकर ''यह मृत्तिका।''ऐसी जो अभेद धी। उसका विषय जो मृत्तिका है वह घट के प्रति उपादान है। प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उक्त लक्षण असम्भव दोष से ग्रस्त है, क्योंकि ''शुक्ति रजत भाव को प्राप्त हुयी,'' ''ब्रह्म आकाशभाव को प्राप्त हुआ'' यदि ऐसी प्रतीति होती तब उस प्रतीति का विषयीभूत शुक्ति और ब्रह्म में उपादान कारण का लक्षण जाता किन्तु ऐसी प्रतीति ही नहीं होती। अतः शुक्ति और ब्रह्म में उपादान कारण का लक्षण न जाने से असम्भव दोष है। द्वितीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता क्योंकि उक्त लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त है। जैसे तत् और त्वम् में अभेद बुद्धि होती है। उस अभेद ज्ञान का विषय तत् और त्वम् है। अतः इसमें से एक को कार्य और दूसरे को उपादान का कारण मानने की आपत्ति होगी। इसी प्रकार नीर और क्षीर में तथा मुण्डगो व्यक्ति और गोत्व में अभेद बुद्धि होती है। इस अभेद बुद्धि का विषय जो नीर और क्षीर है तथा मुण्डगो व्यक्ति और गोत्व है। इनमें से एक को कार्य और दूसरे को उपादान कारण मानने की आपत्ति होगी। तृतीय पक्ष भी अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त है। जैसे ''सुवर्णं कुण्डलम्'' इस प्रकार कार्यभेद विषयक ज्ञान का विषय सुवर्ण और कुण्डल है। अतः इसमें कार्य कारण भाव घटित हो जाता है। किन्तु ''आदित्यो यूपः'' इत्यादि स्थल पर सदृश रूप निमित्त के सन्निहित होने पर भी कार्य के साथ निमित्त का अभेद भ्रम ज्ञान होना सम्भव होने के कारण निमित्त कारण में उपादान कारण की अतिव्याप्ति होगी।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे है कि पूर्वपक्षी की आपत्ति अनुक्तोपालम्भ मात्र है, क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा कथित उपादान कारण के लक्षणों में से कोई भी लक्षण सिद्धान्त मत में स्वीकार नहीं किया जाता हैं। इसलिए ''अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः'' (न्या०सू० ५—२—२३) इसके अनुसार पूर्वपक्षी स्वयं निरनुयोज्यानुयोग नामक निग्रह स्थान से निगृहीत हो गया।

शङ्का— सिद्धान्ती ने खण्ड संख्या १ में कहा था ''विवर्ताधिष्ठानतयोपादानत्वसम्भवात्'' इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि भ्रम अधिष्ठानत्वेन ब्रह्म को उपादान कारण नहीं माना जा सकता है क्योंकि अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष होगा। जैसे जो कभी भी उपादान नहीं होता है ऐसे अतीत और अत्यन्त असत् पदार्थ हैं। उन पदार्थों में भी भ्रम अधिष्ठानता देखी जाती हैं। जैसे अतीत = मरे हुए व्यक्ति में जीवितत्व का भ्रम स्वप्न में हुआ। इस प्रकार जीवितत्वभ्रम का अधिष्ठान मरा हुआ व्यक्ति होगा। जबकि मरा हुआ व्यक्ति किसी का उपादान कारण होता ही नहीं है। इसी प्रकार आकाश कुसुम में सुगन्धि का भ्रम। इस भ्रम का अधिष्ठान आकाश कुसुम है किन्तु आकाश कुसुम किसी का उपादान कारण नहीं होता है। इस प्रकार अतिव्याप्ति दोष होगा। अव्याप्ति दोष देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि भ्रम का अधिष्ठान जो शुक्ति है उसमें रजत के प्रति उपादानत्व का व्यवहार नहीं होता हैं। अतः उसमें लक्षण न जाने से अव्याप्ति दोष होगा।

समाधान — उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त मतानुसार सर्वत्र चैतन्य को ही अधिष्ठान माना जाता है। अतीत या असत् पदार्थ को नहीं। अतः असतादि में उक्त लक्षण न जाने से अतिव्याप्ति दोष

पृथिवीति व्यवहाराभावेऽपि पृथिवीत्वसत्त्वात्। यत्तु मायोपादानमीश्वरो निमित्तं शुद्धं ब्रह्माधिष्ठानमिति पक्षे अभिन्ननिमित्तोपादानत्वाभावेन त्वन्मते तदर्थस्य प्रकृत्यधिकरणादेरनुपपत्तिरिति, तन्न, एकस्यैवाविद्यो–पहितत्वेनोपादानत्वस्याविद्यापरिणामेच्छाकृत्याद्याश्रयत्वेन निमित्तत्त्वस्यापि सम्भवात्।।७।।

इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो जगदुपादानत्वोपपत्तिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं होगा। यद्यपि चैतन्य ही अधिष्ठान होता है तथापि शुक्त्यादि को अधिष्ठान मान भी ले तो भी दोष नहीं होगा—इस आशय से कह रहे हैं कि शुक्त्यादि में उपादानत्व का व्यवहार न होने मात्र से शुक्त्यादि में उपादानत्व का अभाव नहीं दिखलाया जा सकता है, क्योंकि वृक्षादि में पृथिवीत्वादि का व्यवहार न होने पर भी पृथिवीत्व का अभाव नहीं माना जाता है अपितु उसमें पृथिवीत्व माना ही जाता है। इसी प्रकार शुक्त्यादि में भी उपादानत्व माना ही जायेगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्त मतानुसार ब्रह्माज्ञान प्रपञ्च का उपादान कारण है और माया विशिष्ट चेतन (ईश्वर) निमित्त कारण है और शुद्ध ब्रह्म मिथ्या प्रपञ्च का अधिष्ठान है—ऐसा मान लेने पर भी अभिन्ननिमित्तोपादान कारणता की सिद्धि नहीं हुयी। अत: वेदान्त दर्शन के प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद के सप्तमाधिकरण (प्रकृत्याधिकरण) में सिद्धान्त मतानुसार जो अभिन्न निमित्तोपादानता का निरूपण किया गया है। वह अनुपपन्न हो जायेगा।

समाधान—उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि एक ही ब्रह्म अविद्योपहितत्वेन उपादान तथा अविद्यापरिणाम विषयक इच्छा और कृत्यादि का आश्रय होने के कारण कर्ता (निमित्त) बन जाता है। मूल में निमित्त कारण का लक्षण—अविद्यापरिणामेच्छाकृत्यादि कहा है। कृति के पश्चात् आदि क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि सिद्धान्त मतानुसार निमित्त (कर्ता) के लक्षण का फलितार्थ यह होता है— ''उपादानगोचरकार्यानुकूलज्ञानवत्त्वमेव कर्तृत्वम्।'' इसको ''ब्रह्मणो निमित्तत्वविचार:'' के लघुचन्द्रिका में स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार का कर्तृत्व साक्षी में भी रहेगा जो कल्पित रजतादि का कर्ता होता है। अत: सिद्धान्तमतानुसार अभिन्ननिमित्तोपादानता का प्रतिपादन युक्ति युक्त है।।७।।

—: इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां ब्रह्मणो जगदुपादानत्वोपपत्ति :—

९– ब्रह्मणो निमित्तत्वविचारः

ननु– एवं कुलालादिवदुपादानगोचरप्रयत्नादिमत्त्वं कर्तृत्वमुक्तं स्यात्, तच्च कार्यस्य कल्पितत्वे न घटते, कुलालादेरकल्पितं प्रत्येव कर्तृत्वदर्शनात्, कल्पितं च रूप्यादिकं प्रति भ्रान्तस्यान्यस्य वा कर्तृत्वादर्शनाच्चेति–चेन्न; कुलालकार्यघटादावप्यकल्पितत्वस्यासम्प्रतिपत्तेः; (तं प्रत्येव कर्तृत्वदर्शनात्, कल्पित) रूप्यादेरप्यकर्तृकत्वासिद्धेश्च, तत्रापि साक्षिण एव कर्तृत्वात्, न ह्यदर्शनमात्रेण कर्त्रपलापः, त्वन्मतेऽपि सर्वज्ञकर्तुरसिद्ध्यापत्तेः।१ ।।

एतेनाधिष्ठानत्वं न कर्तृत्वम्, एवं सत्यतिरिक्तोपादानत्वाभावेन कर्तृत्वोपादानत्वयोः सामानाधिकरण्योक्त्ययोगात्, नापि भ्रान्तवदध्यासद्रष्टृत्वम्; भ्रान्तस्य प्रेक्षापूर्वकमारोपितकर्तृत्वस्याभावात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का–पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने पीछे जो कहा कि एक ही ब्रह्म अविद्योपहितत्वेन उपादान और अविद्या परिणामविषयकइच्छा और कृति आदि का आश्रय होने से निमित्त (कर्ता) बन जाता है। सिद्धान्ती के इस कथन का फलितार्थ यह हुआ कि कुलालादि के समान उपादान विषयक इच्छा और प्रयत्नादि वाले को कर्ता (निमित्त) माना जाता है। किन्तु उक्त प्रकार का कर्तृत्व कार्य को कल्पित मानने पर संघटित नहीं हो सकता है, क्योंकि अकल्पित घटादि कार्य के प्रति ही कुलालादि में कर्तृत्व देखा जाता है। कल्पित रजतादि के प्रति भ्रान्त–अभ्रान्त सर्वसाधारण किसी में भी कर्तृत्व नहीं देखा जाता है।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि घटादि कार्य अकल्पित है। इसलिए उसका कर्ता कुलालादि होता है, किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी ने जिस घटादि कार्य को अकल्पित कहा, उस पर हमारी सम्मति नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण प्रपञ्च को ही हम कल्पित मानते हैं। ऐसे कल्पित घटादि का कर्तृत्व कुलालादि में दर्शन होने से कल्पित कार्य (व्यावहारिक कार्य) का कर्ता माना ही जा सकता है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि कल्पित (प्रातिभासिक) रजतादि का कोई कर्ता नहीं होता, वह भी उचित नहीं है, क्योंकि कल्पित रजतादि का कर्ता साक्षी ही माना जाता है। (कहने का भाव यह है कि पूर्वपक्षी ने कर्तृत्व का लक्षण उपादानगोचरप्रयत्नादि वाले को कर्ता कहा। वह ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त मतानुसार कर्तृत्व का लक्षण– उपादानगोचरकार्यानुकूलज्ञानवत्त्वम्'' है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा कथित कर्तृत्व का लक्षण कल्पित रजतादि के कर्ता साक्षी में न रहने पर भी सिद्धान्त मतानुसार कर्तृत्व का लक्षण कल्पित रजतादि के कर्ता साक्षी में रहेगा। इस प्रकार कल्पित रजतादि कार्य के कर्ता की सिद्धि हो जायेगी।) पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि कल्पित रजतादि की कर्तृता किसी भी पुरुष में देखी नहीं जाती है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अदर्शन मात्र से कल्पित रजतादि के कर्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता है। यदि अदर्शन मात्र से कर्ता का अपलाप करेंगे तब तो पूर्वपक्षी के मतानुसार जगत् का सर्वज्ञ ईश्वर रूप जो कर्ता है, उसकी भी सिद्धि नहीं हो पायेगी, क्योंकि ईश्वर भी आकाशादि की रचना करते हुए सर्वसाधारण के द्वारा नहीं देखा जाता है। ''कुलालकार्यघटादावप्यकल्पितत्वस्यासम्प्रतिपत्तेः'' के अनन्तर ''तं प्रत्येव कर्तृत्वदर्शनात्, कल्पित'' इतना पाठान्तर है।। १ ।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि अधिष्ठानत्व का अर्थ क्या (१) कर्तृत्व है? या (२) अध्यासद्रष्टृत्व है? या व्यामोहकत्व है। प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अधिष्ठानत्व को ही कर्तृत्व मानने पर फिर जो अधिष्ठान है वह उपादान नहीं बन पायेगा, तब जो कर्ता (निमित्त) है वही उपादान है– ऐसा जो समानाधिकरण का कथन वह नहीं बन पायेगा। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है क्योंकि जैसे रजताध्यास को जो देखने वाला है, वह भ्रान्त व्यक्ति ही अध्यास का कर्ता है, वैसे ही जगत् अध्यास का जो द्रष्टा है,

नापि मायाविवद्व्यामोहकत्वमेव कर्तृत्वम्। व्यामोहनीयजीवादर्शने व्यामोहकत्वाभावात्, तद्दर्शने भ्रान्त्यापत्तेः, व्यामोहकत्वस्याप्यारोपितत्वेनान्योन्याश्रयाच्च, 'नामरूपे व्याकरवाणि'इति श्रुत्यनुपपत्तेश्च। नहि मायावी गजादिकं करवाणीतिसङ्कल्प्य करोति, किन्तु दर्शयानीति सङ्कल्प्य दर्शयति। पक्षत्रयेऽपि जन्मादिसूत्रेऽर्थलब्धसार्वज्ञ्यादिस्फुरणार्थं 'शास्त्रयोनित्वाद्'इति सूत्रमिति यत् परमतं, तद्भङ्गः स्यात्, भ्रमाधिष्ठानत्वादिना सार्वज्ञ्यालाभात्। नाप्युपादानगोचरप्रयत्नादिमत्त्वम्, कल्पितं प्रति तदयोगात्। तस्मात् 'अधिष्ठाने तथा भ्रान्ते भ्रामके च न कर्तृता। लौकिकी कृतिमत्ता तु न दृष्टा कल्पितं प्रति।।२।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

वही जगत् का कर्ता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि भ्रान्त व्यक्ति में प्रेक्षापूर्वक आरोपित वस्तु का कर्तृत्व नहीं देखा जाता है। तृतीय पक्ष– मायावी के जैसे व्यामोहकत्व रूप कर्तृत्व भी नहीं माना जा सकता है। अर्थात् जैसे मायावी दर्शक को मोहित करता है। अतः वह कर्ता माना जाता है, वैसे ही ब्रह्म जीव को मोहित करता है। अतः ब्रह्म व्यामोहक होने से कर्ता माना जाता है। ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि ब्रह्म को अपने से भिन्न क्या व्यामोहनीय (जीव) दिखायी पड़ता है? या नहीं दिखायी पड़ता है? यदि नहीं दिखायी पड़ता है तब तो ब्रह्म जीव को मोहित नहीं कर सकता। अतः ब्रह्म व्यामोहक नहीं होगा, क्योंकि दृष्टान्त में मायावी को अपने से भिन्न दर्शक दिखायी पड़ता है। यदि ब्रह्म को अपने से भिन्न व्यामोहनीय (जीव) दिखायी पड़ते हैं। तब तो ब्रह्म को भ्रान्त कहा जायेगा, क्योंकि भ्रान्त पदार्थ शुक्तिरजतादि को देखने वाले को भ्रान्त कहा जाता है। इसी प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म से भिन्न जीव नहीं है फिर भी ब्रह्म को भेद दिखायी देता है तो ब्रह्म को भ्रान्त कहा जायेगा। यदि कहा जाय कि ब्रह्म को अपने से भिन्न व्यामोहनीय जीव दिखायी पड़ते हैं। इस पक्ष के अनुसार ब्रह्म व्यामोहक होने से कर्ता माना जायेगा और ब्रह्म में भ्रान्तत्व की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि ब्रह्म में व्यामोहकत्व को आरोपित मानेंगे। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा– सिद्धे हि व्यामोहे तद्वता जीवेन भगवति व्यामोहकत्वकल्पनात् , सत्यां च तस्यां व्यामोह इति। व्यामोहकत्वमात्र को कर्ता मानने पर ''नामरूपे व्याकरवाणि''(छा०उ० ६–३–२) इस श्रुति से विरोध होगा क्योंकि यदि ब्रह्म व्यामोहक होता तब श्रुति में जो कहा गया कि ''मैं जगत् को व्याकृत करुंगा–ऐसा सङ्कल्प कर के ब्रह्म जगत् को बनाता है। यह कथन अनुपपन्न हो जायेगा, क्योंकि व्यामोहक मायावी में यह देखा नहीं जाता कि वह गजादि को बनाऊंगा ऐसा सङ्कल्प कर के गजादि को बनाता है किन्तु यह देखा जाता है कि ''मैं दर्शकों को गजादि दिखाऊगा'' ऐसा सङ्कल्प कर के दिखाता है। अतः ''करवाणि'' शब्द का प्रयोग अनुपपन्न होने से ब्रह्म को व्यामोहक नहीं माना जा सकता है। उक्त तीनों प्रकारों में से किसी भी प्रकार से कर्ता मानने पर ''जन्माद्यस्य यतः'' (ब्र०सू०१–१–२) इस सूत्र से अर्थतः लब्ध जो सार्वज्ञ्यादि है। उसी सार्वज्ञ्यादि को ''शास्त्रयोनित्वात्'' (ब्र० सू० १–१–३) इस सूत्र के द्वारा स्फुरित (प्रमाणित) किया गया है। अर्थात् शास्त्र का कारण (रचयिता) होने से परमात्मा में सार्वज्ञ्य है। यह जो सिद्धान्ती का मत है वह भङ्ग हो जायेगा, क्योंकि भ्रमाधिष्ठानत्व या अध्यासद्रष्टृत्व या व्यामोहकत्व के द्वारा यह सिद्ध नहीं होता कि ब्रह्म सर्वज्ञ है। इसी प्रकार उपादानगोचरप्रयत्नादिमत्त्वरूप कर्तृत्व भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि घटादि कार्य को कल्पित मानने पर कल्पित घटादि के लिए उपादान विषयक प्रयत्नादि नहीं होता है। पूर्वपक्षी के द्वारा जो कहा गया। उसको संक्षेप से पूर्वपक्षी कह रहा है कि अधिष्ठान में तथा भ्रामक में और भ्रान्त में कर्तृता नहीं देखी गयी है और लौकिकी कृतिमत्ता (उपादानगोचरप्रयत्नादिमत्त्व) कल्पित कार्य के प्रति नहीं देखी गयी हैं।।२।।

इति निरस्तम्; अभिमतचतुर्थपक्षस्य समर्थितत्वात्। यत्तूक्तं तृतीयपक्षे व्यामुग्धजीवद्रष्टृत्वे भ्रान्तत्वापत्तिरिति, तद्भूषणमेव; भ्रान्तिज्ञस्याभ्रान्तत्वात्। यदपि मायाविनः सङ्कल्पपूर्वककर्तृत्वादर्शनेन व्याकरवाणीति श्रुत्यनुपपत्तिरिति, तन्न; तादृशसङ्कल्पादर्शनस्य मायाविन्यसम्प्रतिपत्तेः। यदप्युक्तं जन्मादिसूत्रार्थसिद्धसार्वज्ञ्यस्फोरकं 'शास्त्रयोनित्वाद्'इति सूत्रमिति परमतभङ्गः स्यादिति, तन्न; मायावित्वेऽपि सृक्ष्यमाणमायिकविश्वाकारमाया– सत्त्वांशपरिणामाधारतया सार्वज्ञ्यलाभात्। तस्मात् ब्रह्मणो निमित्तत्वमुपादानत्वञ्च।।

इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो विश्वकर्तृत्वोपपत्तिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान– एतेन निरस्तम्– ऐसा अन्वय है, एतेन का अर्थ है– उपादानगोचरकार्यानुकूलज्ञानवत्त्व को कर्तृत्व मानने से पूर्वपक्षी का उक्त कथन निरस्त हो गया। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि चतुर्थ पक्ष = उपादानगोचरप्रयत्नादिमत्त्व रूप जो कर्तृत्व है। उसमें से हमें ''कार्यानुकूलज्ञानवत्त्वं कर्तृत्वम्'' यही कर्तृत्व का लक्षण अभिमत है, क्योंकि ''सत्त्वांशपरिणाम'' इत्यादि के द्वारा आगे ज्ञानमात्र को कर्तृत्व कहा जायेगा। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि तृतीय पक्ष को स्वीकार करने पर भ्रान्त जीव का द्रष्टा ब्रह्म को मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर ब्रह्म में भ्रान्तत्वापत्ति होगी। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि भ्रान्त जीव का द्रष्टा ब्रह्म हैं– इस कथन में हमें इष्टापत्ति है। दूसरी बात जो पूर्वपक्षी ने कही कि ब्रह्म में भ्रान्तत्व की आपत्ति होगी, वह उचित नहीं है, क्योंकि भ्रान्ति का अभिज्ञ पुरुष भ्रान्त नहीं होता है, अपितु यथार्थ ज्ञाता होता है। यह जो कहा गया कि मायावी में सङ्कल्प पूर्वक कर्तृत्व न देखने से ''नामरूपे व्याकरवाणि'' (छा०उ० ६–२–३) इस श्रुति की अनुपपत्ति होगी। ऐसा कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि ''मायावी में सङ्कल्प पूर्वक कर्तृत्व नहीं देखा जाता है'' इसमें हमारी सम्मति नहीं है, क्योंकि मायावी भी ''व्याकरवाणि'' ऐसा सङ्कल्प करके गजादि को उत्पन्न करता हुआ देखा जाता है। यह जो कहा गया कि जन्मादि सूत्र से अर्थतः सिद्ध जो सार्वज्ञ्यादि है, उसको ''शास्त्रयोनित्वात्'' सूत्र से प्रमाणित किया गया है – ऐसा सिद्धान्ती का मत भङ्ग हो जायेगा– ऐसा कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि मायाविता के रहने पर भी आगे जिसको उत्पन्न करना है– ऐसा मायिक विश्व उस विश्व के आकार में माया के सत्त्वांश का परिणाम = ज्ञान (मायिक विश्व का ज्ञान) का आधार मायावी ईश्वर के होने से सार्वज्ञ्य का लाभ हो जायेगा। इस प्रकार से ब्रह्म में निमित्त कारणता और उपादान कारणता दोनों ही सिद्ध हो जाती है।।३।।

–ःइति सत्यानन्दप्रबोधिकायां ब्रह्मणो विश्वकर्तृतोपपत्तिः–

१०— ब्रह्मणोऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वे प्रमाणविचारः

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति 'जनिकर्तुः प्रकृतिः'इति सूत्रप्रकृत्यर्थविहितपञ्चमीश्रुत्या 'यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'इति स्थितिलयाधारत्वलिङ्गाच्चोपादानत्वसिद्धिः, 'तदैक्षत व्याकरवाणि'इति ईक्षणाद्याधारतया कर्तृत्वसिद्धिश्च।१ ।।

अथ—वृत्तौ 'पुत्रात् प्रमोदो जायत' इत्यादावनुपादानेऽपि पञ्चमीदर्शनात् प्रकृतिपदं हेतुमात्रपरमित्युक्तम्, न्यासेऽपि इदमेवाश्रित्य 'असति प्रकृतिग्रहणे उपादानस्यैवापादानसंज्ञा स्यात्, प्रत्यासत्तेः नेतरस्य। प्रकृतिग्रहणात् कारणमात्रस्य भवतीति प्रकृतिपदमनुपादानेऽपि अपादानसंज्ञासिद्ध्यर्थम्'इत्युक्तम्, महाभाष्येऽपि 'अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्। गोलोमाजलोमाविलोमभ्यो दूर्वा जायन्ते अपक्रामन्ति तास्तेभ्यः' इत्यादिना लोमादीनां

सत्यानन्दप्रबोधिका

ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है—यह पूर्व के दो प्रकरणों से कहा गया। ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है—इसमें प्रमाण क्या है? इसके समाधानार्थ यह प्रकरण प्रारम्भ हो रहा है। ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' (तै०उ० १—१—१) इस श्रुति में ''यतः'' पद में जो पञ्चमी विभक्ति है। वह ''जनिकर्तुः प्रकृतिः'' (पा०सू० १—४—३०—जायमानस्य हेतुः अपादानं स्यात्।) इस सूत्र के द्वारा उपादानता के अर्थ में विहित होने के कारण यह श्रुति ब्रह्म के उपादनत्व में प्रमाण है। इस प्रकार से पूर्वमीमांसा के तृतीय अध्याय में प्रतिपादित श्रुति—लिङ्गादि प्रमाणों में से उक्त पञ्चमी विभक्ति रूप श्रुति प्रमाण देने के पश्चात् लिङ्ग प्रमाण को देते हुए कह रहे हैं कि स्थिति = तादात्म्या स्थिति काल में कार्य उपादान कारण में तादात्म्येन वर्तमान रहता है। लय = उपादान कारण में संस्कार रूपेण स्थिति। इस प्रकार स्थिति और लय का आधार परमात्मा है—ऐसा जो ''येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'' (तै०उ०३—१—३) इस श्रुति के द्वारा परमात्मा में स्थिति लय आधारत्व रूप लिङ्ग कहा गया। उस लिङ्ग से भी ब्रह्म में उपादानत्व की सिद्धि होती है। इसी प्रकार ''तदैक्षत व्याकरवाणि'' इस श्रुति वाक्य से कथित जो ईक्षणादि है। उसका आधारत्वेन ब्रह्म में निमित्तकारणत्व की सिद्धि हो जाती है।। १ ।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''जनिकर्तुः प्रकृतिः'' इस सूत्र की काशिका वृत्ति में उदाहृत ''पुत्रात् प्रमोदो जायते'' इस स्थल पर देखा गया कि प्रमोद का उपादान जो पुत्र नहीं है। उस पुत्र पद के उत्तर पञ्चमी विभक्ति है। इसलिए सूत्रस्थ प्रकृति पद हेतु सामान्य का वाचक मानना उचित है उपादान रूप हेतु विशेष का नहीं। इसी प्रकार व्याकरण के न्यास नामक ग्रन्थ में भी उक्त सूत्र को उद्देश्य कर शब्द लाघव से ''जनिकर्तुर्हेतुः'' इतना ही कहना चाहिए—इस प्रकार शङ्का को उठाकर समाधान दिया गया कि प्रकृति को ग्रहण न कर के हेतु को ग्रहण करने पर उपादान की ही अपादान संज्ञा होगी, क्योंकि ''जनिकर्तुः'' इस षष्ठी विभक्ति से कार्य के तादात्म्य रूप अन्तरङ्ग सम्बन्ध का ही बोधन हो रहा है, अन्य सम्बन्ध का नहीं। कार्य का तादात्म्य रूप सम्बन्ध उपादान से ही होता है निमित्त से नहीं। प्रकृति ग्रहण करने पर कारण मात्र (उपादान और निमित्त दोनों) की अपादान संज्ञा होती है। अतः प्रकृति पद अनुपादान में भी अपादान संज्ञा की सिद्धि के लिए है—यह कहा गया है। इसी प्रकार महाभाष्य में भी कहा गया है—अयमपि = ''जनिकर्तुः प्रकृतिः'' यह भी, योगः = सूत्र, अवक्तुम् = न कहने को शक्य है। गो के लोमों से, बकरी के लोमों से, भेड़ के लोमों से दूर्वाएँ उत्पन्न होती है। वे दूर्वा उक्त लोमों से विभक्त होती हैं—इत्यादि से लोमादि में दूर्वादि के उत्पाद का अवधित्व होने के कारण ''ध्रुवमपायेऽपादानम्''(पा०सू०१—४—२४) {अपाय =विश्लेष = विभाग। ध्रुवम् =अवधि भूत। अर्थात् जिससे विभाग होता है उस अवधिभूत कारक की अपादान संज्ञा होती

दूर्वादीन् प्रत्यवधीत्वात् 'ध्रुवमपायेऽपादानम्'इत्यनेनैवापादानसंज्ञासिद्धेः, इदं सूत्रमनारम्भणीयमिति सूत्रं प्रत्याख्यातम्। कैयटेऽपि अपक्रमणावधित्वे लोमादिषु कार्यस्य प्रतीतिर्न सम्भवतीति आशङ्क्य बिलान्निष्क्रामतो दीर्घभोगस्य भोगिनः अवच्छिन्नतया तत्रोपलब्धिवत् कार्यस्यापि दुर्वादिस्तत्रोपलब्धिरित्यवधित्वमेव तत्रोपपादितम्। ततश्च मतद्वयेऽपि 'जनिकर्तुः प्रकृतिः इत्यनेन उपादान एव पञ्चमीति नियमो न सिद्ध्यतीति– चेत्।२॥

मैवम्' 'पशुना यजेत'इत्यादौ पशुशब्दस्य पशुमात्रवाचकत्वेऽपि 'छागस्य वपायाः' इति वाक्यशेषानुसारेण पशुविशेषपरत्ववदत्रापि कारणमात्रार्थत्वेऽपि उपादानपरत्वोपपत्तेः, अवधिपञ्चमीपक्षे 'शृङ्गाच्छरः' इत्यादौ शृङ्गादिपदस्य नियामकाभावात् निमित्तपरत्वेऽपि प्रकृते नियामकसत्त्वेन निमित्तपरत्वाभावात्। अत एव 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इत्यादावपि प्रकृतिपञ्चमी 'सच्च त्यच्चाभवद्'इति' वाक्यशेषेण 'सोऽकामयत'

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। जैसे पत्ते के विभाग की अवधिभूत वृक्ष की अपादान संज्ञा होती है। } इस सूत्र के द्वारा लोमादि की अपादान संज्ञा हो जायेगी। अतः लोमादि की अपादान संज्ञा के लिए ''जनिकर्तुः प्रकृतिः'' इस सूत्र के रचना की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार से ''जनिकर्तुः प्रकृतिः'' इस सूत्र का महाभाष्य में प्रत्याख्यान कर दिया गया है। इसी प्रकार महाभाष्य की व्याख्या में—लोमादि को दूर्वादि के अपक्रमण (विभाग) की अवधि मानने पर उपादान रूप लोमादि में कार्य (दूर्वादि)की प्रतीति नहीं होती है—ऐसी शङ्का उठाकर आगे कैयट ने लिखा है—सर्प के बिल से निकलने वाला दीर्घभोग (दीर्घ शरीर) वाला भोगी (सर्प) की अवच्छिन्नतया (बिल संयुक्तत्त्वेन) तत्र = बिल में उपलब्धि (प्रत्यक्ष) होती है। इसलिए लोमादि अवधि ही है न कि उपादान। इस प्रकार वृत्तिकारीय और भाष्यकारीय दोनों ही मत में ''जनिकर्तुः प्रकृतिः'' इस सूत्र से उपादान में ही पञ्चमी होती है—यह नियम सिद्ध नहीं होता है। अर्थात् वृत्तिकार के मत में प्रकृति पद कारण सामान्य का बोधक है और भाष्यकार के मत में इस सूत्र का प्रत्याख्यान होने के कारण सामान्य में भी पञ्चमी सम्भव है। इसलिए उपादान की ही अपादान संज्ञा होने से पञ्चमी विभक्ति आती है — ऐसा नियम नहीं माना जा सकता है।।२।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''पशुना यजेत'' इत्यादि विधिवाक्य स्थल पर देखा गया है कि ''पशु'' शब्द पशु सामान्य (केवल पशु) का वाचक होने पर भी ''छागस्य वपाया मेदसः'' इस वाक्य शेष के अनुसार पशु विशेष (छाग नामक विशेष पशु) का वाचक माना जाता है। ठीक इसी प्रकार उक्त श्रुतिस्थ ''यतः'' पद में पञ्चमी विभक्ति का अर्थ कारण सामान्य होने पर भी प्रकरण के अनुरोध से उपादान बोधक पञ्चमी विभक्ति माना जायेगा। अवधि में पञ्चमी होती है—इस पक्ष को स्वीकार करने पर ''शृङ्गाच्छरो जायते'' इत्यादि स्थल पर उपादानता का नियामक न होने के कारण ''शृगात्'' में निमित्तार्थक पञ्चमी मानी जाती है। (कहने का भाव यह है कि कर्दम (कीचड़) में प्रक्षिप्त शृङ्ग कणों से शर (सरकण्डा) उत्पन्न होता है— ऐसी लोक प्रसिद्धि ही हैं। शर का उपादान शृङ्ग है— इसमें कोई नियामक नहीं है। अतः शृङ्ग को शर का निमित्तकारण ही माना जाता है।) किन्तु '''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' इत्यादि दार्ष्टान्त स्थल पर स्थिति लय आधारत्व रूप उपादानता का नियामक रहने के कारण निमित्त पञ्चमी न मानकर उपादान पञ्चमी ही मानी जाती है। उपादान में नियामक के रहने से ही ''आत्मन आकाशः सम्भूत'' (तै०उ० २—१—१) इत्यादि स्थल पर भी ''आत्मनः'' पद में उपादानार्थक पञ्चमी विभक्ति ही मानी जाती है, क्योंकि ''सच्च त्यच्चाभवत्'' (तै०उ० २—६—१) इस वाक्य से और ''सोऽकामयत'' (तै०उ० २—६—१) इससे और शाखान्तर स्थित वाक्य ''तदैक्षत बहु स्याम्'' (छा०उ० ६—२—३) इस वाक्य से ब्रह्म और ब्रह्म सृज्य इन दोनों का प्रतीत जो अभेद है। अर्थात् कार्य कारण में

इत्येतच्छाखान्तरस्थितवाक्येन च प्रतीतसामानाधिकरण्यस्य नियामकत्वात्।।३।।

न च–'स तपो अतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवद्'इत्यादिश्रुत्या सदादिभवनस्य जगत्सृष्टितदनुप्रवेशानन्तरभावित्वेन जगत्सृष्टित्वानुपपत्तौ, परमेश्वरस्य सत्त्वादिगुणाभिव्यक्तिपरत्वेन ब्रह्मोपादानत्वे, नास्य प्रामाण्यम्, अन्यथा कथमभवदित्युक्तं स्यात्? न हि शुक्तिः रूप्यमभवदित्युच्यत इति–वाच्यम्; सदादिभवनस्यैव जगत्सृष्टिरूपतया तदानन्तर्याभावात्, तदनुप्रविश्येत्यस्य मुखं व्यादायेतिवदुपपत्तेः। न चेदं सर्वमसृजतेत्यनेन पौनरुक्त्यम्, निमित्तत्वमात्रभ्रान्ति–

सत्यानन्दप्रबोधिका

जो अभेद कहा गया है वह अभेद उपादान पक्ष में ही हो सकता है। इसी नियामक के होने से उपादानार्थक पञ्चमी विभक्ति मानी गयी है।।३।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च। तत्सृष्टा तदेवानुप्राविशत्, तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् '' (तै०उ० २–६–१) इस श्रुति में सत् आदि रूप से होना का अर्थ जगत् सृष्टि नहीं हो सकता है, क्योंकि सदादि भवन से पहले ही ''इदं सर्वं असृजत'' से सृष्टि कही गयी। इसके पश्चात् ''तदेवानुप्राविशत्'' से उसी सृष्टि में अनुप्रवेश कहा गया। तत्पश्चात् सदादि भवन कहा गया है। इस पर प्रश्न होता है कि ''सच्च त्यच्चाभवत्'' इस श्रुति वाक्य से जो सदादि भवन कहा गया है। उसका क्या अर्थ है? इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सदादि भवन का अर्थ है कि ईश्वर के सत्त्वादि गुणों की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए ''सच्च त्यच्चाभवत्'' इस वाक्य से प्रतीत सामानाधिकरण्य ब्रह्म की उपादानता में प्रमाण नहीं हो सकता है। अन्यथा उक्त सामानाधिकरण्य को ब्रह्मोपादानत्व में प्रामाण्य स्वीकारण करने पर, अभवत्–ऐसा प्रयोग नहीं हो पायेगा, क्योंकि ''शुक्तिः रूप्यमभवत्'' ऐसा नहीं कहा जाता है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म का सदादि भवन ही जगत् सृष्टि है। अतः जगत् सृष्टि का आनन्तर्य सदादि भवन में नहीं रह सकता है। ''तदनुप्रविश्य'' इस स्थल पर अतीतार्थक क्त्वा प्रत्यय स्थानीय ल्यप् का प्रयोग ''मुखं व्यादाय स्वपिति'' के समान समझना चाहिए। अर्थात् जैसे मुख का व्यादान और सुषुप्ति ये एककालावच्छेदेन है। इनमें पूर्वापर भाव नहीं है, फिर भी ''मुखं व्यादाय स्वपिति'' ऐसा व्यवहार होता है, वैसे ही अनुप्रवेश और सदादि भवन इन दोनों में पूर्वापर भाव नहीं है फिर भी वैसा व्यवहार किया गया है। (अथवा लघुचन्द्रिकाकार के अनुसार– अपञ्चीकृतसमष्टेरेव सृष्टिः पूर्वमुक्ता, सच्चेत्यादिना तु पञ्चीकृतसमष्टेः। अर्थात् ''इदं सर्वमसृजत'' से पहले अपञ्चीकृत सृष्टि कही गयी है और ''सच्च त्यच्चाभवत्'' से पञ्चीकृत सृष्टि कही गयी है, इस प्रकार सृष्टि का प्रतिपादन करती हुयी उक्त श्रुति ब्रह्म की उपादानता में प्रमाण हो जाती है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सृष्टि का कथन ''इदं सर्वमसृजत'' इस वाक्य से होने पर भी ''सच्च त्यच्चाभवत्'' इस वाक्य से भी सृष्टि का कथन मानने पर पुनरुक्ति होगी।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि केवल ''इदं सर्वमसृजत'' इतना ही श्रुति कहती तब ब्रह्म जगत् का केवल निमित्त कारण है उपादान कारण नहीं ऐसा भ्रम होता। इस भ्रम के निवारण के लिए ''सच्च त्यच्चाभवत्''कहा गया। इस वाक्य में ब्रह्म और कार्य का जो तादात्म्य (सामानाधिकरण्य) कहा गया। उससे सिद्ध हो जाता कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है, क्योंकि ''मृद् घटः'' इत्यादि स्थल पर उपादान कारण के साथ ही कार्य का तादात्म्य देखा जाता है, निमित्तकारण स्थल पर ''कुलालो घटः'' ऐसा

व्युदासपरत्वात्। यच्च शुक्तिः रूप्यमभवदित्यनुभवादर्शनमुक्तं, तच्छुक्तेरनुपादनत्वप्रयुक्तमिति तददर्शनस्यानुदाहरणत्वात्। न च— मूर्तामूर्तप्रपञ्चस्य सत्त्यत्पदाभ्यामेवोक्तत्वेन निरुक्तादिपदवैयर्थ्यमिति—शङ्क्यम्; संग्रहविवरणरूपतयोपपत्तेः।।४।।

ननु—'सोऽकामयत बहु स्याम्'इति वाक्यं न सृज्यसाहचर्य्यमाह येन तत्सामानाधिकरण्यमीश्वरस्य प्रतीयते किन्तु परमेश्वरस्य 'अजायमानो बहुधा विजायते यदेकमव्यक्तम्'इत्यादिश्रुतिसिद्धतत्तदनन्त—पदार्थप्रेरकानन्तरूपैर्बहुभावसङ्कल्पमाह। न च स्वस्यानन्तरूपैर्बहुभावं सङ्कल्प्य 'इदं सर्वमसृजत'इति जगत्सर्जनानुपपत्तिः; नियामकरूपैर्बहुभावस्य नियम्यसापेक्षत्वात्, नियम्य सर्व सृष्ट्वा नियामकरूपैः

सत्यानन्दप्रबोधिका

तादात्म्य नहीं देखा जाता है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि''शुक्तिः रूप्यमभवत्'' इत्याकारक अनुभव नहीं देखा जाता है। इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त प्रकार का अनुभव इसलिए नहीं होता है, क्योंकि शुक्ति रजत का उपादान कारण नहीं है अपितु शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य ही रजत का विवर्तोपादान कारण है। जबकि सिद्धान्त मतानुसार ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। अतः श्रुति के द्वारा ''तदभवत्'' ऐसा कथन युक्तियुक्त है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ''सच्च त्यच्चाभवत्'' से ईश्वर के सत्त्वादि गुणों की अभिव्यक्ति न मानकर मूर्त (पृथिवी जल और तेज) तथा अमूर्त (वायु और आकाश) एतदात्मक प्रपञ्च को सत् तथा त्यत् इन दोनों से ही उक्तत्व होने पर ''निरुक्तं चानिरुक्तं च, निलयनं चानिलयनं च, विज्ञानं चाविज्ञानं च।'' इत्यादि पदों का वैयर्थ्य होगा ,क्योंकि इन पदों के द्वारा भी मूर्तामूर्त प्रपञ्च ही कहा गया है। इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि मूर्तामूर्त का बोधक ''सच्च त्यच्चाभवत्'' इत्यादि संग्रह वाक्य है और मूर्तामूर्त का बोधक ''निरुक्तं चानिरुक्तं च'' इत्यादि विवरण वाक्य है।।४।''

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''सोऽकामयत बहु स्याम्'' इस श्रुति के द्वारा ''मैं ही सृज्य रूप से हो जाऊ'' अर्थात् ब्रह्म ही जगत् रूप से विवर्तित हो गया— ऐसा नहीं कहा गया है। अतः सृज्य के साथ ब्रह्म का सामानाधिकरण्य प्रतीत नहीं होता है। अपितु ''अजायमानो बहुधा विजायते'' तथा ''यदेकमव्यक्तम्'' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध जो तत्तदनन्तपदार्थ (जगत्) उसका प्रेरक (नियामक) परमेश्वर का अनन्त रूप। उस अनन्त रूपों से मैं (परमेश्वर) विराजमान होऊ— ऐसा संकल्प ही उक्त श्रुति वाक्य के द्वारा कहा गया है। यदि कहा जाय कि उक्त प्रकार से केवल संकल्प अर्थ लेने पर अपने अनन्त रूपों से बहु भाव का संकल्प करके ''इदं सर्वमसृजत'' इस वाक्य से जो जगत् का सर्जन कहा गया है। उसकी अनुपपत्ति होगी। इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि नियामक रूपों से जो उस बहुभाव होता है, उस बहुभाव को नियम्य सापेक्षत्व होने से नियम्य भूत सभी को बनाकर नियामक रूपों से प्रवेश की उक्ति उपपन्न हो जायेगी। अर्थात् पहले जगत् की सृष्टि करनी पड़ेगी तब नियम्य मिल जायेगा, तब उन अनन्त नियम्यों में अनन्त रूपों से नियामक विराजमान हो जायेगा। अन्यथा नियम्य जगत् को उत्पन्न किये विना ''सोऽकामयत बहु स्याम्'' में स्याम् पद के के द्वारा नियम्य के वर्तमान कालीन सत्त्व की जो उक्ति है, वह नहीं बन पायेगी। अर्थात् सिद्धान्ती ''बहु स्याम्'' का अर्थ इस प्रकार करते है कि भावि सृज्य पदार्थों से तादात्म्य को प्राप्त करु—ऐसा संकल्प किया। पूर्वपक्षी के अनुसार ''बहु स्याम्'' का अर्थ है— अपने ही अनन्त रूपों से अवस्थान करु ऐसा संकल्प किया। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि बहु का अर्थ अनन्त रूप लेने पर अनन्त रूप तो वर्तमान है। अतः ''बहु स्याम्'' इस प्रकार प्रयोग बन जायेगा। यदि ''बहु स्याम्'' में बहु का अर्थ सृज्य पदार्थ लेंगे तब तो सृज्य पदार्थ तो भावी है। अतः ''स्याम्'' ऐसा प्रयोग

प्रवेशोक्त्युपपत्तेः। अन्यथा स्यामिति सत्त्वोक्तिर्न स्यात्, सृष्टेः प्रागन्तःकरणाभावेन तद्विशिष्टाहमर्थाभावेन उत्तमपुरुषानुपपत्तिश्च स्यादिति—चेत्।।५।।

न, स्यामित्यनेन सुखी स्यामित्यादिवत् भाविसत्त्वोक्तौ तदनुपपत्त्यसम्भवात्। अन्यथा सङ्कल्पविषयत्वानुपपत्तेः; सिद्धे इच्छाविरहात्। इदमेव च बहुपदस्य सृज्यपरत्वे विनिगमकम्; नियामकरूपाणां च तवापि मते ईश्वराभिन्नतया सिद्धत्वात्। तथा चेच्छाया नियम्य एव त्वन्मतेऽपि पर्यवसानात्। तथा चेच्छायास्तेजःप्रभृतिविषयत्वेन बहु स्यामिति सङ्कल्प्य तेजःप्रभृतिसर्जनं गुरुः स्यामिति सङ्कल्प्य शिष्यसम्पादनादिवदिति निरस्तम्। यच्चोक्तमुत्तमपुरुषानुपपत्तिरिति, तन्न, तादृशाविद्यापरिणामविशिष्टे अहमिति प्रयोगसम्भवेन उत्तमपुरुषोपपत्तेः। एवमेव 'तदैक्षत बहु स्याम्'इत्याद्यत्र मानं बोध्यम्।।६।।

ननु च—यत्तेजः प्रभृति सृज्यं, तदात्मना हि त्वया बहुभावो वाच्यः; तेषां तु तेज आदीनामीक्षितृत्वस्रष्टृत्व—

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं बन पायेगा। दूसरी बात यह भी है कि अन्तःकरणादि जगत् की सृष्टि के पूर्व में अन्तःकरण के अभाव से अन्तःकरण विशिष्ट अहमर्थ का अभाव होने से ''स्याम्'' इस प्रकार से उत्तम पुरुष का प्रयोग भी नहीं होगा।।५।।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि भावी सुखित्व को लेकर जैसे ''सुखी स्याम्'' ऐसा प्रयोग होता है, वैसे ही सृज्य पदार्थों के भावी सत्त्व को लेकर के भी ''बहु स्याम्'' ऐसा प्रयोग हो जाने से किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होगी। अन्यथा = सृज्य पदार्थों के भावी सत्त्व को न मानकर वर्तमान में मानने पर संकल्प विषयत्व की अनुपपत्ति होगी। अर्थात् उसकी इच्छा ही नहीं होगी, क्योंकि इच्छा सिद्ध पदार्थ की नहीं होती हैं अपितु साध्य पदार्थ की होती है। बहु पद से परमात्मा के वर्तमान अनन्त रूपों को न लेकर भावी सृज्य पदार्थों के लेने में यही विनिगमना है कि सिद्ध पदार्थ की इच्छा नहीं होती है। दूसरी बात यह है कि पूर्वपक्षी के मत में नियामक गुण ईश्वर से अभिन्न होने के कारण नित्य सिद्ध होते हैं। फलतः नित्य सिद्ध होने के कारण नियामक गुणों की इच्छा न होकर नियम्य जगत् की ही इच्छा पूर्वपक्षी को भी मानना पड़ेगा। इच्छा का तेजादि विषयत्व होने से और ईश्वर से अभिन्न नियामक गुणों की इच्छा न होने से पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि जैसे कोई आचार्य ''अहं भाविशिष्याणामाचार्यः स्याम्'' इस प्रकार का संकल्प कर के शिष्यों को संगृहीत कर के अध्यापन क्रिया के द्वारा अपने को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करता है वैसे ही ईश्वर ''बहु स्याम्'' ऐसा संकल्प कर तेज आदि का सर्जन करता है— ऐसा पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया। पूर्वपक्षी ने जो उत्तम पुरुष के प्रयोग की अनुपपत्ति को कहा था वह भी उचित नहीं है, क्योंकि ''बहु स्याम्'' इत्याकारक जो संकल्प रूप अविद्या का परिणाम, तादृश परिणाम से विशिष्ट चैतन्य में अहम् शब्द का प्रयोग सम्भव होने से ''स्याम्'' इस प्रकार से उत्तम पुरुष का प्रयोग सम्भव हो जायेगा। इसी प्रकार से ''तदैक्षत बहु स्याम्'' (छा०उ०६—२—३) इत्यादि श्रुतियाँ भी ब्रह्म के प्रपञ्चोपादानकारणत्व में प्रमाण समझना चाहिए।।६।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्त मतानुसार जो तेज आदि सर्जन के योग्य पदार्थ हैं। उन पदार्थों के रूप में ब्रह्म का बहुभाव कहना पड़ेगा। ऐसा होने पर ही विवर्तवाद की उपपत्ति हो पायेगी किन्तु ऐसा माना नहीं जा सकता है, क्योंकि ''तत्तेज ऐक्षत, तदपोऽसृजत, त्रिस्रो देवताः'' (छा०उ० ६—२—३) यहाँ प्रथम वाक्य के द्वारा तेज में ईक्षितृत्व और दूसरे वाक्य से तेज में स्रष्टृत्व कहा गया है तथा तृतीय वाक्य से पृथ्वी जल तेज तीनों में देवतात्मत्व कहा गया। इससे सिद्ध होता है कि पृथ्वी जल तेज ये तीनों ही चेतन हैं। चेतन के प्रति कोई उपादान कारण हो नहीं सकता है। अर्थात् सिद्धान्ती के मत में भी चेतनतत्त्व

देवतात्मत्वश्रवणात्तानि चेतनानि, न च चेतनं प्रत्युपादानं नामेति—चेत् सत्यम्, सृज्यानामीक्षितृत्वाद्यसम्भवेन ईक्षणादिकर्तृप्रतिपादकतेज आदिपदैस्तेज आद्यवच्छिन्न आत्मा बोध्यते। पूर्वपूर्वकार्यावच्छिन्नस्य तस्यैवोत्तरोत्तरकार्यनिमित्तत्वात्। तथा चावच्छेदके तेज आदौ न चैतन्यनिबन्धनदोषावकाशः। 'असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत'इत्याद्यप्युक्तार्थे प्रमाणम्। न चात्मनः करणे अकुरुतेति सत्त्वोक्त्यनुपपत्तिः; आकाशाद्यात्मना क्रियमाणत्वेऽपि स्वरुपेण सत्त्वोपपत्ते। एतदर्थमेवात्मानमाकाशाद्यात्मना अकुरुतेत्यश्रूयमाणोऽप्यर्थः कल्प्यते। एवं 'तदात्मानं सृजाम्यहम्'इत्यादिस्मृतिषु धर्मस्थापकशरीराद्यात्मनेति व्याख्येयम्।।७।।

न च—'ततो वै सदजायत'इति तच्छब्दोपात्तब्रह्मणः प्रपञ्चोत्पत्तेः प्राक् सिद्धत्वात्तदात्मानमिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

का कोई उपादान कारण माना नहीं जाता है।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि यह सत्य है कि पृथ्वी जल तेज इन तीनों सृज्य पदार्थों का ईक्षितृत्व स्रष्टृत्व और देवतात्मत्व मानना सम्भव नहीं है। इसलिए ईक्षणादि के कर्ताओं के प्रतिपादक जो तेज आदि पद है, उन पदों से तेज आदि से अवच्छिन्न जो आत्मा है। वह बोधित होता है। पूर्व पूर्व कार्यावच्छिन्न आत्मा ही उत्तरोत्तर कार्य के प्रति कारण होती है। अर्थात् ''तत्तेज ऐक्षत'' इससे तेज अवच्छिन्न आत्मा में ही ईक्षितृत्व का बोध होता है। तेज अवच्छिन्न आत्मा में जल का स्रष्टृत्व तथा जल अवच्छिन्न आत्मा में पृथिवी का स्रष्टृत्व बोधित होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अवच्छेदकीभूत जड़ रूप तेज आदि जो है वे ही सृज्यमान है। उनका उपादान कारण सम्भव है और वही तेज आदि के रूप में विवर्तित होता है। फलतः अवच्छेदक तेज आदि जो जड़ है, उनको चेतन मानकर पूर्वपक्षी ने जो दोष दिया था। उसका खण्डन हो गया। ''असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत'' (तै०उ० २—७—१) और ''तदात्मानं स्वयमकुरुत'' (तै०उ० २—७—१) इत्यादि श्रुतियाँ एक सद्ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है इसमें प्रमाण हैं।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि आत्मा को ही आकाशादि रूप से क्रियमाण मानने पर ''अकुरुत'' इस प्रकार से क्रिया के कर्ता रूप से पूर्वसत्त्व का कथन जो श्रुति ने किया है। वह उपपन्न नहीं हो पायेगा, क्योंकि एक ही व्यक्ति एक ही काल में भावी क्रियमाण और वर्तमान कर्ता इन दोनों रूपों में नहीं रह सकता है। अर्थात् आकाशादि क्रियमाण भावी होगा और कर्ता का सत्त्व क्रियमाण से पूर्व में होता है। एक ही काल में माना नहीं जा सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जिस रूप से क्रियमाण है उस रूप से कर्ता भले ही न बने किन्तु अन्य रूप से कर्ता होने में कोई आपत्ति नहीं है। ब्रह्म स्वरूपतः सत् और आकाशादि रूप से असत् है। इसलिए स्वरूपतः सत् रूपेण ब्रह्म कर्ता और आकाशादि असत् रूपेण क्रियमाण हो जायेगा। ''तदात्मानं स्वयमकुरुत'' (तै०उ० २—७—१) इस वाक्य के अर्थ की अनुपपत्ति के निवारण के लिए ही—''आत्मानमाकाशाद्यात्मना अकुरुत''(अपने आप को आकाशादि रूप से विवर्तित किया) ऐसे अर्थ की कल्पना की जाती है। इसी प्रकार से ''तदात्मानं सृजाम्यहम्'' (गी० ४—७) इत्यादि स्थल पर भी ''धर्म संस्थापक शरीरादि रूप से अपने को मैं बनाता हूँ'' ऐसी व्याख्या कर लेनी चाहिए।।७।।

शङ्का— ''ततो वै सदजायत'' (तै०उ० २—७—१) इस श्रुति वाक्य में तत् शब्द से ब्रह्म लिया जाता है। ऐसा होने से प्रपञ्च की उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्म रूप उपादान कारण की सिद्धि हो जाती है तब पुनः उसी अर्थ को बतलाने वाले ''तदात्मानं स्वयमकुरुत (तै०उ०२—७—१) इस श्रुति वाक्य में सिद्धान्ती के मतानुसार

व्यर्थमिति—वाच्यम्; निमित्तत्वे पूर्ववाक्येन लब्धेऽपि उपादानत्वबोधनेनास्यापि सफलत्वात्। ननु—यदुक्तं ब्रह्मण्येव सृष्टिलयश्रवणात् ब्रह्मोपादानमिति, तन्न; ऊर्णनाभौ तन्तुनिमित्ते तन्तुलयस्य दर्शनात्, तत्र हि यथा पुत्रं प्रति पितृदेहधातोरुपादानत्वेऽपि न पिता तदुपादानम्, किन्तु निमित्तमात्रम्, तथा ऊर्णनाभिधातोस्तदुपादानत्वेपि तस्य निमित्तत्वमेव, ब्रह्मणोऽपि ऊर्णनाभिवदेव संहर्तृत्वस्य यथोर्णनाभिरित्यादिना श्रवणाच्चेति—चेन्न; यद्यप्यूर्णनाभेर्न तन्तूपादानत्वम्, तस्मिन्नष्टेऽपि तन्तूपलम्भात्, किन्तु भुक्ताहारस्यैव, तथापि तत्र न तन्तोर्लयः; किन्तु

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्यर्थतापत्ति आयेगी।

समाधान— उक्त प्रकार से व्यर्थतापत्ति नहीं होगी, क्योंकि ब्रह्म प्रपञ्च का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। इसको बतलाने के लिए पूर्व श्रुतिवाक्यस्थ तत् पद के द्वारा ब्रह्म का परामर्श करके ब्रह्म में प्रपञ्च की निमित्त कारणता कही गयी और उत्तर श्रुति वाक्यस्थ तत् पद के द्वारा ब्रह्म का परामर्श करके ब्रह्म में प्रपञ्च की उपादान कारणता कही गयी है। अत: उक्त दोनों श्रुति वाक्यों की सार्थकता सूपपन्न है। कहने का भाव यह है कि पूर्व वाक्य में ब्रह्म के साथ कार्य का तादात्म्य नहीं बताए जाने के कारण ब्रह्म प्रपञ्च रूप कार्य का उपादान कारण है— यह अर्थ नहीं निकल रहा था। इससे ब्रह्म में केवल निमित्तकारणता की ही सिद्धि हो पा रही थी। इसलिए द्वितीय वाक्य में ब्रह्म के साथ प्रपञ्च रूप कार्य का तादात्म्य कहा गया। ऐसा होने से ब्रह्म में प्रपञ्च की उपादान कारणता की सिद्धि हो जाती है। अत: सिद्धान्त मतानुसार उत्तर वाक्य में व्यर्थतापत्ति नहीं आयेगी।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि तैत्तिरीय श्रुति का आश्रय करके सिद्धान्ती ने खण्ड संख्या १ में जो कहा था कि ब्रह्म से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। अत: प्रपञ्च का निमित्त कारण ब्रह्म है और ब्रह्म में ही सृष्टि का लय होता है— इसलिए ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्यों ब्रह्म से प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है। अत: ब्रह्म प्रपञ्च का निमित्त कारण है— ऐसा मानने में पूर्वपक्षी को कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु ब्रह्म में ही सृष्टि का लय होता है— इसलिए ब्रह्म प्रपञ्च का उपादान कारण है। अर्थात् जिसमें कार्य लय होता है वह उसका उपादान कारण होता है— ऐसा नियम नहीं माना जा सकता है, क्योंकि तन्तुओं का निमित्तकारणीभूत जो ऊर्णनाभि (मकड़ी)में तन्तुओं का लय देखा जाता है। इस स्थल पर मकड़ी के मुख से निकलने वाला लार रूप धातु तन्तुओं के प्रति उपादान होने पर भी मकड़ी को तन्तुओं का उपादान कारण नहीं माना जाता है, क्योंकि मकड़ी के मर जाने पर तन्तु रहता है। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जैसे पुत्र के प्रति पितृदेहीय वीर्य रूप धातु में उपादानत्व होने पर भी पिता पुत्र का उपादान कारण नहीं होता है, क्योंकि पिता के मर जाने पर भी पुत्र रहता है। अत: प्रकृत में भी मकड़ी की तरह ब्रह्मनिष्ठ संहर्तृत्व का उल्लेख ''यथोर्णनाभि: सृजते गृह्णते च'' (मु०उ०१—१—७) इस श्रुति में होने पर भी ब्रह्मनिष्ठ निमित्तकारणता ही सिद्ध होती है।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि यद्यपि मकड़ी को तन्तुओं का उपादान कारण नहीं माना जाता है, क्योंकि मकड़ी के मर जाने पर भी तन्तु रहता है। अर्थात् तन्तु तादात्म्येन मकड़ी का प्रत्यक्ष न होने पर भी तन्तु का प्रत्यक्ष होता है। इसलिए मकड़ी तन्तु का उपादान कारण नहीं है। दूसरी बात यह है कि मकड़ी के द्वारा निगले गये जन्तु आदि आहार ही द्रवीभूत होकर तन्तु का रूप धारण करते है किन्तु पुन: उन तन्तुओं का मकड़ी में लय नहीं होता है अपितु शरीर बहिर्देशस्थ तन्तुओं का शरीरान्त: स्थिति मात्र होती है। इसको स्पष्ट करने के लिए ही ''यथोर्णनाभि: सृजते गृह्णते च'' (मु० १—१—७) इस श्रुति में

बहिष्ठस्यान्तःप्रवेशमात्रम्। अत एव–'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च'इत्युक्तम्। न च ब्रह्मणस्तन्न्यायेन संहर्तृत्वोक्त्या तद्वदेव तदस्त्विति–वाच्यम्, 'तज्जलान्'इत्यादिना तत्र लयश्रवणात्, तिरोभावमात्रे च तस्य निदर्शनत्वात्, सर्वसाम्यस्य दृष्टान्तत्वाप्रयोजकत्वाच्च॥८॥

'तद्भूतयोनिम्'इति योनिश्रुत्या चोपादानत्वम्। न च–'योनिष्ट इन्द्रसदन'इत्यादौ निमित्तेऽपि योनिशब्दप्रयोगात् न तेनोपादानतासिद्धिः; 'मुख्यस्तु शब्दस्वरसाद्'इति न्यायेन कदाचिदन्यत्र कथञ्चिन्निमित्ते तत् प्रयोगेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

''विलापयति'' पद का प्रयोग न कर के गृह्णते पद का प्रयोग किया गया है।

शङ्का– जैसे बाह्य तन्तुओं का मकड़ी में अन्तः प्रवेश होता है। न कि लय होता है। अतः तन्तुओं के प्रति मकड़ी निमित्तकारण होती है। इसी प्रकार बाह्य जगत् का ब्रह्म में अन्तः प्रवेश होता है न कि लय। ऐसा मानकर ब्रह्म को प्रपञ्च का निमित्त कारण ही क्यों न मान लिया जाय?

समाधान– ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती है, क्योंकि ''तज्जलान्'' (छा० ३–१४–१) इस श्रुति के द्वारा तज्ज, तल्ल और तदन कहकर यह दिखाया गया है कि जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय का अधिष्ठान ब्रह्म ही है। अतः ब्रह्म में प्रपञ्च का लय होने से प्रपञ्च का उपादान कारण भी ब्रह्म ही सिद्ध होता है। श्रुति में जो मकड़ी का दृष्टान्त दिया गया है वह ब्रह्म में जगत् की उपादान कारणता बतलाने के लिए नहीं है अपितु ब्रह्म से ही प्रपञ्च का अविर्भाव और तिरोभाव होता है– यह दिखलाने के लिए दिया गया है। यदि कहो कि ऐसा मानने पर दृष्टान्त और दार्ष्टान्ति में एक रूपता नहीं आ रही है। इसी का उत्तर देते हुए कह रहें है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्ति में सर्वथा साम्य नहीं माना जा सकता है, क्योंकि सर्वथा साम्य हो जाने पर दार्ष्टान्ति से दृष्टान्त अभिन्न हो जायेगा तब उसमें दृष्टान्तता की ही उपपत्ति नहीं हो पायेगी॥८॥

प्रपञ्च का उपादान कारण ब्रह्म है– इसमें श्रुति प्रमाण है– तद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः'' (मु०उ० १–१–६)

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''तद् भूतयोनिम्'' इस श्रुति वाक्य में आया हुआ योनि पद उपादानार्थक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ''योनिष्ट इन्द्र सदने अकारि तमानृभिः पुरुहूत प्रयाहि असो यथा नोऽविता वृधे च ददो वसूनि ममदश्च सोमैः।'' (ऋ० ७–२४–१) {हि पुरुहूतः (बहुप्रार्थित) इन्द्र! आप के सदनार्थ (बैठने के लिए) योनि (स्थान) बना दिया गया है। उस स्थान पर आप नृभिः सह = मरुद्गणों के साथ प्रयाहि = विराजमान हो जाय और हमारे अविता = रक्षक बन और हमारी वृधे = वृद्धि करें वसूनि = धन प्रदान करे तथा सोम रस पीकर ममदः = मदमस्त हो जाए।} यहाँ बैठने क्रिया के निमित्त भूत स्थान को योनि शब्द से कहा गया है। अतः योनि पद के द्वारा ब्रह्म में उपादान कारणता सिद्ध न होकर निमित्तकारणता ही सिद्ध हो रही है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''मुख्यस्तु शब्दस्वरसात्'' (जै०सू० १२–२–८) इस सूत्र में कहा गया है कि शब्द का अर्थान्तर में अनुपपत्ति के विना ही जो अर्थ प्रतीत होता है वह मुख्यार्थ होता है। मुख्यार्थ का सम्भव होने पर अन्य अर्थ गृहीत नहीं होता है। योनि शब्द का मुख्यार्थ उपादान कारण ही है। उक्त ऋचा में जो योनि शब्द का स्थान अर्थ किया गया है वह उपादान कारण में रहने वाला जो आधारत्वादि गुण है। उस गुणों के योग से योनि शब्द का गौण रूप से स्थान अर्थ किया गया है। अतः प्रकृत में उत्सर्ग सिद्ध जो योनि शब्द का मुख्यार्थ (उपादान कारण) का त्याग नहीं किया जा सकता है। इसलिए भगवान् वादरायण ने ''योनिश्च हि गीयते'' (ब्र०सू० १–४–२४) इस सूत्र के द्वारा योनि शब्द का मुख्यार्थ लेते हुए ब्रह्म में प्रपञ्च की उपादान कारणता सिद्ध की है। ''कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं

औत्सर्गिकमुख्यार्थत्यागस्य प्रकृतेऽयोगात्। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानश्रुतिरप्युपादानत्वे मानम्। यथा च न सादृश्यप्राधान्याभ्यामुपपत्तिस्तथोक्तं प्राक्। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'इति सामानाधिकरण्यश्रुतिरपि तत्र मानम्। न च— 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः'इति स्मृत्याऽन्यथाव्याख्यातत्वान्न तत्र मानतेति—वाच्यम्; अधिष्ठानतया

सत्यानन्दप्रबोधिका

विज्ञातं भवतीति'' (मु०उ० १—१—३) यह श्रुति भी ब्रह्मगत प्रपञ्च की उपादान कारणता को सिद्ध कर रही है, क्योंकि उपादान कारण से पृथक कार्य होता नहीं है। जब ब्रह्म सम्पूर्ण प्रपञ्च का उपादान कारण होगा तब ब्रह्म से पृथक प्रपञ्च रूप कार्य होगा नहीं। ऐसा होने पर एक मात्र ब्रह्म के ज्ञान से सम्पूर्ण प्रपञ्च का ज्ञान हो जायेगा। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि एक विज्ञान श्रुति का यह अर्थ नहीं है कि ब्रह्म के सर्वदृश्यरूपत्व होने से ब्रह्म के ज्ञान से सर्व का ज्ञान हो जाता है, अपितु एक विज्ञान श्रुति का यह अर्थ है कि सर्व दृश्य में सद् रूपादि से ब्रह्म का सादृश्य होने से और सर्व दृश्य ब्रह्म के अधीन होने से ब्रह्म के प्राधान्य से ब्रह्म के ज्ञान से सर्व का ज्ञान हो जाता है। इसको पूर्वपक्षी ने इस प्रकार से कहा—

यथा मृत्पिण्डविज्ञानात् सादृश्यादेव मृण्मयाः। विज्ञायन्ते तथा विष्णोः सादृश्याज्जगदेव च।।
अनन्याधीनविज्ञानादन्याधीनं तथैव च। मृदयोलोहनाम्नां हि ज्ञानात् सांकेतिकं यथा।।

अतः एक विज्ञान श्रुति के बल पर प्रपञ्च की उपादान कारणता ब्रह्म में सिद्ध नहीं की जा सकती है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जिस प्रकार से सादृश्य से और प्राधान्य से एक के ज्ञान से सर्व के ज्ञान की उपपत्ति नहीं हो सकती है—इसका खण्डन करने के प्रकार का संकेत ''अद्वैतश्रुतेर्बाधविचारः'' के समाप्ति के अवसर पर किया गया है। यह तो स्पष्ट है कि चन्द्र का सादृश्य मुख के साथ है किन्तु केवल चन्द्रमा के ज्ञान से मुख का ज्ञान नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि अपरा विद्या में कथित पदार्थ दृश्य और परा विद्या का विषय अदृश्य है। इन दोनों में सादृश्य की उपपत्ति नहीं हो पायेगी। यत् किञ्चित् सादृश्य ले तो भी एक के ज्ञान से दूसरे के ज्ञान की सिद्धि नहीं हो पायेगी। इसी प्रकार देश का प्रधान राजा है। उसके ज्ञान से सभी प्रजा—पर्वत नदी आदि का ज्ञान नहीं हो सकता है। अर्थात् किसी देश का राजा आप के सामने आया, उसका ज्ञान आपको हुआ किन्तु उस देश की प्रजादि कैसे हैं? इसका ज्ञान आप को नहीं हो सकता है। ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' (छा० ३—१४—१) यहाँ ''सर्वमाभरणं सुवर्णम्'' के समान सर्व और ब्रह्म का सामानाधिकरण्य का उल्लेख भी ब्रह्मगत सर्वोपादनता को प्रामाणित कर रहा है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' (छा०३—१४—१) इस श्रुति की जैसे व्याख्या की और उसके माध्यम से ब्रह्म में प्रपञ्च की उपादान कारणता सिद्ध की। वैसा व्याख्यान सिद्धान्ती का नहीं माना जा सकता है अपितु उसका व्याख्यान इस प्रकार से है कि ''सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः'' (गी० ११—४०) के शाङ्कर भाष्य में कहा गया है कि ''सर्वं समस्तं जगत् समाप्नोषि सम्यग् एकेन आत्मना व्याप्नोषि यतः तस्माद् असि भवसि सर्वः।'' (सिद्धान्ती के मतानुसार जो भाष्य है, उसका अर्थ = आप अपने एक स्वरूप से सम्पूर्ण प्रपञ्च को व्याप्त किए हुए स्थित है, इसलिए आप सर्व रूप हैं। अर्थात् समस्त प्रपञ्च को व्याप्त किये हुए हैं इसलिए आप सर्वात्मक हैं।) इस प्रकार के अर्थ से यह सिद्ध होता है ब्रह्म सर्व सम्बन्धी या सर्वत्र व्याप्त होने के कारण सर्व कहलाता है। ब्रह्म प्रपञ्च का उपादान कारण है— इसलिए ब्रह्म सर्व कहलाता है— ऐसा नहीं है। इस गीता वाक्य के द्वारा ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' (छा० ३—१४—१) इस श्रुति की व्याख्या की गयी है। अतः इस श्रुति से भी यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त होने के

सर्वव्यापित्वस्य सर्वशब्दप्रयोगनिमित्तत्वाद्, अन्यथा आकाशेऽपि सर्वपदप्रयोगापत्तेः। अनुपादानत्वे प्रकृत्यधिकरणविरोधापत्तेश्च उपादानत्वम्। श्रुत्यनुगृहीतानुमानमप्यत्र विवरणोक्तमध्यवसेयम्। तथाहि—'महाभूतानि, सद्वस्तुप्रकृतिकानि, सत्स्वभावानुरक्तत्वे सति विविधविकारत्वात्, मृदनुस्यूतघटादिवद्'इति।।९।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

कारण सर्व कहलाता है, सर्वोपादान कारण होने के कारण नहीं। अत: उक्त श्रुति को प्रपञ्च की उपादान कारणता ब्रह्म में है—प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त श्रुति वाक्य में आया हुआ सर्व शब्द का निमित्त (शक्यतावच्छेदक) अर्थात् अर्थ केवल सर्वव्यापित्व (सर्व तादात्म्य) नहीं है अपितु अधिष्ठानत्व हेतुक सर्व तादात्म्य है। अधिष्ठानत्व हेतुक सर्वव्यापित्व अर्थ होने से ही विवर्तोपादानत्व सूचित हो जाता है। अन्यथा = अधिष्ठानत्व हेतुक सर्वव्यापित्व को सर्व शब्द के प्रयोग के प्रति निमित्त न मानने पर, परमतानुसार आकाश भी सर्वव्यापी है। इसलिए ''सर्वं खल्विदमाकाशम्'' ऐसे प्रयोग की आपत्ति होगी। इस आपत्ति से बचने के लिए सर्व शब्द का अर्थ अधिष्ठान हेतुक सर्वव्यापित्व करना होता है। आकाश सम्पूर्ण प्रपञ्च का अधिष्ठान नहीं है। अत: ''सर्वं खल्विदमाकाशम्'' ऐसा प्रयोग नहीं होगा। ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठान है। अत: ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' ऐसा प्रयोग होता है। दूसरी बात यह है कि ब्रह्म को प्रपञ्च का उपादान कारण न मानने पर ''प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'' (ब्र०सू० १—४—२३) (प्रकृतिश्च = ब्रह्म उपादान कारण और निमित्त कारण है। प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् = क्योंकि ''येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्'' (छा०उ० ६—१—३) ''कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति'' (मु०उ० १—१—३) ''आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्।'' (बृ०उ०४—५—६) इस प्रकार एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा और ''यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्'' (छा०उ०६—१—४) ''तथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति'' (मु०उ० १—१—७)'' स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य'' (बृ०उ० ४—५—८) इत्यादि दृष्टान्त हैं) इस प्रकृत्यधिकरण से विरोध होगा। अर्थात् उक्त विरोधापत्ति से भी ब्रह्मगत उपादानत्व की सिद्धि होती है। ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' इत्यादि श्रुतियों से अनुग्रहीत विवरणकार ने जो अनुमान प्रस्तुत किया है वह भी ब्रह्म में प्रपञ्च की उपादान कारणता का साधक है— महाभूतानि सद्वस्तुप्रकृतिकानि, सत्स्वभावानुरक्तत्वे सति विविधविकारत्वात्, मृदनुस्यूतघटादिवत्। (महाभूत पद से महाभूत कार्य लेना चाहिए न कि दृश्य मात्र को। दृश्यमात्र लेने पर मायादि अनादि पदार्थों में बाध दोष होगा, क्योंकि उनका कोई उपादान कारण नहीं होता है। हेतु वाक्य का अर्थ है— सत्स्वभावेन तादात्म्यवत्त्वे सति सत्कार्यत्वात्। साध्य वाक्य का अर्थ है—सदुपादानकम्। पक्ष में हेतु का समन्वय—नभः सन्, वायुः, सन्—इत्यादि प्रतीति से यह सिद्ध होता है कि सत् स्वभाव से तादात्म्यापन्न महाभूत रूपकार्य है और ''आत्मनः आकाश सम्भूतः'' (तै० २—१—१) इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है कि परमात्मा का कार्य आकाशादि महाभूत है। {परमात्मा उपादान कारण है— इसमें उभयवादी सम्मति नहीं है किन्तु परमात्मा निमित्त कारण है इसमें सम्मति है। अत: निमित्त कारण को लेकर हेतु का समन्वय किया गया।} अत: पक्ष में हेतु गया। सद्कारणवाद में कार्य सदुपादनक होने से पक्ष में साध्य को लेकर बाध दोष नहीं दिया जा सकता है। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—मृत्तिका से उत्पन्न घट मृत्तिका से तादात्म्य वाला होता हुआ मृत्तिका का कार्य है। अत: हेतु दृष्टान्त में चला जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—मृत्तिका रूप सत् उपादानक घट है। अत: दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जायेगा। इस प्रकार व्याप्ति विशिष्ट पक्ष धर्मता के रहने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जाती है।।९।।

न च—विवर्त्तमते उपादानत्वानुपपत्तिः; सत्प्रधानप्रकृतिकत्वेनार्थान्तरता वा; आदावेव तदुपादानत्वस्य स्थापितत्वात्, प्रकृतेः सत्त्वाभावस्य प्रसाधितत्वेनार्थान्तरानवकाशाच्च। न च 'खण्डो गौर्मुण्डो गौः, इति गोत्वानुरक्तखण्डादौ व्यभिचारः; तदनुरक्तत्वे सति तद्विकारत्वादित्यत्र तात्पर्यात्, सदतिरिक्तगोत्वाद्यनभ्युपगमाच्च। अत एव—'सन् घटः' इतिवदत्रेदानीमसन् घटः असन्नृशृङ्गमित्यादिप्रतीत्यनुसारेण घटनृशृङ्गादेरसदुपादानत्वापत्तिरिति—निरस्तम्। नापि ब्रह्म, न द्रव्योपादानम्, चेतनत्वात्, चैत्रवत्, जगन्नानन्दप्रकृतिकम्, तत्स्वभावाननुरक्तत्वात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के द्वारा किये गये अनुमान से महाभूतों के उपादनता की सिद्धि होने पर भी प्रश्न होगा कि वह उपादान क्या विवर्तोपादान है? या परिणामी उपादान है? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता, क्योंकि इसका खण्डन खण्ड संख्या ५ में किया जा चुका है। द्वितीय पक्ष मानने पर सद्‌रूप जो प्रधान तादृश प्रधानात्मक प्रकृति को हम भी जगत् का उपादान कारण मानते हैं। अतः उक्त अनुमान में अर्थान्तरता दोष होगा। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि खण्ड ६ में ब्रह्मगत प्रपञ्च की उपादानता की सिद्धि की जा चुकी है और पूर्वपक्षी के तत्तत् शङ्काओं का निराकरण इस प्रकरण के प्रारम्भ से ही किया जा चुका है। जड़ रूप प्रकृति को चैतन्यात्मक माना नहीं जा सकता है— इसका निरूपण ब्रह्मसूत्रादि में किया जा चुका है। अतः उक्त अनुमान में अर्थान्तरता दोष नहीं होगा। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ''यद् यदनुस्यूतं तत्तदुपादानकम्'' अर्थात् जो कार्य जिससे अनुरक्त (तादात्म्य) होता है वह कार्य तदुपादानक होता है। इस व्याप्ति में व्यभिचारदोष है, क्योंकि ''खण्डो गौः मुण्डो गौः'' इत्यादि स्थल पर गोत्व से अनुरक्त खण्डादि गोरूप कार्य प्रतीत होता है। अतः हेतु गया किन्तु साध्य नहीं जा रहा है, क्योंकि खण्डादि गोरूप कार्य का उपादान कारण गोत्व नहीं है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उक्त हेतु वाक्य का तात्पर्य यह है—सत् स्वरूप तादात्म्य वाला होता हुआ सत्कार्यत्व। ऐसा होने पर उक्त स्थल पर व्यभिचार दोष नहीं होगा, क्योंकि खण्डो गौ मुण्डो गौ में गोत्व का तादात्म्य होने पर भी गोत्व का कार्य खण्डो गौ मुण्डो गौ नहीं है। दूसरी बात यह है कि सर्वानुस्यूत जो सत् (ब्रह्म) से अतिरिक्त गोत्व, पटत्व, घटत्वादि जातियों को हम गौरवदोषादि के कारण नहीं मानते हैं। इसका निरूपण ''परिच्छिन्नत्व हेतु विचार'' के खण्ड संख्या ५ में किया जा चुका है। अत एव = उक्त व्याप्ति में यत् कार्यत्व का निवेश करने से ही अर्थात् जो यत् तादात्म्यवत् होकर के यत्कार्य होता है, वह तदुपादानक होता है— ऐसी व्याप्ति लेने से पूर्वपक्षी को यह जो कथन है कि ''सन् घटः'' इस प्रतीति से जैसे घट में सदुपादानकत्व सिद्ध होता है वैसे ही ''असन् घटः'' ''असत् नृशृङ्गम्'' इत्यादि प्रतीति के बल पर घट नृशृङ्ग आदि में असदुपादानकत्व की आपत्ति होगी। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया, क्योंकि उक्त स्थल लेने पर भी घटादि में असत् कार्यत्व नहीं है, क्योंकि असत् से किसी की उत्पत्ति होती ही नहीं है।

शङ्का— सिद्धान्ती के द्वारा कथित ब्रह्म उपादानकत्व साधक अनुमान में सत्प्रतिपक्ष दोष देने के लिए पूर्वपक्षी सत्प्रतिपक्ष अनुमान कर रहा है— (१) ब्रह्म द्रव्य का उपादान नहीं है, चेतनत्व होने से चैत्रवत्। (पक्ष में हेतु है और दृष्टान्त में हेतु है और दृष्टान्त (चेतनचैत्र) किसी का उपादान नहीं होता है। स्थूल चैत्र शरीर से निकलने वाले द्रव्य का उपादान होने पर भी चेतन चैत्र किसी द्रव्य का उपादान कारण नहीं होता है— यह पूर्वपक्षी का भाव है।) (२) ''आनन्दो घटः'' ऐसी प्रतीति नहीं होती है— ऐसे विचार को मन में रखकर दूसरा सत्प्रतिपक्ष अनुमान पूर्वपक्षी कर रहा है— प्रपञ्च आनन्दोपादानक नहीं है, आनन्दस्वभाव से अननुरक्तत्व (तादात्म्यरहितत्व) होने से। जो जिसके स्वरूप से अननुरक्त होता है वह उसका उपादान कारण

यत् यत्स्वभावाननुरक्तं तत् न तत्प्रकृतिकम्, यथा घटस्वभावाननुरक्तं पटादि न घटोपादानकमित्यादिना सत्प्रतिपक्षत्वम्, व्याप्तिपक्षधर्मतयोरापातप्रतीत्या साम्येऽपि श्रुत्यनुग्रहेण स्थापनाया बलवत्त्वात्। द्वितीयानुमाने कपालस्वभावाननुरक्ते घटे व्यभिचारः; 'कपालं घटः' इत्यप्रतीतेः, न च—मृत्त्वेन तदनुरक्तत्वमस्तीति—वाच्यम्, सत्त्वेनात्राप्यनुरक्तत्वस्य समानत्वात्।।१०।।

एवञ्च जगदभिन्ननिमित्तोपादानकम्, प्रेक्षापूर्वकजनितकार्यत्वात्सुखदुःखादिवदित्यभिन्ननिमितोपादानं ब्रह्म

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं होता है जैसे ''घटः पटः'' ऐसी प्रतीति नहीं होने के कारण घट के स्वरूप से अननुरक्त पटादि घटोपादानक नहीं है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सिद्धान्ती के अनुमान और पूर्वपक्षी के अनुमान में व्याप्ति और पक्षधर्मता की आपातप्रतीति से साम्यता दिखायी देती है। प्रतीति के आपातत्व का विवरण करते हुए आचार्य प्रवर कह रहे हैं कि सिद्धान्ती का अनुमान प्रबल और पूर्वपक्षी का प्रथम अनुमान दुर्बल है, क्योंकि सिद्धान्ती कृत अनुमान के व्याप्ति और पक्षधर्मता ''जन्माद्यस्य यतः'' (ब्र०सू० १—१—२) और ''प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'' (ब्र०सू० १—४—२३) इत्यादि वेदान्त दर्शन के सूत्रों तथा उक्त वेदान्त दर्शन के सूत्रों में कथित श्रुतियों से समर्थित होने के कारण प्रबल हैं। पूर्वपक्षी का द्वितीय अनुमान भी दोषयुक्त है, क्योंकि हेतु (तत्स्वभावाननुरक्तत्व) का अर्थ तत्तादात्म्यशून्यत्व करने पर जगद् रूप पक्ष में हेतु नहीं जायेगा, क्योंकि ''आनन्दादेव खलु इमानि भूतानि जायन्ते'' (तै०उ०३—६) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा जगत् से तादात्म्यापन्न आनन्द का उल्लेख हैं। अतः स्वरूपासिद्धिदोष होगा। यदि हेतु (तत्स्वभावाननुरक्तत्व) का अर्थ तत्तादात्म्येनाप्रतीयमानत्व करते हैं तब जिस व्यक्ति को ''कपालाद् घटो जायते'' ऐसा ज्ञान नहीं है। उस व्यक्ति को कपाल तादात्म्य घट में ''कपालं घटः'' ऐसी प्रतीति नहीं होती है। ऐसे स्थल पर व्यभिचारदोष होगा क्योंकि ऐसे स्थल पर हेतु है किन्तु साध्य नहीं है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि अभिज्ञ पुरुष को ''कपालं घटः'' ऐसी प्रतीति होती है। अतः व्यभिचार दोष नहीं होगा तब सिद्धान्ति का कथन है कि अभिज्ञ पुरुष अर्थात् ''आनन्दादेव खलु इमानि भूतानि जायन्ते'' (तै०उ० ३—६) इत्यादि श्रुतियों के अर्थ को जानने वाले तत्त्ववेत्ता पुरूष को आनन्द के साथ जगत् के तादात्म्य की प्रतीति होने से पक्ष में हेतु के न जाने से स्वरूपासिद्धि दोष होगा। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि कपाल के स्वभाव से अननुरक्त घट में व्यभिचार दोष नहीं होगा, क्योंकि कपाल कपालत्वेन घट में अनुरक्त नहीं है, किन्तु मृत्तिकात्वेन कपाल घट में अनुरक्त है। अतः हेतु के न जाने से व्यभिचारदोष नहीं होगा। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''सन् घटः इत्यादि स्थल पर घट में आनन्दत्वेन आनन्द अनुरक्त न होने पर भी सत्त्वेन आनन्द घटादि प्रपञ्च में अनुरक्त होने से पक्ष में हेतु के न जाने से स्वरूपासिद्धिदोष होगा।।१०।।''

जैसे पूर्वोक्त विवरणकार के अनुमान से अभिन्ननिमित्तोपादान ब्रह्म सिद्ध होता है वैसे ही— जगद्—अभिन्ननिमित्तोपादानक है, प्रेक्षापूर्वकजनित कार्यत्व होने से, जैसे सुख दुःखादि। इस अनुमान से अभिन्ननिमित्तोपादान ब्रह्म सिद्ध होता है। पक्ष और दृष्टान्त में हेतु का समन्वय = जगत् उत्पन्न हो— इस प्रकार विचार पूर्वक उत्पन्न कार्यत्व जगत् रूप पक्ष में है। अतः पक्ष में हेतु गया। सुखादि उत्पन्न हो— इस प्रकार विचार पूर्वक उत्पन्न कार्यत्व सुखादि रूप दृष्टान्त में है। अतः दृष्टान्त में हेतु गया। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय — पूर्वपक्षी के मत में आत्मा सुख दुःख का उपादान कारण भी है और निमित्तकारण भी। अतः सुख दुःख में अभिन्न निमित्तोपादानत्व चला जायेगा। इस प्रकार व्याप्ति विशिष्ट पक्ष धर्मता के होने से पक्ष

सिद्ध्यति। न च—व्यर्थविशेषणत्वम्; प्रेक्षापूर्वकत्वात्, कार्यत्वादिति हेतुद्वये तात्पर्यात्। नच—त्वन्मते दुःखादीनामन्तःकरणोपादानकत्वेन साध्यवैकल्यमिति—वाच्यम्; अस्मन्मते अन्तःकरणस्य परिणाम्युपादानत्वेऽपि अन्तःकरणरूपेण परिणताज्ञानाधारतया विवर्तोपादानत्वस्यानपायात्, कार्यत्वादिति हेतौ सर्वकार्यनिमित्तकालघटसंयोगस्य उभयवादिसम्प्रतिपन्नस्य दृष्टान्तस्य लाभाच्च। न च जगदुपादानं, न कर्तृ, द्रव्योपादानत्वात् मृद्वत्, जगत्कर्ता वा न द्रव्योपादानम्, कर्तृत्वात्, कुलालादिवत्, इत्यादिना सत्प्रतिपक्षत्वम्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि विशेषण व्यभिचारादि दोषवारण के लिए दिया जाता है। उक्त अनुमान में ''प्रेक्षापूर्वकजनित्व'' को न कहने पर भी अर्थात् केवल कार्यत्व को हेतु बनाने पर भी कोई दोष नहीं है। अतः ''प्रेक्षापूर्वकजनितत्व'' विशेषण व्यर्थ है। इसका समाधान करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रेक्षापूर्वकजनितत्वात् और कार्यत्वात्— ये दो हेतु हैं। प्रत्येक हेतु से साध्य की सिद्धि होती है। अतः व्यर्थ विशेषणापत्ति नहीं होगी।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि अन्तःकरण के दुःखादि में कार्यत्व हेतु है किन्तु ब्रह्मोपादानकत्व रूप साध्य नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त मतानुसार दुःखादि का उपादान कारण अन्तःकरण माना जाता है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि दुःखादि का उपादान कारण अन्तः करण है और अन्तः करण का उपादान कारण अज्ञान है। उस अज्ञान का अधिष्ठान जो ब्रह्म है वह ब्रह्म ही दुःखादि का विर्वतोपादानकारण माना जाता है। अतः दुःखादि में विवर्तोपादानकत्व और कार्यत्व दोनों के रहने से दोष नहीं होगा। कार्यत्व इस हेतु में सर्वकार्य का निमित्तकारण जो काल है। उस काल के साथ घट का जो संयोग है। उस काल घट संयोग को दृष्टान्त बनाना सुलभ है। अर्थात् काल और घट का जो परस्पर संयोग है। उस संयोग में कार्यत्व हेतु रहता है, क्योंकि घट के उत्पन्न होने के बाद वह उत्पन्न होता है और काल घट संयोग में अभिन्ननिमित्तोपादानकत्व रूप साध्य भी है, क्योंकि कालघट संयोग के प्रति जैसे घट उपादान कारण है वैसे ही काल भी उपादान कारण है और काल कार्य मात्र के प्रति निमित्तकारण माना ही जाता है। अतः काल और घट के संयोग में कालरूपाभिन्ननिमित्तोपादानकत्व रूप साध्य का समन्वय हो गया।

शङ्का— पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त—जगदभिन्ननिमित्तोपादानकम् ......इस अनुमान में सत्प्रतिपक्ष प्रयोग दिया जा रहा है— (१) जगत् का जो उपादान कारण है वह जगत् का कर्ता (निमित्तकारण) नहीं हो सकता है, क्योंकि जगत् रूप द्रव्य का उपादान कारण होने से। जो जिस द्रव्य का उपादान कारण होता है वह उसी द्रव्य का कर्ता (निमित्तकारण) नहीं होता है। जैसे मृत्तिका घट का उपादान कारण है किन्तु मृत्तिका घट का कर्ता नहीं है किन्तु कुलाल कर्ता होता है। (२) जगत् का कर्ता द्रव्य का उपादान कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि निमित्त कारण होने से। जो निमित्तकारण (कर्ता) होता है वह द्रव्य का उपादान कारण नहीं होता हैं। जैसे कुलाल घट का कर्ता है किन्तु घटादि द्रव्य का उपादान कारण नहीं होता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे है कि श्रुति ब्रह्मसूत्रादि से विरोध होने के कारण पूर्वपक्षी के द्वारा कृत अनुमान बाधित होने से दुष्ट है और श्रुत्यादि से समर्थित होने के कारण सिद्धान्ती के अनुमान साधु है। दूसरी बात यह है कि प्रथम अनुमान में जड़त्व (चिद्भिन्नत्व) उपाधि है। (दृष्टान्त में साध्य और उपाधि के रहने से साध्य व्यापकत्व उपाधि में गया। पक्ष में हेतु के रहने और उपाधि के न रहने से साधनाव्यापकत्व उपाधि में गया। अतः उपाधि के अभाव से साध्याभाव की पक्ष में सिद्धि हो जायेगी। अर्थात् जगत् का उपादान कारण जो है वह कर्ता भी सिद्ध हो जायेगा। जो सिद्धान्ती को अभीष्ट

श्रुतिविरोधेन हीनबलत्वात्, आद्ये अनुमाने जडत्वस्य द्वितीयानुमाने सर्वानन्तर्यामित्वस्य चोपाधित्वात्, बाधोन्नीततया पक्षेतरत्वेऽपि दोषत्वात्। तस्माज्जगदुपादानं ब्रह्म कर्तृ चेति सिद्धम्।।११।।

इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो जगदभिन्ननिमित्तोपादानत्वे प्रमाणोपपत्तिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

है।) द्वितीय अनुमान में सर्वानन्तर्यामित्व = सर्वान्तिर्यामिभिन्नत्व उपाधि है। (पूर्वोक्त प्रकार से उपाधि का समन्वय हो जायेगा। उपाधि के समन्वय का जो फल है कि उपाधि के अभाव से साध्याभाव की सिद्धि। उसके होने पर प्रपञ्च का जो कर्ता (निमित्तकारण) है वह घटादि द्रव्य रूप प्रपञ्च का उपादान कारण भी सिद्ध हो जायेगा। जो कि सिद्धान्ती को अभीष्ट है।) यद्यपि जो पक्ष ब्रह्म है वह चैतन्य और अन्तर्यामी रूप है। इसलिए चिद्भिन्नत्व और सर्वान्तिर्यामिभिन्नत्व– दोनों ही पक्षेतरत्व के जैसे होने से इन दोनों को उपाधि नहीं माना जा सकता है। तथापि पूर्वपक्षी के अनुमान में श्रुतियों से जो बाध है। उस बाध को देखकर इन उपाधियों को माना जाता है, क्योंकि बाधोन्नीत पक्षेतरत्व को भी उपाधि माना जाता है। इसका विचार ‘‘दृश्यत्वादेः सोपाधिकत्वविचारः के खण्ड संख्या २ और ३ में किया जा चुका है। फलतः प्रपञ्च का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म है– यह सिद्ध होता है। ।।११।।

:–इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां ब्रह्मणो जगदभिन्ननिमित्तोपादानत्वे प्रमाणोपपत्तिः–

११— ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वलक्षणविचारः

ननु—परिणममानाविद्याधिष्ठानत्वेनोपादानत्वं वाच्यम्; अधिष्ठानत्वं तु नावेद्यस्य; तद्वेदनार्थं प्रमाणापेक्षायामन्योन्याश्रयात्। न च—स्वप्रकाशतदपेक्षमेवाधिष्ठानत्वमिति—वाच्यम्; स्वप्रकाशताया वक्तुमशक्यत्वात्। तथाहि—किमिदं स्वप्रकाशत्वं? वृत्त्यव्याप्यत्वं वा, फलाव्याप्यत्वं वा, अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वं वा, तद्योग्यत्वं वा, तद्योग्यत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वं वा?।१।।

नाद्यः; ब्रह्मणोऽप्यावरणभङ्गाय चरमवृत्तिव्याप्यत्वात्। न द्वितीयः; अतीतादौ नित्यातीन्द्रये चातिव्याप्तेः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— कार्य रूप से परिणत जो अविद्या उसका अधिष्ठान होने के कारण ही ब्रह्म को प्रपञ्च का विवर्तोपादान कारण कहा जाता है किन्तु ब्रह्म को अधिष्ठान नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि वह अवेद्य है और जो अवेद्य होता है उसका ज्ञान होता ही नहीं है, जबकि अध्यास के लिए अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान चाहिए। मनोध्यासानुकूल जो अधिष्ठान रूप ब्रह्म का वेदन (प्रमा ज्ञान) उसके लिए प्रमाण की अपेक्षा होने पर अन्योन्याश्रयदोष होगा। जैसे ब्रह्म रूप अधिष्ठान को स्व ज्ञानार्थ मनोवृत्ति रूप प्रमाण की अपेक्षा और मनोवृत्ति रूप प्रमाण के अध्यास के लिए अधिष्ठान की अपेक्षा होगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि उक्त अन्योन्याश्रय में प्रथम कोटि हम नहीं मानते हैं, क्योंकि अध्यास के लिए अधिष्ठान की अपेक्षा है किन्तु अधिष्ठान के ज्ञान के लिए अधिष्ठान गोचर प्रमाण वृत्ति की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि अधिष्ठान स्वयंप्रकाश है। (''स्वप्रकाशतदपेक्षमेवाधिष्ठानत्वम्'' के स्थान पर ''स्वप्रकाशतया तदनपेक्षमेवाधिष्ठानत्वम्'' ऐसा पाठान्तर है।) इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि यह स्वप्रकाशत्व क्या है? (१) वृत्त्यविषयत्व रूप है? (२) फलाव्याप्यत्व रूप है? (३) अवेद्यत्व विशिष्ट अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व रूप है? (४) अवेद्यत्वविशिष्ट अपरोक्ष व्यवहार विषयत्वयोग्यत्व रूप है? (५) अवेद्यत्वविशिष्ट अपरोक्ष व्यवहार विषयत्वयोग्यत्वात्यन्ताभावा—नधिकरणत्व रूप है? (पंचम पक्ष में पदकृत्य इस प्रकार समझना चाहिए— अवेद्यत्वं स्वप्रकाशत्वम्— ऐसा लक्षण करने पर अतीतानागत पदार्थों में और नित्यानुमेय परमाणु आदि में तथा धर्मादि में लक्षण के चले जाने से अतिव्याप्ति होगी। यद्यपि आगम वेद्यत्व उक्त पदार्थों में है और योग्यतानुसार अनुमान वेद्यत्व भी है। अत: अवेद्यत्व नहीं कहा जा सकता है तथापि सिद्धान्त मत में अवेद्यत्व का अर्थ फलाव्याप्यत्व किया जाता है। फलाव्याप्यत्व उक्त पदार्थों में रहता है, अत: अतिव्याप्ति होगी। इस अतिव्याप्ति दोष के वारण के लिए अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व कहा गया। केवल अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व कहने पर घटादि पदार्थों में अतिव्याप्ति होगी। अत: अवेद्यत्व कहा गया। उक्त लक्षण में अपरोक्ष पद न देने पर अतीतादि पदार्थों में अतिव्याप्ति होगी। यदि योग्यत्व पद नहीं देते हैं तब सुषुप्ति कालावच्छेदेन आत्मा में अव्याप्ति होगी। योग्यत्व पर्यन्त ही लक्षण करने पर मुक्तात्मा में अव्याप्ति होगी, क्योंकि उसमें योग्यत्व रूप धर्म नहीं रहता है। योग्यत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्व कहने पर मुक्तात्मा में अव्याप्ति दोष नहीं होगा, क्योंकि जिसमें कभी भी योग्यत्व रहता हो, उसमें योग्यत्वात्यन्ताभावाधिकरणत्व नहीं रहेगा।।१।।

इस प्रकार विकल्प कर के क्रमश: सभी विकल्पों का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि प्रथम पक्ष (वृत्यव्याप्यत्व) को माना नहीं जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म के आवरण को भङ्ग करने के लिए चरमवृत्ति की विषयता ब्रह्म में मानी है। अत: लक्षण असम्भव दोष से ग्रस्त हो गया। द्वितीय पक्ष (फलाव्याप्यत्व) मानने पर अतीतादि पदार्थों में तथा नित्यातीन्द्रिय पदार्थों में फल व्याप्ति न होने से अतिव्याप्ति होगी। तृतीय पक्ष (अवेद्यत्व विशिष्ट अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व) मानने पर सुषुप्ति अवस्थापन्न

न तृतीयः; सुषुप्त्यादौ व्यवहाराभावेनाव्याप्तेः। न चतुर्थः; योग्यत्वरूपधर्मस्य मोक्षकालेऽभावेन तदा ब्रह्मण्यव्याप्तेः। नापि पञ्चमः, अनधिकरणत्वस्यापि धर्मत्वेन मोक्षदशायां तस्याप्यभावेनाव्याप्तेः। अत एव—न तादृगनधिकरणत्वोपलक्षितमपि तत्, तस्यापि धर्मत्वे मुक्तावभावात्— इति चेत्।।२।।

न, पञ्चमपक्षस्यैव क्षोदसहत्वात्। न च मोक्षेऽव्याप्तिः, अनधिकरणत्वस्य स्वरूपतया तदापि सत्त्वात्। न च स्वरूपत्वे लक्षणत्वानुपपत्तिः; त्वन्नये ब्रह्माभिन्नानन्दादौ गुणत्वव्यवहारवत् स्वरूपभूतेऽप्यनधिकरणत्वे लक्षणत्वव्यवहारात्। न च—त्वन्मते योग्यत्वमपि ब्रह्मणि मिथ्येति तदत्यन्ताभावोऽपि वाच्यः, तथा च कथं

सत्यानन्दप्रबोधिका

आत्मा में अव्याप्ति होगी, क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में किसी का भी (शब्द—ज्ञान या क्रियात्मक) अपरोक्ष व्यवहार होता नहीं है। चतुर्थ पक्ष (तद्‌योग्यत्व) मानने पर मोक्षावस्थापन्न आत्मा में अव्याप्ति होगी, क्योंकि मोक्षावस्थापन्न ब्रह्म में योग्यत्व आदि कोई भी धर्म माना नहीं जाता है। पञ्चम पक्ष (तद्‌योग्यत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्व) भी मानने पर मोक्षावस्थापन्न आत्मा में अव्याप्ति होगी, क्योंकि उक्त अनधिकरत्व भी धर्म है। अतः मोक्षदशा में उक्त धर्म ब्रह्म में रहेगा ही नहीं। अत एव = मोक्ष दशा में उक्त अनधिकरणत्व रूप धर्म के न कहने से ही उक्त अनधिकरणत्वोपलक्षितत्व को स्वप्रकाश कहेंगे— ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उक्त अनधिकरणोपलक्षितत्व भी एक प्रकार का धर्म ही है। जबकि मोक्षावस्थापन्न आत्मा में कोई धर्म रहता ही नहीं है। अतः अव्याप्ति दोष होगा।।२।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि हम पञ्चम पक्ष को स्वीकार कर के पूर्वपक्षी के द्वारा कथित सभी शङ्काओं का निराकरण करने में समर्थ है। पञ्चम पक्ष को स्वीकार करने पर उक्त अनधिकरणत्व धर्म मोक्षावस्थापन्न निर्धर्मक आत्मा में न रहने से अव्याप्ति दोष होगा— ऐसा नहीं, क्योंकि उक्त अनधिकरणत्व को ब्रह्म का स्वरूप माना जाता है धर्म नहीं। अतः निर्धर्मक ब्रह्म में अव्याप्ति दोष नहीं होगा। इस पर पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि उक्त अनधिकरणत्व को ब्रह्म का स्वरूप मानेंगें तब उक्त अनधिकरणत्व को लक्षण नहीं माना जा सकेगा, क्योंकि लक्षण ही लक्ष्य स्वरूप हो गया, जबकि लक्षण को लक्ष्य में रहने वाला धर्म होना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जैसे माध्वमत में आनन्दादि को ब्रह्म से अभिन्न मानते हुए भी आनन्दादि को ब्रह्म का गुण माना जाता है वैसे ही उक्त अनधिकरणत्व ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी ब्रह्म का लक्षण बन जायेगा।

शङ्का— अवेद्यत्वविशिष्ट अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व की योग्यता के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता— यह जो पञ्चम लक्षण है इसमें यह कहा गया कि व्यवहार कालापन्न आत्मा में उक्त योग्यत्व रहता है। अतः मोक्षकालापन्न आत्मा में भी उक्त योग्यता के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता रहेगी। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि व्यवहार कालापन्न आत्मा में उक्त जो योग्यता है वह सिद्धान्त मतानुसार मिथ्या है। अतः व्यवहार कालापन्न आत्मा में उक्त योग्यता का अत्यन्ताभाव ही रहेगा। ऐसा होने से जब आत्मा में कभी भी (व्यवहार काल या मोक्ष काल में) उक्त योग्यता रहती ही नहीं है तब उक्त योग्यता के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता आत्मा में रहेगी ही नहीं। अतः पञ्चम पक्ष को मानने पर असम्भव दोष होगा।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि लक्षण घटक योग्यत्वात्यन्ताभाव से तात्पर्य योग्यत्व विरोधी अत्यन्ताभाव। यद्यपि ब्रह्म में उक्त योग्यत्व के मिथ्या होने के कारण योग्यत्व का अत्यन्ताभाव रहता है किन्तु वह अत्यन्ताभाव योग्यत्व का विरोधी नहीं है, क्योंकि योग्यत्व और योग्यत्वात्यन्ताभाव दोनों एक साथ ब्रह्म रूप अधिकरण में रहते हैं, अतः योग्यत्व का विरोधी अत्यन्ताभाव ब्रह्म में न रहने के कारण ब्रह्म

तदत्यन्ताभावानधिकरत्वमिति—वाच्यम्; योग्यत्वविरोध्यन्त्यन्ताभावस्य विवक्षितत्वात्, स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावस्य मिथ्यात्वप्रयोजकस्य स्वाश्रयनिष्ठत्वेनैवाविरोधात्। यद्वा— व्यावहारिकात्यन्ताभावो विवक्षितः, ब्रह्मणि च योग्यतात्यन्ताभावस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेन तात्त्विकत्वात्।।३।।

नाप्यवेद्यत्वानिरुक्तिः; फलाव्याप्यत्वस्यैव तत्त्वात्, आवरणभङ्गे चित एव फलत्वात्। न च—एवं घटादेरपि वृत्तिवेद्यतया फलविषयत्वाभावात् रूप्यसुखादेरपि अपरोक्षव्यवहारयोग्यतया विशिष्टलक्षणस्यातिव्याप्तिरिति—वाच्यम्; घटादौ फलव्याप्यत्वस्य समर्थितत्वाद्रूप्यसुखादौ साक्षिभास्यतयाऽपरोक्षव्यवहारेऽपि प्रमाणजन्यापरोक्षवृत्तिविषयत्वाभावात्। तथा च फलाव्याप्यत्व—

सत्यानन्दप्रबोधिका

योग्यत्वात्यन्ताभाव का अनधिकरण हो गया। (इस पर प्रश्न होता है कि योग्यत्व के अत्यन्ताभाव का आश्रय जब ब्रह्म है तब उसी ब्रह्म रूप आश्रय में योग्यत्व कैसे रहेगा? इसका समाधान करते हुए कह रहे हैं कि) योग्यत्व जब मिथ्या है तब मिथ्यात्व का जो लक्षण है—स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्। इस लक्षण के समन्वय के लिए ब्रह्म रूप अधिष्ठान स्व = योग्यत्व का आश्रय होना चाहिए। तभी योग्यत्व में मिथ्यात्व सिद्ध होगा। ऐसा होने पर जिस ब्रह्म में योग्यत्व रहता है उसी ब्रह्म में योग्यत्व का अत्यन्ताभाव भी रहता है। ऐसा योग्यत्वात्यन्ताभाव योग्यत्व का विरोधी नहीं हो सकता है। जो विरोधी योग्यत्व का अत्यन्ताभाव होगा। उसको लेकर लक्षण समन्वय हो जायेगा। अथवा लक्षण घटक उक्त योग्यत्वात्यन्ताभाव को व्यावहारिक मानेंगे, ऐसा होने पर ब्रह्मगत उक्त योग्यत्वात्यन्ताभाव व्यावहारिक नहीं हैं अपितु ब्रह्मरूप होने के कारण पारमार्थिक होता है। इसलिए व्यावहारिक अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता ब्रह्म में रहने से उक्त स्वप्रकाशत्व का लक्षण समन्वय हो जायेगा।।३।।

इसी प्रकार अवेद्यत्व की अनिरुक्ति को भी पूर्वपक्षी नहीं कह सकता है, क्योंकि फलाव्याप्यत्व को अवेद्यत्व कहा जाता हैं। वृत्ति के द्वारा आवरण भङ्ग होने पर आवरण नाश से उपहित चित् को ही फल कहा जाता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती वृत्तिव्याप्यत्व और फलव्याप्यत्व मानते हैं। अतः जहाँ वृत्तिव्याप्यत्व रहेगा वहाँ फलव्याप्यत्व नहीं रहेगा। अर्थात् फलाव्याप्यत्व रहेगा। ऐसा होने पर अवेद्यत्वविशिष्ट अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्व रूप स्वप्रकाशत्व का लक्षण व्यावहारिक घटादि में साक्षिभास्य शुक्तिरजतादि में जाने से अतिव्याप्ति होगी। जैसे घटादि में वृत्तिवेद्यत्व होने से फलाव्याप्यत्व रूप अवेद्यत्व गया और घटादि में अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता है। इस प्रकार शुक्तिरजतादि में भी अविद्या वृत्ति वेद्यत्व होने से फलाव्याप्यत्व रूप अवेद्यत्व है और ''इदं रजतम्'' इत्यादि रूप से अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता भी हैं।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि घटादि में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि घटादि में फलव्याप्ति मानी जाती है। अर्थात् आवरण भङ्ग के लिए वृत्ति का उपयोग होने पर भी अनावृत्त घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य रूप फल का भी विषय घटादि होता है। अतः घटादि में अवेद्यत्व के न होने से अतिव्याप्ति नहीं होगी। इसी प्रकार शुक्ति रजतादि साक्षिभास्य होने के कारण उसमें फलाव्याप्यत्व है और अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व भी है किन्तु लक्षण घटक अपरोक्ष व्यवहार विषय से प्रमाण जन्य अपरोक्ष वृत्ति (प्रमा) विषयत्व लिया जाता है। शुक्तिरजत सुखादि में प्रमाण जन्य अपरोक्ष वृत्ति विषयत्व रूप अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व नहीं है। अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी। फलतः अवेद्यत्व = फलाव्याप्यत्व के अधिकरण में रहने वाला प्रमाण जन्य अपरोक्ष वृत्ति विषयत्व को स्वप्रकाशत्व का लक्षण बनाने पर सकल दोषों का निरास हो जाता है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ब्रह्म में भी वृत्ति में

समानाधिकरणतद्वत्त्वस्य पर्यवसिततया सकलदोषनिरासात्। न च ब्रह्मणोऽपि वृत्तिप्रतिबिम्बितचिद्रूप-फलभास्यत्वेनासम्भवः, तस्य फलरूपत्वेन तद्विषयत्वाभावात्। न च चित्सुखाचार्यैः तत्स्वभावस्यापि स्फुरणस्य तद्विषयत्वमित्युक्तेरसम्भवः; तस्याचार्यवचसस्तत्प्रयुक्तव्यवहारविषयतया तद्विषयत्वोपचारनिबन्धनत्वात्। अयमत्र निष्कर्षः—वृत्तिप्रतिबिम्बितचिज्जन्यातिशययोगित्वं वृत्या तत्प्रतिफलितचिता वा अभिव्यक्ताधिष्ठान-चिद्विषयत्वं वा फलव्याप्यत्वम्। चिज्जन्यातिशयश्च नावरणभङ्गः नापि व्यवहारो विवक्षितः, किन्तु भग्नावरणचित्सम्बन्धः। स च घटादावस्ति, नात्मनि; सम्बन्धस्य भेदगर्भत्वात्। एवमुक्तचिद्विषयत्वमपि भेदघटितं घटादावस्ति, नात्मनीति स्थितं प्रतिकर्मव्यवस्थायाम्।।४।।

नाप्यपरोक्षव्यवहारो दुर्वचः, अपरोक्ष इति शब्दप्रयोगस्यैव विवक्षितत्वात्। न चालौकिकप्रत्यक्ष-

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रतिबिम्बित चिद्रूप फल का भास्यत्व (विषयत्व) होने से उक्त लक्षण में असम्भव दोष होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ब्रह्म स्वयं ही फलरूप (चिद्रूप) होने से ब्रह्म में फल विषयत्व नहीं रहेगा। अर्थात् फल = चिद् रूप ब्रह्म। ब्रह्म ही ब्रह्म का विषय न होने से फलविषयत्व ब्रह्म में नहीं जायेगा। अतः लक्षण में असम्भव दोष नहीं दिया जा सकता है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि अद्वैतवेदान्त के श्री चित्सुखाचार्य ने चित् को भी चित् का विषय माना है। इसको तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी) के ''स्वप्रकाशत्वानुमाने हेतुदोषनिरासः'' में कहा है—

''अस्ति हि तत्स्वभावस्यापि स्फुरणस्य तद्व्यवहारजनकत्वेन तद्विषयत्वम्। ''(अनुभूति स्वरूप स्फुरण (ज्ञान) में भी अनुभूति विषयकत्व है।) अतः ब्रह्म में फलव्याप्यत्व के रहने से लक्षण में असम्भव दोष होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि श्रीचित्सुखाचार्य के कथन का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म का स्वरूप भूत अनुभूति प्रयुक्त व्यवहार (अभिलाप रूप व्यवहार अर्थात् ज्ञान प्रयुक्त अभिलाप रूप व्यवहार, यह व्यवहार अनुभूति जन्य नहीं है) ऐसे व्यवहार का विषय = ब्रह्म स्वरूप अनुभूति के होने के कारण ब्रह्मस्वरूप अनुभूति को गौण रूप से अनुभूति का विषय कह दिया गया है,जबकि लक्षण में फलाव्याप्यत्व का तात्पर्य मुख्य रूप से चित् की अविषयता कही गयी हैं। यह ब्रह्म में है। अतः असम्भव दोष नहीं होगा। सिद्धान्त मतानुसार फलव्याप्यत्व क्या है? इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि वृत्ति में प्रतिबिम्बित जो चित् तादृश चित् जन्य जो अतिशय तादृश अतिशय योगित्व को फलव्याप्यत्व कहते हैं। अथवा वृत्ति से अथवा वृत्ति प्रतिफलित चित् से अभिव्यक्त जो अधिष्ठान चित् तादृश चिद् विषयत्व को फलव्याप्यत्व कहते हैं। प्रथम पक्ष में चित् जन्य अतिशय से आवरभङ्ग या व्यवहार नहीं लेना है किन्तु भग्नावरण जो चित् है। उस चित् का सम्बन्ध रूप है। अर्थात् इन्द्रिय जन्य अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा जहाँ असत्तापादक और अभानापादक आवरण नष्ट हो गया है, वहाँ अनावृत चित् का जो सम्बन्ध (तादात्म्य सम्बन्ध) है, उसी को अतिशय शब्द से कहा गया है। वह सम्बन्ध घटादि विषय में रहता है आत्मा में नहीं, क्योंकि आत्मा से अनावृत चित् सम्बन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि आत्मा और चित् अभिन्न हैं। इसलिए कह रहे हैं कि सम्बन्ध सदा ही भेद गर्भित (स्व से भिन्न वस्तु में ही) होगा। इसी प्रकार ''वृत्त्या तत्फलित चिता वा अभिव्यक्ताधिष्ठान—चिद्विषयत्वं फलव्याप्यत्वम्'' इस पक्ष में भी उक्त चिद् विषयत्व भी घटादि दृश्य वर्ग में ही रहेगा आत्मा में नहीं। इसको ''प्रतिकर्मव्यवस्था'' नामक प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार लक्षण घटक अवेद्यत्व सूपपन्न है।।४।।

उक्त स्वप्रकाश लक्षण घटक अपरोक्ष व्यवहार का निरूपण करना असम्भव नहीं है, क्योंकि

विषयधर्माधर्मादौ तादृशव्यवहारयोगितया अतिव्याप्तिः, योगजधर्मातिरिक्तालौकिकप्रत्यासत्तेरनङ्गीकारात्, तस्यापि स्वयोग्यव्यवहित एव सामर्थ्यापादकत्वात्, न तु धर्मादौ। तदुक्तं—'यत्राप्यतिशयो दृष्टः' इत्यादि। एतेन—कश्चायमपरोक्षव्यवहारो नाम? अपरोक्षज्ञानजन्यो वा, अपरोक्षवस्तुविषयो वा, अपरोक्ष इत्याकारो वा?, नाद्यः; धर्मादावप्यपरोक्षयोगिज्ञानानुव्यवसायव्याप्तिज्ञानजन्यव्यवहारसत्त्वेनातिव्याप्तेः, न द्वितीयः, वस्तुन आपरोक्ष्यमपरोक्षज्ञानविषयत्वं चेत्, आत्मनोऽपि घटादिवत् वेद्यत्वापातात्, अपरोक्षव्यवहारविषयत्वं चेत्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

''अपरोक्ष'' इत्याकारक शब्द प्रयोग को ही ''अपरोक्ष व्यवहार'' शब्द से उक्त लक्षण में कहा गया है।

शङ्का :— पूर्वपक्षी का कथन है कि ज्ञानलक्षणादि अलौकिक प्रत्यक्ष के विषय जो नित्यातीन्द्रिय धर्माधर्मादि है। उनमें ''अपरोक्ष'' इत्याकारक शब्द प्रयोग रूप व्यवहार की योग्यता होने से अतिव्याप्ति होगी।

समाधान :— ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि योगज सन्निकर्ष से अतिरिक्त सामान्यलक्षणादि सन्निकर्ष को हम नहीं मानते हैं। योगज सन्निकर्ष से भी प्रत्यक्ष के योग्य हो और व्यवहित देशादि में हो, उसका ही प्रत्यक्ष होता है न कि धर्मादि का। कहने का भाव यह है कि योगी योगज सन्निकर्ष से उसी का प्रत्यक्ष कर सकता है, जिसका इन्द्रियों से प्रत्यक्ष हो सकता है। योगज प्रत्यक्ष में इतनी विशेषता होती है कि योगी दूर देशादि में स्थित प्रत्यक्ष के योग्य वस्तु का प्रत्यक्ष कर लेता है। धर्माधर्मादि प्रत्यक्ष के योग्य ही नहीं हैं। अतः उनका प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है। इसको स्पष्ट करते हुए वार्तिककार श्रीकुमारिल भट्ट ने कहा है—

यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यात् न रुपे श्रोत्रवृत्तिता।।

{योगी पुरुषों की इन्द्रियों में जो अधिक शक्ति देखी जाती है। वह शक्ति भी नेत्रादि इन्द्रियों का जो विषय रूपादि है। उसका अतिक्रमण करने में समर्थ नहीं होती है। जैसे योगी पुरुष की नेत्र इन्द्रिय में योगज शक्ति होने के कारण अतिदूरस्थ या सूक्ष्म रूप को देखा जा सकता है किन्तु उक्त योगज शक्ति के बल पर श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा रूप को नहीं देखा जा सकता है।} फलतः नित्यातीन्द्रिय धर्माधर्मादि में उक्त स्वप्रकाशलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

शङ्काः— पूर्वपक्षी का कथन है कि अपरोक्ष व्यवहार का अर्थ क्या (१) अपरोक्ष ज्ञान जन्य व्यवहार है? या (२) अपरोक्ष वस्तु विषयक व्यवहार? (३) अपरोक्ष इस प्रकार का शब्द व्यवहार? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि धर्मादि में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि धर्मादि में भी अपरोक्ष जो योगियों का ज्ञान तादृश अपरोक्ष ज्ञान जन्य व्यवहार का सत्त्व है। इसी प्रकार अपरोक्ष अनुव्यवसाय जन्य व्यवहार का सत्त्व धर्मादि में होने से और अपरोक्ष व्याप्ति ज्ञान जन्य व्यवहार का सत्त्व धर्मादि में होने से अतिव्याप्ति होगी। जैसे धर्म की अनुमिति हुयी। उसके बाद ''धर्मानुमितिज्ञानवानहम्'' इत्याकारक अपरोक्षात्मक अनुव्यवसाय ज्ञान हुआ। इससे जन्य ''अयं धर्मज्ञानवान्'' ऐसा व्यवहार होता है। अतः धर्मादि में अतिव्याप्ति होगी। इसी प्रकार जो सुखी हैं वह धर्मवाला है। ऐसे व्याप्ति ज्ञान का प्रत्यक्ष स्वयं अपने में ही होता है। इस अपरोक्ष व्याप्ति ज्ञान से ''यह धर्मवाला है'' ऐसा व्यवहार होता है। अतः धर्मादि में अतिव्याप्ति होगी। द्वितीय पक्ष (अपरोक्ष वस्तु विषयक व्यवहार) भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इस द्वितीय पक्ष में भी विकल्प किया जायेगा। जैसा वस्तुगत अपरोक्षता यदि अपरोक्ष ज्ञान की विषयता रूप है तब तो घटादि में जैसे अपरोक्ष ज्ञान की विषयता है वैसे आत्मा में भी रहेगी। अतः घट के जैसे आत्मा में भी वेद्यत्व की आपत्ति होगी। अथवा यदि वस्तुगत अपरोक्षता का अर्थ ''अपरोक्ष व्यवहार की विषयता'' करते हैं तब वस्तु तथा व्यवहार

वस्तुव्यवहारयोरापरोक्ष्ये अन्योन्यसापेक्षतयाऽन्योन्याश्रयात्। न तृतीयः, निराकारशुद्धब्रह्मविषयस्य अखण्डार्थनिष्ठवेदान्तजन्यव्यवहारस्यापरोक्ष इत्याकारायोगादिति निरस्तम्, व्यवहारपदेनाभिवदनस्य विवक्षितत्वेन चरमवृत्तेस्तदनाकारत्वेऽपि क्षत्यभावात्।।५।।

न चानुपलब्धिगम्यतया अवेद्ये अपरोक्ष इति लोकव्यवहारसत्त्वेनाभावेऽतिव्याप्तिः; प्रामाणिकव्यवहारस्य विवक्षितत्वात्। ननु—अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं न तावत्सर्वान्प्रति; चैत्रज्ञाने मैत्रस्य तदभावात्, नापि ज्ञानं

सत्यानन्दप्रबोधिका

इन दोनों को अपरोक्षता में परस्पर सापेक्षत्व होने से अन्योन्याश्रय दोष होगा। जैसे वस्तु का अपरोक्ष हो जाने पर वस्तु का अपरोक्ष व्यवहार होगा। वस्तु का अपरोक्ष व्यवहार हो जाने पर वस्तु का अपरोक्ष होगा। तृतीय पक्ष (अपरोक्ष इस प्रकार का शब्द व्यवहार) मानने पर असम्भव दोष होगा, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म निराकार है। उसका वेदान्त वाक्य जन्य ज्ञान भी अखण्ड (निष्प्रकारक) होता है। ऐसे निष्प्रकारक ब्रह्म के लिए अपरोक्षत्व प्रकारक अपरोक्ष विशेष्यक व्यवहार नहीं किया जा सकता है।

समाधान :— एतेन निरस्तम्—ऐसा अन्वय करना चाहिए। एतेन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि ''अपरोक्ष व्यवहार'' पद से ''अपरोक्ष'' इस प्रकार का शब्दात्मक प्रयोग ही विवक्षित होने से पूर्वपक्षी के द्वारा कथित सभी विकल्प अमान्य हो गये। अत: उन विकल्पों के द्वारा दिया गया दोष भी अमान्य हो गया। चरमवृत्ति अर्थात् निष्प्रकारक शुद्ध ब्रह्म के अखण्डार्थ बोध में अपरोक्षत्व प्रकारक अपरोक्ष के न होने पर भी अर्थात् ''अपरोक्ष'' ऐसा अखण्डार्थ बोध होने पर भी लक्षण चला जायेगा। अत: कोई दोष नहीं है।।५।

शङ्का :—पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही गम्य घटादि में फलव्याप्यत्व माना जाता है। अत: अनुपलब्धिप्रमाण से जो गम्य अभाव है। उसमें फलव्याप्यत्व नहीं रहेगा। इसलिए अभाव में फलाव्याप्यत्व रूप अवेद्यत्व गया। अनुपलब्धिप्रमाण से गम्य अभाव में ''अपरोक्ष'' इत्याकारक लोक व्यवहार होने से अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्व भी है। अत: अनुपलाब्धिप्रमाण गम्य अभाव में उक्त स्वप्रकाशत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति है।

समाधान :— अतिव्याप्ति दोष का निवारण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अनुपलाब्धिप्रमाण गम्य अभाव में उक्त स्वप्रकाश लक्षण का विशेषण भाग रहने पर भी विशेष्य भाग नहीं रहेगा, क्योंकि उक्त लक्षण में व्यवहार पद से प्रामाणिक (प्रमाजन्य या भ्रमाजन्य) व्यवहार विवक्षित है। अनुपलब्धि प्रमाण से होने वाला अभाव का ज्ञान परोक्ष होता है न कि अपरोक्ष। ऐसे अभाव के परोक्ष ज्ञान में भ्रम से अपरोक्ष व्यवहार लोक में होता है। अत: अपरोक्ष व्यवहार प्रामाणिक न होने से उक्त अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा। {इससे यह सूचित होता है कि वेदान्त परिभाषा में जो अनुपलाब्धिप्रमाण गम्य अभाव को प्रत्यक्ष कहा गया हैं। वह सिद्धान्त सम्मत नहीं है, क्योकि यहाँ अनुपलाब्धिप्रमाण गम्य अभाव के ज्ञान को अपरोक्ष नहीं माना जा रहा है।}

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि स्वप्रकाश लक्षण घटक अपरोक्ष व्यवहार से किसी एक जीव के अपरोक्ष व्यवहार को लेना है? या सभी जीवों के अपरोक्ष व्यवहार को लेना है? या ज्ञान (सामान्य चैतन्य) के अपरोक्ष व्यवहार को लेना है? प्रथम पक्ष मानने पर चैत्र का अपरोक्ष व्यवहार मैत्र के आत्मा में न रहने से अव्याप्ति दोष होगा। द्वितीय पक्ष मानने पर असम्भव दोष होगा,क्योंकि भूत वर्तमान भविष्यत् कालीन सभी जीवों का अपरोक्ष व्यवहार हो नहीं सकता है। सभी शरीरों में विद्यमान सामान्य चैतन्य के अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्व को लेकर लक्षण समन्वय नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सामान्य चैतन्य का व्यवहार ही प्रसिद्ध नहीं हैं। यदि कहा जाय कि ज्ञान का जो आश्रय चित् उसको जिस योग्य वस्तु का अपरोक्ष

प्रति; तस्याव्यवहर्तृत्वात्। नापि ज्ञानाश्रयं प्रति; ज्ञानस्य चितोऽनाश्रितत्वादिति—चेन्न; प्रमातारं यं कञ्चित् प्रत्येवापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं विवक्षितम्। प्रमाता चाहमर्थ एव सर्वसम्मतः। यत्तूक्तं चैत्रस्य ज्ञाने मैत्रस्याव्यवहार इति, तस्य चैत्रज्ञाननिमित्तको मैत्रस्याव्यवहार इति वार्थः? चैत्रज्ञानविषयको मैत्रस्याव्यवहार इति वार्थः। आद्ये चैत्रज्ञानेन मैत्रस्याव्यवहारेऽपि स्वज्ञानेनैव घटे ब्रह्मणि चापरोक्षव्यवहारसम्भवेन व्यर्थविशेषणत्वासम्भवयोरभावात्। द्वितीये चैत्रज्ञाने तादृग्व्यवहाराभावेऽपि क्षत्यभावात्। अस्माकमपि हि चितिरेव स्वप्रकाशा, नतु चैत्रज्ञानत्वेन व्यपदिश्यमानवृत्त्युपहितचिदपि; वृत्तेरस्वप्रकाशत्वात्। एवञ्च सर्वप्रमातॄन् प्रति तादृग्व्यवहारविषयतायोग्यत्वमपि सङ्गच्छत एव।।६।।

ननु—अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वं तद्योग्यत्वं च व्याहतम्; तदपरोक्षव्यवहारे तद्विषयकस्फुरणस्य हेतुत्वादिति चेन्न; अन्यत्र तद्विषयस्य तद्व्यवहारजनकत्वेऽपि स्फुरणस्य स्वाविषयस्य स्वस्मिन् व्यवहारजनकत्वम्;

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्यवहार होता है। उस ज्ञान के आश्रय चित् को स्वप्रकाश कहेंगे— ऐसा नहीं माना जा सकता है, क्योंकि सिद्धान्त मतानुसार ज्ञान और चित् अभिन्न हैं। सामान्य चित् का कोई व्यवहार ही नहीं हैं। अतः स्वप्रकाश का उक्त लक्षण असम्भव दोषयुक्त हैं।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जिस किसी एक प्रमाता का ही अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्व विवक्षित है। प्रमाता अहमर्थ रूप है—यह सर्वसम्मत हैं। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि चैत्र के ज्ञान (आत्मा) में मैत्र का अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्व नहीं होता है। पूर्वपक्षी के इस कथन का तात्पर्य क्या चैत्र ज्ञान निमित्तक मैत्र के अपरोक्ष व्यवहार का अभाव है? अथवा चैत्र ज्ञान विषयक मैत्र के अपरोक्ष व्यवहार का अभाव है? प्रथम पक्ष में चैत्र ज्ञान से मैत्र का अपरोक्ष व्यवहार न होने पर भी मैत्र ज्ञान से ही घट में और ब्रह्म में अपरोक्ष व्यवहार सम्भव हैं। इसलिए उक्त लक्षण में अवेद्यत्व रूप विशेषण का वैयर्थ्य और असम्भव दोष नहीं होगा। द्वितीय पक्ष में चैत्र के ज्ञान में मैत्र के अपरोक्ष व्यवहार का अभाव होने पर भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त मत में शुद्ध ब्रह्म ही स्वप्रकाश माना जाता है, चैत्र ज्ञानत्वेन व्यपदिश्यमान वृत्ति—उपहित ब्रह्म को स्वप्रकाश नहीं माना जाता है, क्योंकि उसकी उपाधि वृत्ति स्वप्रकाश नहीं है। एवं च = वृत्ति अस्वप्रकाश है। अतः वृत्ति उपाधि से रहित ब्रह्म के लेने पर, सर्व प्रमाताओं के प्रति अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व योग्यत्व भी सङ्गत हो जायेगा। अर्थात् चैत्र ज्ञान मैत्र ज्ञान इत्यादि सभी स्थलों पर जब वृत्ति को छोड़ देंगे तब शुद्ध ब्रह्म बचेगा। उसमें अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व योग्यत्व रहेगा। फलतः लक्षण समन्वय हो जायेगा।।६।।

शङ्का— अवेद्यत्व विशिष्ट अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व या अवेद्यत्व विशिष्ट अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व योग्यत्व परस्पर व्याहत है, क्योंकि तद्विषयक अपरोक्ष व्यवहार में तद्विषयक स्फुरण को कारण माना जाता है। {कहने का भाव यह है कि अवेद्यत्व कहकर जो अपरोक्षव्यवहार विषयत्व कहा गया है, वह उचित नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ वेद्य होता है वही अपरोक्ष व्यवहार का विषय होता है— इसको पटादि स्थल पर देखा गया है। इसलिए ब्रह्म का ''अपरोक्षम्'' इत्याकारक शब्द प्रयोग रूप व्यवहार माना है, वह भी ब्रह्म विषयक ज्ञान जन्य माना है। ऐसा होने पर ब्रह्म विषयक स्फुरणात्मक अपरोक्ष व्यवहार को भी ब्रह्म विषयक स्फुरण जन्य मानना चाहिए। फलतः यदि अवेद्य कहते हैं तब अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व व्याहत है और अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व कहते हैं तब तो वेद्यत्व के हठात् आ जाने से अवेद्यत्व व्याहत है। इस प्रकार परस्पर व्याहत होने से उक्त लक्षण दुष्ट है।}

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि स्फुरण रूप ब्रह्म से भिन्न घटादि स्थल पर घटादि विषयक स्फुरण घट के अपरोक्ष व्यवहार का जनक होने पर भी स्फुरण—स्फुरण विषयक न होने पर भी स्वयं स्फुरण ही

स्वभावभेदात्। न च घटादावपि तथैवास्तु, तेषामस्फुरणरूपत्वेन तद्विषयत्वं विना नियामकान्तराभावात्, तार्किककल्पितस्यानुव्यवसायस्यापि घटज्ञानज्ञानत्वापेक्षया लघुना घटज्ञानत्वेनैव घटज्ञानव्यवहार—हेतुत्वकल्पनाच्च।।७।।

ननु— अनवस्थाभिया स्फुरणान्तरानङ्गीकारात्, स्वस्यैव स्वविषयत्वमस्तु; अन्यत्र क्लृप्तस्य तद्विषयत्वस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्फुरण के अपरोक्ष व्यवहार को उत्पन्न कर देता है, क्योंकि स्फुरण और स्फुरण के विषय घटादि का स्वभाव पृथक्—पृथक् हैं। {दोनों का स्वभाव पृथक् कैसे है? इसको इस प्रकार से समझना चाहिए— ''पटोऽपरोक्ष:'' इस प्रकार का व्यवहार नियमत: पट ज्ञान से जनित होता है, क्योंकि पट में साक्षात् अपरोक्षता नहीं होती है किन्तु अपरोक्ष चित्तादात्म्य रूप उपाधि को लेकर औपाधिक अपरोक्षता मानी जाती है किन्तु ''ब्रह्म अपरोक्षम्'' इस प्रकार का व्यवहार ब्रह्म के ज्ञान से जनित नहीं होता है अपितु स्वाभाविक होता है क्योंकि ब्रह्म में अपरोक्षता साक्षात् (स्वाभाविक) होती है। इसको स्पष्ट रूप से श्रुति कह रही है— ''यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म''। यदि कहा जाय कि घट के लिए जैसे घट ज्ञान मानते हैं वैसे ही ब्रह्म के लिए ब्रह्म ज्ञान क्यों नहीं मानते हैं? इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म के लिए ब्रह्म ज्ञान माना तब पुन: ब्रह्म ज्ञान के लिए ब्रह्म ज्ञान का ज्ञान माना। पुन: ब्रह्म ज्ञान के ज्ञान के लिए ब्रह्म ज्ञान के ज्ञान का ज्ञान मानना पड़ेगा। ऐसे ही आगे—आगे मानते रहने पर घटादि के ज्ञान होने का अवसर ही नहीं आयेगा और सतत ज्ञान का ज्ञान होते रहने पर सुषुप्ति ही नहीं होगी तथा अनवस्था दोष होगा। इन सभी को स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थकार ने मूल में कहा—स्वभावभेदात्।}

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे ज्ञान का विषय ब्रह्म के न होने पर भी ब्रह्म विषयक अपरोक्ष व्यवहार हो जाता है वैसे ही ज्ञान का विषय घटादि के न होने पर भी घटादि विषयक अपरोक्ष व्यवहार हो जाना चाहिए। घट ज्ञानादि मानना व्यर्थ हैं।

समाधान— उक्त आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि घटादि ज्ञान स्वरूप (चैतन्य स्वरूप) नहीं होता है। इसलिए घटादिगत अपरोक्ष व्यवहार विषयता का नियामक अपरोक्षात्मक चैतन्य तादात्म्य को छोड़कर और कोई हो नहीं सकता है। अत: घटादि के अपरोक्ष व्यवहार के लिए घट ज्ञान मानना आवश्यक है। (यदि पूर्वपक्षी कहता है कि घटादि स्थल पर वैसा होने पर भी स्फुरण में स्वविषयत्व मानना आवश्यक है, यदि स्फुरण में स्व विषयत्व नहीं होगा तब स्फुरण विषयक वृत्ति अभाव काल में स्फुरण विषयक व्यवहार नहीं होगा। तार्किक लोग भी ज्ञान विषयक व्यवहार के प्रति ज्ञान ज्ञानत्वेन हेतुता मानते हैं। इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि) तार्किक मत में अनुव्यवसाय जो व्यवसाय (घट ज्ञान) के व्यवहार के प्रति हेतु माना जाता है वह घट ज्ञान ज्ञानत्वेन हेतु माना जाता है किन्तु वह गुरु होने के कारण उसकी अपेक्षा से लघुभूत घट ज्ञानत्व को घट ज्ञान विषयक व्यवहार का नियामक मानना उचित है। फलत: अनुव्यवसाय का अङ्गीकार निष्फल है, क्योंकि व्यवसाय ज्ञान में स्वप्रकाशत्व सम्भव है।।७।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जहाँ कहीं पर भी ज्ञान से पटादि विषयक व्यवहार होता है वहाँ पर पटादि को ज्ञान का विषय बनना पड़ता हैं। सिद्धान्ती यदि अनवस्था के भय से ज्ञान का ज्ञान नहीं मान रहे हैं तब भी स्व (ज्ञान) को ही स्व (ज्ञान) का विषय मान लेना चाहिए, क्योंकि ज्ञान से भिन्न घटादि स्थल पर देखा गया है कि घट व्यवहार का नियामकी भूत जो घट ज्ञान वह घटविषयकत्वेन ही नियामक है। ऐसा सर्व अनुभव जो सिद्ध है उसको न मानना उचित नहीं हैं। फलत: चैतन्य रूप ज्ञान भी ज्ञायमान होकर ही अपने व्यवहार का जनक होगा। ऐसा होने पर चैतन्य रूप ज्ञान वेद्य हो जायेगा। अन्यथा = स्वविषयत्व के

नियामकस्य त्यक्तुमयुक्तत्वात्, अन्यथा प्रमेयत्वस्य स्ववृत्तित्वं विनैव स्वत एव प्रमेयमिति व्यवहारजनकत्वोपपत्त्या केवलान्वयित्वभङ्गप्रसङ्ग इति—चेन्न; अनवस्थया स्फुरणान्तरत्यागवदभेदे भेदनियतस्य विषयिविषयभावस्याप्ययुक्ततया त्यागोपपत्तेः, प्रमेयत्वादौ केवलान्वयित्वभङ्गस्येष्टत्वात्। न च —एवं गतिरपि ग्राम इव स्वस्मिन्नपि स्वकार्यं करोत्विति—वाच्यम्, भेदाविशेषात्तन्तुरिव मृदपि पटं करोत्वित्यस्याप्यापत्तेः। स्वभावभेदेन परिहारश्च सर्वत्र समानः।।८।।

यद्वा—चिदविषयस्वरूपत्वमेव स्वप्रकाशत्वम्, चिदन्यस्य सर्वस्य चिद्विषयत्वात्तुच्छस्य निःस्वरूपत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

विना ही ज्ञान को स्व व्यवहार का नियामक मानने पर घट जो प्रमेय है, क्योंकि उसमें प्रमेयत्व रहता है। प्रमेयत्व भी जो प्रमेय है। उस प्रमेयत्व में प्रमेयत्व माने विना ही स्वतः ही प्रमेयत्व प्रमेय है— ऐसा व्यवहार हो जाना चाहिए। इस पर इष्टापत्ति दे नहीं सकते हैं, क्योंकि प्रमेयत्व अपने में न रहने के कारण केवलान्वयि सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि केवलान्वयि सर्वत्र रहता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त मत में अनवस्था के भय से ज्ञान का विषय ज्ञान जैसे नहीं माना जाता है वैसे ही अभेद में भेद व्याप्य विषयविषयिभाव को भी युक्ति युक्त न होने से नहीं माना जाता है। अतः ज्ञान को स्वविषयक मानना सम्भव नहीं है। निर्धर्मक ब्रह्म में कोई भी प्रमेयत्व वाच्यत्वादि धर्म नहीं रहता है। अतः प्रमेयत्वादि में केवलान्वयित्व भङ्गापत्ति हमें अभीष्ट ही हैं।

शङ्का— एवम् = घट ज्ञान अपने कार्य (घट व्यवहार) को अपने विषय घट में उत्पन्न करने पर भी ज्ञान स्व विषयक न होने पर भी स्वयं ही अपने कार्य (स्व व्यवहार) को जैसे स्व में उत्पन्न कर देता है वैसे ही, ग्राम विषयिणी गति अपने कार्य (ग्राम पुरूष संयोग) को ग्राम में उत्पन्न करने पर भी गति विषयिणी गति न होने पर भी गति स्वयं ही अपना कार्य (गति में गति के सम्बन्ध) को स्व में उत्पन्न कर दे। अर्थात् ''देवदत्तः ग्रामं गच्छति के जैसे'' ''देवदत्तः गतिं गच्छति'' ऐसा व्यवहार हो जाय।

समाधान— पूर्वपक्षी ने जो कहा कि दृश्य पदार्थ ज्ञायमान होकर ही स्वव्यवहार का हेतु बनता है। अतः चैतन्य रूप ज्ञान भी ज्ञायमान होकर ही स्व व्यवहार का हेतु बनना चाहिए। सिद्धान्ती का कथन है कि एक ही नियम सर्वत्र नहीं लगाया जा सकता है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि पट से जैसे तन्तु भिन्न है वैसे ही पट से मृत्तिका भी भिन्न है। अतः पट से भिन्न जो तन्तु है वह पट को जैसे उत्पन्न करता है वैसे ही पट से भिन्न जो मृत्तिका है। उस मृत्तिका से भी पट की उत्पत्ति होने की आपत्ति होगी। यदि प्रागभाव, शक्ति, योग्यतादि को नियामक कहा जाय तब भी प्रश्न होगा कि पट का प्रागभावादि तन्तुओं में ही क्यों रहता है, मृत्तिका में क्यों नहीं रहता है। यदि कहो कि व्यवहार निर्वाहार्थ स्वभाव को मानेंगे तब हम भी कह सकते हैं कि दृश्य का यह स्वभाव है कि दृश्य पदार्थ ज्ञायमान होकर स्व व्यवहार का निर्वाहक होता है और चैतन्य रूप ज्ञान का यह स्वभाव है कि स्वाविषयक होता हुआ भी स्वविषयक व्यवहार का निर्वाहक होता है।।८।।

आचार्यप्रवर स्वप्रकाश के अन्य लक्षणों को दिखला रहे हैं। चिदविषयस्वरूपत्व ही स्वप्रकाशत्व है। ''चिदविषय'' इतना ही स्वप्रकाश का लक्षण करने पर अर्थात् लक्षण में स्वरूपत्व का प्रवेश न करने पर शशशृङ्गादि में अतिव्याप्ति होगी। अतः स्वरूपत्व कहा गया। शशशृङ्गादि के निःस्वरूपत्व होने से अतिव्याप्ति नहीं होगी। इसी प्रकार ''स्वरूपत्व'' को ही स्वप्रकाश का लक्षण बनाने पर घटादि में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि घटादि का स्वरूप होता ही है। इस दोष के वारण के लिए चिदविषयत्व कहा

नातिव्याप्तिशङ्का। नाप्यसम्भवः; स्वात्मनि वृत्तिविरोधेन छिदाया अच्छेद्यत्ववत् स्वस्य स्ववेद्यत्वायोगात्। न च—एवं मिथ्यात्वानुमितेरपि अस्वविषयत्वापत्तिरिति—वाच्यम्; स्वपरसाधारणस्यैकस्य विषयतानियामकस्य तत्र सत्त्वेन विशेषात्। अत एव यथा छिदादौ परशुसंयोगो न स्वपरसाधारण इति स्वस्मिन्वृत्तिविरोधः, तथा प्रकृतेऽपि। न च—तर्हि छिदाकार्यस्य छिदायामिव चिज्जन्यव्यवहारस्य चित्यनापत्तिरिति—वाच्यम्, फलदर्शनस्यैव छिदापेक्षया स्वभावभेदनियामकत्वात्।।९।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

गया। घटादि में चिद् विषयत्व है। अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी। इसी को ग्रन्थकार ने संक्षेप से कहा कि चित् से अन्य सभी दृश्य वर्ग में चिद् विषयत्व होने से उसमें और तुच्छ के निःस्वरूपत्व होने से तुच्छ में अतिव्याप्ति की शङ्का नहीं की जा सकती है। इस लक्षण में असम्भव दोष भी नहीं है,क्योंकि स्व में स्व की वृत्ति मानने पर विरोध होता है। अतः स्व का वेद्यत्व स्व में नहीं माना जा सकता है। जैसे छेद्य (काष्ठादि) छिदा क्रिया का विषय होता है, क्योंकि ''देवदत्तः काष्ठं छिनत्ति'' ऐसा प्रयोग होता है किन्तु ''देवदत्तः छिदां छिनत्ति'' ऐसा प्रयोग न होने से छिदा क्रिया छिदा क्रिया का विषय नहीं होती है। कहने का भाव यह है कि यदि चिद् का विषय चिद् ही होता तो असम्भव दोष होता किन्तु ऐसा न होने से असम्भव दोष नहीं है।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती जैसे चिद् का विषय चिद् को नहीं मान रहे हैं वैसे ही मिथ्यात्व साधक अनुमिति का विषय मिथ्यात्व साधक अनुमिति भी नहीं होगी। अतः मिथ्यात्व साधक अनुमिति के द्वारा अपने (अनुमिति) में मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं हो पायेगी। ऐसा होने पर द्वैतापत्ति होगी।

समाधान— उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्व साधक अनुमिति के विषयता का एक ही नियामक ''ब्रह्म ज्ञानान्याबाध्यत्वे सति तुच्छब्रह्मान्यत्वम्'' है। वह नियामक मिथ्यात्व अनुमिति से पर प्रपञ्च (अनुमिति का पक्षादि) में जैसे रहता है वैसे ही मिथ्यात्व अनुमिति में भी रहने के कारण मिथ्यात्व अनुमिति से प्रपञ्च में मिथ्यात्व की सिद्धि के साथ—साथ स्व (मिथ्यात्व अनुमिति) में भी मिथ्यात्व की सिद्धि हो जाती है। फलतः मिथ्यात्व अनुमिति की विषयता का उक्त नियामक स्व और पर दोनों में रहता है और ज्ञान विषयता का नियामक (दृश्यत्व परिछिन्नत्वादि) ज्ञान से पर में रहने पर भी स्व (ज्ञान) में नहीं रहता है। यही ज्ञानविषयता की अपेक्षा से मिथ्यात्वानुमिति विषयता में विशेष है। अत एव प्रकृतेऽपि तथा—ऐसा अन्वय है। इसलिए प्रकृत में भी ऐसा माना जाता है। अर्थात् ज्ञान विषयता का नियामक स्व (ज्ञान) और पर (दृश्य) में साधारण रूप से नहीं रहने के कारण ज्ञान में स्व विषयता नहीं रहती है। जैसे छिदि विषयता (छेद्यता) का नियामक परसु संयोग वह छिदा से पर (काष्ठ) में रहने पर भी स्व (छिदा) में नहीं माना जाता है क्योंकि स्व में स्व वृत्ति मानने पर विरोध होता है। इसलिए छिदा स्व विषय (स्व छेद्य) नहीं होता है, क्योंकि ''छिदां छिन्दन्ति'' ऐसा व्यवहार नहीं होता है।

शङ्का— तर्हि = यदि छिदा क्रिया के समान ही चैतन्य स्व विषयक नहीं होता है तब, तो जैसे द्वैधी भाव रूप छिदाकार्य स्वयं छिदा में नहीं होता है वैसे ही चिति जन्य व्यवहार भी चिति में नहीं हो पायेगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि छिदा का कार्य = फल = द्वैधीभाव छिदा में देखा नहीं जाता है किन्तु चिद् जन्य व्यवहार रूप फल चिद् में देखा जाता है, क्योंकि जानामि ऐसा अनुभव होता है। अतः चिद् जन्य व्यवहार चिद् में माना जायेगा। इस प्रकार छिदा की अपेक्षा चित् का स्वभाव जो भिन्न हैं। उसमें फलदर्शन ही नियामक है। अर्थात् जहाँ पर जो फल देखने में आता है वहाँ पर तदनुकूल स्वभाव की कल्पना कर लेनी चाहिए। एक स्थल पर दर्शनादर्शन से सभी स्थलों पर दर्शानादर्शन की कल्पना नहीं की जा सकती हैं।।९।।

यद्वा स्वव्यवहारे स्वातिरिक्तसंविदनपेक्षत्वं स्वावच्छिन्नसंविदनपेक्षत्वं वा स्वप्रकाशत्वम्। न च स्ववेद्यत्वेऽप्युपपत्त्या स्वाभिमतप्रकाशत्वानुपपत्तिः; स्ववेद्यत्वस्य बाधितत्वेन तदादायोपपत्त्यसम्भवात्। ननु—स्वप्रकाशत्वधर्मस्य तात्त्विकत्वे अद्वैतव्याघातः; अतात्त्विकत्वे अस्वप्रकाशत्वस्यैव तात्त्विकत्वापत्त्या तत्साधकानुमानादेर्बाध इति—चेन्न; स्वरूपत्वस्योक्तत्वात्। न च—परेषामिदमिष्टम्; वेद्यत्वविरोधिस्वरूपस्य परैरनङ्गीकारात्।।१०।।

इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मस्वप्रकाशत्वलक्षणोपपत्तिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अथवा अपने व्यवहार में अपने से अतिरिक्त ज्ञान की जो अपेक्षा नहीं करता है, उसे स्वप्रकाश कहते हैं। या अपने व्यवहार में स्वावच्छिन्न = अपने विषयक ज्ञान की जो अपेक्षा नहीं करता है, उसे स्वप्रकाश कहते हैं।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त द्वय लक्षण ज्ञान को वेद्य मानने पर भी उपपन्न हो जायेगा। जैसे ज्ञान अपने व्यवहार के लिए स्व की अपेक्षा अथवा स्वविषयक ज्ञान की अपेक्षा करने पर भी अपने (ज्ञान) से भिन्न की अपेक्षा नहीं करता है, किन्तु इस प्रकार से लक्षण का समन्वय होने पर ज्ञान वेद्य सिद्ध हो जायेगा तब सिद्धान्ती अभिमत अवेद्य (स्व प्रकाश) की सिद्धि नहीं हो पायेगी। अतः आचार्य श्रीनिवास कृत लक्षण द्वय ठीक नहीं है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि स्व (ज्ञान) के द्वारा स्व (ज्ञान) वेद्य मानने पर विरोध होता है। अतः स्व वेद्यत्व बाधित होने के कारण स्ववेद्यत्व को लेकर उक्त लक्षण द्वय की उपपत्ति सम्भव नहीं है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्रह्म में स्वप्रकाशत्व रूप धर्म को तात्त्विक मानने पर द्वैतापत्ति होगी। ब्रह्म में स्वप्रकाशत्व को अतात्त्विक मानने पर ब्रह्म में सहजतः अस्वप्रकाशत्व की सिद्धि हो जायेगी। ऐसा होने पर स्वप्रकाशत्व साधक अनुमान का बाध हो जायेगा।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि स्वप्रकाशत्व ब्रह्म का स्वरूप है— इसे खण्ड संख्या ३ में कहा जा चुका है। पूर्वपक्षी इसमें इष्टापत्ति नहीं दे सकता है, क्योंकि वेद्यत्व का विरोधी ब्रह्म का स्वप्रकाश स्वरूप द्वैतवादि मानता ही नहीं है।।१०।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां ब्रह्मस्वप्रकाशत्वलक्षणोपपत्तिः

१२—अनुभूतेः स्वप्रकाशत्वविचारः

न च प्रमाणाभावः, अनुभूतित्वहेतोर्व्यतिरेकिण एव प्रमाणत्वात्। ननु—अत्र साध्याप्रसिद्धिः, न च—वेद्यत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वादित्यनुमानेन सामान्यतः प्रसिद्धिरिति—वाच्यम् अवेद्यत्वप्रसिद्धावपि विशिष्टसाध्याप्रसिद्धेः तदवस्थत्वात्। न च—अनुभूतित्वेनापि तावदेव साध्यम्, वेद्यत्वस्य वृत्तिव्याप्यत्वरूपत्वे तदभावस्य चरमवृत्तिव्याप्यानुभूतौ बाधात्, फलव्याप्यत्वरूपत्वे तु तदभावस्य मम घटादौ तव धर्मादौ शुक्तिरूप्यादौ च पक्षभिन्ने प्रसिद्धत्वेनासाधारणानैकान्तिकतापत्तेः, अस्वप्रकाशत्वरूपत्वे प्रतियोग्यप्रसिद्ध्याऽप्रसिद्धिरेव। किञ्चात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं कुतश्चिद्व्यावर्तते चेत्, तत्रैव व्यभिचारः, न चेदत्र व्यभिचार इति चेत्।।१।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्वप्रकाशत्व में प्रमाण का अभाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अनुभूतित्व हेतु रूप व्यतिरेकी अनुमान प्रमाण है। जैसे—अनुभूतिः स्वप्रकाशा, अनुभूतित्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त व्यतिरेकी अनुमान में साध्य (अवेद्यत्व विशिष्ट अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्व) की अप्रसिद्धि है। जिस अनुमान का साध्य कहीं पर प्रसिद्ध नहीं होता है उस अनुमान के साध्य की सिद्धि पक्ष पर हो ही नहीं सकती है। यदि सिद्धान्ती साध्य की प्रसिद्धि के लिए यह अनुमान करते हैं कि—वेद्यत्वरूप धर्म यत्किञ्चित् निष्ठ जो अत्यन्ताभाव तादृश अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, धर्मत्व होने से, शौक्ल्यवत्। इस अनुमान के द्वारा सामान्य अवेद्यत्व की प्रसिद्धि हो जाती है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि इस अनुमान से अवेद्यत्व की प्रसिद्धि मान भी ली जाय तब भी उक्त विशिष्ट साध्य की अर्थात् अवेद्यत्व विशिष्ट अपरोक्ष व्यवहार योत्यत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्व रूप साध्य की प्रसिद्धि न होने से साध्याप्रसिद्धि दोष बना ही रहता है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि—अनुभूतिः, अवेद्या, अनुभूतित्वात् यन्नैवं तन्नैव यथा घटः। इस प्रकार से अनुभूतित्व हेतु के द्वारा अवेद्यत्व मात्र को ही साध्य बनायेंगे। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि यदि वेद्यत्व का अर्थ वृत्ति व्याप्यत्व किया जाता है तब अखण्डाकार चित्तवृत्ति का वृत्ति व्याप्यत्व ब्रह्म (अनुभूति) में होने से अनुभूति रूप पक्ष में साधयाभाव (वृत्तिव्याप्यत्वाभाव = अवेद्यत्व) के न होने से बाध दोष होगा। वेद्यत्व का अभाव फल व्याप्यत्व करने पर माध्वमत में फल (अनावृत्त शुद्ध चैतन्य अर्थात् निर्गुण निराकार ब्रह्म) माना नहीं जाता है। अतः माध्व मतानुसार घटादि में तादृश्य फल की व्याप्यता = प्रकाश्यता भी न होने से सपक्ष मिल गया। किन्तु इसमें हेतु नहीं है। सिद्धान्ती मतानुसार नित्यानुमेय धर्मादि और प्रातिभासिक रज्जुसर्पादि में फल व्याप्यता न होने से धर्मादि और रज्जुसर्पादि सपक्ष होंगे किन्तु इसमें हेतु नहीं रहता है और सिद्धान्ती के मतानुसार घटादि रूप विपक्ष में भी हेतु नहीं रहता है। अतः साध्याप्रसिद्धि दोष न होने पर भी सर्व सपक्ष और विपक्ष व्यावृत्त पक्ष मात्र हेतु (अनुभूतित्व) की वृत्तिता होने से असाधारण संज्ञक अनैकान्तिक दोष होगा। वेद्यत्व को अस्वप्रकाशत्व रूप मानने पर अस्वप्रकाशत्व = स्वप्रकाशत्वाभाव के प्रतियोगी स्वप्रकाशत्व की अप्रसिद्धि होने से साध्याप्रसिद्धि दोष बना ही रहेगा। किञ्च ''वेद्यत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी धर्मत्वात्'' इस अनुमान का साध्य = किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्व यदि किसी स्थल पर नहीं रहता है तब उसी स्थल पर धर्मत्व हेतु के रहने पर अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व रूप साध्य के न रहने के कारण हेतु व्यभिचारी हो जाता है। यदि अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व रूप साध्य सर्वत्र रहता है अर्थात् केवलान्वयि है तब अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व में अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्वरूप साध्य नहीं रहेगा किन्तु अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व रूप धर्म में धर्मत्व हेतु के रहने से व्यभिचारदोष होगा।।१।।

न, चिदविषयस्वरूपत्वरूपं स्वप्रकाशत्वमनुभूतित्वेन यदा साध्यते, तदा वेद्यत्वं चिद्विषयत्वमेव चिदन्यमात्रवृत्तिपक्षः; अत्यन्ताभावप्रतियोगिस्वरूपत्वं साध्यम्। यथा च वृत्तिप्रतिफलितचिद्विषयता घटादौ न ब्रह्मणि, तथोपपादितमिति नासाधारण्यबाधौ। नाप्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे व्यभिचारः, अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य मिथ्यात्वेनात्यन्ताभावप्रतियोगिन्येव अत्यन्ताभावप्रतियोगितया

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि—''अनुभूतिः स्वप्रकाशा, अनुभूतित्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः'' इस अनुमान के साध्य = स्वप्रकाशत्व का अर्थ चिदविषयस्वरूपत्व = अवेद्यत्व है। इस अनुमान के साध्य अवेद्यत्व की प्रसिद्धि दिखलाने के लिए जब अनुमान किया जाता है—''वेद्यत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, धर्मत्वात्।'' इस अनुमान के पक्ष वेद्यत्व से चिद् विषयत्व लिया जाता है। जो चिद् से भिन्न वस्तु मात्र में रहता है, अर्थात् चित्प्रतियोगिक भेदविशिष्टकृत्स्नपदार्थवृत्तिचिद्विषयत्व रूप वेद्यत्व पक्षत्वेन स्वीकार किया जाता है और अत्यन्ताभावप्रतियोगिस्वरूपत्व को साध्य बनाया जाता है। अतः उक्त अनुमान का आकार होगा—चिद्विषयत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिस्वरूपम्, धर्मत्वात्'' इस अनुमान के द्वारा अवेद्यत्व (चिदविषयत्व) रूप साध्य की प्रसिद्धि हो जाने पर ''अनुभूतिः अवेद्या, अनुभूतित्वात्'' इस अनुमान के द्वारा स्वप्रकाशत्व की सिद्धि हो जायेगी। इस पर पूर्वपक्षी ने जो कहा कि वेद्यत्व का अर्थ वृत्ति व्याप्यत्व करने पर बाध दोष होगा, क्योंकि अखण्डाकार चित् वृत्ति का विषय ब्रह्म (अनुभूति) होता है। अतः वृत्तिव्याप्यत्वाभाव = अवेद्यत्व पक्ष अनुभूति (ब्रह्म) में रहेगा ही नहीं। इसका खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि वेद्यत्व = चिद् विषयत्व। ऐसा वेद्यत्व ब्रह्म में नहीं रहेगा। अतः अवेद्यत्व रूप साध्य पक्ष में रहेगा। इसलिए बाध दोष नहीं होगा। दूसरा दोष जो दिया था कि हेतु सर्व सपक्ष विपक्ष व्यावृत्त पक्ष मात्र में रहता है। अतः असाधारण अनैकान्तिक दोष है। इसका खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि इस अनुमान का हेतु (अनुभूतित्व) विपक्ष में नहीं रहता है। यह हमें मान्य है किन्तु पूर्वपक्षी ने जो कहा कि इस अनुमान का सपक्ष होता है उसमें हेतु नहीं रहता है यह हमें मान्य नहीं है, क्योंकि इस अनुमान का सपक्ष ही नहीं है। क्योंकि वृत्ति प्रतिफलित चित् की विषयता घटादि में ही होती है ब्रह्म में नहीं। इसका निरूपण ''स्वप्रकाशत्वलक्षणविचार'' के खण्ड संख्या ४ में किया जा चुका है। अतः असाधारण अनैकान्तिक दोष नहीं है। ''वेद्यत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्, धर्मत्वात्'' इस अनुमान में पूर्वपक्षी ने जो कहा था—अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व का अभाव नहीं होता है? अथवा अभाव होता है? इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि प्रथम पक्ष को हम नहीं मानते हैं, द्वितीय पक्ष को मानते हैं। द्वितीय पक्ष मानने पर पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व को अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व होने पर यन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व में अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व रहेगा। उसमें व्यभिचारदोष होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि व्यभिचारदोष नहीं होगा । अर्थात् अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व प्रतियोगिकात्यन्ता—भावाधिकरण में व्यभिचारदोष नहीं होगा, क्योंकि अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व सिद्धान्त मतानुसार मिथ्या है। मिथ्या का लक्षण है—स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्। अर्थात् मिथ्या वस्तु अपने आश्रय में नहीं रहती है। इसलिए अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व जब मिथ्या है तब अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व का अपना आश्रय = उक्त प्रतियोगी। उसमें नहीं रहेगा। अर्थात् उक्त प्रतियोगी में उक्त प्रतियोगित्व का अत्यन्ताभाव रहेगा। (पूर्वपक्षी ने व्यभिचारदोष वहाँ दिया था, जहाँ अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व का अत्यन्ताभाव रहता है। अर्थात् उक्त प्रतियोगी में व्यभिचारदोष दिया था, परन्तु वह व्यभिचारदोष इसलिए नहीं लगेगा, क्योंकि वह प्रतियोगी

यन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं तस्य केवलान्वयित्वाभावात्।।२।।

न च—एवं ब्रह्मणि चिद्विषयत्वेऽपि तदत्यन्ताभावोपपत्त्याऽर्थान्तरं घटादावप्येवं साध्यसत्त्वेनासाधारण्यञ्चेति वाच्यम्, चिद्विषत्वविरोध्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपस्य साध्यत्वान्नार्थान्तरासाधारण्ये, घटादौ तयोः सहावस्थित्या अविरोधात्, ब्रह्मणि विरोधात्। न च तर्हि विरोधित्वांशमादाय पुनरप्रसिद्धिः। वेद्यत्वं, विरोध्यत्यन्ताभावप्रतियोगि,

सत्यानन्दप्रबोधिका

केवलान्वयि नहीं है। अत: उक्त प्रतियोगी का अत्यन्ताभाव कहीं न कहीं मिलेगा ही । अत: उक्त प्रतियोगी में भी अत्यन्ताभाव का प्रतियोगीत्व है। इसलिए उक्त प्रतियोगी में अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व रूप साध्य के चले जाने से व्यभिचारदोष नहीं होगा। अत: साध्य प्रसिद्धि साधक अनुमान में दोष नहीं है।।२।।

शङ्का— एवम् = अत्यन्ताभाव प्रतियोगी में अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व के रहने पर भी अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व का अत्यन्ताभाव रह सकता है— ऐसा मानने पर ब्रह्म में भी चिद् विषयत्व के अत्यन्ताभाव रहने पर भी चिद् विषयत्व भी रह जायेगा। ऐसा होने पर अर्थान्तरता होगी। अर्थात् चिद् विषयत्व रूप वेद्यत्व के रहते हुए भी उसका अत्यन्ताभाव एक पारिभाषिक ही अत्यन्ताभाव होगा। इससे पूर्वपक्ष मतानुसार ब्रह्म में वेद्यत्व के मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी। अत: अर्थान्तरता होगी। इसी प्रकार घटादि में चिद् विषयत्व रहने पर भी चिद् विषयत्व मिथ्या होने के कारण अपने आश्रय घटादि में चिद् विषयत्व नहीं रहेगा। अर्थात् घटादि में चिद्विषयत्वात्यन्ताभाव रूप अवेद्यत्व रहेगा। इस प्रकार घटादि सपक्ष हो जायेगा। किन्तु सपक्ष घटादि में हेतु न रहने से असाधारण अनैकान्तिक दोष होगा।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि चिद् विषयत्व विरोधी जो अत्यन्ताभाव तादृश अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व रूप को चिद् विषयत्व रूप पक्ष में साध्यत्व होने से उक्त अर्थान्तरता और असाधारण अनैकान्तिक दोष नहीं होगा। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि घट में चिद् विषयत्व और चिद् विषयत्व का अत्यन्ताभाव भी है, क्योंकि चिद् विषयत्व मिथ्या है। अत: चिद् विषयत्व का अत्यन्ताभाव भी रहेगा। दोनों के रहने के कारण उसमें रहने वाला चिद् विषयत्व का अत्यन्ताभाव चिद् विषयत्व का विरोधि नहीं हुआ। इसलिए विरोधि घटित साध्य घटादि में नहीं जाने से घटादि सपक्ष नहीं बना। अत: असाधारण अनैकान्तिक दोष नहीं होगा। ब्रह्म में चिद् विषयत्व के न रहने के कारण ब्रह्म में रहने वाला चिद् विषयत्व का अत्यन्ता भाव चिद् विषयत्व का विरोधी है। इस प्रकार स्व सम्मत साध्य ब्रह्म में रहने के कारण अर्थान्तरता नहीं होगी।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि—''वेद्यत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्'' इस अनुमान में जो विशेषण = चिद् विषयत्व विरोधि कहा गया है। उसकी सिद्धि इस अनुमान के द्वारा नहीं हो रही है अपितु वेद्यत्व का अत्यन्ताभाव ही सिद्ध हो रहा है। अत: इस अनुमान के द्वारा विशेषण अंश की सिद्धि न होने से विशेषण से विशिष्ट साध्य (चिद्विषयत्व विरोधिचिद्विषयत्वात्यन्ताभाव) की सिद्धि नहीं हो पायेगी। अत: पुन: साध्याप्रसिद्धि दोष होगा।

समाधान— आचार्यप्रवर साध्य की प्रसिद्धि को दिखलाते हुए कह रहे हैं कि ''अनुभूति: अवेद्या अनुभूतित्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घट:'' इसके साध्य की प्रसिद्धि के लिए यह अनुमान होगा—वेद्यत्व—वेद्यत्व का विरोधि जो अत्यन्ताभाव उसका प्रतियोगी है, क्योंकि अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, जैसे घट। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—जिस भूतल में घट का अत्यन्ताभाव रहता है उस भूतल में घट नहीं रहता है। अत: भूतल में रहने वाला घटात्यन्ताभाव घट का विरोधी है। अत: घट विरोधी घटात्यन्ताभाव का प्रतियोगी घट हो गया। दृष्टान्त में हेतु रहता ही है। पक्ष में हेतु का समन्वय—वेद्यत्व मिथ्या होता है। अत: वेद्यत्व

अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, घटवदिति प्रसिद्धिसम्भवात्।।३।।

यदा तु अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वरूपं स्वप्रकाशत्वं पूर्वानुमाने साध्यम्, तदा फलव्याप्यत्वरूपं वेद्यत्वं पक्षः, अपरोक्षव्यवहारयोग्यकिञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साध्यम्। तथा चापरोक्षव्यवहारयोग्यत्व—समानाधिकरणावेद्यत्वस्य सामान्यतः प्रसिद्ध्या नाप्रसिद्धविशेषणत्वासाधारण्ये। अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीत्यादिविकल्पनिबन्धदोषः परिहृत एव।।४।।

एतेन—अयं घटः; एतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्यः, पदार्थत्वादित्यादिमहाविद्ययापि साध्यप्रसिद्धिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होगा। इस प्रकार व्याप्ति विशिष्ट पक्ष धर्मता होने से पक्ष पर साध्य की सिद्धि हो जाने से साध्याप्रसिद्धि दोष नहीं होगा।।३।।

अनुभूतिः स्वप्रकाशा, अनुभूतित्वात्— इस अनुमान के स्वप्रकाशत्व रूप साध्य का अर्थ ''अवेद्यत्वविशिष्ट अपरोक्ष व्यवहारविषयत्वयोग्यता के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता'' करेंगे तब साध्य प्रसिद्धि साधक अनुमान में फल व्याप्यत्व रूप वेद्यत्व को पक्ष बनाया जाता है और अपरोक्षव्यवहारयोग्यकिञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व को साध्य बनाया जाता है। ऐसे अनुमान से केवल अवेद्यत्व की सिद्धि नहीं होती है अपितु अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व समानाधिकरण जो अवेद्यत्व तादृश अवेद्यत्व की सामान्यतः प्रसिद्धि होने से साध्याप्रसिद्धि दोष नहीं होगा। कोई सपक्ष न मिलने से असाधारण अनैकान्तिक दोष भी नहीं होगा। अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगी है? अथवा नहीं? इस प्रकार का विकल्प उठाकर पूर्वपक्षी यदि दोष देता है तब सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त दोषों का परिहार खण्ड संख्या २ में किया जा चुका है।।४।।

एतेन = वेद्यत्वं विरोध्यत्यन्ताभावप्रतियोगि, अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, घटवत्—इस अनुमान के द्वारा जैसे अवेद्यत्व की सामान्यतः प्रसिद्धि होती है ठीक इसी प्रकार अवेद्यत्व की सामान्यतः प्रसिद्धि महाविद्या अनुमान से भी होती है। जैसे— अयं घटः एतद् घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्यः, पदार्थत्वात्, पटवत्। (एतद् घटान्यत्वविशिष्ट वेद्यत्वाभाव में विशेषण = एतद् घटान्यत्व और विशेष्य = वेद्यत्व। उक्त विशिष्ट का अभाव जहाँ रहेगा वह होगा विशिष्ट का अनधिकरण। उस अनधिकरण का भेद = साध्य है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय = विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव के रूप से होगा, क्योंकि पक्षीभूत घट में विशेषण नहीं है किन्तु विशेष्य है। इस प्रकार से एतद् घटान्यत्व विशिष्ट वेद्यत्व का अभाव पूर्वपक्षी सम्मत जितने पदार्थ हैं, उसमें से केवलमात्र पक्षीभूत घट में रहेगा। इस प्रकार उक्त विशिष्ट धर्म का अनधिकरण एक मात्र पक्ष ही हुआ। उसका भेद = पट में है। अतः दृष्टान्त में साध्य गया। (यदि कहा जाय कि यहाँ विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव अथवा उभयाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव को लेकर साध्य का समन्वय दृष्टान्त में क्यों नहीं किया गया? इसका उत्तर यह है कि पक्ष में विशेष्य है। अतः विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव नहीं लिया जा सकता है। इसी प्रकार विशेष्य के रहने के कारण उभयाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव भी नहीं लिया जा सकता है।) पदार्थत्व हेतु दृष्टान्त और पक्ष में रहता ही है। व्याप्ति विशिष्ट पक्ष धर्मता रूप परामर्श के रहने पर पक्ष में साध्य को अवश्य मानना पड़ेगा। पक्ष में साध्य का समन्वय = अब तक विचार कर के देखा गया कि पूर्वपक्षी सम्मत जितने भी पदार्थ हैं उनमें से केवल मात्र पक्ष ही उक्त विशिष्ट का अनधिकरण हो पा रहा है, किन्तु जब पक्ष में उक्त अनधिकरण का भेद रूप साध्य सिद्ध कर दिया गया तब बलात् पक्ष से भिन्न कम से कम एक और अनधिकरण मानना पड़ेगा। वह जो अज्ञात पदार्थ अनधिकरण बनेगा। उसमें

न च वेद्यत्वानिरुक्तिः, चिदविषयत्वमात्रस्य स्वप्रकाशरूपत्वे चिद्विषयत्वस्यैव वेद्यत्वरूपता, प्रथमपक्षे तु फलव्याप्यत्वमेव वेद्यत्वम्। न च तर्हि अतीन्द्रियान्यत्वेनार्थान्तरं सिद्धसाधनं वा, अपरोक्षव्यवहारविषयत्व–समानाधिकरणस्यैव तस्य विवक्षिततत्वात्। न चायं घटः; एतद्घटान्यत्वे (एतद्घटत्वे) सति

सत्यानन्दप्रबोधिका

विशेषण (एतद् घटान्यत्व) रहेगा किन्तु हठात् विशेष्य (वेद्यत्व) नहीं रहेगा। इस प्रकार विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव मानना होगा। उस अज्ञात पदार्थ (अवेद्यत्व) का भेद पक्ष (घट) में रहेगा। इस प्रकार से पक्ष में साध्य का समन्वय अवेद्यत्व को लेकर होने से सामान्यत: अवेद्यत्व की प्रसिद्धि हो जाती है।) वेद्यत्व का निरूपण नहीं हो सकता है? ऐसी बात नहीं है, क्योंकि चिदविषयत्व मात्र को स्वप्रकाशत्व मानने पर चिद् विषयत्व ही वेद्यत्व का स्वरूप सिद्ध होता है। अवेद्यत्व विशिष्ट अपरोक्षव्यवहारविषययोग्यत्व रूप प्रथम पक्ष में फलव्याप्यत्व को वेद्यत्व रूप से स्वीकार किया जाता है।

शङ्का– तर्हि = वेद्यत्व का अर्थ फल व्याप्यत्व करने पर, एतद् घट रूप पक्ष में एतद् घट भेद विशिष्ट वेद्यत्वानधिकरण रूप अतीन्द्रिय धर्माधर्मादि से अन्यत्व होने से अर्थान्तर या सिद्धसाधन दोष होगा। कहने का भाव यह है कि महाविद्या अनुमान में साध्य को पक्ष में बैठाते समय जो सिद्धान्ती ने वेद्यत्व के अभाव का अधिकरण पक्षीभूत घट को छोड़कर अवेद्यत्व ले रहे थे किन्तु जब वेद्यत्व का अर्थ फलव्याप्यत्व किया गया तब पक्षीभूत घट से भिन्न वेद्यत्व के अभाव का अधिकरण अतीन्द्रिय धर्मादि रूप अधिकरण मिल जायेगा, क्योंकि उसमें विशेषण भाग है किन्तु वेद्यत्व (फलव्याप्यत्व) नहीं है। अत: विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव रूप से एतद् घटान्यत्व विशिष्ट वेद्यत्वानधिकरण = अतीन्द्रिय धर्मादि, उसका भेद रूप साध्य पक्ष में बैठ गया। अत: सिद्धसाधन दोष होगा और जो सिद्धान्ती सिद्ध करना चाह रहे थे वह सिद्ध न होकर अतीन्द्रिय धर्मादि की सिद्धि हुयी। अत: अर्थान्तरदोष भी होगा।

समाधान– इसका समाधान करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि एतद् घटान्यत्व विशिष्ट वेद्यत्व का अनधिकरण जो कि अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व का समानाधिकरण भी हो। तादृश अनधिकरण का भेद = साध्य है। ऐसा होने पर अतीन्द्रिय धर्मादि नहीं लिया जा सकता है, क्योंकि उसमें अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व नहीं है। अत: सिद्धसाधन या अर्थान्तरता प्रसक्त नहीं होती है।

शङ्का– पूर्वपक्षी के द्वारा सिद्धान्ती के अनुमान में सत्प्रतिपक्ष अनुमान दिया जा रहा है–यह घट एतद् घट भेद विशिष्ट जो वेद्यत्व तादृश वेद्यत्व का जो अनधिकरण तादृश अनधिकरण प्रतियोगिक भेद का अनधिकरण है, एतद् घटत्व होने से। इस प्रकार से सिद्धान्ती के उक्त अनुमान का हेतु सत्प्रतिपक्ष दोष से ग्रस्त है। (एतद् घटत्वे–ऐसा पाठान्तर लेने पर एतद् घटत्व विशेषण और वेद्यत्व विशेष्य होगा। ऐसा मानने पर पक्षीभूत घट से भिन्न घट में व्यभिचार नहीं होगा क्योंकि पदार्थत्व हेतु उसमें है और साध्य भी रहेगा क्योंकि घटान्तर में वेद्यत्व के रहने पर भी एतद् घटत्व नहीं रहेगा। अत: विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव का अधिकरण घटान्तर होगा। उसका भेद पक्ष में रहेगा और पक्ष का भेद घटान्तर में रहेगा। किन्तु ऐसा साध्य लेने पर सत्प्रतिपक्ष दोष नहीं होगा, क्योंकि स्थापनानुमान के साध्य का विरोधी साध्य वाला अनुमान होने पर सत्प्रतिपक्ष दोष होता है। यदि कहो कि इस अनुमान को सिद्धान्ती के अनुमान का सत्प्रतिपक्ष के रूप से प्रस्तुत नहीं किया गया है किन्तु सिद्धान्ती के अनुमान के समान ही यह अनुमानाभास मात्र है तो भी उचित नहीं है क्योंकि पूर्वपक्षी के मूलन्यायामृतग्रन्थ में उक्त अनुमान को कहकर फिर लिखा है कि– इति प्रकरणसमत्वात्। अत: जब मूलग्रन्थ में प्रकरण समता (सत्प्रतिपक्षता) कहा गया है तब इस

वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वानधिकरणम्, पदार्थत्वादिति प्रकरणसमता; श्रुत्यादिरूपानुकूलतर्कसद्भावेन स्थापनाया अधिकबलत्वात्, प्रतिपक्षनिबन्धनसाध्यसन्देहेऽपि संशयरूपसाध्यप्रसिद्धेरनिवारणाच्च।।५।।

नाप्यसिद्धिः; अनुभूतित्वजातेः कल्पितव्यक्तिभेदमादाय शुद्धेऽपि सत्त्वात्। न च जातेर्धर्मिसम—सत्ताकभेदवद्व्यक्तिसापेक्षत्वनियमः, जात्यन्यूनसत्ताकभेदवद्व्यक्तिसापेक्षतयैवातिप्रसङ्गनिरासे धर्मिसमसत्ताक—भेदवद्व्यक्तिसापेक्षत्वस्य गौरवकरत्वात्, समत्वस्यान्यूनानतिरिक्तार्थकत्वात्। नचानुभाव्याभावे अनुभूतित्वायोगः;

सत्यानन्दप्रबोधिका

पर टीका लिखने वाला यदि कहता है कि प्रकरणसम नहीं है— ऐसा कहकर अपनी मन्द बुद्धि का ही प्रदर्शन करता है। अतः एतद् घटत्व को मानकर सत्प्रतिपक्षदोष लगता ही नहीं है किन्तु यदि एतद् घटान्यत्व मानकर सत्प्रतिपक्ष दोष दिया जाय तब दोष का निवारण कैसे होगा? इसका विचार हो रहा है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि सिद्धान्ती का अनुमान ''न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः'' (बृ०उ० ३—४—२) ''येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्'' (बृ०उ० ४—५—१५) ऐसे श्रुत्यादि रूप अनुकूल तर्क का सद्भाव होने से सिद्धान्ती का अनुमान अधिक बलशाली हैं। अतः सत्प्रतिपक्ष दोष नहीं होगा। यदि दोनों अनुमानों की समान बलता मान भी ली जाय तब भी पूर्वपक्षी के द्वारा सत्प्रतिपक्ष का उपस्थापन करने से भले ही साध्य में सन्देह हो जाय किन्तु सिद्धान्ती का साध्य प्रसिद्ध हो सकता है— ऐसा जो संशय उसको रोका नहीं जा सकता है। अतः सिद्धान्ती के अनुमान को सत्प्रतिपक्ष से भिन्न किसी हेत्वाभास के द्वारा खण्डन नहीं किया जाता तब तक सिद्धान्ती का साध्य प्रसिद्ध है— यह मानना पड़ेगा।।५।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि शुद्ध ब्रह्म एक मात्र है और निर्धर्मक हैं। अतः उसमें अनुभूतित्व रूप हेतु जाति या धर्म के रूप से नहीं रह सकता है। अतः सिद्धान्ती का अनुमान स्वरूपासिद्धि दोष से ग्रस्त है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि विशिष्ट में रहने वाला धर्म विशेष्य में भी रहता है। अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य और मायाविशिष्ट चैतन्य इत्यादि रूप से कल्पित भेद लेकर चेतन अनेक हो जाता है। उसमें अनुभूतित्व जाति रहने पर विशेष्य (शुद्ध चेतन) में भी रहेगी। अतः स्वरूपासिद्धि दोष नहीं होगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि धर्मी समान सत्ता वाला भेद तादृश भेद वाले अनेक व्यक्तियों के होने पर उनमें जाति मानी जाती है। अन्यथा एक व्यक्ति रूप आकाशदि में आरोपित भेद के द्वारा अनेक व्यक्तित्व की कल्पना कर के आकाशादि में जाति मानने की आपत्ति होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जाति जिस व्यक्ति की अपेक्षा रखती है, उस व्यक्ति निष्ठ जो भेद तादृश भेद को धर्मी के समान सत्ताक होने की आवश्यकता नहीं है किन्तु भेद की सत्ता जाति की सत्ता से न्यून नहीं होनी चाहिए। प्रकृत में अनुभूतित्व जाति काल्पनिक है और काल्पनिक व्यक्तियों (जीव ईश्वर) में रहने वाला भेद भी काल्पनिक है। अतः अनुभूतित्व जाति मानी जा सकती है। इस प्रकार से अतिप्रसङ्ग का निराश हो जाने पर जाति मानने के लिए धर्मिसमानसत्ताक भेद मानने पर गौरव होगा, क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा जाति के लिए अपेक्षित समसत्ताक का अर्थ = अन्यूनानतिरिक्तसत्ताकत्व है, जबकि सिद्धान्ती के द्वारा जाति के लिए अपेक्षित अन्यूनसत्ताकत्व है। जिसे मानने में लाघव है।

शङ्का— अनुभाव्य (विषय) का अभाव होने पर अनुभूतित्व का अयोग है। अर्थात् जिसका विषय ही नहीं उसे अनुभूति (ज्ञान) नहीं माना जा सकता है क्योंकि अनुभूति हमेशा सविषयक होती है। प्रकृत में ब्रह्म रूप अनुभूति का कोई विषय ही नहीं माना जाता है। अतः ब्रह्म स्वरूप अनुभूति को नहीं माना जा सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि घटादि उपाधि के द्वारा उपहित जब अनुभूति होती है

कदाचिदनुभाव्यसत्त्वेनैव तदुपपत्तेः, अन्यथा आसीदित्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्याननुभूतित्वापत्तेः। न च—अनुभूतित्वं विपक्षादव्यावृत्तम्, अनुभूतिशब्दवाच्यानात्मानि सत्त्वादिति—वाच्यम्, अनात्मनि अनुभूतिशब्दवाच्यत्वस्यैवाभावात्, वृत्तौ ज्ञानपदस्येवानुभूतिपदस्य गौणत्वात्। अत एव—परोक्षानुभवस्य पक्षत्वे बाधः, अपरोक्षस्य पक्षत्वे तत्र व्यभिचार इति—निरस्तम्; चित्त्वरूपानुभूतित्वस्य विवक्षितत्वात्। न चाप्रयोजकत्वम्; श्रुत्यनुग्रहसत्त्वात्।।६।।

न च—अपरोक्षानुभवमप्यपरोक्षतो जानामीत्यात्मनो वेद्यत्वग्राहिणा प्रत्यक्षेण तदात्मानमेवावेदिति श्रुत्या च बाध इति—वाच्यम्; आद्यस्य साक्ष्यनुभवस्य वृत्तिरूपगुणानुभवविषयत्वात्। न च 'जानामि'इति

सत्यानन्दप्रबोधिका

तब वह अनुभूति सविषयक होती है किन्तु इसके लिए यह नियम नहीं है कि अनुभूति हमेशा ही सविषयक हो। अतः मोक्ष में कोई विषय न होने पर भी ब्रह्मरूप अनुभूति को मानने पर कोई दोष नहीं है। अन्यथा= अनुभूति को वर्तमान विषय की नित्य अपेक्षा होती है— ऐसा मानने पर ''घटः आसीत्'' इस वाक्य से जिस समय अतीत घट का जो ज्ञान होता है उस समय विषय घट वर्तमान न रहने के कारण उस ज्ञान को अनुभूति ही नहीं माना जा सकेगा।

शङ्का— अनुभूतित्व रूप हेतु साधारण अनैकान्तिक दोष से ग्रस्त है, क्योंकि वह विपक्ष में रहता है। जैसे जो स्वयं प्रकाश न होने से विपक्ष है ऐसा जो अनात्मरूपवृत्तिज्ञान उसमें अनुभूतित्व रूप हेतु रहता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि अनात्म रूप वृत्तिज्ञान को अनुभूति पद का वाच्य नहीं माना जाता है। वृत्ति में जैसे गौण रूप से ज्ञान पद का प्रयोग होता है वैसे ही वृत्ति में अनुभूति पद का भी गौण रूप से ही प्रयोग होता है। (उपहित चित् आत्मस्वरूप स्वयं प्रकाश से अभिन्न होता है। अतः उपहित चित् में भी व्यभिचार दोष नहीं दिया जा सकता है।) पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि परोक्ष अनुभव स्वप्रकाश न होने से परोक्ष अनुभव को पक्ष बनाने पर उसमें स्वप्रकाशत्व साध्य के न रहने से बाध होगा और अपरोक्ष अनुभव को पक्ष बनाने पर परोक्षानुभव में अनुभूतित्व हेतु के रहने और साध्य के न रहने से व्यभिचार दोष होगा— ऐसा पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया, क्योंकि चित्स्वरूप अनुभूति को ही पक्ष बनाया जाता है। अतः बाध दोष नहीं होगा और परोक्षवृत्ति को अनुभूति पद वाच्य नहीं माना जाता है। अतः परोक्षवृत्ति में हेतु के न रहने से व्यभिचारदोष नहीं होगा। सिद्धान्ती के अनुमान में व्यभिचार शङ्का निवर्तक तर्कशून्यत्व है। अर्थात् पक्ष में हेतु हो परन्तु साध्य न हो— ऐसी शङ्का का निवर्तक तर्क नहीं है— ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ''न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः'' (बृ०उ० ३—४—२) ''येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्'' (बृ०उ० ४—५—१५) इत्यादि श्रुति रूप अनुकूल तर्क सुलभ है।।६।।

शङ्का— सिद्धान्ती कृत अवेद्यत्व वाले अनुमान में पूर्वपक्षी बाध दोष देते हुए कह रहा है कि आत्मस्वरूप जो अपरोक्ष अनुभव है उसका ''अपरोक्षतो जानामि'' इत्याकारक प्रत्यक्ष से तथा ''मामहं जानामि'' (मुझको मैं जानता हूँ। इत्याकारक आत्मनिष्ठ वेद्यत्व ग्राहिप्रत्यक्ष से और ''तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि'' (बृ०उ० १—४—१०) इत्यादि श्रुति के द्वारा वेद्यत्व गृहीत होने के कारण स्वप्रकाशत्व साधक अनुमान में बाध दोष है।

समाधान— उक्त दोष नहीं है, क्योंकि ''अपरोक्षतो जानामि'' का अर्थ है =अपरोक्षानुभात्मिकां वृत्तिं जानामि'' इत्याकारक साक्षिप्रत्यक्ष के द्वारा गौण अनुभवात्मिका वृत्ति में ही वेद्यत्व की सिद्धि होती है न कि मुख्य अनुभवात्मिका स्वरूपभूत अनुभूति में। अतः साक्षिप्रत्यक्ष के द्वारा उक्त अनुमान में बाधदोष नहीं आयेगा। ''अपरोक्षतो जानामि'' इत्याकारक प्रत्यक्ष का विषय मुख्य अनुभूति स्वरूप आत्मा होता है— ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जानामि यहाँ पर अहमर्थ ही ज्ञान के आश्रय के रूप से अनुभूत होता

ज्ञाप्तिविषयत्वमेवानुभूयत इति—वाच्यम्, अहमर्थस्य ज्ञप्त्याश्रयत्वायोगेन ज्ञानपदस्य वृत्तौ गौणत्वात्, 'दुःखं जानामि'इत्यादावपि दुःखाद्याकाराविद्यावृत्तेरेव विवक्षितत्वाच्च, द्वितीयस्य चाहमर्थविषयत्वात्तदनात्मत्वस्योक्तत्वात्, श्रुतेश्चोपनिषज्जन्यवृत्तिविषयत्वावगाहितया चिद्विषयत्वस्य फलव्याप्यत्वस्याविषयीकरणात्।।७।।

नाप्यनुभूतिः; स्फुरणविषयः, अपरोक्षव्यवहारविषयत्वात्, घटवत्, चैत्रीयानुभूतिः, चैत्रापरोक्षव्यवहारयोग्यापरोक्षज्ञप्तिविषयः, चैत्रापरोक्षव्यवहारविषयत्वाद्, घटवत्। चैत्रीयानुभूतिश्चैत्रापरोक्ष—व्यवहारयोग्यापरोक्षज्ञप्त्यविषयो नावतिष्ठते, चैत्रं प्रत्यप्रकाशमानत्वरहितत्वात्, चैत्रेच्छावदिति सत्प्रतिपक्षत्वम्, स्फुरणप्रयुक्तव्यवहारशालित्वरूपस्य विषयत्वस्य मयाप्यङ्गीकारेण सिद्धसाधनात्, तदन्यस्य स्वस्मिन्वृत्तिविरोधेन बाधात्, जडत्वस्योपाधित्वाच्च, परवेद्यत्वे अनवस्थानात् स्ववेद्यत्वस्य विरुद्धत्वात्।।८।।

ननु—स्वस्मिन्स्ववेद्यत्वं कथं विरुद्धम्? न तावत् स्वजनकेन्द्रियासन्निकृष्टत्वात्, स्वाजनकत्वाद्वा;

सत्यानन्दप्रबोधिका

है किन्तु अहमर्थ ब्रह्म रूप मुख्य ज्ञान का आश्रय हो नहीं सकता है किन्तु अनुभवात्मिका वृत्ति रूप गौण ज्ञान का ही आश्रय अहमर्थ होता है। ''दुःखं जानामि'' इत्यादि स्थल पर भी दुःखाद्याकार अविद्यावृत्ति का आश्रय अहमर्थ ही होता है। ''मुझको मैं जानता हूँ।'' इत्याकारक जो द्वितीय पक्ष पूर्वपक्षी के द्वारा कहा गया था। ऐसे प्रत्यक्ष को अहमर्थ गोचर वृत्ति विषयक माना जाता है। अहमर्थ के अनात्मत्व को और वृत्ति के अनात्मत्व को अहमर्थ विचार में कहा जा चुका है। अतः इसके द्वारा भी अनुभूति में वेद्यता नहीं आती है। उपनिषद् जन्य अखण्डाकार वृत्ति का विषय आत्मा— इस अर्थ का अवगाहन उक्त श्रुति से होता है। इस प्रकार से आत्म रूप अनुभूति वृत्ति व्याप्य होने मात्र से अनुभूति में स्व प्रकाशत्व का बाध नहीं हो सकता है। यदि श्रुति के द्वारा अनुभूति में चिद्विषयत्व या फलव्याप्यत्व का बोधन होता तब बाध हो जाता क्योंकि फल व्याप्यत्व का अभाव और चिदविषयत्व ही स्वप्रकाशत्व है।।७।।

शङ्का— स्वप्रकाशत्व अनुमान में पूर्वपक्षी के द्वारा सत्प्रतिपक्ष दिया जा रहा है। (१) अनुभूति स्फुरण (ज्ञान) का विषय है, अपरोक्ष व्यवहार का विषयत्व होने से, जैसे घट (२) चैत्रीय अनुभूति चैत्र के अपरोक्ष व्यवहार योग्य जो अपरोक्ष ज्ञप्ति तादृश ज्ञप्ति का विषय है, चैत्र के अपरोक्ष व्यवहार का विषयत्व होने से, जैसे घट (३) चैत्रीय अनुभूति चैत्र के अपरोक्ष व्यवहार योग्य जो अपरोक्ष ज्ञप्ति तादृश ज्ञप्ति की अविषय होकर नहीं अवस्थित रहती है, चैत्र के प्रति अप्रकाशमानत्व रहितत्व होने से, चैत्र में रहने वाली इच्छावत्। (दृष्टान्त में साध्य का समन्वय— मुझे अपरोक्ष व्यवहार योग्य अपरोक्ष ज्ञप्ति हो— ऐसी जो चैत्र की इच्छा। उसका विषय = अपरोक्ष व्यवहार योग्य अपरोक्ष ज्ञप्ति। शेष हेतु आदि का समन्वय सुगम है।

समाधान—उक्त दोष नहीं होगा क्योंकि स्फुरण प्रयुक्त व्यवहार शालित्व रूप विषयत्व को सिद्धान्त मतानुसार अङ्गीकार होने से सिद्धसाधन दोष है। तद् = स्फुरण प्रयुक्त व्यवहार शालित्व, से भिन्न जो अनुभूति तादृश अनुभूति में स्वविषयत्व मानने पर स्ववृत्ति विरोध होने से बाध दोष है। उक्त सत्प्रतिपक्ष अनुमान में जड़त्व उपाधि है, क्योंकि जड़त्व रूप उपाधि में साध्यव्यापकत्व और साधनाव्यापकत्व स्पष्ट है। इस प्रकार से प्रथम सत्प्रतिपक्ष का खण्डन हो गया। द्वितीय और तृतीय सत्प्रतिपक्ष में दोष देते हुए कह रहे हैं कि अनुभूति को पर से वेद्यत्व मानने पर अनवस्था होगी और स्ववेद्यत्व मानने पर स्व का स्वविषय मानना रूप विरोध होगा। अतः पूर्वपक्षी कृत उक्त अनुमान दोष से ग्रस्त सिद्ध हो जाने से सत्प्रतिपक्ष दोष का खण्डन हो गया।।८।।

शङ्का— सिद्धान्ती ने जो कहा कि स्व में स्व वेद्यत्व मानने पर विरोध होगा। इस पर पूर्वपक्षी कह

नित्यचिद्विषयत्वस्य तद्द्वयं विनैव घटादौ सत्त्वात्, नापि विषयविषयिभावसम्बन्धस्य द्विष्ठत्वात्, अतीतारोपितात्यन्तासतां ज्ञानदर्शनेन तस्य उभयानिष्ठत्वात्, नापि क्रियात्वकर्मत्वयोर्विरोधात्; कृत्यादिविशेषस्य कार्यत्वादिदर्शनात्, नापि विषयिणो विषयत्वे कर्तुः कर्मतापातात्, मिथ्यात्वानुमित्यादेर्विषयिण्या एव विषयत्वदर्शनात्, मामहं जानामीत्यनुभवदर्शनेन च 'तदात्मानमेवावेद्'इति श्रुत्या च कर्तुः कर्मत्वाविरोधात्। एवञ्च परसमवेतक्रियाफलशालित्वं न कर्मत्वम्, किन्तु क्रियाविषयत्वादिकम्, तच्चाभेदेऽप्युपपाद्यमिति—चेत्।।९।।

मैवम्; विषयविषयिभावस्य सम्बन्धत्वेन भेदनियततया स्वस्मिन् स्ववेद्यत्वस्य विरुद्धत्वात्। न

सत्यानन्दप्रबोधिका

रहा है कि स्व में स्व वेद्यत्व मानने पर विरोध कैसे है? (१) घट ज्ञान के द्वारा घट तो वेद्य इसलिए है कि घट ज्ञान का जनकीभूत इन्द्रिय से सन्निकृष्ट घट है किन्तु घट ज्ञान से घट ज्ञान इसलिए वेद्य नहीं हो सकता कि घट ज्ञान के जनकीभूत इन्द्रिय से घट ज्ञान सन्निकृष्ट नहीं है। यही स्व में स्ववेद्यत्व मानने पर विरोध है। (२) अथवा घट ज्ञान के द्वारा घट वेद्य इसलिए है कि घट = घट ज्ञान का जनक है किन्तु घट ज्ञान का वेद्य घट ज्ञान इसलिए नहीं हो सकता है क्योंकि घट ज्ञान का जनक घट ज्ञान नहीं है। यही स्व में स्व वेद्यत्व मानने पर विरोध है। उक्त दोनों विकल्पों का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ज्ञान वेद्यत्व का नियामक (ज्ञान जनक इन्द्रिय सन्निकृष्टत्व और ज्ञान जनकत्व) ये दोनों ही असिद्ध हैं, क्योंकि ज्ञान नित्य है। अतः उसका कोई जनक हो ही नहीं सकता है। उक्त दोनों नियामकों के विना ही घट में ज्ञान वेद्यत्व हैं। विषयविषयिभाव सम्बन्ध के द्विनिष्ठत्व होने से स्व में स्ववेद्यत्व मानने पर विरोध होता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि अतीत और आरोपित तथा अत्यन्त असत् इनका भी ज्ञान होता हुआ देखा जाता है किन्तु ऐसे स्थल पर विषयविषयिभाव रूप सम्बन्ध उभय (विषय और विषयि) में नहीं होता है। स्व में स्व वेद्यत्व मानने पर क्रियात्व और कर्मत्व इन दोनों में विरोध होगा। अर्थात् क्रिया को ही कर्म मानने की आपत्ति होगी—ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि उत्तरकाशी में निवास करने के लिए जाता है। यहाँ जाता है का अर्थ है कि गमनादि रूप यत्न विशेष करता है। यहाँ यत्न रूप क्रिया है और उत्तरकाशी निवास रूप प्रयत्न विशेष कर्म है। इस प्रकार यत्न में ही क्रिया और कर्म दोनों हैं। इसी प्रकार ज्ञप्ति में भी क्रियात्व और कर्मत्व दोनों बन सकते हैं विषयि के विषयत्व होने पर कर्ता को कर्म मानने की आपत्ति होगी जबकि कर्तृकर्मभाव भेद से गर्भित होता है। अतः स्व को स्व वेद्यत्व नहीं माना जा सकता है। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि मिथ्यात्व साधक अनुमिति रूप विषयि स्व विषयक भी होती है, क्योंकि मिथ्यात्व अनुमिति के द्वारा उस अनुमिति से भिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च में मिथ्यात्व की सिद्धि होने के साथ—साथ उस मिथ्यात्व बोधक अनुमिति में भी मिथ्यात्व की सिद्धि होती है— ऐसा सिद्धान्ती ही कहते हैं। ''मुझको मैं जानता हूँ।'' इस अनुभव में कर्ता और कर्म मैं ही है और ''तदात्मानमेवावेत्'' (बृ०उ० १—४—१०) इस श्रुति में भी कर्ता और कर्म मैं ही है। अतः कर्तृत्व और कर्मत्व को एकत्र मानने पर विरोध नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार से जब यह सिद्ध हो गया कि एकत्र कर्तृत्व और कर्मत्व का समावेश हो सकता है तब परसमवेत जो क्रिया तादृश क्रिया जन्य जो फल तादृश फल शालित्व रूप कर्मत्व नहीं माना जा सकता है अपितु क्रिया विषयत्वादि को ही कर्मत्व कहना उचित है। ऐसा कर्मत्व पूर्वोक्त प्रकार से एक में भी अर्थात् स्व को स्व से वेद्य मानने पर भी उपपन्न हो जायेगा।।९।।

समाधान—ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध में भेद का व्याप्यत्व रहता है। अतः विषयविषयिभाव सम्बन्ध भी भेद से घटित होने के कारण स्व में स्व वेद्यत्व मानने पर विरोध होगा। उक्त

ह्युक्तातीतादिस्थले भेदो नास्ति। अत एव कृतिः कृत्यन्तरं प्रति इच्छा इच्छान्तरं प्रति व्यवहृतिः व्यवहृत्यन्तरं प्रति अभिधा अभिधान्तरं प्रत्येव विषयः, न तु स्वात्मानं प्रतीति न स्वविषयत्वे किञ्चिदुदाहरणमस्ति। ननु—गत्यादौ गत्यन्तराविषयेत्वेऽपि वस्तूनां विचित्रस्वभावत्वात् कृत्यादौ कृत्यन्तरादिविषयत्ववत् अनुभूतेरपि स्वविषयत्वमस्तु, अन्यथा स्वस्मिन् व्यवहारजनकत्वमपि न स्यात्, व्याप्तिज्ञानानुमित्यादेः स्वाविषयत्वे सर्वोपसंहारवती व्याप्तिरनुमितिमिथ्यात्वं च न स्यादिति—चेत्।।१०।।

न; व्यवहारोपपादनार्थं स्वविषयत्वस्वभावकल्पनापेक्षया स्वाविषयत्वेपि स्वव्यवहारजनकत्वस्वभावत्वमेव कल्प्यताम्, लाघवात्, तावतैव तदुपपत्तेः, व्याप्त्यनुमित्यादेस्तु अवच्छेदकैक्यलाभात्तथात्वमित्युक्तत्वाच्च। एवञ्च

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतीतादि स्थलों पर भेद नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि विषयविषयी का भेद उक्त स्थलों पर भी रहता है। इसलिए अतीतादि के ज्ञान स्थलों पर भी विषय विषयिभाव सम्बन्ध माना जा ही सकता है। अत एव = विषयविषयिभाव सम्बन्ध में भेद का व्याप्यत्व होने से ही, एक कृति (गमनादि रूप यत्न विशेष) का विषय दूसरी कृति (उत्तरकाशी निवाश रूप यत्न विशेष) भिन्न है। इसी प्रकार भोजन की इच्छा से जाने की इच्छा करता है। यहाँ एक इच्छा का विषय दूसरी इच्छा है। जल लाने रूप व्यवहार के लिए पात्र का व्यवहार करता है। यहाँ भी एक व्यवहार का विषय दूसरा व्यवहार होता है। पद पदार्थ के मुख्य सम्बन्ध को शक्ति कहते है। इसलिए शक्ति पद की मुख्य सम्बन्ध रूप अर्थ में शक्ति है। इस प्रकार पद निष्ठ शक्ति का विषय पदार्थ होता है। इसलिए एक अभिधा का विषय दूसरी अभिधा होती है न कि स्वयं स्वयं का विषय होती है। इसलिए स्व वेद्यत्व में कोई भी दृष्टान्त नहीं बन सकता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि वस्तुओं का विचित्र स्वभाव होता है। इसलिए ही देवदत्त का गमन यज्ञदत्त के गमन का विषय नहीं बनता है किन्तु एक कृति—इच्छादि अपने प्रति विषय न बनने पर भी दूसरे कृति— इच्छादि का विषय बनती है। इस प्रकार जैसे गमन के स्वभाव से भिन्न कृति—इच्छादि का स्वभाव है वैसे ही कृति—इच्छादि के स्वभाव से भिन्न अनुभूति का स्वभाव है। अर्थात् कृति इच्छादि का स्वभाव है कि कृति—इच्छादि स्व के प्रति विषय नहीं बनती हैं और अनुभूति का स्वभाव है कि वह स्व के प्रति विषय बनती है। अन्यथा = अनुभूति को अनुभूति का विषय न मानने पर जैसे घट का व्यवहार घट से नहीं होता है अपितु घट ज्ञान से होता है, वैसे ही अनुभूति का व्यवहार अनुभूति से नहीं हो पायेगा अपितु अनुभूति के ज्ञान से अनुभूति का व्यवहार मानने की आपत्ति होगी। जबकि सिद्धान्ती अनुभूति का व्यवहार अनुभूति से मानते हैं न कि अनुभूति के ज्ञान से अनुभूति का व्यवहार मानते हैं। व्याप्ति ज्ञान का विषय व्याप्ति ज्ञान और अनुमिति ज्ञान का विषय अनुमिति ज्ञान है— ऐसा न मानने पर ''यद् यदभिधेयं तत्तन्मेयम्'' सर्वाभिधेयत्वादि घटित व्याप्ति की उपपत्ति नहीं हो पायेगी और मिथ्यात्व साधक अनुमिति से प्रपञ्च मिथ्यात्व सिद्ध होने पर भी मिथ्यात्व साधक अनुमिति में मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो पायेगा।।१०।।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभूति से अनुभूति का व्यवहार होता है— इसके उपपादन के लिए पूर्वपक्षी ने अनुभूति के इस स्वभाव की कल्पना किया कि अनुभूति स्वयं ही अपना विषय होती है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि ऐसी कल्पना की अपेक्षा से अनुभूति स्वयं अपना विषय न होकर भी अनुभूति अपने व्यवहार का जनक होती है— ऐसे स्वभाव वाली अनुभूति है— इस प्रकार की कल्पना करने में लाघव है। लाघव को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि किसी वस्तु के उपपादन के लिए उतने मात्र उपपाद्य की कल्पना करनी चाहिए जितने मात्र से उपपादक का उपपादन हो जाय। प्रकृत में

क्रियाकर्मत्वविरोधादपि न स्वस्मिन् स्ववेद्यत्वम्। मिथ्यात्वानुमितेश्च न स्वकर्मता; परोक्षस्याकर्मत्वात्। यदुक्तं कर्तुरेव कर्मत्वम्, तदयुक्तम्; उदाहृतमिथ्यात्वानुमित्यादेरकर्मत्वात्, मामहं जानामीत्यादौ साक्षिणः कर्तृत्वादहमर्थस्य कर्मत्वात् तदात्मानमित्यादौ चाहमर्थस्य कर्तृत्वाच्चित् कर्म अभेदे तद्द्वयादर्शनात्। अत एव न भेदघटितकर्मलक्षणपरित्यागः, क्रियाविषयत्वं तु न कर्मत्वम्, आसनादिक्रियाया अपि आधारादिविषयत्वेन सकर्मकत्वापत्तेः।११।।

अथ—अवेद्यत्वेऽवेद्यत्वसाधकप्रमाणवेद्यत्वावेद्यत्वाभ्यां व्याघातः, वेदान्तानां ब्रह्मणि प्रामाण्यायोगः, ब्रह्मविचारविधिवैयर्थ्यं ब्रह्माज्ञाननिवृत्त्ययोगः इत्यादिप्रतिकूलतर्कपराहतिरिति—चेन्न, चिदविषयत्वं फलाव्याप्यत्वं

सत्यानन्दप्रबोधिका

तावता = स्व व्यवहार जनकत्व रूप अनुभूति के स्वभाव की कल्पना के द्वारा जब, तद् = अनुभूति से अनुभूति के व्यवहार के उपपादन की उपपत्ति हो जाती है तब अनुभूति के इस स्वभाव से भिन्न दूसरा स्वभाव (स्वविषयत्व से घटित स्वभाव) की कल्पना करना गुरुतर होने से अमान्य है। मिथ्यात्वानुमित और व्याप्ति ज्ञान (यत्र—यत्र दृश्यत्वं तत्र तत्र मिथ्यात्वम्— इत्याकारक व्याप्ति ज्ञान) जो स्वविषयकत्व कहा गया है वह ''ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वविशिष्ट अलीक ब्रह्म भिन्नत्व रूप एक ही अवच्छेदकत्व के लाभार्थ माना गया है। इसको ''ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वलक्षणविचारः'' के खण्ड संख्या ९ में कहा जा चुका है। एवञ्च = विषयविषयिभाव सम्बन्ध दो में रहता है। इस युक्ति से जैसे अनुभूति में स्ववेद्यता का खण्डन हो जाता है। उसी प्रकार जो क्रिया वही कर्म नहीं होता है, क्योंकि ''देवदत्तः छिदिक्रियां छिनत्ति'' ऐसा प्रयोग नहीं होता है। अतः क्रिया कर्मत्व के विरोध से भी स्व में स्ववेद्यत्व नहीं माना जा सकता है। अनुमितिमनुमिनोमि—इस प्रकार से मिथ्यात्व अनुमिति रूप क्रिया का कर्म स्वयं मिथ्यात्व अनुमिति नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रत्यक्ष पदार्थ ही कर्म होता है परोक्ष पदार्थ कर्म नहीं होता है। अनुमिति तो परोक्ष पदार्थ है। अतः वह कर्म नहीं बन सकती है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि कर्ता में भी कर्मत्व होता है— वह अयुक्त है, क्योंकि उदाहृत मिथ्यात्व अनुमित्यादि रूप कर्ता का कर्मत्व होता ही नहीं है ''मुझको मैं जानता हूँ।'' इत्यादि स्थल पर साक्षी कर्ता होता है और अहमर्थ कर्म होता है और ''तदात्मानमेवावेत्'' (बृ०उ०१—४—१०) इत्यादि स्थल पर अहमर्थ कर्ता होता है और वृत्त्युपहितचित् कर्म होता है। (वेदान्त वाक्य जन्य अखण्डाकार वृत्ति का विपयीभूत शुद्धचित् लेने पर वह गौण कर्म होगा।) फलतः अभेद स्थल पर कर्तृत्व और कर्मत्व का कही भी समावेश अर्थात् ''देवदत्तः देवदत्तं गच्छति'' ऐसा प्रयोग नहीं देखा जाता है। अत एव = अभेद में कर्तृत्व और कर्मत्व का अभाव होने से ही, भेद घटित परसमवेत क्रियाफलशालित्व रूप कर्म के लक्षण का त्याग नहीं किया जा सकता है। अर्थात् उक्त लक्षण को अवश्य ही मानना पड़ेगा। पूर्वपक्षी के द्वारा कथित जो कर्म का लक्षण = क्रिया विषयत्वादि को नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ''देवदत्तः गृहे आस्ते'' यहाँ पर आसन क्रिया में कर्म का लक्षण (क्रिया विषयत्व) जा रहा है, क्योंकि क्रिया विषयत्वम् = क्रिया फलशालित्वम्। यहाँ गृह संयोग रूप आसन क्रिया। उस क्रिया का फल = पूर्व संयोग का नाश। वह आधार रूप गृह में है। उस फल का जनक = आसन क्रिया। इस प्रकार से आसन क्रिया का कर्म = आसन क्रिया के हो जाने से अस् धातु के सकर्मकत्व की आपत्ति होगी।।११।।

शङ्का :— पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्रह्मगत अवेद्यत्व स्वीकार करने पर अनेक दोषों की आपत्ति होगी। जैसे ब्रह्म में अवेद्यत्व मानने पर प्रश्न होता है कि ब्रह्मनिष्ठ अवेद्यत्व साधक जो प्रमाण उस प्रमाण की विषयता ब्रह्म में है? या नहीं? यदि उस प्रमाण का वेद्यत्व है तब व्याघात होगा। अर्थात् ब्रह्मगत अवेद्यत्व की सिद्धि ही नहीं होगी। यदि उस प्रमाण की विषयता ब्रह्म में नहीं है तब ब्रह्मगत अवेद्यत्व साधक प्रमाण

वा अवेद्यत्वम्, तस्य तत्साधकप्रमाणजन्यवृत्तिवेद्यत्वेन व्याहत्यभावात्, वृत्तिविषयत्वमात्रेणैव वेदान्तप्रामाण्यविचारविध्यज्ञाननिवृत्तीनां सम्भवाच्च। एतेन—अज्ञाननिवर्तकत्वमात्रेण वेदान्तप्रामाण्ये आत्मनोऽसिद्धिप्रसङ्ग इति—निरस्तम्; आत्मनः स्वतःसिद्धत्वात्।१२।।

ननु—स्वत इत्यस्य स्वेनैवेत्यर्थे स्वविषयकत्वापत्तिः, प्रमाणं विनेत्यर्थ उपायान्तरस्यानुपन्यासेनासिद्ध्यापत्तिः; अन्यथा नृशृङ्गादेरपि सिद्ध्यापात इति—चेन्न; मानानपेक्षसिद्धेरेव स्वतःसिद्धिशब्दार्थत्वात्। न च—नृशृङ्गादावेवं प्रसङ्गः; तदसत्त्वव्यावृत्तिफलकप्रमाणाभावात्, प्रकृते च वृत्तिविषयतामात्रेण तत्सत्त्वात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

ही व्यर्थ हो जाने से ब्रह्मगत अवेद्यत्व की सिद्धि नहीं हो पायेगी। ब्रह्म में वेद्यत्व के न रहने पर वेदान्त वाक्यों का ब्रह्मप्रमा जनकत्व रूप प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो पायेगा। ब्रह्म में वेद्यत्व न रहने पर ब्रह्म विचार को बतलाने वाली विधियाँ व्यर्थ हो जायेगी। ब्रह्म विचार आदि के न होने पर ब्रह्मज्ञान नहीं होने से ब्रह्म अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो पायेगी। इस प्रकार के प्रतिकूल तर्कों से स्वप्रकाशत्व साधक अनुमान पराहत है।

समाधान :— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि चिदविषत्व अथवा फलाव्याप्यत्व को अवेद्यत्व मानने पर किसी भी प्रकार का दोष नहीं होगा। जैसे ब्रह्म में उक्त रूप अवेद्यत्व के ब्रह्मगत होने पर भी प्रमाणजन्य वृत्ति विषयत्व के रहने से व्याघात नहीं होगा। अर्थात् अवेद्यत्व का साधक अनुमान में वेदान्त वाक्य जन्य जो निर्विशेष ब्रह्म है—इत्याकारक जो वृत्ति उसके द्वारा ब्रह्म में वृत्तिव्याप्यत्व मानने पर भी व्याघात दोष नहीं होगा, क्योंकि वृत्ति अव्याप्यत्व को अवेद्यत्व नहीं माना गया है और प्रमाणजन्य वृत्ति व्याप्यत्व के होने से ही वेदान्त वाक्यों के प्रामाण्य का और विचार विधि का तथा अज्ञान निवृत्ति की भी उपपत्ति हो जायेगी। पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्मगत अवेद्यत्व मानने पर किसी भी प्रकार का व्याघात न होने से पूर्वपक्षी का यह कथन भी निरस्त हो जाता है कि आत्मा में अवेद्यत्व की उपपत्ति के लिए अज्ञान का निवर्तक मात्र में वेदान्त वाक्यों के प्रामाण्य को मानने पर अर्थात् आत्मा के स्वरूप में वेदान्त वाक्यों के प्रामाण्य को स्वीकार न करने पर वेदान्त वाक्यों से आत्मा के स्वरूप की सिद्धि नहीं हो पायेगी। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया, क्योंकि आत्मा स्वतः सिद्ध है। उसकी सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।१२।।

शङ्का:— आत्मा स्वतः सिद्ध है। यहाँ पर स्वतः का क्या अर्थ है? यदि स्वतः का अर्थ = आत्मा का स्वरूप भूत ज्ञान से —ऐसा किया जाता है तब ''आत्मा स्वतः सिद्ध है'' का अर्थ होगा कि आत्मा का स्वरूप भूत ज्ञान से आत्मा सिद्ध है। ऐसा होने पर आत्मा का विषय आत्मा हो जाने से स्वविषयकत्व की आपत्ति होगी। यदि स्वतः का अर्थ करते हैं कि प्रमाणों के विना। तब आत्मा स्वतः सिद्ध है का अर्थ होगा कि आत्मा प्रमाण के विना ही सिद्ध है किन्तु ऐसा अर्थ लेने पर प्रमाण रूप उपायान्तर का कथन न होने से आत्मा की सिद्धि नहीं हो पायेगी। अन्यथा = प्रमाण के विना ही प्रमेय की सिद्धि मानने पर अलीक वन्ध्यासुतादि के सिद्धि की भी आपत्ति होगी।

समाधान :— ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि स्वतः सिद्धि का अर्थ है—प्रमाणानपेक्ष सिद्धि। ऐसा अर्थ लेने पर अलीक पदार्थों के सिद्धि का प्रसङ्ग नहीं आयेगा, क्योंकि अलीक पदार्थों के अस्तित्व का ग्राहक (बोधक = फलक) प्रमाण नहीं है। अर्थात् नृशृङ्गादि के अस्तित्व का ग्राहक जो प्रमाण तादृश प्रमाण का अभाव होने से अलीक में असत्त्वापादकाज्ञान का जो अभाव तादृश अभाव उपहित जो चित् तादृश चित् का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है। पूर्णानन्द स्वरूप में वेदान्त वाक्य जन्य वृत्ति विषयता मात्र (मात्र पद

सिद्धिरूपात्मनि सिद्ध इति व्यवहारस्य सिद्धिप्रयुक्तव्यवहारविषयतया गौणत्वात्। न चैवं मुक्तौ वेद्याभावे वित्तित्वानुपपत्तिः, अनुभूतिन्यायस्यात्रापि सुलभत्वात्। न च स्वाविषयत्वे स्वविषयकसंशयनिवर्तकत्वायोगः; स्वमहिम्नैव स्वधर्मिणि व्यवहारवत् संशयादिविरोधित्वोपपत्तेः। न चाननुगमः, तव विषयतायामिवाननुगतस्यैव नियामकत्वात्, स्वकर्मत्वाभावेऽपि स्वनिर्वाहकतया स्वस्मिन् व्यवहाराद्युपपत्तेश्च।१३।।

न च—स्वनिर्वाहकपदेन निर्वहणक्रियाकर्तृत्वकर्मत्वोक्त्या विरोधः, स्वातिरिक्तनिर्वाहकानपेक्षत्वमात्रेण स्वनिर्वाहकत्वोपचारात्। 'स्वयं दासास्तपस्विनः'इत्यादौ स्वातिरिक्तदासाभावमात्रेण स्वदासत्वव्यपदेशवत्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

से फल विषयता की व्यावृत्ति की गयी है) ही ब्रह्मगत असत्त्व की व्यावृत्ति अर्थात् अस्तित्व की साधिका मानी जाती है। सिद्ध स्वरूप आत्मा में ''सिद्धः'' इत्याकारक जो व्यवहार होता है। वह यद्यपि नहीं होना चाहिए, क्योंकि जो सिद्धि का विषय है उसी में सिद्ध ऐसा व्यवहार होना चाहिए, तथापि आत्मा की स्वतः सिद्धि जो है, उसी के कारण गौण रूप से आत्मा सिद्ध है—इस प्रकार का व्यवहार होता है।

शङ्का— यह जो शङ्का की जाती है कि मुक्ति में आत्मा के स्वरूप भूत ज्ञान से अतिरिक्त किसी वेद्य के न रहने के कारण उस समय ज्ञानत्व का व्यवहार नहीं होना चाहिए, क्योंकि ज्ञान हमेशा स्वविषयक ही होता है।

समाधान—इस शङ्का का समाधान खण्ड संख्या ६ में जो अनुभूति को लेकर समाधान दिया गया है। उसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिए। अर्थात् जैसे कदाचिद् विषय सम्बन्ध से अनुभूतित्व व्यवहार होता है वैसे ही कदाचित्क वेद्य सम्बन्ध से ज्ञानत्व व्यवहार हो जायेगा।

शङ्का — आत्मा को वेद्य न मानने पर आत्मरूप अनुभूति आत्मा को विषय नहीं करेगी तब ''अहं वाऽनाहं वा'' इत्याकारक आत्मविषयक संशय की निवर्तिका आत्मरूप अनुभूति नहीं हो पायेगी, क्योंकि समान विषयक अनुभूति ही समान विषयक संशय का नाशक होती है।

समाधान — सिद्धान्ती का कथन है कि ब्रह्म की महिमा यह है कि अज्ञान अभाव से उपहित होना। ऐसी महिमा के द्वारा जैसे स्वधर्मी (स्व = अज्ञान उपहित रूप महिमा, उसका धर्मी = ब्रह्म) में अस्तित्व व्यवहार जनकत्व आता है। अर्थात् ब्रह्म के अस्तित्वादि का व्यवहार जैसे हो जाता है वैसे ही अज्ञान के अभाव से उपहित होने के कारण ही आत्मा के विषय में ''अस्ति न वा'' इस प्रकार के संशय और ''नास्त्येव'' इस प्रकार के विपरीत निश्चय का नाश हो जाता है। यदि कहा जाय कि आत्मा में संशयादि की अनुपपत्ति का प्रयोजक = अज्ञानाभावोपहित चित् और घटादि के संशयादि की अनुपपत्ति का प्रयोजक = चित्तादात्म्य। इस प्रकार भिन्न—भिन्न प्रयोजक हो जाने अननुगम दोष होगा। इसका समाधान देते सिद्धान्ती कह रहे हैं कि चित्तादात्म्य ही सर्वत्र प्रयोजक है—ऐसे बोलने वाले पूर्वपक्षी के मत में चित्तादात्म्य में चित्तादात्म्य न होने पर भी चित्तादात्म्य के स्वरूप को प्रयोजक तुम मानते हो। अर्थात् चित् तादात्म्य = ज्ञान से जुडा हुआ विषय। पूर्वपक्षी घटादि स्थल पर चित्तादात्म्य होने पर घटादि व्यवहार को मानते हैं किन्तु चित्तादात्म्य में चित्तादात्म्य न होने पर भी चित्तादात्म्य के व्यवहार को मानते हैं। इस प्रकार का अननुगम पूर्वपक्षी को जैसे अभीष्ट है वैसे ही हमें भी उक्त प्रकार का अननुगम अभीष्ट है। स्वकर्मत्वाभावे = अज्ञान उपहित चित् में चित्तादाम्य न होने पर भी, अज्ञानोपहित चित् (ब्रह्म)। स्वयं ही अपने व्यवहार का निर्वाह कर देता है।१३।।

शङ्का :— ब्रह्म स्वविषयक व्यवहार का निर्वाहिक है—यहाँ पर स्व निर्वाहक पद से स्वयं ही निर्वाह क्रिया का कर्ता और स्वयं ही निर्वाह क्रिया का कर्म ब्रह्म को मानने पर कर्तृत्व कर्मत्व विरोध होगा।

समाधान :— सिद्धान्ती का कथन हैं कि जो अपने से अतिरिक्त निर्वाहक की अपेक्षा नहीं रखता है।

न च— स्वनिर्वाहकाध्ययनविधिदीपप्रभादौ स्वस्मिन् कार्यकरत्वं स्वविषयत्वेन व्याप्तमित्यत्रापि तथेति—वाच्यम्; अध्ययनविधावेकावच्छेदकमात्रेणात्माश्रयानवकाशात्, दीपप्रभादौ स्वविषयत्वासिद्धेः। तदुक्तं खण्डने—''गाङ्कुटादिभ्यः'इत्यत्र बहुब्रीहिः स्वाविषये कुटेऽपि स्वकार्यं करोति। तथेहापि'इति।।१४।।

न च—'उद्भूतावयवभेदः समुदायः समासार्थः'इति कैयटोक्तरीत्या कुटघटितसमुदाय एव बहुव्रीहिविषयः

सत्यानन्दप्रबोधिका

उसको गौण रूप से स्वनिर्वाहक कह दिया जाता है। जैसे ''स्वयं दासास्तपस्विनः'' इत्यादि स्थल पर कर्तृत्व कर्मत्व का विरोध नहीं होता है, क्योंकि स्वदास का अर्थ है कि अपने से अतिरिक्त किसी के दास नहीं होते हैं। इसलिए ऐसे प्रयोग स्थल पर स्वदासत्व का गौण व्यवहार होता है।

शङ्काः— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''यत्र यत्र स्वस्मिन् कार्यकरत्वं तत्र तत्र स्वविषयकत्वम्'' ऐसी व्याप्ति है। (अर्थात् जो पदार्थ स्व निर्वाहक होते हुए देखे जाते हैं वे पदार्थ स्वविषयक होते हुए ही स्वगत कार्य के जनक होते हैं।) इस व्याप्ति के लिए पूर्वपक्षी दो दृष्टान्त दे रहा है—(१) अध्ययनविधि (२) प्रदीपप्रभा। अध्ययनविधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः)। इस विधि वाक्य (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) को छोड़कर अन्य वेद वाक्यों के अध्ययन का विधान करने के साथ साथ अपने (उक्त विधि वाक्य के) अध्ययन का भी विधान करने से उक्त विधि को स्व विषयक भी माना जाता है। इसी प्रकार प्रदीपप्रभा अपने से भिन्न के आवरण का निवर्तक होती हुयी स्वगत आवरण का भी निवर्तक होती है। अतः प्रदीपप्रभा स्वविषयक भी मानी जाती है। प्रकृत में भी चैतन्य रूप ज्ञान घटादि विषयक होता हुआ घटादि व्यवहार का जनक होता हुआ स्वविषयक हुए विना स्वव्यवहार का जनक नहीं हो सकता है।

समाधान :—सिद्धान्ती का कथन है कि अध्ययन विधि का अवच्छेदक = स्वाध्यायत्व। वह स्वाध्यायत्व जैसे अन्य वेद वाक्यों में रहता है वैसे ही उक्त विधिवाक्य में भी रहता है। अध्ययन विधि जो अपने में अध्ययन का विधान करती है। उसका कारण यह है कि उक्त विधि जो अपने में अध्ययन का विधान करती है। उसका कारण यह है कि उक्त विधि में स्वाध्यायत्व रूप एक अवच्छेदक के रहने के कारण ही करती है न कि अपने में अध्ययनविधित्व के रहने के कारण। यदि अध्ययन विधित्वेन उक्त विधि अपने को विषय करती तब आत्माश्रय = स्वविषयकत्व दोष आता किन्तु ऐसा नहीं है। अतः स्वविषयत्व दोष उक्त अध्ययन विधि में नहीं आयेगा। प्रदीप प्रभा में स्वविषयकत्व प्रसिद्ध ही नहीं है, क्योंकि प्रभा प्रभा को प्रकाशित करती है—ऐसी प्रसिद्धि का अभाव है। इसलिए पूर्वपक्षी के द्वारा कथित उक्त व्याप्ति खण्डित हो गयी। इसलिए खण्डन खण्ड खाद्य में आचार्यप्रवर श्रीहर्ष ने कहा है कि ''गाङ्कुटादिभ्यः'' (पा०सू०—१—२—१) इस सूत्र में ''कुट आदिर्येषां ते कुटादयः'' इस प्रकार से विग्रह कर के अन्यपद प्रधान बहुब्रीहि समास कुट धातु को छोड़कर कुटादि गण में पठित अन्य धातुओं का ग्रहण करता है। ऐसा होने पर भी बहुब्रीहि का जो अविषय ''कुट कौटिल्ये'' धातु है। उसके उत्तर विहित ञित् णित् प्रत्ययों से भिन्न प्रत्ययों की ङित् संज्ञा करना रूप व्यवहार उक्त सूत्र के द्वारा होता है। इसलिए ही गुणरहित ''कुटिता'' रूप बनता है। इसी प्रकार प्रकृत में भी ज्ञान स्वरूप ब्रह्म भी स्वाविषयीभूत स्व में स्वव्यवहार का निर्वाहक हो जायेगा।।१४।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि वैयाकरणाचार्यप्रवर कैयट ने कहा है कि ''उद्भूतावयवभेदः समुदायः समासार्थः'' अर्थात् उद्भूत अवयव विशेष से घटित समुदाय को बहुब्रीहि समास कहते हैं। अतः कुट से घटित पुटादि का जो समुदाय है। वही बहुब्रीहि समास का विषय है। उक्त समुदाय वैयाकरणों के मत में तथा मीमांसकों के मत में समास की शक्ति से बोध्य है और तार्किकों के मत में लक्षणा से बोध्य

स च वैयाकरणानां मीमांसकानाञ्च शक्त्या अन्येषां लक्षणयेत्यन्यदेतत्; यथा 'चैत्रशालीया आनीयन्ताम्'इत्यत्र उपलक्षणस्यापि चैत्रस्य स्वशालास्थस्य तच्छब्दविषयत्वम्, तथा कुटस्यापि पुटादिवदन्यपदार्थभूत–समुदायान्तर्गतस्य बहुव्रीहिविषयत्वोपपत्तेः। तथा च दृष्टान्तासिद्धिरिति–वाच्यम्; स्वाविषय इत्यस्य औत्सर्गिकविषयान्यपदार्थभिन्न इत्यर्थकत्वम्। तथा च स्वपदार्थसम्बन्धादन्यत्रेव स्वपदार्थेऽपि यथा तत्र फलं, तथा स्वसम्बन्धादन्यत्रेव स्वस्मिन्नपि चित्फलमित्यत्र दृष्टान्तपर्यवसानात्। स्वविषयव्यतिरेकेण समुदायप्रयोजकरूपेण विषयत्वेऽपि समुदायिताप्रयोजकरूपेणाविषयत्वात् स्वाविषयत्वोक्तेर्वा।।१५।।

ननु– एतावता स्वस्मादन्यत्र व्यवहारजनने तद्विषयत्वं स्वस्मिन् स्वाभेद एवेति पर्यवसितोऽर्थः, स

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। अर्थात् कुटादि जिसमें बहुब्रीहि समास हुआ है ऐसे कुटादि पद से कुट घटित समुदाय का ज्ञान कुटादि पद निष्ठ शक्ति वृत्ति से होता है, ऐसा वैयाकरणों और मीमांसकों के मत में माना जाता है। तार्किक के मत में कुटादि पद से कुट घटित समुदाय का ज्ञान लक्षणा वृत्ति से होता है। यह विषयान्तर है। उक्त प्रकार से बहुब्रीहि समास का अर्थ करना उचित है। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे ''चैत्रशालीया आनीयन्ताम्'' इत्यादि स्थल पर चैत्र पद चैत्रशाला में स्थित समुदाय का उपलक्षण है। ऐसा उपलक्षणीभूत स्वशालास्थ चैत्र भी चैत्रशालीय पद से गृहीत होता है। अर्थात् चैत्रशालीय शब्द जन्य ज्ञान का विषय चैत्र भी होता है। ठीक इसी प्रकार बहुब्रीहि समास घटित कुटादि पद का जो अर्थ = अन्य पदार्थ रूप समुदाय, उस समुदाय में पुटादि धातुओं के जैसे कुट भी अन्तर्गत माना जायेगा। अत: कुटिता रूप की सिद्धि हो जायेगी किन्तु ब्रह्म स्व अविषयीभूत स्व में व्यवहार का निर्वाहक होता है– इसके लिए जो कुटादि का दृष्टान्त दिया गया था। उसकी असिद्धि हो गयी क्योंकि कुट स्व का विषय ही बन गया।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि खण्डन खण्ड खाद्य में कथित''स्वाविषये'' पद का अर्थ है कि बहुब्रीहि का जो औत्सर्गिक विषय है अन्य पदार्थ = कुटादि समुदाय। इससे अन्य पदार्थ = कुट। इसमें भी बहुब्रीहि कार्य करता है। अत: बहुब्रीहि घटक कुट पदार्थ के सम्बन्ध से होने वाला जो कुट ज्ञान, उससे भिन्न जो पुटादि। उस पुटादि में ''गाङ्कुटादिभ्य:'' इस सूत्र से जैसे ङित्व विधान होता है वैसे ही कुट पदार्थ में भी ङित्व का विधान उक्त सूत्र से होता है। इसी प्रकार प्रकृत में भी स्व = चित् के साथ सम्बन्ध के बल पर जैसे चित् से अन्यत्र दृश्य वर्ग में चित् का फल (व्यवहार) होता है ठीक वैसे ही चित् में भी चित् का फल (व्यवहार) हो जायेगा। इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्ति में समानता आ जायेगी। अब तक अतद्गुण संविज्ञान बहुब्रीहि समास कुटादि में मानकर खण्डनोक्त ''स्वाविषये''को दृष्टान्त के रूप से स्पष्ट किया गया। अब तद्गुण संविज्ञान बहुब्रीहि समास कुटादि में मानकर खण्डनोक्त ''स्वाविषये'' को दृष्टान्त के रूप से स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि स्व = कुटादि, उसका विषय कुटत्व पुटत्वादि तद् तद् व्यक्तित्वेन कुट सहित पुटादि (क्योंकि तद्गुण संविज्ञान बहुब्रीहि में सभी का ग्रहण होता है।) उससे भिन्न समुदायान्तर्गत रूप से कुट बहुब्रीहि समास का विषय होने पर भी समुदायि (अवयव) समुदायिता का प्रयोजक = कुटत्व उस कुटत्व रूप से कुट बहुब्रीहि का विषय नहीं है। किन्तु उक्त सूत्र से उसमें ङित्व विधान होता है वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए।।१५।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के पूर्वोक्त कथन का फलितार्थ यह हुआ कि अनुभूति से अन्यत्र अर्थात् अनुभूति के विषय जो घटादि उसमें अनुभूति के द्वारा व्यवहार को उत्पन्न करना हो तो

चायुक्तः; पक्षादन्यत्रैवायं नियम इत्यस्य सर्वत्र सुवचत्वात्, स्वाभेदे सत्यपि स्वविषय इव स्वस्मिन्विषयत्वव्यतिरेकेण द्वेष इच्छाविरोधित्वस्याज्ञाने स्वावारकत्वस्य स्मृत्यादिरूपे परोक्षज्ञाने स्वव्यवहारजनकत्वस्य मैत्रचैतन्ये सुषुप्तौ चैत्रचैतन्येन पारमार्थिककाल्पनिकभेदयो राहित्येऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

उसका प्रयोजक अनुभूति विषयत्व होगा और स्व (अनुभूति) में होने वाले व्यवहार में स्वाभेद ही प्रयोजक होगा किन्तु यह युक्ति पूर्ण नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकार से मानने पर जहाँ पर सद् अनुमान होता है वहाँ पर भी प्रतिवादी इतने कथन मात्र से सद् अनुमान का खण्डन कर देगा कि पक्ष से भिन्न स्थल महानसादि में ही यह नियम—''यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः'' माना जाता है किन्तु पक्ष में यह नियम माना नहीं जाता है। अतः पक्ष में धूम के रहने पर भी वह्नि की सिद्धि उक्त व्याप्ति के बल पर नहीं हो पायेगी। ऐसा होने पर अनुमान मात्र के उच्छेद की आपत्ति होगी। स्व में स्व का अभेद रहने पर भी स्व में स्व विषयत्व न रहने के कारण स्वयं स्व व्यवहार का जनक नहीं हो सकता है। अर्थात् स्व अभेद को स्व व्यवहार का प्रयोजक नहीं माना जा सकता है। इसको सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्षी चार दृष्टान्त दे रहा है। प्रथम— स्व विषय इव स्वस्मिन् विषयत्व व्यतिरेकेण द्वेष इच्छाविरोधित्वस्य अदर्शनात्'' ऐसा अन्वय है। जैसे द्वेष के विषय (दुःखादि) में स्व विषयता (द्वेष विषयता)के रहने के कारण इच्छा विरोधित्व देखा जाता है। अर्थात् द्वेष के विषय (दुःखादि) में इच्छा नहीं होती है किन्तु स्वयं द्वेष में द्वेष का अभेद रहने पर भी द्वेष में स्व विषयत्व (द्वेष विषयत्व) न रहने के कारण द्वेष में इच्छा विरोधित्व नहीं देखा जाता है, क्योंकि द्वेष में इच्छा होती ही है। अतः दृष्टान्त में जैसे स्व अभेद इच्छा विरोधित्व का प्रयोजक नहीं है, अपितु स्वविषयत्व है वैसे ही स्व अभेद अनुभूति के व्यवहार का प्रयोजक नहीं होगा अपितु स्वविषयत्व होगा। द्वितीय—अज्ञाने स्वावारकत्वस्य अदर्शनात् — ऐसा अन्वय है। अज्ञान अपने विषय का आवरक है, क्योंकि अपने विषय में स्व विषयत्व रहता है किन्तु अज्ञान अपने का आवरक नहीं होता है, क्योंकि स्व (अज्ञान) में स्वविषयत्व नहीं रहता है। अर्थात् अज्ञान में स्वाभेद रहने पर भी अज्ञान स्वावरक नहीं है वैसे ही स्वाभेद अनुभूति के व्यवहार का प्रयोजक नहीं हो सकता है, अपितु स्वविषयत्व होगा। तृतीय—''स्मृत्यादिरूपे परोक्षज्ञाने स्वव्यवहार जनकत्वस्य अदर्शनात्।'' ऐसा अन्वय है। स्मृति आदि रूप परोक्ष ज्ञान स्वविषय के व्यवहार का जनक होता है, क्योंकि स्मृति आदि परोक्ष ज्ञान के विषय में स्वविषयत्व रहता है किन्तु स्मृति आदि में स्वाभेद रहने पर भी स्व व्यवहार का जनक नहीं होता है वैसे ही प्रकृत में भी स्वाभेद अनुभूति के व्यवहार का जनक नहीं होगा। चतुर्थ— ''मैत्रचैतन्ये सुषुप्तौ चैत्रचैतन्येन पारमार्थिककाल्पनिकभेदयो राहित्येऽपि तद् व्यवहारजनकत्वस्य अदर्शनात्।'' ऐसा अन्वय है। चैत्र और मैत्र जिस काल में सो गये हैं उस काल में मैत्र चैतन्य में चैत्र चैतन्य के साथ न तो पारमार्थिक भेद है और न ही काल्पनिक भेद है। अर्थात् इन दोनों चैतन्यों में अभेद है। चैत्र चैतन्य में सुषुप्त मैत्र चैतन्य को व्यवहार करना चाहिए किन्तु व्यवहार होता नहीं है। यदि व्यवहार होता तो सुप्तोत्थित मैत्र को उसका अनुसन्धान होना चाहिए। अर्थात् इतने काल तक चैत्र सुख से सोया— ऐसा व्यवहार सुप्तोत्थित मैत्र नहीं करता है। यहाँ पर जैसे स्व = मैत्र चैतन्य उसका अभेद चैत्र चैतन्य से रहने पर भी मैत्रचैतन्य में चैत्र चैतन्य व्यवहार जनकत्व नहीं है, क्योंकि स्व व्यवहार में स्वाभेद प्रयोजक नहीं होता है अपितु स्व विषयत्व होता है। ठीक ऐसे ही प्रकत में भी स्वाभेद स्व व्यवहार का प्रयोजक नहीं हो सकता है। किन्तु स्वविषयत्व ही प्रयोजक होगा। ''आत्मानं जानामि'' इस प्रकार से आत्मा से अभिन्न जो साक्षी रूप ज्ञान, उस ज्ञान में भी ''जानामि'' इसके द्वारा ज्ञान की विषयता का अनुभव होता

तद्व्यवहारजनकत्वस्यादर्शनाच्च, आत्मानं जानामीत्यात्माभिन्नज्ञाने स्वविषयत्वानुभवाच्चेति—चेन्न; तर्हि द्वेषादौ स्वाभेदेऽपि स्वविषयत्वादर्शनात् प्रकृतेऽपि तथा स्यात्।।१६।।

अथ—व्यवहाररूपफलदर्शनात् प्रकृत एव स्वाभेदस्यान्यत्रादृष्टमपि स्वविषयतानियामकत्वं कल्प्यत इति—चेत्, तर्हि स्वव्यवहाररूपफलदर्शनादत्रैव स्वाभेदस्य स्वकार्य्यजनकतानियामकत्वम्, न द्वेषादौ; तथा फलादर्शनादिति समः समाधिः। न च—अत्र गृहीततद्विषयत्वस्य तूष्णीं त्यागे सर्वत्रैवं प्रसङ्ग इति—वाच्यम्, तद्विषयत्वत्यागबीजस्य बाधकस्य प्रागेवोक्तत्वात्, सर्वत्र तस्याभावात्। यत्तूक्तं मैत्रचैतन्य इत्यादि; तन्न; तदाभेदकविरहकाले मैत्रचैतन्य इत्यस्यैवाभावात्, साक्षिचैतन्येन व्यवहारापादनस्येष्टत्वात्। यदि च

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। अतः अनुभूति में भी स्व व्यवहार की उत्पत्ति के लिए स्वविषयत्व को मानना आवश्यक है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि द्वेषादि में स्वाभेद रहने पर भी स्वविषयत्व नहीं देखा जाता है ठीक इसी प्रकार अनुभूति का स्व में अभेद रहने पर भी स्वविषयत्व नहीं रहेगा।।१६।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ज्ञान से भिन्न द्वेषादि स्थल पर स्वाभेद स्वविषयता का नियामक नहीं माना जा सकता है क्योंकि वहाँ पर व्यवहार रूप फल (इच्छा विरोधित्व) नहीं देखा जाता है किन्तु ज्ञान से ज्ञान का व्यवहार रूप फल के देखने से ज्ञान में ही स्वाभेद को स्वविषयता का नियामकत्व रूप से स्वीकार किया जा सकता है। अर्थात् ज्ञान में स्वाभेद होने पर भी ज्ञान में स्वविषयता माननी चाहिए।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि तब तो जैसे पूर्वपक्षी ने अन्यत्र न देखने पर भी केवल ज्ञान के लिए ही व्यवहार रूप फल देखने से स्वाभेद को स्वविषयता का नियामक माना वैसे ही हम भी ज्ञान में स्वव्यवहार रूप फल देखे जाने से केवल ज्ञान में ही स्वाभेद को ही स्व कार्य जनकता का नियामक मानते हैं द्वेषादि को नहीं,क्योंकि द्वेषादि में ज्ञान के जैसे फल नहीं देखा जाता है। इस प्रकार से समान समाधान है।

शङ्का— घट में घट ज्ञान विषयता रहने के कारण ही घट ज्ञान घट व्यवहार का जनक देखा गया है। अतः ज्ञान (अनुभूति) जब स्व व्यवहार का जनक है तब ज्ञान में भी स्वविषयता जहाँ मानना चाहिए था वहाँ ज्ञान में ज्ञान विषयता का चुपचाप परित्याग करने पर घटादि में भी ज्ञान विषयता का परित्याग आप को कर देना चाहिए। अर्थात् घट ज्ञान के न रहने पर भी घट व्यवहार हो जाता है— ऐसा मानना चाहिए।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि ज्ञान में ज्ञान विषयता के त्याग का कारण अनवस्थादि रूप बाधक पहले कहा जा चुका है। घटादि स्थल पर ज्ञान विषयता मानने पर अनवस्थादि रूप बाधक नहीं है। अतः घटादि में ज्ञान विषयता मानना उचित है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि एक काल में सोये हुए मैत्रचैतन्य और चैत्र चैतन्य का अभेद होने पर भी मैत्र चैतन्य में चैत्र चैतन्य व्यवहार जनकत्व नहीं देखा जाता है, क्योंकि वहाँ स्वविषयता नहीं है— ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति काल में चैत्र मैत्र के भेद का जनक दोनों की भिन्न भिन्न अन्तःकरणादि उपाधियाँ नहीं हैं। इसलिए उस समय चैतन्य को चैत्र मैत्र शब्द से नहीं कहा जा सकता है। इसलिए ''चैत्र इतने काल तक सुख पूर्वक सोया था'' ऐसा व्यवहार मैत्र को होना चाहिए—ऐसा आरोप नहीं लगाया जा सकता है। साक्षिचैतन्य से तथाविध व्यवहार का आपादन हमें इष्ट है। अर्थात् चैत्र मैत्र दोनों के लिए एक ही जो साक्षिचैत्रतन्य है। उसके द्वारा उक्त व्यवहार होना चाहिए। यदि ऐसा पूर्वपक्षी कहता है तो हमें ईष्ट है, क्योंकि ''इतने काल तक सुख से सोया था'' ऐसा व्यवहार साक्षिचैतन्य के बल पर ही होता है। यदि सुषुप्ति अवस्था में संस्कार रूपेण अन्तःकरण की स्थिति मानी जाती है तब भेदक (चैत्र मैत्र का भेदक अन्तःकरण) के विद्यमान होने के कारण ''भेदयो

संस्कारात्मनाऽवस्थितान्तःकरणं तदापि भेदकम्, तदा भेदस्यैव सत्त्वाच्च। यत्तूक्तमात्मानमित्यादि, तदपि न, अहमर्थाश्रितवृत्तिरूपज्ञानविषयत्वस्यैव तत्रानुभवात्।।१७।।

न च घटः स्वप्रकाशः, घटत्वादित्याभाससाम्यम्, प्रयोजकत्वपरिहारेण परिहृतत्वात्, घटे स्फुरणाभेदत–द्विषयत्वयोरभावे व्यवहाराभावप्रसङ्गेन साम्याभावाच्च। ननु–अनुभूतिपदेन वृत्तेः पक्षत्वे बाधः, तदन्यस्याश्रयासिद्धिरिति–चेन्न; वृत्तेर्जडतया अप्रकाशत्वे प्रकाशत्वं यत्र विश्राम्यति तस्यैव पक्षत्वात्, प्रतिकर्मव्यवस्थायामेव वृत्त्यतिरिक्तानुभवस्य साधनाच्च।।१८।।

एवञ्च– त्वदीयापरोक्षव्यवहारयोग्यं त्वज्ज्ञानं, त्वदीयापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणं,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

राहित्येऽपि'' ऐसी अभेदोक्ति असङ्गत है और भेदक के रहने पर व्यवहार साङ्कर्य भी नहीं होगा। ''आत्मानं जानामि'' इत्यादि के बल पर पूर्वपक्षी ने अनुभूति में स्वविषयता कहा था, वह भी उचित नहीं है, क्योंकि अहमर्थाश्रित जो वृत्तिरूप ज्ञान तादृश वृत्तिरूप ज्ञान की विषयता अर्थात् वृत्ति व्याप्ति ही वहाँ पर अनुभव होती है फलव्याप्ति नहीं। सिद्धान्त में वृत्तिव्याप्ति को स्वीकार किया ही जाता है।।१७।।

घट स्वप्रकाश है, घटत्व होने से –इत्यादि अनुमानाभासों का साम्य प्रदर्शन स्वप्रकाशत्व साधक अनुमान में नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अप्रयोजक का परिहार जो खण्ड संख्या ५ में किया जा चुका है। उक्त परिहार से इस अनुमानाभास के साम्य का भी परिहार हो जायेगा। अर्थात् आत्मा के स्वप्रकाशत्व में श्रुति स्मृति आदि का अनुग्रह है जब कि घट के स्वप्रकाशत्व में नहीं। अतः आभाससाम्य नहीं। दूसरी बात यह है कि घट और अनुभूति का अभेद होता नहीं है। यदि घट में अनुभूति की विषयता भी नहीं मानी जाती है तब घट व्यवहार ही नहीं हो पायेगा। फलतः घट में अनुभूति विषयत्व रहने से घट में स्वप्रकाशत्व सिद्ध ही नहीं होगा। ब्रह्म और अनुभूति का अभेद होने के कारण उसमें स्वविषयत्व मानने की आवश्यकता ही नहीं है। फलतः अनुभूति में स्वप्रकाशत्व पर्यवसित हो जाता है। अतः स्वप्रकाशत्व अनुमान में उक्त प्रकार से अनुमानाभास का साम्य नहीं हो सकता है।

शङ्काः– स्वप्रकाशत्व साधक अनुमान में अनुभूति को पक्ष बनाया गया है। उस अनुभूति से वृत्ति को लेने पर बाधदोष होगा, क्योंकि वृत्ति में स्वप्रकाशत्व रहता ही नहीं है। बाधदोष से बचने के लिए अनुभूति का अर्थ यदि वृत्ति नहीं करते हैं तब वृत्ति से भिन्न अनुभूति का कोई अर्थ होता ही नहीं है। अतः अनुभूति पद से अप्रसिद्ध अनुभूति लेने पर आश्रयासिद्धि दोष होगा।

समाधान :– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभूति पद का अर्थ वृत्ति किया ही नहीं जाता है, क्योंकि वृत्ति जड़ होने से अस्वप्रकाश है। अतः जगदान्ध्य प्रसङ्ग से बचने के लिए वृत्ति से भिन्न किसी प्रकाश को मानना आवश्यक है। अतः अनुभूयमान प्रकाशत्व जहाँ पर विश्रान्त होता है। उसी तत्त्व को अनुभूति पद से ग्रहण कर पक्ष बनाया गया है। वृत्ति से अतिरिक्त अनुभूति की सिद्धि प्रतिकर्मव्यवस्था में की जा चुकी है।।१८।।

त्वदीयापरोक्षव्यवहारयोग्यं त्वज्ज्ञानं, त्वदीयापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणं, ज्ञानत्वात्, मदीयज्ञानवत्। दृष्टान्त मदीयज्ञान में ज्ञानत्व हेतु है और विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव को लेकर दृष्टान्त में साध्य भी है। पक्ष में ज्ञानत्व हेतु है। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान होने से विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव को लेकर साध्य का पक्ष में समन्वय होने से अवेद्यत्व रूप स्वप्रकाशत्व की सिद्धि हो जायेगी। विवादपदानि ज्ञानानि घटज्ञानान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणानि, ज्ञानत्वात्, घटज्ञानवत्। दृष्टान्त भूत घटज्ञान को

ज्ञानत्वात्, मदीयज्ञानवत्, विवादपदानि ज्ञानानि, घटज्ञानान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणानि, ज्ञानत्वात्, घटज्ञानवत्, इत्यपि– साधु। न च– त्वज्ज्ञानं, त्वदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति अवेद्यत्वानधिकरणम्, ज्ञानत्वात्, मदीयज्ञानवत्, घटज्ञानं, पटज्ञानान्यत्वे सति चिदविषयत्वानधिकरणं, ज्ञानत्वात्, पटज्ञानवदिति च यथायोग्यं प्रकरणसमतेति–वाच्यम्, विपक्षे बाधकस्योक्तत्वेन स्थापनाया अधिकबलत्वात्।१९।।

इत्यद्वैतसिद्धावनुभूतेः स्वप्रकाशत्वोपपत्तिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

छोड़कर शेष पटादि ज्ञान को पक्ष बनाया गया है। साध्य = घटज्ञानान्यत्व विशिष्ट वेद्यत्वाभाव। दृष्टान्त में ज्ञानत्व हेतु है और विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव को लेकर दृष्टान्त में साध्य भी है। पक्ष में ज्ञानत्व हेतु है। अतः व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता ज्ञान रूप परामर्श के रहने पर विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव को लेकर साध्य का पक्ष में समन्वय होने से अवेद्यत्व रूप स्वप्रकाशत्व की सिद्धि हो जायेगी। इस प्रकार इन अनुमानों के द्वारा भी स्वप्रकाशत्व की सिद्धि करने पर किसी भी प्रकार का दोष नहीं है। (ये दोनों अनुमान चित्सुखी में ''स्वप्रकाशत्वानुमाने हेतुदोषनिरासः'' में कहे गये हैं।)

शङ्का :– पूर्वपक्षी स्वप्रकाशत्व साधक उक्त प्रथम अनुमान का सत्प्रतिपक्ष अनुमान इस प्रकार से दे रहा है–''त्वज्ज्ञान त्वदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वविशिष्ट जो अवेद्यत्व तादृश अवेद्यत्व का अनधिकरणी है, ज्ञानत्व होने से, मदीय ज्ञानवत्। स्वप्रकाशत्व साधक द्वितीय अनुमान का सत्प्रतिपक्ष का आकार इस प्रकार है–घटज्ञान पटज्ञानभेदविशिष्ट चिद् अविषत्व का अनधिकरण है, ज्ञानत्व होने से, पट ज्ञानवत्।

समाधान :– उक्त सत्प्रतिपक्ष प्रयोग दुर्बल है क्योंकि ज्ञान को अवेद्य (स्वप्रकाश) न मानकर वेद्य मानने पर अनवस्थादि रूप बाधक पीछे कहा जा चुका है। स्वप्रकाशत्व साधक अनुमान श्रुति स्मृति आदि से पोषित है। इसलिए अधिक बलशाली हैं। अतः पूर्वपक्षी कृत दुर्बल अनुमानों के द्वारा उसमें सत्प्रतिपक्षदोष नहीं दिया जा सकता है।।१९।।

।। इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामनुभूतेः स्वप्रकाशत्वोपपत्तिः।।

१३— आत्मनः स्वप्रकाशत्वविचारः

एवञ्च चिदभिन्नस्यात्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वं चिद्रूपत्वात् साधनीयम्। यथा च नात्मनि चिद्रूपत्वासिद्धिः; तथोपपादितम्। उपपादयिष्यते च श्रुत्या। न च 'विज्ञाता प्रज्ञाता'इति श्रुतिविरोधः, वक्ष्यमाणानेकश्रुतिविरोधेन तस्याः वृत्तिरूपज्ञानाश्रयत्वपरत्वात्।१ ।।

यत्तु विद्यासागरोक्तं 'विमतं ज्ञानं भिन्नाश्रयविषयकं, ज्ञानत्वात्, ज्ञानान्तरवत्, विमतं, न स्वाश्रयविषयकं, गुणत्वात्, अग्न्यौष्ण्यादिवद्'इति स्वप्रकाशत्वसाधनं, तत् परीत्या, अस्मन्मते स्वप्रकाशे ज्ञानत्वस्यात्मन्यभावात्, तादृग्ज्ञाने गुणत्वाभावाच्च, 'मामहं जानामि'इति प्रत्यक्षस्य वृत्तिविषयतयोपपादितत्वेन विरोधाभावात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अनुभूति के स्वप्रकाशत्व सिद्ध हो जाने पर चिद् रूप अनुभूति से अभिन्न आत्मा का भी स्वप्रकाशत्व चिद्रूपत्व हेतु से सिद्ध किया जा सकता है— आत्मा स्वयंप्रकाशः चिद्रूपत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः। आत्मा में चिद्रूपत्व की असिद्धि नहीं है— इसको ''ब्रह्मणो ज्ञानत्वानन्दत्वादिविचारः'' में स्पष्ट किया जा चुका है और ''अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः'' (बृ०उ० ४—३—९) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा खण्ड संख्या ४ में किया जायेगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''विज्ञाता भवति'' (छा०उ० ७—८—१) और ''अविज्ञातो विज्ञाता'' (बृ०उ० ३—७—२३) इत्यादि स्थलों पर विज्ञाता और प्रज्ञाता में तृच् प्रत्यय कर्ता अर्थ में होने से आत्मा ज्ञान का कर्ता है = आत्मा ज्ञान का आश्रय है। अतः आत्मा को ज्ञान (अनुभूति) स्वरूप मानने पर श्रुतियों से विरोध होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वक्ष्यमाण आत्मा की ज्ञान स्वरूपता प्रतिपादक ''अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः'' (बृ०उ०४—३—९) ''ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिः'' (बृ०उ०४—३—६) इत्यादि अनेक श्रुतियों से विरोध होने के कारण विज्ञाता प्रज्ञाता इत्यादि श्रुतियों का अर्थ वृत्ति रूप ज्ञान की आश्रयता किया जाता है। फलतः बहुप्रमाण सिद्ध आत्मा की ज्ञान रूपता निवृत्त नहीं होती है।१ ।।

खण्डन के व्याख्याता श्रीविद्या सागर के द्वारा आत्मा में ज्ञानाश्रयता को स्वीकार करते हुए जो आत्मा में स्वप्रकाशत्व की सिद्धि की गयी है। उन के अनुमानों की व्यवस्था देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि (१) विमतं ज्ञानम् = ''मामहं जानामि'' इत्याकारक ज्ञान, भिन्नाश्रयविषयकम्= आश्रयश्च विषयश्च इति आश्रयविषयौ, भिन्नौ आश्रयविषयौ यस्य तत् भिन्नाश्रयविषयकम् = भिन्न आश्रय विषयक है, ज्ञानत्व होने से, ज्ञानान्तरवत् = पटादिज्ञानवत्। इस अनुमान से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान का जो आश्रय है वही ज्ञान का विषय नहीं होता है। अतः इस अनुमान के द्वारा पक्षीभूत ज्ञान भी आत्मा को विषय नहीं करता है—यह सिद्ध हो जाने से अर्थात् आत्मा स्वयंप्रकाश है— यह सिद्ध हो जाता है। (२) विमतम् = ''मामहं जानामि'' इत्याकारक ज्ञान, स्वाश्रयविषयक नहीं है, गुणत्व होने से, वह्निसमवेतऔष्ण्यवत्। इस अनुमान में आत्मा के ज्ञानादि गुणों को पक्ष बनाया गया है। दृष्टान्त और पक्ष में गुणत्व हेतु है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय = अग्नि के औष्ण्य का आश्रय = अग्नि है और औष्ण्य का विषय = अग्नि से दाह्य काष्ठादि है न कि अग्नि। अतः जिस औष्ण्य का आश्रय अग्नि है उस औष्ण्य का विषय अग्नि नहीं है। अतः दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो गया। पक्ष में साध्य के रहने पर यह सिद्ध होगा कि आत्मा ज्ञान का आश्रय है किन्तु ज्ञान का विषय नहीं है। अतः आत्मा स्वयंप्रकाश हैं। इस प्रकार से श्री विद्यासागरोक्त स्वप्रकाशत्व का साधन है, वह तार्किक आदि की रीति से है, क्योंकि सिद्धान्त मत में स्वप्रकाश ज्ञान स्वरूप आत्मा में ज्ञानत्व

न च—अज्ञान इव स्वाश्रयविषयत्वोपपत्त्या अप्रयोजकमिति—वाच्यम्; वेद्यत्वे आत्मनो वेदनाभावाद—ज्ञानदशायामात्मनि संशयविपर्ययव्यतिरेकनिर्णयप्रसङ्गात्। न चात्मन्यहमनहं वेति कश्चित्सन्दिग्धे, अन्य एवेति वा विपर्यस्यति। नाहमिति वा व्यतिरेकं निर्णयतीत्यस्वप्रकाशत्वे बाधकसत्त्वात्।।२।।

न च—त्वन्मते सन्देहाद्यविषयस्याहमर्थस्यानात्मत्वात्तदन्यस्मिञ्छब्दैकगम्यात्मनि सन्देहादिसत्त्वाद—प्रयोजकत्वं तदवस्थमेवेति—वाच्यम्; अहमर्थस्य चिदचिद्ग्रन्थिरूपतया अहन्त्वावच्छेदेनाचिदंशे सन्देहाद्यभाववत्

सत्यानन्दप्रबोधिका

गुणत्वादि धर्म नहीं माना जाता है। प्रथम अनुमान का पक्षीभूत ''मामहं जानामि'' इस प्रत्यक्ष को वृत्त्यात्मक ज्ञान के रूप से प्रतिपादन ''अनुभूतेः स्वप्रकाशत्वविचारः'' के खण्ड संख्या १७ में किया जा चुका है। अतः आत्मा की अनुभूति रूपता (चिद्रूपता) में इस प्रत्यक्ष से विरोध नहीं है।

शङ्का— खण्डनोक्त अनुमान के विषय में पूर्वपक्षी का कथन है कि आचार्य श्रीसर्वज्ञात्ममुनि ने कहा है—''आश्रयत्व— विषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।''(सं०शा० १—३१९) इसलिए अज्ञान का आश्रय और विषय जैसे आत्मा है वैसे ही आत्मा ज्ञान का आश्रय और विषय हो जायेगा। ऐसा होने पर स्वप्रकाशत्व साधक ज्ञानत्व हेतु में अप्रयोजकत्व दोष आ जायेगा। अर्थात् हेतु के पक्ष में रहने पर भी अवेद्यत्व सिद्ध न होकर वेद्यत्व सिद्ध होने लगेगा।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि आत्मस्वरूप भूत ज्ञान को वेद्यत्व मानने पर अज्ञान दशा में ज्ञान स्वरूप आत्मा का प्रकाश न होने से संशय विपर्यय और व्यतिरेक निर्णय का प्रसङ्ग आयेगा। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि मैं हूँ या अन्य हूँ— इस प्रकार से कोई आत्मा में संशय नहीं करता है। अथवा अन्य ही हूँ— इस प्रकार से कोई आत्मा में विपर्यय नहीं करता है। अथवा मैं नहीं हूँ— इस प्रकार से कोई आत्मा में अभाव का निर्णय नहीं करता है। यही आत्मा की अस्वप्रकाशता में बाधक है, इससे सिद्ध होता है कि आत्मा वेद्य नहीं है अपितु स्वप्रकाश है। फलतः ''आत्मा यदि वेद्यः स्यात्, तर्हि अज्ञान दशायां संशयाद्यास्पदं स्यात्'' यह अनुकूल तर्क स्वप्रकाशत्व साधक अनुमान में होने से उक्त अप्रयोजकत्व दोष नहीं हो सकता है।।२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है सिद्धान्ती मतानुसार सन्देहादि का अविषय जो अहमर्थ उसको अनात्मा माना जाता है। उसमें किसी को संशयादि नहीं होता है— यह हम भी मानते हैं किन्तु सिद्धान्त मतानुसार उस अहमर्थ से भिन्न जो औपनिषद आत्मा शब्दैक समधिगम्य है, उस आत्मा के विषय में सन्देहादि होता है। उस आत्मा का ज्ञान होने पर आत्मा विषयक सन्देहादि की निवृत्ति होती है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा का ज्ञान होना अर्थात् आत्मा वेद्य है। फलतः स्वप्रकाशत्व साधक हेतु ज्ञानत्व में अप्रयोजकत्व दोष बना ही रहा।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है सिद्धान्त मतानुसार अहमर्थ = चित् और अचित् की ग्रन्थि (तादात्म्यापन्न चिदचिद् रूप) माना जाता है। उसके एक अहन्त्व रूप अचिद् अंश में सन्देहादि जैसे नहीं होता है वैसे ही तत्तादात्म्यापन्न चिद् अंश में भी सन्देहादि नहीं होता है। अतः पूर्वोक्त प्रकार से अप्रयोजकत्व दोष नहीं होगा।

शङ्का— उक्त खण्डनोक्त अनुमान में व्यभिचार दोष है, क्योंकि शब्द जन्य अन्तः करण विषयक अन्तः करण की वृत्ति रूप ज्ञान का आश्रय और विषय अन्तः करण ही है। अतः अन्तः करण विषयक वृत्ति का भिन्न आश्रय और विषय नहीं हैं। अतः अन्तः करण विषयक वृत्ति रूप ज्ञान में साध्य नहीं है किन्तु वृत्तिरूप ज्ञान में ज्ञानत्व हेतु के रहने से व्यभिचार दोष होगा।

चिदंशेऽपि सन्देहाद्यभावात्। न च—शब्दजान्त:करणविषयतद्वृत्तौ व्यभिचारि ज्ञानत्वमिति—वाच्यम्; तस्य स्फुरणार्थकत्वात्। न च द्वितीयहेतोस्तेजोरूपस्य घट इव स्वाश्रयेऽपि तमोनिवर्तकतया तद्विषये व्यभिचार:; रूपस्य ज्ञानादिवत् सविषयत्वाभावात्।।३।।

'अत्रायं पुरुष: स्वयंज्योति:'इत्यादिश्रुतिरप्यत्र प्रमाणम्। तथाहि—'अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य'इत्यादिना 'किं ज्योतिरेवायं पुरुष:'इत्यन्तेन ज्ञानसाधनालोकाद्यभावे जीवस्य कथं स्फुरणमित्युक्ते 'आत्मैवास्य ज्योति:' 'स्वयंज्योति:' इत्यादिना स्वातिरिक्तानपेक्षतया स्वप्रकाशत्वमुक्तम्। न चात्मशब्दस्य परमात्मपरत्वम्, पूर्ववाक्ये आत्मनि नाडीसम्बन्धप्रतिपादनात्, उत्तरवाक्ये च 'कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमय: प्राणेषु

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि खण्डनोक्त ज्ञानत्व हेतु का अर्थ है = प्रत्यक्षार्थकत्व। पूर्वपक्षी ने जो शब्द जन्य परोक्ष वृत्ति में व्यभिचार दोष दिया था। वह दोष अब नहीं होगा, क्योंकि परोक्ष वृत्ति में परोक्षार्थकत्व रहेगा न कि प्रत्यक्षार्थकत्व। इस प्रकार परोक्ष वृत्ति में साध्य और हेतु दोनों के ही न रहने से व्यभिचार दोष का वारण हो गया।

शङ्का— खण्डनोक्त द्वितीय अनुमान (विमतं न स्वाश्रयविषयकम्, गुणत्वात्) का हेतु गुणत्व वह्नि के रूप में व्यभिचरित है, क्योंकि वह्नि का रूप जैसे पटादि गत तम का निवर्तक होता है वैसे ही अपने आश्रयीभूत वह्नि में रहने वाले तम का भी निवर्तक होता है और वह्नि रूप का आश्रय भी वह्नि होता ही है। अत: वह्नि के रूप में गुणत्व के रहने पर भी स्वाश्रयविषयकत्वाभाव रूप साध्य के न रहने से व्यभिचार दोष हो गया।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान—इच्छादि जैसे सविषयक होते हैं वैसे रूप सविषयक नहीं होता है। अत: वह्नि के रूप में जैसे गुणत्व है वैसे ही स्वविषयकत्व का अभाव भी रहने से अर्थात् साध्य के रह जाने से व्यभिचार दोष नहीं होगा।।३।।

''अत्रायं पुरुष: स्वयंज्योति:'' (बृ०उ० ४—३—९) इत्यादि श्रुतियाँ भी आत्मा के स्वप्रकाशत्व में प्रमाण हैं। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के ज्योतिर्नामक तृतीय ब्राह्मण में प्रश्न किया गया— ''याज्ञवल्क्य किं ज्योतिरयं पुरुष:''(बृ०उ० ४—३—२) हे याज्ञवल्क्य! यह पुरुष किस ज्योति वाला है? उत्तर में कहा गया कि यह पुरुष आदित्य ज्योति वाला है। इसी प्रकार आगे प्रश्न हुआ कि आदित्य के अस्त होने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला है? इसके उत्तर में चन्द्रमा ज्योति वाला कहा गया। चन्द्रमा के अस्त होने पर अग्नि ज्योति वाला कहा गया। अग्नि ज्योति के शान्त होने पर यह पुरुष वाणी रूप ज्योति वाला होता है। यहाँ तक ज्ञान के साधन जो आलोकादि उन आलोकादि का स्वप्न में अभाव हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है? इसका समाधान करते हुए आचार्यप्रवर श्रीयाज्ञवल्क्य ने कहा— ''आत्मैवास्य ज्योति:'' (बृ०उ० ४—३—६) ''अत्रायं पुरुष: स्वयंज्योति:'' (बृ०उ०४—३—९) इत्यादि के द्वारा स्वातिरिक्त अनपेक्षत्वेन स्वप्रकाशत्व कहा है। ''आत्मैवास्य ज्योति:'' इस श्रुति वाक्य घटक आत्म शब्द का अर्थ परमात्मा नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ''अथैतयोरेषा सृति: सञ्चरणी यैषां हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति।'' (बृ०उ०४—२—३) इस पूर्व वाक्य में आत्मा में नाडी के सम्बन्ध का प्रतिपादन किया गया है। नाडी सम्बन्ध जीवात्मा में ही सम्भव है परमात्मा में नहीं। इसी प्रकार ''कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमय: प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योति:'' (बृ०उ० ४—३—७) इस उत्तर वाक्य में आत्मा में प्राणादि के सम्बन्ध का प्रतिपादन किया गया है, वह जीवात्मा में ही सम्भव होगा न कि परमात्मा में। अत: (बृ०उ० ४—२—३) इस पूर्ववाक्य और (बृ०उ० ४—३—७) इस उत्तर वाक्य में आत्मा शब्द से

हृद्यन्तर्ज्योतिःइत्युत्तरवाक्यपर्यालोचनया सन्दंशन्यायेन जीवपरत्वात्। न च द्युभ्वाद्यधिकरणन्यायेनात्मशब्दस्य तत्रैव मुख्यत्वम्; प्रधानाद्यनात्मनिराकरणार्थतया स्वशब्दादित्यात्मशब्दो हेतुत्वेनोक्तः; नतु मुख्यत्वाभिप्रायेण; जीवस्याप्रसक्तेः, मुख्यत्वस्योभयसाधारण्याच्च। अत एव–'अत्रायं पुरुषः स्वयम्'इत्युपसंहारस्य अस्येति पदानुषङ्गेण अयमीश्वरो जीवस्य स्वयमेव ज्योतिर्ज्ञानहेतुरित्येवं परत्वम्–निरस्तम्; उक्तन्यायेन उपक्रमविरोधात्।।४।।

न च–वाचैवायं ज्योतिषास्त इति ज्योतिःशब्दस्य वाचि ज्ञानसाधने प्रयोगादत्रत्यज्योतिःशब्दस्यापि ज्ञानसाधनपरत्वम्, नतु ज्ञानपरत्वमिति–वाच्यम्; लौकिकज्योतिषि रूढस्य ज्योतिःशब्दस्य वाचि ज्ञानसाधनत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

जीव लिया गया है तब सन्दंश न्याय से मध्य (बृ०उ० ४–३–६) में आये हुए आत्म शब्द से जीव ही लिया जायेगा। (सन्दंशन्याय = एकाङ्गानुवादेन विधियमानयोरङ्गयोरन्तराले विहितत्वं सन्दंशः। अर्थात् किसी भी एक अङ्ग का अनुवाद करते समय उससे सम्बद्ध दो विधियों के मध्य में किये जा रहे विधान को सन्दंश कहते हैं।)

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि आत्मा शब्द का अर्थ ब्रह्म करना चाहिए, क्योंकि ''द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्'' (ब्र०सू० १–३–१) (यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतम् (मु०उ०२–२–५) इस श्रुति में कहा गया कि द्युलोक,भूलोक अन्तरिक्ष आदि लोक जिसमें कल्पित है, वह प्रतीयमान आश्रय ब्रह्म ही है, क्योंकि ब्रह्म का वाचक आत्म शब्द श्रुति में आया हुआ है।) इस सूत्र में आत्म का अर्थ ब्रह्म किया गया है।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ पर द्युलोकादि के आधारत्वेन प्रसक्त सांख्योक्त प्रधान आदि अनात्म पदार्थों के निराकरणार्थत्वेन सूत्रस्थ स्व शब्द से आत्मा शब्द जो लिया गया है, वह हेतुत्वेन उक्त है, मुख्यत्वाभिप्राय से नहीं, क्योंकि जीवगत द्युलोकादि के अधिकरणत्व की प्रसक्ति ही नहीं है। मुख्य चैतन्य रूप आत्मा शब्द जीव और ब्रह्म दोनों का ही बोधक होता है। जैसे ''क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः'' इत्यादि स्थल पर आत्मा शब्द का अर्थ जीव होता है और ''आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च'' इत्यादि स्थल पर आत्मा शब्द का अर्थ ब्रह्म होता है। इस पर विशेष विचार लघुचन्द्रिका में देखें। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा है कि ''अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः'' (बृ०उ० ४–३–९) इस उपसंहार वाक्य में पूर्व में आये हुए ''स यत्र प्रस्वपिति– अस्य'' से अस्य पद का अध्याहार कर के यह अर्थ होगा कि यह ईश्वर जीव का स्वयं ही ज्योति = ज्ञान का हेतु है। इस प्रकार आत्मा शब्द परमात्मा का ही बोधक सिद्ध होता है न कि जीव का। पूर्वपक्षी का ऐसा कथन इसलिए निरस्त हो जाता है कि जब उपक्रम ''अथैनयोरेषा सृतिः संचरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति।''(बृ०उ० ४–२–३) में नाडी आदि के सम्बन्ध से आत्मा शब्द जीव परक है– ऐसा निर्णय हो गया अर्थात् विना अस्य के अध्याहार किये ही आत्मा शब्द जीव परक सिद्ध हो गया तब उपक्रम विरुद्ध ''अस्य'' आदि का अध्याहार कर के आत्मा शब्द का ब्रह्म परक अर्थ करना असङ्गत है।।४।।

शङ्का– ''वाचैवायं ज्योतिषास्ते'' (बृ०उ० ४–३–५) इस स्थल पर जैसे ज्योति शब्द ज्ञान साधनी भूत वाक् के लिए प्रयुक्त है, अर्थात् ज्ञान का साधन जो वाणी उसके द्वारा–ऐसा अर्थ किया जाता है, वैसे ही ''अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः'' (बृ०उ० ४–३–९) इस वाक्य के घटक ज्योति शब्द को भी ज्ञान साधन का बोधक ही मानना चाहिए न कि ज्ञान का। ऐसा मानने पर अर्थ होगा कि स्वप्नावस्था में स्वयं पुरुष ही ज्ञान का साधन होता है। ऐसा अर्थ होने पर आत्मा में ज्ञान साधनत्व सिद्ध होगा न कि स्वप्रकाशत्व।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि लौकिक आदित्यादि ज्योति में रूढ़ जो ज्योति शब्द है उस ज्योति शब्द का जैसे पूर्वपक्षी के मत में ज्ञान साधनीभूत वाक् में गौण प्रयोग होता है, वैसे ही सिद्धान्त मत में

प्रवृत्तिवदत्रापि तमोविरोधित्वेन रूपेणाज्ञानविरोधिन्यपि प्रयोगसम्भवात्। न च स्वप्रकाशपरत्वे सदा स्वप्रकाशत्वेन श्रुतावत्रेत्यस्य वैयर्थ्यम्, जाग्रदवस्थायामादित्यादिज्योतिःसम्भवेन दुर्विवेकतयास्यामवस्थायां सुविवेकतया अत्रेति विशेषणसाफल्यात्। न चास्येति षष्ठ्या विषयत्वाभिधानम्; स्वयं दासा इत्यादाविवानन्यवेद्यत्वपरत्वात्। न चामुख्यार्थत्वापत्तिः; मुख्यविषयासम्भवेनेष्टत्वात्। न च प्रदीपादौ स्वविषयत्वेन स्वप्रकाशत्वव्यवहारः; सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यप्रकाशत्वस्यैव तत्रापि व्यवहारनिदानत्वात्। अत एव न घटादावप्रकाशे अतिप्रसङ्गः।।५।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्यवहार विरोधी अप्रकाश विरोधित्वेन अज्ञान के विरोधी ज्ञान में भी ज्योति शब्द का गौण प्रयोग सम्भव है।

शङ्का— स्वयं प्रकाश अर्थ का बोधक उक्त श्रुति घटक ज्योति शब्द को मानने पर आत्मा सदा स्वयं प्रकाश रहेगा। अतः ''अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः'' (बृ०उ० ४—३—९) इस श्रुति में स्वप्न वाचक अत्र इस पद को देना व्यर्थ है।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि हम भी आत्मा को जाग्रदादि सभी अवस्थाओं में स्वयं प्रकाश मानते हैं किन्तु जाग्रदवस्था में आदित्यादि रूप अन्य ज्योतिओं के विद्यमान रहने से आत्मा के स्वप्रकाशत्व का विवेक करना कठिन होता है। इसलिए स्वप्नावस्था में अनात्मभूत सभी ज्योतियों के शान्त हो जाने पर आत्मा के स्वप्रकाशत्व का विवेक सुगम होता है। इसलिए श्रुति में अत्र शब्द से स्वप्नावस्था का कथन किया गया है। अतः अत्र पद का साफल्य है।

शङ्का— ''आत्मैवास्य ज्योतिः'' (बृ०उ०४—३—६) इस श्रुति में आत्मा का अर्थ ब्रह्म है और अस्य से जीव कहा गया है और षष्ठी विभक्ति से विषयत्व का कथन किया गया है। अतः श्रुति का अर्थ होगा— ब्रह्म जीवविषयिणी ज्योति है। अर्थात् ब्रह्म के ज्योति का विषय जीव है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि ''स्वयंदासाः तपस्विनः'' इत्यादि स्थल पर षष्ठी का अर्थ विषयत्वादि नहीं किया जाता है वैसे ही उक्त स्थल पर भी समझना चाहिए। अर्थात् ''स्वयंदासाः तपस्विनः'' यहाँ पर स्व में स्व सेवानिबन्धन दासत्व के विरुद्धता होने से स्वेतर दास शून्यत्व में ही उक्त वाक्य का तात्पर्य होता है वैसे ही ''स्वयं ज्योतिः'' यहाँ पर भी अन्यावेद्यत्व में तात्पर्य है स्व विषयकत्व में नहीं। यहाँ आत्मा ब्रह्म का वाचक नहीं है जीव का वाचक है—यह पीछे स्पष्ट किया जा चुका है।

शङ्का— ''स्वयंदासाः तपस्विनः'' यहाँ जैसे तपस्वी में मुख्यदासत्व का प्रतिपादन नहीं है किन्तु अपने से भिन्न का दासत्व तपस्वी में नहीं है— ऐसा अर्थ होने के कारण तपस्वी में दासत्व का अमुख्यत्व है ठीक इसी प्रकार यहाँ भी आत्मा में ज्ञान का मुख्य विषयत्व नहीं है किन्तु आत्म स्वरूप ज्ञान से भिन्न किसी का विषय आत्मा नहीं है। इस प्रकार अर्थ करने पर अमुख्यार्थत्व की आपत्ति होगी।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि जहाँ मुख्यार्थ सम्भव नहीं है वहाँ पर अमुख्यार्थ (गौणार्थ) लिया ही जाता है। अतः उक्त प्रकार से अमुख्यार्थ लेना हमें अभीष्ट है।

शङ्का— ''प्रदीपः स्वयं प्रकाशते'' इत्यादि प्रयोग स्थल पर ''स्वयं प्रकाशते'' का अर्थ स्वविषयक प्रकाश किया जाता है। अतः स्वयं ज्योति का भी अर्थ स्वविषयक ज्योति होना चाहिए।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त स्थल पर भी सजातीय प्रकाशान्तर से अप्रकाशित प्रकाशत्व ही अर्थ ''स्वयं प्रकाशते'' का किया जाता है इसको ही मूल ग्रन्थ में कहा गया कि सजातीय प्रकाशाप्रकाश्यत्वविशिष्ट जो प्रकाशत्व तादृश प्रकाशत्व को ही प्रदीप में स्वप्रकाशत्व व्यवहार का कारण कहा गया है न कि स्वविषयत्व प्रदीपादि में स्वप्रकाशत्व व्यवहार का निदान है। अत एव = सजातीय प्रकाशाप्रकाश्यत्वविशिष्ट प्रकाशत्व को स्वप्रकाश व्यवहार के प्रति निदानत्व होने से ही,

विवरणानुमानानि च—आत्मा स्वयंप्रकाशः, स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकविधुरत्वात्, प्रकाशाश्रयत्वात्, प्रकाशकर्तृत्वात्, प्रदीपवत्। ननु च—अवेद्यत्वं चेत् साध्यं, साध्यवैकल्यम्, सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यत्वं चेदर्थान्तरम्; घटादाविवास्वप्रकाशत्वेऽप्युपपत्तेः, ज्ञानप्रभानुगतप्रकाशत्वासिद्धिश्च, ज्ञातैकसति दुःखादावाद्यहेतोर्व्यभिचारः, द्वितीयतृतीययोस्त्वन्मत आत्मनः प्रकाशत्वेनासिद्धिरिति—चेन्न; स्वप्रकाश्यत्वस्य बाधिततया तदप्रकाश्यत्वेन पक्षस्य विशेषिततया वार्थान्तराभावात्। सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यप्रकाशत्वमेव साध्यम्। एवञ्च न घटादिवदस्वप्रकाशत्वेनोपपत्तिः; स्वाप्रकाश्यसजातीयाप्रकाश्यत्वेनावेद्यत्वस्य लाभात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

अप्रकाश रूप घटादि में ''घटः स्वयं प्रकाशते'' ऐसे प्रयोग की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि घट में सजातीय प्रकाशाप्रकाश्यत्वविशिष्ट प्रकाशत्व नहीं है।।५।।

विवरण में कथित स्वप्रकाशत्व साधक अनुमान भी आत्मा के स्वप्रकाशत्व में प्रमाण हैं। जैसे—आत्मा स्वप्रकाश है, स्व सत्ता में प्रकाश व्यतिरेक शून्यत्व होने से, प्रकाशाश्रयत्व होने से, प्रकाशकर्तृत्व होने से, प्रदीपवत् (इस अनुमान के हेतु आदि की चर्चा आगे मूल में ही की जायेगी। अतः यहाँ हेतु आदि का समन्वय नहीं लिखा जा रहा है।)

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि अनुमान के साध्य स्वप्रकाश का अर्थ यदि अवेद्यत्व किया जाता है तब दृष्टान्त प्रदीप में साध्य वैकल्प हो जायेगा, क्योंकि प्रदीप में चक्षुरादि से वेद्यत्व ही रहता है। यदि साध्य स्वप्रकाश का अर्थ सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यत्व किया जाता है तब अर्थान्तर दोष होगा। जैसे घटादि में अस्वप्रकाशत्व होने पर भी सजातीय प्रकाशाप्रकाश्यत्व रूप स्वप्रकाशत्व रहता है ठीक वैसे ही आत्मा को स्वप्रकाशत्व न मानने पर भी सजातीय प्रकाशाप्रकाश्यत्व की उपपत्ति हो जायेगी। ज्ञान (पक्ष) और प्रभा (दृष्टान्त) इन दोनों में रहने वाला कोई प्रकाशत्व का एक स्वरूप प्रसिद्ध ही नहीं है। जिस स्वरूप से हेतु पक्ष और दृष्टान्त में बैठ सके। ज्ञातैक सत् दुःखादि होते हैं, क्योंकि दुःखादि हों उनका ज्ञान न हो— ऐसा होता नहीं है। ऐसे दुःखादि में प्रथम हेतु (स्व सत्ता में प्रकाश व्यतिरेक शून्यत्व) है किन्तु स्वप्रकाशत्व नहीं है। अतः व्यभिचार दोष होगा। द्वितीय हेतु (प्रकाशाश्रयत्व) और तृतीय हेतु (प्रकाश कर्तृत्व) सिद्धान्ती के मतानुसार पक्ष में जा ही नहीं सकते हैं, क्योंकि जब आत्मा प्रकाश स्वरूप है तब वह आत्मा न तो प्रकाश का आश्रय हो सकता है और न ही प्रकाश का कर्ता ही हो सकता है। अतः स्वरूपासिद्धि दोष होगा।

समाधान— पूर्वपक्षी ने जो कहा कि घटादि के समान आत्मा में अस्वप्रकाशत्व मानने पर भी हेतु की उपपत्ति हो जाने से अर्थान्तर दोष होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि आत्मा में अस्वप्रकाशत्व मानने पर अस्वप्रकाशत्व का अर्थ है वेद्यत्व। वह वेद्यत्व आत्मा में दूसरे से है या स्व से है? दूसरे से है—यह माना नहीं जा सकता, क्योंकि आत्मा से भिन्न सभी वस्तु जड़ है। जड़ में प्रकाशकत्व कोई भी नहीं मानता है। अतः आत्मा में स्ववेद्यत्व मानकर ही अर्थान्तर देना होगा किन्तु आत्मा मे स्ववेद्यत्व बाधित है क्योंकि श्रुत्यादि विरोध और कर्मकर्तृभाव विरोध होता है। अतः आत्मा में अस्वप्रकाशत्व मानकर अर्थान्तर दोष नहीं दिया जा सकता है। अथवा पक्ष में स्वाप्रकाश्यत्व को विशेषण के रूप से जोड़ेंगे। अर्थात् पक्ष का आकार होगा— स्वाप्रकाश्यत्वे सति आत्मा। ऐसा पक्ष बनाने पर अर्थान्तर दोष नहीं होगा, क्योंकि पक्ष में स्थित विशेषण से सिद्ध हुआ कि आत्मा स्ववेद्य नहीं है। सजातीयप्रकाशाप्रकाश्य प्रकाशत्व को साध्य बनाया गया है। इस प्रकार से साध्य (स्वप्रकाशत्व) का आकार होने पर घटादि के समान अस्वप्रकाशत्व की प्रकृत पक्ष (स्वाप्रकाश्यत्वे सति आत्मा) में उपपत्ति नहीं हो सकती है। दूसरी बात यह

विजातीयस्याप्रकाशत्वात्। ज्ञानप्रभानुगतं च प्रकाशत्वमावरणाभिभावकत्वम्। तच्च ज्ञानस्य चित्त्वेनान्यत्र तेजोविशेषत्वादिनेत्यन्यदेतत्। आवरणत्वं चाज्ञानतमसोः अर्थव्यवहारप्रतिबन्धकत्वमनुगतमेव। तच्चाज्ञानस्य साक्षात् तमसो ज्ञानप्रतिबन्धद्वारेत्यन्यदेतत्।।६।।

न च दुःखे व्यभिचारः, तस्याद्यक्षणे प्रकाशव्यतिरेकसत्त्वात्, प्रकाशत्वेन विशेषणाच्च। नापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

है कि पक्ष घटक विशेषण (स्वाप्रकाश्यत्व) से सिद्ध होता है कि आत्मा स्ववेद्य नहीं है और पक्ष में साध्य (सजातीयप्रकाशाप्रकाश्य प्रकाशत्व = पर वेद्यत्व नहीं है) सिद्ध होने से आत्मा पर वेद्य नहीं है। अतः आत्मा अवेद्य (स्वप्रकाश) है। यह सिद्ध हो जाता है यदि शङ्का की जाय कि जो स्ववेद्य नहीं है और सजातीय से वेद्य नहीं है अतः वह अवेद्य है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि स्व और सजातीय से वेद्य न होने पर भी विजातीय से वेद्य हो सकता है। इसका समाधान देते हुए कह रहे हैं कि विजातीय = वृत्ति ज्ञानादि को प्रकाश माना नहीं जाता है। अतः वृत्ति व्याप्ति आत्मा में मानने पर भी स्वप्रकाशत्व की हानि नहीं होगी। यहाँ तक अर्थान्तर दोष का निवारण किया गया। पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि ज्ञान और प्रभा इन दोनों में अनुगत प्रकाशत्व की असिद्धि है। इसका समाधान देते हुए कह रहे हैं कि ज्ञान और प्रभा इन दोनों में अनुगत प्रकाशत्व आवरण अभिभावकत्व रूप है। वह आवरणाभिभावकत्व ज्ञान में चित्त्वेन और अन्यत्र (प्रभा में) प्रौढ़ प्रकाश तेजोविशेषत्वादि रूप से माना जाता है। अज्ञान और तम इन दोनों में रहने वाला जो आवरणत्व है। वह अर्थ विषयक व्यवहार का प्रतिबन्धकत्वरूप है और अज्ञान और तम दोनों में अनुगत है। अर्थविषयक व्यवहार प्रतिबन्धकत्व रूप आवरणत्व अज्ञान में साक्षात् और अन्धकार में चाक्षुषज्ञान प्रति—बन्ध के द्वारा माना जाता है। यह दूसरी बात है।।६।।

पूर्वपक्षी ने जो कहा था की प्रथम हेतु (स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकविधुरत्वात्) दुःखादि में व्यभिचार दोष से ग्रस्त है। इसका खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि आद्यक्षण में दुःख का प्रकाश नहीं होता है किन्तु द्वितीय क्षण में होता है। अतः आद्यक्षण में प्रकाश व्यतिरेक विधुरत्व नहीं है किन्तु प्रकाश व्यतिरेक ही है। अतः दुःख में हेतु के न जाने से व्यभिचार दोष नहीं होगा। यह समाधान नैयायिक की दृष्टि से दिया गया। सिद्धान्त मतानुसार दुःखादि ज्ञातैक सत् है। इसलिए कह रहे हैं कि हेतु में प्रकाशत्व विशेषण देंगे। अर्थात् ''प्रकाशत्वे सति स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकविधुरत्वात्'' ऐसा हेतु बनायेंगे। ऐसा हेतु दुःख में नहीं जायेगा क्योंकि दुःख में प्रकाशत्व रहता ही नहीं है। द्वितीय और तृतीय हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष नहीं है, क्योंकि उक्त दोनों हेतु तार्किक को लक्ष्य कर के किए गये हैं। सिद्धान्त मतानुसार पक्ष में हेतु का समन्वय = प्रतिबिम्बस्य = साक्षिरूपप्रकाशस्य। साक्षिरूप प्रकाश को साक्षिरूप प्रकाश इसलिए कहा कि अविद्यावृत्ति में शुद्ध चित् के प्रतिबिम्ब को साक्षी कहा जाता है। वह प्रतिबिम्ब बिम्ब स्वरूप शुद्धचित् के अधीन = साध्य है। अतः बिम्ब रूप शुद्धचित् उक्त प्रतिबिम्ब का आश्रय और कर्ता भी है। इसलिए प्रतिबिम्ब रूप प्रकाशाश्रयत्व और प्रतिबिम्बरूप प्रकाशकर्तृत्व बिम्बरूप शुद्धचित् जो पक्ष है। उसमें चले जाने से स्वरूपासिद्धि दोष नहीं होगा। अत एव = द्वितीय और तृतीय हेतु की उक्त प्रकार से उपपत्ति हो जाने से, यह स्वप्रकाशत्व साधक अनुमान भी साधु है। अनुमान का आकार—आत्मा स्वानन्तरोत्पत्तिकप्रकाशाश्रयो न, प्रकाशाश्रयत्वात्, आदित्यवत्। स्वकाल से उत्तर काल में उत्पन्न होने वाले ज्ञान के विषय से भिन्नत्व साध्य है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय = स्व = आदित्य काल उससे उत्तर होने वाला ज्ञान = घट ज्ञान उसका विषय = घट। उससे भिन्न = आदित्य। अतः उक्त भिन्नत्व आदित्य में चला गया। प्रकाश का आश्रय = आदित्य। अतः

द्वितीयतृतीययोरसिद्धिः पररीत्या तयोरुक्तेः, प्रतिबिम्बस्य बिम्बाधीनतया तदाश्रितत्वेन बिम्बज्ञानहेतुत्वोपपत्तेश्च। अत एवात्मा स्वान्तरोत्पत्तिकप्रकाशाश्रयो न; प्रकाशाश्रयत्वादादित्यवदित्यपि साधु। न च सिद्धसाधनम्, घटादिविषयकज्ञानस्य त्वयापि जन्यत्वस्वीकारात्।।७।।

आनन्दबोधोक्तं च—विवादाध्यासिता संवित्, स्वसमानाश्रयस्वसमानकालस्वगोचरज्ञानविरहप्रयुक्त—

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रकाशाश्रयत्व रूप हेतु दृष्टान्त में चला जायेगा। पक्ष में हेतु का समन्वय विवरणकार के स्वप्रकाशत्व साधक अनुमान के द्वितीय हेतु के जैसे होगा जो स्पष्ट किया जा चुका है। (यहाँ पर यह दोष दिया जाता है कि स्व = आदित्य काल, उसके अनन्तर होने वाला आदित्य का ज्ञान, उसका विषय = आदित्य, उसका भेद आदित्य में नहीं जायेगा। अतः दृष्टान्त में साध्य वैकल्प दोष होगा। इसका समाधान यह है कि साध्य घटक प्रकाश पद से स्वीय तमोनाश हेतुक प्रकाश विवक्षित है। आदित्य में स्वीय तम (अन्धकार) होता नहीं है। अतः तादृश प्रकाश का विषय आदित्य होगा नहीं अपितु घटादि होंगे। उनका भिन्नत्व आदित्य में रहेगा। अतः दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जाने से साध्य वैकल्प दोष नहीं होगा।) इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि नित्यप्रकाश का आश्रयत्व होने से अर्थात् आत्मा का ज्ञान हमेशा रहता है। अतः आत्मा के प्रकाश के अनन्तर किसी का प्रकाश होता है— ऐसा कहा ही नहीं जा सकता है। अतः स्वानन्तर उत्पत्ति प्रकाश जब नहीं है तब उक्त प्रकाश का आश्रय भी आत्मा नहीं होगा। ऐसा पूर्वपक्षी भी मानता हैं। अतः सिद्धसाधन है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी भी आत्मा को विषय करने वाली अनुमिति ज्ञान मानते हैं। यह आत्मा विषयक अनुमिति ज्ञान घटादि ज्ञान के जैसे जन्य होता है—यह भी मानता है। अतः स्वकाल = आत्मा का नित्यज्ञान, उसके अनन्तर आत्मा विषयक जन्य अनुमिति ज्ञान। उसका विषय = आत्मा, उसका भेद पक्ष में है। अर्थात् किसी ज्ञान का विषय आत्मा नहीं है अपितु अवेद्य है यह सिद्धान्ती मानेंगे किन्तु पूर्वपक्षी नहीं मानेगा। अतः सिद्धसाधन दोष नहीं होगा।।७।।

श्री आनन्दबोधाचार्य के द्वारा कथित अनुमान भी आत्मा के स्वप्रकाशत्व में प्रमाण है—पक्ष = विवादाध्यासिता संवित् = आत्म स्वरूप संविद् (जिसका विचार चल रहा है कि वह स्वप्रकाश है या पर प्रकाश है?) इसको स्व पद से लिया जायेगा। साध्य = स्वसमानाश्रयस्वसमानकालस्वगोचरज्ञानविरहप्रयुक्तव्यवहार विरहवती न भवति = स्वसमानाश्रय और स्वसमानकाल तथा स्वगोचर जो ज्ञान तादृश ज्ञान विरह प्रयुक्त जो व्यवहार विरह तादृश व्यवहार विरहवती (आत्मस्वरूप संविद्) नहीं होती है। अर्थात् स्वगोचर जो ज्ञान तादृश ज्ञान का जो विरह तादृश विरह प्रयुक्त जो व्यवहार विरह तादृश व्यवहार विरह वाली नहीं होती है। अर्थात् स्वगोचर ज्ञान के न होने पर भी स्वगोचर व्यवहार वाली है। फलतः स्व व्यवहार में संविदन्तरानपेक्षत्वरूप (सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यत्वे सति प्रकाशत्वम्) स्वप्रकाशत्व की सिद्धि हो जाती है। साध्य का विशेषण स्वसमान आश्रय क्यों दिया गया? यह विशेषण न देने पर सिद्धसाधन दोष होगा। जैसे—चैत्र का जो स्वरूप भूत ज्ञान उस ज्ञान को विषय करने वाला उसी काल में मैत्र को ज्ञान न होने पर भी चैत्र को अपने स्वरूप भूत ज्ञान का व्यवहार नहीं होता है—ऐसी बात नहीं, अर्थात् व्यवहार होता है। अतः सिद्धसाधन होगा। उस दोष के वारण के लिए स्व समान आश्रय कहा। यहाँ पर चैत्र ज्ञान का आश्रय चैत्र और मैत्र ज्ञान का आश्रय मैत्र है। अतः समान आश्रय न होने से सिद्धसाधन नहीं होगा। इसी प्रकार स्वसमानकाल न कहने पर सिद्धसाधन दोष होगा। जैसे मैत्र को जो वर्तमान में ज्ञान हो रहा है। उसी मैत्र को भूत काल में उसी वर्तमान ज्ञान को विषय करने वाला मैत्र का ऐसा कोई ज्ञान यदि नहीं होता है तो उस मैत्र को उस ज्ञान का व्यवहार

व्यवहारविरहवती न भवति, संवित्त्वादनन्तरव्यवह्रियमाणसंविद्वत्। न च– स्ववेद्यत्वेनोपपत्त्या सिद्धसाधनम्; अस्य परवेद्यताङ्गीकर्तृविषयत्वात्, स्वाविषयत्वरूपपक्षविशेषणमहिम्ना तवानभिमतपर्यवसानात्। अवेद्यत्वं

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं होता है ऐसी बात नहीं। अर्थात् मैत्र को स्वविषयक जो वर्तमान में ज्ञान हैं उस ज्ञान को विषय करने वाला पूर्व में ज्ञान होने पर भी व्यवहार नहीं होता है—ऐसी बात नहीं। अत: पूर्वकाल और वर्तमान काल को लेकर सिद्धसाधन दोष होगा। इस दोष के वारण के लिए स्वसमानकालीन कहा गया। इसी प्रकार स्वगोचर न कहने पर भी सिद्धसाधन दोष होगा। जैसे चैत्र को होने वाला अपना ज्ञान, उसका व्यवहार उसी चैत्र को उसी ज्ञान के काल में ही पटादि ज्ञान के विना अपने ज्ञान का व्यवहार नहीं होता है ऐसा नहीं है। अत: सिद्धसाधन दोष होगा। इसके वारण के लिए स्वगोचर कहा। पटादि ज्ञान स्वगोचर नहीं है। अत: सिद्धसाधन दोष नहीं होगा। दृष्टान्त = अनन्तरव्यवह्रियमाणसंवित्वत्। प्रथम व्यवसायात्मक ज्ञान (घट–ज्ञान) होता है। उसके अनन्तर अनुव्यवसायात्मक ज्ञान (घटज्ञानवानहम् इत्याकारक ज्ञान) होता है। उसके अनन्तर व्यवसाय ज्ञान विषयक व्यवहार होता है। फलत: व्यवसायानन्तरभावि जो अनुव्यवसाय तदनन्तर व्यवह्रियमाण जो आद्य व्यवसायात्मक ज्ञान यह दृष्टान्त है। दृष्टान्त में साध्य समन्वय– यहाँ पर इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि प्रथम क्षण में व्यवसाय ज्ञान होता है द्वितीय क्षण में अनुव्यवसायात्मक ज्ञान होता है। साध्य में समान काल कहा गया है। इसको ध्यान में रखकर दृष्टान्त में साध्य का समन्वय करना चाहिए। जैसे स्व = चैत्र को होने वाला व्यवसाय ज्ञान, उसी चैत्र को उसी काल में उसी व्यवसाय को विषय करने वाला अनुव्यवसाय ज्ञान के न होने पर व्यवसाय का व्यवहार नहीं होता है ऐसी बात नहीं है अपितु होता है। अत: दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो गया।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के अनुमान का भाव यह है कि आत्मस्वरूप ज्ञान दूसरे ज्ञान का विषय न होता हुआ अपने व्यवहार का हेतु बनता है। अत: स्वप्रकाश है। इस पर सिद्धसाधन दोष देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ज्ञान को यदि अपने द्वारा वेद्य माना जाय (जैसा कि माध्वमत में स्व से स्ववेद्य मानते हैं) तब भी साध्य की उपपत्ति पक्ष में हो जायेगी, क्योंकि स्ववेद्य ज्ञान दूसरे ज्ञान का विषय न होता हुआ स्वव्यवहार का हेतु बन जायेगा। अत: सिद्धसाधन दोष होगा।

समाधान–सिद्धान्ती का कथन है कि ज्ञान दूसरे ज्ञान (अनुव्यवसाय ज्ञान) के द्वारा ही वेद्य होता है—ऐसा मानने वाले तार्किकादि के प्रति ही इस अनुमान को किया गया है। तार्किकादि की दृष्टि से सिद्धसाधन दोष होता नहीं है। अत: अनुमान दोष से रहित है। स्ववेद्य ज्ञान को मानने वाले माध्व के प्रति इस अनुमान को करते समय अनुमान के पक्ष में ''स्वाविषयत्वे सति'' ऐसा विशेषण देंगे। ऐसा करने पर पक्ष का आकार होगा—अपने को विषय न करने वाला आत्मस्वरूप ज्ञान दूसरे ज्ञान का विषय न होता हुआ अपने व्यवहार का हेतु बनता है। ऐसा होने पर माध्वमतानुसार सिद्धसाधन दोष नहीं होगा, क्योंकि माध्वमतानुसार ज्ञान को स्ववेद्य मानते हैं जबकि पक्षीभूत ज्ञान स्वाविषयक कहा है। फलत: इस अनुमान से जो ज्ञान सिद्ध हुआ वह विषयक (स्ववेद्य) नहीं है और परवेद्य नहीं है। अर्थात् अवेद्य है। ज्ञान स्वरूप ब्रह्म का अवेद्यत्व श्रुति सिद्ध ही है।

शङ्का :–अवेद्यत्व को बतलाने वाली श्रुति का भाव यह है कि जैसे घटादि को सम्पूर्ण रूप से जाना है वैसे ब्रह्म को सम्पूर्ण रूप से नहीं जाता है, क्योंकि ब्रह्म अनन्त है और उसके गुण—कर्म अनन्त है। इसलिए श्रुति ने ब्रह्म को अवेद्यत्व कहा है। ब्रह्म स्वप्रकाश है। इसलिए अवेद्य है—इसलिए श्रुति ने ब्रह्म को अवेद्यत्व नहीं कहा है।

तु ब्रह्मणः श्रुतिसिद्धमेव। न च (सा) साकल्येनावेद्यत्वपरा; सङ्कोचे कारणाभावात्।।८।।

एतेन—ज्ञानतालिङ्गानुमेयत्वे 'अहं सुखी'इतिवत् अहं जानामीति अपरोक्षानुभवविरोधः, गुरुमते अयं घट इत्यस्यैव स्वविषयत्वे स्वजनकेन्द्रियसन्निकर्षाश्रयत्वप्रसङ्गः, व्यवसायानुव्यवसाययोः पार्थक्यानुभवविरोधश्च, न्यायमते अनुव्यवसायस्यापि परवेद्यत्वे ज्ञानस्य प्रत्यक्षात्मविशेषगुणत्वेन इच्छादिवदवश्यवेद्यत्वात् ज्ञानधारानुभवापत्तिः, विच्छेदे चरमस्य निष्प्रामाणिकत्वापत्तिः; सामान्यप्रत्यासत्तेरभावात्। एवञ्च व्यवसायसुखादिगोचरं

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान :—सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी के मतानुसार ब्रह्म के अनन्त गुण कर्म मान भी ले तो भी उन गुण कर्मों का ज्ञान किसी व्यक्ति को न होने पर भी उन गुण कर्मों का ज्ञान ईश्वर को होता है—ऐसा तो पूर्वपक्षी को मानना ही होगा। अन्यथा ब्रह्म सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हो पायेगा। अतः ईश्वर के स्ववेद्य हो जाने से अवेद्यत्व श्रुति की उपपत्ति पूर्वपक्षी के मत में नहीं हो पायेगी। अतः श्रुति का तात्पर्य ब्रह्म के अवेद्यत्व प्रतिपादन में ही है। साकल्येन अवेद्यता मात्र के बोधन में श्रुति का सङ्कोच करने में कोई कारण नहीं है और उक्त प्रकार से पूर्वपक्षी के मत में श्रुति की उपपत्ति भी नहीं हो पायेगी।।८।।

पूर्वपक्षी के मतानुसार ज्ञान में स्वविषयत्व (स्ववेद्यत्व) और नित्यत्व माना जाता है। जो पूर्वपक्षी के इस मत के विरोधी है भाट्टादि। उनके मतों का अनुवाद कर के पूर्वपक्षी दोष देगा और स्वमत की सिद्धि के लिए प्रमाण देगा। "एतेन निरस्तम्" ऐसा अन्वय है। सर्व प्रथम पूर्वपक्षी के मतानुसार ज्ञान में स्वविषयत्व (स्ववेद्यत्व) है। उसका विरोधी भाट्टमत है। इसलिए भाट्टमत का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि भाट्ट मतानुसार— घट घटधर्मिक घटत्व प्रकारक ज्ञान का विषय है, घटवृत्ति घटत्व प्रकारक ज्ञाततावत्त्व होने से—इस अनुमान से ज्ञान अनुमेय (परोक्ष) सिद्ध होता है। किन्तु ज्ञान को केवल अनुमेय मानने पर "अहं सुखी" यह सुख विषयक ज्ञान जैसे अपरोक्ष है वैसे ही "अहं जानामि" यह ज्ञान विषयक ज्ञान भी अपरोक्ष है—इसके साथ विरोध होगा। फलतः उक्त प्रकार से विरोध होने के कारण भाट्टमत का खण्डन हो गया। पूर्वपक्षी मतानुसार ज्ञान नित्य होता है। अतः जन्य ज्ञान मानने वाले प्राभाकर मत का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि "अयं घटः" इस जन्य ज्ञान को जन्य ज्ञान विषयक मानने पर (स्वयं प्रकाश मानने पर) स्व (ज्ञान) जनकी भूत इन्द्रिय सन्निकर्ष का आश्रय स्व (ज्ञान) को होना चाहिए। अर्थात् स्वं यदि स्वविषयकं स्यात् तर्हि स्वस्मात्पूर्वमपि स्वस्य सत्त्वं स्यात्—ऐसे प्रतिकूल तर्क के द्वारा जन्य ज्ञान में स्वविषयत्व का निराश हो जायेगा। दूसरा दोष यह है कि जन्य ज्ञान को जन्य ज्ञान का विषय मान लेने पर व्यवसाय और अनुव्यवसाय क्रम से जो दो ज्ञान होते हैं। उन दोनों ज्ञानों में जो क्रमिकत्व प्रयुक्त पार्थक्य का अनुभव हो रहा है। उससे विरोध होगा। अतः प्राभाकर मत खण्डित हो गया। न्याय मत में अनुव्यवसाय ज्ञान में स्वभिन्न ज्ञान वेद्यत्व मानने पर और ज्ञान में प्रत्यक्ष योग्य आत्म विशेष गुणत्व मानने पर जैसे आत्मा के विशेष गुण इच्छादि प्रत्यक्ष योग्य होने से वेद्य माने जाते हैं वैसे ही अनुव्यवसाय को अन्य ज्ञान से वेद्य मानना पडेगा। अन्य ज्ञान को भी अन्य ज्ञान से वेद्य मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर अनन्त ज्ञान धारा के अनुभव की आपत्ति होगी और कहीं पर ज्ञान धारा का विच्छेद मानने पर अन्तिम ज्ञान का निश्चय स्वकाल में सम्भव न होने के कारण अन्तिम ज्ञान में निष्प्रामाणिकत्व की आपत्ति होगी। सामान्य प्रत्यासत्ति से भी अन्तिम ज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि सामान्य प्रत्यासत्ति सर्वमान्य नहीं है। इस प्रकार उक्त मतों की निस्सारता के सिद्ध हो जाने पर "अहं सुखी" इस प्रकार व्यवसाय ज्ञान सुखादि को विषय करने के साथ—साथ अपने को भी विषय करता है और वह ज्ञान नित्य है—यह सिद्ध हो जाता

स्वविषयं नित्यमेव ज्ञानं सिध्यति। स्वविषयतायां च न स्वजनकसन्निकर्षाद्यपेक्षा सन्निकर्षाद्यनपेक्षेश्वर–सर्वविषयनित्यज्ञानवत्।।९।।

तथा चैवं प्रयोगः–चैत्रसुखदुःखादिकं, चैत्रीयनित्यापरोक्षज्ञानविषयः, तं प्रति ज्ञातैकसत्त्वात्, यद्यं प्रति ज्ञातैकसत् तत् तं प्रति तादृग्ज्ञानविषयः यथेश्वरप्रयत्न इति नित्यज्ञानसिद्धौ तत्, स्वविषयं, नित्यज्ञानत्वात् स्वव्यवहारे अन्यानपेक्षत्वात्, स्वसंशयादिविरोधित्वाच्च, ईश्वरज्ञानवदिति। तस्मादात्मनो नित्यगुणभूतज्ञानं स्वविषयत्वरूपस्वप्रकाशत्ववत्, आत्मापि, तद्विषयः, यावद्द्रव्यभाविना तेनाभिन्नत्वात्, मामहं जानामीत्यनुभवात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। ज्ञान को स्वविषय और नित्य मानने पर पूर्वोक्त स्वजनकेन्द्रियसन्निकर्षाश्रयत्वप्रसङ्ग की आपत्ति नहीं होगी (क्योंकि उक्त आपत्ति ज्ञान को जन्य मानने पर आ रही थी।) जैसे सर्वविषयक ईश्वरीय नित्य ज्ञान को सन्निकर्षादि की अपेक्षा नहीं होती है।।९।।

पूर्वपक्षी स्वमत की पुष्टि के लिए अनुमान प्रमाण दे रहा है–(१) चैत्रवृत्ति सुख दुःखादिक, चैत्रनिष्ठ जो नित्य तथा अपरोक्ष ज्ञान तादृशज्ञान के विषय है, चैत्र के प्रति ज्ञातैक सत्त्व होने से। जो जिसके प्रति ज्ञातैक सत् है वह उसके प्रति तन्निष्ठ नित्य अपरोक्ष ज्ञान का विषय होता है, जैसे ईश्वर का प्रयत्न। इस प्रकार से नित्यज्ञान सिद्ध हो जाने पर नित्यज्ञान में स्वविषयत्व को सिद्धि के लिए यह द्वितीय अनुमान–(२) वह नित्यज्ञान स्वविषयक है, नित्यज्ञानत्व होने से अथवा स्वव्यवहार में अन्यानपेक्षत्व होने से अथवा स्व में संशयादि का विरोधित्व होने से, ईश्वरज्ञानवत्। इसलिए आत्मा का नित्य गुणभूत जो ज्ञान है वह स्वविषयत्वरूप स्वप्रकाशत्व वाला है। आत्मा भी उसका विषय होता है क्योंकि यावद् द्रव्यभावि उस ज्ञानरूप गुण के साथ अभिन्न होता है, क्योंकि ''मुझको मैं जानता हूँ'' इत्याकारक अनुभव होता है। अर्थात् जब तक आत्मा रूप द्रव्य रहता है तब तक उसमें नित्य ज्ञान रूप गुण भी रहता है और आत्मा रूप द्रव्य नित्य ज्ञान रूप गुण से अभिन्न भी है क्योंकि ''मामहं जानामि'' इस प्रकार से आत्म विषयक ज्ञान रूप अनुभव होता है। अर्थात् माध्व मत में आत्मा का ज्ञान गुण है और ज्ञानरूप गुण आत्मा से अभिन्न होता है। इसको लक्ष्य कर तृतीय अनुमान का पक्ष रखा (३) आत्मस्वरूपा संवित् = आत्मा से अभिन्न संवित् स्वविषया है स्वजन्य व्यवहार विषयत्व होने से। जिसमें यज्जन्य व्यवहार विषयत्व रहता है, उसमें तद् विषयत्व भी रहता है, जैसे घट। अर्थात् घट में घट ज्ञान जन्य व्यवहार विषयत्व रहता है। इसलिए घट में घट ज्ञान विषयत्व भी रहता है। (४) आत्मस्वरूपा संवित् स्वविषयिणी है, स्वसमानाधिकरण स्वत्वप्रकारक स्वविशेष्यक जो संशय तादृश संशय का विरोधी होने से। अथवा स्वसमानाधिकरण स्वत्वप्रकारक स्वविशेष्यक जो विपर्यय तादृश विपर्यय का विरोधी होने से। जो यद् विशेष्यक उक्त विध संशय का विरोधी होता है अथवा तादृश यद् विशेष्यक उक्त विध विपर्यय का विरोधी होता है वह तद् विषयक होता है, जैसे घट संवित्। पदकृत्य विचार–आत्मा अस्ति न वा–इत्याकारक जो सत्त्वप्रकारक आत्मधर्मिक संशय तादृश संशय विरोधित्व आत्मस्वरूप संवित् में है किन्तु आत्मस्वरूपसंवित् के पटादि धार्मिक संशय का विरोधित्व न होने से असिद्धि हो जायेगी। इस दोष के वारण के लिए स्वविशेष्यकत्व संशयांश में विशेषण दिया गया। आत्मा आनन्द रूपो न वा–इत्याकारक जो संशय उसके आत्मधर्मिक होने पर भी आत्मरूप संवित् में तद् विरोधित्व नहीं है। इसलिए सत्त्व प्रकारकत्व विशेषण संशयांश में दिया गया है। सत्त्वप्रकारक और आत्म धार्मिक जो पुरुषान्तरीय संशय है अथवा स्वनिष्ठ ही जो तादृश भिन्नकालिक संशय है तद् विरोधित्व के अभाव होने से स्वसमानाधिकरण रूप संशयांश में विशेषण दिया गया है। इसी प्रकार ''मैं

आत्मस्वरूपा संवित्, स्वविषया, स्वजन्यव्यवहारविषयत्वात्, उक्ता संवित्, स्वविषयिणी, स्वसमानाधिकरणस्वत्वप्रकारकस्वविशेष्यकसंशयविरोधित्वात् उक्तविशेषणवद्विपर्ययविरोधित्वाद्वेति—निरस्तम्।।१०।।

आद्यानुमाने साक्षिरूपापरोक्षनित्यज्ञानविषयत्वेन सिद्धसाधनम्, सहोत्पन्नज्ञानेनापि ज्ञातैकसत्त्वोपपत्त्या ज्ञानगतनित्यतापर्यन्तसाधने तस्यासामर्थ्यं च। न च चैत्रस्य तादृग्ज्ञानाभावे सुप्तोत्थितस्य परामर्शानुपपत्तिः; संस्कारेण तदुपपत्तेः, नित्यज्ञानस्य परामर्शविरोधित्वाच्च। स्वविषयत्वानुमाने च दृष्टान्तासिद्धिः; ईश्वरेऽपि स्वविषयकनित्यज्ञानासिद्धेः अप्रयोजकत्वञ्च। स्वाविषयत्वेऽपि व्यवहारादेरुपपादितत्वात्। किञ्च चैत्रनित्यज्ञानस्य स्वविषयत्वे नैकं नियामकम्; ईश्वरज्ञानस्य न्यायमते वस्तुत्ववत् सर्वविषयत्वोपपत्तेः, नाप्यभेदः; दुःखादावभावात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं हूँ'' इत्याकारक विपर्यय में भी उक्त प्रकार से विपर्यय को लेकर आने वाले असिद्धि आदि दोषों के वारण के लिए विपर्ययांश में उक्त विशेषण दिये गये हैं।।१०।।

समाधान :— पूर्वपक्षी का उक्त कथन निरस्त इसलिए हो जाता है कि चैत्र सुख दुःखादि पक्षक प्रथम अनुमान में साक्षिरूप अपरोक्ष नित्य ज्ञान की विषयता को लेकर सिद्धसाधनदोष है। दूसरी बात यह है कि जिस काल में सुखादि उत्पन्न होते हैं, उसी काल में उत्पन्न जन्य ज्ञान का विषय सुखादि को मानने पर भी हेतु (ज्ञातैक सत्त्व) की उपपत्ति पक्ष (सुखादि) में हो जाती है—ऐसा प्रतिकूल तर्क के द्वारा आद्यानुमान खण्डित हो जाने से ज्ञानगत नित्यत्व साधन में सामर्थ्य उक्त हेतु में नहीं है। चैत्र को नित्यज्ञान का अभाव मानने पर सुप्तोत्थित पुरुष को स्वप्न में प्रत्यक्ष जनक इन्द्रिय सन्निकर्षादि के अभाव होने से ''स्वप्ने मया गजादिकं दृष्टम्'' इत्याकारक स्मरण की अनुपपत्ति होगी—ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जन्य ज्ञान जन्य संस्कार से परामर्श की उपपत्ति हो जायेगी। दूसरी बात यह है कि नित्यज्ञान स्मरण का विरोधी होता है, क्योंकि ज्ञान का नाश होने पर संस्कार उत्पन्न होता है और उस संस्कार से स्मरण होता है किन्तु जब नित्य ज्ञान का नाश ही नहीं होगा तब संस्कार की उत्पत्ति ही नहीं होगी और संस्कार के न रहने पर स्मरण भी नहीं होगा। इस प्रकार से नित्यज्ञान स्मरण का विरोधी होता है। स्वविषयत्व साधक द्वितीय अनुमान में दृष्टान्तासिद्धि है, क्योंकि ईश्वर में स्वविषयक जो नित्यज्ञान तादृश ज्ञान की असिद्धि है। अर्थात् ईश्वर ज्ञान सिद्धान्त मत में ईश्वर स्वरूप ही है अथवा माया वृत्त्यवच्छिन्न चिद्रूप है। प्रथम पक्ष में ईश्वर स्वरूप ज्ञान का विषय ईश्वर से भिन्न ही होगा। द्वितीय पक्ष में भी सर्वविषया एक वृत्ति नही हैं अपितु भावि पदार्थों की अनुमिति रूपा वृत्ति है और भूत पदार्थों की स्मृति रूपा वृत्ति है और वर्तमान पदार्थों की प्रत्यक्ष रूपा वृत्ति है। उक्त वृत्तियों के स्वविषयकत्व न होने पर भी अन्यवृत्तियों से ही उनका ग्रहण होता है—यह भाव है। इस अनुमान के हेतु में अप्रयोजकत्व दोष भी हैं, क्योंकि स्वविषयकत्व के न होने पर भी व्यवहारादि का उपपादन ''अनुभूतेः स्वप्रकाशत्वविचारः'' के खण्ड संख्या ११ में किया जा चुका है। किञ्च चैत्र का जो नित्यज्ञान है। उस नित्य ज्ञान की स्वविषयता में कोई एक ही नियामक नहीं है। न्याय मत में ईश्वर ज्ञान में वस्तुत्व के समान सर्वविषयत्व की उपपत्ति होती है। अर्थात् वस्तुत्व जो अपने में रहता है उसके लिए नियामक है = वह सबमें रहता है। अतः जब सब में रहता है, इसलिए अपने भी रहता है वैसे ही ईश्वर ज्ञान जो स्वविषयक है। उसके लिए नियामक नित्य ज्ञानत्व को नहीं माना जा सकता है अपितु सर्वविषयत्व को ही नियामक माना जायेगा। (अतः द्वितीय अनुमान में ''नित्य ज्ञानत्वात्'' जो हेतु दिया था वह स्वविषयत्व का नियामक नहीं हो सकता है।) इसी प्रकार नित्यज्ञान उसको विषय करता है जिसके साथ नित्यज्ञान का अभेद हो— इस व्याप्ति के बल पर नित्य ज्ञान का आत्मा से अभेद होने के कारण नित्य

नापि समानाधिकरणत्वम्, आत्मन्यभावात्, धर्मादौ तत्सद्भावाच्चेत्यननुगतमेव वाच्यम्। तथा च किमपराद्धं व्यवसायस्वप्रकाशत्ववादिना गुरुणा? अन्यत्र सन्निकर्षस्य नियामकत्वेऽपि स्वस्मिन्नभेदस्य सम्भवात्, पार्थक्यानुभवाननुभवरूपस्यानुभवकलहस्य त्वन्मतसमानत्वात्। तस्माद्व्यवहार एवाननुगतं कारणमस्तु। तत्प्रयोजकानुगमार्थं किमिति निर्बन्धः? पश्चादप्यननुगम एव पर्यवसानात्। एवञ्च न स्वविषयत्वरूपं स्वप्रकाशत्वं, किन्त्ववेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वमिति सिद्धम्।।११।।

इत्यद्वैतसिद्धौ आत्मनः स्वप्रकाशत्वोपपत्तिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

ज्ञान में स्व विषयता है– यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि नित्यज्ञान दुःखादि को भी विषय करता है किन्तु दुःखादि में नित्यज्ञान का अभेद कोई भी नहीं मानता है। नित्यज्ञान उसको विषय करता है जिसके साथ नित्यज्ञान का समानाधिकरण हो– ऐसा भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि नित्यज्ञान आत्मा को भी विषय करता है किन्तु आत्मा के साथ नित्य ज्ञान का सामानाधिकरण नहीं है अपितु नित्यज्ञान ज्ञान का अविषयीभूत धर्मादि के साथ ज्ञान का समानाधिकरण है। अतः चैत्र नित्य ज्ञान निष्ठ (स्वनिष्ठ) चैत्र ज्ञान विषयत्व में स्वाभेद नियामक है, दुःखादि निष्ठ चैत्र नित्य ज्ञान विषयत्व में दुःख समानाधिकरण नियामक है– इस प्रकार अननुगत पदार्थों को ही स्वविषयता का नियामक मानना होगा। स्वविषयता का नियामक पूर्वपक्षी के मत अननुगत पदार्थ ही है तब व्यवसाय ज्ञान को स्व प्रकाश मानने वाले प्राभाकर के पक्ष में भी कोई दोष नहीं होगा, क्योंकि ज्ञान से भिन्न घटादि स्थल पर ज्ञान विषयता का नियामक सन्निकर्षादि होगा और स्व में अभेद को स्वविषयता का नियामक मानना सम्भव है। व्यवसाय और अनुव्यवसाय में पार्थक्य यद्यपि गुरुमत में नही हैं किन्तु पूर्वपक्षी के मत में भी ज्ञान स्ववेद्य होने से उक्त पार्थक्य नहीं माना जाता है। अतः व्यवसाय और अनुव्यवसाय का पृथक् अनुभव इन दोनों के मतों में समान रूप से नहीं होता है। इसलिए जिसमें स्वविषयत्व का व्यवहार होता है वही स्वविषय है–इस प्रकार से व्यवहार में ही अननुगत कारणता मान लेना उचित है। प्रयोजक के अनुगत का आग्रह करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अनुगम के न मिलने पर ही अननुगम प्रयोजक को मानना पड़ रहा है। अतः स्वविषयत्व रूप स्वप्रकाशत्व सिद्ध नहीं होता है। अपितु अवेद्यत्व विशिष्ट अपरोक्ष व्यवहारयोग्यत्व ही स्वप्रकाशत्व है–यह सिद्ध हो गया।।११।।

—ःइति सत्यानन्दप्रबोधिकायामात्मनः स्वप्रकाशत्वोपपत्तिः—

१४— ब्रह्मणः शब्दावाच्यत्वविचारः

निर्धर्मकतया अवेद्यतया च ब्रह्म आनन्दादिपदलक्ष्यम्, न वाच्यम्, प्रवृत्तिनिमित्ताभावादिति। ननु—अवाच्यशब्देनोच्यते चेत्, वाच्यत्वसिद्धिः, लक्ष्यते चेत्, अवाच्यरूपमुख्यार्थस्याभावात् कथं लक्षणा? भावे वा ब्रह्म नावाच्यं, किन्तु तीरवदवाच्यरूपमुख्यार्थसम्बन्धिमात्रमिति स्यात्। मुख्यार्थहीनस्यापि ब्रह्मलक्षकत्वे घटपदमपि घटलक्षकं स्यादिति—चेन्न, अवाच्यरूपमुख्यार्थाभावेऽपि नञ्समभिव्याहृतवाच्यशब्देन वाच्यत्वात्यन्ताभावबोधनद्वारा स्वरूपे लक्षणयैव पर्यवसानात्। एवं निर्विशेषपदमपि; अखण्डपदलक्षकतायामेव

सत्यानन्दप्रबोधिका

ब्रह्म निर्धर्मक और अवेद्य (शक्ति ज्ञान सहकृत प्रमाण से अवेद्य) होने से आनन्दादि पदों का लक्ष्य होता है वाच्य नहीं, क्योंकि ब्रह्म में प्रवृत्ति निमित्त= पद वाच्यतावच्छेदक (शक्यतावच्छेदक) जाति सम्बन्ध—गुण—कर्मादि का अभाव है। अर्थात् किञ्चित् धर्मावच्छेदेन ही शक्ति ग्रह का नियम है किन्तु ब्रह्म में शक्यतावच्छेदेकरूप धर्म ही नहीं है। यह भाव है।

शङ्का— अवाच्य शब्द से यदि ब्रह्म कहा जाता है तब ब्रह्म में अवाच्य शब्द के वाच्यता की सिद्धि हो जायेगी। अवाच्य शब्द से यदि ब्रह्म लक्षित होता है —ऐसा यदि कहा जाता है तब प्रश्न होगा कि अवाच्यशब्द का कोई मुख्यार्थ नहीं है? अथवा है? यदि अवाच्य शब्द का कोई मुख्यार्थ नहीं है तब शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणा नहीं हो पायेगी। यदि अवाच्य शब्द का मुख्यार्थ है तो वही अवाच्य कहलायेगा और उसका सम्बन्धी केवल ब्रह्म होगा। जैसे तीर से भिन्न गङ्गा शब्द के मुख्यार्थ रूप प्रवाह का अस्तित्व होने से तीर मुख्यार्थ का सम्बन्धिमात्र है अर्थात् तीर में गङ्गात्व नहीं है। ठीक ऐसे ही ब्रह्म अतिरिक्त अवाच्यरूप मुख्यार्थ का सद्भाव होने पर ब्रह्म उसका सम्बन्धित मात्र सिद्ध होगा न कि अवाच्य। मुख्यार्थ से रहित अवाच्य पद को यदि ब्रह्म का लक्षक माना जाता है तब घट पद को भी घट का लक्षक मानने की आपत्ति होगी। कहने का भाव यह है कि जैसे अवाच्य पद का कोई मुख्यार्थ न होने पर भी अवाच्य पद लक्षणा से ब्रह्म का बोधन कराता है वैसे ही घट पद भी लक्षणा के द्वारा घट पदार्थ का बोधन करा देगा। इस पर यदि कोई पूछे कि घट पदार्थ यदि घट पद का लक्ष्य है तो घट पद का वाच्यार्थ कौन होगा? उसका उत्तर यह है कि जैसे अवाच्य पद का मुख्यार्थ नहीं होता है वैसे ही घट पद का मुख्यार्थ नहीं होता है।

समाधान— ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अवाच्य पद का अवाच्य रूप शक्यार्थ (मुख्यार्थ) का अभाव होने पर भी नञ् के साथ पठित वाच्य शब्द से वाच्यत्व का जो अत्यन्ताभाव बोधन होता है, उसके माध्यम से ब्रह्म स्वरूप मात्र में लक्षणा पर्यवसित हो जायेगी। चन्द्रिका में ऐसी व्युत्पत्ति है—वाच्यत्वस्यात्यन्ताभावो यत् इति व्युत्पत्त्या वाच्यभेदेत्यर्थः। अर्थात् वाच्यत्व का अत्यन्ताभाव है) जिसमें ऐसी व्युत्पत्ति से अर्थ होगा—वाच्य भेद। अर्थात् अवाच्य जब एक पद मानेंगे तब उसका कोई मुख्यार्थ नहीं होने पर भी जब नञ्+वाच्य ऐसे दो पदों का समुदाय मानेंगे तब उस समुदाय का मुख्यार्थ = वाच्य भेद। अवाच्य पद वाच्यभेद रूप अर्थ को द्वार के रूप से बोधन करा के फिर लक्षणा के द्वारा ब्रह्मस्वरूप मात्र का बोधन करायेगा। निर्विशेष पद का भी अवाच्य पद के जैसे मुख्यार्थ नहीं है किन्तु वह दो पदों का समुदाय रूप है। दो पदों के समुदाय के अर्थ को द्वार के रूप से बोधन करा के फिर लक्षणा के द्वारा ब्रह्मस्वरूप मात्र का बोधन करायेगा। जहाँ अखण्ड पद (असमस्त पद) तीर आदि लक्षणा के द्वारा गङ्गादि अर्थ का बोधन कराते हैं वहाँ पर उस अखण्ड तीर आदि पद का मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) होना आवश्यक है, किन्तु अवाच्यादि सखण्ड (दो पदों का समुदाय अर्थात् समस्त पद) में यह नियम नहीं है।

मुख्यार्थावश्यम्भावनियमात्। ननु—एवं लक्ष्यपदेनापि लक्ष्यत्वे तीरस्यागङ्गात्ववत् ब्रह्मणोऽलक्ष्यत्वापत्तिरिति—चेन्न; इष्टत्वात्, सर्वथा निर्धर्मकत्वात्, लक्ष्यव्यवहारस्य च वाच्यत्वाभावनिबन्धनत्वात्, तथा प्रतिपादितं प्राक्।१॥

नचैवं लक्ष्यत्वाभावेन वाच्यत्वव्यवहारप्रसङ्गः, गौणस्य तस्यापीष्टत्वात्, सत्यज्ञानादिपदानां च कल्पितधर्मवाचिनां ब्रह्मरूपव्यक्तिलक्षकतयाऽखण्डार्थत्वानपायात्। न च—सत्त्वादिधर्माश्रयतया लक्ष्यत्वाभावे मञ्चसम्बन्धित्वमात्रेण लक्ष्यस्य पुंसः अमञ्चत्ववत् सत्त्वादिसम्बन्धित्वमात्रेण लक्ष्यस्य ब्रह्मणः

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि पूर्वास्त कथनानुसार फलितार्थ यह हुआ कि ''अवाच्य पद का लक्ष्य ब्रह्म है'' किन्तु इस वाक्य के घटक लक्ष्य पद यदि शक्ति वृत्ति से ब्रह्म का बोधन कराता है तब तो लक्ष्य पद का वाच्य ब्रह्म हो जायेगा। ऐसा होने पर ब्रह्म को अवाच्य नहीं माना जा सकेगा। यदि लक्ष्य पद ब्रह्म का लक्षणावृत्ति से बोधन कराता है तब ब्रह्म लक्ष्य नहीं हो पायेगा क्योंकि तीर का अर्थ (तट) प्रवाह रूप गङ्गा अर्थ से भिन्न होता है। अत: ब्रह्म भी लक्ष्य के अर्थ से भिन्न अलक्ष्य हो जायेगा। ऐसा होने पर अवाच्य पद का लक्ष्य ब्रह्म है—यह नहीं कहा जा सकता है।

समाधान—सिद्धान्ती का कथन है कि लक्ष्यत्वविशिष्टत्त्वेन लक्ष्यत्व का अभाव ब्रह्म में अभीष्ट है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म निर्धर्मक होने के कारण लक्ष्यत्वादि धर्मों का भी आधार नहीं बन सकता है। ''अवाच्य पद का लक्ष्य ब्रह्म है।'' इस प्रकार से ब्रह्म में जो लक्ष्यत्व का व्यवहार होता है, वह वाच्यत्वाभाव के कारण होता है—इसका प्रतिपादन पहले किया जा चुका है।१॥

शङ्का— पूर्वपक्षी इस भाव से शङ्का कर रहा है कि पद का वाच्यार्थ होता है या लक्ष्यार्थ होता है। यदि ''लक्ष्य ब्रह्म'' इस स्थल पर ब्रह्म में यदि लक्ष्यता नहीं है तब उसमें वाच्यत्व के व्यवहार का प्रसङ्ग आयेगा।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी के कथन में हमें इष्टापत्ति है क्योंकि गौण रूप से वाच्यत्व का व्यवहार ब्रह्म में हम मानते हैं, मुख्य रूप से नहीं। सत्यादि पद का ब्रह्म में कल्पित सत्यत्व ज्ञानत्व आदि धर्म ही वाच्य है। इसलिए गौण रूप से ब्रह्म को वाच्य कह सकते हैं किन्तु मुख्य रूप से वाच्य नहीं है, क्योंकि सत्यादि पद ब्रह्म रूप व्यक्ति का लक्षक है। इसलिए सत्यादि पद अखण्डार्थक (अखण्डो अर्थो यस्य) माने जाते हैं।

शङ्का— सत्यत्व धर्म के आश्रय के रूप से ब्रह्म लक्ष्य नहीं है— ऐसा मानने पर ब्रह्म सत्यत्व ज्ञानत्वादि का सम्बन्धिमात्र होगा न कि ब्रह्म सत्य होगा। अर्थात् ब्रह्म में असत्त्वादि के मानने की आपत्ति आयेगी। जैसे ''मञ्चः क्रोशति'' यहाँ पर मञ्चत्व रूप धर्म आश्रयत्वेन पुरुष लक्ष्य नहीं है किन्तु मञ्च सम्बन्धित्व मात्र से लक्ष्य है। इसलिये पुरुष में अमञ्चत्व माना जाता है।

समाधान— जहाँ पर एक चन्द्रमा में दूसरा प्रातिभासिक चन्द्रमा दिखाई दे रहा है। ऐसे स्थल को ध्यान में रखकर कहा जा रहा है कि कल्पित है चन्द्रत्वादि रूप जाति जिसमें ऐसा जो प्रातिभासिक चन्द्रादि तादृश प्रातिभासिक चन्द्रादि में वास्तविक चन्द्र व्यक्ति का तादात्म्य रहने के कारण जैसे उसमें अचन्द्रत्व नहीं मानते हैं। अर्थात् चन्द्रत्व जाति मानते हैं वैसे ही कल्पित सत्यत्वादि विशिष्ट ब्रह्म के साथ शुद्ध ब्रह्म का तादात्म्य रहने से शुद्ध ब्रह्म में सत्यत्व के अभाव की आपत्ति नहीं दे सकते हैं। कहने का भाव यह है कि सत्यत्वादि का आश्रय रूप जो कल्पित धर्मी (विशिष्ट ब्रह्म) है। वह परमार्थ सद्रूप ब्रह्म में कल्पित होने से शुद्ध ब्रह्म में भी सत्यत्वादि के आश्रयत्व का व्यवहार हो जाता है। वस्तुत: उसमें सत्यत्वादि का आश्रयत्व नहीं है किन्तु त्रिकालाबाध्यत्व सद्रूपत्व है। इसलिये कहा गया है कि ''लक्ष्यव्यक्तिरपि ब्रह्म सत्तादि न जहाति

असत्त्वाद्यापत्तिरिति–वाच्यम्; कल्पितचन्द्रत्वादिजातेः परमार्थचन्द्रादिव्यक्तितादात्म्येनाचन्द्रत्वाभाववदत्रापि सत्वाद्यभावानापत्तेः। तदुक्तं 'लक्ष्यव्यक्तिरपि ब्रह्म'इति। अतएव–स्वप्रकाशादेरब्रह्मत्वे यद्यत् ब्रह्मतयेष्टं, तत्तद्ब्रह्मेति साधु समर्थितो ब्रह्मवाद इति–निरस्तम्।।२।।

यत्तु निर्विशेषादिपदानां समासपदतया लक्ष्यादिपदानां च यौगिकतया वाक्यतुल्यत्वान्न वाचकतेति वक्तुमशक्यम्, अन्विताभिधानपक्षे तेषामपि वाचकत्वात्, अभिहितान्वयपक्षेऽपि वाक्य एवाभिहितान्वयस्वीकारेण प्रकृतिप्रत्यययोरन्विताभिधायकत्वात्, वाक्यतुल्यस्यापि वाचकत्वात् ब्रह्मणः पदार्थसंसर्गरूपत्वे सखण्डत्वापत्त्या

सत्यानन्दप्रबोधिका

नः।'' (हमारे मत में लक्ष्य ब्रह्म व्यक्ति सत्यत्वादि से रहित नहीं होता है।) अत एव= स्वप्रकाशत्व का आश्रयीभूत कल्पित व्यक्ति का तादात्म्य शुद्ध ब्रह्म में रहने से ही पूर्वपक्षी का यह कथन निरस्त हो गया कि निर्विशेष निराकार स्वप्रकाश निर्गुण जो भी व्यक्ति ब्रह्म रूप से अद्वैतवादी को इष्ट है। उसमें स्वप्रकाशत्व निर्विशेषत्व निराकारत्व निर्गुणत्व आदि का आश्रयत्व यदि नहीं है तब निर्विशेषादि व्यक्ति ब्रह्म हो नहीं सकता। अर्थात् निर्विशेष निराकार निर्गुण कोई भी ब्रह्म नहीं हो पायेगा। ऐसा आपने ब्रह्मवाद का समर्थन बहुत ही अच्छे प्रकार से किया। अर्थात् इससे ब्रह्मवाद का समर्थन न होकर ब्रह्मवाद का खण्डन ही हो गया। ऐसा कथन इसलिये निरस्त हो गया कि पूर्वोक्य प्रकार से सिद्ध कर दिया गया कि शुद्ध ब्रह्म में सत्यत्वादि माना ही जाता है।।२।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि निर्विशेष निराकारादि पदों के समासपदत्व होने से और लक्ष्यादि पदों के यौगिकत्व होने से वाक्य तुल्य हैं। पद को ही वाचक कहते हैं, पद समुदाय को नहीं। अतः निर्विशेष लक्ष्यादि पदों में वाचकता नहीं मानी जा सकती है। अर्थात् इनको केवल लक्ष्यक ही माना जा सकता है–ऐसा सिद्धान्ती का कथन उचित नहीं है, क्योंकि अन्विताभिधान वादी प्राभाकर के मत में समास पद हो या यौगिक पद हो या रजतादि रूढ़ि पद हो। वाक्य में आये सभी पद अपने–अपने वाच्यार्थो के पारस्परिक अन्वय (सम्बन्ध) जिसको वाक्यार्थ कहते हैं। उसको शक्ति वृत्ति के द्वारा बोधन कराता है। अर्थात् पद ही साक्षात् शक्ति वृत्ति के द्वारा वाक्यार्थ का बोधन कराता है। (कहने का भाव यह है कि अन्विताभिधान का घटक अन्वित = घट पद केवल अपने अर्थ का बोधन नहीं कराता है किन्तु घट के अर्थ से सम्बन्धित होने के योग्य जो आनयनादि पदार्थ हैं। उससे अन्वित स्वार्थ (घट के अर्थ का) बोधन कराता है और यही वाक्यार्थ है, क्योंकि वाच्यार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध को ही वाक्यार्थ कहते हैं।) इस प्रकार से वाक्यतुल्य होने पर भी समासादि पदों को वाचक माना ही जाता है। अभिहितान्वय पक्ष में भी ''घटमानय'' इत्यादि वाक्य स्थल पर अभिहित अन्वय स्वीकार होने से प्रकृति प्रत्यय के द्वारा कथित जो घट कर्मत्वादि रूप जो अर्थ वह पद से बोधित होता है। इसके पश्चात् पदों के द्वारा अभिहित सभी पदार्थ मिलकर लक्षणावृत्ति के द्वारा पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध (वाक्यार्थ) को बोधन कराते हैं। अतः वाक्य तुल्य होने पर भी समासादि पदों को वाचक माना ही जा सकता है। अतः सिद्धान्ती ने जो कहा था कि समासादि पद वाक्य तुल्य होने से वाचक नहीं हो सकते। उसका खण्डन हो गया, क्योंकि उक्त प्रकार से वाक्य भी वाचक होता है। यदि सत्य ज्ञान अनन्त आदि पदों के पारस्परिक सम्बन्ध को ब्रह्म कहते हैं तब पदार्थ संसर्ग रूपत्व होने से सखण्डत्व की आपत्ति होगी। यदि ब्रह्म पद का अर्थ ही ब्रह्म है तब तो ब्रह्म पदार्थ वाच्यार्थ होगा न कि लक्ष्यार्थ।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म रूप अर्थ सत्यादि पदों का लक्ष्य होने पर भी अपदार्थत्व = पद के अवाच्यार्थत्व की उपपत्ति हो जायेगी। अर्थात् ब्रह्म रूप अर्थ किसी पद का वाच्यार्थ

पदार्थत्वे वाच्यत्वापरिहारादिति, तन्न; पद लक्ष्यत्वेऽप्यपदार्थत्वोपपत्तेः, अखण्डत्वेऽपि वाक्यार्थत्वस्योपपादितत्वा–दन्विताभिधाने अन्वितवाचकस्यापि स्वरूपे लक्षणाङ्गीकारात्।।३।।

न च तर्ह्यवाच्यत्वासिद्धिः, अखण्डब्रह्मसिध्युपायत्वेन प्राप्तस्यावाच्यत्वादेः निवारकाभावेनानुषङ्गिकतया सिद्धेः। 'यतो वाचो निवर्त्तन्त' 'अशब्दमस्पशम्'इत्यादिश्रुतयश्चात्रानुसन्धेयाः, अवाच्यशब्दवदशब्दशब्देऽपि व्याघाताभावात्। न चेयं श्रुतिरद्भुतत्वाभिप्राया; श्रूयमाणार्थत्वे बाधकाभावात्। न च–'यतो वाच' इत्यत्रापि मनसा सहेति श्रुतमनोवृत्तेरिवान्तःकरणवृत्तिव्याप्ये ब्रह्मणि वाग्वृत्तेरपि सर्वथा निषेधायोगः; लक्षणायाः स्वीकारेण

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं है– इसकी सिद्धि हो जायेगी। ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तै०उ० २–१–१) इस वाक्य का अर्थ केवल एक अखण्ड ब्रह्म हो तो भी उस अखण्ड ब्रह्म रूप अर्थ को वाक्यार्थ माना जा सकता है। इसका उपपादन ''सत्यादीनामखण्डार्थत्वेऽनुमानविचारः'' के खण्ड संख्या–३६ में किया जा चुका है। ''घटमानय'' इस वाक्य में आया हुआ घट पद शक्ति वृत्ति के द्वारा आनयन पदार्थ से अन्वित घट पदार्थ का यद्यपि बोधन कराता है तथापि जहाँ कोई वाक्य का प्रयोग न हुआ हो केवल घट पद का प्रयोग किया गया हो, वहाँ पर घट पद शुद्ध अपने अर्थ (कम्बुग्रीवादिमान्) को लक्षणा वृत्ति से बोध कराता है। इस प्रकार यदि सिद्धान्त मत में सत्यादि पद लक्षणा वृत्ति से अखण्ड ब्रह्म रूप अर्थ का बोधन कराता है तो अन्विताभिधान वाद से सिद्धान्त मत का कोई विरोध नहीं है।।३।।

शङ्का– तर्हि= वेदान्त वाक्य से जन्य शाब्द बोध का विषय शुद्ध ब्रह्म (अखण्डार्थ) होने पर ब्रह्म वाच्य हो गया, अवाच्य की असिद्धि हो गयी।

समाधान– ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वेदान्त वाक्य से अखण्ड ब्रह्म की सिद्धि तो पर्यवसित अर्थ के रूप से होती है किन्तु उस पर्यवसित अर्थ के पहले अखण्ड ब्रह्म की सिद्धि के उपाय के रूप से (द्वार के रूप से) एक द्वार भूत अर्थ=ब्रह्म में अवाच्यत्व है–इसका बोधन ''यतो वाचो निवर्तन्ते'' (तै०उ० २–४–१) से होता है। अखण्ड ब्रह्म की सिद्धि का साधन होने के कारण प्राप्त अवाच्यत्वादि का कोई बाधक नहीं है। किन्तु द्वारीभूत अर्थ (ब्रह्म में अवाच्यत्व है) को बतलाने में उक्त श्रुति का तात्पर्य न होने पर भी देवताधिकरण न्याय के बल पर ब्रह्म में अवाच्यत्व की सिद्धि हो जाती है। ''यतो वाचो निवर्तन्ते'' (तै०उ० २–४–१) ''अशब्दमस्पर्शम्'' (क०उ० १–३–१५) इत्यादि श्रुतियां भी ब्रह्म के अवाच्यत्वादि में अनुसन्धेय हैं। शङ्का यह होती है कि ब्रह्म यदि अशब्द इस शब्द के द्वारा बोध्य है तब तो ब्रह्म अशब्द शब्द का वाच्य हो गया, अवाच्य नहीं रहा। फलतः सिद्धान्ती पहले ब्रह्म को अवाच्य कह रहे हैं और पश्चात् वाच्य सिद्ध होने से व्याघात दोष होगा। इसका उत्तर देते हुये कह रहे हैं कि अवाच्य शब्द के जैसे अशब्द शब्द भी शक्ति वृत्ति के द्वारा ब्रह्म के अवाच्यत्व का द्वारभूत अर्थ के रूप से बोधन कराकर पर्यवसित अर्थ के रूप से शुद्ध ब्रह्म का बोध कराता है। अतः कोई दोष नहीं है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्रह्म अद्भुत है–इसलिए उक्त श्रुतियों ने उसे अवाच्य तथा अशब्द कह दिया है। अतः उक्त श्रुतियां अद्भुतत्व अभिप्राय वाली है न कि अखण्डार्थक ब्रह्म की बोधिका हैं।

समाधान– ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त श्रुतियों को मुख्यार्थक मानने में कोई बाधक नहीं है। अतः मुख्यार्थ (अखण्डार्थ) का त्याग कर के गौणार्थ (ब्रह्मगत अद्भुतत्व) को नहीं लिया जा सकता है।

शङ्का– ''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'' (तै०उ० २–४–१) इस श्रुति में ''अप्राप्य मनसा सह'' के द्वारा ब्रह्म में मनोवृत्ति का निषेध किया गया है किन्तु वह सभी प्रकार की मनोवृत्तियों का जैसे

शक्तिमात्रस्यैव निराकरणात्। (लक्षणया अप्यनङ्गीकारे यथा श्रुतस्यैवोपपत्तेश्च।) न च—आनन्दाद्यनेक—पदामुख्यार्थत्वापेक्षया निवर्तन्त इत्येकपदार्थामुख्यत्वमेव युक्तमिति—वाच्यम्; ब्रह्मणो निर्धर्मकतया तत्र शक्त्यभावेन बहुत्वस्याप्रयोजकत्वाद्वाच्यत्वविरोध्यर्थद्वारैवाखण्डार्थपरतया तद्विरोधतादवस्थ्यात्।।४।।

अत एव कस्मादुच्यते परं ब्रह्मेत्यादिश्रुतेः परमात्मेति चाप्युक्त इत्यादिस्मृतेश्च तत्तच्छब्दबोध्यत्वमात्रेण वाच्यत्वाभिलापः, न तु शक्यत्वाभिप्रायेणेति ताभ्यां न विरोधः। तात्पर्य्यविषयो ब्रह्म वाच्यं वस्तुत्वाल्लक्ष्यत्वाच्च

सत्यानन्दप्रबोधिका

निषेध नहीं है अपितु अशुद्ध मनोवृत्तियों का निषेध किया गया है और अन्तःकरण वृत्तिव्याप्य=शुद्ध मनोवृत्ति व्याप्य ब्रह्म है—ऐसा सिद्धान्ती के द्वारा माना गया है। वैसे ही ''यतो वाचो'' इत्यादि जो निषेध वह भी सभी वाग्वृत्तियों का निषेध नहीं किन्तु प्राकृत वाग्वृत्ति का ही निषेध किया गया है—ऐसा सिद्धान्ती को मानना चाहिए।

समाधान— ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि पूर्वपक्षी के जैसे ही हम भी ब्रह्म में सर्वथा बाग्वृत्ति का निषेध नहीं मानते हैं क्योंकि लक्षणा वृत्ति के स्वीकार होने से लक्षणा वृत्ति के द्वारा वाग् जन्य वृत्ति का विषय ब्रह्म है—ऐसा सिद्धान्त मत में माना जाता है। अतः शक्तिवृत्ति के द्वारा वाग्जन्य वृत्ति का ही निषेध श्रुति से किया गया है। लक्षणावृत्ति को भी अङ्गीकार न करने पर यथाश्रुत अर्थ को लेने पर भी सिद्धान्त मत की उपपत्ति हो जायेगी।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने ''निवर्तन्ते'' इस एक पद के मुख्यार्थ को ग्रहण करने के लिए आनन्द आदि अनेक पदों के मुख्यार्थ = आनन्दत्व विशिष्ट आदि अर्थ को परित्याग कर दिया। इसकी अपेक्षा ''निवर्तन्ते'' एक पद का मुख्यार्थ का परित्याग कर के ''साकल्येन प्रतिपादनात् निवर्तन्ते'' (सम्पूर्ण ब्रह्म का प्रतिपादन करने में वाणी आदि समर्थ नहीं होती है) ऐसा अमुख्यार्थ लेना ही उचित है।

समाधान—सिद्धान्ती का कथन है कि निर्धर्मक ब्रह्म में ही श्रुति का मुख्य तात्पर्य है। तात्पर्य विषयीभूत शुद्ध ब्रह्म का बोध शक्ति वृत्ति से होता नहीं है, क्योंकि शक्ति वृत्ति से किञ्चित् धर्म प्रकारक बोध ही होता है। अतः शक्ति वृत्ति से निर्धर्मक ब्रह्म का बोध नहीं हो सकता है। जो बहुत होगा वह मुख्यार्थक होगा—ऐसे नियम का व्यभिचार एक सत्यवादी के द्वारा एक सत्य कहा गया और उसके विपरित अनेक असत्यवादियों के द्वारा अनेक असत्य कहे गये स्थल पर होता है। इसलिए वाच्यत्व का विरोधी जो वाच्यत्वाभाव उसको द्वार के रूप से बोध कराती हुई उक्त श्रुतियां अन्त में अखण्ड ब्रह्म को बोध कराती हैं—ऐसा मानना ही उचित है। अतः ब्रह्म के वाच्यत्व पक्ष में विरोध जैसा का तैसा विद्यमान है।।४।।

अत एव = पूर्वोक्त प्रकार से जब यह सिद्ध हो गया कि उक्त श्रुतियां वाच्यत्व की विरोधी है तब ''कस्मादुच्यते परं ब्रह्म'' (अथर्वशीर्ष) इत्यादि श्रुति तथा ''परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन्पुरुषः परः'' (गीता १३—२२) इत्यादि स्मृति के वाच्यत्व का अभिलाप अर्थात् श्रुति में उच्यते और स्मृति में उक्त शब्द से वाच्यत्व का कथन का तात्पर्य ब्रह्म शब्द बोध्य है— इतने मात्र में है न कि उक्त शब्द शक्तिवृत्ति के द्वारा ब्रह्म का बोधन कराता है— इसमें है। सिद्धान्त मत में उक्त शब्दों के द्वारा ब्रह्म का बोधन माना ही जाता है लक्षणा वृत्ति के द्वारा। अतः उक्त श्रुति स्मृति से विरोध नहीं है। पूर्वपक्षी के द्वारा ब्रह्म में वाच्यत्व सिद्ध करने के लिये जो यह अनुमान है कि—तात्पर्यविषयो ब्रह्म वाच्यम्, वस्तुत्वात्, लक्ष्यत्वात्, तीरवत्। इसमें बाधदोष है क्योंकि निर्धर्मक ब्रह्म में वाच्यत्व रह ही नहीं सकता है। इस अनुमान में बाधोन्नीत सधर्मकत्व रूप उपाधि है क्योंकि दृष्टान्त में साध्य और उपाधि दोनों के रहने से उपाधि में साध्यव्यापकत्व है और पक्ष में हेतु के रहने और उपाधि के न रहने से उपाधि में साधनाव्यापकत्व है। हेतु शब्द से दोनों हेतुओं को लेना चाहिए। अर्थात् दोनो हेतुओं में उपाधि दोष है। बाधोन्नीत क्यों कहा गया? इसका उत्तर यह है कि यदि कोई

तीरवदिति—चेत् निर्धर्मकतया वाच्यत्वबाधात्, तदुन्नीतसधर्मकत्वाद्युपाधिसम्भवाच्च। परमार्थसत्यपदादिकं कस्यचिद्वाचकं; पदत्वादित्यपि न; किमत्र पदत्वम्, न तावत्सुप्तिङन्तत्वम्; समासपदस्याशक्तत्वेन राजपुरुषादौ व्यभिचारात्, नापि शक्तत्वम्; साध्याविशेषात्, अवयवद्वारा समासपदस्य वाचकत्वं चेत्, इष्टमेव। नापि सत्यज्ञानादिवाक्यं वाच्यार्थतात्पर्यवच्छब्दयुक्तं वाक्यत्वादित्यपि; विषं भुङ्क्ष्वेत्यादौ व्यभिचारात्।।५।।

ननु—अवाच्यत्वे लक्ष्यत्वानुपपत्तिः; वाच्यार्थसम्बन्धित्वेन ज्ञातस्यैव लक्ष्यत्वात्, तज्ज्ञानं च न शब्दभिन्नेन; उपनिषन्मात्रगम्यत्वात्, नापि स्वप्रकाशतया; नित्यसिद्धे शब्दवैयर्थ्यात्। अवाच्यशब्दस्य च लक्षकस्यैव

सत्यानन्दप्रबोधिका

कहता है कि सधर्मकत्व यह पक्षेतरत्व तुल्य होने से उपाधि नहीं बन सकता है। इसके समाधान के लिए कहा गया कि पक्षेतरत्व या पक्षेतरत्व के तुल्य धर्म को उपाधि वहाँ माना जाता है जहाँ वह बाध से उन्नीत (अनुमित) हो। अतः पक्षेतरत्व के तुल्य सधर्मकत्व के होने पर भी इसे उपाधि माना जायेगा क्योंकि इस अनुमान में बाध दोष है। ''परमार्थसत्यपदादिकं कस्यचिद्वाचकम्, पदत्वात्, घटपदवत्'' यह अनुमान भी ठीक नहीं है, क्योंकि हेतु = पदत्व क्या है? सुप्तिङन्तत्व को पदत्व मानने पर ''राजपुरुषः'' इत्यादि समास स्थल पर सुबन्तरूप पदत्व रूप हेतु रहेगा किन्तु वाचकत्व रूप साध्य नहीं है। अतः व्यभिचार दोष है। (समास में वाचकत्व नहीं रहता है। इसका प्रतिपादन खण्ड संख्या—३ में किया जा चुका है।) पदत्व का अर्थ शक्तत्व भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि साध्य और हेतु दोनों ही तुल्य हो जायेंगे क्योंकि वाचकत्व और शक्तत्व में भेद नहीं माना जाता है। समास पदों की अपने अवयवों के द्वारा वाचकता हम भी मानते हैं, क्योंकि अवयव द्वारा वाचकत्व परमार्थसदादि पद में इष्ट ही है। ऐसा होने से परमार्थ सदादि के अवयव ही वाचक सिद्ध होंगें और व्यवहारकालाबाध्य अर्थ को लेकर साध्य उपपन्न हो जायेगा किन्तु शुद्ध ब्रह्म में वाच्यत्व की सिद्धि नहीं हो पायेगी—यह भाव है। सत्यज्ञानादिवाक्य वाच्यार्थ में तात्पर्य है जिसका एवम्भूत जो शब्द तादृश शब्द से घटित है, वाक्यत्व होने से, गामानय—इत्यादि वाक्यवत्। यह अनुमान भी ठीक नहीं है, क्योंकि ''विषं भुङ्क्ष्व'' इस वाक्य में हेतु है किन्तु साध्य नहीं है क्योंकि यह वाक्य लक्ष्यार्थ परक पद घटित है।।५।।

शङ्का— ब्रह्म को सर्वथा अवाच्य होने पर ब्रह्म को लक्ष्य नहीं माना जा सकता है क्योंकि वाच्यार्थ सम्बन्धित्वेन ज्ञात पदार्थ को ही लक्ष्यार्थ माना जाता है। ब्रह्म का ज्ञान शब्द प्रमाण से भिन्न प्रमाण से हो नहीं सकता है, क्योंकि वह उपनिषद् मात्र गम्य है। अतः लक्षणा मानने के लिए उपनिषद् के किसी पद का वाच्य ब्रह्म को होना पड़ेगा। जब वाच्य है तब अवाच्य कहा नहीं जा सकता है। ब्रह्म स्वप्रकाश है—इसलिए ब्रह्म को पद का लक्ष्यार्थ माना जा सकता है— ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि जो नित्य सिद्ध है, उसे किसी शब्द से बोधन करना व्यर्थ है। जबकि सिद्धान्ती ब्रह्म को उपनिषद्शब्दैक गम्य मानते हैं। अतः ऐसा मानने पर शब्द वैयर्थ्यापत्ति होगी। सत्यादि पद का वाच्य ब्रह्म को मानने पर ब्रह्म में वाच्यत्व की आपत्ति होगी। अतः सत्यादि पद को ब्रह्म का लक्षक ही मानना होगा। किन्तु सत्यादि पद से ब्रह्म की लक्षणा तभी हो पायेगी जब सत्यादि पद से अन्य किसी प्रकार से यह ज्ञात हो कि ब्रह्म किसी पद के वाच्यार्थ का सम्बन्धी है। वह उपनिषद् के किसी शब्द द्वारा ही करना होगा। इसके लिए अवाच्य पद लेने पर अवाच्य पद भी उक्त बोध लक्षणा के द्वारा ही करायेगा। अन्यथा ब्रह्म में वाच्यत्व की आपत्ति होगी। अतः अवाच्य पद को ब्रह्म का लक्षक मानने पर अवाच्य पद की ब्रह्म में लक्षणा तभी हो पायेगी जब अवाच्य पद से भिन्न किसी पद के वाच्यार्थ का सम्बन्धी ब्रह्म है। इसका बोध तीसरा शब्द (सत्य शब्द

वक्तव्यत्वात्तत्रापि वाच्यसम्बन्धित्वेन ज्ञेयत्वे अनवस्थेति—चेन्न; तथा ज्ञानमुपस्थितावुपयोगि। ब्रह्म स्वप्रकाशतया स्वत एवोपस्थितमिति किं तेन? नचैवं शब्दवैयर्थ्यम्; आवरणाभिभावकवृत्तावुपयोगात्। अत एव नानवस्था। तस्मात् प्रवृत्तिनिमित्तस्य दुर्निरूपत्वादवाच्यत्वम्। तदुक्तं—

'दृष्टा गुणक्रियाजातिसम्बन्धाः शब्दहेतवः।
नात्मन्यन्यतमो ह्येषां तेनात्मा नाभिधीयते॥'

इति। न चारोपितगुणाश्रयतया वाच्यता; तस्य तात्पर्याविषयतया तात्पर्यविषये अवाच्यत्वस्य स्थितत्वात्॥६॥

न च सत्यादिपदानां लक्षकत्वे सिद्धे प्रवृत्तिनिमित्ताभावः, तस्मिंश्च लक्षकत्वमिति परस्पराश्रयः;

सत्यानन्दप्रबोधिका

और अवाच्य शब्द से भिन्न शब्द) करायेगा। तीसरे शब्द से भी ब्रह्म का बोध लक्षणा वृत्ति से होगा। अतः तीसरे पद के वाच्यार्थ का सम्बन्धी ब्रह्म है—इसका बोध चतुर्थ शब्द से होगा । इस प्रकार से अनवस्था की आपत्ति होगी।

समाधान— ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म रूप लक्ष्य की उपस्थिति के लिए किसी सत्यादि शब्द के द्वारा वाच्यार्थ के सम्बन्धी के रूप से ब्रह्म के ज्ञान की कोई उपयोगिता नहीं है, क्योंकि ब्रह्म स्वप्रकाश होने के कारण स्वत एव (वाच्यार्थ सम्बन्धित्वेन ज्ञान के विना ही) ब्रह्म उपस्थित हो जाता है। अतः वाच्य सम्बन्धित्वेन ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। एवम् = स्वप्रकाश के रूप से ब्रह्म की स्वतः उपस्थिति होती है— ऐसा स्वीकार करने पर, शब्द वैयर्थ्य (ब्रह्म उपनिषद् गम्य है— ऐसा मानना व्यर्थ है) की आपत्ति भी नहीं होगी, क्योंकि ब्रह्माकार वृत्ति की उत्पत्ति में शब्द प्रयोग सार्थक है। ब्रह्माकार वृत्ति मानने की आवश्यकता इसलिए है कि उस वृत्ति के द्वारा ही ब्रह्म आवरक अज्ञान की निवृत्ति होती है। अत एव= वाच्यार्थसम्बन्धित्वेन ब्रह्म के ज्ञान की आवश्यकता लक्ष्य ब्रह्म की उपस्थिति के लिए न रहने के कारण ही अनवस्था दोष नहीं होगा। स्वप्रकाश ब्रह्म स्वतः ही उपस्थित होने से ब्रह्म में शब्द प्रवृत्ति निमित्त दुर्निरूपित होने के कारण ब्रह्म को अवाच्य स्वीकार किया जाता है। जैसा कि कहा गया है— गुण क्रिया जाति सम्बन्ध— ये चार शब्द की प्रवृत्ति के निमित्त देखे गये हैं। इनमें से कोई भी निमित्त ब्रह्म में नहीं है। इसलिए ब्रह्म को वाच्य नहीं कहा जाता है। अर्थात् अवाच्य कहा जाता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ब्रह्म में वास्तविक गुण नहीं मानते हैं किन्तु आनन्दादि आरोपित गुणों की आश्रयता ब्रह्म में मानते हैं। अतः आरोपित गुणों की आश्रयता को लेकर ब्रह्म में वाच्यता बन जायेगी। जैसे ''पीतोऽयं शङ्खः'' इत्यादि स्थल पर आरोपित पीत आश्रयत्वेन शङ्ख में पीत पद की वाच्यता बन जाती है।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि तात्पर्य अविषयीभूत आनन्दादि गुण विशिष्ट ब्रह्म में वाच्यता आ जाने से हमें कोई क्षति नहीं है, क्योंकि ऐसा होने पर भी तात्पर्य विषयीभूत शुद्ध ब्रह्म में वाच्य की सिद्धि नहीं हो पाने से शुद्ध ब्रह्म में अवाच्यत्व बना ही रहेगा।।६।।

शङ्का— पहले सत्यादि पद ब्रह्म का लक्षक है यह सिद्ध हो तब उसके पश्चात् ब्रह्म में कोई शब्द प्रवृत्ति निमित्त नहीं है— यह सिद्ध होगा। प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है— यह सिद्ध हो जाने पर सत्यादि पद ब्रह्म का लक्षक सिद्ध होगा। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होगा।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि अन्योन्याश्रय की प्रथम कोटि हमें मान्य नहीं हैं, क्योंकि निमित्त का अभाव सत्यादि पद ब्रह्म के लक्षक है। इसकी सिद्धि के द्वारा नहीं होता है किन्तु ''नेति नेति'' (बृ०उ०

निर्विशेषवाक्येन नेति नेतीत्यनेनैव निमित्ताभावस्य सिद्धत्वात्। न च—निर्विशेषवाक्यस्य स्वरूपमात्रपरत्वे प्रवृत्तिनिमित्ताविरोधः, निर्विशेषत्वविशिष्टपरत्वे च तस्यैव सत्त्वेन निर्विशेषपदवाच्यत्वस्यैव प्रसङ्ग इति—वाच्यम्; द्वारतया उपस्थितस्य स्वपरविरोधित्वान्निर्विशेषस्य वाच्यत्वासम्भवाच्च। तस्मान्निर्विशेषत्वादेव जीवब्रह्माभेदः सिद्धः; भेदकासम्भवात्। तथाच—

ब्रह्मण्यवाच्ये यो विद्वान्वाच्यतामधिगच्छति।
स निस्त्रपोनिमित्तानां विरहैः प्रतिबोध्यताम्।।७।।

इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणः शब्दावाच्यत्वोपपत्तिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

२—३—६) इत्यादि निर्विशेषार्थक श्रुतियों के द्वारा ही सिद्ध हो जाता है। अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा।

शङ्का— निर्विशेष वाक्य शुद्ध ब्रह्म का बोध कराता है? अथवा निर्विशेषत्व विशिष्ट ब्रह्म का बोध कराता है? प्रथम पक्ष मानने पर निर्विशेष वाक्य शुद्ध ब्रह्म का बोधन करा के ही चरितार्थ हो जायेगा। अतः उसके द्वारा प्रवृत्ति निमित्त के अभाव का बोधन नहीं हो सकता है। द्वितीय पक्ष मानने पर शब्द प्रवृत्ति का निमित्तभूत निर्विशेषत्व धर्म के रहने से निर्विशेष पद वाच्य ब्रह्म हो जायेगा।

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं है क्योंकि निर्विशेष वाक्यों के द्वारा द्वार के रूप से निर्विशेषत्व विशिष्ट ब्रह्म का बोध होता है और पर्यवसित के रूप से शुद्ध ब्रह्म का बोध होता है। जो द्वार के रूप से बोध होता है उसमें मुख्य तात्पर्य नहीं माना जाता है अपितु शुद्ध ब्रह्म में मुख्य तात्पर्य माना जाता है। निर्विशेष बोध स्व (निर्विशेषत्व रूप विशेष) पर (अन्य कोई प्रवृत्ति का निमित्त भूत विशेष) का विरोधी होता है। इसलिए सभी विशेष धर्मों के साथ—साथ निर्विशेषत्व रूप विशेष का निषेध शुद्ध ब्रह्म में हो जाता है। अतः निर्विशेष ब्रह्म में वाच्यता सम्भव नहीं है। ब्रह्म निर्विशेष होने से जीव से उसका भेदक धर्म ब्रह्म में न होने के कारण जीव और ब्रह्म का अभेद सिद्ध हो जाता है। फलतः अवाच्य ब्रह्म में जो पण्डितम्मन्य विद्वान् किसी पद की वाच्यता मानता है वह निर्लज्ज है। उसको शुद्ध ब्रह्म में प्रवृत्ति निमित्त भूत धर्मों का अभाव दिखाकर के समझा देना चाहिए।।७।।

—ःइति सत्यानन्दप्रबोधिकायां ब्रह्मणः शब्दावाच्यत्वोपपत्तिः—

१५– सामान्यतो भेदखण्डनविचारः

स्यादेतत्–इदमयुक्तम्, भेदस्य प्रमाणसिद्धत्वात्। न च भेदस्य स्वरूपत्वे अनपेक्षत्वापत्त्या धर्मत्वम्; तथाचानवस्था; स्तम्भकुम्भयोः परस्परभेदग्रहोऽन्योन्यभेदग्रहसापेक्ष इति अन्योन्याश्रयश्च, एवञ्च भेदासिद्धिरिति–वाच्यम्; तत् किं भेदे प्रतीतिरेव नास्ति, कारणाजन्या वा, बाध्यविषया वा? नाद्यः, विकल्पादिकरणरूपव्यवहारविप्लवापत्तेः। नहि भिन्नतया अज्ञातेन विकल्पः। न द्वितीयः; अकारणकोत्पत्ते– र्व्याहतत्वेन नित्यत्वापत्त्या तन्निरासकमोक्षोपायाननुसरणापत्तेः। न तृतीयः; उक्तशुष्कतर्कस्याबाधकत्वात्। अन्यथा ऐक्यस्य स्वरूपत्वे अनपेक्षत्वापत्तिः, धर्मत्वे अद्वैतहानिरित्यादिना, ऐक्यबुद्धिरपि बाधितविषया स्यात्। न च– मम वैतण्डिकस्य परपक्षमात्रं खण्डनीयमिति–वाच्यम्; स्वपक्षसत्वेऽपि तव तथात्वे ममापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कथन है कि भेद ग्राहक प्रमाण के अभाव से ब्रह्म का भेद कहीं भी नहीं रहता है–यह सिद्धान्ती का कथन अयुक्त है, क्योंकि घटादिनिष्ठ ब्रह्म का भेद प्रमाण से सिद्ध है।

शङ्का– पूर्वपक्षी के मत का खण्डन करने के लिये यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ब्रह्म का भेद जो घट में है वह भेद घट स्वरूप होने पर भेद को अपनी प्रतीति में प्रतियोगी और अनुयोगी की अपेक्षा नहीं रहेगी। कहने का भाव यह है कि भेद जिसमें रहता है, वह भेद का अनुयोगी होता है और जिसका भेद होता है वह प्रतियोगी होता है –यह नियम अन्योन्याभाव स्थल पर देखा गया है किन्तु यह नियम घटादि भाव पदार्थों में नहीं लगता है। अर्थात् घट पदार्थ की प्रतीति में अनुयोगी प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं मानी जाती है। प्रकृत में भेद जब घट स्वरूप अर्थात् घटादि भाव पदार्थ हो गया तब उसमें अनुयोगी प्रतियोगी इन दोनों के ज्ञान के अनपेक्षत्व की आपत्ति होगी। अतः ब्रह्म भेद को घटनिष्ठ धर्म मानना होगा तथा च=ब्रह्म भेद को घटादि का धर्म मानने पर जैसे घट में घटत्व धर्म घट से भिन्न होता है वैसे ही भेद भी जब घट का धर्म है तब भेद रूप धर्म का भेद घट में मानना होगा। वह दूसरा भेद भी घट का धर्म होने के कारण उसका भेद भी घट में मानना होगा। इस प्रकार से भेद मानते रहने से अनवस्था दोष होगा। इस भेद प्रवाह की कहीं पर अनुयोगी में अन्तर्भाव करके विश्रान्ति मानने पर सभी भेदों का स्वरूप में पर्यवसान मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर स्वरूप पक्ष में कथित दोष आयेगा। स्तम्भ में कुम्भ का भेद ग्रह हो जाने पर कुम्भ से स्तम्भ का भेद ग्रह होगा। इस प्रकार से अन्योन्याश्रय दोष भी है। इसलिये भेद की सिद्धि नहीं हो सकती है।

पूर्वपक्षी का समाधान – पूर्वपक्षी स्वमत में दिये गये दोषों को निवारण करते हुये कह रहा है कि (१) क्या भेद की प्रतीति हीं नहीं होती है? अथवा (२) भेद प्रतीति है किन्तु वह भेद प्रतीति किसी कारण से जन्य नहीं है? अथवा (३) भेद प्रतीति बाध्य अर्थ को विषय करती है? अर्थात् भेद की प्रतीति भी है और वह कारण से जन्य भी है, परन्तु उसका विषय बाध्य है? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि शब्द नित्य है या अनित्य है– इस प्रकार विकल्प करना रूप व्यवहार और स्वपक्ष और परपक्ष में भूषण –दूषण रूप व्यवहार में विप्लव = अव्यवस्था फैल जायेगी, क्योंकि भिन्नतया अज्ञात पदार्थों में कोई विकल्प नहीं करता है। जैसे शशशृङ्ग सरल है या वक्र है? ऐसा कोई विकल्प नहीं होता है। भेद विषयक प्रतीति कारण से अजन्य है– यह द्वितीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जिसका कोई कारण नहीं होता है उसकी उत्पत्ति मानना व्याघात दोष से दूषित है। भेद प्रतीति का कोई कारण न मानने पर भेद प्रतीति नित्य हो जायेगी। ऐसा होने पर भेद की प्रतीति का निरास नहीं हो पायेगा। अतः भेद की प्रतीति का निरास करने के लिये मोक्ष उपायों का अनुसरण भी सिद्धान्ती को नहीं करना चाहिए क्योंकि भेद का निरासक = मोक्ष

तथात्वाविरोधात्। न च—मम परपक्षखण्डनमात्रेण स्वमतभूतैक्यसिद्धिः, ममापि तावन्मात्रेण स्वमतभूतभेदसिद्धिसम्भवात्। न च—मां प्रति भेदखण्डनमात्रनियोगे ममैव वैतण्डिकत्वमिति—वाच्यम्; मां प्रत्यप्यैक्यखण्डनमात्रनियोगसम्भवात् मध्यस्थस्य त्वदनधीनत्वात्। अस्वव्याघातकैरेव त्वयैक्यं दुष्यमिति यदा, तदा अस्वव्याघातकैरेव त्वया भेदो दुष्य इत्यपि स्यादिति—चेत्।।१ ।।

मैवम्, नहि वयं भेदप्रतीतेः स्वरूपं कारणं वाऽपलपामः। किन्तु बाधितविषयत्वं ब्रूमः, व्याप्तिसध्रीचीनतया अशुष्कैस्तर्कैरेवानन्यपरया श्रुत्या स्मृत्या च भेदस्य बाधितत्वात्, विषयभेदादिना प्रत्यक्षविरोधस्य परिहृतत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

का उपाय = श्रवण मननादि है। बाध्य विषया भेद प्रतीति है—ऐसा तृतीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि श्रुत्यादि अनपेक्ष होने से उक्त अनवस्था और अन्योन्याश्रयादि शुष्क तर्क हैं। अतः उनको भेद प्रतीति का बाधक नहीं माना जा सकता है। अतः भेद का बाधक कोई न रहने के कारण भेद प्रतीति को बाध्य विषयक नहीं मान सकते हैं। अन्यथा=शुष्क तर्क को भी बाधक मानने पर ब्रह्म के अभेद को ब्रह्म स्वरूप मानने पर अभेद भी अनुयोगी—प्रतियोगी से अनपेक्ष हो जायेगा। अतः अनपेक्षत्व दोष से बचने के लिए ब्रह्म के अभेद को ब्रह्म का धर्म मानने पर अद्वैत हानि होगी—इत्यादि तर्क से अभेद बुद्धि भी बाधित विषया होगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि हम तो वैतण्डिक है, इसलिए पर पक्ष निराकरण मात्र ही हमारा कार्य है। अभेद आदि स्वपक्ष को सिद्ध करना हमारा कार्य नहीं है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्त पक्ष का सत्त्व होने पर भी तथात्वे=सिद्धान्त पक्ष का समर्थन करने का दायित्व सिद्धान्ती का न होकर केवल पर पक्ष के खण्डन में ही दायित्व मानने पर हम (पूर्वपक्षी) भी कह सकते हैं कि द्वैत पक्ष का सत्त्व होने पर भी द्वैत पक्ष का समर्थन करने का हमारा भी दायित्व नहीं है अपितु पर पक्ष के खण्डन में ही हमारा दायित्व है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि पर पक्ष (भेद) के खण्डन मात्र से स्वपक्ष अभेद की सिद्धि हो जाती है। अतः स्व पक्ष के समर्थन की आवश्यकता नहीं है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि द्वैत पक्ष से भी कहा जा सकता है पर पक्ष (अभेद) के खण्डन मात्र से स्व पक्ष भेद की सिद्धि हो जाती है। अतः स्वपक्ष के समर्थन की आवश्यकता नहीं है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि मध्यस्थ ने सिद्धान्ती को ही भेद खण्डन करने के लिये नियुक्त किया है। अतः सिद्धान्ती ही वैतण्डिक है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि हम भी कह सकते हैं कि मध्यस्थ ने हमें केवल अभेद खण्डन करने के लिए नियुक्त किया है। अतः हम ही वैतण्डिक हैं, क्योंकि मध्यस्थ आपके अधीन है—ऐसा तो माना नहीं जा सकता है क्योंकि मध्यस्थ उभयवादी सम्मत होता है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि द्वैती को स्वाव्याघातक तर्कों के द्वारा ही अभेद का खण्डन करना चाहिए तब द्वैत पक्ष से भी यह कहा जा सकता है कि सिद्धान्ती को स्वाव्याघातक तर्कों के द्वारा ही भेद का खण्डन करना चाहिए। अर्थात् स्वव्याघातक तर्कों के द्वारा भेद का खण्डन नहीं करना चाहिए। जबकि सिद्धान्ती स्वव्याघातक तर्कों के द्वारा भेद का खण्डन कर रहे हैं, जिसे मूल में ''अन्यथा ऐक्यस्य स्वरूपत्वे अनपेक्षत्वापत्तिः, धर्मत्वे अद्वैतहानिः'' इत्यादि से कहा जा चुका है।।१ ।।

सिद्धान्त पक्ष — पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सिद्धान्त मत में भेद प्रतीति के स्वरूप का या भेद प्रतीति के कारण का अपलाप नहीं करते हैं किन्तु भेद विषयक प्रतीति को बाधित विषयक प्रतीति मानते हैं, क्योंकि व्याप्ति आदि युक्त, निर्दोष अशुष्क तर्कों के द्वारा और स्वार्थ में तात्पर्य रखने वाली ''नेहनानास्ति किञ्चन'' (बृ०उ० ४—४—१९) इत्यादि श्रुतियों और स्मृतियों के द्वारा भेद का बाध हो जाता है। भेद प्रत्यक्ष का विषय व्यावहारिक भेद होता है न कि तात्त्विक भेद, क्योंकि ''नात्र काचन

श्रुत्यादावुपचरितार्थत्वाभावात्। यत्त्वभेदस्याप्येवं निरासः। न चाभेदखण्डनयुक्तीनां स्वस्य स्वाभेदोऽपि न सिध्येदिति स्वव्याघातादाभासता, भेदखण्डनयुक्तीनामपि भूषणयुक्त्यभेदेन स्वव्याघातकतायाः समानत्वादिति, तन्न; भेदखण्डनयुक्तीनां तत्त्वतो भेदनिवारकत्वेऽपि व्यावहारिकभेदस्यानिराकरणेन स्वाव्याघाततोपपत्तेः। न चैवं ब्रह्मण्यनृतभेदस्य तत्त्वतो निषेधे तत्र तत्तादात्म्यापत्तिः; घटे कल्पितघटान्तरभेदभ्रमस्थले तत्तादात्म्यादर्शनात्। न चैवमभेदोऽपि तत्त्वतो निषेध्यः, तर्हि स्वरूपापर्यवसानेन शून्यवादापत्तेः। किञ्च ब्रह्मातिरिक्तमैक्यमस्माकं

सत्यानन्दप्रबोधिका

भिदास्ति (नृ०उ०ता०८) इत्यादि श्रुतियां भेदगत तात्त्विकत्व का निषेध करती है। इस प्रकार अभेद श्रुति का विषय अभेद तात्त्विक है और प्रत्यक्ष भेद का विषय भेद व्यावहारिक है। इस प्रकार से श्रुति के विषय और प्रत्यक्ष के विषय में भिन्नता प्रदर्शन के द्वारा प्रत्यक्ष के विरोध का परिहार हो जाने पर अभेद परक श्रुतियों को गौणार्थक नहीं माना जा सकता है।

शङ्का— जिन युक्तियों से अभेद का खण्डन पूर्वपक्षी करता है। उन्हीं युक्तियों से उन युक्तियों का अपने से जो अभेद है, उसका खण्डन हो जाने से अपने से अपना अभेद भी सिद्ध नहीं हो पायेगा। अतः पूर्वपक्षी की युक्ति से पूर्वपक्षी का ही खण्डन होने से पूर्वपक्षी की युक्ति स्वव्याघातक है। अर्थात् युक्त्याभास है। इसका खण्डन करते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि सर्वाभेद होने पर सिद्धान्ती के द्वारा प्रदर्शित भेद खण्डन युक्तियों का भी भेद साधक युक्ति से अभेद मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर भेद साधक युक्तियों का खण्डन होने पर भेद साधक युक्तियों से अभिन्न भेद दूषक युक्तियां (जो सिद्धान्ती के द्वारा कही जा रही है) उनका भी खण्डन हो जायेगा। इस प्रकार भेद दूषक युक्ति से भेद दूषक युक्तियों का खण्डन होने से स्वव्याघात दोष की आपत्ति सिद्धान्ती के उपर भी आयेगी।

समाधान— ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि भेद का खण्डन करने वाली युक्तियां तात्त्विक भेद का निषेध करने पर भी व्यावहारिक भेद का निषेध नहीं करती है। अतः उनमें स्वव्याघातकता की आपत्ति नहीं आयेगी।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि तात्त्विक भेद का निषेध ही सिद्धान्ती को अभीष्ट है तब तो ब्रह्म में मिथ्या प्रपञ्च के तात्त्विक भेद का निरास कर दिये जाने पर ब्रह्म के साथ मिथ्या प्रपञ्च का तात्त्विक अभेद हो जाना चाहिए।

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि एक सत्य घट में कल्पित घटान्तर के भेद का जहां भ्रम होता है। ऐसे स्थल पर उस भेद का निषेध कर दिये जाने पर सत्य घट में कल्पित घटान्तर का अभेद नहीं देखा जाता है। (यदि पूर्वपक्षी कहता है कि कल्पित घट का अभेद सत्य घट से मानेगें तब तो पूर्वपक्षी को सत्यघट को भी कल्पित मानने की आपत्ति आयेगी।)

शङ्का— एवम् = भेद का जैसे तात्त्विकत्वेन निषेध सिद्धान्ती कर रहे हैं, व्यावहारिकत्वेन नहीं। वैसे ही अभेद का भी तात्त्विक निषेध मान लिया जाये, व्यावहारिकत्वेन नहीं।

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि भेद का तात्त्विकत्वेन निषेध कर देने पर अद्वैत में पर्यवसान होता है और अभेद का तात्त्विकत्वेन निषेध कर देने पर शून्यवाद की आपत्ति होगी। दूसरी बात यह है कि ब्रह्म से अतिरिक्त ऐक्य (अभेद) को हम नहीं मानते हैं अपितु ब्रह्म स्वरूप ही मानते हैं। ब्रह्म का निषेध करने पर ब्रह्म बोधक श्रुतियों से विरोध होगा। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि जैसे ब्रह्म से अतिरिक्त अभेद न होने से अभेद का निषेध होने पर ब्रह्म का निषेध होने से ब्रह्म बोधक श्रुतियों से विरोध होता है वैसे ही पूर्वपक्षी के मत में घटादि से अतिरिक्त भेद न होने से भेद का निषेध होने पर घट का निषेध होने से घट

नास्त्येव। तस्य च तथा निषेधे श्रुतिविरोधः। न च— मम घटातिरिक्तो भेदो नास्ति तस्य निषेधे प्रत्यक्षविरोध इति वाच्यम्; प्रत्यक्षस्य पारमार्थिकसत्त्वाविषयत्वेनाविरोधित्वस्य प्रागेवोक्तत्वात्।।२।।

ननु— भेदबाधकं न भेदविषयमेव, तत्साधकतापत्तेः; नाप्यभेदविषयम्, एवं हि तदन्यः तद्विरोधी तदभावो वा नञर्थो विषयो वाच्यः। सर्वथा च भेदो दुष्परिहरः, तदनन्यत्वे तद्विरोधतदभावत्वयोरयोगात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

बोधक प्रत्यक्ष से विरोध होगा। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि घट को विषय करने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण पारमार्थिक सत्ता को विषय नहीं करता है अपितु व्यावहारिक सत्ता को विषय करता है। अतः भेदगत व्यावहारिक सत्ता का निषेध करने पर विरोध होगा। हम भेदगत व्यावहारिक सत्ता का निषेध न करके पारमार्थिक सत्ता का निषेध कर रहे हैं। अतः प्रत्यक्ष विरोध नहीं होगा। इसका प्रतिपादन ''प्रत्यक्षयोग्यसत्त्वविचारः'' में किया जा चुका है।।२।।

शङ्का—भेद बाधक प्रमाण का विषय भेद नहीं हो सकता है। यदि भेद बाधक प्रमाण का विषय भेद को मानेंगे तब तो उस प्रमाण के द्वारा भेद की सिद्धि होने की आपत्ति आयेगी। (जैसे अनुमान प्रमाण का विषय वह्नि के होने पर अनुमान प्रमाण वह्नि की सिद्धि का साधक माना जाता है)। भेद बाधक प्रमाण का विषय अभेद है। ऐसा भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि भेदबाधक प्रमाण का विषय अभेद मानने पर अभेद घटक नञ् का अर्थ भेदान्यरूप या भेदविरोधिरूप या भेदाभावरूप को भेद बाधक प्रमाण विषय करेगा। सर्वथा = भेदान्यरूप या भेदविरोधिरूप या भेदाभावरूप नञ् के किसी भी अर्थ को भेदबाधक प्रमाण विषय करे। उसके विषय कोटि में भेद रहेगा। जैसे अभेद का अर्थ भेदभिन्न किया तब भेदभिन्न विषयत्वेन भेदबाधक प्रमाण में बाधकता फलित हुई किन्तु उक्त बाधक प्रमाण का विषय भेद के हो जाने से उक्त बाधक प्रमाण भेद का बाधक न होकर साधक हो जायेगा। अतः उक्त बाधक प्रमाण के द्वारा भेद का परिहार नहीं किया जा सकता है। (यदि कहा जाय कि जब नञ् का अर्थ भेदान्यरूप होगा तब उक्त बाधक प्रमाण का विषय भेद हो जायेगा, किन्तु जिस पक्ष में नञ् का अर्थ विरोधित्व है या अभावत्व है। उस पक्ष में भेदबाधक प्रमाण का विषय भेदान्य न होकर विरोधित्व या अभावत्व होगा। अतः इस पक्ष में उक्त बाधक प्रमाण का विषय भेद न होने से भेदबाधक प्रमाण को भेद साधक नहीं माना जा सकता है। इसका समाधान देते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि—विरोधित्व और अभावत्व ये दोनों भेद के व्याप्य हैं। जैसे घट विरोधित्व जहां पर हैं वहां पर घट भेद अवश्य रहता है। इसी प्रकार जहां पर घटाभावत्व है वहाँ पर घट भेद अवश्य रहता है। फलतः विरोधित्व और अभावत्व के भेद से व्याप्यत्व होने से नञ् के उक्त अर्थ द्वय (विरोधित्व और अभावत्व) के अङ्गीकार पक्ष में भी भेद उक्त बाधक प्रमाण का विषय बनेगा, क्योंकि व्याप्य के रहने पर व्यापक अवश्य रहता है। ऐसा होने पर उक्त बाधक प्रमाण का विषय भेद भी होगा। अतः उक्त बाधक प्रमाण भेद का साधक ही हो जायेगा। इन भावों को स्पष्ट करते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि) तद्—अभेद होने पर तद्विरोध और तद् अभावत्व नहीं रहता है। जैसे घट में घट का अभेद है। ऐसे घट में घट विरोधित्व या घटाभावत्व नहीं रह सकता है। (फलतः तद्विरोधित्व या तद्भावत्व जहाँ होगा वहां अभेद नहीं होगा अपितु भेद होगा। अतः नञ् के विरोधित्व और अभावत्व अर्थ लेने पर भी उक्त बाधक प्रमाण का विषय भेद के होने से उक्त बाधक प्रमाण भेद का साधक ही हो जायेगा। इसको स्पष्ट करते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि) भेदाभाव ग्राहक बाधक प्रमाण के द्वारा जो भेदाभाव का ग्रहण होता है वह भेदाभाव प्रतियोगिभूत भेद से व्याप्यत्वेन ही ग्रहण होता है। अतः नञ् के उक्त दो अर्थों के लेने पर भी उक्त बाधक प्रमाण भेद

भेदाभावग्राहिणापि प्रतियोगिविलक्षणतयैवाभावस्य ग्रहणाच्च, औदासीन्येन प्रवृत्तस्य इदमिति ज्ञानवदबाधकत्वाच्चेति—चेन्न; पारमार्थिकत्वाकारेण भेदाभावविषयस्यैव बाधकत्वात्। न च भेदे दुष्परिहरता; व्यावहारिकभेदेनैव व्यावहारिकतद्विरोधित्वतदभावत्वयोरुपपत्तिसम्भवात्, 'यक्षानुरूपो बलिः' इति न्यायात्। भेदभ्रमाधिष्ठानतत्त्वगोचरं ज्ञानं भ्रमबाधकमित्यप्युपपन्नम्, उक्तरीत्या भेदवैलक्षण्येन तद्ग्रहणोपपत्तेः।।३।।

यत्तु 'नायं भेदो नास्त्यत्र भेदोऽन्यदेव भेदात्मना प्रत्यभाद्' इत्येवमाकारकं बाधकज्ञानं वाच्यम् 'नेदं

सत्यानन्दप्रबोधिका

का साधक ही होगा। (यदि कहा जाय कि उक्त बाधक ज्ञान विशेष रूप से अर्थात् भेद भिन्नत्वेन अभाव को विषय करता हुआ नहीं बाधक है, किन्तु औदासीन्य रूप से अर्थात् ''अभाव'' इस प्रकार से विषय करता हुआ बाधक होता है। ऐसे बाधक ज्ञान का विषय भेद न होने से उक्त बाधक प्रमाण भेद का साधक नहीं होगा। इसका समाधान देते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि) प्रतियोगिभेदादिरूप प्रकारानवगहित्वेन प्रवृत्त ज्ञान अर्थात् ''अभाव'' इस प्रकार से होने वाला ज्ञान भेद का वैसे ही बाधक नहीं हो सकता है जैसे ''इदम्'' यह ज्ञान किसी का बाधक नहीं होता है।

समाधान—पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पारमार्थिकत्वेन भेदाभाव—इस प्रकार से व्यधिकरण धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव अर्थात् पारमार्थिकत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक जो भेदाभाव तादृश भेदाभाव विषयक ज्ञान ही तात्त्विक भेद ज्ञान का बाधक है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि भेदबाधक प्रमाण अभेद को विषय करने पर अभेद के घटक नञ् का अर्थ भेदान्यादि होने से भेद भी उक्त बाधक प्रमाण का विषय हो जायेगा। ऐसा होने पर वह बाधक प्रमाण अपने उपजीव्य भेद का बाधक न होकर साधक ही हो जायेगा। इसका समाधान करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उपजीव्य भेद व्यावहारिक और निषेध्य भेद पारमार्थिक है। अतः उपजीव्य जो व्यावहारिक भेद उस व्यावहारिक भेद से ही व्यावहारिक जो तद्विरोधित्व और तद्भावत्व इन दोनों की उपपत्ति सम्भव हो जायेगी। अतः उपजीव्यविरोध नहीं होगा। उपजीव्य भेद को व्यावहारिक भेद मानना और निषेध्य भेद को तात्त्विक भेद मानना वैसे है जैसे यक्ष जैसा होता है वैसी ही बलि दी जाती है। (यह जो शङ्का की जाती है कि भेद भ्रम का अधिष्ठान शुद्ध ब्रह्म है। इस शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान ही सिद्धान्ती के मत में भेदभ्रम का बाधक होता है और भ्रम स्थल में यह नियम है कि अधिष्ठान में अधिष्ठान समसत्ताक बाध्य का भेद रहता है। जैसे शुक्ति में कल्पित रजत का शुक्ति रूप अधिष्ठान के ज्ञान से बाध होता है किन्तु वहां पर अधिष्ठानभूत शुक्ति में स्वसमानसत्ताक व्यावहारिक जो बाध्यभूत रजत का भेद है, उसका बाध नहीं होता है। ठीक इसी प्रकार अधिष्ठान ज्ञान से बाध्य जो भेद तादृश भेद का अधिष्ठान समसत्ताक भेद ब्रह्म रूप अधिष्ठान में रहना चाहिए। ऐसा होने पर भेद में पारमार्थिकत्व सिद्ध हो जायेगा। इसका समाधान यह है कि अधिष्ठान में बाध्य का अधिष्ठानसमसत्ताक भेद रहता है—यह नियम नहीं माना जाता है क्योंकि ऐसा अनुभव नहीं होता है। पूर्वपक्षी ने जो दृष्टान्त दिया, वह उचित नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त स्थल पर भी चैतन्य ही अधिष्ठान है। कल्पित रजत का भेद व्यावहारिक है। उस कल्पित रजत का स्वाधिष्ठान में व्यावहारिक भेद रहता है—यह नियम ठीक है। सिद्धान्त मत में भी व्यावहारिक भेद माना जाता है। अतः शुद्ध ब्रह्म के ज्ञान से भेदभ्रम की निवृत्ति मानना उचित ही है। इसको ही सिद्धान्ती कह रहे हैं कि) भेद भ्रम का जो अधिष्ठान उस अधिष्ठान का जो शुद्ध स्वरूप तद्विषयक ज्ञान भ्रमबाधक है—यह उपपन्न हो गया। फलतः अधिष्ठान तत्त्वज्ञान व्यावहारिक भेद भिन्नत्वेन होने में कोई विरोध नहीं होगा।।३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती को यदि भेद का खण्डन करना हो तो बाधक ज्ञान के द्वारा

रजतम्'इतिवत्, इदञ्च सर्वथा भेदावगाहीति कथं तत्र बाधकमिति, तन्न, प्रतियोगितया तद्ग्रहणस्य तद्बाधकत्वाविरोधित्वात्। न च— अत्र भेदो नास्तीति धीः सर्वथा न भेदाभावमवगाहत इति—वाच्यम्; अन्यत्र भेदसत्त्वे तद्भेदस्यात्रावश्यकत्वेनात्र भेदो नास्तीत्यस्यैव कुत्रापि नास्तीत्यत्र पर्यवसानात्। एवम्— एकमेव नानात्मना अभादित्यादि बाधकमनुसन्धेयम्। कोट्योर्व्यावहारिकभेदेन तद्वत्तया ग्रहणाच्च यथा बाधकत्वयोगः, तथोक्तमेव।।४।।

एतेन—भेदाद् भिन्नतया स्वार्थं बाधधीर्गाहते न वा। आद्ये भेदः स्थिरः, अन्त्ये तु न सा स्याद्

सत्यानन्दप्रबोधिका

ही कर सकते हैं। बाधक ज्ञान का आकार पूर्वपक्षी स्वयं दिखाते हुये कह रहा है कि बाधक ज्ञान का प्रथम आकार होगा— ''नायं भेदः। अयम्= सद्रूप आत्मा, न भेदः = भेदस्वरूप नहीं है। इस प्रकार का बाधक ज्ञान ''भेदः सन्'' इस प्रकार के भेद ज्ञान का बाधक होता है। ''नात्र अस्ति भेदः= अत्र भेदो नास्ति।'' यह बाधक ज्ञान ''अत्र भेदः'' (अत्र = ब्रह्माणि) इस प्रकार के भेद ज्ञान का बाधक होता है। ''भेदोऽन्यदेव भेदात्मना प्रत्यभात्'' (भेद स्वरूप न होता हुआ ब्रह्म भेदरूप से भासता है)। इस प्रकार का बाधक ज्ञान ''भेदः सन्'' इत्याकारक भेद ज्ञान का बाधक होता है। जैसे ''नेदं रजतम्'' यह बाधक ज्ञान रजतभ्रम का बाधक होता है। इस प्रकार उक्त सभी बाधक ज्ञान भेद को विषय करते हैं। तब अपने उपजीव्य भूत भेद के कैसे बाधक हो सकते हैं?

समाधान—सिद्धान्ती का कथन है कि ''अत्र भेदे नास्ति भावत्वम्'' इत्यादि स्थल पर जब अनुयोगितया भेद का ग्रहण होता है तब भेद भेदबाधक ज्ञान का विरोधी होता है क्योंकि भेद यहां पर उपजीव्य है। प्रकृत बाधक ज्ञान में भेद अनुयोगितया उपजीव्य नहीं है अपितु प्रतियोगी अर्थात् निषेध्यरूप से है। अतः बाधक ज्ञान का विरोधी नहीं हो सकता है।

शङ्का— अत्र = ब्रह्मणि = ब्रह्म में भेद नहीं है— यह भेद धी कहीं भी भेद नहीं है—इसका बोधन नहीं कराती है। अर्थात् ब्रह्म में घटादि के भेद के अभाव को विषय करती है किन्तु घटादि में ब्रह्म के भेद के अभाव को विषय नहीं करती है। अतः भेद बाधक ज्ञान (अभेद ज्ञान) से सभी अधिकरणों में भेद का बाध नहीं हो सकता है।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि ब्रह्म में घटादि का भेद होने पर घटादि में भी ब्रह्म का भेद अवश्य रहेगा। इसी प्रकार जब ब्रह्म में घटादि का भेद नहीं है तब घटादि में ब्रह्म का भी भेद नहीं रहेगा। फलतः भेद बाधक ज्ञान कहीं पर साक्षात् भेद का बाधक बनता है और कहीं पर परम्परया बाधक बनता है। ''एकमेव ब्रह्म नानात्मना अभात्'' (ब्रह्म ही अनेकात्मना भासित हुआ) यह ज्ञान भी नानात्व (भेद) का बाधक माना जाता है। इस स्थल पर एकत्वभान पर्यन्त प्रथम कोटि का नानात्व भान पर्यन्त द्वितीय कोटि में भेद ग्रह आवश्यक है। अतः इस बाधक ज्ञान का विषय भेद के होने के कारण भेद उपजीव्य हो गया। फलतः उपजीव्यभूत भेद का उक्त बाधक ज्ञान बाध नहीं कर पायेगा। इस शङ्का का निवारण करते हुये कह रहे हैं कि उक्त स्थल पर जो भेद है। वह व्यावहारिक भेद है। अतः व्यावहारिक भेद को लेकर उपजीव्य उपजीवक भाव बन जाता है। अर्थात् व्यावहारिक भेद ज्ञान = उपजीव्य और उक्त व्यावहारिक भेद घटित बाधक ज्ञान = उपजीवक। बाधक ज्ञान यदि व्यावहारिक भेद का निषेध करता तब उपजीव्य विरोध होता किन्तु बाधक ज्ञान पारमार्थिक भेद का निषेध करता है। अतः उपजीव्य विरोध नहीं आयेगा। इसको खण्ड संख्या ३ में कहा जा चुका है।।४।।

शङ्का— बाधक ज्ञान (अभेद ज्ञान) जो भेद ज्ञान का विषयीभूत भेद का बाध करता है, वह बाधक ज्ञान

भेदबाधिका।। इति निरस्तम्; स्वरूपेण स्थैर्येऽपि तत्त्वतोऽस्थिरत्वसम्भवात्। एवञ्चाक्लृप्तविषय—त्वादन्योन्याश्रयत्वादेरुत्थानम्। उत्थितस्य च नाभासत्वम्। किञ्चायं देश्याभासोनिर्वचनवादिनः प्रति, नास्मान्। वयं हि भासमानो यो भेदः स स्वरूपादिपक्षान्तर्भावबहिर्भावाभ्यां वा अन्येन वा धर्मान्तरेणानिर्वाच्य इति ब्रूमः। न च तर्काभासेनानिर्वाच्यत्वे ऐक्यस्यापि तत्प्रसङ्गः; भेदबाधकस्यानाभासतया उक्तत्वात्, ऐक्यभेदयोः श्रुत्यनुग्रहाननुग्रहाभ्यां विशेषाच्च।।५।।

ननु—ब्रह्मण्यनृतादिव्यावृत्तिः ब्रह्मज्ञानाबाध्या वाच्या, शून्याद्यनात्मकघटादौ शून्यादितः

सत्यानन्दप्रबोधिका

अपने विषय को भेद ज्ञान के विषय (भेद) से भिन्न रूप से बोध कराता है। या नहीं? प्रथम पक्ष में बाधक ज्ञान का विषय होकर भेद प्रामाणिक हो जायेगा, जैसे बाधक ज्ञान का विषय होकर के अभेद प्रामाणिक होता है। द्वितीय पक्ष में बाधक ज्ञान का विषय और भेद ज्ञान का विषय एक होने से बाधक ज्ञान अपने अर्थ (विषय) से अभिन्न अर्थ (विषय) का बाध नहीं कर पायेगा, क्योंकि प्रमा रूप घट ज्ञान अपने विषय घट का बाध नहीं करता है।

समाधान— एतेन निरस्तम्—ऐसा अन्वय करना चाहिए। एतेन के अर्थ को स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि प्रथम पक्ष मानने पर दोष नहीं होगा, क्योंकि स्वरूपतः (व्यावहारिक रूप में) भेद के स्थिर होने पर भी पारमार्थिक रूप में स्थिर नहीं रहता है। अर्थात् बाधक ज्ञान के विषय और भेद ज्ञान के विषय भेद में व्यावहारिक रूप से भेद मानते हैं किन्तु तात्त्विक रूप से भेद नहीं मानते हैं। फलतः बाधक ज्ञान उक्त भेदों के व्यावहारिकत्व का बाध न करता हुआ तात्त्विकत्व का बाध कर देता है। खण्ड संख्या १ में भेद मानने पर अन्योन्याश्रय अनवस्थादि दोष दिया था। इस पर पूर्वपक्षी ने कहा था कि भेद ज्ञान का विषय भेद जब स्थिर (प्रमित) है, तब अन्योन्याश्रय दोष नहीं माना जा सकता है। यदि हठात् अन्योन्याश्रय दोष देंगे तो वह दोष आभास मात्र होगा। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि उक्त प्रकार से भेद ज्ञान का विषय भेद जब तत्त्वतः अप्रमित है तब अन्योन्याश्रय आदि का उत्थान होगा और अन्योन्याश्रयादि दोषों के उत्थान होने पर उनमें आभासता भी नहीं होगी। दूसरी बात यह है कि भेद को खण्डन करते समय खण्डनकार ने जो कहा है कि भेद को अनुयोगी आदि का स्वरूप या धर्म मानने पर दोष होगा। वह दोष भेद के निर्वचन करने वाले पूर्वपक्षी के मत में ही होंगे सिद्धान्ती के मत में नहीं, क्योंकि सिद्धान्त मत में भासमान भेद अधिकरण स्वरूप है ? या अधिकरण का धर्म है? इत्यादि पक्षों के अन्तर्भाव से या बहिर्भाव से या अन्य धर्मान्तर से (भेद में सत्त्व है? या असत्त्व है? इत्यादि प्रकार से) भेद का निर्वचन न होने से भेद को अनिवर्चनीय माना जाता है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि जैसे भेद उक्त तर्काभासों के द्वारा अनिर्वचनीय सिद्ध होता है। वैसे ही अभेद के विषय में भी उक्त प्रकार से तर्काभासों को उठाकर अभेद को भी अनिर्वचनीय सिद्ध कर दिया जायेगा। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि भेद बाधक तर्क सतर्क है, तर्काभास नहीं। इसका प्रतिपादन इसी खण्ड में ''उत्थितस्य च नाभासत्वम्'' इत्यादि से किया जा चुका है। दूसरी बात यह भी कि भेद का समर्थन श्रुतियां नहीं करती हैं अपितु भेद का निराकरण ही ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इत्यादि श्रुतियां करती है जब कि अभेद का समर्थन ''तरति शोकमात्मवित्'' इत्यादि श्रुतियां करती हैं।।५।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि शुद्ध ब्रह्म में जो मिथ्याप्रपञ्च का भेद है। उसको ब्रह्म ज्ञान से अबाध्य ही मानना होगा। जैसे शून्यस्वरूप से रहित घटादि में जो शून्यादि का भेद रहता है। वह घटादि ज्ञान से बाधित नहीं होता है। घटादि गत शून्यादि का भेद घटादि ज्ञान से बाधित मानने पर घटादि में शून्यता का भेद ही

स्वज्ञानाबाध्यभेददर्शनादिति—चेत्, ब्रह्मघटयोरधिष्ठानाध्यस्तत्वाभ्यां विशेषात्, अनृतत्वस्य मृषात्वेन तद्व्यावृतेरपि मृषात्वस्य युक्तत्वेन घटेऽतज्ज्ञानबाध्यत्वस्य उभयोः समानत्वात्। न च— एवं प्रातिभासिकरूप्यादिव्यावृत्तेरपि प्रातिभासिकत्वापत्तिः; तथा च भ्रान्तिबाधव्यवस्था न स्यादिति—वाच्यम्, विशेषदर्शनजन्यत्वतदजन्यत्वाभ्यां बाधभ्रान्तिव्यवस्थोपपत्त्या प्रातिभासिकत्वस्येष्टत्वात्। न च—एवं सत्यादिवाक्यस्यानृतव्यावृत्तिबोधक–स्याप्रामाण्यापत्तिः, तस्या आर्थत्वात्।।६।।

न च—एवं व्यावृत्तिवन् मृषाप्रतियोगिकस्यात्यन्ताभावस्यापि मृषात्वेनाधिष्ठानज्ञानाबाध्यात्यन्ताभाव–

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं रहेगा। ऐसा होने पर घटादि शून्यात्मक हो जायेगा। ठीक इसी प्रकार शुद्ध ब्रह्म में मिथ्या प्रपञ्च का जो भेद है। उसके बाधित हो जाने से मिथ्या प्रपञ्च से ब्रह्म का भेद न होने पर ब्रह्म भी मिथ्या हो जायेगा।

समाधान— ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। जैसे दृष्टान्त में घटादि में जो शून्यादि का भेद है। उस भेद का अधिष्ठान घटादि नहीं है। अतः घटादि ज्ञान से उस भेद का बाध नहीं होता है। यह उभयमत में मान्य है किन्तु दार्ष्टान्त में शुद्ध ब्रह्म अधिष्ठान है और प्रपञ्च तथा प्रपञ्च का भेद ये दोनों अध्यस्त (मिथ्या) हैं। दार्ष्टान्त में ऐसी विशेषता के कारण ब्रह्म ज्ञान से जैसे प्रपञ्च का बाध होता है वैसे ही प्रपञ्च के भेद का भी बाध हो जाता है। अतः प्रपञ्च के भेद का बाध हो जाने से ब्रह्म में मिथ्यात्वापत्ति नहीं होगी। जैसे रज्जु का ज्ञान होने से सर्प और सर्प के भेद दोनों का बाध होने पर भी रज्जु सर्पात्मक नहीं हो जाती है।

शङ्का—पूर्वोक्त प्रकार से शुद्ध ब्रह्म में रहने वाला मिथ्या प्रपञ्च के भेद को प्रातिभासिक मानने पर शुक्ति में मिथ्या रजत का भेद भी प्रातिभासिक मानना होगा। ऐसा होने पर ''इदं रजतम्'' यह ज्ञान भ्रमात्मक है और ''नेदं रजतम्'' (रजत भेद ज्ञान) बाधक है—यह व्यवस्था नहीं बन पायेगी, क्योंकि भ्रम ज्ञान का बाध भ्रम ज्ञान से नहीं होता है अपितु अधिष्ठानात्मक यथार्थ ज्ञान से होता है।

समाधान— ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि रजत और रजत भेद में प्रातिभासिकत्व हम मानते ही हैं। बाध्य बाधकभाव भी बन जायेगा। जैसे ''इदं रजतम्'' इत्याकारक रजत ज्ञान शुक्ति के इदन्त्व रूप सामान्य अंश से जनित होने के कारण (अर्थात् शुक्तित्व रूप विशेष अंश से जनित न होने के कारण) बाधित होता है और ''नेदं रंजतम्'' इत्याकारक रजत भेद ज्ञान शुक्तित्व रूप विशेष अंश के दर्शन से जनित होने के कारण बाधक माना जाता है।

शङ्का— ब्रह्मगत मिथ्याप्रपञ्च के भेद को मिथ्या मानने पर सत्यादि श्रुति वाक्यों में बाधितार्थ (ब्रह्मगत मिथ्याप्रपञ्च का भेद) बोधकत्वेन अप्रामाण्य की आपत्ति होगी।

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि श्रुति साक्षात् अखण्डार्थ (शुद्ध ब्रह्म) का बोधन कराती है, जिसका बाध नहीं होता है। अतः श्रुति में अप्रामाण्य की आपत्ति नहीं होगा। उक्त भेद के मिथ्यात्व का बोधन अर्थतः (अर्थापत्ति गम्य) माना जाता है जो कि शब्दार्थ नहीं है। अतः श्रुति में अप्रामाण्यापत्ति नहीं दी जा सकती है।।६।।

शङ्का— एवम् = प्रतियोगी के मिथ्या होने पर अभाव को मिथ्या मानने पर व्यावृत्तिवत्= अनृतप्रतियोगिक व्यावृत्ति (अनृत का भेद) को जैसे सिद्धान्ती ने मिथ्या माना वैसे ही अनृतप्रतियोगिक अत्यन्ताभाव को भी मिथ्या मानना पड़ेगा, क्योंकि अनृत भेद और अनृत अत्यन्ताभाव—इन दोनों का प्रतियोगी अनृत है। ऐसा होने पर अधिष्ठान ज्ञान से अबाध्य जो अत्यन्ताभाव उसका प्रतियोगी मिथ्या होता है—यह सिद्ध नहीं हो

प्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वं न स्यादिति—वाच्यम्; अधिष्ठानज्ञानाबाध्यत्वस्य तत्राविशेषणत्वात्। न च— एवमात्मनि देहभेदस्य बाध्यत्वे देहात्मैक्यस्य मिथ्यात्वं न स्यादिति—वाच्यम्; भेदमिथ्यात्वस्य प्रतियोग्यैक्यामिथ्यात्वा—प्रयोजकत्वस्योक्तत्वात्। न च—नित्यानित्यवस्तुविवेकस्य साधनचतुष्टयान्तर्गतस्य ज्ञानं भ्रमः स्यात्, तथाच तेनानित्यपरिहारेण नित्ये प्रवृत्तिर्न स्यादिति—वाच्यम्; हानोपादानोपयुक्तरूपावगाहिबुद्धेर्व्यावहारिकप्रामाण्य—शालितया व्यावहारिकहानोपादानस्य निवर्त्तयितुमशक्यत्वात्।।७।।

एतेन प्रपञ्चे सद्वैलक्षण्यस्य मिथ्यात्वे सदैक्यापत्तिः, जगन्मिथ्यात्वप्रमाणानां चातत्त्वावेदकत्वापात इति—निरस्तम्; मिथ्यात्वनिरुक्तादुक्तोत्तरत्वाच्च। एतेन—भेदादभेदस्य भेदाभावे अन्यतरखण्डनसाधनाभ्यामुभय—खण्डनसाधने इति—निरस्तम्; तात्त्विकभेदाभावेऽपि कल्पितभेदेन व्यवस्थोपपत्तेः। न च कल्पितेनाकल्पित—

सत्यानन्दप्रबोधिका

पायेगा, क्योंकि अत्यन्ताभाव अबाध्य न होकर बाध्य हो रहा है।

समाधान— ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व लक्षण के घटक अत्यन्ताभाव में ''अधिष्ठानज्ञानाबाध्यत्व'' विशेषण नहीं दिया जाता है। इसको ''द्वितीयमिथ्यात्वविचारः'' में स्पष्ट किया जा चुका है।

शङ्का— एवम् = आत्मनिष्ठ अनृत भेद को बाध्य मानने पर, अनृतरूप देह और आत्मा में ऐक्य सिद्ध हो जायेगा। ऐसा होने पर देहात्मा के ऐक्य का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो पायेगा।

समाधान— ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि आत्मगत देह भेद के मिथ्यात्व होने पर आत्मनिष्ठ देह के अभेद को मानना पड़ेगा—ऐसा नियम नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि कल्पित घट के भेद का मिथ्यात्व होने पर भी कल्पित घट का ऐक्य मिथ्या ही होता है। इसका निरूपण खण्ड संख्या २ में किया जा चुका है।

शङ्का— अनृत भेद के मिथ्या होने पर विवेक वैराग्य षट् सम्पत्ति मुमुक्षता रूप साधन चतुष्टय के अन्तर्गत नित्यानित्यवस्तु भेद विषयक ज्ञान को भी मिथ्या मानना पड़ेगा। ऐसे मिथ्यात्मक नित्यानित्यवस्तु भेद विषयक ज्ञान से अनित्यपरिहारपूर्वक नित्य में प्रवृत्ति नहीं हो पायेगी।

समाधान— ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि व्यावहारिक हानोपादान का प्रयोजक उक्त विवेक ज्ञान तात्त्विक न होने पर भी व्यावहारिक प्रामाण्यक ज्ञान होता ही है। अतः उक्त विवेक ज्ञान के तात्त्विक न होने पर भी अनित्य वस्तु का व्यावहारिक परित्याग पूर्वक नित्यवस्तु का व्यावहारिक परिग्रह हो जायेगा।।७।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रपञ्चगत सद्वैलक्षण्य (सद्भेद) के मिथ्या होने पर सद् (ब्रह्म) और असद् (प्रपञ्च) का ऐक्य सत्य सिद्ध हो जायेगा। अर्थात् प्रपञ्च सत्य सिद्ध हो जायेगा। जब प्रपञ्च सत् है तब उसको मिथ्या बतलाने वाले प्रमाण प्रमाणाभास हो जायेगें।

समाधान— एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। एतेन के अर्थ को स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि प्रपञ्च में सद् भेद मिथ्या होने पर भी वह सद् भेद व्यावहारिक प्रमाण से सिद्ध होने के कारण प्रपञ्च से सत् के अभेद की आपत्ति नहीं आयेगी, क्योंकि प्रपञ्चगत सद् भेदादिरूप मिथ्यात्व के मिथ्या होने पर भी प्रपञ्च में सत्यता नहीं आती है। इसका निरूपण मिथ्यात्व के मिथ्यात्व प्रकरण में किया जा चुका है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि भेद से अभेद का तात्त्विक भेद न मानने पर भेद तथा अभेद इन दोनों में ऐक्य हो जायेगा। ऐसा होने पर इन दोनों (भेद और अभेद) में से किसी एक का खण्डन करने से दोनों का ही खण्डन हो जायेगा और किसी एक का मण्डन करने से दोनों का ही मण्डन हो जायेगा।

समाधान — एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। ''एतेन '' का विवरण करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि भेद और अभेद में तात्त्विक भेद का अभाव होने पर भी व्यावहारिक भेद को लेकर सभी व्यवस्था बन जायेगी।

कार्यप्रतिबन्धायोगः; अविद्यया स्वप्रकाशरूपब्रह्मकार्यप्रतिबन्धदर्शनात्, कल्पितकान्तया विश्लेषकार्य–प्रतिबन्धदर्शनाच्च।।८।।

ननु—भेदस्य व्यावहारिकसत्त्वार्थमपि त्वया अन्योन्याश्रयादिकमुद्धरणीयम्; परस्परसापेक्षेण व्यवहारस्याप्यभावात्, नहि व्यावहारिकमृदः स्वजन्यघटसापेक्षत्वम्। किञ्चात्र न भेदमात्रेण तद् दर्शनमात्रेण वा अन्योन्याश्रयाद्यापादनम्; तथासति व्यावहारिकयोरपि तयोरसिद्धिः स्यात्। नापि तत्प्रतीतिवास्तवत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि अकल्पित कार्य (एक के खण्डन या मण्डन से दूसरे का खण्डन या मण्डन होना रूप कार्य) का प्रतिबन्धक अकल्पित भेद ही होगा, क्योंकि कल्पित से अकल्पित के कार्य का प्रतिबन्ध होता ही नहीं है।

समाधान— ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि कल्पित अविद्या से अकल्पित स्वप्रकाशरूप ब्रह्म के साथ जीवात्मा के ऐक्य रूप बोध का प्रतिबन्ध होता है और स्वप्न जनित कल्पित कान्ता के द्वारा अकल्पित कान्ता जनित वियोग से प्रयुक्त दुःख रूप कार्य का प्रतिबन्ध देखा जाता है।।८।।

शङ्का— सिद्धान्ती ने खण्ड संख्या १ में कहा था कि भेद को तात्त्विक मानने पर अन्योन्याश्रय अनवस्थादि दोष आयेंगे। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि भेद को व्यावहारिक मानने पर भी उक्त प्रकार से अन्योन्याश्रयादि दोष आयेंगे। उन दोषों का उद्धार सिद्धान्ती को भी करना पड़ेगा अन्यथा अन्योन्याश्रयादि दोष होने के कारण भेदगत व्यावहारिक सत्त्व की सिद्धि नहीं हो पायेगी। इसको स्पष्ट करते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि परस्पर सापेक्ष होने से अन्योन्याश्रयादि दोष होगा और दोष होने से भेद की सिद्धि नहीं हो पायेगी। भेद न होने से भेद घटित व्यवहार नहीं हो पायेगा। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने यह व्याप्ति दिया—यत्र यत्र परस्परसापेक्षत्वं तत्र तत्र व्यवहाराभावः (यहाँ व्यवहार शब्द से व्यावहारिकसत्त्व लेना है)। इसकी व्यतिरेक व्याप्ति = यत्र यत्र व्यवहारः तत्र तत्र सापेक्षत्वाभावः। इसको मृत्तिका में समन्वय करते हुये कह रहे हैं कि मृत्तिका में व्यवहार = व्यावहारिक सत्त्व है और मृत्तिका से जन्य घट की अपेक्षा नहीं है क्योंकि मृत्तिका घट की उत्पत्ति में घट की अपेक्षा नहीं रखती है। इससे पूर्वपक्षी को यह लाभ मिला कि परस्पर सापेक्षत्व रूप अन्योन्याश्रयादि के होने पर भेद को व्यावहारिक सत्ता वाला मान नहीं सकते हैं। दूसरी बात यह है कि भेदमात्र या भेद का ज्ञान रहने मात्र से अन्योन्याश्रय का आपादन (घटपटौ भिन्नौ भिन्नत्वेन प्रतीयमानौ वा स्याताम्, तदा स्वविशेष्यकभेदज्ञानप्रमात्वविरोध्यन्योश्रयादिकं स्यात्। इस प्रकार से आपादन) करने पर व्यावहारिक भेद और व्यावहारिक भेद ज्ञान इन दोनों की सिद्धि नहीं हो पायेगी। अतः व्यावहारिक भेद की सिद्धि के लिये भी अन्योन्याश्रयादि दोषों का उद्धार सिद्धान्ती को भी करना पड़ेगा। भेद ज्ञान यदि तात्त्विक हो जाय तब अन्योन्याश्रय दोष लगेगा किन्तु भेद ज्ञान तात्त्विक नहीं है, अतः अन्योन्याश्रयदोष नहीं होगा। ऐसा आपादन भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि चरमवृत्ति के अवास्तविक होने पर भी चरमवृत्ति के विषय ब्रह्म में तात्त्विकत्व रहता है, वैसे ही भेद ज्ञान के अतात्त्विक होने पर भी भेद ज्ञान के विषय भेद में तात्त्विकत्व उपपन्न हो जाता है। ठीक इसी प्रकार भेद ज्ञान के अतात्त्विक होने पर भी अन्योन्याश्रय दोष भी उपपन्न हो जायेगा। दूसरी बात यह है कि वास्तव (तात्त्विक) स्थल पर अन्योन्याश्रय दोष देखा नहीं जाता है। अर्थात् जहाँ—जहाँ वास्तविकता होती है वहाँ—वहाँ अन्योन्याश्रयदोष होता है—ऐसी व्याप्ति असिद्ध है क्योंकि सिद्धान्ती के मत में अभेद ब्रह्मस्वरूप होने से वास्तविक है किन्तु अभेद पक्ष में अन्योन्याश्रयदोष नहीं माना जाता है। अर्थात् जो वास्तविक होता है वहाँ अन्योन्याश्रयादि दोष होता ही नहीं है, क्योंकि दोष

तदापत्तिः; चरमवृत्त्यवास्तवत्वेऽपि तद्विषयवास्तवत्ववदुपपत्तेः, वास्तवे अन्योन्याश्रयादर्शनेन व्याप्त्यसिद्धेश्च। न च— प्रमारूपतत्प्रतीत्या तदापादनम्; प्रतीतिसामान्य एव त्वयान्योन्याश्रयस्योक्तत्वेन प्रमात्वपर्यन्ते तत्र दोषाभावात्। नापि तत्प्रतीतेर्धर्मिप्रतियोगिसापेक्षत्वेन तदापादनम्; तावतापि तत्सापेक्षतामात्रस्यैव निवृत्तिरिति—चेन्न; अस्माकमविद्यासामर्थ्यात् सर्वानुपपत्तिविधूननोपपत्तेः। नहि मायाया असम्भावनीयं नाम। तथाच परस्पराश्रितमपि इन्द्रजालवद्दर्शयिष्यति।।९।।

न च—ईश्वरसामर्थ्यात्तादृशमपि सत्यं स्यादिति— वाच्यम्, उभयसिद्धमृषाभूतेन्द्रजालस्थले कारणादिव्यवस्थोल्लङ्घिकार्यादिदर्शनवदन्यत्र तथा अदर्शनात्, दर्शने च मृषात्व एव पर्यवसानात्। आपादनं च भेदस्तत्प्रतीतिश्च यदि मायिकी न स्यात्, सर्वव्यवस्थोल्लङ्घिनी न स्यात्। सर्वव्यवस्थोल्लङ्घिनी चेयम्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

होने पर वास्तविक ही नहीं माना जा सकता है। फलतः भेद ज्ञान के अतात्त्विक होने पर भी अन्योन्याश्रय दोष होगा। जिसका उद्धार सिद्धान्ती को करना चाहिए। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि भेद धी प्रमात्मक होती तब अन्योन्याश्रयादि दोष होता किन्तु उक्त धी प्रमात्मक नहीं है। अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा। इसका खण्डन करते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''यदि भेदधीः प्रमा स्यात् तदा अन्योन्याश्रयः स्यात्''। इस प्रकार से प्रमारूप भेद ज्ञान के द्वारा अन्योन्याश्रयादि का आपादन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सिद्धान्ती ने खण्ड संख्या—१ में भेद की सामान्य प्रतीति को ले करके अन्योन्याश्रयादि दोष दिया था। अतः भेद प्रतीति में प्रमात्व को जोड़कर सिद्धान्ती अन्योन्याश्रयादि आपत्ति से नहीं बच सकते हैं। ''यदि भेददर्शनं अनुयोगिप्रतियोगिसापेक्षं स्यात् तदा अन्योन्याश्रयादिकं स्यात्।'' इस प्रकार अनुयोगी प्रतियोगी सापेक्ष भेद प्रतीति के द्वारा भी अन्योन्याश्रय का आपादन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उक्त प्रकार से आपादन करने पर अनुयोगी—प्रतियोगी के सापेक्षत्व मात्र की निवृत्ति होती है (जैसे वह्नि अभाव से धूमाभाव का आपादन करने पर पर्वत में वह्नि के अभाव की निवृत्ति होती है) किन्तु भेद को व्यावहारिक मानने वाले पक्ष में आने वाले अन्योन्याश्रयादि दोषों का निवारण नहीं होता है। यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अद्वैत वेदान्ती के मत में अघटित घटना पटयसी माया के सामर्थ्य से सभी आपत्तियों का निवारण हो जायेगा, क्योंकि माया के लिए सब कुछ सम्भव है। अतः माया परस्पर आश्रित पदार्थों को भी इन्द्रजाल के समान दिखला देगी। लघुचद्रिका के अनुसार यहाँ अर्थ यह है—मृत्तिका को घटादि रूप कार्य की अपेक्षा न होने पर भी भेद धी को जो अन्वय व्यतिरेक से भेदधी सापेक्षत्व है वह अविद्या से ही कल्पना किया गया है। जैसे भेद धी के विना भी किसी भेद धी की उत्पत्ति भूषण है न कि दूषण। जैसे इन्द्रजाल स्थल पर क्लृप्त कारण के विना कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है। फलतः भेद के आविद्यकत्व होने से भेद को तात्त्विक नहीं माना जा सकता अपितु व्यावहारिक माना जा सकता है और भेद के आविद्यकत्व होने से अन्योन्याश्रयादि दोष दूषण न होकर भूषण ही होगें। यह सिद्धान्ती का भाव है।।९।।

शङ्का— यदि अन्योन्याश्रयादि दोषों से दूषित होने पर भी अविद्या के सामर्थ्य से भेद की प्रतीति को व्यावहारिक मान रहे हों तब तो ईश्वर के सामर्थ्य से अन्योन्याश्रयादि दोषों से दूषित जो भेद की प्रतीति उसको सत्य मान लेनी चाहिए।

समाधान— ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उभयवादी सम्मत मिथ्याभूत इन्द्रजाल स्थल पर कार्य कारण भाव की व्यवस्था का अतिक्रमण कर के अर्थात् कारण के विना ही कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है किन्तु मिथ्या स्थल से भिन्न सत्य स्थल पर कारण के विना कार्य की उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। कारण

तस्मान्मायिकीति विपर्ययपर्यवसानात्; मायिके व्यवस्थोल्लङ्घनस्य दर्शनेन व्याप्तिसिद्धेः। उक्तश्रुत्या अस्वव्याघातकयुक्त्या च भेदस्य बाधादभेदस्याबाधाच्च स्वाभेदस्वभेदयोर्व्यावहारिकत्वे समानेऽपि स्वाभेदं परित्यज्य भेद एव सर्वथा प्रद्वेषो नाकारणकः।।१०।।

इत्यद्वैतसिद्धौ सामान्यतो भेदखण्डनम्।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

के विना कार्य का दर्शन यदि कहीं पर होता है तो उस कार्य में मिथ्यात्व ही पर्यवासित होगा। भेद में मायिकत्व का आपादन इस प्रकार से होता है—भेद तथा भेद का ज्ञान यदि मायिक न हो तो सर्वव्यवस्था का उल्लंघन करने वाले नहीं होंगे, किन्तु सर्वव्यवस्था का उल्लंघन करने वाले हैं। अतः भेद और भेद ज्ञान ये दोनों मायिक हैं। ऐसा फलितार्थ निष्पन्न होता है। ''यत्र यत्र सर्वव्यवस्थोलंघित्वं तत्र तत्र मायिकत्वम्'' ऐसी व्याप्ति इन्द्रजालादि स्थल पर निश्चित है। ''नात्र काचन भिदाऽस्ति'' इत्यादि श्रुतियों और स्वाव्याघातक युक्तियों के द्वारा भेद का बाध और ब्रह्म स्वरूप अभेद का अबाध होने के कारण स्वाभेद = ब्रह्म से अभिन्न जीव का ब्रह्म से अभेद और स्वभेद = ब्रह्म से अभिन्न जीव का ब्रह्म से भेद ये दोनों समग्र रूप से व्यावहारिक होने पर भी स्वाभेद को छोड़ भेद का निराकरण करना युक्ति रहित नहीं है अपितु युक्तियुक्त है।।१०।।

—:इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां सामान्यतो भेदखण्डनम्:—

१६– विशेषतो भेदखण्डनविचारः

ननु–निरपेक्षस्वरूपत्वे सापेक्षत्वानुपपत्तिरिति यदुक्तं, तत्तावदयुक्तम्, अविद्यानिवृत्तेर्जीवब्रह्मैक्यस्य च तव मते मतद्वयेऽपि स्थितौ व्यक्तिसापेक्षस्य जातिमात्रस्य प्रतीतौ सापेक्षस्य नीलतरत्वादेरर्थप्रकाशात्मकज्ञानस्य ब्रह्मणि ब्रह्माभेदस्य 'अस्ति ब्रह्म'इत्यादौ कालसापेक्षस्यास्तित्वस्य निरपेक्षब्रह्मव्यक्त्यादिरूपताया दर्शनादिति–चेत्।१ ।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का– ''सामान्यतो भेदखण्डनविचारः'' के खण्ड संख्या १ में सिद्धान्ती ने कहा था– ''भेदस्य स्वरूपत्वे अनपेक्षत्वापत्त्या'' अर्थात् घट में रहने वाले पट भेद को घट स्वरूप मानने पर घट भाव पदार्थ होने के कारण अनुयोगी प्रतियोगी निरपेक्ष है, क्योंकि अभाव पदार्थ ही अनुयोगी प्रतियोगी सापेक्ष होता है। इसलिए अनुयोगी प्रतियोगी निरपेक्ष जो घट उस घट का स्वरूप भेद होने पर भेद भी अनुयोगी प्रतियोगी निरपेक्ष हो जायेगा। ऐसा होने पर भेद में अनुयोगिप्रतियोगिरूप सापेक्षत्व की अनुपपत्ति होगी। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि {''अविद्यानिवृत्तेर्जीवब्रह्मैक्यस्य च (प्रतीतौ सापेक्षस्य) तव मते निरपेक्षब्रह्मव्यक्त्यादिरूपताया दर्शनात्'' ऐसा अन्वय करना चाहिए।} अविद्या निवृत्ति अधिष्ठान स्वरूप होने के कारण निरपेक्ष ब्रह्म स्वरूप होने पर भी अविद्या निवृत्ति की प्रतीति अविद्या प्रतीति सापेक्ष है, क्योंकि पहले अविद्या की प्रतीति जिसको होती रही उसी को ही बाद में अविद्या निवृत्ति की प्रतीति होती है। (इसी प्रकार पट भेद भी निरपेक्ष घट स्वरूप होने पर भी अनुयोगिप्रतियोगी सापेक्ष हो जायेगा।) और जीवब्रह्मैक्य निरपेक्ष्य ब्रह्म स्वरूप होने पर भी जीवब्रह्मैक्य की प्रतीति परस्पर प्रतीति सापेक्ष है। अर्थात् जीव में ब्रह्मैक्य की प्रतीति होने पर ब्रह्म में जीवैक्य की प्रतीति होती है और ब्रह्म में जीवैक्य की प्रतीति होने पर जीव में ब्रह्मैक्य की प्रतीति होती है। {''मतद्वयेऽपि स्थितौ व्यक्तिसापेक्षस्य जातिमात्रस्य निरपेक्षब्रह्मव्यक्त्यादिरूपताया दर्शनात्'' ऐसा अन्वय करना चाहिए।} पूर्वपक्षी और सिद्धान्ती दोनों के ही मतों में सभी जाति स्थिति में व्यक्ति की अपेक्षा रखती है किन्तु सभी जाति का स्वरूप व्यक्ति आदि से निरपेक्ष्य होता है। इसी प्रकार भेद भी निरपेक्ष होने पर भी सापेक्ष हो जायेगा। {''प्रतीतिसापेक्षस्य नीलतरत्वादेः निरपेक्षब्रह्मव्यक्त्यादिरूपताया दर्शनात्''– ऐसा अन्वय करना चाहिए। ''नीलतरत्वादेरिव'' ऐसा पाठान्तर है।} नीलतरत्व = न्यून नील की अपेक्षा से अधिक नील। अन्य = न्यून नील वाला पदार्थ की प्रतीति के विना नीलतर वस्तु में नीलतरत्व की प्रतीति नहीं हो सकती है। अतः नीलतरत्व की प्रतीति अन्य नील व्यक्ति सापेक्ष है। जबकि नीलतरत्व निरपेक्ष व्यक्ति स्वरूप है। {''प्रतीतौ सापेक्षस्य अर्थप्रकाशात्मकज्ञानस्य ब्रह्मणि ब्रह्माभेदस्य च निरपेक्षब्रह्मव्यक्त्यादिरूपताया दर्शनात्।'' ऐसा अन्वय करना चाहिए।} अर्थ प्रकाशात्मक जो ज्ञान वह अपनी प्रतीति में अर्थ (घटादि विषय) की अपेक्षा करता है। (अर्थात् घटादि के रहने पर घट ज्ञान होगा और घट ज्ञान होने पर घट ज्ञान का ज्ञान होता है– ऐसी पूर्वपक्षी के कहने का भाव है।) अतः ज्ञान अपनी प्रतीति में अर्थ प्रतीति सापेक्ष है। इस प्रकार से सापेक्ष जो ज्ञान वह भी निरपेक्ष ब्रह्म स्वरूप देखा गया है। इसी प्रकार ब्रह्म में जो स्व (ब्रह्म) का जो अभेद है। वह अपनी प्रतीति में ब्रह्म की प्रतीति की अपेक्षा करता है। इस प्रकार से सापेक्ष जो ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मभेदाभाव (अभेद) भी निरपेक्ष ब्रह्म स्वरूप देखा गया है। अस्ति ब्रह्म = ब्रह्म का अस्तित्व। अस्तित्व = वर्तमान कालीन सत्ता। ऐसी सत्ता अपनी प्रतीति में वर्तमान काल के प्रतीति की अपेक्षा करती है। इस प्रकार सापेक्ष जो अस्तित्व वह भी निरपेक्ष ब्रह्म स्वरूप देखा गया है।।१ ।।

न, अविद्यानिवृत्तिजीवब्रह्मैक्ययोः प्रतीतौ सापेक्षत्वस्याविद्यकतया तात्त्विकनिरपेक्षत्वविरोधित्वाभावात्। जातिमात्रस्य व्यक्त्यभेदासिद्धिः; व्यक्तिसमानसत्ताकघटत्वादौ तदभावात्, व्यक्त्यसमानसत्ताकसत्तादिजातौ तु सापेक्षत्वस्य काल्पनिकत्वात् नीलतरत्वादेर्व्यक्तिरूपत्वासिद्धौ हेतोरेभावादर्थप्रकाशात्मकज्ञानस्य ब्रह्माभेदस्य च सापेक्षतायाः काल्पनिकत्वात्। अस्ति ब्रह्मेत्यादावप्येवमेव। तथा च तत्त्वतो निरपेक्षस्य सामानाधिक–

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान– ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अविद्या की निवृत्ति और जीव ब्रह्मैक्य एतदुभयनिष्ठ प्रतीति निरूपित जो सापेक्षत्व है। वह आविद्यक है। इसलिए वह तात्त्विक निरपेक्षता का विरोधी नहीं होगा। (कहने का भाव यह है कि अविद्या की निवृत्ति और जीव ब्रह्म का अभेद ये दोनों जो प्रतीति में सापेक्ष है। वह सापेक्षता अविद्या से कल्पित है। अतः ये दोनों आविद्यक विशिष्ट रूपेण सापेक्ष है और जो सापेक्ष स्वरूप आविद्यक विशिष्ट हैं वह निरपेक्ष ब्रह्म स्वरूप नहीं है। अर्थात् जो सापेक्ष है वही निरपेक्ष सिद्ध नहीं हुआ। अतः पूर्वपक्षी का प्रथम दृष्टान्त खण्डित हो गया।) घटत्वादि जाति को सद्‌रूप ब्रह्म से अभिन्न माना जाय अथवा ब्रह्म से भिन्न माना जाय। दोनों ही पक्षों में व्यक्ति से सम्बन्धित होने के कारण जाति व्यक्ति से अभिन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि सम्बन्ध हमेशा भिन्न दो पदार्थों में होता है। फलतः जाति और व्यक्ति में अभेद असिद्ध है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि व्यक्ति (घट) जिस सत्ता वाला है उसी सत्ता वाली व्यक्ति में रहने वाली जाति भी होती है किन्तु ऐसी जो घटत्वादि जाति उसमें व्यक्ति का अभेद नहीं है क्योंकि जाति व्यक्ति से पूर्व में विद्यमान अनादि होती है और व्यक्ति सादि होता है। अतः अनादि जाति और सादि व्यक्ति का अभेद नहीं हो सकता है। फलतः अनादि जाति अपनी स्थिति के लिए व्यक्ति की अपेक्षा नहीं करेगी। अतः पूर्वपक्षी का द्वितीय दृष्टान्त खण्डित हो गया। यदि कहा जाय कि व्यक्ति असमान सत्ताक जो ब्रह्म है। वही सत्ता जाति है–इस पक्ष में भी स्थिति में व्यक्ति की सापेक्षता जाति में जो पूर्वपक्षी ने कहा था। वह सापेक्षता भी आविद्यक (काल्पनिक) है। अतः जाति आविद्यक विशिष्ट रूपेण सापेक्ष है। फलतः जाति का जो सापेक्ष स्वरूप अविद्या विशिष्ट है। वह निरपेक्ष ब्रह्म स्वरूप नहीं है। इस प्रकार से भी पूर्वपक्षी का द्वितीय दृष्टान्त खण्डित हो जाता है। पूर्वपक्षी ने सापेक्ष नीलतरत्व को निरपेक्ष व्यक्ति स्वरूप माना और इसी को दृष्टान्त बनाकर सापेक्ष भेद को निरपेक्ष अधिकरण स्वरूप सिद्ध करना चाहा था। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि पूर्वपक्षी का दृष्टान्त ही असिद्ध है, क्योंकि कोई हेतु न होने के कारण नीलतरत्व को व्यक्ति स्वरूप सिद्ध ही नहीं किया जा सकता हैं। अतः पूर्वपक्षी का यह दृष्टान्त भी खण्डित हो गया। अर्थ प्रकाश स्वरूप जो ज्ञान और ब्रह्म में ब्रह्म का अभेद ये दोनों जो प्रतीति में सापेक्ष है। वह सापेक्षता आविद्यक है। अतः ये दोनों आविद्यक विशिष्ट रूपेण सापेक्ष हैं और जो सापेक्ष स्वरूप आविद्यक विशिष्ट है वह निरपेक्ष ब्रह्म स्वरूप नहीं है। अर्थात् जो सापेक्ष है वही निरपेक्ष सिद्ध नहीं हुआ। अतः पूर्वपक्षी का उक्त दृष्टान्त भी खण्डित हो गया। इसी प्रकार से ''अस्ति ब्रह्म'' में अस्तित्व की जो काल सापेक्षता है। वह भी आविद्यक है। फलतः जो सापेक्ष स्वरूप आविद्यक विशिष्ट है वही निरपेक्ष ब्रह्म स्वरूप नहीं है। अतः उक्त दृष्टान्त भी खण्डित हो गया। इस प्रकार से यह सिद्ध हो गया कि जिसमें तत्त्वतः निरपेक्षत्व है उसी में तत्त्वतः सापेक्षत्व नहीं रह सकता है। इसलिए सिद्धान्ती का तर्क तर्काभास नहीं है। अर्थात् सिद्धान्ती के द्वारा कथित तर्क = भेदो यदि तत्त्वतो निरपेक्षघटादिस्वरूपः स्यात् तदा तत्त्वतः सापेक्षो न स्यात्, परमते च तत्त्वतः सापेक्ष एव भेदः। तस्मात् (भेदः) न तत्त्वतः निरपेक्षघटादि स्वरूपः। {अर्थात् भेद यदि तत्त्वतः निरपेक्ष घटादि स्वरूप होगा तो तत्त्वतः सापेक्ष न होगा किन्तु पूर्वपक्षी के मत में भेद तत्त्वतः

रण्यासिद्ध्या न तर्काभासताव्याप्तिसिद्धिः।।२।।

अत एव—ऐक्यस्यास्वरूपत्वे अद्वैतहानिः, मिथ्यात्वे भेदस्य सत्यत्वप्रसङ्गः, यत्र यदध्यस्तं तत्र तद्विरोधि तज्ज्ञानाबाध्यम्। यथा शुक्तावरूप्यत्वम्। यत्र यदैक्यं बाध्यं तत्र तद्भेदस्तज्ज्ञानाबाध्यः। यथा दूरस्थवनस्पत्योर्भेद इति वा। यत्र यदध्यस्तं तत्र तद्विरोधि तात्त्विकम्, यथा ब्रह्मण्यनृतत्वस्याध्यस्तत्वे सत्यत्वं तात्विकमिति वा व्याप्तेरिति—निरस्तम्; ऐक्यस्य ब्रह्मभेदानङ्गीकारात्, विरोध्यनुरोधिनां सर्वेषां ब्रह्मणि कल्पितत्वेन तज्ज्ञानबाध्यत्वेन व्याप्तीनामसिद्धेः।।३।।

ननु—ऐक्यस्य निरपेक्षत्वे तत्त्वंपदार्थपराणां 'सत्यं विज्ञानघन' इत्यादीनामैक्यपरमहावाक्यैकवाक्यत्वाभावेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

सापेक्ष ही है। अतः भेद निरपेक्ष घटादि स्वरूप नहीं हो सकता है।) इस प्रकार सत्तर्क से सहकृत सिद्धान्ती की व्याप्ति (यत्र यत्र तत्त्वतः सापेक्षत्वं तत्र तत्र न तत्त्वतो निरपेक्षत्वम्} की सिद्धि हो गयी।।२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि अभेद को ब्रह्म स्वरूप न मानने पर और सत्य मानने पर अद्वैत की हानि होगी और अभेद के मिथ्या होने पर भेद को सत्य मानने का प्रसङ्ग आयेगा। इसको सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्षी के द्वारा कई व्याप्तियाँ दी जा रही हैं। उसमें से प्रथम व्याप्ति यह है कि (१) जहाँ जो पदार्थ मिथ्या होता है वहाँ पर उस मिथ्या का विरोधी पदार्थ, मिथ्या का जो अधिष्ठान उसके ज्ञान से बाधित नहीं होता है। जैसे शुक्ति में रजतत्व मिथ्या होता है उस मिथ्या रजतत्व का विरोधी रजतत्वाभाव शुक्ति के ज्ञान से बाधित नहीं होता है। ठीक इसी प्रकार प्रकृत में भी ब्रह्म में अभेद अध्यस्त है। अतः उस अभेद का विरोधी भेद ब्रह्म ज्ञान से बाधित नहीं होगा। फलतः भेद सत्य सिद्ध हो जायेगा। (२) द्वितीय व्याप्ति का आकार—जहाँ पर जिसका अभेद ज्ञान से बाधित होता है वहाँ पर उसका भेद बाध्य के अधिष्ठान के ज्ञान से बाधित नहीं होता है। जैसे दूर में स्थित दो वृक्षों का भेद। दूर में स्थित दो वृक्षों में जो अभेद दिखायी पड़ता है। वह अभेद पृथक् पृथक् दोनों वृक्षों के ज्ञान होने पर बाधित होता है किन्तु दूर में स्थित उन दो वृक्षों में जो भेद हैं वह भेद उक्त वृक्षों के पृथक्—पृथक् ज्ञान होने पर बाधित नहीं होता है। इसी प्रकार प्रकृत में भी ब्रह्म में जो प्रपञ्च का अभेद है वह ब्रह्म ज्ञान से बाधित होता है किन्तु प्रपञ्च का ब्रह्म में जो भेद हैं वह ब्रह्म ज्ञान से बाधित नहीं होता है। (३) तृतीय व्याप्ति का आकार— जहाँ पर जो पदार्थ अध्यस्त होता है वहाँ पर अध्यस्त का विरोधी पदार्थ सत्य होता है। जैसे ब्रह्म में अनृतत्व अध्यस्त होता है। उसी ब्रह्म में अध्यस्त अनृतत्व का विरोधी सत्यत्व तात्त्विक होता है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्म में अभेद को अध्यस्त मानने पर उस अभेद का विरोधी भेद सत्य सिद्ध हो जायेगा।

समाधान— अत एव निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। ''अत एव'' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ब्रह्मगत अभेद में ब्रह्म का भेद नहीं माना जाता है। अर्थात् अभेद ब्रह्म स्वरूप ही हैं। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा कथित दोषों को कोई अवकाश नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि पूर्वपक्षी ने विरोधी के रूप से जिस—जिस का दृष्टान्त दिया है। जैसे शुक्ति में अरूप्यत्व जो रूप्यत्व का विरोधी है और दूरस्थ वृक्षों में भेद जो अभेद का विरोधी है— ये सभी ब्रह्म में कल्पित होने के कारण ब्रह्मज्ञान से बाध्य ही हैं। अतः उक्त व्याप्तियों के व्यापक में जो अबाध्यत्व पद दिया था। वह सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि वे सभी ब्रह्म ज्ञान से बाध्य ही है। अतः पूर्वपक्षी की उक्त व्याप्तियाँ भङ्ग हो गयी।।३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जब ब्रह्मगत जीव ऐक्य को अनुयोगी (ब्रह्म) और प्रतियोगी (जीव) सापेक्ष माना जाय तब वह तत् और त्वम् का ऐक्य तत् पदार्थ का शोधक वाक्य ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म''

वैयर्थ्यं स्यादिति—चेन्न; ऐक्यस्य स्वप्रकाशब्रह्माभिन्नतया स्थितिप्रतीत्यादौ निरपेक्षत्वेऽपि (यथा) लक्षितार्थभेदभ्रमनिवर्त्तकवृत्तिजनने पदार्थसापेक्षतया स्वरूपपरवाक्यानामेकवाक्यतायाः सत्त्वात्, भेदरूपप्रतियोगिसापेक्षत्वेन एक्ये सापेक्षत्वव्यवहारात्। न च घटः पटो नेति नञर्थस्य भेदस्यैव तादात्म्यनिषेध ारूपत्वेन वैपरीत्यम्; तादात्म्यस्य तन्निष्ठासाधारणधर्मरूपत्वे भेदस्याभेदानपेक्षत्वात्, अभेदरूपत्वे भेदसापेक्षत्वेनैव

सत्यानन्दप्रबोधिका

(तै० २—१—१) त्वम् पदार्थ का शोधक वाक्य ''विज्ञानघनः'' इन दोनों की अपेक्षा रखेगा। ऐसा होने पर ब्रह्मगत जीव ऐक्य का बोधक ''तत्त्वमसि'' वाक्य की उन दोनों शोधक वाक्यों के साथ एक वाक्यता होगी। किन्तु ऐक्य को निरपेक्ष मानने पर वह ऐक्य उन दोनों शोधक वाक्यों की अपेक्षा नहीं रखेगा तब ''तत्त्वमसि'' वाक्य का उन दोनों शोधक वाक्यों के साथ एक वाक्यता न होने के कारण दोनों शोधक वाक्य व्यर्थ हो जायेंगे।

समाधान— ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि स्वप्रकाश स्वरूप ब्रह्म से ऐक्य अभिन्न है। अतः ब्रह्म स्वप्रकाश होने के कारण जैसे अपनी स्थिति और प्रतीति में निरपेक्ष है ठीक उसी प्रकार से ऐक्य भी स्थिति और प्रतीति में निरपेक्ष होता है। किन्तु तत् पद का लक्षितार्थ और त्वम् पद का लक्षितार्थ में वास्तव में अभेद रहने पर भी लोगों को भेद का भ्रम हैं। उस भेद भ्रम का निवर्तक जो अखण्डाकार वृत्ति उसको उत्पन्न करने में तत् और त्वम् के शोधित पदार्थ की अपेक्षा ऐक्य को है। इसलिए स्वरूप बोधक तत्त्वमसि वाक्य को उक्त दोनों शोधक वाक्यों की अपेक्षा होने से एक वाक्यता बन जाती है। अतः उक्त दोनों शोधक वाक्य सार्थक हैं। ऐक्य = अभेद = भेदाभाव का प्रतियोगी भेद है। उस भेद सापेक्ष ऐक्य के होने से तत्र = जीव ब्रह्म के ऐक्य में अनुयोगी प्रतियोगी घटित सापेक्षता का व्यवहार होता है। इसलिए ''जीवब्रह्मणोरभेदः'' इत्यादि स्थल पर प्रतियोगिघटित रूप से सापेक्ष व्यवहार देखा जाता है।

शङ्का— ऐक्य निषेध रूप भेद में जैसे सापेक्षत्व रूप व्यवहार होता है वैसे ही भेद का निषेधरूप ऐक्य में भी सापेक्षत्व व्यवहार होना चाहिए। इस आशय से पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''घटः पटो न'' इत्यादि स्थल पर नञर्थ भेद में जैसे सापेक्षत्व व्यवहार माना जाता है वैसे ही भेद = तादात्म्य निषेध रूप और तादात्म्य = भेद निषेध रूप होने से तादात्म्य का भी भेद रूप प्रतियोगी से घटित व्यवहार होगा। इसलिए तादात्म्य (ऐक्य) निरपेक्ष के विपरीत सापेक्ष सिद्ध हो गया।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि तादात्म्य को तादात्म्य वाले में रहने वाला असाधारण धर्म रूप मानते हो? या तादात्म्य को तादात्म्य वाले का स्वरूप मानते हो। प्रथम पक्ष में तादात्म्य और अभेद दोनों भिन्न—भिन्न हो जायेंगे, क्योंकि अभेद तो अधिकरण (धर्मी) स्वरूप है और तादात्म्य को तो तुमने असाधारण धर्म माना है। ऐसा होने पर तादात्म्याभाव = भेद। इस भेद को अपने प्रतियोगी तादात्म्य की अपेक्षा हो सकती है किन्तु अभेद की अपेक्षा नहीं हो सकती है, क्योकि अभेद और तादात्म्य पृथक् पृथक् हैं। अतः प्रथम पक्ष खण्डित हो गया। तादात्म्य को अधिकरण स्वरूप मानने पर अर्थात् अभेद रूप मानते हैं तब तो तुमने भेद = तादात्म्याभाव रूप कहा अर्थात् अभेदाभाव कहा। अतः भेद अपने प्रतियोगी तादात्म्य (अभेद) की अपेक्षा करता है किन्तु अधिकरण स्वरूप होने के कारण अभेद भेद के प्रतियोगी अभेद की अपेक्षा नहीं करता है, क्योंकि स्व में स्व की अपेक्षा होने पर आत्माश्रयादि दोष होगा।

शङ्का— एतावता = अभेद को भेद के प्रतियोगी (अभेद) की अपेक्षा न रहने पर भी अभेद का प्रतियोगी जो भेद उसकी अपेक्षा अभेद को रहने से अभेद में सापेक्षत्व की आपत्ति होगी।

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि काल्पनिक सापेक्षत्व हमें ईष्ट ही है। अर्थात् अभेद का

तस्य तदनपेक्षत्वात्। नचैतावता ऐक्यस्य सापेक्षत्वापत्तिः, काल्पनिकस्येष्टत्वात्।।४।।

अतएव—अज्ञानहानिवद्ब्रह्मरूपधीवदभेदवत्स्वरूपत्वेऽपि भेदस्य सापेक्षत्वं हि युज्यत इति—निरस्तम्; तव सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वयोस्तात्त्विकतया दृष्टान्तवैषम्यात्। न च भेदेऽप्येवमेवास्तु; भेदस्य निषेधप्रतियोगितया श्रुतत्वेन ब्रह्मरूपत्वाभावात्। न च तत्राभेदश्रुतिरस्ति। एतेन—स्वरूपेण निरपेक्षस्याप्यभेदस्याभेदत्वेन सापेक्षत्ववत् स्वरूपेण निरपेक्षस्यापि घटस्य भेदत्वेन सापेक्षत्वमस्तु, अवच्छेदकभेदेन सप्रतियोगित्वाप्रतियोगित्वे अपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

दो स्वरूप है। (१) सापेक्षभेदप्रतियोगिकत्व से उपहित स्वरूप और (२) निरपेक्ष अधिकरण स्वरूप। प्रथम स्वरूप काल्पनिक है और द्वितीय स्वरूप वास्तविक है। प्रथम स्वरूप काल्पनिक होने के कारण उसमें आया हुआ सापेक्षत्व द्वितीय वास्तविक स्वरूप के निरपेक्षत्व का विरोधी नहीं होगा।।४।।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि अज्ञान की हानि (निवृत्ति) तथा ब्रह्मस्वरूपभूतज्ञान और अभेद ये तीनों ब्रह्मस्वरूप भूत होने पर भी जैसे सापेक्ष हैं वैसे ही भेद निरपेक्ष घट स्वरूप होने पर भी सापेक्ष माना ही जा सकता है।

समाधान— अत एव निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। अत एव = अभेद का जो काल्पनिक सापेक्षत्व हमें ईष्ट होने से पूर्वपक्षी का उक्त कथन निरस्त हो गया। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि सिद्धान्त मत में अज्ञान की निवृत्ति आदि तीनों का जो स्वरूप तात्त्विक है वह निरपेक्ष है और उक्त तीनों का जो स्वरूप सापेक्ष है। वह तो अज्ञान निवृत्ति विशिष्ट रूप कल्पित है। इसलिए जो तात्त्विक स्वरूप निरपेक्ष है वहीं स्वरूप सापेक्ष न होने से सिद्धान्त मत में कोई असंगति नहीं है, किन्तु पूर्वपक्षी के मत में भेद का जो निरपेक्ष घट स्वरूप है, वह भी तात्त्विक है और पट प्रतियोगिकत्व विशिष्ट भेद स्वरूप भी तात्त्विक है। दोनों ही तात्त्विक होने से पूर्वपक्षी के मत में असंगति है, क्योंकि एक ही भेद का दो परस्पर तात्त्विक विरुद्ध स्वरूप (निरपेक्षत्व और सापेक्षत्व) नहीं हो सकता है और भेद को निरपेक्ष घट स्वरूप मानने पर अनुयोगिप्रतियोगिसापेक्षत्व की अनुपपत्ति होगी। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती जैसे ऐक्य के निरपेक्ष्य स्वरूप को तात्त्विक मान रहें है और सापेक्ष स्वरूप को कल्पित मान रहे हैं वैसे ही हम भी भेद के निरपेक्ष स्वरूप को तात्त्विक मानेगें और सापेक्ष स्वरूप को कल्पित मानेंगे। अतः दृष्टान्त दार्ष्टान्ति में वैषम्य नहीं होगा।

समाधान— ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जीव का भेद जो ब्रह्म में है, वह भेद ब्रह्म स्वरूप होने के कारण तात्त्विक है— ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ''नात्र काचन भिदाऽस्ति'' ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा भेद का निषेध कर दिये जाने से भेद ब्रह्म स्वरूप नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि भेद का ब्रह्म से अभेद बतलाने वाली श्रुति नहीं है जिसके बल पर भेद के निरपेक्ष स्वरूप को तात्त्विक माना जा सके। यदि कहा जाय कि अभेद को ब्रह्म स्वरूप बतलाने वाली श्रुति भी तो नहीं है। इसका उत्तर देते हुए लघुचन्द्रिकाकार ने कहा कि ऐक्य ब्रह्म स्वरूप है इसको बतलाने वाली श्रुति ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' इत्यादि हैं।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्रह्म स्वरूपेण अभेद निरपेक्ष होने पर भी अभेदत्वेन (सप्रतियोगिकत्वेन अर्थात् जीव का ब्रह्म में अभेद है— यहाँ अभेद का प्रतियोगी = जीव) सापेक्ष है। इसी प्रकार भेद जो है वह घट स्वरूप होने से निरपेक्ष है और भेदत्वेन (सप्रतियोगिकत्वेन) सापेक्ष हो जायेगा, क्योंकि जैसे अभेद में सापेक्षत्वावच्छेदेन सप्रतियोगिकत्व है और निरपेक्षत्वावच्छेदेन अप्रतियोगिकत्व है। उसी प्रकार भेद में भी

तद्वदिति—निरस्तम्; भेदस्य स्वरूपतो निरपेक्षत्वे निष्प्रतियोगित्वे च परान् प्रतीव स्वमपि प्रति अविशिष्टतया स्वव्याघात:। न चैवमभेदस्यापि स्वान् प्रतीव परान् प्रति तथासति तथात्वापत्ति:; इष्टापत्ते:। घटत्वादिना भेद: परं कल्पित:, स्वरूपतस्त्वभेद एव। तथासति परत्वं परं व्याहतम्; न स्वरूपत्वमपि।।५।।

यत्तु सप्रतियोगिकत्वनिष्प्रतियोगिकत्वव्यवस्था तु यदसाधारण्येन स्ववाचकप्रवृत्तिनिमित्तावच्छेदेन प्रतीतौ प्रतियोगिप्रतीतिसापेक्षं तत्सप्रतियोगिकम्, अन्यत्तु निष्प्रतियोगिकमिति, तन्न; भेदस्य स्वरूपत्वे तदन्यत्वासिद्धे:।

सत्यानन्दप्रबोधिका

सापेक्षत्वावच्छेदेने सप्रतियोगिकत्व और निरपेक्षत्वाच्छेदेन अप्रतियोगिकत्व माना ही जा सकता है।

समाधान— एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। एतेन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि भेद को स्वरूप से निरपेक्षत्व और निष्प्रतियोगित्व मानने पर जैसे घट का भेद कहते है वैसे ही भेद का भेद कह सकते हैं ऐसा होने पर स्व को ही स्व से भिन्नत्व की आपत्ति होने से स्व का व्याघात होगा।

शङ्का— एवम् = ब्रह्म स्वरूपेण अभेद को निरपेक्ष मानने पर जीवों के प्रति निरपेक्षत्वेन ब्रह्म का अभेद जैसे कहा जाता है वैसे ही निरपेक्षत्वेन घटादि के प्रति भी ब्रह्म के अभेद को मानना चाहिए। अर्थात् घटो ब्रह्म पटो ब्रह्म— ऐसा मानना चाहिए।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी के उक्त कथन में हमें इष्टापत्ति है। ब्रह्मस्वरूप एक पदार्थ में पटत्व घटत्वादि रूप से भेद कल्पित है और पटादि का स्वरूप तो ब्रह्म ही है। अत: ब्रह्म के साथ पटादि का अभेद अव्याहत है। फलत: घटादि में ब्रह्म भिन्नत्व व्याहत है, ब्रह्म स्वरूपत्व व्याहत नहीं है, क्योंकि ब्रह्म स्वरूप अधिष्ठान में घटादि कल्पित है। अर्थात् निरधिष्ठानक भ्रम न होने से ब्रह्म स्वरूपत्व का व्याहतत्व नहीं दिखाया जा सकता है।।५।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सप्रतियोगिकत्व और निष्प्रतियोगिकत्व की व्यवस्था इस प्रकार से है। स्व = अभाव आदि पदार्थ। अर्थात् जो पदार्थ अभाव आदि का असाधारण्येन वाचक है। अर्थात् केवल अभाव आदि अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, अभावादि से भिन्न पदार्थ में जो वाचक पद प्रयुक्त नहीं होता है। उस पद की प्रवृत्ति का जो निमित्त अभावत्वादि है। उस अभावत्वेन पदार्थ की जो प्रतीति होती है। उस प्रतीति में यदि वह पदार्थ प्रतियोगी के प्रतीति की अपेक्षा रखता है तब उस (अभावादि) पदार्थ को सप्रतियोगिक कहा जायेगा। अर्थात् अभावत्वेन अभाव पदार्थ की प्रतीति प्रतियोगी प्रतीति की अपेक्षा रखती है। अत: उस अभाव पदार्थ को सप्रतियोगिक कहा जायेगा और जो पदार्थ अपने असाधारण्येन वाचक पद की प्रवृत्तिनिमित्तावच्छेदेन प्रतीति में प्रतियोगी प्रतीति की अपेक्षा नहीं रखता है तब उस पदार्थ को निष्प्रतियोगिक कहा जायेगा। जैसे घटादि भाव पदार्थ अपने—अपने असाधारण वाचक घटादि पद के प्रवृत्ति निमित्त जो घटत्व उस घटत्वावच्छेदेन घट पदार्थ की जो प्रतीति होती है। उस घटत्वेन घट की प्रतीति में घटादि पदार्थ प्रतियोगी की अपेक्षा नहीं रखता है। अत: घटादि भाव पदार्थों को निष्प्रतियोगिक कहा जायेगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि भेद को घट स्वरूप मान लेने पर भेद चाहे अभावत्वेन या घटत्वेन प्रतीत हो। उभय दशा में ही घटस्वरूपभेद प्रतियोगी की अपेक्षा रखेगा। वह कभी भी सप्रतियोगिक से भिन्न निष्प्रतियोगिक नहीं हो सकता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि एक ही लघु पदार्थ का यदि लघुत्वेन उल्लेख हो तो वह लघु पदार्थ निरपेक्ष (निष्प्रतियोगिक) होता है और वही लघु पदार्थ यदि अगुरुत्वेन उल्लेख हो तो वह लघु पदार्थ सापेक्ष होता है, क्योंकि अगुरुत्व के प्रतियोगी गुरुत्व की अपेक्षा करता है। इसी प्रकार एक ही कठिन पदार्थ

एतेन— एकस्यार्थस्य लघुत्वकठिनत्वादिना उल्लेखेन निरपेक्षत्वेऽपि अगुरुत्वाद्रवत्वादिना उल्लेखेन सापेक्षत्वमपि यथा, तथा घट इत्युल्लेखेन निरपेक्षस्यापि भेद इत्युल्लेखे सापेक्षत्वोपपत्तिरिति—निरस्तम्; शब्दानुल्लेखेऽपि सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वयोरनुभवाच्च, लयादिवत् नञनुल्लेखमात्रेण दृष्टान्तासम्प्रतिपत्तेश्च।।६।।

न च—एकस्यैव गमनस्य गच्छतिचलतिशब्दोल्लेखाभ्यामेकस्यैव च प्रयत्नस्य करोति प्रवर्त्तते इति शब्दोल्लेखाभ्यां कर्मसापेक्षत्वनिरपेक्षत्वयोः शब्दस्वभावप्रयुक्तिदर्शनादत्रापि घटभेदशब्दोल्लेखेन सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वे स्यातामिति—वाच्यम्, अर्थगतसकर्मकत्वादीनां शब्दस्वभावानधीनत्वात्। प्रत्युत एकस्मिन्नेव तपधातावर्थभेदेन तयोर्दर्शनात् तपति ऋषिस्तपति पृथिवीं सवितेत्यादौ। एवञ्च दृष्टान्तेषु अर्थभेद एव; फलं

सत्यानन्दप्रबोधिका

कठिनत्वेन उल्लेख होने पर वह निरपेक्ष होता है और वही कठिन पदार्थ अद्रवत्वेन उल्लेख होने पर सापेक्ष होता है क्योंकि अद्रवत्व के प्रतियोगी द्रवत्व की अपेक्षा करता है। ठीक इसी प्रकार भेदस्वरूपघट का घटत्वेन (घटोऽयम्) उल्लेख होने पर वह घट पदार्थ निरपेक्ष होता है और भेदस्वरूपघट पदार्थ का भेदत्वेन (भेदोऽयम्) उल्लेख होने पर वह घटस्वरूपभेद प्रतियोगी की अपेक्षा करने से सापेक्ष हो जाता है।

समाधान— एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। एतेन = स्वरूपतः ऐक्ये सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वासम्भवेनेत्यर्थः। अर्थात् जो पदार्थ सापेक्ष है उसका किसी भी शब्द से उल्लेख करें या न करें। वह हमेशा सापेक्ष ही रहेगा। इसी प्रकार जो पदार्थ निरपेक्ष है। उसका किसी भी शब्द से उल्लेख करें या न करें। वह हमेशा निरपेक्ष ही रहेगा। जैसे नञ् का उल्लेख न होने पर भी लय पद ''कारण में कार्य का ध्वंस'' रूप अर्थ का ही बोध कराता है और नञ् पद के उल्लेख न होने पर भी लय को सप्रतियोगिक ही माना जाता है ठीक इसी प्रकार लघु कठिन आदि नञ् के न रहने पर भी गुरुत्वाभाव— द्रवत्वाभाव का बोधन कराता है। अतः लघु कठिन सप्रतियोगिक ही है। अतः दृष्टान्त की असिद्धि है। ''सापेक्षनिरपेक्षयोरनुभवाच्च'' ऐसा पाठान्तर है।।६।।

शङ्का— एकस्यैव गमनस्य गच्छति शब्दोल्लेखेन कर्मसापेक्षत्वस्य, चलति शब्दोल्लेखेन कर्मनिरपेक्षत्वस्य शब्दस्वभावप्रयुक्तिदर्शनात्—ऐसा अन्वय है। एकस्यैव प्रयत्नस्य करोति इति शब्दोल्लेखेन कर्मसापेक्षत्वस्य प्रवर्तते इति शब्दोल्लेखेन कर्मनिरपेक्षत्वस्य शब्दस्वभावप्रयुक्तिदर्शनात्—ऐसा अन्वय है। ये दोनों ही दृष्टान्त हैं। अर्थात् गमन रूप एक क्रिया को सकर्मक गच्छति शब्द से उल्लेख होने पर अर्थात् ''ग्रामं गच्छति'' यहाँ पर कर्म सापेक्षत्व की प्रतीति होती हैं। किन्तु उसी गमन क्रिया का चलति शब्द से उल्लेख होने पर अर्थात् ''ग्रामाय चलति'' यहाँ पर कर्मनिरपेक्षत्व की प्रतीति होती है। इसी प्रकार एक ही यत्न को सकर्मक करोति शब्द से उल्लेख होने पर अर्थात् ''घटं करोति'' यहाँ पर कर्मसापेक्षत्व की प्रतीति होती है किन्तु उसी यत्न को प्रवर्तते शब्द से उल्लेख होने पर अर्थात् ''घटाय प्रवर्तते'' यहाँ पर कर्म निरपेक्षत्व की प्रतीति होती है। ठीक इसी प्रकार से एक ही भेद पदार्थ का जब घट शब्द से उल्लेख होता है तब वह निरपेक्ष होगा और जब भेद शब्द से उल्लेख होता है तब वह भेद सापेक्ष होता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द सकर्मक या अकर्मक नहीं होता है किन्तु शब्दार्थ सकर्मक अकर्मक होता है। {अतः पूर्वपक्षी ने जो कहा कि सकर्मक या अकर्मक शब्द का स्वभाव है। वह असङ्गत है।} जैसे एक ही तप धातु में अर्थ भेद के द्वारा सकर्मकत्व = ''सविता पृथिवीं तपति'' और अकर्मकत्व = ''ऋषिः तपति'' (नामधातु का रूप = तपस्यति) देखा जाता है। इसलिए पूर्वपक्षी के द्वारा कथित उक्त दृष्टान्त स्थल पर चलति और गच्छति इत्यादि में अर्थ भेद के कारण ही सकर्मकत्व और अकर्मकत्व है। {दार्ष्टान्त में अर्थ भेद मान लेन पर घट और भेद अलग—अलग पदार्थ सिद्ध हो जायेंगे। यह भाव है।}

धात्वर्थ इति मते संयोगरूपार्थभेदात्। मतान्तरे तूत्तरसंयोगावच्छिन्नस्पन्दस्य गम्यर्थत्वं, पूर्वविभागफलकस्पन्दस्य चलत्यर्थत्वम्, अनुकूलयत्नस्य करोत्यर्थत्वम् यत्नमात्रस्य यत्यर्थत्वमिति। न च—भेदत्वमेव सापेक्षम्; नतु भेद इति—वाच्यम्; सापेक्षतया विशेष्यस्यैवानुभवाद् अन्यथा घटप्रतियोगिकं भेदत्वमित्युल्लेखः स्यात्।।७।।

एतेन —''भावाभावस्वरूपत्वान्नान्योन्याभावता पृथक्।'' इत्युक्तेः न स्वरूपमात्रं भेदः''किन्त्वन्योन्याभावः स च वस्तुनः सविशषोऽभिन्न'' इत्युक्तेश्च घटादिरेव भावाभावरूपतया भेद इति निरस्तम्; घटतदभावस्थले भावत्वाभावत्वयोर्विरुद्धत्वेन कल्पनात् कथं तदाश्रयैक्यम्? न च—अविद्यानिवृत्त्यद्वैतयोरपि कथं ब्रह्मैक्यमिति—वाच्यम्; अस्मन्मते तत्र अभावत्वस्य कल्पितत्वेन मायिकतया विरोधाभावात्, तव तु द्वयोरपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

श्रीमण्डनमिश्र के अनुसार धातु का अर्थ है फल (ग्रामादि संयोग) और व्यापार आख्यात (प्रत्यय) का अर्थ है। वैयाकरण मत में फल और व्यापार दोनों ही धातु के अर्थ माने जाते हैं। श्रीमण्डनमिश्र के मतानुसार गम धातु का अर्थ = ग्रामादि संयोग से चल धातु का अर्थ स्पन्दन भिन्न है। अतः गम धातु सकर्मक और चल धातु अकर्मक है। तार्किक आदि के मत में उत्तर संयोगानुकूल क्रिया गम धातु का अर्थ है और पूर्वदेशविभाग फलक क्रिया चल धातु का अर्थ है। इसी प्रकार कृञ् धातु का अर्थ अनुकूल यत्न है और यति धातु का अर्थ केवल यत्न है। ऐसा होने से एक अर्थ में ही सापेक्षता और निरपेक्षता का कोई दृष्टान्त बना ही नहीं। अतः ऐसे दृष्टान्त के सहारे भेद में सापेक्षता निरपेक्षता सिद्ध नहीं किया जा सकता है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि भेद में रहने वाले भेदत्व धर्म को ही प्रतियोगित्वादि के जैसे सापेक्ष माना जाता है भेद को सापेक्ष नहीं माना जाता है— ऐसा कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि भेदत्व विशेषण का जो विशेष्य भेद है, उसमें ही प्रतियोगित्वादि की सापेक्षा का अनुभव होता है, विशेषण भेदत्व में नहीं। अन्यथा = भेदत्व के सापेक्षत्व को स्वीकार करने पर ''घटप्रतियोगिको भेदः'' के जैसे ''घटप्रतियोगिकं भेदत्वम्''— ऐसी प्रतीति के उल्लेख की आपत्ति होगी।।७।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि घट से पृथक् भूत वस्तु में अन्योन्याभावता (अन्योन्याभावत्व) नहीं है, अपितु घट ही अन्योन्याभाव है, क्योंकि घटभावाभाव स्वरूप है। अर्थात् एक ही घट पदार्थ भाव रूप से घट कहलाता है और अभाव रूप से भेद कहलाता है—इस उक्ति से और घट के भाव रूप को ही हम भेद नहीं कहते हैं किन्तु घट का जो अन्योन्याभाव रूप है। उसी को भेद कहते हैं और वह जो अन्योन्याभाव है। वह सविशेष घट वस्तु से अभिन्न है। (घट में एक विशेष नामक पदार्थ है जो घट और भेद दोनों को पर्यायवाची नहीं होने देता है। इस विशेष नामक पदार्थ का खण्डन सिद्धान्ती के द्वारा आगे किया जायेगा।) इस उक्ति से घटादि पदार्थ ही भावरूपेण घट और अभाव रूपेण भेद कहा जाता है।

समाधान— एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। एतेन = पूर्वोक्त युक्तियों से = घट भेद स्वरूप होना सम्भव न होने से, पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि घट और घटाभाव स्थल पर भावत्व और अभावत्व की कल्पना की जाती है जो कि भावत्व और अभावत्व परस्पर विरुद्ध हैं। ऐसे विरुद्ध धर्मों का आश्रय एक ही घट नहीं हो सकता है। फलतः घट को भेद स्वरूप नहीं माना जा सकता है। यदि कहा जाय कि जब भाव और अभाव की एकता नहीं हो सकती हैं तब सिद्धान्त मत में अभाव रूप जो अविद्या की निवृत्ति तथा अभाव रूप जो अद्वैत (द्वैताभाव) की भाव रूप ब्रह्म के साथ कैसे एकता होगी? इसका उत्तर यह है कि सिद्धान्त मत में उक्त अभावत्व कल्पित होने से मिथ्या है। अर्थात् भाव रूप ब्रह्म सत्य है और उसमें उक्त अभावत्व कल्पित है। अतः विरोध नहीं होता है किन्तु

तात्विकत्वेन विरोधस्य दुष्परिहारत्वात्॥८॥

अत एव—तत्तादात्म्यायोग्यत्वं वा, तदैक्यप्रमित्यविषयत्वं वा, यत्र यद्दर्शनं तत्र तत्तादात्म्याध्यासविरोधितत्वं वा, स्ववृत्तियत्किञ्चिद्धर्मानाधारनिष्ठयत्किञ्चिद्धर्मानाधारत्वस्वरूपं वा स्वावृत्तियत्किञ्चिद्धर्माधारानिष्ठधर्माधारत्वरूपं वा स्वरूपत्वं तद्भेदत्वम्; अनाधारत्वं चाधारत्वराहित्यम्, नत्वाधारादन्यत्वमिति नान्योन्याश्रय इति—निरस्तम्; स्वरूपत्वे सापेक्षत्वानुपपत्तेः, अतिरेके अनवस्थानाद्, अत्यन्ताभावान्योन्याभावयोरैक्यापत्तेः प्रमितिदर्शनादिघटितत्वेन चक्षुराद्यगम्यतापत्तेश्च। किञ्च भेदस्य घटस्वरूपत्वे तन्निरूपकप्रतियोगिनोऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी के मत में घट में भावत्व और अभावत्व दोनों ही तात्त्विक हैं। अतः पूर्वपक्षी के मत में विरोध का परिहार नहीं हो सकता है।।८।।

शङ्का— जिस भेद को घटादि स्वरूप पूर्वपक्षी मान रहा है और उसका खण्डन सिद्धान्ती कर रहे हैं। उस भेद का लक्षण कुछ माध्व लोग इस प्रकार से करते हैं— घट में पटभेदत्व = (१) पटतादात्म्यायोग्य (२) पटैक्यप्रमिति—अविषयत्व (३) जिस घट में जिस पट भेद की प्रतीति होती है। उसी घट में पट तादात्म्याध्यास विरोधित्व ही घट में पट भेदत्व है। "यत्र यद्दर्शनं यत्तादात्म्याध्यासविरोधि तत्र तत्त्व वा ऐसा पाठान्तर है। (४) स्ववृत्ति = घटवृत्ति जो घटत्वरूप यत् किञ्चित् धर्म, उस घटत्व धर्म के अनाधार भूत पट में रहने वाले पटत्व धर्म का घट निष्ठ अनाधारत्व ही घट में पट भेदत्व है। (५) स्वावृत्ति= घटावृत्ति जो पटत्वरूप यत् किञ्चित् धर्म, उस पटत्व के आधार भूत पट में अवृत्ति घटत्व के आधारत्व को ही पटभेदत्व कहा जाता है। इस लक्षण के घटक अनाधारत्व का अर्थ आधारात्यन्ताभाव है। अतः आधार भेदत्व लेकर अन्योन्याश्रयादि दोष नहीं दिया जा सकता है। कहने का भाव यह है कि अनाधारत्व का अर्थ आधार भेद करने पर भेद के लक्षण में भेद के आ जाने से आत्माश्रयदोष होता और लक्ष्य और लक्षण के भेद भिन्न—भिन्न होने पर लक्ष्य वाले भेद का ज्ञान होने से लक्षण वाले भेद का ज्ञान और लक्षण वाले भेद का ज्ञान होने पर लक्ष्य वाले भेद का ज्ञान होगा। अतः अन्योन्याश्रयदोष होगा। जब अनाधारत्व का अर्थ आधारात्यन्ताभाव करेगें तब उक्त दोष नहीं होगें।

समाधान— अत एव निरस्तम्— ऐसा अन्वय हैं। "अत एव" के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि उक्त अयोग्यत्वादि घटित लक्षण वाले भेद को घटादि स्वरूप मानने पर सापेक्षत्व की अनुपपत्ति होगी और उक्त भेद को घटादि स्वरूप न मानकर अतिरिक्त धर्म मानने पर घट में पट भेद का भेद मानना पड़ेगा। उस पट भेद का भेद भी घट से भिन्न होने के कारण भेद मानने से अनवस्थादोष होगा। उक्त अयोग्यत्वादि को योग्यत्वादि का अत्यन्ताभावरूपत्व मानने पर अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभावात्मक भेद के ऐक्य की आपत्ति होगी। {कहने का भाव यह है कि अयोग्यत्व या अनाधारत्व का अर्थ यदि योग्यत्व भेद और आधारत्व भेद किया जाय तब तो भेद के लक्षण में भेद का प्रवेश होने से आत्माश्रयादि दोष होगा। इस दोष से बचने के लिए अनाधारत्व का अर्थ किया आधारत्व का अत्यन्ताभाव। ऐसा भेद का लक्षण होने पर अत्यन्ताभाव को ही पूर्वपक्षी ने भेद मान लिया।} उक्त लक्षणों से लक्षित भेद का स्वरूप प्रमिति और दर्शनादि से युक्त होने के कारण भेद चाक्षुष नहीं हो पायेगा, क्योंकि प्रमिति आदि चाक्षुष होते नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि भेद को घट स्वरूप मानने पर भेद का निरूपक पटादि प्रतियोगी भी घट के स्वरूप में प्रविष्ट हो जायेंगे, क्योंकि केवल भेद ही घट नहीं है, किन्तु पटप्रतियोगिकभेदरूप घट है। {कहने का भाव यह है कि जैसे "रूपवान् घटोऽनित्यः" में रूपवान् घट = उद्देश्य और अनित्यत्व विधेय (कार्य) है।

तत्स्वरूपतापत्तिः, नहि भेदरूपमात्रं घटः, किन्तु पटप्रतियोगिकभेदरूप इति।।९।।

ननु—नायं दोषः; भेदप्रतियोगिन उपलक्षणत्वेन स्वरूपतायामनन्वयात्, अन्यथा दुःखनिवृत्तेः पुमर्थतया दुःखस्यापि पुमर्थत्वम्, दोषाभावस्य साधकताप्रयोजकत्वे दोषस्यापि साधकताप्रयोजकत्वं, अनृतव्यावृत्त्यज्ञाननिवृत्त्योरज्ञानादिप्रकाशरूपज्ञानस्य च ब्रह्मरूपत्वे अनृतादीनामपि तद्रूपत्वम्, अज्ञाननिवृत्तेर्मोक्षत्वे अज्ञानस्य च मोक्षत्वं च स्यात्। न च लम्बकर्णादौ कर्णादेर्विशेषणतयान्वयदर्शनादत्रापि तथा, चित्रग्वादिषु अनन्वयात्तथैव किं न स्यात्? अन्यथोदाहृतस्थले अगतेः। न च प्रतियोगिन उपलक्षणत्वे तदज्ञानेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

उद्देश्य में विशेष्य घट और विशेषण रूप है। यहाँ अनित्यत्व का अन्वय उद्देश्य के विशेष्य घट के साथ जैसे होता है वैसे ही उद्देश्य के विशेषण रूप के साथ भी होता है, ठीक इसी प्रकार ''पटभेदः घटस्वरूपः'' यहाँ घटस्वरूपत्व विधेय और पटभेद उद्देश्य है। उद्देश्य में विशेष्य = भेद और विशेषण = पट है। अतः उद्देश्य के विशेष्य भेद के जैसे विशेषण पट का विधेय घट स्वरूपता के साथ अन्वय मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर पट को भी घट स्वरूप मानना होगा।।९।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि पटभेद में पट को हम विशेषण नहीं मानते हैं। अतः पट को विशेषण मानकर जो सिद्धान्ती ने पूर्वोक्त प्रकार से पट को घट स्वरूप मानने की आपत्ति दी थी। वह नहीं होगी। पट भेद में पट को हम उपलक्षण मानते हैं और उपलक्षण कार्यानन्वयी होता है। अतः प्रकृत में विधेय कार्य जो घट स्वरूपता है उसके साथ पट का अन्वय नहीं होने से भेद के घट स्वरूप होने पर भी पट घट स्वरूप नहीं होगा। अन्यथा = उपलक्षण को कार्यानन्वयी न मानकर कार्यान्वयी मानने पर, दुःख निवृत्ति = उद्देश्य और विधेय = पुरुषार्थता। यहाँ पर उद्देश्य में उपलक्षण जो दुःख है उसके साथ विधेय (कार्य) पुरुषार्थता के अन्वय की आपत्ति होगी। इसी प्रकार दोषाभाव = उद्देश्य और विधेय = कार्य साधकता प्रयोजकत्व। यहाँ पर उद्देश्य में उपलक्षण जो दोष है। उसके साथ विधेय=कार्यसाधकता प्रयोजकत्व के अन्वय की आपत्ति होगी। इसी प्रकार अनृत व्यावृत्ति = उद्देश्य और विधेय = ब्रह्म रूपता। अज्ञान निवृत्ति = उद्देश्य और विधेय = ब्रह्मरूपता। अज्ञानादि प्रकाश रूप ज्ञान = उद्देश्य और विधेय = ब्रह्म रूपता। इन सभी स्थलों पर ब्रह्म रूपता रूप विधेय का अन्वय उद्देश्य के उपलक्षण अनृत—अज्ञान और अज्ञान इन तीनों के साथ होने की आपत्ति होगी। ऐसे ही अज्ञान निवृत्ति = उद्देश्य और विधेय = मोक्षत्व। यहाँ पर उद्देश्य में उपलक्षण जो अज्ञान है उसके साथ विधेय (मोक्षत्व) के अन्वय की आपत्ति होगी। यदि कहा जाय कि सभी धर्म धर्मी का सर्वत्र उपलक्षण होता है— ऐसा नियम नहीं है किन्तु कहीं पर उपलक्षण होता है और कहीं पर विशेषण होता है। अतः पूर्वोक्त स्थलों पर उपलक्षण के होने पर भी ''लम्बकर्णमानय'' इस स्थल पर उद्देश्य = लम्बकर्ण विशिष्ट पुरुष और विधेय = आनयन क्रिया। ऐसे स्थल पर विशेषण रूप से जैसे लम्बकर्ण की प्रतीति होती है और आनयन रूप विधेय के लम्बकर्ण का जैसे अन्वय होता है वैसे ही पट भेद प्रतीति स्थल पर विशेषण के रूप से प्रतियोगी पट की प्रतीति होगी। ऐसा होने पर पूर्वोक्त प्रकार से भेद के जैसे पट को भी घट स्वरूप मानने की आपत्ति होगी। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि धर्म धर्मी का सर्वत्र विशेषण होता है— ऐसा भी नियम नहीं हैं किन्तु उपलक्षण भी होता है। जैसे ''चित्रगुः काशीवासी समागतः'' इत्यादि स्थल पर विशेषणतया अन्वय नहीं देखा जाता है अपितु उपलक्षण विधया ही अन्वय देखा जाता है वैसे ही भेद प्रतीति स्थल पर भी प्रतियोगी को भेद का उपलक्षण ही क्यों न माना जाय। उपलक्षण मानने पर प्रतियोगी पट के घट स्वरूप होने की आपत्ति नहीं होगी। अन्यथा = निरूपक

काकाज्ञाने गृहज्ञानवत्तज्ज्ञानापत्तिः; इष्टापत्तेः, अन्यथोदाहृतागतेश्च। केचित्तु प्रतियोगिनोऽनन्वयेऽपि 'शब्दः अनित्यः' इत्यादौ शब्दत्वादेर्विशेषणत्वमिवात्रापि विशेषणत्वमित्याहुरिति—चेत्,।।१०।।

न, नहि वयं पटभेदो घटस्वरूपमित्यन्वयप्रविष्टत्वेन प्रतियोगितया निरूपकत्वमात्रेण वा पटस्य घटरूपतामापादयामः; किन्तु समानाधिकरणप्रतीतिविषयस्वरूपं प्रति प्रतियोगितया निरूपकत्वेन, अभेदनिरूपकप्रतियोगिवत्। नचाज्ञाननिवृत्त्यादयः समानाधिकरणप्रतीतिविषयाः, भेदस्तु घटः पटो नेति

सत्यानन्दप्रबोधिका

धर्म को सर्वत्र धर्मी का विशेषण मानने पर अर्थात् उपलक्षण न मानने पर, दु:खादि निवृत्यादि रूप उदाहृत स्थलों पर कथित अनुपपत्तियों का निवारण नहीं हो पायेगा। यदि कहा जाय कि काकोपलक्षित गृह स्थल पर काक के उड़ जाने पर जब काक का ज्ञान नहीं है तब भी उपलक्ष्य जो गृह उसका ज्ञान रहता है। ठीक इसी प्रकार प्रतियोगी को उपलक्षण मानने पर प्रतियोगी का ज्ञान न रहने पर भी भेद का ज्ञान हो जाना चाहिए। इसका उत्तर देते पूर्वपक्षी कह रहा है कि हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि प्रतियोगी के प्रत्यक्ष ज्ञान के विना भी भेद ज्ञान हो जाता है। अन्यथा = प्रतियोगी का सर्वत्र प्रत्यक्ष ज्ञान मानने पर, दु:ख निवृत्यादि रूप उदाहृत स्थलों पर अनुपपत्ति आयेगी। माध्व मत के कुछ लोगों का कथन है कि विशेषण सर्वत्र कार्यान्वयि होता है—ऐसा नियम नहीं माना जा सकता है, क्योंकि शब्दत्वविशिष्ट शब्द को उद्देश्य बनाकर अनित्यत्व को जब विधेय बनाया जाता है तब अनित्यत्व के साथ शब्दत्व रूप विशेषण का अन्वय न होने पर भी शब्दत्व को शब्द का विशेषण माना जाता है। ठीक इसी प्रकार पट भेद = घट स्वरूप स्थल पर भी घट स्वरूपता रूप विधेय के साथ विशेषण (प्रतियोगी पट) का अन्वय न होने पर भी पट को भेद का विशेषण माना ही जा सकता है।।१०।।

समाधान—पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि हम लोग ''पटभेदो घटस्वरूपम्'' इस प्रकार से अन्वय होने से अर्थात् पट विशेषण का घट स्वरूप विधेय के साथ अन्वय होने से पट को घट स्वरूप मानना चाहिए— ऐसा आपादान नहीं करते हैं, अथवा पट भेद का प्रतियोगी जो पट वह भेद का निरूपक होने के कारण घट का भी निरूपक हो जायेगा, क्योंकि भेद को घट स्वरूप मान रहे हो। इसलिए पट भेदस्वरूप घट का निरूपक होने से पट घटस्वरूप होगा— ऐसा भी आपादन हम नहीं कर रहे हैं किन्तु समानाधिकरण प्रतीति=''घट: पटो न'' इस प्रतीति का विषय = भेद, उस भेद के प्रति पट प्रतियोगी के रूप से निरूपक होने के कारण पट को भेद स्वरूप मानना पड़ेगा और भेद को तुम घट स्वरूप मान रहे हो। अत: पट को घट स्वरूप मानना पड़ेगा। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि नियम यह है कि समानाधिकरण प्रतीति में निरूपक का निरूप्य के साथ अभेद सम्बन्ध भासता है। जैसे ''घटो द्रव्यम्'' इस समानाधिकरण प्रतीति में घट पद के उत्तर विभक्ति का अर्थ = अभेद होता है। अत: घट स्वरूप के साथ अभेदेन प्रतीयमान जो द्रव्य का अभेद उस द्रव्याभेद के प्रति प्रतियोगितया नियामक जो द्रव्य वह घट स्वरूप ही है। प्रकृत में ''घट: पटो न'' यहाँ भी घटाभेदेन प्रतीय मान पटभेद के प्रति प्रतियोगितया निरूपक जो पट उसका भी घट से अभिन्नतया बोध उक्त प्रतीति के द्वारा होता है—ऐसा मानना पड़ेगा। यहाँ पर इस प्रकार की व्याप्ति बनेगी—यो यद् अभेदेन प्रतीयमाननिरूपक: स: तद् अभिन्न:।। अर्थात् जो पटभेद घट अभेदेने प्रतीयमान पट का निरूपक है वह घट पट से अभिन्न होगा। अज्ञान निवृत्त्यादि समानाधिकरण प्रतीति के विषय नहीं है, क्योंकि'' अज्ञाननिवृत्ति: ब्रह्म ''कपालं घटनाश:'' इत्यादि रूप से समानाधिकरण प्रतीति नहीं होती है अपितु ''कपाले घटो नष्ट:'' ''ब्रह्मणि अज्ञानं नष्टम्'' इत्यादि

समानाधिकरणप्रतीतिविषयः, अन्यथा समानाधिकरणनिषेधबुद्धिविषयत्वं भेदलक्षणं न स्यात्। एतेन— पुरुषार्थे दुःखमिव ब्रह्मण्यज्ञानवत्तथा। मोक्षे च मोहवन्नान्तर्गतं कुम्भादिकं पटे। तटस्थत्वेऽपि कुम्भादेरप्रतीतौ न भेदधीः। अज्ञानादेरप्रतीतौ तद्धान्याद्यप्रतीतिवत्।। इति—निरस्तम्।।११।।

किञ्च विदारणात्मनो भेदस्य घटस्वरूपत्वे घटस्यापि विदारणं स्यात् एवं तदवयवानामपीति परमाणुरपि नैक इति शून्यतापत्तेः; एकाभावे तत्समाहाररूपानेकस्याप्यभावात्। ननु— अविदारणात्मकस्याभेदस्य ब्रह्मरूपत्वे

सत्यानन्दप्रबोधिका

रूप से प्रतीति होती है। इसलिए अज्ञानादि के ब्रह्म से अभिन्नत्व होने की आपत्ति नहीं दी जा सकती है। जबकि ''घटः पटो न'' इस प्रकार से भेद में समानाधिकरणप्रतीतिविषयत्व रहने से पट को घट से अभिन्न मानने की आपत्ति होगी। अन्यथा = भेद में समानाधिकरणप्रतीति का विषयत्व न मानने पर ''समानाधिकरणविधिबुद्धिविषयत्वम्—अभेदत्वम्। (यहाँ विधि बुद्धि शब्द से ''घटो द्रव्यम्'' ऐसी बुद्धि लेना है।) और'' समानाधिकरणनिषेधबुद्धिविषयत्वम्—भेदत्वम्। (यहाँ निषेध बुद्धि शब्द से ''घटः पटो न'' ऐसी बुद्धि लेनी है।) इस प्रकार से भेद का लक्षण नहीं बन पायेगा। एतेन = पूर्वोक्त प्रकार से पट (प्रतियोगी) के घट स्वरूप में अन्तर्भाव हो जाने से आगे कहे जाने वाला पूर्वपक्षी का कथन भी निरस्त हो जाता है। पूर्वपक्षी का कथन यह है कि दुःख निवृत्ति रूप पुरुषार्थ में जैसे दुःख अन्तर्गत नहीं है और अज्ञान निवृत्ति रूप ब्रह्म में जैसे अज्ञान अन्तर्गत नहीं है और मोह रूप अज्ञान निवृत्ति रूप मोक्ष में जैसे मोह रूप अज्ञान अन्तर्गत नहीं है वैसे ही ''घटः पटो न'' में पट घट स्वरूप में अन्तर्गत नहीं है। उपलक्षण का ज्ञान न रहने पर भी उपलक्ष्य का ज्ञान रहता है— ऐसा नियम सर्वत्र उपलक्षण स्थल पर नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अज्ञान उपलक्षित निवृत्ति स्थल पर देखा गया है कि उपलक्षणीभूत अज्ञान की प्रतीति न होने पर भी अज्ञान निवृत्ति की प्रतीति भी नहीं होती है वैसे ही कुम्भादि प्रतियोगी को उपलक्षण मानने पर उपलक्षणीभूत कुम्भादि की प्रतीति न होने पर उपलक्ष्य भूत भेद की प्रतीति नहीं होती है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन पूर्वोक्त युक्तियों से प्रतियोगी पट के घटस्वरूप हो जाने से निरस्त हो गया।।११।।

किञ्च विदारण (पृथक् करना) है स्वरूप जिसका ऐसा जो भेद यदि वह घट स्वरूप है तब तो घट में एक रूपता सिद्ध नहीं हो पायेगी किन्तु कपाल (अवयव) द्रव्य रूपता सिद्ध होगी। अर्थात् घट की घट स्वरूपता न होकर अवयव स्वरूपता माननी पड़ेगी। इसी प्रकार से एक अवयव में दूसरे अवयव का जो भेद है, वह भेद भी प्रथम अवयव स्वरूप ही पूर्वपक्षी के मत में होगा। अत एव प्रथम अवयव की एक रूपता सिद्ध नहीं होगी अपितु उस अवयव के अनेक अवयव रूपता मानने की आपत्ति होगी। ऐसे अन्तिम अवयव रूप एक परमाणु में भी दूसरे परमाणु का भेद रहता है। वह भेद भी प्रथम परमाणु स्वरूप होगा। विदारण स्वरूप भेद के होने से वह परमाणु भी रह नहीं पायेगा। अन्तिम अवयव रूप जो परमाणु हैं उसके आगे अवयव माना नहीं जाता है। अतः परमाणु के न रहने पर शून्यवाद की आपत्ति होगी। यदि कहा जाय कि परमाणु के न रहने पर भी अनेक पदार्थ रह सकते है। अतः शून्यतापत्ति नहीं होगी— ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि पहले कोई वस्तु किसी रूप से सिद्ध हो तब उस वस्तु से घटित अनेक वस्तु की सिद्धि हो पायेगी किन्तु भेद सर्वत्र रहने के कारण और भेद विदारणात्मक होने के कारण किसी एक भी वस्तु की सिद्धि नहीं हो पा रही है, तब एक से घटित समूह रूप वस्तुओं की सिद्धि नहीं हो सकती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि भेद को जैसे अनुयोगी स्वरूप माना जाता है वैसे हो अभेद को भी अनुयोगी स्वरूप माना जाता है किन्तु भेद विदारणात्मक होता है और अभेद अविदारणात्मक होता है।

पारमार्थिकब्रह्मणो व्यावहारिकप्रातिभासिकशून्यैरपि अविदारणे तदैक्यमपि स्यात्। न च जीवाभेद एव स्वरूपम्, नतु घटाद्यभेदः, तर्ह्यत्रापि घटादिभ्यो भेद एव घटस्वरूपम्, नतु स्वस्मादिति सममिति—चेन्न; स्वरूपत्वे भेदस्य स्वज्ञानाप्रतिबध्यज्ञानप्रतियोगिकत्वे स्वस्वरूपत्वेनाभेदवत्स्वप्रतियोगित्वनियमेन स्वविदारकत्वस्यावश्यकत्वात्। घटधर्मेषु पटप्रतियोगिकभेदत्ववद् घटप्रतियोगिकभेदत्वस्यापि अभ्युपगमात्, पटात् भिन्नो घट इतिवत् घटाद्भिन्नो घट इति प्रतीतेर्वज्रलेपत्वाच्च।।१२।।

यत्तु स्वस्माद्विदारकत्वे अवयवानां विभागेन सूक्ष्मत्वमेव स्यात्, नतु शून्यत्वम्, नहि शून्यसंयोगात्

सत्यानन्दप्रबोधिका

अविदारणात्मक अभेद के ब्रह्मस्वरूप होने पर पारमार्थिक ब्रह्म का व्यावहारिक प्रपञ्च के साथ और रज्जुसर्पादि प्रातिभासिक के साथ तथा अलीक के साथ अविदारण होने पर व्यावहारिकादि के साथ अभेद मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर ब्रह्म को व्यावहारिक प्रातिभासिक तथा शून्य रूप मानने की आपत्ति होगी और मिथ्यात्व विप्रतिपत्ति के अवसर पर जो कहा गया कि ''ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वे सति सत्त्वेन प्रतीत्यर्हं चिद्भिन्नम्'' इत्यादि। यह सभी ऐक्य होने पर व्यर्थ हो जायेगा। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ब्रह्म में रहने वाला केवल जीव का अभेद ही ब्रह्म स्वरूप होता है। ब्रह्म में रहने वाला व्यावहारिक प्रातिभासिक तथा शून्य का जो अभेद रहता है। वह अभेद ब्रह्म स्वरूप नहीं है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि हम भी ''पटः घटो न'' इत्यादि भेद स्थल पर घट प्रतियोगिक भेद को ही पट स्वरूप मानते है न कि पट से पट के भेद को पट स्वरूप मानते हैं। अतः घट से ही पट का विदारण (पृथक् करण) होगा न कि पट से पट का विदारण होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''घटः पटो न'' इत्यादि स्थल पर घट निष्ठ भेद को घट स्वरूप मानने पर उस भेद का प्रतियोगी पट भी घट स्वरूप हो जायेगा और भेद से घट अभिन्न होने के कारण भेद का प्रतियोगी भेद स्वरूप हो जायेगा। अतः स्व ज्ञान = भेद घट से अभिन्न है—इस ज्ञान से भेद पट से अभिन्न है—यह ज्ञान प्रतिबध्य नहीं हो पायेगा। अतः भेद का प्रतियोगी पट है का फलितार्थ होगा कि भेद का प्रतियोगी भेद है— ऐसा अर्थतः सिद्ध होगा। अतः घट पट और भेद इन तीनों के अभिन्न हो जाने के कारण घट में पट भेद है—का अर्थ होगा कि भेद में भेद का भेद है (अर्थात् भेद भेद नहीं है) और घट में घट का भेद है। (अर्थात् घट घट नहीं है) इस प्रकार नियम बन जाने से अभेद के समान भेद भी स्वप्रतियोगिक होने के कारण घटादि रूप भेद स्व भेद वाला है। ऐसा होने पर भेद स्व विदारक सिद्ध हो जायेगा। अभेदवत् = ब्रह्म में जीव का अभेद रहने से ब्रह्म में अभेद का अभेद ही रहता है, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न अभेद नामक कोई पदार्थ नहीं माना जाता है, अन्यथा द्वैतापत्ति होगी। इस से अभेद स्वप्रतियोगिक होता है। यह दृष्टान्त भेद में स्वप्रतियोगिकत्व सिद्ध करने के लिए दिया गया है। घटधर्मेषु ..... का अर्थ इस प्रकार है— घट में रहने वाला जो पट भेद रूप धर्म , उस पट भेद रूप धर्म में जैसे पट प्रतियोगिक भेदत्व रहता है। वैसे ही घटप्रतियोगिकभेदत्व भी घट का धर्म जो भेद उसमें रहता है— ऐसा पूर्वपक्षी के मतानुसार (पट भेद घट स्वरूप है— इस कथन के अनुसार) मानना पड़ेगा, क्योंकि पट भेद घट स्वरूप माने जाने से पट भी घट स्वरूप हो गया। इसलिए घट में पट भेद है का अर्थ घट में घट भेद है— ऐसा भी होगा, क्योंकि पट और घट दोनों एक हो गये हैं। इसलिए जैसे ''पटात् भिन्नो घटः'' की प्रतीति होती है वैसे ही ''घटात् भिन्नो घटः'' ऐसी प्रतीति वज्रलेप है।।१२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के कथनानुसार घट—घट से भिन्न है— ऐसा मानने पर भी यह सिद्ध होगा कि घट एक अवयवी रूप नहीं है किन्तु वह सूक्ष्म कपाल द्वय रूप है। ऐसे ही अवयव

किञ्चिदुत्पन्नमिति, तन्नः, विभाजकत्वं न विदारकत्वम्, किन्त्वेकत्वविरोधित्वम्। तथा चैकस्याभावे अनेकस्य सुतरामभावाच्छून्यतायामेव पर्यवसानाच्च। एतेन विदारकलवित्रादेः स्वसम्बन्धिन्येव विदारकत्वम्, नतु स्वस्मिन्निति भेदश्चेत् स्वरूपं, तदा स्वं न विदारयेत्, किञ्च भेदस्य न विदारकत्वम्; भावव्युत्पत्त्या विदारणत्वात्। तथाच स्वरूपभेदेन विदारनात्मना घटस्य न विदारणं स्यात्; स्ववृत्तिविरोधादिति—निरस्तम्, भेदस्य विदारणरूपविभागात्मकत्वेन विभागस्य विभज्यमानवृत्तित्वनियमेनावयवानवस्थया शून्यतापत्तेस्तादवस्थ्यात्।।१३।।

अत एव विभागरूपविदारणात्मा न भेदः, किंत्वन्योन्याभावः; धातूनामनेकार्थत्वात्।

तदुक्तं क्रियावाचित्वमाख्यातुमेकोऽप्यर्थः प्रदर्श्यते। 'प्रयोगतोऽनुसर्त्तव्या अनेकार्था हि धातवः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

में भी स्व का भेद रहने पर भी यह सिद्ध होगा कि वह अवयव एक अवयव रूप नहीं है किन्तु वहां भी सूक्ष्म अवयव रूप है। ऐसे ही परमाणु में भी स्व का भेद मानने पर यह सिद्ध होगा कि वह परमाणु रूप नहीं है किन्तु सूक्ष्म रूप है, जिस सूक्ष्म रूप से परमाणु बना है। अतः शून्यवाद की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि शून्य के संयोग से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती है।

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि विदारकत्व का अर्थ विभागजत्व नहीं माना जाता है किन्तु एकत्व विरोधित्व माना जाता है। फलतः भेद स्वरूप जो होगा उस एक का अभाव होने पर एकत्व समूहात्मक अनेकत्व की उपपत्ति नहीं हो पाने से शून्यवादापत्ति बनी ही रहेगी।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि विदारक (काटने वाले साधन) लवित्रादि (दरांती या हंसिया आदि) अपने से सम्बन्धित काष्ठादि का ही विदारक होते हैं, स्वयं के विदारक नहीं होते हैं। इसी प्रकार भेद घट स्वरूप होने पर भी घट को विदारित नहीं करेगा, अपितु अपने से सम्बन्धित को करेगा। किञ्च भेद विदारक नहीं होता है अपितु ''भेदनं भेदः'' इस प्रकार भावार्थक घञ् प्रत्यय से निष्पन्न भेद शब्द विदारण को कहता है। अर्थात् यदि करण में प्रत्यय होता तब भेद शब्द विदारक को कहता किन्तु ऐसा नहीं है। फलतः भेद को घट स्वरूप मानने पर भी घट का विदारण नहीं होगा, क्योंकि स्व में स्व वृत्ति मानने पर विरोध होता है। जैसे दरांती स्वयं स्वयं को काटती है—ऐसा मानने पर विरोध होता है।

समाधान— एतेन निरस्तम्—ऐसा अन्वय है। एतेन शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि भेद को विदारण रूप मानने पर भी (अर्थात् विदारक न मानने पर भी) विदारण का अर्थ होता है विभाग। विभाग विभज्य = भिद्यमान पदार्थ द्वय में ही रहता है न कि विभज्यमान दो पदार्थों में से एक पदार्थ में रहता है। अतः घट में पट का भेद है—इसका फलितार्थ होगा कि वह भेद (विभाग = विदारण) पट के जैसे घट को भी दो टुकड़ा कर देगा। अर्थात् घट—घट नहीं रहेगा किन्तु दो अवयव रहेगा। ऐसे ही अवयवों में भी भेद की अनन्त परम्परा मानने पर पूर्वोक्त शून्यवादापत्ति बनी रहेगी।।१३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि भेद विभागरूप विदारणस्वरूप नहीं होता है, किन्तु भेद को अन्योन्याभाव रूप माना जाता है। इस पर प्रश्न होता है कि ''भिदिर विदारणे'' इस प्रकार से व्याकरण में भिद् धातु का अर्थ विदारण निर्धारित किया गया है। अतः दूसरा अर्थ नहीं लिया जा सकता है। इसके उत्तर में कह रहे हैं कि धातु के अनेक अर्थ होते हैं। जैसा कि कहा गया है—केवल क्रिया वाचकत्व कहने के लिए धातुओं के एक—एक अर्थ को दिखलाया गया है। वस्तुतः धातुओं के अनेक अर्थ होते है—इसका निश्चय प्रयोगों को देखकर होता है। इसलिए धातु अनेकार्थक होते हैं। इसलिए भिद् धातु से निष्पन्न भेद

'इति, अन्यथा संयुक्तयोर्भिन्नाविति व्यवहारो न स्यादिति–निरस्तम्; अन्योन्याभावस्वरूपत्वे कपालादिरूपाश्रयप्रतियोगिकभेदस्य, घटादिरूपाश्रितरूपतया स्वप्रतियोगिकभेदाश्रयत्वादेकत्वं कपालादिषु भज्येतेत्यवयवानवस्थया शून्यतायामेव पर्यवसानात्। अत एव–नानेकत्वैकार्थसमवायिना भेदेन एकत्वं निराकृत्य तेन पुनरनेकत्वनिराकरणं युज्यते, उपजीव्यविरोधादिति–निरस्तम्, अनेकत्वमस्पृष्ट्वैव स्वप्रतियोगिकभेदमात्रेण ऐक्यविरहस्यापाद्यत्वात्। अतएवोक्तमाचार्यैः–'अभेदैकार्थसमवायिन्या एकताया भेदेन विरोधाद्'इति।।१४।।

यदुक्तं स्वस्मिन्वृत्तिविरोधादिति, तन्न, विभागादिरूपव्यापारस्यानङ्गीकारात्, इतरविरोधितादिरूपव्यापारस्य सर्वत्र सत्वात्। किञ्च स्वरूपत्वे भेदस्य संशयादिर्न स्यात्, धर्मिज्ञाने भेदाज्ञानाभावात्, तदज्ञाने हेतोरेवाभावात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शब्द का अर्थ अन्योन्याभाव किया ही जा सकता है। अन्यथा = भेद का अर्थ अन्योन्याभाव न लेकर विभाग रूप विदारण अर्थ लेने पर, संयुक्त दो पदार्थो में ''भिन्नौ'' इत्याकारक जो व्यवहार होता है। वह नहीं हो सकेगा, क्योंकि यहाँ भेद का अर्थ विभाग हो नहीं सकता है, क्योंकि दोनों पदार्थ संयुक्त हैं।

समाधान–अत एव निरस्तम्–ऐसा अन्वय है। पूर्वोक्त प्रकार से शून्यतापत्ति के कारण ही पूर्वपक्षी का यह कथन भी निरस्त हो गया। इसको स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि भेद को अन्योन्याभाव स्वरूप मानने पर कपाल जो घट का आश्रय है। ऐसे आश्रय रूप कपाल का भेद जो घट में रहता है, वह कपाल का भेद घट स्वरूप होगा क्योंकि तुम भेद को अधिकरण स्वरूप मानते हों। ऐसा भेद स्वरूप घट कपाल में आश्रित है। अत: कपाल का भेद कपाल में बैठ जाने से भेद का प्रतियोगी कपाल ही हो गया। इसी को कह रहे हैं कि स्वप्रतियोगिक भेद =कपालप्रतियोगिकभेद का आश्रय स्वयं कपाल ही हो जाने से कपाल की एकरूपता का भंजन हो जायेगा, क्योंकि जहां भेद होता है वहाँ एकता न होकर भिन्न–भिन्न रूपता होती है। उसी प्रकार अवयव परम्परा के विभाजन के माध्यम से शून्यतापत्ति आयेगी।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि कपाल का भेद पट मठ पुस्तक गौ महिषादि अनेक स्थानों में रहता है। अत: अनेकत्व के साथ एक ही अधिकरण में रहने वाला जो भेद उसके द्वारा एकत्व का निराकरण कर के अनेकत्व का निराकरण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अनेकत्व भेद का उपजीव्य है, क्योंकि जहाँ अनेकत्व नहीं है वहाँ भेद भी नहीं रहता है। इसलिए भेद के द्वारा अनेकत्व का निराकरण मानने पर उपजीव्य विरोध होगा।

समाधान–अतएव निरस्तम् –ऐसा अन्वय है। अत एव के अर्थ को स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि अनेकत्व को स्पर्श किये विना ही अर्थात् पट मठ गौ पुस्तकादि अनेकों का बाध किये विना ही स्व का भेद स्व में रह जाने से स्व के एकता का विदारण हो गया और उस विदारण की परम्परा अवयवों में आगे–आगे बढते हुये शून्यतापत्ति में पर्यवसित हो जाती है। अत एव = उपजीव्य विरोध का अभाव होने से ही, पूर्वाचार्यो ने कहा है–अभेद के साथ में एक ही अधिकरण में रहने वाली एकता का भेद के साथ विरोध है (अर्थात् भेद एकता का विरोधी है अनेकता का नहीं। अत: उपजीव्य विरोध नहीं होगा।)।।१४।।

पूर्वपक्षी ने खण्ड संख्या–१३ में कहा था–''स्ववृत्तिविरोधात्''। अर्थात् स्व में स्व का भेद मानने पर विरोध होगा–ऐसा कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि नैयायिक जैसे प्रथम क्षण में क्रिया उससे पूर्व संयोग का नाश पुन: उत्तर संयोग पुन: क्रिया नाश–ऐसा जो क्रिया का व्यापार मानता है वैसा हम नहीं मानते हैं। अर्थात् भेद रूप विदारण क्रिया का विभागीय रूप व्यापार नहीं मानते हैं किन्तु भेद रूप क्रिया का इतर विरोधिता रूप व्यापार मानते हैं। ऐसे व्यापार की वृत्तिता स्व में और पर में मानने में कोई विरोध नहीं है।

ननु—अभेदस्यापि स्वरूपत्वे संशयाद्यनुपपत्तिस्तवापि समा, यदि चाभेदत्वेनाज्ञानात्तथा, ममापि भेदत्वेनाज्ञानात्तदिति—चेन्न; भेदस्य स्वरूपत्वे शून्यतापादकयुक्त्या कोटीनामेवोच्छेदात्। नच—अभेदस्यापि स्वरूपत्वे भेदकोट्युच्छैदस्तवापीति—वाच्यम्; कल्पितकोटिमादाय संशयोपपत्तेः। नच तवापि भेदकसत्त्वादिकोटिः कल्पिता; शून्यतापत्तेरित्युक्तत्वात्।१५॥

यत्तु प्राक् चैतन्ये स्वयंभातेऽपि तदभिन्नस्यैक्यस्यानवच्छिन्नस्यानन्दस्य चाप्रकाशवद्धर्मिणः प्रकाशेऽपि तदभिन्नस्य भेदस्याप्रकाशो भविष्यति, किञ्चैक्यप्रकाशे तत्र विप्रतिपत्तिर्न स्यात्, तदुपदेशानर्थक्यं च स्यादिति,

सत्यानन्दप्रबोधिका

अर्थात् जहाँ भेद रहेगा, वहाँ इतर (प्रतियोगी) नहीं रहेगा—यही सिद्ध करेगा। किञ्च पट भेद को यदि घट स्वरूप माना जाय तब घट पट से भिन्न है या नहीं —ऐसा संशय नहीं हो पायेगा क्योंकि संशय का धर्मी जो भेद उसका ज्ञान यदि घट स्वरूप से हो रहा है तब तो भेद का अज्ञान नहीं रहेगा। धर्मी रूप भेद का अज्ञान न रहने पर भेद का अज्ञान जो भेद विषयक संशय का हेतु है। उस संशय का हेतुभूत भेद का अज्ञान के न रहने पर भेद विषयक संशय ही नहीं हो सकता है।

शङ्का— ब्रह्म में रहने वाला जीव का अभेद ब्रह्म रूप ही है। इसलिए यदि अभेद ज्ञान है तब तो अभेद का अज्ञान नष्ट हो जाने से अभेद विषयक संशय (मैं ब्रह्म हूँ या नही? इत्याकारक संशय) नहीं होगा—ऐसा सिद्धान्त मत में भी दोष आयेगा। यदि कहा जाय कि अभेद का ज्ञान होने पर भी अभेदत्वेन अभेद का ज्ञान न होने से उक्त संशय हो जायेगा तब भेद का भी ज्ञान रहने पर भी भेदत्वेन भेद का ज्ञान न रहने से उक्त संशय की उपपत्ति हो जायेगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि भेद को घट स्वरूप मानने पर पूर्वोक्त युक्तियों से शून्यता में पर्यवसान होने से संशय के लिए आवश्यक कोटियों का ही उच्छेद हो जायेगा, फिर किसका संशय होगा?

शङ्का— अभेद को भी ब्रह्म स्वरूप मानने पर अर्थात् सबका अभेद ब्रह्म में स्वीकार कर लेने पर भेद कोटि का ही उच्छेद हो जाने से ''मैं ब्रह्म से अभिन्न हूं या भिन्न हूं'' ऐसा संशय नहीं हो पायेगा, क्योंकि संशय घटक भेद कोटि ही नहीं है।

समाधान— उक्त दोष नहीं होगा, क्योंकि पारमार्थिक भेद के न होने पर भी कल्पित भेद को हम मानते हैं। अतः कल्पित भेद को लेकर के उक्त संशय की उपपत्ति हो जायेगी। भेद स्वरूप वादी पूर्वपक्षी के मत में कल्पित कोटियों की कल्पना अर्थात् ''घटोऽस्ति न वा'' इत्याकारक घटसत्त्वादि कोटियों की कल्पना नहीं की जा सकती है, क्योंकि अवयव परम्परा के विभाजन के माध्यम से शून्यतापत्ति दिखायी जा चुकी है।१५॥

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्रह्म ज्ञान से पहले चैतन्य के स्वयंप्रकाश होने पर भी ब्रह्म अभिन्न ऐक्य और निरवच्छिन्न आनन्द का प्रकाश नहीं होता है, ठीक इसी प्रकार धर्मी (घट) का प्रकाश होने पर भी धर्मी से अभिन्न भेद अर्थात् घट स्वरूप भेद का प्रकाश नहीं होगा। किञ्च ब्रह्म से अभिन्न ऐक्य का प्रकाश मानने पर भेदाभेद विषयक विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए और ऐक्य के उपदेश का आनर्थक्य प्रसक्त होगा। इसलिये सिद्धान्ती ने जो खण्ड संख्या—१५ में कहा —''किञ्च स्वरूपत्वे भेदस्य संशयादिर्न स्यात्'' वह उचित नहीं है, क्योंकि जैसा सिद्धान्ती अभेद पक्ष में समाधान करेंगे वैसा ही भेद पक्ष में पूर्वपक्षी भी समाधान दे देगा—यह भाव है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ऐक्यादि के स्वप्रकाश ब्रह्म स्वरूप होने पर भी वह

तन्न; ऐक्यादीनां स्वप्रकाशस्वरूपत्वेऽपि तस्याज्ञानतत्कार्यविप्रतिपत्त्यादीन् प्रति अविरोधितया तद्गोचरविरोधिवृत्तिपर्यन्तमुक्तानुपपत्त्यभावात्। न च तर्हि प्रत्यगर्थेऽपि विप्रतिपत्तिः स्यात्, चार्वाकादीनां तस्यापि दर्शनात्। तस्मादज्ञानाश्रयत्वादिना प्रत्यगर्थप्रकाशमुपजीव्यं नाविद्यावृणोति। ऐक्याद्यंशं त्वावृणोत्येवेति तत्र विप्रतिपत्त्यादयः। नचैवं सादृश्यादिदोषादत्रापि भेदांश आवृत इति—वाच्यम्; कोट्यनुपस्थितेः प्रधानपूर्वकारोपवादिनः तव तदसम्भवात्।।१६।।

यत्तु स्वरूपभेदो भेदत्वेन भासते एव, प्रायः सर्वभिन्नत्वेनैव प्रतीतेः, अन्यथा सर्वकोटिकः संशय

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्वप्रकाश स्वरूप ब्रह्म अज्ञान और अज्ञान का कार्य विप्रतिपत्ति आदि का विरोधी नहीं होता है। इस पर प्रश्न होता है कि अज्ञान और अज्ञान के कार्य का विरोधी कौन होता है? इसका उत्तर देते हुये कह रहे हैं कि ऐक्य को विषय करने वाली वृत्ति जो अज्ञान और अज्ञान के कार्य संशयादि की विरोधी होती है। उसकी उत्पत्ति जब तक नहीं होती है तब तक पूर्वपक्षी के द्वारा कथित संशयादि की अनुपपत्ति नहीं होती है। अर्थात् संशयादि की उत्पत्ति होती रहेगी। तर्हि = जब तक ''अहं ब्रह्मास्मि'' ऐसी वृत्ति नहीं बनती है तब तक स्वयंप्रकाश चैतन्य रूप आत्मा ऐक्य के जैसे अज्ञान और अज्ञान के कार्य संशयादि का विरोधी न होने से आत्मा के विषय में भी विप्रतिपत्ति की आपत्ति होगी। ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि चार्वाकादि को ब्रह्म ज्ञान न होने से आत्मा के विषय में विप्रतिपन्न होते ही हैं। इसलिए अज्ञान के द्वारा विप्रतिप्रत्ति को उत्पन्न करने में अज्ञान का उपजीव्य प्रत्यगर्थ का स्वरूपभूत प्रकाश है क्योंकि प्रत्यगर्थ प्रकाश अज्ञान का आश्रय है। अतः उपजीव्य होने के कारण प्रत्यगर्थप्रकाश को अविद्या आवृत्त नहीं करती है। ऐक्यादि चैतन्य से अभिन्न होने पर भी ऐक्यादि जो चैतन्य का कल्पित अंश अविद्या का उपजीव्य न होने के कारण अविद्या उस ऐक्यादि को आवृत कर ही देती है। इसलिए ऐक्यादि अंश में संशयादि होते हैं। यदि कहा जाय कि जैसे शुक्ति में रजतसादृश्य रूप दोष होने के कारण शुक्ति में रजत के भ्रम स्थल पर शुक्ति का सामान्य अंश यद्यपि अनावृत है तथापि शुक्ति से अभिन्न रजत भेद आवृत रहता है और सिद्धान्ती के मत में चैतन्य के आवृत न होने पर भी चैतन्य से अभिन्न ऐक्य आवृत रहता है। ठीक इसी प्रकार भेद का सामान्य स्वरूप = घट स्वरूप के अनावृत्त होने पर भी घटसादृश्यादि दोष के कारण भेद का विशेष स्वरूप आवृत रहता है। अतः भेद के विषय में संशयादि की उपपत्ति हो जायेगी। ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि भेद को घटादि स्वरूप मानने पर अवयव परम्परा के विभाजन से शून्यतापत्ति के कारण ''घटः पटो न वा?'' इत्यादि संशय स्थल घट पट के शून्यता में पर्यवसान होने से कोटियों की उपस्थिति ही नहीं बन पायेगी। ऐसा होने से अधिष्ठान के ज्ञानपूर्वक आरोप मानने वाले माध्व मत में संशयादि सम्भव हो ही नहीं सकता है।।१६।।

शङ्का— घट का स्वरूपभूत भेद का ज्ञान भेदत्वेन रहता है, क्योंकि घट का ज्ञान प्रायः सर्वभिन्नत्वेन ही होता है। प्रायः इसलिए कहा कि शुक्ति का ज्ञान जब होता है तब घट मठादि से भिन्नत्वेन ज्ञान होता है किन्तु शुक्तिसदृशरजत से भिन्नत्वेन शुक्ति का ज्ञान नहीं रहता है। अन्यथा = स्वरूपभूत भेद का भेदत्वेन भान यदि नहीं होता (अथवा शुक्ति आदि का प्रायः सर्वभिन्नत्वेन बोध यदि नहीं होता) तब शुक्ति में केवल रजत का ही संशय नहीं होता किन्तु घट मठादि सबका संशय होने लगता। जबकि पट में रहने वाले घट मठादि का स्वरूपभूत जो भेद अर्थात् घटादिप्रतियोगिकत्वादि रूप जो अनेक धर्म जो पट में बैठे हैं, उन धर्मों के जिन धर्मियों का (रजतादि का) सादृश्य शुक्ति के साथ है। उस रजतादि प्रतियोगिकत्व का ज्ञान सादृश्य

स्यात्। तत्र च घटप्रतियोगिकत्वादिरूपा अनेकधर्मा: सादृश्यादिवशादगृहीता: संशयविषया भविष्यन्ति, न चानेकनिरूप्यस्य भेदस्य निरूपकानेकत्वादनेकत्वापत्ति:; तादृशस्यापीश्वरज्ञानादेरनेकद्वैतनिरूप्याद्वैतस्य चैक्यदर्शनात्, एकनिरूप्यप्रागभावध्वंसयोरनैक्यदर्शनाच्चेति; तन्न, न वयं निरूपकभेदेन भेदं ब्रूम:, किन्तु प्रतियोगितावच्छेदकभेदेनाभावभेदस्यावश्यकतया, अन्यथा एकघटप्रतियोगिनां चतुर्णां ध्वंसादीनामैक्यापत्ते:। नचाधिकरणरूपाभाववादिनामधिकरणभेदेनैवाभावभेद:; ध्वंसप्रागभावयोरैक्यापत्तौ विलक्षणव्यवहारानापत्ते:। नचैवमद्वैतेऽप्यैक्यानुपपत्ति:; ब्रह्मेतरत्वरूपप्रतियोगितावच्छेदकस्यैक्यात्, प्रतियोगिभेदाभेदयोरतन्त्रत्वात्।।१७।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

के कारण नहीं होता है। इसलिए शुक्ति में रजतादि का संशय हो जाता है। यदि कहा जाय कि अनेक पटादि प्रतियोगियों के द्वारा निरूप्य जो घटस्वरूप भेद उस भेद का प्रतियोगी (निरूपक) अनेक होने के कारण घटस्वरूप भेद में अनेकत्व की आपत्ति होगी। ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ईश्वर को घट पटादि अनेक पदार्थों का ज्ञान है। अत: ईश्वर का ज्ञान = अनेक घट पटादि रूप अनेक निरूपक के द्वारा निरूप्य है फिर भी ईश्वर ज्ञान में एकता ही मानी जाती है। इसी प्रकार अद्वैत अनेक द्वैत रूप निरूपक के द्वारा निरूप्य होने पर भी एक ही माना जाता है। दूसरी बात यह है कि निरूपक के एक होने पर ही निरूप्य में एकत्व मानने पर घट का प्रागभाव और घट का प्रध्वंसाभाव ये दोनों ही एक ही घट रूप निरूपक (प्रतियोगी) के द्वारा निरूप्य होने के कारण इन दोनों अभावों को एक ही मानने की आपत्ति होगी। जब कि उक्त दोनों अभावों में अनैक्य देखा जाता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि हम निरूपक (प्रतियोगी) के भेद से निरूपित भेद में अर्थात् अभावादि में अनेकता का आरोप नहीं करते हैं किन्तु प्रतियोगितावच्छेदक के भेद से अभाव का भेद अवश्य होता है—यह हमारा मत है। अन्यथा = प्रतियोगितावच्छेदक के अनेक होने पर भी अभाव में अनेकत्व न मानकर प्रतियोगी की अनेकता से अभाव में अनेकत्व मानने पर एक घट ही प्रतियोगी है, जिन प्रागभावादि चार अभावों का ऐसे जो चारों अभावों के ऐक्य की आपत्ति होगी क्योंकि सबका प्रतियोगी एक ही घट है। अभाव अधिकरण स्वरूप होता है। अत: प्रतियोगी के एक होने पर भी अधिकरण के भेद से अभावों में भेद की उपपत्ति हो जायेगी— ऐसा भी अधिकरण स्वरूप अभाववादी नहीं कह सकता है, क्योंकि घट के प्रागभाव और घट के प्रध्वंसाभाव दोनों का अधिकरण कपाल ही है। अत: दोनों अभाव एक हो जायेंगे। ऐसा होने पर ''घटो भविष्यति'' ''घटो ध्वस्त:'' इत्यादि रूप जो विलक्षण व्यवहार होता है। वह नहीं हो पायेगा। सिद्धान्त मतानुसारर प्रतियोगितावच्छेदक के भेद से अभाव का भेद मानने पर चारों अभाव पृथक्— पृथक् उपपन्न हो जायेंगे। जैसे अत्यन्ताभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक संयोगादिरूप सम्बन्ध है और अन्योन्याभावीय प्रतियोगिता का अवच्छेदक तादात्म्य है तथा प्रध्वंसीय प्रतियोगितावच्छेदक पूर्वकालीन तद् व्यक्तित्व है और प्रागभावीय प्रतियोगितावच्छेदक उत्तरकालीन तद्व्यक्तित्व है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि एवम् = प्रतियोगीरूपनिरूपक के भेद से निरूप्य में भेद मानने पर ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म में घट का अभेद पट का अभेद आदि रहने के कारण उस अभेद के निरूपक घट पटादि अनेक होने से अभेद में अनेकत्व की आपत्ति होगी—ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि प्रतियोगितावच्छेदक के भेद से भेद मानने के कारण अभेद स्थल पर अनेकत्व की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि अभेद स्थल पर ब्रह्मेतरत्व रूप प्रतियोगितावच्छेदक का ऐक्य होने के कारण अभेद में एकता बनी रहेगी। फलत: प्रतियोगी के भेद से अभाव में भेद और प्रतियोगी के अभेद से अभाव में ऐक्य का नियम नहीं माना जा सकता है।।१७।।

यदपि भेदज्ञानं न भ्रमविरोधि, किन्त्वधिष्ठान आरोप्यविरुद्धधर्मादिज्ञानमिति, तन्न, शाब्दाभेदभ्रमस्य शाब्दभेदज्ञानादनिवृत्त्यापत्तेः। यदपि कैश्चिदुक्तं—अदोषमूला ताद्रूप्येणाप्रतीतौ प्रतीतिः स्वरूपभेदलक्षणम्। शुक्तेश्च शुक्त्यात्मना अप्रतीतिः दोषमूलेति न तत्रातिव्याप्तिः। अदोषमूलेत्यस्य यद्यपि सप्तम्यन्तविशेषणत्वं न सम्भवति तथापि विशिष्टविशेषणत्वेन तद्विशेषणत्वपर्यवसानादिति, तन्न। ताद्रूप्येणाप्रतीतौ

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— सिद्धान्ती ने जो कहा था कि भेद ज्ञान भ्रम का विरोधी होता है। उसका खण्डन करते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि भेद ज्ञान भ्रम का विरोधी नहीं होता है, किन्तु अधिष्ठान (शुक्ति) में जो आरोप्य रजत है, उस रजत निष्ठ धर्म रजतत्व, उसका विरुद्ध धर्म शुक्तित्व। उस शुक्तित्व का ज्ञान ही भ्रम का विरोधी होता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वपक्षी के कथनानुसार शब्द जन्य अभेद भ्रम की शब्दजन्य भेद ज्ञान से निवृत्ति नहीं हो पायेगी। कहने का भाव यह है कि किसी अनाप्त पुरुष ने शुक्ति को दिखाकर कहा कि यह रजत है। इस अनाप्त पुरुष के कथन को सुनकर श्रोता को जो शाब्द अभेद भ्रम = पूरोवर्ति वस्तु से रजत के अभेद का ज्ञान हुआ। इसके पश्चात् किसी आप्त पुरुष ने उसी भ्रान्त श्रोता को कहा ''नेदं रजतम्'' किन्तु यह शुक्ति है—ऐसा शब्द नहीं कहा। इसलिए वहाँ अधिष्ठान में आरोप्य विरुद्ध धर्म शुक्तित्व का ज्ञान हुआ ही नहीं। फिर भी उस आप्त वचन के द्वारा भ्रान्त व्यक्ति के भ्रम की निवृत्ति होती है। पूर्वपक्षी के अनुसार ऐसे भ्रमस्थल पर भ्रम निवृत्ति नहीं हो पायेगी।

शङ्का— पूर्वपक्षी के कुछ आचार्य स्वरूप भेद का लक्षण इस प्रकार से करते हैं — अदोषमूला= दोष अजन्य, ताद्रूप्येण= तद् धर्मप्रकारेण (तद् = शुक्ति भेद में लक्षण ले जाते समय तद् से शुक्तित्व लेंगे। अर्थात् शुक्तित्व प्रकारेण) अप्रतीतौ = भेदाधिकरण की प्रतीति न होने पर। अर्थात् जहाँ रजत में शुक्ति भेद है वहाँ भेदाधिकरण रजत की शुक्तित्वेन प्रतीति न होने पर जो प्रतीति होती है। अर्थात् यह रजत है— ऐसी जो प्रतीति होती है। ऐसी प्रतीति को रजत रूप अधिकरण स्वरूप शुक्ति भेद माना जाता है। शुक्ति में शुक्ति भेद नहीं रहता है। ऐसी स्थिति में शुक्ति में शुक्ति भेद का लक्षण जाता तब अतिव्याप्ति होती। उसके वारण के लिए अदोषमूला कहा गया है। अर्थात् शुक्ति में शुक्तित्वेन प्रतीति न होकर ''यह रजत है'' ऐसी प्रतीति होती है तो वहाँ शुक्ति में शुक्ति भेद का लक्षण नहीं जायेगा, क्योंकि शुक्ति में शुक्तित्वेन जो प्रतीति नहीं हुयी है वह दोष से जन्य है। यद्यपि प्रथमान्त ''अदोषमूला'' का सप्तम्यन्त ''अप्रतीतौ'' का अभेदेन अन्वय नहीं हो सकता है, क्योंकि विरुद्ध विभक्तियों का अभेदेने अन्वय उचित नहीं होता है तथापि विशिष्ट (अप्रतीति विशिष्ट प्रतीति) का विशेषण जो अदोषमूला है वह अदोषमूला विशेषण अप्रतीति का भी होगा, क्योंकि विशिष्ट का विशेषण विशिष्ट घटक विशेषण और विशेष्य दोनों का विशेषण होता है। {विशिष्टविशेषणत्वेन= स्वाधिकरणकालवृत्तित्वसम्बन्धेनाप्रतीतिविशिष्टप्रतीतिविशेषणत्वेनेत्यर्थः।} (अर्थात्— अप्रतीति को प्रतीति का विशेषण बनाया और प्रतीति का विशेषण अदोषमूला बना। तब कहा कि अप्रतीति विशिष्ट प्रतीति का विशेषण अदोषमूला है। ऐसा होने पर प्रतीति और अदोषमूला दोनों प्रथमान्त होने से कोई दोष नहीं होगा। किन्तु प्रतीति तभी अप्रतीति विशिष्ट हो सकती है जब प्रतीति में अप्रतीति रहे। उसके लिये कहा कि स्वाधिकरणकालवृत्तित्व सम्बन्ध से प्रतीति में अप्रतीति रह जायेगी। जैसे स्व = अप्रतीति का अधिकरणीभूत काल अर्थात् जिस काल में अप्रतीति रहती है, उस काल में वृत्तित्व प्रतीति में है। अर्थात् जिस काल में अप्रतीति रहती है उसी काल में रहने वाली प्रतीति अदोष मूला है। इस प्रकार अप्रतीति विशिष्ट प्रतीति का विशेषण जो अदोषमूला है, वह अप्रतीति में भी रहेगा। तद्विशेषणत्वपर्यवसानात् =

प्रतीतेरभेदसाधारण्येनादोषमूलत्वपर्यन्तज्ञानं भेदव्यवहारकारणं वाच्यम्। तत्रादोषमूलत्वं फलैकोन्नेयमिति चाक्षुषत्वं न स्यात्; प्रतीतिघटितत्वात्, अप्रत्ययकाले च भेदो न स्यात्।।१८।।

किञ्च रजतात्मना शुक्तेः प्रतीतिसमये तत्र तद्भेदस्ते न स्यात्; अदोषमूलेत्यस्याभावविशेषणत्वेना– व्याप्तिवारणेऽसामर्थ्यात्, विशेष्यानधिकरणस्य सुतरां विशिष्टानधिकरणत्वात्। नहि पुरुषहीने दण्डिपुरुषसम्भवः। नचादोषमूलेति अशरीरजन्यत्वमित्यत्र शरीरमिव प्रतियोगिविशेषणं बाधितसंग्रहाय; नञा समस्तप्रतीते–

सत्यानन्दप्रबोधिका

विशेष्ये फलमलभमानं तद् विशेषणमनुसरद् फलवद् भवतीति फलतस्तद्विशेष्यत्व एव पर्यवसानादित्यर्थः।}

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ शुक्ति है और भ्रम से यह रजत है– ऐसी प्रतीति हो रही है और जहाँ शुक्ति में शुक्ति का भेद नहीं रहता है। अर्थात् अभेद रहता है। ऐसे स्थल पर अदोषमूला पद को छोड़कर शेष लक्षण जा रहा है। अतः अदोषमूला पद न देने पर अतिव्याप्ति होगी। इसलिए लक्षण में अदोषमूला पद को पूर्वपक्षी के द्वारा दिया गया। इस प्रकार अदोषमूलन्तपर्यन्त ज्ञान को अधिकरण स्वरूप भेद का लक्षण पूर्वपक्षी को कहना पड़ेगा। तत्र = उक्त अधिकरण स्वरूप भेद के लक्षण में लक्षणघटक अदोषमूलता का फल (प्रतीति का सफल व्यवहार) को देखकर के ही अनुमान किया जा सकता है। जैसे– तादृरूप्येणाप्रतीतिकालीनाप्रतीतिः, अदोषमूला, सफलप्रवृत्तिजनकत्वात्, सम्मतवत्। दूसरी बात यह है कि उक्त स्वरूपभेद का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि उक्त लक्षण प्रतीति से घटित है और प्रतीति के अभाव काल में भेद की सत्ता ही नही रहेगी, क्योंकि जिस समय शुक्ति में रजतत्वेन ''इदं रजतम्'' यह प्रतीति नहीं हुई और ''इयं शुक्तिः' इस प्रकार की भी प्रतीति नहीं हुयी। उस समय भी शुक्ति में रजतभेद रहता ही है, किन्तु रजत भेद में लक्षण नहीं जायेगा, क्योंकि ''अप्रतीतौ'' इस पद के पश्चात् ''प्रतीतिः'' ऐसा पद भी दिया है। जब कि यहाँ प्रतीति हो नहीं रही है। (च अप्रत्ययकाले भेदो न स्यात्, प्रतीतिघटितत्वात्—ऐसा अन्वय है)।।१८।।

किञ्च जिस काल में रजतात्मना शुक्ति की प्रतीति हो रही है, उस काल में शुक्ति में रजत भेद पूर्वपक्षी के लक्षणानुसार नहीं रहेगा, क्योंकि अदोषमूला अभाव (अप्रतीति) का विशेषण है, न कि प्रतीति का विशेषण। पूर्वपक्षी ने पीछे कहा था कि अप्रतीति विशिष्ट प्रतीति का विशेषण अदोषमूला है। विशिष्ट का विशेषण होने से विशिष्ट घटक विशेषण का भी विशेषण अदोषमूला होगा। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त प्रकार से उक्त स्थल पर अदोषमूला को अप्रीति का विशेषण बनने पर भी उसमें अव्याप्ति को वारण की सामर्थ्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि विशिष्ट घटक विशेष्य = प्रतीति (प्रकृत में शुक्ति में यह रजत है ऐसी प्रतीति) में अदोषमूलत्व नहीं है। अतः जो विशेषण विशेष्य में नहीं रहता है। वह विशिष्ट में सुतराम् नहीं रहेगा। फलतः अदोषमूला अप्रतीति का भी विशेषण नहीं बन सकता है। जैसे पुरुषरहित स्थल = शब्द विशिष्ट आकाश स्थल पर दण्ड विशेषण आकाश रूप विशेष्य में नहीं रहता है। अतः दण्ड विशेषण शब्द विशिष्ट आकाश में भी नहीं रहेगा। फलतः दण्ड शब्द का भी विशेषण नहीं बनता है। अतः शब्द को दण्डी पुरुष नहीं कहा जा सकता है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे अशरीर जन्यत्व का अर्थ होता है– शरीर जन्यत्व का अभाव। इसका प्रतियोगी= शरीर जन्यत्व। इस स्थल पर शरीर को जन्यत्व का विशेषण माना जाता है न कि अभाव का। ठीक इसी प्रकार ''अदोषमूला अप्रतीति'' का अर्थ होगा—अदोषमूला प्रतीति का अभाव। इस अभाव का प्रतियोगी अदोषमूला प्रतीति। यहाँ पर भी अदोषमूला प्रतीति का विशेषण होगा न कि अभाव का। ऐसा अर्थ होने से शुक्ति में रजत का भ्रम होने के बाद जब बाध हो जाता है। वहाँ शुक्ति में रजत का भेद रहता

रसमस्तेनानन्वयात्। नह्यब्राह्मणः समीचीन इत्यनेन समीचीनविप्राभावः प्रतीयते। अदोषमूलतादात्म्यप्रकारप्रतीत्य–भावोक्तौ च शुक्ते रूप्यात्मना अप्रतीतिकाले सामग्रीविरहात् शुक्त्यात्मना चाप्रतीतौ स्वभेदापत्तेः तादवस्थ्यात्। न च–तदापि प्रतीयमानस्यशुक्त्यात्मना प्रतीयमानत्वमीश्वरज्ञानमादायास्त्येवेति–वाच्यम्; एवं सत्यप्रतीतिदशाविरहेण प्रतीयमानपदवैयर्थ्यात्। न चान्योन्याभावत्वं तत्; तस्यानिरूपणात्। तदुक्तमाचार्यैः–''सापेक्षत्वात्सावधेश्च

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। ऐसे भेद में जो उक्त लक्षणा की अव्याप्ति दी गयी थी। वह अब नहीं होगी, क्योंकि प्रतियोगी (प्रतीति) का विशेषण अदोषमूला माना गया है। उक्त प्रतीति दोष मूला होने के कारण अदोषमूला प्रतीति का अभाव मिल जायेगा। अतः उक्त लक्षण चले जाने से अव्याप्ति नहीं होगी।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''पदार्थः पदार्थेनैवान्वेति न तु पदार्थैकदेशेनेति न्यायात्''। नञ् के द्वारा समास बद्ध जो प्रतीति अर्थात् अप्रतीति। इस अप्रतीति से अन्वय अदोषमूला का होगा, न कि अप्रतीति इस पद के घटक नञ् से अन्वय। जैसे ''अब्राह्मणः समीचीनः'' यहाँ समीचीन का अन्वय अब्राह्मण से होता है न कि अब्राह्मण के घटक नञ् से। फलतः अदोषमूला अप्रतीति ऐसा अन्वय होने पर रजत रूप से प्रतीयमान शुक्ति के आश्रित रजत भेद में अव्याप्ति का वारण नहीं हो पायेगा। यदि कहा जाय कि उक्त भेद के लक्षण को शोधित करके ऐसा कहेंगे कि अदोष मूला जो तद् धर्मप्रकारिका प्रतीति तादृश प्रतीति अभावकालीन प्रतीति वह तद्धर्मावच्छिन्न स्वरूप भेद है। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त प्रकार से स्वरूप भेद का लक्षण बनाने पर अतिव्याप्ति होगी। जैसे जहाँ शुक्ति में ''इदं रजतम्'' ऐसी प्रतीति नहीं हो रही है और ''इयं शुक्तिः'' इस प्रकार प्रत्यक्ष की जो सामग्री = शुक्ति के नीलपृष्ठ भाग के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष। उस सामग्री के न रहने से शुक्ति की प्रतीति न होने पर शुक्ति में शुक्ति का जो भेद नहीं रहता है, उस शुक्ति भेद में लक्षण चला जायेगा, क्योंकि शुक्ति तादात्म्येन (शुक्तित्व प्रकारेण शुक्ति) की अप्रतीति है और साथ–साथ यत् किञ्चित् इदम् ऐसी प्रतीति भी होती है। अतः उक्त लक्षण चला गया। कहने का भाव यह है कि यदि अप्रतीति का विशेषण अदोषमूला होता तो यहाँ लक्षण नहीं जाता, क्योंकि दोष के कारण ही यहाँ अप्रतीति हुयी किन्तु पूर्वपक्षी ने अदोषमूला को अप्रतीति की प्रतियोगीभूता प्रतीति का विशेषण मानकर अदोषमूला प्रतीति का अभाव ऐसा अर्थ किया। यहाँ पर तो कोई प्रतीति न होने के कारण अदोषमूला प्रतीति भी नहीं है और यत् किञ्चित् ऐसी प्रतीति हो रही है। अतः अतिव्याप्ति दोष होगा।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि जीव को जब शुक्ति रजत रूप से प्रतीत हो रही है। उस काल में जीव को शुक्ति में शुक्तित्व रूपेण प्रतीति न होने पर भी ईश्वर को शुक्ति में शुक्तित्व रूपेण प्रतीति होती ही है। अतः पूर्वोक्त प्रकार से अतिव्याप्ति नहीं होगी।

समाधान– ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रतीति से ईश्वर की प्रतीति लेने पर ईश्वर को हमेशा ही शुक्ति की शुक्तित्वेन प्रतीति रहती है। उसको कभी भी शुक्ति की शुक्तित्वेन अप्रतीति होती ही नहीं है, जिसका वारण करने के लिए लक्षण घटक प्रतीति पद दिया जाय। इसलिए प्रतीति पद व्यर्थ हो जाने से लक्षण का आकार होगा– ''अदोषमूलातादृरूप्येणाप्रतीतिः।'' ऐसा लक्षण होने पर ''चाक्षुषत्वं न स्यात्, प्रतीतिघटितत्वादप्रत्ययकाले च भेदो न स्यात्'' इस प्रकार से जो दोष दिया गया था। वह सभी दोष आ जायेंगे। इसी प्रकार अन्योन्याभावत्व को स्वरूपभेद का लक्षण नहीं माना जा सकता है क्योंकि अन्योन्याभावत्व का निरूपण पूर्वपक्षी नहीं कर सकता है। इसको स्पष्ट करते हुये आचार्यप्रवर

तत्त्वेऽद्वैतप्रसङ्गतः।

एकाभावादसन्देहान्न रूपं वस्तुनो भिदा''।। इति।।१९।।

किञ्च घटस्य भेदत्वे एकतरपरिशेषापत्तिः। ननु—ऐक्यस्य ज्ञानस्यानन्दस्य च ब्रह्मस्वरूपत्वे एकतरपरिशेषापत्तिस्तवापि समाना, न च वस्तुनः एकत्वेनेष्टापत्तिः, प्रकृतेऽपि साम्यादिति—चेन्न; एकतरपरिशेषापत्त्या घट इति भेद इति विलक्षणव्यवहाराभावस्यापादनात्। न च प्रवृत्तिनिमित्तघटत्व—

सत्यानन्दप्रबोधिका

श्रीचित्सुख मुनि कहते हैं कि भेद को अधिकरण घटादि वस्तु स्वरूप नहीं माना जा सकता है, क्योंकि भेद प्रतियोगी की अपेक्षा करता है जबकि घटादि वस्तु का स्वरूप निरपेक्ष होता है। सप्रतियोगिक भेद को वस्तु स्वरूप मानने पर जैसे भेद घटस्वरूप है वैसे ही भेद का प्रतियोगी पट भी घट स्वरूप हो जाने से अद्वैत में पर्यवसान होगा। विदारणात्मक भेद को वस्तु स्वरूप मानने पर भेद अपने आश्रय परम्परा का विदारण करता हुआ एक का अभाव सिद्ध कर देगा। एक के न रहने पर तन्निमित्तक अनेक का भी अभाव सिद्ध हो जाने से शून्यवाद की आपत्ति होगी। भेद को वस्तुस्वरूप मानने पर वस्तु का ज्ञान होते ही वस्तुस्वरूप भेद का भी ज्ञान हो जाने से वस्तु के विषय में सन्देह ही नहीं होगा। अर्थात् सन्देह मात्र के उच्छेद की आपत्ति होगी।।१९।।

किञ्च भेद को घटस्वरूप मानने पर ''घटः पटो न'' इस प्रकार घट और भेद का सहप्रयोग नहीं बन पायेगा अपितु भेद या घट इन दोनों में से एक का ही प्रयोग होगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती भी ऐक्य (अभेद) ज्ञान और आनन्द को ब्रह्म स्वरूप मानते हैं। अतः ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' ऐसा सहप्रयोग नहीं हो पायेगा अपितु एकतर के परिशेष की आपत्ति सिद्धान्त मत में भी होगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि अभेद —ज्ञान—आनन्द और ब्रह्म ये सब एक होने के कारण एकतर परिशेष की आपत्ति हमे अभीष्ट है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि हमें भी भेद को घटस्वरूप मानने पर घट और भेद के एक होने के कारण एकतर परिशेषापत्ति हमें भी अभीष्ट है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है—क्योंकि भेद को घट स्वरूप मानने पर एकतर परिशेष की आपत्ति होने से घट कहने पर भी और भेद कहने पर भी एक ही पदार्थ की प्रतीति होगी, भिन्न—भिन्न दो पदार्थो की प्रतीति नहीं होगी। ऐसा होने पर ''अयं घटः'' और ''अयं भेदः'' इस प्रकार का जो विलक्षण व्यवहार होता है, उसके अभाव की आपत्ति होगी।

शङ्का— भेद के घटस्वरूप होने पर भी ''अयं घटः'' इस प्रकार के व्यवहार के प्रवृत्ति का निमित्त घटत्व है और ''अयं भेदः'' इस प्रकार के व्यवहार के प्रवृत्ति का निमित्त भेदत्व है। इस प्रकार घटत्व और भेदत्व के भेद से उक्त विध विलक्षण व्यवहार की उपपत्ति हो जायेगी।

समाधान—उक्त प्रकार से उक्त विध विलक्षण व्यवहार की उपपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि भेद का प्रवृत्ति निमित्त भेदत्व घट प्रवृत्ति निमित्त घटत्व से यदि भिन्न है। तब भेदत्व का अर्थ क्या है? इस का निर्वचन ही नहीं किया जा सकता है। जैसे भेदत्व क्या (१) जाति है? अथवा (२) उपाधि है? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि जाति द्रव्य गुण कर्म में रहती है और समवाय विशेषादि में नहीं रहती है किन्तु समवाय विशेष सामान्य में भेद रहता है। वह भेद अधिकरण स्वरूप होने से सामान्यादि स्वरूप होगा और उसमें भेदत्व जाति मानने पर सामान्यादि में जाति मानने की आपत्ति होगी। द्वितीय पक्ष अर्थात् भेदत्व= उपाधि पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि तादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्व रूप उपाधि = भेदत्व नहीं माना जा सकता है, क्योंकि तादात्म्य का अर्थ भेद का अभाव करने पर अन्योन्याश्रयदोष होगा, क्योंकि भेद

भेदत्वयोर्भेदात्तदुपपत्तिः; भेदत्वस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। तथाहि—न तावज्जातिः; जात्यादिसाधारणत्वात्, नोपाधिः तादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वादिरूपः; तादात्म्यस्य भेदविरहरूपत्वे अन्योन्याश्रयात्, तन्निष्ठासाधारणधर्मरूपत्वे तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावेऽतिव्याप्तेः, तस्यापि स्वरूपत्वे अनुगतव्यवहारानापत्तेः। नच ज्ञानानन्दादावपि विलक्षणव्यवहारो न स्यादिति—वाच्यम्; कल्पितधर्मभेदमादायोपपत्तेः। न च—भेदत्वमपि तथास्त्विति—वाच्यम्; तर्ह्यनिराकार्योऽसि।।२०।।

किञ्च भेदस्य स्वरूपत्वे इदं भिन्नमस्य भेद इति सम्बन्धित्वेन धीर्न स्यात्। न चानन्दो ब्रह्मण इतिवदुपपत्तिः; प्रमाणसिद्धे ह्यैक्ये भेदव्यवहारस्यौपचारिकत्वं कल्प्यते राहोः शिर इत्यादिवत्। न च प्रकृते

सत्यानन्दप्रबोधिका

का ज्ञान होने पर तादात्म्य (भेदाभाव) का ज्ञान और तादात्म्य का ज्ञान होने पर भेद का ज्ञान होगा। इस अन्योन्याश्रयदोष से बचने के लिए तादात्म्य को अधिकरण निष्ठ असाधारण धर्म मानने पर अर्थ होगा—घट में तादात्म्येन पट नहीं है। यहाँ प्रतियोगी पट और उसमें असाधारण धर्म पटत्व। वही पटत्व तादात्म्य शब्द का अर्थ है। अतः पटत्वेन पट का घट में रहने वाला पटात्यन्ताभाव में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि उक्त पटत्वधर्मरूपतादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभाव = घट में रहने वाला पटत्वेन पट का अत्यन्ताभाव। अब तक भेद को ही अधिकरण स्वरूप माना जाता था किन्तु अब कह रहे हैं कि भेदत्व को भी घटादि अधिकरण स्वरूप मानने पर अधिकरण कहीं घट है कही पट है, कहीं मठ है। इस प्रकार घट मठ आदि की एकरूपता ही नहीं है। अतः अधिकरण स्वरूप भेदत्व की एकरूपता नहीं होने से घट मठादि में भेदत्व—भेदत्व ऐसा अनुगत व्यवहार की उपपत्ति नहीं हो पायेगी और भेदत्व तथा घट के अभिन्न होने पर यह घट है और भेदत्व है—ऐसा विलक्षण व्यवहार भी नहीं हो पायेगा। इसको ''तस्यापि'' के अपि पद से कहा गया है।

शङ्का— अभेद तथा ज्ञान और आनन्द को ब्रह्म स्वरूप मानने पर यह ज्ञान है, यह आनन्द है—ऐसे विलक्षण व्यवहार की अनुपपत्ति सिद्धान्त मत में भी आयेगी।

समाधान— सिद्धान्त मत में कल्पित धर्म (ज्ञानत्व—आनन्दत्वादि) भेद को लेकर के विलक्षण व्यवहार की उपपत्ति हो जायेगी। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि भेदत्व को कल्पित मानकर विलक्षण व्यवहार की उपपत्ति हमारे मत में भी हो जायेगी। इसका खण्डन करते हुये कह रहे हैं कि यदि पूर्वपक्षी भेदत्व को कल्पित मान लेता है तो हमें भेदत्व को खण्डन करने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त सभी को हम कल्पित मानते ही हैं।।२०।।

किञ्च भेद को अधिकरण स्वरूप मान लेने पर ''इदम्=घटादिकम् भिन्नम्= भेदविशिष्टम्। अर्थात् भेद विशिष्ट घट—इस प्रतीति में भेद और घट में जो सम्बन्ध भास रहा है। उसकी अनुपपत्ति होगी। इसी प्रकार ''अस्य भेदः'' यहाँ पर जो षष्ठी विभक्ति के द्वारा सम्बन्ध भास रहा है। उसकी अनुपपत्ति होगी। यदि कहा जाय कि ''आनन्दो ब्रह्मणः'' इत्यादि स्थल पर ब्रह्म स्वरूप आनन्द का ब्रह्म के साथ जो सम्बन्ध प्रतीत होता है, उसको गौण माना जाता है, ठीक वैसे ही भेद और भेदस्वरूप घट का गौण सम्बन्ध मान लिया जायेगा। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि आनन्द और ब्रह्म की एकता प्रमाण सिद्ध है। उसमें काल्पनिक सम्बन्ध मानकर भेद व्यवहार की औपचारिक कल्पना ''राहो शिरः'' के जैसे हो जाती है, किन्तु प्रकृत में भेद और अधिकरण के ऐक्य में प्रमाण नहीं है अपितु उक्त ऐक्य में बाधक का सद्भाव पीछे स्पष्ट किया जा चुका है।

शङ्का— भेद को अधिकरण स्वरूप न माना जाय अथवा अधिकरण स्वरूप माना जाय। इन दोनों पक्षों

तथा, ऐक्ये मानाभावात्, बाधकाच्च। न च—पक्षान्तरानुपपत्तेरेव पक्षान्तरपरिग्रहः; शशशृङ्गादौ भावत्वाभावत्व—योरन्यतरानुपपत्त्याऽन्यतरग्रहणोपपत्तेः। न च—तत्रोभयत्र बाधकादलिकत्वेनोपपत्तिः; प्रकृतेऽप्युभयत्र बाधकादाविद्यकत्वेनोपपत्तेः सम्भवात्॥२१॥

ननु—अस्ति भेदस्य स्वरूपत्वे मानं मृद्धट इतिवत् घटः पटात्मको नेति पटतादात्म्यनिषेधरूपस्य भेदस्य घटसामानाधिकरण्येनाभेदप्रत्यक्षं, तथा घटभेदयोरेकैकस्य प्रतीतावितरस्य नियमेन प्रतीयमानत्वादिकं

सत्यानन्दप्रबोधिका

में से पक्षान्तर=प्रथम पक्ष (भेद को अधिकरण स्वरूप न माना जाय) को स्वीकार करने पर घट में पट भेद पुनः पट भेद का भेद मानते रहने से अनवस्थादि दोष की आपत्ति होगी। अतः प्रथम पक्ष में अनुपपत्ति होने के कारण पक्षान्तर=भेद को अधिकरण स्वरूप स्वीकार किया जाता है।

समाधान— ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि शशशृङ्गादि में भावत्व और अभावत्व इन दोनों में अन्यतर की अनुपपत्ति से अन्यतर के ग्रहण की आपत्ति होगी। अर्थात् असत् पदार्थ को भाव माना जाय या अभाव माना जाय। इनमें से प्रथम पक्ष मानने पर शशशृङ्गादि को घट के समान प्रत्यक्ष होने की आपत्ति होगी। प्रथम पक्ष में अनुपपत्ति होने से द्वितीय पक्ष (अभावत्व) मानना होगा किन्तु असत् को अभावरूप भी नहीं माना जाता क्योंकि अभाव का प्रत्यक्ष होता है और प्रतियोगी के ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार अभाव पक्ष में अनुपपत्ति होने से असत् को भाव मानने की आपत्ति होगी। यदि कहा जाय कि शशशृङ्गादि में भावत्व और अभावत्व इन दोनों पक्षों में अनुपपत्ति होने से शशशृङ्गादि में अलीकत्व माना जाता है। तब तो प्रकृत भेद में भी वस्तु का स्वरूप भेद मानने पर पूर्वोक्त शून्यतापत्ति आदि दोष आयेंगे और वस्तु का धर्म भेद को मानने पर अनवस्थादि दोष आयेंगे। इस प्रकार दोनों ही पक्षों में अनुपपत्ति होने से भेद को आविद्यक मानकर उपपत्ति हो जायेगी॥२१॥

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि भेद के स्वरूपत्व में प्रमाण है। जैसे ''मृद् घटः'' यहाँ पर दोनों प्रथमा अर्थात् समान विभक्त्यन्त के द्वारा प्रतिपाद्य होने से दोनों में जो सामानाधिकरण्य का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर घट मृत्तिका स्वरूप है— ऐसा निश्चय होता है, ठीक इसी प्रकार ''घटः पटात्मको न'' ऐसा जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यहाँ ''पटात्मको न'' का अर्थ है— पट तादात्म्य निषेध = भेद। इस भेद का घट के साथ सामानाधिकरण्य है, क्योंकि दोनों (घट और न) में प्रथमा विभक्ति है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर भेद घट स्वरूप है— ऐसा निश्चय हो ही सकता है। भेद के स्वरूपत्व में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही नहीं अपितु अनुमान प्रमाण भी है— भेदो घटाभिन्नः, घटप्रतीतिनियतस्वप्रतीतिकत्वात्, नीलाभिन्नघटवत्। (पक्ष में हेतु का समन्वय करते समय स्व से भेद लेंगे और दृष्टान्त में हेतु का समन्वय करते समय स्व से नील लेंगे।) भेद के स्वरूपत्व में आगम प्रमाण भी है जैसे— ''सत्यं भेदस्तु वस्तूनां स्वरूपं नात्र संशयः।'' अर्थात् भेद वस्तुओं का स्वरूप है— यह सत्य है। इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

समाधान— पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''घटः पटात्मको न'' यह अनुभव घट में पट का अन्योन्याभाव रूप भेद को विषय करता है। अतः उक्त अनुभव घट में पट के भेद को बतला रहा है न कि घट में पट भेद के अभेद को (भेदाभेदाविषयत्व = भेद का जो धर्मी के साथ अभेद है उसका नाम है भेदाभेद, तादृश भेदाभेद का अविषयत्व होने से। फलतः भेद का स्वाधिकरण के साथ अत्यन्ताभेद होने पर आधारत्व के अनुभव की उपपत्ति नहीं हो पायेगी। इस लिए अभाव का अधिकरण के साथ विशेषणता नामक सम्बन्ध अतिरिक्त ही मानना उचित है।) अन्यथा = समान विभक्त्यन्त के द्वारा दोनों के प्रतिपाद्य होने

लिङ्गम्। 'सत्यं भेदस्तु वस्तुनां स्वरूपं नात्र संशयः।' इत्याद्यगमश्चेति—चेन्न, घटः पटात्मको नेत्यादेरन्योन्याभावभेदविषयतया भेदाभेदाविषयत्वात्, अन्यथा नीलो घट इत्यादेरपि रूपाभेदविषयत्वापत्तेः। लिङ्गस्य चाभेदसिद्धेः पूर्वमसिद्धत्वात्, सामान्यव्याप्तेर्जातिव्यक्त्यादौ समानसंवित्संवेद्ये व्यभिचाराद्विशेषव्याप्तावपि प्रतियोगिनि व्यभिचाराच्च, आगमस्य चाधिष्ठानातिरेकेणासत्त्वपरत्वात्।।२२।।

किञ्च पटात् भेदः घटमात्ररूपं वा, घटकुड्यादिसर्वरूपं वा? आद्ये कुड्यादिः पटभेदो न स्यात्। द्वितीये स्वरूपाणामननुगतत्वात् पटभेदानुगतप्रतीतिर्न स्यात्। न च—पटज्ञानेच्छादौ यथा पटविषयत्वेना—

सत्यानन्दप्रबोधिका

से दोनों में अभेद मानने पर "नीलो घटः" इस स्थल पर नील और घट दोनों में समान विभक्ति होने से नील (गुण) और घट (द्रव्य) में अभेद मानने की आपत्ति होगी। अर्थात् "नीलो घटः" इस अनुभव का विषय रूपाभिन्न घट मानना पड़ेगा। पूर्वपक्षी के उक्त अनुमान में स्वरूपासिद्धि दोष है, क्योंकि पूर्वपक्षी ने कहा था कि जब घट की प्रतीति होती है तब इतर (भेद) की प्रतीति नियम पूर्वक होती है। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि पूर्वपक्षी उक्त प्रकार से तब कह सकता है जब पहले घट और भेद में अभेद सिद्ध हो जाय किन्तु अनुमान से पहले घट और भेद में अभेद सिद्ध न होने से उक्त प्रकार से कहा नहीं जा सकता है। अतः पक्ष में हेतु के न जाने से स्वरूपासिद्धि दोष है। दूसरी बात यह है कि उक्त अनुमान की सामान्य व्याप्ति (ययोरन्यतरस्य प्रतीतौ सत्यामितरस्य नियमेन प्रतीतिस्तयोरभेदः) लेने पर जाति व्यक्त्यादि में व्यभिचारदोष होगा, क्योकि "अयं घटः" इत्यादि स्थल पर जाति की प्रतीति होने पर जाति वाले व्यक्ति की नियमतः प्रतीति होती है और जाति वाले व्यक्ति की प्रतीति होने पर नियमतः जाति की प्रतीति होती है। इस प्रकार "अयंः घटः" इत्यादि स्थल पर समान संवित् संवेद्य जाति व्यक्त्यादि में हेतु के रहने पर भी साध्य नहीं है, क्योंकि जाति और व्यक्ति में अभेद नहीं माना जाता है। उक्त सामान्य व्याप्ति में यत्त्व तथा तत्त्व का अननुगम दोष भी है। अतः उक्त सामान्य व्याप्ति नहीं मानी जा सकती है। इसलिए "घटः पटभेदाभिन्नः, तत्समानाधिकृतत्वात्, पटभेदवत्।" इत्याकारक विशेष व्याप्ति कहना पड़ेगा। (यहाँ हेतु का अर्थ है— पटभेद और घट दोनों समान विभक्ति के द्वारा प्रतिपाद्य होने से) ऐसी व्याप्ति मानने पर प्रतियोगी पट में व्यभिचार दोष होगा। जैसे "पटो न" यहाँ पर प्रतियोगी पट और न दोनों में समान विभक्ति है। अतः हेतु है किन्तु साध्य नहीं है, क्योंकि पट का भेद के साथ अभेद नहीं सिद्ध किया जा रहा है अपितु पटभेद का घट के साथ अभेद सिद्ध किया जा रहा है। पूर्वपक्षी के द्वारा कथित आगम का अर्थ है—वस्तूनां सत्यमबाध्यमधिष्ठानीभूतं यद्रूपं तदेव भेदः। अर्थात् अधिष्ठानसत्तातिरिक्तसत्ताकत्व का अभाव भेद में है। अर्थात् भेद मिथ्या है।।२२।।

सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी के मतानुसार पट प्रतियोगिक भेद केवल घट स्वरूप होता है? अथवा घट मठ कुड्यादि सर्व पदार्थ स्वरूप है? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर पटभेद केवल घट स्वरूप सिद्ध होगा, कुड्यादि स्वरूप पट भेद सिद्ध नहीं होगा। (कहने का भाव यह है कि पट भेद पट को छोड़कर सर्वत्र रहता है। किन्तु प्रथम पक्ष मानने पर पट भेद केवल घट स्वरूप ही सिद्ध होगा, कुड्यादि स्वरूप सिद्ध नहीं हो पायेगा। जबकि पूर्वपक्षी को यह अभीष्ट है कि पटभेद जहाँ—जहाँ है वहाँ—वहाँ तत्तत् स्वरूप माना जाय।) द्वितीय पक्ष मानने पर घट मठ कुड्यादि के स्वरूपों के अननुगतत्व होने से अर्थात् सबका स्वरूप पृथक्—पृथक् होने से घट में रहने वाले, मठ मे रहने वाले, कुड्यादि (दीवारादि) में रहने वाले पट भेद की "अयं पटभेदः— अयं पटभेदः" इत्याकारक अनुगत प्रतीति नहीं हो पायेगी।

नुगतेनानुगतव्यवहारः, तथा पटप्रतियोगिकत्वेनात्राप्यनुगतव्यवहार इति—वाच्यम्, एतावता हि ज्ञानादिषु पटविषयं ज्ञानं पटविषयेच्छेति पटविषयत्वांशे अनुगमवत् पटप्रतियोगिकत्वांश एवानुगमः स्यात् न भेदांशेऽपि। न च भेदत्वमप्येकमित्युक्तम्। किञ्चेदमस्मात् भिन्नमिति वाऽस्यामुष्मात् भेद इति वा धर्मिप्रतियोगिघटितत्वेन भेदग्रहणे परस्पराश्रयः, धर्मिप्रतियोगिज्ञाने भेदज्ञानं तस्मिंश्च सत्यस्यामुष्मादिति विलक्षणध ार्मिप्रतियोगिज्ञानमिति। घटपटौ भिन्नाविति घटपटविशेषणतया तयोर्भेद इति तद्विशेष्यता वा ग्रहणेऽपि अन्योन्याश्रय एव। घटपटप्रतीतौ तद्विशेष्यत्वादिना भेदग्रहः; भेदग्रहे च द्वित्वावच्छिन्नघटपटप्रतीतिरिति।।२३।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पट ज्ञान, पट इच्छा, पट द्वेष इत्यादि स्थल पर ज्ञान इच्छा तथा द्वेष का स्वरूप एक न होने पर भी अर्थात् इनके स्वरूपों में अननुगत्व होने पर भी जैसे अनुगतभूत पट विषयत्वेन अनुगत व्यवहार होता है, ठीक इसी प्रकार से घट मठ कुड्यादि के स्वरूपों में एक रूपता न होने पर भी पट प्रतियोगिकत्वेन पट भेद का ''अयं पटभेदः'' ''अयं पटभेद'' इस प्रकार से अनुगत प्रतीति हो जाने से अनुगत व्यवहार की उपपत्ति हो जायेगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के उक्त कथन से केवल यह सिद्ध हो रहा है कि पट ज्ञानेच्छादि स्थल पर ''पटविषयं ज्ञानम्'' घटविषयेच्छा'' इत्याकारक जैसे पटविषयत्वांश में अनुगम है वैसे ही प्रकृत में पट प्रतियोगिकत्वांश में ही अनुगम है, भेदांश में नहीं। कहने का भाव यह है कि ''पटविषयकज्ञानम्'' यहाँ पर दो अंश है। प्रथम अंश = पटविषयत्व और द्वितीय अंश = ज्ञानत्व। इन दोनों अंशों में से पटविषयत्व अंश में अनुगत व्यवहार होने पर भी अर्थात् ज्ञान में भी पट विषयत्व है, इच्छा में भी पट विषयत्व है किन्तु ज्ञानत्व इच्छात्वादि में अनुगत व्यवहार नहीं होता है ठीक इसी प्रकार पटभेद में भी दो अंश है— पटप्रतियोगिकत्व और भेदत्व। यहाँ पर पटप्रतियोगिकत्व में अनुगत व्यवहार है किन्तु भेदत्व में अनुगत व्यवहार नहीं है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि घट मठ चट कुड्यादि में रहने वाले सभी पट भेदों में एक ही भेदत्व अनुगत रूप से रहता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे है। कि खण्ड संख्या २० में कहा जा चुका है कि भेदत्व रूप एक धर्म की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः भेदत्व को अनुगत नहीं माना जा सकता है। दूसरी बात यह है कि ''यह उससे भिन्न है।'' इस रूप से अथवा ''इसका उससे भेद है।'' इस रूप से धर्मी (अनुयोगी) तथा प्रतियोगी एतदुभय घटित्वेन भेद का ग्रहण होने पर अन्योन्याश्रयदोष होगा, क्योंकि अनुयोगी और प्रतियोगी का ज्ञान होने पर भेद का ज्ञान होगा और भेद का ज्ञान होने पर इसका उससे भेद है— इत्याकारक विलक्षण (अर्थात् परस्पर भिन्न) अनुयोगी और प्रतियोगी का ज्ञान होगा। ''घटपटौ भेदवन्तौ'' इस प्रकार घट पट विशेष्यक भेद विशेषण विशिष्ट ज्ञान में भेद रूप विशेषण के ज्ञान की अपेक्षा और ''घटपटयोर्भेदः'' इस प्रकार भेद विशेष्यक और घट पट विशेषण विशिष्ट ज्ञान में घट पट रूप विशेषण ज्ञान की अपेक्षा होने से अन्योन्याश्रय दोष होगा। जैसे घट पट की प्रतीति होने पर घट पट विशेष्यकत्व रूप से या घट पट विशेषणत्व रूप से भेद का ग्रह होगा और भेद ग्रह होने पर द्वित्वावाच्छिन्न घट पट की प्रतीति होगी।।२३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के द्वारा दिया गया अन्योन्याश्रय की प्रथम कोटि (घट पट का ज्ञान होने पर घट पट विशेष्यक भेद ज्ञान होगा) हमें मान्य नहीं है क्योंकि भेद वस्तु का स्वरूप ही होती है। अतः घट और भेद दोनों एक ही है। इसलिए घट का ज्ञान और भेद का ज्ञान ये दोनों पृथक्—पृथक् ज्ञान नहीं हैं। इसलिए घट का ज्ञान होने पर भेद का ज्ञान नहीं होगा— ऐसा नहीं कहा जा सकता है। अतः

न च—भेदस्य स्वरूपत्वात् स्वरूपप्रतीतिरेव भेदधीत्वेन धीद्वयाभावान्नोक्तदोष इति—शङ्क्यम्; स्वरूपज्ञानस्य द्वितीयत्वाभावेऽपि प्रतियोगिज्ञानस्य स्वरूपज्ञानातिरिक्तस्य द्वितीयस्यापेक्षणात्। नच—सर्वात्मकमिदमिति विपर्ययादर्शनेनेदं न सर्वात्मकमिति सामान्यतः सर्वतो व्यावृतं वस्त्वनुभूयत इति प्रतियोगिविशेषज्ञानानपेक्षणान्नान्योन्याश्रय इति—वाच्यम्; सर्वात्मकं नेत्यत्र सर्वत्वं वा प्रतियोगितावच्छेदकं स्वेतरसर्वत्वं वा। आद्ये स्वस्माद्वैलक्षण्ये स्वासिद्धिप्रसङ्गात्, द्वितीये अन्योन्याश्रयस्य स्पष्टत्वात्। न च ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'इत्यत्र यथा ब्रह्मात्मत्वेनाप्रतीतं सर्वमुच्यते तद्वदत्रापि सर्वस्मादित्यनेन तदात्मकत्वेनाज्ञातं सर्वं विवक्ष्यत इति— वाच्यम्; स्वग्रहात् पूर्वं स्वस्यापि स्वात्मनाऽज्ञातत्वात्, स्वस्य प्रतियोगितापत्तेः;

सत्यानन्दप्रबोधिका

अन्योन्याश्रय की प्रथम कोटि खण्डित हो गयी।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि भेद का स्वरूप भूत जो घट उसका ज्ञान भेद ज्ञान से भिन्न नहीं है— ऐसा मान लेने पर भी प्रतियोगी ज्ञान = पट का ज्ञान वह घट स्वरूप भेद ज्ञान से भिन्न है। अतः भेद ज्ञान के लिए प्रतियोगी ज्ञान की अपेक्षा माननी होगी। इसलिए पहले प्रतियोगी ज्ञान हो तब बाद में भेद ज्ञान हो सकता है। अतः अन्योन्याश्रय की प्रथम कोटि खण्डित नहीं होने से अन्योन्याश्रय दोष होगा ही।

शङ्का— इदम् = पुष्प, सर्वात्मक = घट पट मठादि सभी स्वरूपात्मक है— ऐसा भ्रम किसी को नहीं होता किन्तु पुष्प सर्वात्मक नहीं है— इस प्रकार से ही सामान्य रूप से (अर्थात् पट से भिन्न पुष्प है— इस प्रकार विशेष रूप से न होकर) पुष्प वस्तु का अनुभव होता है। अतः प्रतियोगी विशेष रूप पुष्प ज्ञान की अपेक्षा भेद ज्ञान के प्रति नहीं है। इसलिए प्रथम कोटि अमान्य होने से अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि ''पुष्पं सर्वात्मकं न'' यहां पर प्रतियोगितावच्छेदक सर्वत्व को माना जाता है? अथवा स्वेतरसर्वत्व को? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर स्व से स्व का भेद होने पर पुष्प से भी पुष्प भिन्न हो जायेगा, तब पुष्प की असिद्धि का प्रसंग आयेगा, क्योंकि जब पुष्प पुष्प नहीं है— यह सिद्ध हुआ तब तो पट मठ सिद्ध होगा न कि पुष्प। द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर अन्योन्याश्रयदोष स्पष्ट ही हैं जैसे सर्व = पुष्प इतर है— इसका ज्ञान होने पर तब पुष्प में पुष्प इतर सर्व का भेद ज्ञान होगा, क्योंकि पुष्पेतरसर्व = प्रतियोगी का ज्ञान होने पर भेद का ज्ञान होगा और दूसरी कोटि पुष्प = सर्वेतर— ऐसा ज्ञान होने पर सर्व में पुष्पभेद सिद्ध होगा

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि अन्योन्याश्रयदोष नहीं होगा, क्योंकि प्रतियोगी ज्ञान की अपेक्षा भेद ज्ञान को नहीं होती है। जैसे ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' (छा० ३—१४—१) यह श्रुति कह रही है कि ब्रह्म में सबका अभेद है। यहाँ अभेद का प्रतियोगी = सर्व। वह सर्व ब्रह्मात्मत्वेन अप्रतीत है, क्योंकि यह सब कुछ ब्रह्म है— यह तो प्रतीत नहीं होता है। अतः यहाँ अभेद के प्रतियोगी = सर्व के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है ठीक वैसे ही ''घटः सर्वस्माद् भिन्नः'' इस स्थल पर प्रतियोगी जो सर्व वह तदात्मकत्वेन = घटत्वेन अप्रतीत है, क्योंकि ''घटः सर्वाभिन्नम्'' इस प्रकार ज्ञान तो होता नहीं है। इसलिए अप्रतीत सर्व ही प्रतियोगी हुआ। अतः भेद ज्ञान के प्रति प्रतियोगी ज्ञान की अपेक्षा नहीं है। इसलिए अन्योन्याश्रयदोष नहीं होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी ने कहा कि घटत्वेन अप्रतीत सर्व = घट निष्ठ भेद का प्रतियोगी है, तब तो स्वग्रहात् पूर्वम् = घट ज्ञान (अयं घटः) के पहले स्वस्यापि = घट का भी, स्वात्मना = घटत्वेन, घट का ज्ञान नहीं था, तब तो घटत्वेन जो अज्ञात घट वह भी घट निष्ठ भेद का प्रतियोगी हो जायेगा। अर्थात् घट में घट का भेद सिद्ध हो जायेगा। दृष्टान्त में ''ब्रह्म सबसे अभिन्न है।''

दृष्टान्ते सर्वशब्दस्यासङ्कुचितत्वे तवसम्प्रतिपत्तेश्च। न च—वस्तुतो भेदाश्रयस्याभेदेनाज्ञातस्य ज्ञानं प्रतियोगिज्ञानत्वेन कारणम्, नतु भिन्नत्वप्रकारक— ज्ञानत्वेनेति—वाच्यम्; एवं हि चन्द्रे द्वित्वभ्रमो न स्यात्, वस्तुतो भेदाभावात्।।२४।।

ननु—''अस्तीदं न जानामि'' ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'इत्यादिषु साक्षिसिद्धकालविषयसर्वैः सह वस्त्वज्ञानाभेदानामिवेहापि साक्षिसिद्धेन प्रतियोगिना सहैव व्यावृत्तेः प्रतीतेर्नान्योन्याश्रय इति—चेन्न; विशिष्टज्ञानस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

यहाँ सर्व शब्द का अर्थ ब्रह्म से इतर सर्व— इस प्रकार संकुचित न करना तुम्हारी भी सम्मति है, क्योंकि उक्त संकोच करने पर ब्रह्म ब्रह्म से अभिन्न है— यह सिद्ध न होकर के ब्रह्म से ब्रह्म भिन्न है— यह सिद्ध होने लगेगा, जो कि पूर्वपक्षी को भी मान्य नहीं है। अतः असंकुचित सर्व ही अभेद का प्रतियोगी = दृष्टान्त है, जबकि दार्ष्टान्त में घट सबसे भिन्न है— यहाँ यदि सर्व के अर्थ को असंकुचित माना जाय तब तो घट घट से भिन्न है— इस प्रकार से अनिष्ट की आपत्ति होगी। अतः सर्व शब्द का अर्थ घटेतर सर्व— इस प्रकार संकुचित करने में ही तुम्हारी सम्प्रतिपत्ति है। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में विषमता है— यह सिद्धान्ती के कथन का भाव है। ''तवसम्प्रतिपत्तेश्च'' के स्थान पर ''तवासम्प्रतिपत्तेश्च'' ऐसा पाठान्तर है।

शङ्का— भेद ज्ञान के प्रति प्रतियोगी ज्ञान यद्यपि कारण है तथापि प्रतियोगी ज्ञान के प्रति भेद ज्ञान कारण नहीं है, क्योंकि अनुयोगी भिन्नत्वेन प्रतियोगी का ज्ञान भेद ज्ञान के प्रति कारण नहीं है। अर्थात् अनुयोगी से भिन्न है प्रतियोगी— इस प्रकार से प्रतियोगी का ज्ञान भेद ज्ञान के प्रति कारण नहीं है। वस्तुतस्तु प्रतियोगी में अनुयोगी का भेद रहने मात्र से और अनुयोगी से अभिन्न है— इस प्रकार से प्रतियोगी अज्ञात होने मात्र से पट = भेद का प्रतियोगी हो जायेगा। अतः प्रतियोगी में अनुयोगी का भेद है यह जानना आवश्यक नहीं है। अतः प्रतियोगी ज्ञान के प्रति भेद ज्ञान कारण न होने से अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा।

समाधान— एवं हि = पट प्रतियोगी में यदि घट अनुयोगी का भेद वस्तुतः रहना चाहिए तभी पट = भेद का प्रतियोगी होगा— ऐसा मानने पर चन्द्र में द्वित्व भ्रम की सिद्धि नहीं हो पायेगी, क्योंकि प्रतियोगी द्वितीय चन्द्र में अनुयोगी प्रथम चन्द्र का भेद नहीं है, क्योंकि वस्तुतः दो चन्द्र ही नहीं है।।२४।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''अस्ति इदं न जानामि = घटोऽस्ति इति न जानामि'' इस प्रकार जहाँ ज्ञान होता है, उस स्थल पर साक्षी के द्वारा ''अस्ति'' पद के माध्यम से वर्तमान काल का बोध होता है और उसके साथ—साथ में वर्तमान कालीन वस्तु (घट) का भी बोध हो जाता है। इसी प्रकार उसी साक्षी के द्वारा अज्ञान के विषय (घट) का बोध होने के साथ—साथ अज्ञान का भी बोध हो जाता है। ऐसे ही ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' (छा०उ० ३—१४—१) इस स्थल पर साक्षी के द्वारा सर्व के बोध के साथ—साथ ब्रह्म से सर्व के अभेद का भी बोध हो जाता है। ठीक इसी प्रकार से ''घटः पटो न'' इत्यादि स्थल पर भी साक्षी के द्वारा प्रतियोगी के बोध के साथ—साथ व्यावृत्ति = भेद का बोध एक साथ हो जाता है। अतः अन्योन्याश्रयदोष नहीं होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतियोगी से विशिष्ट भेद ज्ञान के प्रति विशेषण = प्रतियोगी के ज्ञान को कारण नहीं मानने पर भी ''प्रतियोगिसविकल्पकज्ञानस्य = अनुयोगिभिन्नत्वेन प्रतियोगिज्ञानस्य'' = इत्याकारक प्रतियोगिविषयक सविकल्पक ज्ञान अन्वयव्यतिरेक के द्वारा अभाव ज्ञान के प्रति जनक होता ही है। अतः प्रतियोगी ज्ञान भेद ज्ञान के प्रति कारण बन जाने से पूर्वोक्त अन्योन्याश्रयदोष होगा। दूसरी बात यह भी है कि साक्षी प्रतियोगी भूत पट का स्वरूपेण ज्ञान तो कर सकता है किन्तु धर्मी (अनुयोगी) भिन्नत्वेन प्रतियोगी का ज्ञान प्रमाण की सहायता के विना केवल साक्षी के द्वारा नहीं हो सकता

विशेषणज्ञानाजन्यत्वेऽपि प्रतियोगिसविकल्पकस्याभावज्ञानं प्रत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां जनकत्वात्, साक्षी च प्रमाणमनपेक्ष्य प्रतियोगिपटादिकं धर्मिभिन्नतया न गृह्णातीति कथं साक्षिसिद्धप्रतियोगिना भेदग्रहोपपत्तिः स्यात्? तदुक्तं चिन्तामणौ ''अन्यथा—निर्विकल्पकादपि घटो नास्तीति वृत्त्यापत्तेः(प्रतीत्यापत्तेः) इति। न च—एतावता प्रतियोगितावच्छेदकपटत्वादि— प्रकारकज्ञानमात्रमर्थनीयम्, नतु—धर्मिभिन्नत्वज्ञानपर्यन्तमिति—वाच्यम्; धर्मितावच्छेदकभेदाज्ञाने प्रतियोगितावच्छेदकतया अभावनिरूपकत्वस्यैवाभावाद्, अन्योन्यधर्मभेदज्ञाने च विशिष्य स्तम्भात् कुम्भस्य भेदप्रतीतौ कुम्भात् स्तम्भस्य भेदधीरित्यन्योन्याश्रयतादवस्थ्यात्।।२५।।

ननु—त्वन्मतेऽपि बिम्बब्रह्मजीवानां प्रतिबिम्बब्रह्माभेदे 'इदमनेनाभिन्नमस्यामुष्मादभेदः एतयोरभेदः' इत्येवं

सत्यानन्दप्रबोधिका

है, क्योंकि प्रतियोगी का स्वरूपेण ज्ञान (निर्विकल्पक ज्ञान) होने पर भी इतने मात्र से परस्पर भिन्न जो अनुयोगी प्रतियोगी उससे सापेक्ष भेद ज्ञान नहीं हो सकता है। उक्त प्रकार का भेद ज्ञान साक्षी से तब होगा जब साक्षी ज्ञान से पहले प्रमाण की सहायता से अनुयोगी भिन्नत्वेन प्रतियोगी का सविकल्पक ज्ञान हो जाय। इसलिए प्रतियोगी और भेद ज्ञान एक साथ केवल साक्षी के द्वारा नहीं हो सकता है। फलतः साक्षिसिद्ध प्रतियोगी के द्वारा भेद ग्रह की उपपत्ति नहीं हो सकती है। इसको स्पष्ट करते हुए तत्त्वचिन्तामणि में कहा गया है—

अन्यथा = अनुयोगी भिन्नत्वेन प्रतियोगी के सविकल्पक ज्ञान को अभाव ज्ञान के प्रति कारण न मानने पर, प्रतियोगिविषयक निर्विकल्पक ज्ञान से भी ''घटो नास्ति'' इत्याकारक प्रतीति की आपत्ति होगी। वृत्यापत्तेरिति के स्थान पर प्रतीत्यापत्तेरिति—ऐसा पाठान्तर है।

शङ्का— एतावता—प्रतियोगी के सविकल्पक ज्ञान को भेद ज्ञान के प्रति कारण मानने पर प्रतियोगितावच्छेदकीभूत पटत्व प्रकारक पट ज्ञान मात्र ही भेद ज्ञान के प्रति कारण होगा, अनुयोगी भिन्नत्वेन पटत्वविशिष्ट पट का ज्ञान भेद ज्ञान के लिए कारण नहीं होगा। पूर्वपक्षी के कथन का भाव यह है कि जब अनुयोगी भिन्नत्वेन प्रतियोगी ज्ञान भेद ज्ञान के प्रति कारण होगा तब तो इस प्रकार के प्रतियोगी ज्ञान के प्रति भेद ज्ञान कारण हो जाता और तब अन्योन्याश्रयदोष भी होता किन्तु भेद ज्ञान का कारण तो पटत्वविशिष्ट पट का ज्ञान है। इस प्रकार के प्रतियोगी ज्ञान के प्रति भेद ज्ञान कारण नहीं है। अतः अन्योन्याश्रयदोष नहीं होगा।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रतियोगितावच्छेदक (पटत्व) में अनुयोगितावच्छेदक (घटत्व) के भेद का ज्ञान न होने पर प्रतियोगितावच्छेदकत्वेन = पटत्वेन पट अभाव (भेद) का निरूपक ही नहीं हो पायेगा, जबकि घटत्व भिन्न पटत्वेन पट ही भेद का निरूपक होता है। अन्योन्यवृत्ति जो अनुयोगितावच्छेदक तथा प्रतियोगितावच्छेदक धर्मों का भेद ज्ञान आवश्यक मानने पर अर्थात् घटत्व और पटत्व इन दोनों का भेद ज्ञान = घटनिष्ठ पट भेद ज्ञान के लिए अपेक्षणीय होने पर विशेष रूप से स्तम्भप्रतियोगिक कुम्भानुयोगिक भेद प्रतीति में कुम्भप्रतियोगिक स्तम्भानुयोगिक भेद प्रतीति कारण होने से अन्योन्याश्रयदोष बना ही रहेगा। कहने का भाव यह है कि स्तम्भ से कुम्भ का भेद ज्ञान और कुम्भ से स्तम्भ का भेद ज्ञान इस प्रकार पृथक् पृथक् कर के एक दूसरे के प्रति कारण होने के कारण अन्योन्याश्रयदोष होगा, क्योंकि ''कुम्भः स्तम्भो न'' इस प्रकार भेद ज्ञान के प्रति कुम्भ भिन्न स्तम्भ रूप प्रतियोगी का ज्ञान कारण है और इस प्रकार प्रतियोगी के ज्ञान के प्रति स्तम्भ भिन्न कुम्भ का ज्ञान कारण है।।२५।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि बिम्ब जो ब्रह्म उसका प्रतिबिम्ब के साथ अभेद और जीवों का ब्रह्म

प्रतीतिः स्यात्, तथा च धर्मिप्रतियोगिभावधीर्द्वित्वावच्छिन्नधीश्च भेदज्ञानाधीनेति तद्विरुद्धाभेदज्ञानानुपपत्तिरिति—चेन्न, काल्पनिकभेदज्ञानस्य धर्मिप्रतियोगिभावद्वित्वावच्छिन्नज्ञाननिर्वाहकस्य तात्त्विकाभेदज्ञानप्रतिबन्धकत्वायोगात्। किञ्चाभेदज्ञाने न धर्मिप्रतियोगिज्ञानापेक्षा; तस्य निष्प्रतियोगिकवस्तुस्वरूपत्वात्, सप्रतियोगिकत्वव्यवहारस्तु निरूपकभेदसप्रतियोगिकत्वेन। अत एव—जीवस्य प्रतियोगितया ब्रह्माभेदनिरूपकत्वं तदभिन्नतया ज्ञातस्यैवेत्यन्योन्याश्रयः, धर्मिणा सहाभेदेन प्रतीतस्यैवाभेदप्रतियोगित्वाद्, अन्यथा दहनस्यापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

के साथ अभेद में जो प्रतीति होगी। उसका आकार इस प्रकार ही होगा—इदम् (बिम्ब जो ब्रह्म अथवा जीव) अनेन (प्रतिबिम्ब अथवा ब्रह्म के साथ) अभिन्नम् (अभिन्न हैं।) अथवा अस्याम् (प्रतिबिम्ब अथवा ब्रह्म में) अमुस्मात् (बिम्बभूत ब्रह्म अथवा जीव से) अभेदः (अभेद है।) अथवा एतयोरभेदः = बिम्ब ब्रह्म और प्रतिबिम्ब में अथवा जीव ब्रह्म में अभेद है। लघु चन्द्रिकानुसार एक कोटि और ली गयी हैं। उस चतुर्थ कोटि का आकार है— एते अभिन्न = बिम्बभूत ब्रह्म और प्रतिबिम्ब दोनों अभिन्न हैं अथवा जीव और ब्रह्म दोनों अभिन्न हैं। प्रथम जो तीन आकार की धी है ये तीनों अभेद के अनुयोगी प्रतियोगी भाव को ग्रहण करने वाली है और चौथा आकार (एते अभिन्ने) यह द्वित्वावच्छिन्न को ग्रहण करने वाली प्रतीति है। उक्त चारों आकार की अभेद प्रतीति भेद ज्ञान पूर्वक है, क्योंकि धर्मिभाव धी, प्रतियोगिभाव धी और द्वित्वावच्छिन्न धी भेद ज्ञान के अधीन है क्योंकि पहले अनुयोगी और प्रतियोगी आदि में भेद हो तब उसके पश्चात् उक्त चारों प्रकार की भेद धी हो सकती है। अतः जब पहले क्षण में अनुयोगी प्रतियोगी आदि में भेद ज्ञान हो गया तब उस भेद विरुद्ध जो अभेद उस अभेद के ज्ञान की अनुपपत्ति होगी।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि भेद व्यावहारिक सत्ता वाला है और अभेद पारमार्थिक सत्ता वाला है। अतः भेद के द्वारा अभेद का विरोध नहीं होगा। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि अनुयोगी प्रतियोगी और द्वित्वावच्छिन्न के ज्ञान का निर्वाहक जो काल्पनिक भेद का ज्ञान है। उसमें तात्त्विक अभेद ज्ञान की प्रति— बन्धकता सम्भव ही नहीं है। अतःतात्त्विक अभेद ज्ञान होगा ही। अब तक पूर्वपक्षी की शङ्का को मानकर समाधान दिया। अब कह रहे हैं कि उक्त प्रकार की शङ्का ही नहीं की जा सकती है, क्योंकि तात्त्विक अभेद ज्ञान में अनुयोगी प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा ही नहीं होती है क्योंकि अभेद निष्प्रतियोगिक वस्तु = अधिकरण स्वरूप है। उस पर प्रश्न होता है कि ''उसमें अभेद है।'' इस प्रकार से अभेद में अनुयोगी—प्रतियोगी घटित व्यवहार कैसे होता है? इसका उत्तर देते हुए कह रहे है किं उक्त व्यवहार का निरूपक (निर्वाहक) जो काल्पनिक भेद हैं उसके सप्रतियोगिक होने से अभेद में भी सप्रतियोगिकत्व का व्यवहार गौण रूप से हो जाता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ''जीव का ब्रह्म से अभेद हैं।'' यहाँ पर जीव प्रतियोगी विध ाया ब्रह्मनिष्ठ अभेद का निरूपक है, वह जीव अभेद ज्ञान होने से पहले तदभिन्नतया = ब्रह्म से अभिन्न होकर के ज्ञात होने पर तभी प्रतियोगी विधया अभेद का निरूपक हो पायेगा। ऐसा होने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। जैसे— अभेद ज्ञान के लिए प्रतियोगी (जीव) ज्ञान कारण होने से प्रतियोगीभूत जीव का ज्ञान हो तब जाकर अभेद ज्ञान होगा और जीव ब्रह्म से अभिन्न है— ऐसा अभेद ज्ञान होने पर अभेद के प्रतियोगी के रूप से जीव का ज्ञान होगा। अन्योन्याश्रय की दूसरी कोटि को स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि धर्मी = ब्रह्म के साथ अभिन्नतया प्रतीत जो जीव है— वही अभेद का प्रतियोगी होगा। अन्यथा = अन्योन्याश्रय की दूसरी कोटि न मानने पर अर्थात् जिसका अनुयोगी के साथ अभेद प्रतीत नहीं है उसको अभेद का

तुहिनाभेदप्रतियोगिकत्वापत्तेरिति— निरस्तम्; भेदग्रहस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वाच्च।।२६।।

अत एव—''तत्त्वमसि'इत्यत्र त्वंपदवाच्यस्य विशिष्टस्य ब्रह्माभेदप्रतियोगित्वप्रसङ्गविनिवारणाय विद्यमानाभेदस्यासति प्रतिबन्धके अभेदयोग्यचित्त्वादिरूपेण प्रतीतिरभेदधीहेतुः। भेदभ्रमे तु दोषः प्रतिबन्धक इति नाभेदधीरति परसिद्धान्तं परिकल्प्य स्वरूपभेदपक्षे वस्तुतोऽन्योन्यप्रतियोगिक— योर्घटपटस्वरूपभेदयोरन्योन्यप्रतियोगित्वयोग्यघटपटत्वादिरूपेण प्रतीतयोरसतिप्रतिबन्धेऽन्योन्य— प्रतियोगितया

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रतियोगी मानने पर, तुषार (जल) का अग्नि के साथ अभेद प्रतीत नहीं होता है तो भी जल अग्निगत अभेद का प्रतियोगी हो जायेगा।

समाधान— अत एव निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। अत एव = अभेदस्य निष्प्रतियोगिकत्वादेव। अथवा पीछे कहा जा चुका है कि अभेद वस्तु का स्वरूप होता है उसका कोई प्रतियोगी आदि नहीं होता है। अतः अभेद ज्ञान के प्रति प्रतियोगी ज्ञान कारण न होने से प्रतियोगी ज्ञान को अभेद ज्ञान के प्रति कारण मानकर जो दोष दिया गया है। वह सब खण्डित हो गया। पूर्वपक्षी ने जो अग्नि और जल में अभेद की आपत्ति दी थी, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अग्नि और जल में जो भेद ज्ञान है वही तत्र = अग्नि और जल के अभेद ज्ञान में, प्रतिबन्धक बन जायेगा।।२६।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''तत्त्वमसि'' (छा०उ० ६—८—४) यहाँ पर तत् में त्वम् का अभेद है। अतः अभेद का प्रतियोगी = त्वम् = अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट जीव। वह विशिष्ट जीव शुद्ध ब्रह्म के अभेद का प्रतियोगी कहीं न बन जाय इसके लिए (विद्यमानः अभेदः यस्य प्रतियोगिनः तस्य जीवस्य) विद्यमान है अभेद जिस प्रतियोगीभूत जीव का, उस प्रतियोगीभूत जीव का ब्रह्म के साथ अभेद होने में कोई प्रतिबन्धक न बन जाय अर्थात् जीव का अल्पज्ञत्वादि धर्म लेने पर वह सर्वज्ञत्वादि धर्म से विशिष्ट ब्रह्म से अभिन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि अल्पज्ञत्वादि धर्म ही अभेद होने में प्रति— बन्धक बन जाता है। इसलिए प्रतियोगीभूत जीव का ब्रह्म के साथ अभेद होने के योग्य जो चेतनत्वादि धर्म तद्रूपेण जीव की प्रतीति ब्रह्माभेद ज्ञान के प्रति हेतु है— यह अद्वैतवादी को मानना पड़ेगा। इस पर प्रश्न होता है कि चेतनत्वेन जीव की प्रतीति को अभेद ज्ञान के प्रति हेतु मानने पर लौकिक लोगों को चेतनत्वेन जीव की प्रतीति होने पर भी अभेद ज्ञान न होकर ''मैं ब्रह्म नहीं हूँ।'' इस प्रकार भेद भ्रम जो होता है— वह नहीं होना चाहिए। इसका समाधान सिद्धान्ती इस प्रकार कर सकते हैं कि उक्त भेद भ्रम स्थल पर अविद्यात्मक दोष रूप प्रतिबन्धक के रहने से अभेद ज्ञान नहीं होता है— इस प्रकार अद्वैतवादी के सिद्धान्त की कल्पना को देखते हुए पूर्वपक्षी भी स्वरूप भेद पक्ष में यह कह ही सकता है कि वस्तुत घट का प्रतियोगी पट और पट का प्रतियोगी घट होने पर भी (पट भेद घट में है और भेद घट स्वरूप है। अतः जैसे भेद का प्रतियोगी पट है वैसे ही भेद स्वरूप घट का भी प्रतियोगी पट होगा। इसी प्रकार घट भेद पट में है और भेद पट स्वरूप है। अतः जैसे भेद का प्रतियोगी घट है वैसे ही भेद स्वरूप पट का प्रतियोगी घट होगा— ऐसा होने पर भी) अर्थात् घट पट अन्योन्य प्रतियोगी हैं— इसका ज्ञान भेद ज्ञान के प्रति कारण नहीं है अपितु उन दोनों को अन्योन्य प्रतियोगी होना चाहिए और घट पट का ज्ञान किस प्रकार से होना चाहिए— इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि घट में घटत्व और पट में पटत्व इस रूप से घट पट का ज्ञान भेद ज्ञान का हेतु है। (यदि दोनों में (परस्पर में) एक ही धर्म होता तब वे दोनों एक दूसरे के प्रतियोगी होने के योग्य न होकर के अभिन्न हो जाते) पटत्वेन पट ज्ञान और घटत्वेन घट ज्ञान होने पर यदि भेद ज्ञान के प्रति प्रतिबन्धक कोई नहीं रहेगा

विशिष्टधीः धर्मभेदपक्षेऽपि विद्यमानभेदस्यासति प्रतिबन्धके भेदयोग्यनीलपीतत्वादिरूपेण प्रतीतिर्भेदधीहेतुः, दूरस्थवनस्पत्यादौ तु दूरादिदोषः प्रतिबन्धक इति न भेदधीरिति साम्येन समाधानं—निरस्तम्; वैषम्यस्योक्तत्वात्।।२७।।

ननु— यथा गौर्गवयसदृशीत्यादौ गवयादीनां गवादिभ्यो भेदः सन्नेव प्रतियोगित्वहेतुः, नतु ज्ञातः; नहि गौर्गवयसदृशीति प्रत्यक्षधीरपि नियमेन गवयो गोभिन्न इति धीपूर्विकाऽनुभूयते, सुतरां शाब्दधीः; तत्र भेदवाचिशब्दाभावात्, तथा प्रकृतेऽपि। अन्यथा चैत्रस्य मैत्रपितृत्वादौ ज्ञात एव मैत्रस्य चैत्रपुत्रत्वादिज्ञानं, गवयस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

तभी घट पट भेद विशिष्ट और पट घट भेद विशिष्ट इस प्रकार से एक दूसरे के प्रतियोगी होकर भेद ज्ञान हो जायेगा। (एतेनोक्तरूपेण (घटत्वपटत्वेन घटपटयोः) प्रतीतिरेव भेदधीर्हेतुर्न धर्मिभेदधीः (घटभिन्नत्वेन पटधीः हेतुः) इति न अन्योन्याश्रय इति सूचितम्।) पटभेद को घट में रहना वाला धर्म मानने के पक्ष में प्रतियोगी में अनुयोगी का भेद वस्तुतः रहना चाहिए किन्तु प्रतियोगी में अनुयोगी का भेद है— इसका ज्ञान भेद ज्ञान के लिए आवश्यक नहीं हैं। भेद ज्ञान के प्रति प्रतिबन्धक न रहने पर नील में नीलत्व और पीत में पीतत्व का ज्ञान हो तब जाकर नील में पीत का भेद ज्ञान और पीत में नील का भेद ज्ञान होगा, क्योकि नील में नीलत्व और पीत में पीतत्व भिन्न—भिन्न होने के कारण इन दोनों का ज्ञान भेद ज्ञान के प्रति हेतु है। यदि नील और पीत दोनों में एक ही गुणत्वादि धर्म का ज्ञान होगा तो वहाँ भेद ज्ञान नहीं होगा किन्तु अभेद ज्ञान हो जायेगा। इसलिए भेद योग्य कहा गया है। कहने का भाव यह है कि यहाँ भेद धी के प्रति तीन हेतु कहा गया है। प्रथम— प्रतियोगी में धर्मी भेद वस्तुतः रहना चाहिए न कि उसका ज्ञान चाहिए। द्वितीय— प्रतिबन्धक का न रहना। तृतीय— भेद योग्य भिन्न—भिन्न धर्म रूपेण अनुयोगी—प्रतियोगी की प्रतीति। प्रतिबन्धक होने पर क्या होता है? इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि दूरस्थ वृक्षों में दूरादि दोष रूप प्रतिबन्धक होने से भेद ज्ञान नहीं होता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्य प्रवर कह रहे हैं कि भेदाभेद में सप्रतियोगित्व निष्प्रतियोगित्व रूप वैषम्य खंण्ड संख्या २६ में कहा जा चुका है। अत एव निरस्तम्— ऐसा अन्वय है। अत एव = अभेद ज्ञान के प्रति प्रतियोगी ज्ञान कारण न होने से पूर्वपक्षी के द्वारा साम्यता का आपादन निरस्त हो गया । भेद प्रतियोगिकत्वेन अभेद ज्ञान में भेद ज्ञान की अपेक्षा होने पर भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि भेद प्रतियोगिकत्व रूप से अभेद में मिथ्यात्व माना ही जाता है। कहने का भाव यह है कि अभेद (शुद्ध ब्रह्म) के सत् होने पर भी किसी धर्म से विशिष्ट होने पर जैसे माया विशिष्ट ब्रह्म उसमें मिथ्यात्व स्वीकार किया ही जाता है।।२७।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''गौर्गवयसदृशी '' इस स्थल जो गो अनुयोगिक गवय प्रतियोगिक सादृश्य का प्रत्यक्ष होता है। ऐसे प्रत्यक्ष स्थल पर गो से भिन्न का ही सादृश्य गो में रह सकता है। अतः गवय में रहने वाला गो प्रतियोगिक भेद केवल स्वरूप से विद्यमान होता हुआ ही गवय में जो गो सादृश्य का प्रतियोगित्व है उसके प्रति हेतु होता है। उक्त भेद (गवय निष्ठ गो भेद) ज्ञात होकर के गवयनिष्ठ गो सादृश्य का प्रतियोगित्व के प्रति हेतु नहीं होता है क्योंकि ''गौर्गवयसदृशी'' इत्याकारक प्रत्यक्ष धी नियम से गवयानुयोगिक गोप्रतियोगिक भेद ज्ञान पूर्वक अनुभूत नहीं होती है। जब सादृश्य का प्रत्यक्ष धी भेद पूर्वक अनुभूत नहीं होती है तब तो शाब्द ज्ञान कभी उक्त भेद ज्ञान पूर्वक हो ही नहीं सकता है, क्योंकि ''गौर्गवयसदृशी'' इस वाक्य में भेद वाचक कोई पद ही नहीं है। ठीक इसी प्रकार प्रकृत = घट में पट भेद स्थल पर प्रतियोगी में अनुयोगी का वस्तुतः विद्यमान भेद घट में पट भेद ज्ञान का हेतु है न कि अनुयोगी

गोसादृश्ये ज्ञात एव गौर्गवयसदृशीति ज्ञानमिति सप्रतियोगिकपदार्थज्ञानमात्रे अन्योन्याश्रयः स्यादिति चेत्।।२८।।

न, इष्टापत्तेः; अतएव सप्रतियोगित्वेन निष्प्रतियोगित्वेन च भेदसादृश्यादि दुर्वचं; सर्वत्र बाधकसत्त्वादिति अस्माकं सिद्धान्तः। यत्तूक्तं—प्रतियोगिधर्मिभेदग्रहपूर्वकत्वनियमो नानुभूयत इति, तदिष्टमेव; तस्यैव सप्रतियोगित्वे बाधकत्वात्, प्रत्यक्ष एव सप्रतियोगिकपदार्थग्रहे एवमन्योन्याश्रयस्यापाद्यत्वे शाब्दे भेदवाचकपदासत्त्वस्यास्मान् प्रत्यदूषणत्वात्। एवञ्च प्रतियोगिधीमात्रं न भेदधीहेतुः, तन्निर्विकल्पकादपि तदापदेः, किन्तु प्रतियोगित्वेन।

सत्यानन्दप्रबोधिका

भिन्नत्वेन प्रतियोगी ज्ञान घट में पट भेद ज्ञान के प्रति हेतु है। अन्यथा = अनुयोगी भिन्नत्वेन प्रतियोगी ज्ञान को भेद ज्ञान के प्रति हेतु मानने पर, चैत्र है पिता और मैत्र है पुत्र—इस स्थल पर अन्योन्याश्रय दोष होगा— चैत्र = मैत्र का पिता ऐसा ज्ञान होने के पश्चात् मैत्र चैत्र का पुत्र है— ऐसा ज्ञान होगा और मैत्र = चैत्र का पुत्र है— ऐसा ज्ञान होने पर चैत्र = मैत्र का पिता है— ऐसा ज्ञान होगा। अतः अन्योन्याश्रय दोष होगा। इसी प्रकार गवय में गो सादृश्य का ज्ञान होने पर गो में गवय सादृश्य का ज्ञान होगा और गो में गवय सादृश्य का ज्ञान होने पर गवय में गो सादृश्य का ज्ञान होगा। इस प्रकार प्रतियोगी वाले जितने पदार्थ (भेद,सादृश्य, पितृत्व, पुत्रत्व, दीर्घ, ह्रस्वादि) है। उन सभी में अन्योन्याश्रय दोष आयेगा।।२८।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रतियोगी वाले भेद— सादृश्यादि पदार्थों में अन्योन्याश्रय दोष के आने से इतना ही सिद्ध होगा कि भेद—सादृश्यादि सप्रतियोगिक पदार्थ मिथ्या हैं। जो हमें इष्ट है और अभेद (शुद्ध ब्रह्म) सप्रतियोगिक पदार्थ है नहीं। अतः वह मिथ्या सिद्ध नहीं होगा। अतः पूर्वपक्षी के उक्त कथन के द्वारा अद्वैत सिद्धान्त की ही पुष्टि हो रही है। अत एव=पूर्वोक्त अन्योन्याश्रयादि दोषों के होने के कारण ही, भेद को जब धर्म माना जाता है तब भेद सप्रतियोगिक होगा और जब भेद को अधिकरण स्वरूप मानेंगे तब भेद निष्प्रतियोगिक होगा। दोनों ही पक्षों में भेदादि का निरूपण पूर्वपक्षी नहीं कर सकता है, क्योंकि दोनों ही पक्षों में बाधक (अन्योन्याश्रादि दोष और श्रुति स्मृति आदि के द्वारा बाध जो ''सामान्यतो भेदखण्डनविचारः'' के खण्ड संख्या एक और दो में कह गये बाधक) विद्यमान हैं—यह सिद्धान्त मत का सार है। यह जो पूर्वपक्षी ने कहा कि भेद ज्ञान में प्रतियोगी और अनुयोगी का जो भेद तादृश भेद ग्रह पूर्वकत्व का नियम नहीं अनुभूत होता है। (अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा है।) इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि उसमें भी हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि उक्तविध नियम का अनुभवाभाव भेद के सप्रतियोगिकत्व में भी बाधक है। अर्थात् भेद और सादृश्यादि यदि सप्रतियोगिक होता तो भेद सादृश्यादि के ज्ञान के पूर्व में प्रतियोगी और अनुयोगी में भेद का अनुभव होना चाहिए था, किन्तु ऐसा अनुभव नहीं होता है। अतः भेद सादृश्यादि सप्रतियोगिक नहीं हैं। सप्रतियोगिक पदार्थ भेद सादृश्यादि का जहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वहाँ जब पूर्वोक्त प्रकार से अन्योन्याश्रय दोष का आपादन हो रहा है तब शब्द से जहाँ सप्रतियोगिक पदार्थ का ज्ञान होता है। वहाँ भी उक्त प्रकार से अन्योन्याश्रय का आपाद्यत्व होने पर शब्द जन्य ज्ञान में भेद वाचक पद के असत्त्व को दिखाकर सिद्धान्ती के द्वारा कहे गये खण्ड संख्या २३ के अन्योन्याश्रय दोष का वारण नहीं किया जा सकता हैं। आगे अन्य प्रकार से अन्योन्याश्रय दोष दे रहे हैं। प्रतियोगी (पट) का ज्ञान मात्र जो है, वह पटभेद धी का हेतु नहीं है किन्तु प्रतियोगित्वेन पट का ज्ञान पट भेद ज्ञान के प्रति हेतु हैं। केवल पट ज्ञान को पट भेद धी के प्रति हेतु मानने पर पट के निर्विकल्पक ज्ञान से भी पटभेद ज्ञान की आपत्ति होगी। फलतः प्रतियोगित्वेन पट का ज्ञान ही पट भेद धी के प्रतिहेतु होगा। प्रतियोगित्वेन प्रतियोगी (पट) ज्ञान भी पट भेद से भिन्न पट सादृश्यादि के प्रति हेतु नहीं होता है

तत्रापि नान्यं प्रति प्रतियोगित्वेन, किन्तु भेदं प्रति, तथाच नान्योन्याश्रयः। न च सप्रतियोगिकसादृश्यादावेवं स्यात्, इष्टापत्तेः अभेदश्च न सप्रतियोगिक इत्युक्तत्वाच्च।।२९।।

यत्तु यत्र धर्मिप्रतियोगिनौ सन्निहितौ, तत्र धर्मिप्रतियोगिसद्भावयोस्तद्भेदस्य च युगपद्धीः, इदमनेन सदृशमितिवत्। तथा विशेषणविशेष्यभावस्य च युगपद्धीः, इमौ सदृशावितिवत्; सर्वस्य योग्यस्य इन्द्रियसन्निकर्षेण युगपत्सर्वविषयैकज्ञानसम्भवात्। नहि मन्मते दण्डीति धीरपि दण्डज्ञानसाध्या। उक्तं चैतत् यत्र ६

सत्यानन्दप्रबोधिका

किन्तु पट भेद के प्रति ही हेतु होता है। अर्थात् भेद प्रतियोगित्वेन प्रतियोगी (पट) का ज्ञान पट भेद धी के प्रति हेतु होता है न कि पट सादृश्य प्रतियोगित्वेन प्रतियोगी (पट) का ज्ञान पटभेद धी के प्रति हेतु है क्योंकि पट सादृश्य प्रतियोगित्वेन प्रतियोगी (पट) का ज्ञान पट सादृश्य ज्ञान के प्रति हेतु होता है। ऐसा होने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा। जैसे— पट भेद ज्ञान के लिए तत् पूर्व में भेद प्रतियोगित्वेन प्रतियोगी का ज्ञान आवश्यक है और उक्त प्रकार से प्रतियोगी ज्ञान के लिए तत् पूर्व में पटभेद का ज्ञान आवश्यक है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त प्रकार से सप्रतियोगिक भेद सादृश्य आदि सभी पदार्थों में अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि हमें इष्टापति है, क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष होने से यही सिद्ध होगा कि सादृश्यादि मिथ्या है। यह हम मानते ही हैं। (यदि पूर्वपक्षी) कहता है कि ब्रह्म में अभेद ज्ञान के लिए तत् पूर्व अभेद प्रतियोगित्वेन प्रतियोगी (जीव) का ज्ञान आवश्यक है और उक्त प्रकार से प्रतियोगी (जीव) के ज्ञान के लिए तत् पूर्व में ब्रह्म में जीव का अभेद है— यह ज्ञान चाहिए। अतः अन्योन्याश्रय दोष होगा। यदि इष्टापति देंगे तो ब्रह्म के मिथ्यात्व की आपत्ति होगी। इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि) अभेद सप्रतियोगिक होता ही नहीं है। इसको खण्ड संख्या २८ में ''किञ्चाभेदज्ञाने न धर्मिप्रतियोगिज्ञानापेक्षा''से कहा जा चुका है। अतः अभेद पक्ष में अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा।।२९।।

शङ्का— पूर्वपक्षी अन्योन्याश्रयदोष का वारण करते हुए कह रहा है कि जहाँ पर अनुयोगी प्रतियोगी ये दोनों सन्निहित होते हैं वहाँ पर अनुयोगी प्रतियोगी के स्वरूप का और उनके भेद का एक साथ ही ज्ञान हो जाता है। अर्थात् इन सबको विषय करने वाला ज्ञान एक ही काल में उत्पन्न होता है। जैसे इदम् = अनुयोगी, अनेन = प्रतियोगी और सादृश्य इन तीनों का ज्ञान एक साथ ही हो जाता है न कि आगे पीछे। अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि विशेषण विशेष्य भाव = आधार— आधेयभाव। अर्थात् अनुयोगी = आधार = विशेष्य, प्रतियोगी = आधेय = विशेषण। घट पटभेद का आधार (विशेष्य) है और पट भेद में पट विशेषण है। वह परम्परया घट का भी विशेषण (आधेय) हो गया। इस प्रकार ''घट पटौ भिन्नौ'' इस स्थल पर घट पट और भेद तीनों का ज्ञान एक साथ हो जाता है। जैसे ''इमौ (गोगवयौ) सदृशौ'' यहाँ गो गवय और सादृश्य का ज्ञान एक साथ होता है, क्योंकि सर्वस्य = अनुयोगी प्रतियोगी और भेद— ये तीनों प्रत्यक्ष के योग्य होने के कारण इन्द्रिय सन्निकर्ष के द्वारा एक साथ इन तीनों को विषय करने वाला एक ज्ञान होना सम्भव ही है। इसलिए भेद ज्ञान के पूर्व में प्रतियोगी का ज्ञान होता ही नहीं है। अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा। माध्वमत में दण्डी ज्ञान के प्रति दण्ड ज्ञान को हेतु नहीं माना जाता है। अर्थात् दण्ड का ज्ञान हो जाने के पश्चात् ''दण्डी'' का ज्ञान होता है— ऐसा नहीं माना जाता है अपितु दण्ड— पुरूष और उनके सम्बन्ध का ज्ञान एक साथ होता है। (पीछे पूर्वपक्षी ने कहा कि घट—पट और भेद— इन तीनों का ज्ञान एक साथ हो जाता है। जैसे ''इमौ सदृशौ'' इस स्थल पर गो गवय और सादृश्य का ज्ञान एक साथ हो जाता है। इस पर प्रश्न होता है कि जहाँ पर केवल घट सामने है और पट

ार्मिप्रतियोगिनोरन्यतरस्यासन्निधानं, तत्रापि संस्कारसचिवेन्द्रियसन्निकर्षेण एकमेव ज्ञानमुत्पद्यते, तदनेन सदृशमित्यादिवत्। अन्यथा अभेदज्ञानमपि न स्यात्। तथा च नान्योन्याश्रयः। तदुक्तम्—धर्मित्वप्रति–योगित्वतद्भावा युगपद्यदि। विशेषणं विशेष्यं च तद्भावश्चैव गृह्यते। इति''।।३०।।

तन्न; प्रमेयत्वादिना घटे ज्ञातेऽपि घटाभाव इत्यप्रतीतेः घटत्वादिना घटस्य पूर्वमवश्यं ज्ञेयत्वेन युगपदेव धर्मिप्रतियोग्या— दिबुद्ध्यसिद्धेः। न च—तत्र घटत्वादिज्ञानसामग्रीविलम्बादेव विलम्बः; तत्सत्त्वे इष्टापत्तिरिति—वाच्यम्; प्रतियोग्यविषयकाभावप्रत्ययापादनस्यैवमप्यपरिहारात्। न च तादृक् प्रतियोगिग्रहसामग्री कारणम्; तदपेक्षया प्रतियोगिग्रहस्यैव लघुत्वात्। ननु—'अन्यत्वाग्रहणे प्रोक्तः कथमन्योन्यसंश्रयः। अन्यत्वं यदि सिद्धं स्यात् कथमन्योन्यसंश्रयः' इत्युभयतः पाशा रज्जुरिति—चेन्न, नहि अन्यत्वबुद्धिं व्यवहारक्षमामपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

सामने नहीं है। वहाँ पर घट—पट और भेद का एक ही प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा कैसे भान होगा? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि) इसका समाधान इस प्रकार से कहा गया है कि जहाँ पर अनुयोगी और प्रतियोगी इन दोनों में से अन्यतर का असन्निधान है, वहाँ पर भी संस्कार सहकृत जो इन्द्रिय उस इन्द्रिय के सन्निकर्ष से एक ही ज्ञान उत्पन्न होता है। (अर्थात् ''प्रत्यक्षघटः परोक्षपटाद् भिन्नः'' इत्याकारक एक ज्ञान पट संस्कार सहकृत घटेन्द्रियसन्निकर्ष के द्वारा उत्पन्न होता है। जैसे पूर्वकालीन संस्कार के सहयोग से पूरोवर्ति पदार्थ के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष से ''सोऽयं घटः'' इस प्रकार एक ही प्रत्यक्षात्मक प्रत्यभिज्ञा ज्ञान होता है।) इसी प्रकार सादृश्य स्थल पर परोक्ष गो प्रत्यक्ष गवय के सदृश है। यहाँ गो के संस्कार की सहायता से गवय के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष के द्वारा एक ही ज्ञान उत्पन्न होता है। अन्यथा = भेद ज्ञान के पूर्व में प्रतियोगी ज्ञान मानने पर अर्थात् पहले प्रतियोगी का ज्ञान हो तब जाकर भेद ज्ञान होगा— ऐसा मानने पर अभेद ज्ञान भी प्रतियोगी ज्ञान पूर्वक मानना पड़ेगा तब अभेद पक्ष में भी अन्योन्याश्रयदोष होगा। ऐसा होने पर अभेद ज्ञान नहीं हो पायेगा। अतः माध्वमत में अन्योन्याश्रयदोष नहीं होगा। जैसा कि कहा गया है— अनुयोगित्व प्रतियोगित्व तथा इन दोनों का सद्भाव और विशेषण तथा विशेष्य और इन दोनों का सद्भाव युग पद (एक साथ) ही गृहीत होता है।।३०।।

समाधान— पूर्वपक्षी का उक्त कथन उचित नहीं है, क्योंकि नैयायिक मत में जिस पुरुष ने घट को कभी देखा ही नहीं है, उसको भी पट का प्रमेयत्वेन प्रत्यक्ष करते समय प्रमेयत्वेन निखिल प्रमेय के साथ—साथ प्रमेयत्वेन घट का भी प्रत्यक्ष हो जाता है, किन्तु इस प्रकार से प्रमेयत्वेन घट का ज्ञान जिस पुरुष को होता है उसको घट के अभाव का ज्ञान होता हुआ नहीं देखा जाता है, क्योंकि उसने घटत्वेन घट को जाना ही नहीं है। अतः घटाभाव के ज्ञान के पूर्व में घटत्वेन घट का ज्ञान आवश्यक है— यह मानना पड़ेगा। अतः पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि एक काल में ही अनुयोगी — प्रतियोगी और भेद विषयक बुद्धि होती है— उसकी असिद्धि हो गयी।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रमेयत्वेन घट के ज्ञान स्थल पर घटत्वादि ज्ञान की सामग्री (संयुक्तसमवायसन्निकर्षादि) के न रहने से अनुयोगी—प्रतियोगी और अभाव का ज्ञान एक साथ नहीं होता है— यह हम भी मानते हैं किन्तु घटत्वादि ज्ञान की सामग्री होने पर उक्त तीनों का ज्ञान युगपद् होगा— ऐसा हमें इष्ट है।

समाधान— उक्त कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वपक्षी के अनुसार उक्त तीनों का ज्ञान एक साथ होने से प्रतियोगी का ज्ञान अभाव ज्ञान में कारण नहीं है तब भी उक्त स्थल पर केवल घटत्वेन घट का ग्रहण न होने पर भी प्रतियोगी अविषयक केवल अभाव (केवल ''न'' इत्याकारक) का ज्ञान होना चाहिए। इस दोष का परिहार पूर्वपक्षी कर नहीं सकता है। यदि अभाव ज्ञान में प्रतियोगी के ज्ञान की सामग्री को

निराकुर्मः; किन्त्वनाविद्यकत्वे नोपपद्यत इति ब्रूमः।।३१ ।।

किञ्च भेदस्य विशेषणविशेष्यभावेनैव ज्ञेयत्वात् तद्भावप्रतीतेश्च भेदप्रतीत्यधीतया दण्डचैत्रादौ दृष्टत्वेन भेदप्रतीतिपरम्परानवस्था स्यात्। न च— ब्रह्म जीवाभिन्नं, जगन्मिथ्येत्यादावप्यभेदा— देर्विशेषणतया भेदज्ञानस्यापेक्षणीयतयाऽनवस्थापत्तेः न प्राथमिकाभेदादिधीरिति तवापि समानमिति—वाच्यम्; अविद्याकल्पितभेदेनाज्ञातेनापि विशेषणत्वाद्युपपत्तेः। नचैवं तवापि भेदभेद्ययोः स्वरूपतो भेदाभावात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

कारण मानते हैं तब अभाव के कारण (प्रतियोगी) के कारण (संयुक्तसमवायसन्निकर्षादि) की अपेक्षा प्रतियोगी के ज्ञान को ही अभाव ज्ञान के प्रति हेतु मान लेने में लाघव है।

शङ्का— पूर्वपक्षी सिद्धान्ती से पूछ रहे हैं कि क्या भेद सिद्ध ही नहीं है? अथवा भेद सिद्ध है? प्रथम पक्ष मानने पर जो भेद सिद्ध ही नहीं है। उसके विषय में अन्योन्याश्रयादि दोष देना व्यर्थ है। द्वितीय पक्ष में भेद के सिद्ध होने पर अन्योन्याश्रयादि कोई भी दोष हो। उससे हमें कोई हानि नहीं है। इस प्रकार से उभयतः पाशा रज्जु है।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि भेद व्यवहार की साधक जो व्यावहारिक भेद बुद्धि है। उसका हम निराकरण नहीं करते हैं। अपितु अन्योन्याश्रयादि दोष देकर भेद बुद्धिगत तात्त्विकत्व का निराकरण कर के भेद बुद्धि में आविद्यकत्व का समर्थन करते हैं। फलतः भेद को तात्त्विक मानने पर अन्योन्याश्रयादि दोष होता है। अतः भेद धी आविद्यक (व्यावहारिक) मानी जाती है।।३१ ।।

किञ्च ''पटाद् भिन्नो घटः'' पटे घटस्य भेदः'' इत्यादि स्थल पर भेद का भान विशेषण या विशेष्य से संस्सृष्ट के रूप से होता है। विशेषण और विशेष्य का भेद के साथ जो संसर्ग की प्रतीति है, वह भेद प्रतीति के अधीन होती है। यह दण्ड और चैत्रादि में देखा गया है। कहने का भाव यह है कि अभेद में विशेषण विशेष्य भाव होता नहीं है। इसलिए ''दण्डी चैत्रः'' इस स्थल पर दण्ड निरूपित चैत्र निष्ठ विशेष्यता और चैत्रविशेष्य से निरूपित दण्ड निष्ठ विशेषणता का ज्ञान तभी होगा जब उससे पूर्व दण्ड से चैत्र और चैत्र से दण्ड का भेद ज्ञान हो। फलतः प्रथम भेद प्रतीति को दूसरी भेद प्रतीति की अपेक्षा और दूसरी भेद प्रतीति को तीसरी भेद प्रतीति की अपेक्षा—इस प्रकार भेद प्रतीति की परम्परा चलती रहने से अनवस्था दोष होगा।

शङ्का— ब्रह्म जीव से अभिन्न है जगत् मिथ्या है—इस प्रकार से जो अभेद ज्ञान होता है, उसके पहले अनुयोगी —प्रतियोगी ज्ञान चाहिए, क्योंकि अभेद भी अनुयोगी प्रतियोगी से घटित होता है। अनुयोगी प्रतियोगी ज्ञान के लिए उन दोनों के भेद का ज्ञान चाहिए। उस भेद ज्ञान से पूर्व में पुनः अनुयोगी प्रतियोगी का ज्ञान चाहिए क्योंक भेद अनुयोगी प्रतियोगी घटित होता है। अतः सिद्धान्ती के मत में भी अनवस्था दोष होगा। फलत सिद्धान्ती को भी प्रथम होने वाली अभेद धी की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि ''ब्रह्म जीव से अभिन्न है'' इस प्रकार प्राथमिक अभेद ज्ञान के लिए अपेक्षित भेद हम आविद्यक (काल्पनिक) मानते हैं। ऐसे अविद्या से कल्पित अज्ञात भेद से भी अपेक्षित विशेषण (प्रतियोगी) और विशेष्य (अनुयोगी) भाव की सिद्धि हो जायेगी, क्योंकि आविद्यक पदार्थ अज्ञात होकर भी अर्थ क्रियाकारी माना जाता है। फलतः अज्ञात भेद से अभेद की उपपत्ति हो जायेगी और अनवस्थादि दोष भी नहीं होगा। पूर्वपक्षी के मत में अनवस्थादि दोष का वारण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि पूर्वपक्षी के मत में भेद और भेद्य (अनुयोगी = अधिकरण) में कल्पित अज्ञात भेद नहीं बन पायेगा, क्योंकि पूर्वपक्षी भेद को भेद्य स्वरूप ही मानते हैं, क्योंकि भेद अपने अधिकरण से अतिरिक्त नहीं माना

भेदस्याधिकरणानतिरेकात्, धर्मो भेद इति पक्षे तु प्रतीत्यनवस्थोद्धारेऽपि विषयानवस्थाया दुष्परिहरत्वापत्तेः। न चाविद्यकभेदपक्षेऽपि अनवस्थादिदोषः; अनुपपत्तेरलङ्कारत्वात्। अतएव—अभिन्नं ब्रह्मेत्यत्राभेदस्य भिन्नतया ज्ञातस्य विशेषणत्वेन तेन सह ब्रह्माभेदबोधनानुपपत्तिः, प्राचीनभेदधिया प्रतिबन्धादिति—निरस्तम्, अनिर्वचनीयभेदज्ञानस्य तात्त्विकाभेदज्ञानाप्रतिबन्धकत्वात्।।३२।।

किञ्च धर्मभेदपक्षे, प्रत्यक्षं किं भेदमेव गोचरयति? उत वस्त्वपि? नाद्यः; भेद इत्येवाप्रतीतेः। द्वितीयेऽपि किं भेदपूर्वकं वस्तु गोचरयेत्, उत वस्तुपूर्वकं भेदम्, युगपद्वा उभयम्। नाद्यः; भेद इत्येवाप्रतीतेः, विरम्य व्यापारायोगाच्च। अतएव न द्वितीयः। न तृतीयः; वस्तुग्रहस्य भेदग्रहजनकतायाः स्थापितत्वात्। न च

सत्यानन्दप्रबोधिका

जाता है। अतः भेद में अज्ञातत्व की सिद्धि न होने से ज्ञात भेद मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर अनवस्थादि दोष होगा ही। जब भेद को अधिकरण का धर्म मानेंगे तब इस पक्ष में भेद और भेद्य में अज्ञात भेद मानकर सिद्धान्ती के जैसे भेद ज्ञान में अनवस्थादि दोष का कारण पूर्वपक्षी भी कर सकता है किन्तु भेद ज्ञान का विषय भेद में जो अनवस्था दोष होगा। उसका परिहार नहीं हो पायेगा। जैसे भेद अपने से भिन्न भेद्य में रहेगा, क्योंकि भेद भेद में तो रहेगा नहीं। फलतः भेद्य में भेद का भेद रहेगा। इसी भेद्य और भेद में रहने वाला दूसरा भेद भी अपने से भिन्न भेद्य में रहेगा। इस प्रकार से अनवस्था दोष आयेगा ही। यदि कहा जाय कि आविद्यक भेद पक्ष में भी उक्त प्रकार से अनवस्थादि दोष होगा। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि हमारे मत में भी अनवस्थादि दोष होता है किन्तु वह दोष मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए भूषण ही है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ''अभिन्नं ब्रह्म'' यहाँ अभेद ब्रह्म का विशेषण है और विशेष्य से अभिन्न को विशेषण नहीं माना जा सकता है। अतः उस अभेद ज्ञान के पूर्व में अभेद का ब्रह्म भिन्नतया ज्ञान आवश्यक है और जब ब्रह्म और अभेद भिन्न भिन्न है—ऐसा ज्ञान पहले हो चुका है तब उसके बाद में अभेद के साथ ब्रह्म के अभेद का बोधन हो नहीं सकता है, क्योंकि उक्त अभेद ज्ञान के पूर्व में जो अभेद में ब्रह्म के भेद का ज्ञान हुआ था। वह भेद ज्ञान उक्त अभेद ज्ञान के प्रति प्रतिबन्धक हो जायेगा। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन भी निरस्त हो गया क्योंकि आविद्यक (कल्पिक) भेद ज्ञान तात्त्विक अभेद ज्ञान का प्रतिबन्धक नहीं होता है।।३२।।

किञ्च जिस पक्ष में भेद को धर्मरूप माना जाता है। उस पक्ष में ''घटः पटात् भिन्नः'' ऐसा प्रत्यक्ष क्या भेद को ही विषय करता है? या वस्तु और अपि से भेद। अर्थात् अनुयोगी—प्रतियोगी रूप दोनों वस्तु और भेद को विषय करता है? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि ''भेदः'' इतनी ही प्रतीति होने की आपत्ति होगी जबकि प्रतीति होती है—घटः पटात् भिन्नः। वस्तु को भी भेदावगाही प्रत्यक्ष विषय करता है—इस द्वितीय पक्ष में भी प्रश्न होगा कि (१) भेदावगाहिप्रत्यक्ष से पहले भेद का ज्ञान होता है बाद में वस्तु (अनुयोगी—प्रतियोगी) का ज्ञान होता है? (२) अथवा पहले वस्तु (अनुयोगी प्रतियोगी) का ज्ञान होता है बाद में भेद का ज्ञान होता है? (३) अथवा वस्तु (अनुयोगी प्रतियोगी) और भेद दोनों का एक साथ ज्ञान होता है? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है? क्योंकि प्रथम पक्ष में पूर्वपक्षी ने दो प्रतीति माना। प्रथम—केवल भेद की प्रतीति। द्वितीय—वस्तु की प्रतीति। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि ''भेदः'' इस प्रकार से प्रतीति हो ही नहीं सकती है, क्योंकि भेद हमेशा अनुयोगी प्रतियोगी सापेक्ष होता है। दूसरी बात यह है कि भेदावगाहिप्रत्यक्ष प्रथम क्षण में भेद को द्वितीय क्षण में वस्तु को ग्रहण करे—यह सम्भव नहीं है, क्योंकि शब्द—ज्ञानादि विरम्य कार्यकारी नहीं होते हैं। अतः भेद के ग्रहण काल में वस्तु के न ग्रहण में कोई कारण नहीं है। अत एव = शब्दादि का विरम्य व्यापार न होने से द्वितीय पक्ष भी खण्डित हो गया। तृतीय पक्ष

वस्तुमात्रज्ञानानन्तरभाविना विशिष्टज्ञानेन युगपदुभयग्रहः; प्रतियोगित्वादिना ज्ञानस्यैव भेदधीहेतुत्वात्, अन्यथा पञ्चमीप्रयोगाद्यनुपपत्तेः। तत्र च प्रागुक्तो दोषः। अतएव—विशिष्टधियो विशेषणज्ञानजन्यत्वमते अनयोर्भेद इति ज्ञानानन्तरमिमौ भिन्नाविति धियः सम्भवः, विशेषणज्ञानाजन्यत्वेऽपि युगपदेव उभयगोचरधियः सम्भव इति—निरस्तम्, अनयोर्भेद इत्यादौ षष्ठ्योल्लिख्यमानसम्बन्धग्रहार्थं भेदग्रहस्य पूर्वमवश्यापेक्षणीयतया अनवस्थाया दुष्परिहरत्वात्। न च—बिम्बप्रतिबिम्बयोर्जीवब्रह्मणोश्चाभेदग्राहिप्रत्यक्षं शब्दश्च किमभेदमेव गोचरयेदित्यादिवि—

सत्यानन्दप्रबोधिका

भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि वस्तु (अनुयोगी—प्रतियोगी) का ज्ञान भेद ज्ञान में हेतु है। अतः एक ही काल में दोनों का ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है। अन्यथा दोनों में कार्यकारण भाव नहीं हो पायेगा इसको खण्ड संख्या २९ में स्पष्ट किया जा चुका है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि पहले वस्तु (अनुयोगी—प्रतियोगी) का ज्ञान होगा। इसके पश्चात् वस्तु से विशिष्ट भेद ज्ञान होगा। इस विशिष्ट ज्ञान के द्वारा वस्तु और भेद दोनों का एक साथ ग्रहण हो जायेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि केवल घटत्वेन घट का ज्ञान और पटत्वेन पट का ज्ञान भेद ज्ञान के प्रति हेतु नहीं होता अपितु प्रतियोगित्वेन पट का ज्ञान और अनुयोगित्वेन घट का ज्ञान भेद ज्ञान के प्रति हेतु होता है। अन्यथा = उक्त प्रकार से कार्यकारणभाव न मानने पर, ''पटात् भिन्नः घटः'' में पञ्चमी का प्रयोग व्यर्थ होगा, क्योंकि कारणीभूतज्ञान के विषय में पञ्चमी का प्रयोग होता है। वस्तु को प्रतियोगित्वादि रूपेण ग्रहण करने पर पूर्वोक्त अन्योन्याश्रय दोष होगा। जिसे खण्ड संख्या २९ में कहा जा चुका है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जिस मत में विशिष्ट बुद्धि में विशेषण ज्ञान को कारण माना जाता है। उस मत में पहले ''अनयोर्भेदः'' इस प्रकार से विशेषणीभूत भेद का ज्ञान होगा और बाद में ''इमौ भिन्नौ'' इस प्रकार विशेषणीभूत भेद से विशिष्ट अनुयोगी प्रतियोगी का ज्ञान होगा। ऐसा होने पर उक्त प्रकार से अन्योन्याश्रयदोष नहीं लगेगा क्योंकि पहले भेद को विशेष्य और अनुयोगी प्रतियोगी को विशेषण मानकर भेद ज्ञान के पूर्व में विशेषणीभूत अनुयोगी प्रतियोगी का ज्ञान आवश्यक होने से अन्योन्याश्रयदोष दिया गया था। अब तो भेद को विशेषण और अनुयोगी—प्रतियोगी के विशेष्य हो जाने से भेद ज्ञान के पहले अनुयोगी प्रतियोगी के ज्ञान की आवश्यकता न होने से अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा। जिस मत में विशिष्ट ज्ञान के प्रति विशेषण ज्ञान को कारण नहीं माना जाता है। उस मत में विशेषण ज्ञान को भेद ज्ञान से पहले मानने की आवश्यकता न होने से अन्योन्याश्रयदोष भी नहीं होगा।

समाधान— अत एव निरस्तम्—ऐसा अन्वय करना चाहिए। ''अत एव'' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि ''अनयोर्भेदः'' यहां पर षष्ठी विभक्ति उल्लिख्यमान जो सम्बन्ध है। अर्थात् भेद के साथ प्रतियोगी अनुयोगी का भेदीय प्रतियोगित्व भेदीय अनुयोगित्व रूप जो सम्बन्ध है। उसके ज्ञान के लिए तत् पूर्व सम्बन्धीभूत भेद का ज्ञान आवश्यक होने से अनवस्था दोष होगा, क्योंकि ''अनयोर्भेदः'' इस प्रकार के भेद ज्ञान के पूर्व में सम्बन्धीभूतभेदज्ञान चाहिए और भेद ज्ञान भी अनुयोगी—प्रतियोगी विशिष्टत्वेन ही होता है। अतः उसमें पहले अनुयोगी प्रतियोगी ज्ञान चाहिए। अनुयोगी प्रतियोगी ज्ञान भी भेद से घटित होकर के ही होगा। अतः उसके पूर्व में पुनः भेद ज्ञान चाहिए। इस प्रकार से होने वाली अनवस्था का परिहार नहीं किया जा सकता है। इस पर पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सिद्धान्ती जैसे भेद के विषय में विकल्प उठा रहे है कि ''किञ्च धर्मभेदपक्षे प्रत्यक्षं किं भेदमेव गोचरयति? उत् वस्त्वपि ....'' इसी प्रकार हम भी अभेद के विषय में भी विकल्प उठायेंगे कि बिम्ब प्रतिबिम्ब तथा जीव और ब्रह्म के अभेद ग्राही

कल्पसाम्यम्, अभेदस्य वस्तुस्वरूपत्वेनेदृग्विकल्पानवकाशात्।।३३।।

किञ्च भेदस्यान्योन्याभावत्वे तत्प्रतियोगिनः स्तम्भकुम्भयोस्तादात्म्यस्याप्रामाणिकत्वेनान्योन्याभाव– स्याप्रामाणिकत्वं स्यात्। न च द्वैतादेरप्रामाणिकत्वे तद्विरहस्याप्रामाणिकत्वापत्तिः; अतिरेकपक्षे इष्टापत्तेः, अनतिरेकपक्षे त्वधिकरणप्रामाणिकत्वस्यैव प्रामाणिकत्वे तन्त्रतया प्रतियोग्यप्रामाणिकत्वेऽपि प्रामाणिकत्वोपपत्तेः। न च–अन्योन्याभावेऽपि तत्पक्षे तथाङ्गीक्रियतामिति–वाच्यम्; तस्याधिकरणरूपतायां शून्यवा– दाद्यापत्तेरुक्तत्वात्। यत्त्वप्रामाणिकस्य निषेधप्रतियोगित्वमित्युक्तं परैः, तन्न वारयामः किन्त्वधिकरणातिरेके निषेधस्याप्रामाणिकत्वमात्रं ब्रूमः।।३४।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रत्यक्ष और ''तत्त्वमसि'' इत्यादि वाक्य क्या केवल अभेद को ही विषय करते है? अथवा वस्तु (अभेद के अनुयोगी–प्रतियोगी) को भी विषय करते हैं? इस प्रकार विकल्प उठाकर अभेद पक्ष में भी भेद पक्ष के जैसे अन्योन्याश्रय–अनवस्थादि दोष होंगे। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अभेद को वस्तुस्वरूप और निरपेक्ष माना जाता है। अतः भेद के जैसे अभेद पक्ष में उक्त प्रकार से विकल्प नहीं उठाये जा सकते हैं।।३३।।

किञ्च अन्योन्याभाव तादात्म्यत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक है, तत्स्वरूप भेद को मानने पर ''स्तम्भो न कुम्भः'' का अर्थ होगा–स्तम्भ और कुम्भ के तादात्म्य का अभाव। (''प्रतियोगिनोः'' ऐसा द्विवचन वाला पाठ न लेकर श्री कैलास आश्रम के बड़े महाराज जी की पुस्तक और न्यायामृत के अनुसार ''प्रतियोगिनः'' ऐसा एकवचनान्त पाठ लेना उचित है, क्योंकि ''प्रतियोगिनः'' का सम्बन्ध ''स्तम्भकुम्भयोः'' के साथ नहीं है किन्तु ''तादात्म्यस्य'' के साथ है। अर्थात् भेद का प्रतियोगी स्तम्भ कुम्भ नहीं हैं किन्तु इन दोनों का तादात्म्य है। ''तादात्म्यस्य'' इसमें एक वचन है अतः ''प्रतियोगिनः में एकवचन होना उचित ही है।'') तादात्म्य = अभेद। स्तम्भ कुम्भ का का तादात्म्य = अभेद तो हो नहीं सकता है। अतः वह तादात्म्य अप्रामाणिक (अलीक) होने के कारण अन्योन्याभाव = तादात्म्याभाव भी अप्रामाणिक (अलीक) हो जायेगा। अर्थात् तादात्म्य रूप प्रतियोगी के अप्रामाणिक होने के करण तादात्म्याभाव रूप अन्योन्याभाव भी अप्रामाणिक सिद्ध हो जायेगा। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि पूर्वोक्त प्रकार से द्वैताभाव में भी अप्रामाणिकत्व की आपत्ति आयेगी, क्योंकि द्वैताभाव का प्रतियोगी द्वैत सिद्धान्ती के मत में मिथ्या होने से अप्रामाणिक है। इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि द्वैताभाव को यदि ब्रह्म से अतिरिक्त माना जाता है तब उसे अप्रामाणिक मानना अभीष्ट ही है और यदि द्वैताभाव को ब्रह्मस्वरूप माना जाता है तब अधिकरण की प्रामाणिकता से ही अधिकरणस्वरूप द्वैताभाव में प्रामाणिकता की सिद्धि हो जायेगी। अतः प्रतियोगी के अप्रामाणिक होने पर भी अधिकरण स्वरूप द्वैताभाव में प्रामाणिकता की उपपत्ति हो जाती है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि जैसे द्वैताभाव को अधिकरणस्वरूप मानकर उसमें प्रामाणिकत्व सिद्ध किया गया, वैसे ही अन्योन्याभाव को भी अधिकरणस्वरूप मानकर अधिकरण के प्रामाणिकत्व से अन्योन्याभाव में भी प्रामाणिकत्व सिद्ध कर दिया जायेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अन्योन्याभाव को अधिकरण स्वरूप मानने पर शून्यवाद की आपत्ति होगी–इसका निरूपण खण्ड संख्या–१२ में किया जा चुका है। यह जो पूर्वपक्षी ने कहा कि सिद्धान्ती के मत में भी द्वैत जो कि अप्रामाणिक है वह भी निषेध का प्रतियोगी होता है। इस पर सिद्धान्ती कह रहे है कि अप्रामाणिक पदार्थ निषेध का प्रतियोगी होता है–ऐसा जो माध्व का कथन है। अर्थात् शुक्ति में रजत का जो निषेध होता है। उस निषेध का प्रतियोगी माध्व मत में अप्रामाणिक अलीक माना जाता है। उसके खण्डन के लिए इस समय

ननु—अत्र न कुम्भस्तम्भोभयतादात्म्यं निषेधप्रतियोगि, किन्तु स्तम्भतादात्म्यं स्तम्भे प्रमितं कुम्भगतं निषेधप्रतियोगी इति न प्रतियोग्यप्रामाणिकत्वमिति—चेन्न; तादात्म्यमात्रस्य निषेधप्रतियोगित्वे दूरस्थवनस्पत्योरिव बाधोत्तरकालमिमौ वनस्पती इतिवदिमे शुक्तिरजते इति प्रतीत्यापत्तेः। नचासन्निधानकृतो विशेषः; एतावतापि शुक्तितद्रजते इति प्रतीत्यापत्तेः। यत्त्वन्योन्याभाव संसर्गाभावयोर्लक्षणं यत्राधिकरणे प्रतियोगितावच्छेदकमारोप्यनिषेधावगमः, सोऽन्योन्याभावः; यत्राधिकरणे प्रतियोगिनमारोप्य निषेधावभासः स संसर्गाभाव इति, तन्न; अतीन्द्रिये

सत्यानन्दप्रबोधिका

हमें कुछ नहीं कहना है किन्तु हमें इस समय केवल इतना ही कहना है कि अधिकरण से अतिरिक्त जब निषेध (द्वैताभावादि) जब माना जाता है तब उसे हम भी अप्रामाणिक मानते हैं।।३४।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि भेद = अन्योन्याभाव = तादात्म्याभाव का का प्रतियोगी जो तादात्म्य है। वह कुम्भ स्तम्भ उभय का तादात्म्य नहीं है, किन्तु केवल स्तम्भ का तादात्म्य है। वह तो अलीक नहीं है, क्योंकि वह तो स्तम्भ में प्रमित है और उस प्रमित स्तम्भ तादात्म्य का कुम्भ में निषेध किया जाता है। अतः जब प्रतियोगी स्तम्भ तादात्म्य प्रामाणिक है तब भेद = अन्योन्याभाव भी प्रामाणिक होगा।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि स्तम्भ के तादात्म्य मात्र का निषेध करने पर (अर्थात् स्तम्भ का निषेध न करने पर) दूर स्थित दो वृक्षों में तादात्म्य (अभेद) का भ्रम होता है। जब यथार्थ ज्ञान होता है तब तादात्म्य का बाध होकर ''इमौ दौ वृक्षौ'' इत्याकारिका प्रतीति होती है। इसी प्रकार शुक्तिरजत स्थल पर शुक्ति में रजत नहीं है—यहाँ पर निषेध का प्रतियोगी रजत न होकर केवल तादात्म्य होने पर ''इमे शुक्तिरजते'' ऐसी प्रतीति की आपत्ति होगी।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि दोनों वृक्षों के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने के कारण दृष्टान्त में ''इमौ वनस्पती'' इस प्रकार से प्रतीति होती है किन्तु दार्ष्टान्त में बाध के उत्तर काल में रजत के साथ सन्निकर्ष नहीं है अपितु केवल शुक्ति के साथ सन्निकर्ष है। अतः ''इयं शुक्तिः'' इस प्रकार से ही ज्ञान होगा।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि बाध के बाद रजत के साथ सन्निकर्ष नहीं रहता है—ऐसा मान लेने पर भी यह शुक्ति और वह रजत (शुक्तितद्रजते) ऐसा ज्ञान भ्रमज्ञान के बाधोत्तर काल में होने की आपत्ति बनी रहेगी।

शङ्का— पूर्वपक्षी के द्वारा अन्योन्याभाव और संसर्गाभाव का लक्षण इस प्रकार से बनाया जाता है—''घटः पटात् भिन्नः'' इस प्रतीति स्थल पर यत्राधिकरणे = घट में, प्रतियोगितावच्छेदक = पटत्व का आरोप कर के उस पटत्व का निषेध किया जाता है कि घट में पटत्व नहीं है — ऐसे निषेध को अन्योन्याभाव कहते हैं। ''भूतले घटाभावः'' इस प्रतीति स्थल पर यत्राधिकरणे = भूतल में, प्रतियोगिनम् = घट का, आरोप कर के उस घट का भूतल में निषेध किया जाता है कि भूतल में घट नहीं है—ऐसे निषेध को संसर्गाभाव कहते हैं।

समाधान— पूर्वपक्षी के द्वारा कृत अन्योन्याभाव और संसर्गाभाव के लक्षण का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अतीन्द्रिय भेद और अतीन्द्रिय संसर्गाभाव में उक्त लक्षण नहीं जायेगा, क्योंकि अतीन्द्रिय वस्तु का पुरः स्थित अधिकरण में आरोप सम्भव नहीं है। अतः अव्याप्ति दोष होगा। कहने का भाव यह है कि जहाँ अनुमान (पार्थिवपरमाणुः न जलीयः, पार्थिवत्त्वात्) से भेद का ज्ञान होता है। वहाँ आरोप करके भेद का ज्ञान नहीं होता है, केवल भेद का ही ज्ञान होता है। ऐसे ही संसर्गाभाव स्थल पर जहाँ अनुमान (पार्थिवपरमाणुः न जलीयत्ववान्, पार्थिववत्त्ववत्त्वात्) से पार्थिव परमाणु में जलीयत्व के संसर्गाभाव के बोध स्थल पर पार्थिवपरमाणु में जलीयत्व का आरोप कर में संसर्गाभाव का बोध नहीं होता है। अतः व्याप्ति

भेदे संसर्गाभावे च तन्मते अव्याप्तेः। शब्दजन्याभावबुद्धौ व्यभिचारेणारोपस्याभावबुद्धावहेतुत्वाच्च।।३५।।

किञ्च भेदे स्वेतरभेदस्य वक्तव्यतया स्ववृत्तिविरोधोऽनवस्था वा। न च—ब्रह्माभेदेऽपि स्वाभेदस्य वक्तव्यतया स्ववृतित्वं समानमिति—वाच्यम्। अभेदस्य स्वनिर्वाहकत्वादित्यवेहि। न च भेदे तथा; भेदाधिकरणकभेदव्यवहारस्य स्वरूपेण निर्वाहे घटेऽपि तथात्वे धर्मपक्षकभेदानुपपत्तेः। किञ्च भेदे भेदत्वमुपाधिरूपं जातिरूपं वा वाच्यम्; तत्र पुनर्भेदो वाच्यः अन्यथा भेदत्वस्यान्यस्मात् भेदो न स्यात्। तथाचान्योन्यवृत्त्या स्ववृत्त्यापत्तेः स्ववृत्तित्ववत्तस्यापि विरुद्धत्वात्।।३६।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

दोष होगा। दूसरी बात यह है कि यदि पहले आरोप बुद्धि और उसके पश्चात् अभाव बुद्धि मानेंगे तो आरोप बुद्धि अभाव बुद्धि के प्रति कारण हो जायेगी। ऐसा होने पर शब्द जन्य अभाव बुद्धि में व्यभिचार (कारण के न रहने पर कार्य सिद्धि रूपव्यभिचार) हो जायेगा, क्योंकि शब्द जन्य अभाव बुद्धि में उक्त कारण के विना ही कार्य होते हुए देखा जा रहा है। जैसे जहाँ ''भूतले घटो नास्ति'' अथवा ''भूतलं घटो न'' ऐसे शब्द से अभाव बुद्धि होती है, वहाँ उक्त प्रकार से आरोप कर के अभाव बुद्धि नहीं होती है।।३५।।

किञ्च भेद जब भेद से इतर सम्पूर्ण प्रपञ्च से भिन्न है तब भेद में स्वभिन्न प्रपञ्च का भेद रहेगा। इस प्रकार भेद में जो भेद रहा है वह दोनों भेद एक हैं तब तो आत्माश्रय (स्ववृत्तिविरोध) दोष होगा। यदि अन्य है तब प्रथम भेद में द्वितीयभेद रहेगा। द्वितीय भेद में तृतीय भेद रहेगा—इस प्रकार से अनवस्था दोष होगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जीव ब्रह्म अभेद जब अपने से भिन्न नहीं है तब तो उस अभेद में अपना अभेद रहेगा। ऐसा होने पर वह दोनों अभेद यदि एक ही हैं तब आत्माश्रय दोष होगा और भिन्न—भिन्न मानने पर अनवस्था दोष होगा। इस प्रकार सिद्धान्ती के मत में भी समान रूप से दोष होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जीव में ब्रह्म का अभेद रहकर जैसे वह अभेद जीव को ब्रह्म से अभिन्नत्वेन बोध कराता है वैसे ही वह अभेद अपने को अपने से अभिन्नत्वेन बोधन कराता है। इसलिए अभेद में अभेद मानने की आवश्यकता नहीं हैं। अतः आत्माश्रयादि दोष नहीं होगा। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त प्रकार से भेद पक्ष में भी आत्माश्रयादि दोष का वारण हो जायेगा। जैसे घट में पट का भेद रहकर वह भेद जैसे घट से पट को भिन्नत्वेन बोध करा देता है वैसे ही वह भेद अपने को स्वेतर से भिन्नत्वेन बोध करा देता है। अतः इसके लिए भेद में भेद मानने की आवश्यकता न रह जाने से स्ववृत्ति विरोधादि दोष नहीं होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि भेद में ''स्वेतर का भेद रहता है'' ऐसा जो व्यवहार होता है। उस व्यवहार का उपपादन यदि भेद में भेद न मानकर किन्तु दूसरे भेद को प्रथम भेद का स्वरूप मानकर किया जाय तब तो घट में पट भेद है— ऐसे व्यवहार का उपपादन भी घट में पटभेद न मानकर के घट को पटभेद स्वरूप मानकर के किया जा सकता है। तब घट में पट भेद मानने की जरूरत ही नहीं होगी। फलतः धर्मपक्षक भेद अर्थात् पट भेद घट का धर्म है— पूर्वपक्षी के इस मत का खण्डन हो जायेगा। मूलार्थ का अर्थ इस प्रकार से करें— भेदाधिकरणकभेदव्यवहारस्य = भेद है अधिकरण जिस भेद का, उस भेद का व्यवहार अर्थात् भेद में भेद का व्यवहार, स्वरूपेण = अधिकरण भूत भेद के द्वारा, निर्वाहे = भेद में दूसरा भेद न मानने पर भी, तथात्वे= ''घटे पटभेदः'' ऐसे व्यवहार का निर्वाह घट स्वरूप भेद के द्वारा ही हो जायेगा तब घट में रहने वाला पट भेद घट का धर्म है— इसका खण्डन हो जायेगा। किञ्च भेद में रहने वाले भेदत्व को चाहे उपाधि रूप मानो या जाति रूप। उस भेदत्व में पुनः अन्य पदार्थों का भेद मानना पड़ेगा, अन्यथा = यदि भेदत्व में अन्यपदार्थों का भेद नहीं मानेंगे तो भेदत्व

न च–अभेदेप्यभेदत्वं वाच्यम्, तत्र पुनरभेदो वाच्यः, अन्यथा तस्य स्वाभेदो न स्यादिति तत्रापि तथात्वापत्तिः; प्रमेयत्वाभिधेयत्वादिवदन्योन्यवृत्तित्वस्याभेदे अदोषत्वे भेदेऽपि साम्यमिति–वाच्यम्; अस्माकमभेद–मात्रस्याभेदत्वस्य च ब्रह्माभेदभिन्नतया अन्योन्यमित्यस्यैवाभावेनान्योन्यवृत्तित्वस्यैवापादयितुमशक्यत्वात्। न च तर्हि घटे घटाभेदस्य जीवे जीवाभेदस्य वा जीवब्रह्माभेदत्वे वेदान्तवैयर्थ्यम्; भेदभ्रमनिवर्तकवृत्तेर्महावाक्यं विनानुपपत्तेरुक्तत्वात्। यत्तु प्रमेयत्वादौ प्रमितत्वादन्योन्यवृत्तिरदोष इति, तन्न; आत्माश्रयादितत्त्वदोषेण तत्रापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

का अन्य पदार्थों से भेद ही सिद्ध नहीं होगा। फलतः भेद में भेदत्व और भेदत्व में भेद के रहने से स्ववृत्ति तुल्यत्वापत्ति होगी। जिसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि स्ववृत्तित्व जैसे विरुद्ध है। अर्थात् कोई भी पदार्थ को अपने में रहना विरुद्ध माना जाता है वैस ही एक दूसरे में रहना भी विरुद्ध माना जाता है। जैसे पात्र में घृत और घृत में पात्र रहना विरुद्ध माना जाता है। यदि भेदत्व और भेद के मध्य में धर्मी रूप भेद से अतिरिक्त भेद माना जाता है तब तो अनवस्थादि दोष की आपत्ति होगी।।३६।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती को भी अभेद में अभेदत्व मानना पड़ेगा। वह अभेदत्व चाहे जाति हो या उपाधि हो। अभेदत्व और अभेद में अभेद मानना पड़ेगा। अन्यथा = अभेद और अभेदत्व में अभेद न मानने पर अभेदत्व का अभेद से अभेद न हो पाने पर है द्वैतापत्ति होगी। अतः अभदेत्व से अभेद का अभेद होने पर अभेद में अभेदत्व और अभेदत्व में अभेद के रह जाने से अन्योन्य वृत्तिता रूप दोष सिद्धान्ती के मत में भी आयेगा। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि सर्वत्र रहने वाला केवलान्वयि धर्म प्रमेयत्व–अभिधेयत्व एक दूसरे में रहते हैं। अर्थात् अन्योन्य वृत्तिता है। अतः प्रमेयत्व में अभिधेयत्व और अभिधेयत्व में प्रमेयत्व के रहने से जैसे दोष नहीं माना जाता है ठीक वैसे ही अभेद में अभेदत्व और अभेदत्व में अभेद रहने से कोई दोष नहीं होगा। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि भेद में भेदत्व और भेदत्व में भेद के रहने पर भी कोई दोष नहीं होगा।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि हमारे सिद्धान्त में घट का घट से अभेद जल का जल से अभेद आदि जितने अभेद हैं और उन अभेदों में रहने वाला अभेदत्व अर्थात् सभी अभेद और अभेदत्व का ब्रह्म रूप अभेद से अभिन्न होने के कारण सभी अभेद और अभेदत्व परस्पर अभिन्न हो गये, क्योंकि ''तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमात्''। अतः सभी अभेद और अभेदत्व में अन्योन्यत्व = परस्पर भिन्नत्व न रहने के कारण अभेद और अभेदत्व मे ''अन्योन्यम्'' ऐसा कहा ही नहीं जा सकता है। जब अन्योन्य ही नहीं तब अन्योन्यवृत्ति का कथन तो दूरतः निरस्त हो जाता है।

शङ्का– घट में घट का अभेद और जीव में जीव का अभेद ये दोनों अभेद यदि जीव ब्रह्म अभेद से अभिन्न हैं तब तो घट से घट के अभेद के ज्ञान से ही जीव ब्रह्म के अभेद का ज्ञान हो जायेगा तब तो जीव ब्रह्म अभेद के बोध के लिए अद्वैत वेदान्त विचार व्यर्थ होगा।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सभी अभेद ब्रह्म से अभिन्न है– ऐसा जानने से जो जीव ब्रह्म के अभेद का ज्ञान हो जाता है। उस प्रकार का जो अभेद का ज्ञान वह भेद भ्रम का निवर्तक नहीं होता है अपितु भेद भ्रम का निवर्तक ज्ञान महावाक्य से ही होता है। अर्थात् भेद भ्रम निवत्ति के लिए जिस वृत्ति की आवश्यकता है। तद् हेतुत्वेन अद्वैत वेदान्त का साफल्य है– यह ''तत्त्वमस्यादिवाक्यस्याखण्डार्थकत्वविचारः''के खण्ड संख्या ६ में स्पष्ट किया जा चुका है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि प्रमेयत्व अभिधेयत्व इनमें अन्योन्यवृत्तिता प्रमाण सिद्ध है। अतः अन्योन्यवृत्ति को दोष नहीं माना जा सकता है। इसके समाधान में

प्रमितत्त्वासिद्धेः। अतएव न कश्चित् केवलान्वयी।।३७।।

किञ्च भेदः किं भिन्ने निविशते अभिन्ने वा?, आद्य आत्माश्रयोऽन्योन्याश्रयो वा। द्वितीये विरोधः। न च—अभेदानिर्वाच्यत्वादिकं किं तद्वति तदभाववति चेत्यादिविकल्पस्यात्रापि साम्यमिति—वाच्यम्; अभेदस्य स्वरूपत्वेन तत्र तद्विकल्पानवकाशात्, अनिर्वाच्यत्वादावस्य विकल्पस्यानिर्वाच्यत्वप्रयोजकस्यास्माकमनुकूलत्वात्। न च भेदोऽपि स्वरूपम्, प्रागेवनिरासात्। न च—भेदः स्वाश्रयत्वयोग्ये वर्तते,

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्धान्ती का कथन है कि प्रमेयत्व अभिधेयत्व में अभिधेयत्व प्रमेयत्व में होने से परम्परया प्रमेयत्व प्रमेयत्व में अभिधेयत्व अभिधेयत्व में रह जाने से आत्माश्रयादि दोष होगा। आत्माश्रयादि दोष तात्त्विकत्व को नष्ट करने वाला दोष है। अतः जहाँ आत्माश्रयादि दोष होगा। उसको प्रमाण सिद्ध = तात्त्विक नहीं माना जा सकता है। प्रमेयत्वादि के आत्माश्रयादि दोष से ग्रस्त होने के कारण जब प्रमेयत्वादि की ही सिद्धि नहीं हो पायी तब प्रमेयत्वादि कुछ पदार्थ केवलान्वयी (सर्ववृत्ति) होते है–' यह तो दूरतः निरस्त हो गया।३७।।

किञ्च भेद क्या भेद विशिष्ट में रहता है? या भेद रहित में रहता है? भेदविशिष्ट में भेद रहता है तब भेदविशिष्ट का घटक भेद और भेद विशिष्ट में रहने वाला भेद के एक होने पर स्व में स्व के रहने से आत्माश्रयदोष होगा। उक्त दोनों भेदों को पृथक् मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि भेद के होने पर भेद विशिष्ट कर सिद्धि और भेद विशिष्ट के होने पर उसमें भेद की सिद्धि होगी। भेद रहित में भेद रहता है– इस द्वितीय पक्ष को मानने पर विरोध होगा। जैसे घट भेद को घट भेद शून्य में मानने पर घट में भी घट भेद की आपत्ति होगी। अतः विरोध होगा।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती जैसे भेद के विषय में उक्त प्रकार से विकल्प कर रहे है वैसे ही हम भी अभेद अनिर्वाच्यत्वादि के विषय में विकल्प करेंगे। अर्थात् अभेद अभेद युक्त में रहता है? या अभेद रहित में? और अनिर्वाच्यत्व अनिर्वाच्यत्व से युक्त में रहता है? अनिर्वाच्यत्व से रहित में रहता है? यहाँ भी भेद पक्ष के जैसे आत्माश्रय– अन्योन्याश्रय तथा विरोध दिखाया जा सकता हैं।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जो ब्रह्म असङ्ग है। वह कही भी नहीं रहता है। ऐसा ब्रह्म स्वरूप अभेद होने से अभेद भी कही नहीं रहेगा। अतः अभेद के विषय में उक्त प्रकार से विकल्प नहीं उठाया जा सकता है। अनिर्वाच्यत्व को अनिर्वाच्यत्व से विशिष्ट में मानने पर आत्माश्रयादि दोष जो पूर्वपक्षी दे रहा था। उस पर सिद्धान्ती का कहना है कि अनिर्वाच्य के उपर जो पूर्वपक्षी का विकल्प है वह अनिर्वाच्यत्व का प्रयोजक है, क्योंकि जहाँ जहाँ ऐसे विकल्प उठाकर आत्माश्रयादि दोष दिया जाता है वहाँ वहाँ वे सब अनिर्वचनीय (मिथ्या) माने जाते हैं। यह तो हमारे अद्वैत सिद्धान्त के अनुकूल ही है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि अभेद को जैसे सिद्धान्ती ने अधिकरण स्वरूप मानकर दोष हटाया है वैसे ही हम भी भेद को अधिकरण स्वरूप मानकर दोष का निवारण कर देगें। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी भेद को अधिकरण स्वरूप नहीं मान सकता है। क्योंकि भेद अधिकरण स्वरूप होता है– इस मत का पहले ही खण्डन किया जा चुका है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि भेद न भेद विशिष्ट में रहता है और न ही भेद रहित में रहता है। अपितु भेद का आश्रय होने के योग्य जो वस्तु उसमें भेद रहता है। जैसे पट भेद का आश्रय होने के योग्य जो घट उसमें पटभेद रहता है तब प्रश्न होता है कि घट में पटभेद के आश्रय होने की योग्यता है– इसमें क्या प्रमाण है? इसका उत्तर दे रहे हैं कि ''घटः पटो न'' ऐसी जो प्रमा होती है। उस प्रमा के द्वारा सिद्ध होता है कि घट

योग्यता च प्रमारूपफलैकान्नेया इति—वाच्यम्; योग्यताया भेदं विना वक्तुमशक्यत्वात्। नह्यभिन्ने कदापि तद्योग्यता, धर्मान्तरस्यापि भेदमपुरस्कृत्य योग्यत्वाप्रयोजकत्वात्। भेदाभेदावज्ञात्वा भ्रमप्रमारूपफलभेदस्यैवाज्ञानेन भेदयोग्यतायाः प्रमारूपफलभेदानुन्नेयत्वाच्च।

'अस्वव्याघातकैरेव जातिभिन्नैःसदुत्तरैः।
निरस्तं भेदमादाय स्वात्माभेदो निषीदति'।।३८।।

इत्यद्वैतसिद्धौ विशेषतो भेदखण्डनम्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

में पट भेद के आश्रय होने की योग्यता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त योग्यता भेद के विना उपपन्न नहीं हो सकती है। अर्थात् उक्त योग्यता भी भेद से युक्त ही होगी। ऐसा होने पर पूर्वोक्त दोष बना ही रहेगा। जैसे भेदाश्रयत्व योग्य जो घट उसमें यदि भेद रहता है तब तो घट को भेद युक्त ही मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर आत्माश्रयादि दोष होगा और भेद से रहित घट में भेदाश्रयत्व योग्यता मानी नहीं जा सकती है, क्योंकि भेद से रहित में भेद मानने पर विरोध होगा। यदि योग्यता का प्रयोजक भेदाश्रयत्व रूप धर्म को न मानकर यदि दूसरा कोई धर्म मानेंगे तो तब भी उक्त धर्म से युक्त घट में भेद रहेगा। किन्तु जो धर्म तुम मानेंगे उस धर्म का भेद घट में रहेगा ही। अतः उक्त धर्म और उक्त धर्म के भेद से युक्त घट में पट भेद रहेगा। अर्थात् योग्यता का प्रयोजक धर्मान्तर भी भेद रहित होकर योग्यता का प्रयोजक नहीं बन सकता है। फलतः धर्मान्तर के भेद से विशिष्ट में भेद मानने पर आत्माश्रयादि दोष होगा। किञ्च पट भेदाश्रयीभूत घट में पटभेद का अभेद है अथवा पट भेद का भेद है— यह जाने विना घट में पट भेद है— यह ज्ञान भ्रम या प्रमा कहना सम्भव नहीं, क्योंकि पट भेदाश्रय में पटभेद का भेद रहे तो पट भेद से भिन्न वस्तु = पट भेदाश्रय योग्य होगा। तब घट पट से भिन्न है— यह ज्ञान प्रमा होगा। दूसरे पक्ष में आत्माश्रय दोष रहने के कारण ''पट भेद अभिन्न पट भिन्न''—यह ज्ञान भ्रम हो जायेगा। अतः भेदाश्रय में भेद का भेद है—यह ज्ञान होने के पश्चात् फलीभूत ज्ञान में प्रमात्व का बोध होगा और फलीभूत ज्ञान में प्रमात्व का बोध होने के पश्चात् भेदाश्रय में भेदाश्रयत्व योग्यता का ज्ञान होगा। अतः अन्योन्याश्रय दोष होगा। अतः भेद की योग्यता प्रमा रूप फल के द्वारा उन्नेय (अनुमेय) नहीं हो सकती है। इस प्रकार स्वपक्ष (सिद्धान्त पक्ष) के अव्याघातक और असदुत्तर रूप जाति से भिन्न सदुत्तर रूप तर्कों के द्वारा भेद का निरास हो जाने पर अपना स्वरूप भूत अभेद अटलता को प्राप्त करता है।।३८।।

—ःइति सत्यानन्दप्रबोधिकायां विशेषतो भेदखण्डनम्ः —

१७– माध्वाभिमतविशेषपदार्थविचारः

ननु– अस्माकं भेदो न स्वरूपमात्रम्, किन्त्वन्योन्याभावः, स च वस्तुना सविशेषाभिन्नः, ततश्चाभिन्नत्वान्नानवस्थादिः। भेदप्रतिनिधेर्विशेषस्य विद्यमानत्वान्न पर्यायत्वादिकम्, विशेषश्च भेदहीनेऽपि एकतरपरिशेषाभावादिनिर्वाहक इति–चेन्न; अपर्यायत्वादिप्रमाजनकस्य स्वरूपातिरिक्तस्य विशेषस्याङ्गीकारे तस्यैव भेदत्वेन भेदस्य धर्म्यभेदोक्त्ययोगात्, विशेषस्यापि भेदः सविशेषाभिन्न एव वाच्यः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का– विशेष नामक जो पदार्थ हैं, उस विशेष से युक्त धर्मी का स्वरूप ही भेद है न कि केवल धर्मी का स्वरूप ही भेद है–इस आशय से पूर्वपक्षी कह रहा है कि पट भेद जो घट स्वरूप हैं, वह केवल घट स्वरूप नहीं है किन्तु वह भेद अन्योन्याभाव रूप भी है। अर्थात् अभाव पदार्थ रूप भी है। वह अन्योन्याभाव विशेष युक्त घट से अभिन्न माना जाता है। ततः = भेद सविशेष घट से अभिन्न होने के कारण भेद का भेद घट में रहेगा नहीं। अतः अनवस्थादि दोष नहीं होगा। इस पर प्रश्न होता है कि यदि भेद और घट एक ही वस्तु हैं। अर्थात् घट में भेद का भेद नहीं है तब तो दोनों (घट और भेद) पर्यायवाची हो जायेंगे। इस का उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि भेद घट स्वरूप होने के कारण स्वयं भेद तो घट में रहता नहीं है, क्योंकि स्व में स्व रहता नहीं है किन्तु भेद का एक प्रतिनिधि = विशेष नामक पदार्थ घट में विद्यमान होने से घट और भेद में पर्यायवाचित्व की आपत्ति नहीं आती है। अर्थात् घट में भेद का प्रतिनिधि विशेष के होने से घट और भेद एकार्थक नहीं हो पाते हैं। (यदि कहा जाय कि घट और भेद में कोई भेद नहीं है, क्योंकि भेद घट स्वरूप है। अतः जहाँ ''अयं घटः'' ऐसा व्यवहार करना है वहाँ पर ''अयं भेदः'' ऐसा व्यवहार करने में कोई दोष नहीं होना चाहिए? इसका समाधान देते हुए कह रहे हैं कि) भेदहिनेऽपि = भेद के भेद से रहित घट में विशेष रहकर, एकतरपरिशेषाभावादिनिवहिकः = ''अयं घटः'' इस व्यवहार से ''अयं भेदः'' इस व्यवहार के वैलक्षण्य का निर्वाहक हो जाता है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी का जो यह कथन है कि घटादि का जो स्वरूप है उस स्वरूप से अतिरिक्त विशेष है और वह विशेष घट और भेद में अपर्यायित्वप्रकारक प्रमा का जनक होता है। अर्थात् भेद के घट स्वरूप होने से भेद और घट में जो पर्यायित्व की आपत्ति आ रही थी। उसका निवारण पूर्वपक्षी ने घट में विशेष मानकर किया। अब यदि भेद के जैसे वह विशेष भी घट स्वरूप होता तब तो उस विशेष के मानने पर भी घट और भेद में पर्यायित्व की आपत्ति का निवारण नहीं होगा। अतः विशेष को घट से अतिरिक्त ही मानना होगा। ऐसा होने पर घट से भिन्न विशेष को घट में मानने से ही जब पर्यायित्वापत्ति भी रुक जायेगी और एकतरपरिशेषाभाव का भी निर्वाह हो जायेगा, तब विशेष से अतिरिक्त भेद नामक पदार्थ मानना निरर्थक होने से विशेष को ही भेद मान लेना चाहिए। ऐसा होने पर विशेष और भेद एकार्थक होने से घट धर्मी से भेद को अभिन्न कहना अनुचित होगा क्योकि भेद से अभिन्नविशेष घट रूप धर्मी के स्वरूप से अतिरिक्त है। दूसरी बात यह है कि विशेष को घट से भिन्न मानने के कारण विशेष का भी भेद घट में मानना होगा और जैसे पट का भेद = सविशेष = एक विशेष से युक्त घट से अभिन्न है वैसे ही वह विशेष का भेद भी दूसरे विशेष से युक्त घट से अभिन्न में मानना होगा और दूसरा विशेष भी घट से भिन्न होगा। अतः दूसरे विशेष का भी भेद घट में रहेगा और वह दूसरे विशेष का भेद तीसरे विशेष से युक्त घटादि से अभिन्न में रहेगा– इस प्रकार से अनवस्था की आपत्ति होगी। यदि पूर्वपक्षी कहता है जैसे वैशेषिक मत में अन्त्यविशेष एक परमाणु में रहकर उस परमाणु को दूसरे परमाणु

तथाचानवस्थातादवस्थ्यम्। न च वैशेषिकाभिमतविशेषवत्तस्य स्वपरनिर्वाहकत्वम्; एतादृशविशेषे मानाभावात्।१ ।।

ननु— 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'इत्यादिवाक्यबोध्यविज्ञानानन्दादीनां त्वन्मतेऽपि भेदस्य भेदाभेदयोर्वाऽखण्डार्थकत्वेन 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्'इत्यादिश्रुतिविरोधेन चाङ्गीकर्तुमशक्यतया भेदप्रतिनिधेर्विशेषस्यापर्यायत्वाद्यर्थमवश्यं स्वीकार इति अर्थापत्तिरेव मानमिति—चेन्न; भेदे ऐकरस्यश्रुतिविरोधवद् अत्रापि तत्तादवस्थ्यात्। लक्ष्यार्थाभेदेऽपि वाच्यार्थभेदेनापर्यायत्वस्य व्यावर्त्यभेदादवैयर्थ्यस्य चान्यथैवोपपत्तेः। किञ्च तवापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

से भिन्नत्वेन बोध करा देता है और अपने से भी परमाणु को भिन्नत्वेन बोधन करा देता है ठीक वैसे ही माध्वमत का जो विशेष वह भी घट में रहकर के घट को पट भिन्नत्वेन बोधन करा देता है और अपने से भी घट को भिन्नत्वेन बोधन करा देता है। अतः उसके लिए दूसरे विशेष को मानने की आवश्यकता नहीं होती है। इसलिए अनवस्था दोष नहीं होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी जैसा विशेष मानना चाह रहा है वैसे विशेष में कोई प्रमाण ही नहीं है। कहने का भाव यह है कि विशेष में विशेष न मानने से विशेष पद और भेद पद में पूर्वोक्त प्रकार से पर्यायत्व मानना पड़ेगा तब भेद से पृथक् विशेष पदार्थ नहीं मान सकते हैं। विशेष को न मानकर भेद को ही घट से अतिरिक्त मानकर वह भेद घटादि में रहता है—ऐसा मानना उचित होने से भेदातिरिक्त कोई विशेष मानने में कोई प्रमाण नहीं है। ऐसा भेद मानने पर अनवस्था दोष होगा।१ ।।

शङ्का— सिद्धान्ती ने जो कहा कि विशेष मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इस पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त विशेष मानने में अर्थापत्ति प्रमाण है। इसको सिद्धान्ती को भी मानना पड़ेगा। जैसे ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म''(बृ०उ० ३—९—२८) यहाँ विज्ञान और आनन्द इस दोनों में भेद या भेदाभेद इसलिए नहीं मान सकते, क्योंकि विज्ञान और आनन्द में अखण्डार्थकत्व है। अर्थात् अखण्डरूप अर्थ (संसर्ग रहित अर्थ) का बोधक विज्ञान और आनन्द पद है। भेद या भेदाभेद मानने पर इन दोनों पदों में संसर्ग मानना पड़ेगा तब अखण्ड का बोधन नहीं हो पायेगा। यह भेद या भेदाभेद न मानने में प्रथम हेतु है। दूसरा हेतु यह है कि ''एकध ावानुद्रष्टव्यम्'' (बृ०उ० ४—४—२०) इस श्रुति से कहा गया कि एकधा = अखण्डार्थत्वेन ही ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिए। भेद या भेदाभेद मानने पर इस श्रुति से विरोध हो जायेगा। अतः आनन्द और विज्ञान में भेद तो सिद्धान्ती मान नहीं सकते हैं। इसलिए पर्यायत्व (आदि पद से अन्य पद व्यर्थत्व) की आपत्ति से बचने के लिए उन दोनों में भेद का प्रतिनिधिभूत विशेष को सिद्धान्ती को भी स्वीकार करना पड़ेगा। यहाँ अर्थापत्ति का आकार होगा—विज्ञानानन्दादिनां विशेषवत्त्वं विना भेदशून्यत्वे सति अपर्यायत्वमनुपपन्नम्।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि विज्ञान और आनन्दादि में भेद को सत्य मानने पर एकता प्रतिपादक ''एकधैवानुद्रष्टव्यम्'' (बृ०उ०४—४—२०) श्रुति से जैसे विरोध है वैसे ही विशेष नामक सत्य पदार्थ मानने पर उक्त श्रुति से विरोध है। विज्ञानादि पदों के लक्ष्यार्थ का अभेद होने पर भी वाच्यार्थ के भेद से पर्यायित्वापत्ति का निवारण हो जाने से और व्यावर्त्यों के भेद से (आनन्द पद से व्यावर्त्य दुःख है और विज्ञान पद से व्यावर्त्य अज्ञान है—इस प्रकार से दोनों पदों के व्यावर्त्य भिन्न होने से) अन्य पद वैयर्थ्य की आपत्ति का निवारण हो जाने से उक्त अर्थापत्ति का खण्डन हो गया, क्योंकि अन्यथैवोपपत्ति हो जाने से अर्थापत्ति का खण्डन हो जाता है। किञ्च पूर्वपक्षी के मत में भी विज्ञानत्व और आनन्दत्व रूप शक्यतावच्छेदक के भेद से ही पर्यायत्वापत्ति का निवारण हो जाता है तब उसके निवारण के लिए भेद या विशेष मानने की आवश्यकता ही नहीं है।

ज्ञानानन्दत्वादिनिमित्तभेदादेवापर्यायत्वमस्तु, किं विशेषेण? न च—'एवं धर्मान्' इति श्रुत्या तयोरपि भेदनिषेधात् नैवमिति—वाच्यम्; तर्हि विशेषस्याप्याश्रितत्वेन धर्मतयाऽस्यापि भेदनिषेधात्तेनाप्यनुपपत्तिः।।२।।

न च—ज्ञानत्वानन्दत्वयोरर्थप्रकाशत्वनिरुपाधिकेष्टत्वरूपयोरर्थप्रकाशनिरुपाधिकेष्टरूपाश्रयविशेष आवश्यक इति—वाच्यम्; ज्ञानत्वानन्दत्वयोर्जातिरूपत्वेन उक्तरूपत्वाभावात्। न च—आकाशशब्दाश्रयशब्दयोः प्रवृत्तिनिमित्ताभेदेन पर्यायत्वापत्तिः, तत्परिहाराय विशेषो वाच्य इति—वाच्यम्; पर्यायत्वेऽपि सहप्रयोगस्य व्याख्यानव्याख्येयभावादिनाप्युपपत्तेः। न च—एवं ज्ञानानन्दयोरेकतरपरिशेषेण मोक्षे आनन्दप्रकाशो न

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविनश्यति'' (क०उ० २—१—१४) इस श्रुति के द्वारा विज्ञानत्व और आनन्दत्व के भेद का निषेध कर दिया गया है। अतः विज्ञानत्व और आनन्दत्व रूप शक्यतावच्छेदक के भेद से अपर्यायित्व की उपपत्ति नहीं की जा सकती है। फलतः विशेष को मानकर ही अपर्यायित्व की उपपत्ति हो पायेगी। अतः विशेष को मानना आवश्यक है।

समाधान— तर्हि = यदि विज्ञानत्व —आनन्दत्वादि धर्मों के भेद का निषेध उक्त श्रुति के द्वारा किया गया है—ऐसा मानने पर विशेष भी आश्रित होने के कारण विज्ञान और आनन्द का धर्म ही मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर विज्ञान में रहने वाला जो विशेष उससे आनन्द में रहने वाले विशेष का भेद का उक्त श्रुति के द्वारा निषेध कर दिये जाने से विज्ञान और आनन्द में भिन्न—भिन्न विशेष मानकर भी अपर्यायत्व की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।।२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ज्ञान = अर्थप्रकाश, ज्ञानत्व = अर्थप्रकाशत्व और आनन्द = निरुपाधिक इष्ट, आनन्दत्व = निरुपाधिक इष्टत्व। अर्थप्रकाशत्व और निरुपाधिक इष्टत्व धर्म का आश्रय अर्थ प्रकाश और निरुपाधिक इष्ट है। अर्थप्रकाश और निरुपाधिक इष्ट एक व्यक्ति रूप होने से तद् गत जाति रूप ज्ञानत्व—आनन्दत्व को माना नहीं जा सकता है। जब विशेष मानेंगे तब वे एक व्यक्ति रूप सिद्ध न होकर अनेकव्यक्ति रूप सिद्ध होंगे। तब इसमं ज्ञानत्वादि धर्म की सिद्धि होगी और तब जाकर अर्थप्रकाशादि और ज्ञानत्वादि में धर्मधर्मिभाव की सिद्धि हो पायेगी। अतः उनमें धर्मधर्मिभाव की सिद्धि के लिए विशेष को अवश्य मानना चाहिए।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि वृत्ति रूप अनेक ज्ञानादि व्यक्तियों के होने के कारण ज्ञानत्वादि को जाति रूप मानने में कोई बाधक नहीं है। अतः ज्ञानत्वादि और ज्ञानादि में धर्मधर्मिभाव की सिद्धि के लिए विशेष मानने की आवश्यकता नहीं है। पूर्वपक्षी ने जो अर्थप्रकाशत्वादि जाति कहा, उसको हम नहीं मानते हैं। अतः अर्थप्रकाशत्वादि जाति की उपपत्ति के लिए विशेष मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रवृत्ति निमित्त = ज्ञानत्व—आनन्दत्व जाति के भेद से पर्यायत्वापत्ति का कारण विज्ञानादि स्थल पर हो जाने पर भी आकाश और शब्दाश्रय इन दोनों शब्दों में पर्यायता को रोकने के लिए इन दोनों में भिन्न—भिन्न जाति मान नहीं सकते हो, क्योंकि आकाश में जाति मानी नहीं जाती क्योंकि आकाश एक व्यक्ति रूप है। उक्त दोनों शब्दों के प्रवृत्ति का निमित्त शब्दाश्रयत्व एक ही है। अतः प्रवृत्ति का निमित्त भिन्न—भिन्न न होने से प्रवृत्तिनिमित्त के भेद के माध्यम से भी पर्यायत्व की आपत्ति का वारण नहीं हो पायेगा। अतः आकाश और शब्दाश्रय में पर्यायत्व की आपत्ति का वारण के लिए उन दोनों में भिन्न—भिन्न विशेष मानना पड़ेगा।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि आकाश और शब्दाश्रय ये दोनों पर्यायवाची होने पर ''आकाश शब्दाश्रय'' इस प्रकार से जो सहप्रयोग होता है, वह तो आकाश = व्याख्येय और उसी का व्याख्यान =

स्यादिति—वाच्यम्; तयोर्भेदाभावेन एकतरत्वस्यैवाभावात्, द्वयोर्वचने। तरप्विविधानात्।।३।।

एतेन—शोधिततत्पदार्थादैक्यस्य न भेदः, नापि भेदाभेदौ, किन्त्वत्यन्ताभेदः, एवं च विशेषानङ्गीकारे स्वप्रकाशचैतन्यभाने ऐक्यभानापत्तिः, तत्प्रकाशस्य भेदभ्रमाविरोधित्वेऽप्यैक्यप्रकाशस्य तद्विरोधः, तस्य निरपेक्षत्वेऽपि ऐक्यस्य सापेक्षत्वं च नोपपद्यत इति—निरस्तम्; आवारकाज्ञानकल्पितांशमादाय सर्वस्योपपत्तेः। न च—एकस्या एव शुक्तेरावृतानावृतत्वे शुक्त्यंशभेद एवं स्यादिति—वाच्यम्; तदंशकल्पकस्य फलस्याभावात्। ननु—'एवं धर्मान्'इति श्रुतिरस्तु मानम्, अत्र हि ब्रह्मधर्मानुक्त्वा भेदो निषिध्यते। न च भेदप्रतिनिधेरभावे

सत्यानन्दप्रबोधिका

शब्दाश्रय। इस प्रकार से भी सहप्रयोग की उपपत्ति हो जायेगी।

शङ्का— एवम् – ज्ञान और आनन्द में भिन्न–भिन्न विशेष न मानने पर ज्ञान और आनन्द का स्वरूपतः अभेद हो जायेगा तब मोक्षावस्था में ज्ञान तथा आनन्द में से एकतर परिशेष होने पर अर्थात् ज्ञान न रहे और आनन्द ही केवल रहने पर आनन्द का ज्ञान ही नहीं होगा। ऐसा मानने पर अज्ञात सुख में पुरुषार्थ की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ज्ञान और आनन्द में अभेद होने के कारण मोक्षावस्था के आनन्द में जैसे उभयत्व नहीं माना जाता है वैसे ही एकतरत्व भी नहीं माना जा सकता है क्योंकि ''द्विवचना–विभज्योपपदे तरबीयसुनौ'' (अ०सू० ५–३–५७) इस सूत्र के द्वारा कहा गया कि दो पदार्थों में से किसी एक पदार्थ में अतिशयता दिखाने के लिए ''तरप्'' प्रत्यय किया जाता है। प्रकृत में मोक्षावस्था में एक ही पदार्थ है। अतः जब दो हैं ही नहीं तब उसमें एकतरत्व तो दिखाया ही नहीं जा सकता है। सिद्धान्त में जो ज्ञान स्वरूप है वही आनन्द स्वरूप भी है। अतः अज्ञात सुख की आपत्ति नहीं दी जा सकती है।।३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि शोधित तत्पदार्थ = स्वप्रकाशचैतन्य से महावाक्य जन्य अभेद का न भेद माना जाता है और न ही भेदाभेद, क्योंकि ऐसा मानने पर अभेद में मिथ्यात्वापत्ति आयेगी। अतः स्वप्रकाशचैतन्य से अभेद का अत्यन्त ऐक्य माना जाता है। ऐसी अवस्था में यदि सिद्धान्ती भेद न मानते हुए विशेष को भी नहीं मानेंगे तब उन दोनों (स्वप्रकाशचैतन्य और अभेद) में से एक (चैतन्य) का भान होने पर दूसरे (अभेद) का भी भान हो जायेगा। (कहने का भाव यह है कि अज्ञानी को भी मैं चैतन्य हूँ— ऐसा भान होता है। अतः चैतन्य से अभिन्न अभेद का भी भान हो जायेगा। ऐसा होने पर वेदान्त विचार में व्यर्थतापत्ति आयेगी। उक्त दोनों में विशेष मानने पर उक्त दोष नहीं होगा। अतः विशेष मानना चाहिए।) दूसरा दोष देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि शोधित तत् पदार्थ = स्वप्रकाश चैतन्य भेद भ्रम का अविरोध ी है और महावाक्य जन्य अभेद का प्रकाश भेद भ्रम का विरोधी है— ऐसा सिद्धान्ती मानते है किन्तु ये दोनों बातें नहीं बन पायेगी, क्योंकि दोनों (शोधित तत्पदार्थ और अभेद) में न भेद और न विशेष मानकर आत्यन्तिक ऐक्य मानते हैं। फलतः विशेष न मानने पर उक्त दोनों या तो भ्रम के विराधी होंगे या दोनो ही भ्रम के अविरोधी होंगे। विशेष मानने पर दोष नहीं होगा— यह पूर्वपक्षी का भाव है। तृतीय दोष यह होगा कि शोधित तत्पदार्थ प्रतियोगी–अनुयोगी की अपेक्षा नहीं करता है जबकि अभेद प्रतियोगी–अनुयोगी की अपेक्षा करता है। उक्त दोनों में विशेष न मानकर अत्यन्त ऐक्य मानने पर एक ही वस्तु को सापेक्ष और निरपेक्ष कहना असङ्गत होगा।

समाधान— एतेन निरस्तम्— ऐसा अन्वय करना चाहिए। एतेन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं

धर्मधर्मिभावो धर्माणामनेकत्वं च युक्तमिति—चेन्न; धर्मानित्यस्य निषेधानुवादत्वेन धर्मत्वानेकत्वादौ तात्पर्याभावात्। न च श्रुतितोऽन्यतो ब्रह्मधर्माः प्राप्ताः; आविद्यकमात्रस्य साक्षिसिद्धतया प्राप्तेः।।४।।

ननु—गुणगुणिनोरभेदपक्षे घटोपलम्भे शुक्लाद्यनुपलम्भार्थं भेदाभेदपक्षे तयोरविरोधार्थं अत्यन्तभेदपक्षेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

कि आवरण करने वाला जो अनादि अज्ञान उस अज्ञान से कल्पित जो चैतन्य से आनन्द का अनादि कल्पित भेद है। उस भेद के कारण चैतन्य का ज्ञान होने पर भी अभेद का ज्ञान नहीं होता है। चैतन्य के भ्रम विरोधी न होने पर भी अभेद ज्ञान = अधिष्ठान ज्ञान होने से सकल भ्रम विरोधित्व की उपपत्ति हो जायेगी, क्योंकि अधिष्ठान ज्ञान भ्रम का विरोधी होता ही है। इसी प्रकार चैतन्य के निरपेक्ष होने पर भी अभेद में कल्पित भेद प्रयुक्त सापेक्षत्व की भी उपपत्ति हो जायेगी। इस प्रकार उक्त सभी स्थलों पर उपपत्ति हो जायेगी।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि भ्रम के लिए अधिष्ठान ज्ञान कारण है। अतः रजत भ्रम के लिए शुक्ति को अनावृत मानना पड़ेगा अर्थात् अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान मानना पड़ेगा और अधिष्ठान में आवरण के विना भ्रम नहीं हो सकता है। अतः शुक्ति को आवृत्त भी मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर जैसे चैतन्य और आनन्द एक होने पर भी उनमें जैसे अंश भेद माना गया वैसे ही एक ही शुक्ति में अंश भेद मानना चाहिए।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि चैतन्य का ज्ञान होने पर भी ''पूर्णानन्दं न जानामि'' इत्याकारक व्यवहार से जैसे चैतन्य में अंश भेद की कल्पना की जाती है, वैसे शुक्ति में अंश भेद की कल्पना करने में कोई हेतु नहीं है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''एवं धर्मान्पृथक् पश्यन्'' (क०उ० २—१—१४) यह श्रुति विशेष मानने में प्रमाण है। इस श्रुति के द्वारा ब्रह्म के धर्मों को कहकर के उन धर्मों में पारस्परिक भेद का निषेध किया गया है। भेद का निषेध हो जाने पर भेद का प्रतिनिधि = विशेष को भी उन धर्मों में न मानने पर (ब्रह्म में) धर्मी और धर्मभाव नहीं बनेगा और श्रुतिस्थ '' धर्मान्'' इस प्रकार बहुवचन के द्वारा धर्मों में जो अनेकत्व कहा गया है, वह भी नही बन पायेगा।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि ''धर्मान्'' ऐसा जो उक्त श्रुति में कहा गया है वह तो आत्म धर्मों को निषेध करने के लिए लोक प्रसिद्ध आत्म धर्मों का अनुवाद मात्र किया गया है। उन धर्मों को आत्मा का धर्म बतलाने में और धर्म अनेक हैं— यह बतलाने मे श्रुति का तात्पर्य नहीं हैं। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि श्रुति प्रमाण से भिन्न प्रत्यक्षादि प्रमाण से ब्रह्म के धर्मों की प्राप्ति सम्भव न होने से उन धर्मों का अनुवाद नहीं हो सकता है। उसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि संसार के सभी आविद्यक पदार्थ साक्षिभास्य है। ऐसे ही ब्रह्म के धर्म भी आविद्यक होने के कारण साक्षिभास्य है। अतः श्रुति से भिन्न साक्षी से धर्मों की प्राप्ति है। इसलिए उनका अनुवाद श्रुति के द्वारा किया ही जा सकता है। ''ब्रह्म— धर्माऽप्राप्ताः'' के स्थान पर ''ब्रह्मधर्माः प्राप्ताः'' ऐसा पाठान्तर मिलता है जो कि न्यायामृत के अनुसार ठीक नहीं है।।४।।

शङ्का— गुणगुणिनोरभेदपक्षे घटोपलम्भे शुक्लाद्यनुपलम्भार्थे विशेषोऽङ्गीकार्यः— ऐसा अन्वय करना चाहिए। अर्थात् जिन लोगों के मत में गुण गुणी अभिन्न है। उनके मत में गुणी (घट) की उपलब्धी होने पर भी उसका गुण जो शुक्ल रूप उसकी भी उपलब्धी होनी चाहिए किन्तु कदाचित् जो उस घट के गुण = शुक्ल रूप की उपलब्धी नहीं हो रही हैं। उसके लिए घट (गुणी) और शुक्ल रूप (गुण) में भिन्न भिन्न विशेष मानना चाहिए, क्योंकि अभेदवादी भेद को मानकर के उक्त अनुपपत्ति का निवारण नहीं कर सकता है। (२) गुणगुणिनोः भेदाभेदपक्षे तयोरविरोधार्थं विशेषोऽङ्गीकार्यः— ऐसा अन्वय कर लेना चाहिए। जिस मत

समवायः सम्बन्धः सत्ता सती, अन्त्यविशेषो व्यावृत्तः कालः सदास्ति, देशः सर्वत्रास्तीत्यबाधितव्यवहारार्थं विशेषोऽङ्गीकार्यः, अभावादावप्यस्तित्वादिर्नाभावादितो भिन्नः, गुणादिष्वनन्तर्भावेन षडेव पदार्था इति नियमभङ्गापत्तेः,

सत्यानन्दप्रबोधिका

में गुण और गुणी में भेद और अभेद माना जाता है उनके मत में भेद और अभेद में जो एकत्र रहने में प्रसिद्ध विरोध है। उस विरोध का परिहार (अविरोध) के लिए गुण और गुणी में भिन्न–भिन्न विशेष स्वीकार करना चाहिए। (३) गुणगुणिनोरत्यन्तभेदपक्षेऽपि समवायसम्बन्धः इत्यबाधिव्यवहारार्थं विशेषोऽङ्गीकार्यः– ऐसा अन्वय करना चाहिए। समवाय से भिन्न संयोगादि सम्बन्ध में यह देखा जाता है कि वे सभी सम्बन्ध अपने सम्बन्धी में किसी सम्बन्ध से रहने हैं जब कि समवाय में यह देखा जा रहा है वह समवायी में विना किसी सम्बन्ध से ही रहता है फिर भी समवाय को जो सम्बन्ध कहा जाता है। उसकी उपपत्ति के लिए यह अवश्य मानना पडेगा कि संयोग में रहने वाले विशेष से भिन्न ही कोई विशेष समवाय में रहता है। (४) सत्ता सती इत्यबाधितव्यवहार्थः विशेषोऽङ्गीकार्यः– ऐसा अन्वय करना चाहिए। जिसमें सत्ता रहती है–वह सत् है–ऐसा सत्ता भिन्न घटादि स्थल पर देखा गया है किन्तु सत्ता में सत्ता के न रहने पर भी ''सत्ता सती'' ऐसा जो अबाधित व्यवहार नहीं होना चाहिए था किन्तु होता है। इस व्यवहार की उपपत्ति के लिए घटादि में रहने वाले विशेष से अतिरिक्त कोई विशेष सत्ता में रहता है– ऐसा मानना चाहिए। (५) अन्त्यविशेषो व्यावृत्तः इत्यबाधितव्यवहारार्थं विशेषोऽङ्गीकार्यः– ऐसा अन्वय करना चाहिए। परमाणु आदि नित्यपदार्थ में यह देखा गया है कि उसमें एक अन्त्यविशेष रहने के कारण वह परमाणु इतर से व्यावृत्त होता है किन्तु अन्त्यविशेष में कोई दूसरा अन्त्यविशेष न रहने पर भी एक अन्त्यविशेष दूसरे अन्त्यविशेष से व्यावृत्त नहीं होना चाहिए किन्तु व्यावृत्त है–ऐसा अबाधित व्यवहार होता है। उसकी उपपत्ति के लिए प्रत्येक अन्त्यविशेषो में भिन्न–भिन्न विशेष मानना चाहिए। (६) कालः सदास्ति इत्यबाधित व्यवहारर्थं विशेषोऽङ्गीकार्यः–ऐसा अन्वय करना चाहिए। अर्थात् ''घटः इदानीमस्ति'' ऐसा जो व्यवहार होता है, वह इसलिए कि घट इस काल में है किन्तु काल में काल न रहने के कारण काल सर्वकाल में है–ऐसा व्यवहार जो नहीं होना चाहिए था किन्तु ऐसा अबाधित व्यवहार होते हुए देखा जाता है। उसके लिए काल में कोई विशेष मानना पड़ेगा जो कि घटादि मे रहने वाले विशेष से भिन्न हो। (७) देशः सर्वत्रास्तीत्यबाधितव्यवहारार्थं विशेषोऽङ्गीकार्यः – ऐसा अन्वय करना चाहिए। अर्थात् ''घटोऽत्र देशेऽस्ति'' ऐसा जो व्यवहार होता है, वह इसलिए कि घट इस देश में है किन्तु देश में देश न रहने के कारण देश सब देश में है–ऐसा व्यवहार जहाँ नहीं होना चाहिए वहाँ ऐसा अबाधित व्यवहार होते हुए जो देखा जाता है। उसकी उपपत्ति के लिए देश में भी कोई एक विशेष मानना पड़ेगा जो कि घटादि में रहने वाले विशेष से भिन्न हो। (८) ''अभावोऽस्ति'' इत्यादि व्यवहारों से सिद्ध जो अभावादि गत अस्तित्व है। उस अस्तित्व को अभावादि रूप अधिकरण से भिन्न नहीं मान सकते हैं। भिन्न मानने पर गुणादि में भी अस्तित्व रहने के कारण अस्तित्व को गुणादि से भिन्न मानना पड़ेगा तब ''षडेव भावपदार्थाः'' अर्थात् ''द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाय'' यह छः ही भाव पदार्थ होते हैं–इस नियम के भङ्ग होने की आपत्ति होगी। ''षडेव भावपदार्थाः'' इस नियम को जो लोग नहीं मानते हैं, उनके मत में भी ''अस्तित्वमस्ति'' ऐसा जो व्यवहार होता है। उसके बल पर अस्तित्व में भी अस्तित्वान्तर है–ऐसा स्वीकार करने पर अनवस्थापत्ति होगी। इस अनवस्था को परिहार करने के लिए यह मानना पडेगा कि घटादि में रहने वाले विशेष से पृथक् अस्तित्व में एक ऐसा विशेष है कि जिसके कारण अस्तित्व में अस्तित्व न रहने पर भी ''अस्तित्वमस्ति'' ऐसा व्यवहार हो जाता है। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने स्वनिर्वाहक पदार्थ (समवाय सत्ता

अनियमपक्षेऽप्यस्तित्वेऽप्यस्तित्वान्तरमित्यनवस्थापत्तेः, तत्रापि सोऽङ्गीकार्य इति—चेत्।।५।।

न; स्वभावविशेषादेव सर्वस्योपपत्तेः। न च—तर्हि विशेषस्याङ्गीकारेण मन्मतप्रवेश इति—वाच्यम्; तत्तदसाधारणस्वरूपस्यैव स्वभावविशेषशब्दार्थत्वेन त्वदुक्तविशेषानुक्तेः, तत्तदसाधारणरूपेण समवायादेः स्वनिर्वाहकत्वात्। अत एव— स्वनिर्वाहकत्वं हि स्वकर्मकनिर्वहणकर्तृत्वम्, तच्चैकस्मिन्विरुद्धमिति तदुपपादनायापि विशेषाङ्गीकार इति—निरस्तम्; स्वनिर्वाहकशब्दस्य स्वेतरानपेक्षव्यवहारविषयत्वमात्रार्थकत्वात्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

काल देश अस्तित्व अन्त्यविशेष) के स्वनिर्वाहकत्व की उपपत्ति के लिए उनमें विशेष माना। समवायादि को स्वनिर्वाहक इसलिए कहते हैं कि जैसे समवाय घट और घटत्व में रहकर घटत्व और घट के सम्बन्ध का उपपादन करता हुआ स्वयं भी एक सम्बन्ध है—इसका भी उपपादन कर देता है।।५।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने जितनी अनुपपत्ति दिखायी है। उन सबकी उपपत्ति समवायादि पदार्थों के भिन्न—भिन्न स्वभाव विशेष के बल पर ही हो जायेगी, उन पदार्थों में भिन्न—भिन्न विशेष मानने की कोई भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के सामने जब प्रश्न होगा कि विशेष में कौन विशेषता है कि वह उक्त अनुपपत्तियों के निवारण में समर्थ होता है? इसके उत्तर में यदि पूर्वपक्षी विशेष में विशेष मानेंगे तब अनवस्थादि दोष होगा। अतः पूर्वपक्षी को भी यही कहना होगा कि विशेष का ऐसा स्वभाव है जिसके बल पर उक्त अनुपत्तियों का निवारण कर देता है। अतः जब स्वभाव ही मानना है तब उक्त समवायादि पदार्थों में विशेष पदार्थ की कल्पना कर के पुनः स्वभाव मानने की अपेक्षा पहले ही उक्त समवायादि पदार्थो के स्वभाव को मानकर उक्त अनुपपत्तियों का निवारण करने में लाघव है।

शङ्का— तर्हि = उक्त प्रकार से स्वभाव विशेष शब्द से विशेष को अङ्गीकार करने पर, सिद्धान्ती ने पूर्वपक्षी के मत को मान लिया।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि समवाय—सत्ता—देशकालादि का जो अन्यों से भिन्न जो स्वरूप है, उस स्वरूप को स्वभाव विशेष शब्द से कहा जा रहा है। ऐसे स्वभाव विशेष को पूर्वपक्षी के मत में विशेष शब्द से कहा नहीं जाता है। अतः पूर्वपक्षी के मत में प्रवेश की आपत्ति नहीं होगी। तत्तद् असाधारण स्वरूप से समवायादि स्व निर्वाहक होते है। अर्थात् जैसे सत्ता अपने से भिन्न घटादि में रहकर ''घटः सन्'' ऐसे व्यवहार का उपपादन कर देती है वैसे ही अपने में न रहने पर भी ''सत्ता सत्ती'' ऐसे व्यवहार का उपपादन कर देती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का यह जो कथन है स्वनिर्वाहकत्व = स्वयं ही जिस निर्वहण क्रिया का कर्ता है, उसी निर्वहण क्रिया का स्वयं ही कर्म हो। उसी को स्वनिर्वाहक मानने पर कर्मकर्तृभाव विरोध होगा। इस विरोध के निवारण के लिए और समवायादि में स्वनिर्वाहकत्व के उपपादन के लिए विशेष पदार्थ मानना आवश्यक है।

समाधान— अत एव (विशेषानङ्गीकारादेव) निरस्तम् — ऐसा अन्वय करें। सिद्धान्ती का कथन है कि अपने से भिन्न दूसरे की अपेक्षा न रखकर जो व्यवहार का विषय बनता है। उसी को स्वनिर्वाहक कहा जाता है। अन्यथा = स्वनिर्वाहक का उक्त अर्थ न मानने पर, पूर्वपक्षी द्वारा अङ्गीकृत विषय = विशेष के सम्बन्ध में प्रश्न पूछा जा सकता है कि भेद के जैसे ही विशेष भी क्या अधिकरण स्वरूप है? अथवा अधिकरण से भिन्न है? द्वितीय पक्ष मानने पर दोष देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अधिकरण में रहने वाला विशेष जब अधिकरण से भिन्न है, तब उस विशेष में स्वनिर्वाहकत्व की सिद्धि के लिए पूर्वपक्षी के कथन (तदुपपादनायापि विशेषाङ्गीकारः) के अनुसार समवायादि में जैसे स्वनिर्वाहकत्व के लिए एक विशेष मानते

अन्यथा विशेषोऽप्यनवस्थाभिया वस्त्वभिन्न इति तवाङ्गीकारेण तद्दूषणापातात्, स्वरूपभेदपक्षोक्तैकतर-परिशेषादिदूषणतादवस्थ्यापत्तेश्च। न च- अन्त्यविशेषवदस्य धर्मिग्राहकमानेन तादृक्स्वभावतया सिद्धेः पर्यनुयोगायोग इति-वाच्यम्; दृष्टान्त इव दर्ष्टान्तिके स्वरूपातिरेकस्य त्वयैवानङ्गीकारेण वैषम्यात्।।६।।

यत्तु यत्रैव भेदाभावोभेदकार्यं च प्रमितं, तत्रैव विशेषः कल्प्यते, नतु प्रमितभेदे घटपटादौ विशेषमादाय

सत्यानन्दप्रबोधिका

हो वैसे ही उस विशेष में भी स्वनिर्वाहकत्व की सिद्धि के लिए दूसरा विशेष और दूसरे विशेष के स्वनिर्वाहकत्व की सिद्धि के लिए तीसरा विशेष-इस प्रकार से अनवस्था आयेगी। इस दोष से बचने के लिए प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर अर्थात् वस्त्वभिन्न = विशेष अधिकरण स्वरूप है-ऐसा मानने पर घटादि और विशेष में पर्यायत्व की आपत्ति होगी और भेद को अधिकरण स्वरूप मानने के पक्ष में जो एकतरपरिशेषादि दूषण कहे गये थे। वे भी आयेंगे। उसका निरूपण ''विशेषतो भेदखण्डनविचारः'' के खण्ड संख्या २० में किया जा चुका है।

शङ्का- पूर्वपक्षी का कथन है कि वैशेषिक मत में ''विशेषस्य अन्त्यत्वं विना अनवस्थापरिहारमनुपपन्नम्'' इस प्रकार अन्त्यविशेष रूप धर्मी ग्राहक अर्थापत्ति प्रमाण से अन्त्यविशेष की जैसे सिद्धि होती है ठीक उसी प्रकार से माध्व सम्मत विशेष की भी विशेषरूप धर्मिग्राहक उक्त अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्धि हो जायेगी। इस प्रकार से स्वनिर्वाहकत्व स्वभाव वाले विशेष की सिद्धि हो जाने पर सिद्धान्ती पूर्वोक्त प्रकार से विशेष के विषय में विकल्प (विशेष धर्मी स्वरूप है या धर्मी से भिन्न है? इत्यादि विकल्प) उठाकर दोष नहीं दे सकते हैं?

समाधान- उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त = वैशेषिक सम्मत अन्त्यविशेष जैसे धर्मी से अतिरिक्त माना जाता है वैसे ही दार्ष्टान्त = माध्वमत में विशेष को धर्मी के स्वरूप से अतिरिक्त नहीं माना जाता है। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। वस्तुतः रूपादि की धर्मी के व्यावर्तक हो जायेगे। अतः धर्मी के व्यावर्तन के लिए अन्त्यविशेष जो वैशेषिक मत में माना गया है। उसमें प्रमाणाभाव है। अतः अन्त्यविशेष को दृष्टान्त ही नहीं बनाया जा सकता है। फलतः अन्त्य विशेष के सहारे माध्व मत स्वपक्षोक्त दोषों का निराकरण नहीं कर सकता है।।६।।

शङ्का- पूर्वपक्षी का कथन है कि जहाँ घटादि में भेदाभावः = पट भेद का भेद प्रमित नहीं है किन्तु भेद का कार्य = ''घटः पटात् भिन्नः'' ऐसा व्यवहार प्रमित है। वही पर घट में विशेष रहता है और जहाँ घटादि में पद का भेद प्रमित है, वहाँ पर विशेष नहीं माना जाता है। वहाँ तो भेद ही माना जाता है। अर्थात् वहाँ पर विशेष को मानकर भेद का परित्याग नहीं किया जा सकता है, क्योंकि भेद वहाँ प्रमित है। पूर्वपक्षी के कथनानुसार भेद मुख्य हैं और विशेष गौण है जब मुख्य भेद प्रमित नहीं हो रहा है तब वहाँ सहायक (गौण) विशेष को मान लिया जाता है। इसको दृष्टान्त के माध्यम से स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे सोमयाग में सोम लता के प्रमित न होने पर अर्थात् सोमलता के न मिलने पर उसका सहायक लता अर्थात् उसकी प्रतिनिधिभूत लता = पूतीक लता का उपयोग किया जाता है। इसको स्पष्ट करते हुए श्री शबरस्वामी ने शाबर भाष्य ६-३-१४ में कहा है- यदि सोमं न विन्देत् पूतीकानभिषुणुयात्। कहने का भाव यह है जब सोम याग में सोमलता रूप मुख्य द्रव्य विद्यमान है तब सोमलता से ही सोमयाग होगा गौण द्रव्य = पूतीक लता से सोमयाग नहीं होगा। सोमलता के न रहने पर पूतीकलता को स्वीकार किया जाता है। ठीक इसी प्रकार प्रकृत में भी भेद रूप प्रधान के प्रमित होने पर भेद को स्वीकार कर के भेद व्यवहार किया जाता है और भेद रूप प्रधान के प्रमित न होने पर भेद के प्रतिनिधिभूत विशेष को स्वीकार कर के भेद

भेदत्यागः, नहि सोमाभावे पूतीक इति तल्लाभेऽपि स इति, तन्न; मुख्यत्वनियामकस्य तत्रेवात्राभावाद् विशेषभेदयोरुयोरपि स्वरूपपर्यवसन्नत्वेन त्वद्वाग्भङ्गेरनवकाशात्। किञ्च भेदः स्वयमेव स्वकार्यं करोतु, अभेदकार्यार्थं तत्प्रतिनिधिरस्त्वित्याद्यापत्तेश्च। न चानन्दादावभेदवद् भेदस्य बोधाभावः अलौकिकस्थले द्वयोः साम्यात्।।७।।

ननु—अनुमानमत्र मानम्, तथाहि—ब्रह्मस्वरूपभूतयोर्विज्ञानानन्दयोर्ब्रह्माभेदयोश्च एकतरपरिशेषाभावः,

सत्यानन्दप्रबोधिका

के कार्य रूप व्यवहार का उपपादन किया जाता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सोमलता प्रधान है और पूतिक लता गौण है— इसमें श्रुति प्रमाण है किन्तु भेद प्रधान है और विशेष गौण है—इसमें कोई प्रमाण नहीं है। अपितु भेद और अन्त्यविशेष दोनों ही वस्तु के स्वरूप मात्र ही सिद्ध होते हैं। (कहने का भाव है कि घटादि से पृथक् भेद या विशेष को मानने पर अनवस्थादि दोष होगा। अतः घटादि स्वरूप ही भेद और विशेष को माना गया है। इसे पीछे स्पष्ट किया जा चुका है।) जब घटादि के स्वरूप से पृथक् भेद या अन्त्यविशेष सिद्ध ही नहीं हो रहे हैं तब भेद प्रधान है और अन्त्यविशेष गौण है—यह सब कहना प्रलाप मात्र है। किञ्च भेद स्वयं ही स्वकार्य करे और अभेद के कार्य सम्पादन करने के लिए अभेद का प्रतिनिधि रूप भेद को क्यों न मान लिया जाय? (कहने का भाव यह है कि खण्ड संख्या ४ में कहा था— ''विशेषानङ्गीकारे स्वप्रकाशचैतन्यभाने ऐक्यभानापत्तिः।'' अर्थात् शोधित तत्पदार्थ के अभेद का कार्य = शोधित तत्पदार्थ (स्वप्रकाशचैतन्य) का भान होने पर ऐक्य का भान होना चाहिए। यहाँ पर जो एक का भान होने पर दूसरे का भान नहीं होता है। उसके लिए उन दोनों (स्वप्रकाशचैतन्य और ऐक्य) में अभेद न मानकर अभेद का प्रतिनिधि काल्पनिक भेद रहता है—ऐसा मानने की आपत्ति पूर्वपक्षी को आयेगी। जब कि पूर्वपक्षी ऐसे स्थल पर विशेष मान रहा था। उसका खण्डन हो गया।) पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि विज्ञान और आनन्द में जैसे अभेद का ज्ञान श्रुति से है वैसे उक्त दोनों में भेद का ज्ञान श्रुति से नहीं है। यही भेद को अभेद का प्रतिनिधि मानने में बाधक है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जहाँ विज्ञान और आनन्द इन दोनों में न तो भेद प्रत्यक्ष है और न विशेष ही प्रत्यक्ष है। अतः दोनों में ही अप्रत्यक्षत्व है और दोनों में ही कल्पना योग्यत्व है। अतः इन दोनों में से कल्पित भेद ही कल्पना न करके विशेष की ही कल्पना की जाय—ऐसा कथन उचित नहीं है।।७।।

शङ्का— पूर्वपक्षी विशेष पदार्थ की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण प्रस्तुत कर रहा है। प्रथम अनुमान—(१)ब्रह्मस्वरूपभूतयोः विज्ञानानन्दयोः एकतरपरिशेषाभावः, भेदान्यनियम्यम् भेदानियम्यत्वे सति नियम्यत्वात्, यद् यदनियम्यत्वे सति नियम्यम्, तत् तदन्यनियम्यम्, यथा सम्मतम्। अथवा (२) ब्रह्माभेदयोः एकतरपरिशेषाभावः, भेदान्यनियम्यम्, भेदानियम्यत्वे सति नियम्यत्वात्, यद् यदनियम्येत्वे सति नियम्यम्, तत् तदन्यनियम्यम्, यथा सम्मतम्। अथवा (३) प्रमेयत्वादेः स्वाश्रितत्वादिकं भेदान्यनियम्यम्, भेदानियम्यत्वे सति नियम्यत्वाद्, यद् यदनियम्यत्वे सति नियम्यम्, तत् तदन्यनियम्यम्, यथा सम्मतम्।। कहने का भाव यह है कि प्रथम अनुमान के जो तीन भाग है। उनमें केवल पक्ष भिन्न—भिन्न है किन्तु साध्य और हेतु तथा दृष्टान्त एक ही है। एक ही साध्यादि होने से एक ही अनुमान माना गया है। जब प्रथम अनुमान के एक नम्बर का पक्ष लेगे तब अर्थ होगा कि जब विज्ञान और आनन्द एकार्थक हैं तब जहाँ विज्ञान शब्द बोलना है वहाँ आनन्द पद का प्रयोग करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। (जैसे जहाँ ''अयं सूर्यः'' बोलना है वहाँ ''अयं रविः'' बोलने में कोई आपत्ति नहीं होती है।) अर्थात् एकतर परिशेष होना चाहिए किन्तु जो एकतरपरिशेष नहीं है। उसके लिए कोई नियामक मानना होगा। भेद तो इसका (नियम्य = विज्ञान और

प्रमेयत्वादेः स्वाश्रितत्वादिकं वा भेदान्यनिम्यम्, भेदानियम्यत्वे सति नियम्यत्वात्, यद् यदनियम्यत्वे सति नियम्यं तत् तदन्यनियम्यम्, यथा सम्मतम्।।८।।

ब्रह्मस्वरूपभूतं विज्ञानानन्दादिकं वा, भेदान्यैकतरापरिशेषनिर्वाहकवत्, भेदहीनत्वे सति

सत्यानन्दप्रबोधिका

आनन्द के एकतर परिशेषाभाव का) नियामक हो नहीं सकता क्योंकि विज्ञान और आनन्द में भेद तो नहीं है। इसलिए भेद से भिन्न ही कोई नियामक मानना होगा। जो नियामक होगा वही विशेष पदार्थ है। इस प्रकार से पक्ष पर साध्य बैठेगा। पक्ष में हेतु का समन्वय = विज्ञान और आनन्द के एकतरपरिशेषाभाव रूप नियम्य का नियामक भेद तो होता नहीं है फिर भी नियम्य है। अतः उक्त नियम्यत्व रूप हेतु पक्ष में बैठ जायेगा। दृष्टान्त में व्याप्ति का समन्वय — यद् यदनियम्यत्वे सति नियम्यम्, तत् तदन्यनियम्य्। यत् = स्वर्ग, यत् = याग से अनियम्य (अजन्य = क्योंकि स्वर्ग के अव्यवहित पूर्व में याग नहीं है।) होता हुआ किसी न किसी के द्वारा नियम्य (जन्य) होता है। तत् = स्वर्ग, तत् = याग से अन्य = अदृष्ट (अपूर्व) रूप नियायक से नियम्य (जन्य) है। इस प्रकार दृष्टान्त में व्याप्ति का समन्वय हो जायेगा। प्रथम अनुमान का दो नम्बर का पक्ष लेगे तब भी दृष्टान्त में व्याप्ति उक्त प्रकार से समन्वय होगी। पक्ष में हेतु का समन्वय — ब्रह्म और अभेद के एकतर परिशेषाभावरूप नियम्य का नियामक भेद तो होता नहीं है फिर भी ब्रह्म और अभेद का एकतरपरिशेषाभाव रूप नियम्य है। अतः उक्त नियम्यत्व रूप हेतु पक्ष में चला जायेगा। पक्ष में साध्य का समन्वय—जब ब्रह्म अभेद एकार्थक हैं तब जहाँ ब्रह्म शब्द बोलना है वहाँ अभेद पद का प्रयोग करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अर्थात् एकतर परिशेष होना चाहिए किन्तु जो एकतरपरिशेष नहीं होता है। उसके लिए कोई नियामक मानना होगा। भेद तो इसका (नियम्य = ब्रह्म और आनन्द के एकतरपरिशेषाभाव का) नियामक हो नहीं सकता है, क्योंक ब्रह्म और अभेद में भेद माना नहीं जाता है। अतः भेद से भिन्न ही कोई नियामक मानना होगा। जो नियामक होगा वही विशेष पदार्थ है। प्रथम अनुमान का तृतीय नम्बर का पक्ष लेंगे तब भी दृष्टान्त में उक्त प्रकार से व्याप्ति का समन्वय होगा। पक्ष में हेतु का समन्वय—प्रमेयत्व को केवलान्वयी धर्म मानने के लिए प्रमेयत्व में भी प्रमेयत्व माना जाता है—ऐसा मानने पर स्ववृत्तिविरोधा होना चाहिए किन्तु स्ववृत्ति विरोध नहीं है। (यहाँ स्ववृत्तिविरोधाभाव = नियम्य है।) इस नियम्य का नियामक भेद तो हो नहीं सकता है, क्योंकि प्रमेयत्व में प्रमेयत्व का भेद मानने पर प्रमेयत्व सवर्त सिद्ध नहीं हो पायेगा जब कि प्रमेयत्व केवलान्वयी धर्म है। फलतः भेद से अन्य नियामक से नियम्य = प्रमेयत्व। अतः उक्त नियम्यत्वरूप हेतु पक्ष में चला जायेगा। पक्ष में साध्य का समन्वय —जब प्रमेयत्व में प्रमेयत्व मानने पर स्ववृत्ति विरोध होना चाहिए किन्तु उक्त विरोध नहीं होता है। इसके लिए कोई नियामक मानना पड़ेगा। भेद इसका नियामक हो नहीं सकता है क्योंकि प्रमेयत्व में प्रमेयत्व का भेद नहीं माना जाता है। फलतः भेद से भिन्न ही कोई नियामक मानना होगा। जो नियामक होगा, वही विशेष पदार्थ है।।८।।

पूर्वपक्षी के द्वारा विशेष की सिद्धि के लिए द्वितीय अनुमान किया जा रहा है—ब्रह्मस्वरूपभूतविज्ञानानन्दादिक भेद से अन्य जो एकतर के परिशेष का निर्वाहक तादृश निर्वाहक वाला है, क्योंकि भेद से रहित होते हुए भी एकतरापरिशेषतारूप निर्वाह्यवाला है। जो जिससे रहित होकर जिस निर्वाह्यवाला होता है, वह उससे भिन्न किसी निर्वाहक वाला होता है। सम्मतवत्। अर्थात् ब्रह्मस्वरूपभूत जो विज्ञान और आनन्दादि हैं। ये दोनों जब अभिन्न हैं। तब एकतर परिशेष होना चाहिए था, वहाँ जो एकतरपरिशेष का अभाव है अर्थात् एकतर अपरिशेष है, उस एकतर अपरिशेष रूप निर्वाह्य का निर्वाहक भेद से भिन्न कोई दूसरा (विशेष) ही है—यह

एकतरापरिशेषरूपनिर्वाह्यवत्त्वात्, यद्येन हीनत्वे सति यन्निर्वाह्यवत्, तत्तदन्यतद्निर्वाहकवत्, यथा सम्मतम्।।९।।

स्वाश्रितं प्रमेयत्वादिकं वा, भेदान्याश्रयाश्रयिभावनिर्वाहकवत्, भेदहीनत्वे सत्याश्रयाश्रयि–भावरूपनिर्वाह्यवत्त्वात्, यथा सम्मतमित्यादिकमिति–चेन्न; त्वदभिमतविशेषादन्यस्यैवाविद्यादेः सर्वत्र नियामकत्वसम्भवेनार्थान्तरात्, आविद्यकभेदनियम्यत्वेन बाधादसिद्धेश्च।।१०।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

साध्य का अर्थ है। दृष्टान्त की व्याख्या = अग्नि में दाहकत्व प्रसिद्ध है किन्तु जब अग्नि के पास में चन्द्रकान्तमणि रख दी जाती है तब उस अग्नि में अदाहकत्व आ जाता है किन्तु अग्नि में जो प्रसिद्ध दाहकत्व है, वह इस समय क्यों नहीं है। उसका निर्वाहक कोई न कोई मानना होगा। वह निर्वाहक अग्निभेद हो नहीं सकता है। अर्थात् उक्त परिस्थिति में अग्नि में अग्निभेद है– इसलिए अग्नि में अदाहकत्व है–ऐसा माना नहीं जा सकता है। इसलिए उस अग्नि भेद से भिन्न प्रतिबन्धक (चन्द्रकान्तमणि) को ही अग्निनिष्ठ अदाहकत्व (निर्वाह्य) का निर्वाहक माना जाता है। ऐसे ही पक्ष में भेद से भिन्न उक्त एकतर अपरिशेषरूप निर्वाह्य का निर्वाहक विशेष सिद्ध हो जायेगा। (मूलार्थ को ऐसे समन्वय करें–यत् = अग्नि, येन = अग्निभेदन रहितत्वे सति यत् = अदाहकत्व रूप निर्वाह्य वाला = अग्नि, तत् = अग्नि, तत् = अग्नि भेद से, अन्य = प्रतिबन्धक (चन्द्रकान्तमणि) रूप निर्वाहक से युक्त = अग्नि)।।९।।

पूर्वपक्षी के द्वारा विशेष की सिद्धि के लिए तृतीय अनुमान किया जा रहा है– स्व (प्रमेयत्व) में आश्रित प्रमेयत्व, प्रमेयत्व में प्रमेयत्व के भेद से अन्य जो आश्रयाश्रयिभाव का निर्वाहक तादृश निर्वाहकवाला है, क्योंकि भेद से रहित होकर आश्रयाश्रयिभाव रूप निर्वाह्य वाला होता है। जैसे कि घटाद्याधारतादिमत्कपालादिकम्। अर्थात् समवाय सम्बन्ध से घट की आधारता वाला जो है वही कपाल है। यहाँ उक्त घट की आधारता वाला पदार्थ और कपाल में भेद नहीं है किन्तु इनमें आश्रयाश्रयिभाव कहा जा रहा है। इस आश्रयाश्रयिभाव रूप निर्वाह्य का निर्वाहक भेद से अन्य आधेयता–आधारता रूप निर्वाहक को माना जाता है। इसी प्रकार प्रमेयत्व में प्रमेयत्व का भेद नहीं है किन्तु यहाँ पर भी आश्रयाश्रयिभाव रूप निर्वाह्य दिखायी दे रहा है। इस लिए यहाँ भी निर्वाहक कोई न कोई मानना होगा। जो निर्वाहक होगा वही विशेष पदार्थ है।

समाधान :– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी जिस स्वाभिमत विशेष पदार्थ को मानकर उक्त स्थलों पर निर्वाहकत्व की उपपत्ति कर रहा है। उस विशेष पदार्थ को न मानकर अविद्या और अविद्या से कल्पित धर्मधर्मिभाव–आश्रयाश्रयिभाव को मानकर निर्वाहकत्व की उपपत्ति हो जाने से उक्त अनुमानों में सिद्धसाधनता दोष है और उक्त अनुमानों से विशेष पदार्थ सिद्ध न होकर अविद्यादि की सिद्धि होने से अर्थान्तरता भी है। साध्य कोटि में जो पूर्वपक्षी ने भेदान्य कहा है। वहाँ पर पूर्वपक्षी का तात्पर्य था कि भेद से अन्य के द्वारा नियम्य हैं जबकि उक्त तीनों अनुमानों के पक्ष ही आविद्यक भेद के द्वारा नियम्य हैं। अतः तीनों पक्षों में साध्य का बाध है। जो प्रथम हेतु में ''भेदानियम्यत्वे सति'' और द्वितीय तृतीय हेतु में ''भेद हीनत्वे सति'' ऐसा विशेषण दिया गया था। उस विशेषण भाग का पक्ष में अभाव है, क्योंकि तीनों पक्षों में आविद्यक भेद है। अतः उक्त अनुमान में विशेषणासिद्धि नामक हेत्वाभास दोष है।।१०।।

शङ्का– तथापि = पूर्वोक्त अनुमान विशेष पदार्थ में प्रमाण न सिद्ध होने पर भी, विशेष पदार्थ की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैसे ''तन्तुः पटः'' इत्यादि ज्ञान में ''घटः पटभिन्नः'' इत्यादि ज्ञान से जो वैलक्षण्य अनुभूत होता है। (अर्थात् ''घटः पटभिन्नः'' इस ज्ञान में जो धर्म वर्तमान नहीं है तादृश धर्म ''तन्तुः पटः'' इस ज्ञान में है ऐसा अनुभव होता है। वह धर्म कौन है? इसके उत्तर में पूर्वपक्षी कहेगा कि वह धर्म विशेष

ननु—तथापि प्रत्यक्षमत्र मानम्, तथाहि—तन्तुपटादिबुद्धीनां भिन्नघटादिबुद्धितो वैलक्षण्यं तावदनुभूयते, तच्च न तावत्सम्बन्धविषयत्वेन; कुण्डबदरादिबुद्धितो वैलक्षण्यानुभवात्, नापि संयोगान्यसम्बन्धविषयत्वेन; घटतज्ज्ञानतदभावबुद्धितोऽपि वैलक्षण्यानुभवात्, नापि स्वरूपप्रत्यासत्तिसंयोगान्यसम्बन्धविषयत्वेन; घटतद्धर्मिकान्योन्याभावबुद्धेर्घटपटादिबुद्धितो वैलक्षण्याभावापातात्।११॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

पदार्थ है किन्तु सिद्धान्ती विशेष पदार्थ मानते नहीं हैं। अतः सिद्धान्ती विशेष पदार्थ से भिन्न किसी पदार्थ को कहेंगे। यहाँ जिस—जिस पदार्थ को सिद्धान्ती कह सकते हैं। उस उस पदार्थ का उत्थापन करके पूर्वपक्षी खण्डन करते हुए कह रहा है कि) यदि कहा जाए ''तन्तुः पटः'' इस ज्ञान में तन्तु के साथ पट के सम्बन्ध का बोधन हो रहा है और ''घटः पटभिन्नः'' इस ज्ञान में घट के साथ पट भेद के संसर्ग का बोधन नहीं हो रहा है, क्योंकि पट भेद अधिकरण स्वरूप होने से घट स्वरूप ही है। जब कि सम्बन्ध दो में होता है। अतः उक्त वैलक्षण्य का अनुभव सम्बन्धविषयकत्वेन है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त वैलक्षण्य सम्बन्ध विषयत्वेन नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ''तन्तुः पटः'' इस ज्ञान में ''इह कुण्डे बदराणि'' इस ज्ञान से वैलक्षण्य का अनुभव होता है। इन दोनों ज्ञानों में समान रूप से सम्बन्ध भासित हो रहा है। अतः सम्बन्ध विषयकत्वेन इन दोनों ज्ञानों में वैलक्षण्य की उपपत्ति नहीं को जा सकती है। यदि कहा जाय कि ''तन्तुः पटः'' यह ज्ञान संयोगान्यसम्बन्ध को विषय करता है जब कि ''इह कुण्डे बदराणि'' यह ज्ञान संयोग को विषय करता है। इसलिए इन दोनों ज्ञानों में वैलक्षण्य का अनुभव होता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ''घटस्य ज्ञानम्'' और ''घटस्याभावः'' इन दोनों स्थल पर षष्ठी विभक्ति के रहने से किसी न किसी सम्बन्ध का बोध मानना पड़ेगा। घट के ज्ञान में या घट के अभाव ज्ञान में संयोग सम्बन्ध माना नहीं जा सकता है। इसलिए संयोगान्यसम्बन्धविषयत्व ही माना जायेगा। ऐसा संयोगान्यसम्बन्ध विषयत्व ''तन्तुः पटः'' में भी मान रहे हो। अतः ''तन्तुः पटः'' इस ज्ञान से ''घटस्य ज्ञानम्'' या ''घटस्याभावः'' इस ज्ञान में जो वैलक्षण्य का अनुभव होता है। उस वैलक्षण्य का हेतु ''संयोगान्यसम्बन्धविषयत्व'' को नहीं माना जा सकता है। यदि कहा जाय कि ''घटस्य ज्ञानम्'' और ''घटस्याभावः'' और ''इह कुण्डे बदराणि'' इनका वैलक्षण्य जो ''तन्तु पटः'' इस ज्ञान में अनुभव होता है। उसका हेतु= स्वरूपसम्बन्धसंयोगान्यसम्बन्धविषयकत्व है, क्योंकि कि घट के साथ ज्ञान का और घट के साथ अभाव का स्वरूप सम्बन्ध है और कुण्ड के साथ बदर का संयोग सम्बन्ध है और उन दो प्रकार के सम्बन्ध (स्वरूप सम्बन्ध और संयोग सम्बन्ध) से भिन्न सम्बन्ध (समवाप) ''तन्तुः पटः'' में है। अतः ''तन्तुः पटः'' इस ज्ञान में उक्त प्रकार के तीनों ज्ञानों में न रहने वाला धर्म = स्वरूपसम्बन्धासंयोगान्यसम्बन्धविषयकत्व है। अतः ''तन्तुः पटः'' इस ज्ञान में उक्त तीनों ज्ञानों से वैलक्षण्य का अनुभव होता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि—घटः धर्मिकोऽन्योन्याभावो यस्य कपालादेः सः तद्— धर्मिकोऽन्योन्याभावः कपालादिः। तस्य घटे या बुद्धिः = घटः कपालद्वयमित्याकारात् तस्या इत्यर्थः। अर्थात् घट में भेद है जिस कपालादि का, उस कपालादि की बुद्धि = ''घटः कपालद्वयम्'' ऐसी बुद्धि उसका और घटपटादि बुद्धि शब्द से ''घटे घटत्वम्'' और ''पटे परत्वम्'' ऐसी बुद्धि लेना है तथा ''तन्तुः पटः'' ऐसी बुद्धि। इन चारों बुद्धियों में स्वरूपसम्बन्ध और संयोग सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्धा (समवाय सम्बन्ध) विषयत्व रूप धर्म समान रूप से विद्यमान है। अतः इन चारों बुद्धियों में वैलक्षण्य के अनुभव के अभाव की आपत्ति होगी।११॥

नाप्ययुतसिद्धिविषयत्वेन; आश्रयाश्रयिभावनियमो ह्ययुतसिद्धिः, तत्र च तदानींतन आश्रयाश्रयिभावः कुण्डबदरादावपि भाति, नियमस्तु न तन्तुपटादिबुद्धावपि। नहि तन्तुपटादिधीःप्रत्यक्षा। अनयोः सम्बन्धनाशो वा, विभागो वा, न भविष्यतीत्याकारा, न वा कुण्डबदरादिधीस्तयोः सम्बन्धनाशो वा, विभागो वा, भविष्यतीत्याकारिका। नापि समवायविषयत्वेन; उक्तन्यायेन सम्बन्धनित्यत्वस्य सम्बन्ध्ययुतसिद्धत्वस्य वा तत्रास्फुरणात्। तस्मादभेदविषयत्वेनैव वैलक्षण्यं वाच्यम्; अयं घटः, गजादिकं सेना, पत्रमेव ताटङ्क इत्यादौ पुरोवर्तिना घटादेरिवातानवितानात्मकास्तन्तव एव पटः, शुक्लः पट इत्यादावपि तन्त्वादिना पटस्याभेदप्रतीतेः।१२।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

यदि कहा जाय कि ''तन्तुः पटः'' इस बुद्धि का विषय तन्तु और पट रूप अयुत सिद्ध पदार्थ हैं। अतः ''तन्तुः पटः'' इस बुद्धि में अयुतसिद्धविषयकत्व रूप धर्म है जबकि इससे भिन्न बुद्धियों में अयुतसिद्धविषयकत्व रूप धर्म नहीं है। अतः ''तन्तुः पटः'' बुद्धि में अन्य बुद्धियों से विलक्षणता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि अयुतसिद्ध का अर्थ है—आश्रयाश्रयिभाव का नियम = सम्बन्धानाश और विभागाभाव का नियम। (अर्थात् जब तक वे दोनों विद्यमान रहते हैं तब तक जिन दोनों के सम्बन्ध का नाश कभी नहीं होता है अथवा जिन दोनों में विभाग कभी नहीं होता है। उन दोनों में अयुत सिद्धि मानी जाती है। इस पर प्रश्न होता है कि जिन दो पदार्थों के सम्बन्ध नाश कभी नहीं होता है। इसका अर्थ यदि यह किया जाय कि प्रतीतिकालीन वर्तमान काल में उक्त सम्बन्ध का नाश नहीं होता है। ऐसे आश्रयाश्रयिभाव को अयुतसिद्धि कहने पर ''इह कुण्डे बदराणि'' इस स्थल पर भी उक्त प्रकार का आश्रयाश्रयिभावरूप अयुतसिद्ध के होने पर ''तन्तुः पटः'' इस बुद्धि से ''इह कुण्डे बदराणि'' इस बुद्धि में वैलक्षण्य की सिद्धि नहीं हो पायेगी। दूसरी बात यह है कि अयुतसिद्धि = आश्रयाश्रयिभाव का नियम = सम्बन्धानाश और विभागाभाव का नियम ''तन्तुः पटः'' इत्यादि बुद्धि में भी सम्भव नहीं है, क्योंकि तन्तु और पट के सम्बन्ध का नाश नहीं होगा या तन्तु और पट का विभाग नहीं होगा—इत्याकारा भविष्यकालीन तन्तु पटादि धी का वर्तमानकाल में प्रत्यक्ष नहीं है। इसी प्रकार कुण्ड तथा बदर इन दोनों के सम्बन्ध का नाश होगा या इन दोनों का विभाग होगा—इत्याकारिका भविष्यकालीन कुण्ड बदरादि धी का वर्तमानकाल में प्रत्यक्ष नहीं है। फलतः ''कुण्डे बदराणि'' इस बुद्धि में युतसिद्ध विषयकत्व का भान नहीं हो रहा है और ''तन्तुः पटः'' में भी अयुसिद्ध का भान नहीं हो रहा है। अतः ''तन्तुः पटः'' यह बुद्धि अयुत सिद्धि विषयक होने से अन्य बुद्धि से विलक्षण है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है। ''तन्तुः पटः'' यह बुद्धि समवायविषयक होने से अन्य बुद्धियों से विलक्षण है—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ''नित्यसम्बन्धः समवायः'' अथवा ''अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः'' ऐसा ही समवाय का लक्षण बनता है किन्तु पूर्वोक्त न्याय (न हि तन्तुपटादिधीः प्रत्यक्षा अनयोः सम्बन्ध नाशो का विभागो वा न भविष्यतीत्याकारा ....) से ''तन्तुः पटः'' इस बुद्धि में सम्बन्ध गत नित्यत्व या अयुतसिद्धसम्बन्धत्व का भान होता नहीं है। फलतः ''तन्तुः पटः'' इस धी को समवाय विषयत्वेन अन्य ज्ञानों से विलक्षण नहीं कहा जा सकता है। अन्ततो गत्वा यह मानना पड़ेगा कि ''तन्तुः पटः'' यह बुद्धि अभेद विषयक होने के कारण अन्य बुद्धि से विलक्षण है। ऐसे ही ''अयं घटः'' इस बुद्धि में पूरोवर्ति के साथ घट के अभेद की प्रतीति होती है वैसे ही गजादि का सेना के साथ और पत्र का ताटङ्क (कर्णाभरण विशेष = कान का अलङ्कार) के साथ अभेद की प्रतीति होती है, वैसे ही ''तन्तुः पटः'' इस स्थल पर आतान वितानात्मक तन्तु ही पट है— इस प्रकार से अभेद की प्रतीति होती है और ''शुक्लः पटः'' इस स्थल पर शुक्ल (शुक्ल तन्तु) का पट के साथ अभेद की प्रतीति होती है। फलतः पूर्वोक्त स्थलों पर अभेद विषयक प्रतीति होने

न च —अत्र पटत्वशुक्लत्वयोरेकस्थत्वमेव भातीति—वाच्यम्ः पटशुक्लयोरैक्यस्यापि तत्रान्तर्गतेः, अन्यथा क्वाप्यभेदो न स्यात्। 'घटः पटो न' इति धीश्च भेदविषया न स्यात्। 'दण्डी चैत्रः' इत्यादावपि दण्डिना चैत्रस्याभेदो भात्येव। न च—शुक्लः पट इत्यत्र शुक्लवानेव इति प्रतीयत इति—वाच्यम्; शुक्लं रूपमित्यत्र यत् शुक्लं तस्यैवेह प्रतीतेः। अन्यथेहापि दण्डीतिवत् शुक्लीति स्यात्। मतुब्लोपादिकल्पनं

सत्यानन्दप्रबोधिका

के कारण पूर्वोक्त बुद्धियाँ अन्य बुद्धियों से विलक्षण हैं—यह सिद्ध होता है।।१२।।

यदि कहा जाय कि ''शुक्लः पटः'' इस स्थल पर पटत्व और शुक्लत्व का एक धर्मी में वैशिष्ट्य (एकाधिकरणवृत्तित्व) ही प्रतीति होता है, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ''शुक्लः पटः'' इस स्थल पर जैसे एक धर्मी में वैशिष्ट्य की प्रतीति होती है वैसे ही पट और शुक्ल द्रव्य के अभेद की भी प्रतीति होती है। अर्थात् ''शुक्लः पटः'' इस स्थल पर एक धर्मी में वैशिष्ट और अभेद दोनों की प्रतीति होती है। अन्यथा =''शुक्लः पटः'' इस स्थल पर अभेद की प्रतीति न मानने पर, कहीं पर भी अभेद की प्रतीति नहीं हो पायेगी। अर्थात् ''तत्त्वमसि'' इत्यादि स्थल पर भी जीवत्व ब्रह्मत्व के एकस्थत्व = एक धर्मी में वैशिष्ट्य की प्रतीति होने पर भी जीव ब्रह्म के अभेद की प्रतीति नहीं हो पायेगी। दूसरा दोष यह होगा कि ''घटः पटो न'' इस बुद्धि का विषय भेद न होकर ''घटत्वपटत्वयोः एकस्थत्वाभावः'' = घटत्व पटत्व का एकस्थत्वाभाव होगा। (कहने का भाव यह है कि नञ् के विना जहाँ अभेद प्रतीति होता है वहीं पर वाक्य में नञ् का प्रयोग होने पर भेद प्रतीति होता है। इसीलिए ''भूतले घटो न'' इत्यादि स्थल पर भेद का भान नहीं होता हैं क्योंकि नञ् के विना यहाँ (भूतले घटः — इस स्थल पर) अभेद प्रतीत नहीं होता है। इसी को स्पष्ट करते हुए कहा गया कि ''घटः पटः'' यह धी अभेद विषया नहीं है। अतः ''घटः पटो न'' यह धी भेद विषया नहीं होगी। यदि कहा जाय कि उक्त नियम (नञ् पद के विना जिस स्थल पर अभेद भासता है उसी स्थल पर नञ् के रहने से भेद भासता है—इस नियम) में व्यभिचार है, क्योंकि ''दण्डी चैत्रः'' यहाँ पर अभेद के न प्रतीत होने पर भी ''न दण्डी चैत्र'' यहाँ का भेद की प्रतीति होती है—इस पर माध्ववादी कह रहा है कि) ''दण्डी चैत्रः'' इस स्थल पर भी दण्डी के साथ चैत्र के अभेद की प्रतीति होती है। अतः उक्त नियम में व्यभिचार दोष नहीं है। ''शुक्लः पटः'' इस स्थल पर शुक्ल के साथ पद के अभेद की प्रतीति नहीं होती है। अपितु ''शुक्लरूपवान् पटः'' = शुक्ल रूपवाला पट है—ऐसी प्रतीति होती है—ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि ''शुक्लं रूपम्'' यहाँ शुक्ल पद का जो अर्थ है। उसी अर्थ की ही इह = शुक्लः पटः—यहाँ भी शुक्ल पद से प्रतीति होती है। अन्यथा = ''शुक्लः पटः'' यहाँ पर शुक्ल पद से शुक्लवान्—ऐसी प्रतीति होती है—यह मानने पर ''शुक्लः पटः'' यहाँ पर भी ''शुक्लः'' ऐसा न कहकर के ''शुक्ली'' ऐसा प्रयोग करना चाहिए था। जैसे ''दण्डी चैत्रः'' यहाँ पर दण्डवान् को कहने के लिए दण्डी का प्रयोग होता है न कि दण्ड का। यदि कहा जाय कि (''गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः = गुणे तद्वती च प्रसिद्धा ये शब्दाः शुक्लादयस्ते गुणवचनास्तेभ्यः परस्य मतुपो लुगित्यर्थः।'') इस वार्तिक के अनुसार ''शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति शुक्लः पटः'' इस प्रकार से वार्तिक द्वारा शुक्ल शब्द उत्तर विहित मतुप् प्रत्यय का लोप हो गया है। अतः ''शुक्लः पटः'' का अर्थ शुक्लवान् पट होगा न कि शुक्ल के साथ पट का अभेद। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि ऐसा नहीं माना जा सकता है, क्योंकि पहले मतुप् हुआ बाद में उसका लोप हो गया—ऐसी कल्पना तो स्वरविशिष्ट शब्द के प्रयोग स्थल पर की जाती है। अर्थात् स्वर में भेद लाने के लिए लोप आदि की कल्पना की जाती है, ज्ञान विषयक व्यवहार में मन्तुप् लोप आदि

शब्दविषयकव्यवहारे, नतु प्रतीतौ। पटस्य शौक्ल्यमित्यादिधीर्न भेदविषया, किन्तु सम्बन्धविषया सती सत्तेत्यादिवद् भेदाभावेऽपि उपपन्ना च।१३॥

पटस्य तन्त्वन्यत्वे च गुरुत्वद्वयापत्तिः। तन्तुमति पटवृत्तिश्च न स्यात्; मूर्तानां समानदेशताविरोधात्। व्यवहारार्थक्रियाभेदादिकं तु पत्रताटङ्कादिवद्युक्तम्। तस्मात्तन्तुपटादिबुद्धिरभेदविषयैव। यदि चेयं केवलाभेदविषया,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

की कल्पना विषयता की नियामक नहीं हो सकती है। अर्थात् ''शुक्लः पटः'' इस ज्ञान का विषय मतुप् लोप आदि नहीं हो सकता है। ''पटस्य शौक्ल्यम्'' इत्यादि धी भेद विषया नहीं है किन्तु सम्बन्ध विषया है और शुक्ल तथा पट इन दोनों का भेद न होने पर भी ''सत्ता सती'' में जैसे भेद विवक्षित न होकर अभेद सम्बन्ध विवक्षित होने पर पर्यायतापत्ति आदि दोष आ रहा था। उसके निवारण के लिए विशेष पदार्थ विवक्षित होता है, क्योंकि ''सत्ता सती, पटस्य शौक्ल्यम्'' इन सब स्थानों पर भेद के न रहने पर भी भेद का प्रतिनिधि विशेष के रहने से पर्यायतापत्ति आदि दोष भी नहीं होता है और उक्त प्रकार के प्रयोग की उपपत्ति हो जाती है।१३॥

दूसरी बात यह है कि ''तन्तुः पटः'' यहाँ पर अभेद विवक्षित न होकर भेद मानने पर अर्थात् पट को तन्तुओं से भिन्न मानने पर गुरुत्व द्वय की आपत्ति होगी = आधा किलोग्राम तन्तुओं से बने पट को तोलने पर पट का वजन एक किलोग्राम होने की आपत्ति होगी, क्योंकि आधा किलोग्राम तन्तुओं का वजन और आधा किलोग्राम पट का वजन होगा। तन्तु से भिन्न पट मानने पर तन्तु वाले देश में पट की वृत्ति नहीं हो पायेगी, क्योंकि तन्तु भी मूर्त पदार्थ है और पट भी मूर्त पदार्थ है, जबकि यह नियम है कि अनेक मूर्त पदार्थ एककालावच्छेदेन एक देश में नहीं रह सकते हैं। फलतः तन्तु रूप ही पट है—ऐसा अभेद पक्ष को ही मानना उचित है। तन्तु और पट में अभेद होने पर भी ''इमे तन्तवः'' ''अयं पटः'' इस प्रकार से जो व्यवहार में भेद दिखायी पड़ता है और पट में आवरकत्व और तन्तु में उसका अभाव—इस प्रकार जो अर्थ क्रिया में भेद दिखायी पड़ता है। इसकी उपपत्ति वैसे ही हो जायेगी जैसे पत्र और ताटङ्क का स्वर्णरूप से अभेद होने पर भी व्यवहार में ''यह स्वर्णपत्र है और यह स्वर्ण कुण्डल है'' इस प्रकार से भेद देखा जाता है और स्वर्ण पत्र को कोई कान में धारण नहीं करता है जब कि ताटङ्क को कान में धारण किया जाता है—इस प्रकार से अर्थ क्रिया में भी भेद देता जाता है। इसलिए ''तन्तुः पटः'' यह बुद्धि अभेद विषयक है किन्तु यह बुद्धि यदि केवल अभेद विषयक ही है तब ''तन्तुः पटः'' इत्याकारक सामानाधिकरण्य व्यवहार को उत्पन्न नहीं कर पायेगी। जैसे ''घटः कलशः'' इस स्थल पर सामानाधिकरण्य व्यवहार नहीं होता है क्योंकि इस स्थल पर केवल अभेद ही विषय है। तेन = ''तन्तुः पटः'' इत्यादि बुद्धि में सामानाधिकरण्य व्यवहार जनकत्व है—इस हेतु से यह सिद्ध होता है कि ''तन्तुः पटः'' इस बुद्धि का विषय अभेद से कुछ अधिक विषय है। वह अधिक विषय क्या है? इसके उत्तर में यदि कहा जाय कि वह अधिक विषय भेद है तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ''पटः शुक्लः'' के स्थल पर ''पटो न शुक्लः'' ऐसे प्रयोग की आपत्ति होगी, क्योंकि अधिक विषय जो भेद है। उसको कहने के लिए नञ् का प्रयोग होगा। अतः ''पटः शुक्लः'' इस प्रकार सामानाधिकरण्य व्यवहार देखने से सिद्ध होता है कि पट और शुक्ल में भेद है, क्योंकि अभेद में ''घटः कलशः'' इस प्रकार सामानाधिकरण्य व्यवहार होता नहीं है। इस प्रकार से पट और शुक्ल इनमें जो भेद और अभेद (जिनका की परस्पर विरोध है।) देखे जाने से उन भेद और अभेद में जिससे विरोध न हो इसके लिए पट और शुकल में भिन्न—भिन्न विशेष पदार्थ मानना आवश्यक है। फलतः ''तन्तुः पटः'' इत्यादि बुद्धि का विषय जो अभेद है। उस अभेद से अधिक विषय जो प्रतीत होता

तर्हि सामानाधिकरण्यव्यवहारं न जनयेत्; घटः कलश इत्याद्यव्यवहारात्। तेन ज्ञायते अधिकोऽप्यस्य विषयोऽस्ति। न चायं भेदः, घटः न शुक्ल इत्युल्लेखापातात्, भेदाभेदाविरोधाय विशेषस्यावश्यकत्वाच्च। तस्माद्योऽधिको विषयः स विशेष इति– चेन्न, सत्यप्यभेदे काल्पनिकभेदमादाय तथाव्यवहारोपपत्त्या विशेषस्यासिद्धेः। न च (तर्हि) पटो न शुक्लः इति प्रतीत्यापत्तिः; फलबलेन काल्पनिकभेदस्य सामानाधिकरण्यादिव्यवहारमात्रनिर्वाहकत्वकल्पनेन विपरीतोल्लेखनं प्रत्यहेतुत्वात्।

तस्मादेवं विशेषोऽयं न मानविषयः सखे।
विषादं जहि मत्सिद्धाविद्यया सर्वसङ्गतिः।।१४।।

इत्यद्वैतसिद्धौ विशेषखण्डनम्।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। वह ही विशेष नामक पदार्थ ह। इस प्रकार ''तन्तुः पटः'' इत्याकारक प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा विशेष पदार्थ की सिद्धि हो जाती है।

समाधान :– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''तन्तुः पटः'' इत्यादि स्थल पर अभेद होने पर भी काल्पनिक भेद को लेकर ''तन्तुः पटः'' इत्याकारक सामानाधिकरण्य व्यवहारादि की उपपत्ति हो जायेगी। अतः विशेष मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। तर्हि = काल्पनिक भेद मानने पर ''पटः शुक्लः'' के स्थान पर ''पटो न शुक्लः'' ऐसी प्रतीति की आपत्ति भी नहीं होगी, क्योंकि काल्पनिक भेद (निमित्त) का फल (नैमित्तिक) = सामानाधिकरण्य व्यवहार जहाँ देखा जाता है, वहाँ निमित्तभूत काल्पनिक भेद की कल्पना की जाती है परन्तु काल्पनिक भेद रूप निमित्त यहाँ है, अतः उसका (भेद का) नैमित्तिक = ''पटो न शुक्ल'' ऐसा व्यवहार होना चाहिए—ऐसा आपादान नहीं किया जा सकता है। अर्थात् काल्पनिक भेद ''पटो न शुक्लः'' इस प्रकार विपरीत उल्लेख के प्रति हेतु नहीं हो सकता है। कहने का भाव यह है कि कार्य (नैमित्तिक) के रहने पर कारण (निमित्त) का अनुसन्धान किया जाता है किन्तु कारण के रहने पर उसका कोई कार्य अवश्य होना चाहिए—ऐसा नियम नहीं होता है।

तस्मादेवं विशेषोऽयं न मानविषयः सखे।
विषादं जहि मत्सिद्धाविद्यया सर्वसङ्गतिः।।

इसलिए हे मित्र पूर्वोक्त प्रकार से त्वत्कल्पित विशेष किसी भी प्रमाण का विषय नहीं सिद्ध होता है। विशेष को न मानने पर भेदाभेदादि के विरोध का परिहार कैसे होगा? ऐसा विषाद पूर्वपक्षी को नहीं करना चाहिए, क्योंकि अद्वैतवेदान्त में कही गयी जो अविद्या है। उसके द्वारा सर्वत्र सङ्गती की उपपत्ति हो जायेगी।।१४।।

———इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां विशेषखण्डनम्———

१८– भेदपञ्चके प्रत्यक्षप्रमाणविचारः

एवं प्रत्यक्षतः प्राप्तभेदस्यैव निवारणात्।। असाक्षात्कृतजीवेशभेदादौ का कथा तव।।

तथाहि—ईश्वरस्याप्रत्यक्षत्वेन तद्धर्मिकस्य तत्प्रतियोगिकस्य वा भेदस्य गृहीतुमशक्यत्वात्। ननु—ईशधर्मिकभेदस्य जीवाप्रत्यक्षत्वेऽपि स्वधर्मिकभेदः तथापि तत्प्रत्यक्षः; 'नाहं सर्वज्ञो नाहं निर्दुःखः' इत्याद्यनुभवात्। न च—योग्यप्रतियोगिकत्वमभावयोग्यत्वे प्रयोजकमिति—वाच्यम्; स्तम्भः पिशाचो नेत्यादिप्रत्यक्षरूपफलबलेन संसर्गाभावे तथात्वेऽपि अन्योन्याभावे अधिकरणयोग्यताया एव तन्त्रत्वात।।१।।

वस्तुतस्तु—संसर्गाभावेऽपि न तन्मात्रं योग्यता; जलपरमाणौ योग्यपृथिवीत्वाभावग्रहप्रसङ्गात्, किन्तु यत्र

सत्यानन्दप्रबोधिका

{पूर्वपक्षी के मत में कल्पना की गयी है कि पञ्चप्रकार के भेद का अनुभव होता है। अर्थात् पञ्चप्रकार के भेद प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हैं। जैसे — (१) नाहं चैत्रः = इसके द्वारा जीव का जीव के साथ भेद कहा गया है। (२) घटो न ब्रह्म = इसके द्वारा जड़ के साथ ब्रह्म का भेद कहा गया है। (३) घटो न पटः = इसके द्वारा जड़ का अन्य जड़ के साथ भेद कहा गया है। (४) नाहं घटः= इसके द्वारा जड़ का जीव से भेद कहा गया है। (५) नाहं ब्रह्म = इसके द्वारा जीव और ब्रह्म का भेद कहा गया है। ये पाँचों भेद प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। इसी को इस प्रकरण में पूर्वपक्षी कहेगा। जिसका निराकरण अद्वैत सिद्धान्त से किया जायेगा।}

एवम् = ''सामान्यतो भेदखण्डनविचारः'' और ''विशेषतो भेदखण्डनविचारः'' इत्यादि पूर्वोक्त प्रकरणों के द्वारा, जब प्रत्यक्षतः प्राप्त भेद का ही खण्डन हो गया तब जीव और ईश्वरादि के अप्रत्यक्ष भेद सिद्धान्ती के सामने रह पायेंगे ऐसी आशा पूर्वपक्षी को नहीं करनी चाहिए। (''जीवेशभेदादौ'' में आदिशब्द से ईश माया जीवाजीव भेदादि को ग्रहण कर लेना चाहिए।) इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जब ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं है तब ईश्वरानुयोगिक अथवा ईश्वर प्रतियोगिक भेद का ही प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है क्योंकि अभाव प्रत्यक्ष में अनुयोगी और प्रतियोगी की प्रत्यक्ष योग्यता अपेक्षित होती है। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण के बल पर भेद पञ्चक की सिद्धि नहीं हो सकती है—यह भाव है।

शङ्काः— पूर्वपक्षी कथन है कि संसर्गाभाव के प्रत्यक्ष में अनुयोगी और प्रतियोगी की प्रत्यक्ष योग्यता अपेक्षित होने पर भी भेद के प्रत्यक्ष में अनुयोगी और प्रतियोगी दोनों के प्रत्यक्ष की योग्यता अपेक्षित नहीं होती है किन्तु अनुयोगी के प्रत्यक्ष की योग्यता अपेक्षित होती है। इसलिए ईश्वर में रहने वाला जीव का भेद अर्थात् ईश्वरानुयोगिक जीव प्रतियोगिक भेद जीव को भले ही न प्रत्यक्ष हो किन्तु जीव में रहने वाला ईश्वर का भेद अर्थात् जीवानुयोगिक ईश्वर प्रतियोगिक भेद जीव को प्रत्यक्ष होगा, क्योंकि ''मैं सर्वज्ञ (ईश्वर) नहीं हूँ।'' और ''मैं दुःखरहित (ईश्वर) नहीं हूँ'' इत्याकारक जीव को अनुभव होता है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि वही अभाव प्रत्यक्ष होता है जिस अभाव का प्रतियोगी भी प्रत्यक्ष के योग्य हो। अतः जीव में जो ईश्वर का भेद है, उसका प्रतियोगी जो ईश्वर वह जीव के लिए प्रत्यक्ष योग्य न होने के कारण उक्त अभाव का भी प्रत्यक्ष जीव को नहीं हो सकता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''स्तम्भः पिशाचो न'' इत्यादि स्थल पर स्तम्भ अनुयोगिक पिशाच प्रतियोगिक भेद का प्रत्यक्ष रूप जो फल है। उस फल के बल पर संसर्गाभाव के प्रत्यक्ष में अनुयोगी और प्रतियोगी की प्रत्यक्ष योग्यता अपेक्षित होन पर भी भेद के प्रत्यक्ष में अनुयोगी मात्र की प्रत्यक्ष योग्यता अपेक्षित होती है, क्योंकि ''स्तम्भः पिशाचो न'' इस स्थल पर अप्रत्यक्ष पिशाचप्रतियोगिक भेद का प्रत्यक्ष सर्वजन अनुभव सिद्ध है।।१।।

वस्तुतः संसर्गाभाव प्रत्यक्ष स्थल पर भी प्रतियोगी के प्रत्यक्ष की योग्यता अपेक्षित नहीं होती है। अन्यथा

यत्सत्त्वमनुपलब्धिविरोधि, तत्र तस्याभावो योग्य इति अधिकरणनियतैव सर्वाभावसाधारणी योग्यता। साच प्रकृतेऽप्यस्त्येव; अन्यथा अभेदश्रुतेरप्रसक्तप्रतिषेधकतापत्तेः। भेदश्रुतेश्च त्वदुक्तप्रत्यक्षसिद्धभेदानुवादित्वं न स्यात्। ईशधर्मिकजीवभेदेऽपि 'तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप। उत्तमः पुरुषस्त्वन्य' इत्यादितद्वचनानुमितप्रत्यक्षसिद्धत्वमेवेति—चेत्।।२।।

न; उक्तानुभवस्यान्तःकरणाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य तदनवच्छिन्नचैतन्यप्रतियोगिकभेदावगाहितया

सत्यानन्दप्रबोधिका

जलीय परमाणु में पटादिगत योग्य पृथिवीत्व के संसर्गाभाव के प्रत्यक्षत्व की आपत्ति होगी। अर्थात् प्रतियोगी के प्रत्यक्ष योग्य होने पर संसर्गाभाव का प्रत्यक्ष मानने पर जलीय परमाणु में पृथिवीत्व का संसर्गाभाव (अत्यन्ताभाव) का प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए, क्योंकि प्रतियोगी = पृथिवीत्व उसका जो घट पटादि में प्रत्यक्ष होता ही है किन्तु जलीय परमाणु में पृथिवीत्व के अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष नही होता है (अपितु अनुमान होता है।) क्योंकि जलीयपरमाणु का ही जब प्रत्यक्ष नहीं है तब उसमें पृथिवीत्व के अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है। अतः सिद्धान्ती का कथन (प्रतियोगी के प्रत्यक्ष होने पर अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष होता है) का खण्डन हो गया। पूर्वपक्षी के मतानुसार अभावमात्र के प्रत्यक्ष के लिए नियम यह है—यत्र यत्सत्त्वमनुपलब्धिविरोधि तत्र तस्याभावो प्रत्यक्षयोग्यः। अर्थात् यत्र = जिस अनुयोगी में, यत्सत्त्वम् = जिस प्रतियोगी का सत्त्व, अनुपलब्धि का विरोधि हो (उपलब्धि का आपादक हो = यदि) घटः स्यात् तर्हि उपलभ्येत्—इत्याकारक आपादक हो) तत्र = उस अनुयोगी में, तस्याभावः = उक्त प्रतियोगी का अभाव चाहे वह अभाव संसर्गाभाव हो या अन्योन्याभाव हो। वह अभाव प्रत्यक्ष के योग्य होता है। इस नियम से यह सिद्ध होता है कि संसर्गाभाव हो या अन्योन्याभाव हो। यदि उस अभाव का अनुयोगी (अधिकरण) प्रत्यक्ष योग्य हो, भले ही प्रतियोगी प्रत्यक्ष योग्य न हो तो भी अभाव को प्रत्यक्ष योग्य माना जायेगा। ऐसी सर्वाभावसाधारण प्रत्यक्ष योग्यता प्रकृते = जीवानुयोगिक ईश्वर प्रतियोगिक भेद के प्रत्यक्ष में भी है। अन्यथा = प्रतियोगी के प्रत्यक्ष न होने पर केवल अनुयोगी के प्रत्यक्ष होने पर भेद का प्रत्यक्ष नहीं होता है—ऐसा मानकर जीवानुयोगिक ईश्वर प्रतियोगिक भेद का प्रत्यक्ष न मानने पर जीव ईश्वर में अभेद बतलाने वाली श्रुति के द्वारा जीव ईश्वर के भेद का जो निषेध किया जाता है। वहाँ पर अप्रसक्त प्रतिषेधकता की आपत्ति आयेगी, क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा जीवानुयोगिक ईश्वर प्रतियोगिक भेद की जो प्रसक्ति है। उसको सिद्धान्ती मान ही नहीं रहे हैं। ऐसा होने पर दूसरा दोष यह भी होगा कि ''द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया (मु०उ० ३—१—१) इत्यादि भेद श्रुति के द्वारा प्रत्यक्ष भेद की अनुवादकता जो सिद्धान्ती मानते है। वह भी सिद्ध नहीं हो पायेगी। ''तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तय'' (गी० ४—५) अर्थात् हे परन्तय तुम्हारे पूर्व—पूर्व के जन्म मरण को मै जानता हूँ (जब कि मैं जन्म मरण से रहित हूँ) तुम नहीं जानते हो। इससे यह बोधित होता है कि ईश्वर को स्वनिष्ठ जीव भेद का प्रत्यक्ष होता है और ''उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'' (गी० १५—१७) इससे भी यही कहा गया कि ईश्वर को स्वनिष्ठ जीव भेद का प्रत्यक्ष होता है। इस पर प्रश्न होता है कि पूर्वपक्षी को कैसे ज्ञान हुआ कि ईश्वर को स्वनिष्ठ जीव भेद का प्रत्यक्ष होता है? इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त भेद ईश्वर को प्रत्यक्ष होता है—इसका ज्ञान अनुमान से होता है। अनुमान—ईश्वरः स्वनिष्ठजीवभेदप्रत्यक्षवान्, उक्त भगवदगीतावचनकर्तृत्वात्, यन्नैव तन्नैव यथा जीवः। इस प्रकार ईश्वर वचन से अनुमित जो उक्त भेद का ईश्वर को प्रत्यक्ष तादृश प्रत्यक्ष से ईश्वरानुयोगिक जीव प्रतियोगिक भेद का प्रत्यक्ष सिद्ध है।।२।।

समाधान :— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''नाहं सर्वज्ञः नाहं निर्दुःखः'' इत्यादि अनुभव अहम्

शुद्धचैतन्यधर्मिकनिर्दुःखादिप्रतियोगिकभेदानवगाहित्वात्। श्रुतिरप्यवच्छिन्नभेदानुवादिनी। भेदनिषेधश्रुतिस्तु अनुमानादिप्रसक्तभेदनिषेधपरा। न च 'योऽहमस्वाप्सं यस्य ममाज्ञानसंसारादि, सोऽहं निर्दुःखो न'इति सुषुप्तिकालीनान्तःकरणानवच्छिन्नाभेदेनाज्ञानाद्याश्रयाभेदेन च प्रत्यभिज्ञायमाने शुद्धे भेदप्रतीतिः, संसाराधारस्य तदनाधारात् भेद एव ह्यावयोर्विवादः, नतु चैतन्यस्य चैतन्यादिति—वाच्यम्ः एतावतापि अज्ञानावच्छिन्न एव

सत्यानन्दप्रबोधिका

शब्द का अर्थ = अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य (जीव) और सर्वज्ञ तथा निर्दुःख शब्द से अन्तःकरण अनवच्छिन्न चैतन्य (ईश्वर) लिया जाता है। इन दोनों का पारम्परिक भेद उक्त अनुभव के द्वारा बोधित होता है। ऐसे कल्पित भेद को हम लोग भी मानते हैं। हम किस भेद को नहीं मानते है? इसका उत्तर यह है कि त्वम् = जीव का जो शोधित रूप = शुद्ध चैतन्य उसमें निर्दुःख = तत् का शोधित रूप का भेद हम नहीं मानते हैं। अतः उक्त अनुभव के बल पर शुद्ध चैतन्य में भेद नहीं सिद्ध किया जा सकता है। ''द्वा सुपर्णा'' (मु०उ० ३—१—१) इत्यादि श्रुतियाँ भी अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में अन्तःकरणानवाच्छिन्न चैतन्य के कल्पित भेद का ही अनुवाद करती हैं और भेद को निषेध करने वाली श्रुति अनुमानादि के द्वारा प्राप्त जो जीव—ईश में भेद उस भेद का निषेध करती है न कि प्रत्यक्ष सिद्ध भेद का।

शङ्काः— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''जो मैं सोया था जिस मुझको अज्ञान तथा संसारादि है वह मैं निर्दुःख नहीं हूँ।'' इस प्रकार से जो सुषुप्ति अवस्था में अन्तःकरणानवाच्छिन्न चैतन्य के साथ अभेद रूप से और अज्ञान के आश्रयीभूत चैतन्य के साथ अभेद रूप से प्रत्यभिज्ञायमान जो शुद्ध चैतन्य उसमें भेद की प्रतीति होती है। अर्थात् ''योऽहमस्वाप्सम् .....'' में अहम् शब्द से अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ले नहीं सकते हैं, क्योंकि सुषुप्ति काल में सिद्धान्ती के मतानुसार अन्तःकरण का लय हो जाता है। अतः यहाँ अहम् शब्द से अन्तःकरणानवच्छिन्न चैतन्य = शुद्ध चैतन्य लेना होगा, तब ''अहं निर्दुःखः'' इसका अर्थ होगा कि अहम् = शुद्ध चैतन्य में निर्दुःख = शुद्ध चैतन्य का भेद। इस प्रकार से शुद्ध चैतन्य में शुद्ध चैतन्य के भेद की प्रतीति उक्त अनुभव के बल पर हो रही है। अतः सिद्धान्ती ने जो कहा था कि शुद्ध चैतन्य में शुद्ध चैतन्य के भेद की प्रतीति उक्त अनुभव के बल पर सिद्ध नहीं होती है। उसका खण्डन हो गया। संसार का आधार जीव और संसार का अनाधार ब्रह्म में हम भेद मानते हैं और सिद्धान्ती नहीं मानते हैं। इसी में हमारा सिद्धान्ती से मतभेद है। (अथवा संसाराधारस्य = संसार से उपलक्षित शुद्ध चैतन्य और ''तदनाधारात्'' = संसार से अनुपलक्षित चैतन्य = विशिष्ट चैतन्य = जीव में हम भेद मानते हैं और सिद्धान्ती नहीं मानते हैं—इसी में हमारा सिद्धान्ती से मतभेद है।) चैतन्य का चैतन्य से भेद है—इसमें विवाद ही नहीं है। अर्थात् चैतन्य का चैतन्य से भेद नहीं होता है—यह तो उभयवादी मानते हैं।

समाधान :— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के द्वारा कथित सुषुप्तिकालीन अनुभव के अनुसार सुषुप्तिकालीन आत्मा से अभिन्नतया अहम् प्रत्यभिज्ञायमान होता है तो भी वह अहमर्थ शुद्ध चैतन्य नहीं हो सकता है, क्योंकि सुषुप्तिकाल में अन्तःकरण मे न रहने पर भी अज्ञान रहता है। अतः उक्त अहम् शब्द से भी अज्ञान अवच्छिन्न चैतन्य ही लेना पड़ेगा। क्योंकि सुषुप्तिकालीन चैतन्य जैसे अन्तःकरण रूप उपाधि से अनवच्छिन्न होता है। (क्योंकि सुषुप्ति में अन्तःकरण लय हो जाता है।) वैसे अज्ञान रूप उपाधि से अनवच्छिन्न नहीं होता है, क्योंकि सुषुप्तिकाल में अज्ञान रहता है— इसे सुषुप्ति कालीन अनुभव ही सिद्ध करता है। इसलिए सुषुप्तिकाल में अज्ञान अवच्छिन्न चैतन्य रहेगा। अतः ''अहं निर्दुःख'' इस प्रत्यक्ष के द्वारा अज्ञान अवच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ शुद्ध चैतन्य प्रतियोगिक भेद का ही

भेदग्रहो नतु शुद्धे। नहि सुषुप्तिकाले अन्तःकरणानवच्छिन्नत्ववदज्ञानानवच्छिन्नत्वमप्यस्ति।।३।।

यत्तु चैतन्यस्य चैतन्यात् भेदो नास्तीति, तदस्माकमनुकूलम्: चैतन्ये स्वाभाविकस्याभेदस्यैवास्मद्रहस्यत्वात् भवत्प्रतिकूलं च। नहि भवतां चैत्रमैत्रादिचैतन्यानामैक्यमिति मतम्। अहमर्थस्य यथा न शुद्धात्मत्वं तथोक्तं प्राक्। साक्षिप्रत्यक्षस्याध्यस्तादिसाधारणतया तत्सिद्धत्वमात्रेण भेदे अबाधितत्वमसम्भावितमेव। एतेन—जीवानां परस्परं भेदे प्रत्यक्षं प्रमाणमिति—निरस्तम्; नाहं चैत्र इत्यादेरवच्छिन्नभेदविषयत्वात्। 'घटो न ब्रह्म, घटो न पटः, नाहं घट' इत्यादिप्रत्यक्षस्य कल्पितभेदविषयत्वेन तात्त्विकभेदासिद्धेः। तस्मात् भेदपञ्चके न प्रत्यक्षं प्रमाणम्।।४।।

इत्यद्वैतसिद्धौ भेदपञ्चके प्रत्यक्षभङ्गः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अवगाहन होता है जो हमें इष्ट ही हैं। इसलिए सुषुप्तिकालीन अनुभव के आधार पर पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि ''शुद्धेः भेदप्रतीतिः'' इसका खण्डन हो गया।।३।।

पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि चैतन्य का चैतन्य से भेद नहीं होता है—यह पूर्वपक्षी को भी अभीष्ट है—ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता है क्योंकि उक्त कथन से अद्वैत सिद्धान्त की ही पुष्टि होती है क्योंकि चैतन्य में स्वाभाविक अभेद ही अद्वैत सिद्धान्त का सार है और यह द्वैतवादी के लिए अवश्य ही प्रतिकूल है, क्योकि चैत्र—मैत्रादि चैतन्यों का ऐक्य है—यह पूर्वपक्षी मानता ही नहीं है। अहमर्थ आत्मा नहीं होता है—इसका स्पष्टीकरण प्रथमपरिच्छेद के ''अहमर्थस्यात्मत्वविचारः'' में किया जा चुका है। साक्षिप्रत्यक्ष का विषय अध्यस्त और अनध्यस्त दोनों ही होते हैं क्योंकि साक्षी अध्यस्त और अनध्यस्त दोनों को ही प्रकाशित करता है। अतः साक्षिप्रत्यक्ष की विषयता मात्र के बल पर अबाधित भेद नहीं सिद्ध हो सकता है। कहने का भाव यह है कि शुक्ति में अध्यस्त जो रजत उसका ज्ञान जो ''इदं रजतम्'' इस प्रकार से होता है। इसके बल पर जैसे इदम् और रजत के अभेद की सिद्धि नहीं हो सकती है, ऐसे ही ''नाहं निर्दुःखः'' इस साक्षिज्ञान के बल पर अहमर्थ के साथ निर्दुःख का अबाधित भेद नहीं सिद्ध हो सकता है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि जीवों के परस्पर भेद में ''नाहं चैत्रः'' इत्याकारक मैत्र को होने वाला प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। यह कथन भी निरस्त हो गया, क्योकि ''मैं चैत्र नहीं हूँ'' इस प्रत्यक्ष से चैत्र अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य से मैत्र अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का कल्पित भेद सिद्ध होता है। ''नाहं चैत्र'' इस प्रत्यक्ष का विषय जैसे कल्पित भेद है ठीक इसी प्रकार ''घटो न ब्रह्म'' ''घटो न पटः'' ''नाहं घटः'' ''नाहं ब्रह्म'' इत्यादि प्रत्यक्ष कल्पित भेद की ही विषय करते हैं। इसलिए उक्त प्रत्यक्षों के बल पर तात्त्विक भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता है। फलतः भेद पञ्चक में प्रत्यक्ष को प्रमाण रूप प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है।।४।।

———:इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां भेदञ्चके प्रत्यक्षभङ्गः:———

१९—जीवब्रह्मभेदेऽनुमानविचारः

नाप्यनुमानम्। (१) जीवेश्वरौ, भिन्नौ, विरुद्धधर्माधिकरणत्वात्, दहनतुहिनवदित्यत्र दुःखादेरन्तःकरणादिधर्मत्वेन स्वरूपासिद्धेः, एकत्रैव निर्दुःखत्वदुःखवत्त्वयोरवच्छेदकभेदेन दृष्टतया धर्मिभेदासाधकत्वात्, भेदमात्रे सिद्धसाधनात्, तात्त्विकभेदे साध्यवैकल्यात्। (२) ब्रह्म तत्त्वतो जीवात् भिन्नम्, सर्वज्ञत्वात्, व्यतिरेकेण जीववदित्यत्राप्रसिद्धविशेषणत्वात्, (३) ब्रह्म, धर्मिसत्तासमानसत्ताकभेदवदिति साध्यकरणे असाधारण्यात्, (४) आत्मत्वं नानाव्यक्तिनिष्ठम्, जातित्वात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

जीव ब्रह्म के भेद में अनुमान प्रमाण भी नहीं है। पूर्वपक्षी के द्वारा जीवेश के भेद में जो अनुमान किये गये हैं वे सभी अनुमानाभास हैं। इसको आगे स्पष्ट किया जा रहा है। (१) जीव और ईश्वर दोनों में भिन्नत्व है, क्योंकि विरुद्ध धर्मो का अधिकरणत्व होने से, जैसे अग्नि और हिम। दृष्टान्त में साध्य है क्योंकि अग्नि और हिम भिन्न है। अतः उनमें भिन्नत्व रहेगा। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय —अग्नि में दाहकत्व धर्म है और हिम में हिमत्च = दाहकत्वाभाव है। इस प्रकार विरुद्ध धर्म अग्नि और हिम में होने से उक्त विरुद्ध धर्म का अधिकरण = अग्नि और हिम। अतः उक्ताधिकरणत्व दृष्टान्त में चला जायेगा। पक्ष में हेतु का समन्वय= जीव में दुःख और ईश्वर में दुःखाभाव होने से उक्त विरुद्ध धर्म का अधिकरण= जीव और ईश। अतः उक्ताधिकरणत्व पक्ष में चला जायेगा। इस प्रकार पक्ष में हेतु और दृष्टान्त में व्याप्ति मिलने से व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान रूप परामर्श के होने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी—ऐसा पूर्वपक्षी का भाव है। इसका खण्डन काते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सिद्धान्त मतानुसार दुःखादि को अन्तःकरण का धर्म माना जाता है आत्मा तो असङ्ग है। अतः पक्ष में हेतु न जाने से स्वरूपसिद्धि दोष है। एक ही आत्मा में जिस समय शरीरावच्छेदेन दुःख है उसी समय उसी आत्मा में बहिः प्रदेशावच्छेदेन दुःखाभाव है—ऐसा होने से उक्त हेतु एक आत्मा में औपाधिक भेद का साधन हो सकता है, अनौपाधिक भेद का साधन नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि उक्त अनुमान के द्वारा पूर्वपक्षी क्या कल्पित अकल्पित साधारण भेद मात्र को सिद्ध करना चाह रहे हैं? अथवा अकल्पित (तात्त्विक) भेद को? प्रथम पक्ष में सिद्धसाधनदोष होगा क्योंकि सिद्धान्त मतानुसार कल्पित भेद माना ही जाता है। द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर दृष्टान्त में साध्य का समन्वय सिद्धान्त मतानुसार नहीं हो पायेगा, क्योंकि सिद्धान्त मत में तात्त्विक भेद माना ही नहीं जाता है। अतः दृष्टान्त में साध्य वैकल्प दोष होगा। (२) ब्रह्म तत्त्वतः जीव से भिन्न है, सर्वज्ञत्व होने से, जो तत्त्वतः जीव से भिन्न नहीं होता है वह सर्वज्ञ भी नहीं होता है, जैसे जीव। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि इस अनुमान से साध्याप्रसिद्ध दोष है, क्योंकि सिद्धान्त मतानुसार तात्त्विक भेद माना ही नहीं जाता है। यदि कहा जाय कि "ब्रह्म धर्मिसत्ता के समान सत्ता वाला जो भेद तादृश भेद वाला है—ऐसा साध्य का आकार देंगे। इस पर दोष देते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त प्रकार से साध्य बनाने पर हेतु में असाधारण नामक अनैकान्तिक दोष होगा, क्योंकि सर्वज्ञत्व हेतु सर्व सपक्ष विपक्ष से व्यावृत्त पक्ष मात्र में रह रहा है। जैसे पट सत्तासमानसत्ताकभेदवान्= घटादि को सपक्ष है उसमें भी हेतु नहीं है और स्व (स्वर्णादि) में स्व समान सत्ताक भेद नहीं रहता है। ऐसे विपक्ष में भी हेतु नहीं रहता है। यत् किञ्चित् धर्मिसमानसत्ताक भेद को साध्य बनाने पर सिद्ध साधन दोष होगा क्योंकि घट पटादि में व्यावहारिक भेद हम भी मानते हैं। (३) आत्मत्व नाना व्यक्तियों में रहता है, जातित्व होने से, जैसे पृथिवीत्वादिजाति। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि इस अनुमान में स्वरूपासिद्धि दोष है क्योंकि एकात्मवादी अद्वैतवेदान्ती के मतानुसार आत्मा के एक ही होने से उसमें जाति की सिद्धि न होने से जातित्व हेतु पक्ष

पृथिवीत्ववदित्यत्रात्मैक्यवादिनं प्रत्यसिद्धेः, कल्पितव्यक्तिनिष्ठत्वेन सिद्धसाधनाच्च।१ ॥

(५) दुःखं गुणत्वावान्तरजात्या सजातीयाश्रयात् भिन्नाश्रितम्, गुणत्वाद्रूपवदित्यत्र शब्दे व्यभिचारात्, दुःखादीनामन्तःकरणधर्मत्वेन सिद्धसाधनाच्च, (६) विमतानि शरीराणि, स्वसंख्यासंख्येयात्मवन्ति, शरीरत्वात्, सम्तवदित्यत्र योगिशरीरे व्यभिचारात्। आत्मा धर्मिसत्तासमानसत्ताकात्मप्रतियोगिकभेदवान्, द्रव्यत्वात्, घटवत्, (८) आत्मा द्रव्यत्वव्याप्यजात्या नाना, अश्रावणविशेषगुणाधिकरणत्वात्, घटवदित्यत्र चात्मनो निर्गुणत्वेनासिद्धेः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

में नहीं रहेगा। कल्पित व्यक्ति = अन्तःकरण विशिष्ट आत्मा व्यक्तियों को नाना मानकर जाति की उपपत्ति करने पर सिद्धसाधनदोष होगा क्योंकि वैसा सिद्धान्त मत में माना ही जाता है।१ ॥

(४) पक्ष = दुःख = देवदत्त में रहने वाला दुःख। साध्य= गुणत्व अवान्तर जाति= गुणत्व व्याप्य जाति= दुःखत्व, उस दुःखत्वेन देवदत्त निष्ठ दुःख का सजातीय= यज्ञदत्त निष्ठ दुःख (क्योंकि दुःखत्वेन एक दुःख का सजातीय दूसरा दुःख ही हो सकता है सुखादि नहीं।) उसका आश्रय = यज्ञदत्त। उससे भिन्न देवदत्त। उसमें आश्रित = देवदत्त का दुःख। इस प्रकार पक्ष में साध्य का समन्वय होगा। पक्ष और दृष्टान्त में हेतु = गुणत्व है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय = गुणत्व की अवान्तर जाति = रूपत्व। रूपत्वेन घटनिष्ठ रूप (दृष्टान्त) का सजातीय = पटनिष्ठ रूप, उसका आश्रय = पट, उससे भिन्न घट, उसमें आश्रित घट रूप है। इस प्रकार दृष्टान्त (घट रूप) में साध्य का समन्वय हो जायेगा। इस अनुमान के द्वारा पूर्वपक्षी एक दुःख वाले में अपर दुःख वाले के भेद की सिद्धि के द्वारा जीवनानात्व की सिद्धि कर रहा है। इस अनुमान का खण्डन करते हुये आचार्य प्रवर कह रहे हैं कि इस अनुमान का गुणत्व हेतु शब्द में व्यभिचारी है। अर्थात् शब्द में हेतु है किन्तु साध्य नहीं है, क्योंकि आकाश में रहने वाला शब्द का गुणत्व अवान्तर जाति = शब्दत्व। इस शब्दत्व के द्वारा सजातीय दूसरा शब्द। उसका आश्रय = आकाश, उससे भिन्न कोई दूसरा आकाश होता ही नहीं है (क्योंकि आकाश एक ही है) जिसमें शब्द आश्रित हो। अतः व्यभिचार दोष है। दूसरी बात यह भी है कि सिद्धान्त मतानुसार दुःखादि अन्तःकरण के धर्म माने जाते हैं न कि आत्मा के। अतः एक अन्तःकरण में रहने वाला जो दुःख है। उसका दुःखत्वेन सजातीय = दूसरे अन्तःकरण में रहने वाला दुःख, उसका आश्रय = दूसरा अन्तःकरण। उससे भिन्न प्रथम अन्तःकरण, उसके आश्रित = प्रथम अन्तःकरण निष्ठ दुःख। इस प्रकार से इस अनुमान के द्वारा आत्मा के भेद सिद्ध न होकर अन्तःकरणों में भेद सिद्ध होता है जो कि सिद्धान्ती को भी मान्य है। अतः सिद्धसाधनदोष भी है। (५) विवादास्पद जो अनेक शरीर हैं, उन अनेक शरीरों की जितनी संख्या है, उतनी ही संख्येय = संख्यावाले आत्माओं के आश्रय हैं। (अर्थात् शरीर अनेक हैं और आत्मा भी अनेक हैं — यही पूर्वपक्षी सिद्ध करना चाह रहा है।) शरीरत्व होने से। पक्ष और दृष्टान्त में हेतु है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय = स्ववृत्येकत्वसंख्या संख्ये संख्येयैकात्मवद् = देवदत्तशरीरवदित्यर्थः। अर्थात् देवदत्त शरीर में साध्य का समन्वय = स्व—देवदत्तशरीर, तद्वृत्ति संख्या— एकत्व संख्या, उस संख्या का संख्येय (उस एकत्व संख्या के समान संख्या वाला) उस देवदत्त का एक आत्मा। उस एक आत्मा वाला —देवदत्त का शरीर। इस प्रकार के साध्य का समन्वय दृष्टान्त में होगा। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि योगी के शरीर में शरीरत्व हेतु है किन्तु साध्य नहीं है, क्योंकि जब योगी योग बल से अनेक शरीर बना लेते हैं तब स्व पद से योगी के अनेक शरीर उनमें रहने वाली संख्या—अनेकत्व, उसका संख्येय = योगी का एक ही आत्मा है न कि अनेक आत्मा। अतः व्यभिचार दोष से हेतुग्रस्त होने से स्व साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है। (६) आत्मा

चैत्रश्चैत्रप्रतियोगिकोक्तभेदवान्, उक्तहेतोरुक्तदृष्टान्तवदित्याभाससाम्याच्च।।२।।

एतेन—नवीनानुमानान्यपि—निरस्तानि; (१) ईश्वरः जीवप्रतियोगिकतात्त्विकभेदवान्, सर्वशक्तित्वात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

धर्मिसत्तासमानसत्ताक जो आत्मप्रतियोगिकभेद तादृश भेद वाला है, द्रव्यत्व होने से जैसे घट। पूर्वपक्षी के अनुसार पक्ष और दृष्टान्त में हेतु है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय = साध्य घटक भेद के दो विशेषण है। प्रथम— भेद को धर्मी के समान सत्ता वाला होना चाहिये और द्वितीय— उस भेद का प्रतियोगी आत्मा होना चाहिये। घट में रहने वाला आत्मा का भेद का प्रतियोगी आत्मा है और उस भेद का धर्मी = घट। उस घट की सत्ता के समान सत्ता वाला घटनिष्ठ आत्मप्रतियोगिक भेद है। तादृश भेद वाला घट है। इस प्रकार दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जाने से और पक्ष में हेतु रहने से परामर्श की उपपत्ति हो जाने से आत्मा में आत्मा के भेद की सिद्धि होने से नाना आत्मा की सिद्धि हो जायेगी— यह पूर्वपक्षी का भाव है। इसका खण्डन करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि इस अनुमान में स्वरूपासिद्धि दोष है, क्योंकि हम आत्मा को द्रव्य नहीं मानते हैं। अतः आत्मा में द्रव्यत्व हेतु रहेगा ही नहीं। दूसरी बात यह भी है कि हम आत्मा को निर्धर्मक मानते हैं। आत्मा में द्रव्यत्वादि कोई भी धर्म नहीं रहेगा। फलतः यह अनुमान भी दुष्ट है। (७) आत्मा द्रव्यत्वव्याप्य आत्मत्वजात्याश्रयतया नाना है। लघुचन्द्रिकानुसार = स्ववृत्तिर्या द्रव्यत्वव्याप्यजातिः तद्विशिष्टान्यासमवेतबहुत्वसंख्यावान् = स्व—आत्मा, उसमें वृत्ति —आत्मत्व जो द्रव्यत्व की व्याप्य जाति है, तद् = आत्मत्व, उससे विशिष्ट आत्मा, उस आत्मा से भिन्न —घटादि, जिसमें समवायेन बहुत्व संख्या रहती है। उस घट में रहने वाली बहुत्व संख्या से भिन्न जो बहुत्व संख्या आत्मा में समवायेन है, तादृश बहुत्व संख्या वाला आत्मा है। इस प्रकार से आत्मा में नानात्व सिद्ध होगा। हेतु = अश्रावण विशेषगुणों (ज्ञानादि) का अधिकरणत्व होने से। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—घट में रहने वाली जो पृथिवीत्व जाति जो कि द्रव्यत्व व्याप्य जाति है। उस पृथिवीत्व से विशिष्ट जो घट, उस घट से अन्य जो पट उसमें समवायेन बहुत्व संख्या है। उस घट में समवायेन रहने वाली बहुत्व संख्या से भिन्न घट में समवायेन रहने वाली जो बहुत्व संख्या तादृश बहुत्व संख्यावान् घट है। हेतु = अश्रावणविशेषगुणाधिकरणत्व का पदकृत्य इस प्रकार है— गुणाधिकरणत्व कहने पर कालादि में हेतु चला जाता, क्योंकि संख्यादि पञ्चगुणाधिकरणत्व कालादि में है किन्तु द्रव्यत्वव्याप्य जात्याश्रयत्वेन नानात्व नहीं है। अतः व्यभिचारदोष होगा। इस लिये गुण में विशेष विशेषण दिया गया। यदि विशेषगुणाधिकरणत्व को हेतु बनाते तब आकाश में व्यभिचारदोष होता, क्योंकि आकाश में शब्द रूप विशेष गुण रहता है। किन्तु आकाश में द्रव्यत्वव्याप्य जात्याश्रयत्वेन नानात्व नहीं है। अतः विशेष गुण में अश्रावण विशेषण दिया गया। अर्थात् जो श्रावणप्रत्यक्ष का विषय शब्द रूप विशेष गुण है। उससे भिन्न विशेषगुणाधिकरणत्व को हेतु बनाया गया। ऐसा हेतु पूर्वपक्षी के अनुसार पक्ष और दृष्टान्त दोनों में है। इस अनुमान का खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि इस अनुमान में स्वरूपासिद्धि दोष है, क्योंकि आत्मा निर्गुण है। अतः आत्मा किसी भी गुण का अधिकरण हो ही नहीं सकता है। दूसरी बात यह है कि इस अनुमान में—चैत्र धर्मिसत्तासमानसत्ताक चैत्रप्रतियोगिक भेद वाला है। द्रव्यत्व होने से, घटवत् —इस प्रकार के अनुमानाभास की समानता भी षष्ठ अनुमान में है। साम्यात् = तर्कशून्यत्वेन तुल्यत्वात्= अर्थात् जैसे इस अनुमान में कोई तर्क नही है वैसे ही पूर्वपक्षी के अनुमान में भी कोई तर्क नहीं है।।२।।

एतेन = अप्रसिद्धविशेषणत्व और आभास साम्यादि दोषों के होने से, माध्व मत के नवीन आचार्यों के

सर्वज्ञत्वात्, सर्वकार्यकर्तृत्वात्, स्वतन्त्रत्वाद्वा, व्यतिरेकेण जीववत्। (२) जीवो वा, ब्रह्मप्रतियोगिकतात्त्विकभेदवान्, अल्पशक्तित्वात्, अल्पज्ञत्वात्, अल्पकर्तृत्वात्, संसारित्वाद्वा, व्यतिरेकेण ब्रह्मवत्, इत्यादिषु भेदस्य स्वरूपत्वेन तद्वत्त्वसाधने बाधात्। न च विशेषमादाय तदुपपादनम्; तस्य स्वरूपानतिरेकेण तद्वत्त्वसम्पादकत्वात्, अप्रसिद्धविशेषणतापत्तेश्च।।३।।

न च—जीवब्रह्माभेदेऽनिष्टप्रसक्त्या अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यत्वादेरिव त्वत्सिद्धस्वप्रकाशत्वादेरिव च साध्यस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

द्वारा कृत अनुमान भी निरस्त हो जाते हैं। नवीन आचार्यों के अनुमान — (१) ईश्वर जीवप्रतियोगिक तात्त्विक भेद वाला है, सर्वशक्तित्व होने से अथवा सर्वकार्यकर्तृत्व होने से अथवा स्वतन्त्रत्व होने से। जो जीवप्रतियोगिक तात्त्विक भेद वाला नहीं होता है वह उक्त हेतुओं (सर्वशक्तित्वादि) वाला भी नहीं होता है, जैसे जीव। अर्थात् दृष्टान्त में व्यतिरेक व्याप्ति मिल गयी और पक्ष में हेतु है। अतः व्याप्तिविशिष्टपक्षध ार्मतारूप परामर्श के होने पर पक्ष में साध्य की सिद्धि अर्थात् ईश्वर में जीव का तात्त्विक भेद सिद्ध होता है यह पूर्वपक्षी का भाव है। (२) जीव ब्रह्मप्रतियोगिक तात्त्विक भेद वाला है, अल्पशक्तित्व होने से अथवा अल्पज्ञत्व होने से अथवा अल्पकर्तृत्व होने से अथवा संसारित्व होने से। व्यतिरेक व्याप्ति= जो साध्य वाला नहीं है वह उक्त हेतु वाला भी नहीं है जैसे ब्रह्म। पक्ष में हेतु है। अतः व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता के मिल जाने से पक्ष में साध्य की सिद्धि = जीव में ब्रह्म प्रतियोगिक तात्त्विक भेद की सिद्धि हो जायेगी—यह पूर्वपक्षी का भाव है। इसका खण्डन करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि माध्व मत में भेद को अधिकरण स्वरूप माना जाता है, ऐसा होने पर प्रकृत में जीव भेद ईश्वर स्वरूप ही हो गया। अतः ईश्वर जीव भेद वाला हो ही नहीं सकता है। अतः ईश्वर जीव भेद वाला है— ऐसा साध्य करने पर पूर्वपक्षी के मतानुसार ही बाध दोष होगा। यदि कहा जाय कि विशेष नामक पदार्थ को लेकर भेदवत्त्व का उपपादन हो जायेगा। अर्थात् जीव में रहने वाले विशेष से भिन्न प्रकार का विशेष ईश्वर में रहकर ईश्वर को जीव भेदवत्त्वेन (जीवभिन्नत्वेन) बोधन करा देगा—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि विशेष जो है वह स्वरूप से अभिन्न है। (इसका निरूपण ''माध्वाभिमत— विशेषपदार्थविचारः'' के खण्ड संख्या—६ में ''विशेषोऽप्यनवस्थाभिया वस्त्वभिन्न इति'' इत्यादि से कहा जा चुका है।) अर्थात् विशेष भी ईश्वर के स्वरूप से अभिन्न है। इसलिए वह ईश्वर में भेदवत्त्व का उपपादन नहीं कर पायेगा। (तद्वत्त्वसम्पादकत्वात् का सन्धि विच्छेद = तद्वत तु असम्पादकत्वात्—करें) सिद्धान्त मतानुसार तात्त्विक भेद अप्रसिद्ध होने से उक्त अनुमानों में साध्याप्रसिद्धि दोष भी है।।३।।

शङ्का— ''यद् विपर्ययेऽसमिहितप्रसक्तिः तत् क्वचिन् मानयोग्यम्''= अर्थात् जिस पदार्थ का अभाव मानने पर अनिष्ट (दोष) की प्राप्ति हो वह पदार्थ अवश्य किसी प्रमाण का विषय माना जाता है— इस न्याय का अनुसरण करते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि जीव का तात्त्विक भेद ईश्वर में न मानने पर अर्थात् अभेद मानने पर ईश्वर में जीव का धर्म अल्पज्ञत्वादि स्वीकार करने की आपत्ति रूप अनिष्ट की प्राप्ति होगी। अतः ईश्वर और जीव में तात्त्विक भेद रूप साध्य किसी न किसी प्रमाण का विषय अवश्य होगा— इस प्रकार सामान्यरूप से साध्य की प्रसिद्धि हो जायेगी। जब विशेष प्रमाण की जिज्ञासा होगी तब पूर्वोक्त अनुमान का उल्लेख कर देंगे। अतः अप्रसिद्ध विशेषणता दोष पूर्वोक्त अनुमान में नहीं दिया जा सकता है। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैस न्यायमत में ''इच्छादयः क्वचिदाश्रिताः, गुणत्वात्, रूपवत्'' इस प्रकार सामान्य अनुमान से कोई आश्रय की प्रसिद्धि होने पर इच्छादि में अष्टद्रव्याश्रितत्व के बाध होने पर अष्टद्रव्यभिन्नद्रव्याश्रयत्व की सिद्धि होती है— इच्छादयोऽष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिता

मानयोग्यत्वसम्भव इति—वाच्यम्; तात्त्विकभेदव्यतिरेकेऽपि उपाधिकल्पितभेदेन सर्वानिष्टपरिहारसम्भवात्। न च—जीवो ब्रह्म वा, किञ्चिद्धर्मिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदप्रतियोगी, अधिष्ठानत्वात्, शुक्तिवदिति सामान्यतः

सत्यानन्दप्रबोधिका

अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा गन्धादिः। इसी प्रकार सिद्धान्ती के मत में भी ''अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा अनुभूतित्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः।'' यहाँ पर साध्य=स्वयंप्रकाश= अवेद्यत्वविशिष्ट अपरोक्ष व्यवहारयोग्यत्व के घटक अवेद्यत्व की प्रसिद्धि के लिये सिद्धान्ती अनुमान करते हैं— वेद्यत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वात्, शौक्ल्यवत्।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जीव और ब्रह्म में अभेद होने पर भी कोई अनिष्ट (एक ही चैतन्य में सर्वज्ञत्व अल्पज्ञ विरुद्ध धर्मो के रहना रूप अनिष्ट) की आपत्ति नहीं होगी क्योंकि शाखावच्छेदेन कपिसंयोग और मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभाव दोनों विरुद्ध धर्म एक ही वृक्ष में रहता है वैसे ही प्रकृत में भी अन्तःकरण और माया उपाधियों के भेद से सर्वज्ञत्व माया विशिष्ट चैतन्य में और अल्पज्ञत्व अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य में रह जायेगा। अतः तात्त्विक भेद के न होने पर भी कल्पित भेद से सर्व अनिष्ट का परिहार हो जाने से ''यद् विपर्ययेऽसमीहितप्रसक्तिः '' इत्यादि न्याय के बल पर केवल भेद सिद्ध होता है। कल्पित भेद सिद्धान्त मत में माना ही जाता है। फलतः उक्त प्रकार से तात्त्विक भेद की सिद्धि नहीं की जा सकती है।

शङ्का— पीछे पूर्वपक्षी ने कहा कि उक्त न्याय के बल पर ईश्वर और जीव में तात्त्विक भेद रूप साध्य किसी न किसी प्रमाण का विषय अवश्य होगा। इस प्रकार सामान्यतः साध्य की प्रसिद्धि हो जायेगी। जिस अनुमान से साध्य की सामान्यतः प्रसिद्धि होगी। उस अनुमान को पूर्वपक्षी दे रहा है— (१) जीवः किञ्चिद्धर्मिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदप्रतियोगी, अधिष्ठानत्वात्, शुक्तिवत्। (२) ब्रह्म किञ्चद् धर्मिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदप्रतियोगी, अधिष्ठानत्वात्, शुक्तिवत्। प्रथम अनुमान में पक्ष—देवदत्त जीव। पक्ष में साध्य का समन्वय—किञ्चद् धर्मिक= यज्ञदत्त के आत्मा रूपधर्मी में रहने वाला देवदत्त के आत्मा का भेद, वह भेद प्रतियोगी (देवदत्त की आत्मा) के ज्ञान के द्वारा अबाध्य है। ऐसे भेद का प्रतियोगी = देवदत्त की आत्मा। उक्त प्रतियोगित्व देवदत्त की आत्मा में रहेगा। इस प्रकार पक्ष में साध्य का समन्वय हो जायेगा। पक्ष में हेतु का समन्वय —सिद्धान्त मतानुसार एक जीव में अपर जीव के भेद का भ्रम होता है। उस भेद भ्रम का अधिष्ठान=जीव। अतः अधिष्ठानत्व जीव में चला जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय —रजत में रहने वाला शुक्ति का भेद, उस भेद का प्रतियोगी =शुक्ति। उस शुक्ति के ज्ञान के द्वारा उक्त भेद अबाध्य है। ऐसे भेद का प्रतियोगी शुक्ति। अतः उक्त प्रतियोगित्व शुक्ति में चला जायेगा। दृष्टान्त में हेतु रहेगा ही क्योंकि रजतभ्रम का अधिष्ठानत्व शुक्ति में रहता ही है। द्वितीय अनुमान के साध्य और हेतु का दृष्टान्त में समन्वय प्रथम अनुमान के जैसे होगा। पक्ष में हेतु का समन्वय सुगम है क्योंकि सम्पूर्ण प्रपञ्च का अधिष्ठान ब्रह्म है। अतः ब्रह्म में अधिष्ठानत्व रहेगा। पक्ष में साध्य का समन्वय — जीव में रहने वाला ब्रह्म का भेद। वह भेद प्रतियोगीभूत ब्रह्म के ज्ञान से अबाध्य है। ऐसे भेद का प्रतियोगी—ब्रह्म। अतः उक्त प्रतियोगित्व ब्रह्म में चला जायेगा। इस प्रकार से सामान्यतः साध्य की प्रसिद्धि हो जायेगी। सामान्यतः साध्य की प्रसिद्धि इसलिए कह रहे हैं कि किस धर्मी में रहने वाला वह तात्त्विक भेद है। उस धर्मी का उल्लेख इस अनुमान के द्वारा नहीं किया गया है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यत् किञ्चत् धर्मी पद से जीव लेंगे, उसमें अभाव (भेद) घट का है। उसका प्रतियोगी घट। उस घट के ज्ञान के द्वारा अबाध्य जीव का भेद,

साध्यप्रसिद्धिरिति—वाच्यम्; यत्किञ्चदभावप्रतियोगिघटादिज्ञानाबाध्यभेदप्रतियोगित्वेनात्मज्ञानाबाध्यभेदासिद्धेः, स्वप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदप्रतियोगित्वे साध्ये दृष्टान्ते स्वपदेन शुक्तेर्दार्ष्टान्तिके स्वपदेनात्मन उक्तेर्व्याप्तग्रहानुपपत्तेः।।४।।

यत्तु जीवात् भिन्न'इत्येव साध्यम्, मिथ्याभेदेन सिद्धसाधनं पश्चान्निरसनीयमिति, तन्न, निरसनोपायस्य निरसिष्यमाणत्वात्। न च ब्रह्म जीवप्रतियोगिकधर्मिसत्तासमानसत्ताकभेदवदित्येव साध्यम्; धर्मिपदेन ब्रह्मण

सत्यानन्दप्रबोधिका

उसका प्रतियोगी जीव—इस प्रकार सिद्ध हो जाने से वह भेद आत्म ज्ञान के द्वारा अबाध्य है, जो तुम सिद्ध करना चाह रहे थे, वह सिद्ध नहीं हो पायेगा। किञ्चद् धर्मिकस्वप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदप्रतियोगित्वम् —ऐसा साध्य बनाने पर यत् किञ्चद् धर्मी से यज्ञदत्त की आत्मा लेंगे। उनमें रहने वाला जो भेद उसका प्रतियोगी= पक्ष = देवदत्त की आत्मा को लेना पड़ेगा। अर्थात् स्वप्रतियोगी शब्द से देवदत्त की आत्मा को ही लेना पड़ेगा न कि घटादि को। अतः देवदत्त की आत्मा के ज्ञान से अबाध्य भेद का प्रतियोगित्व = देवदत्त की आत्मा में गया। इसलिए देवदत्त की आत्मा के ज्ञान से अबाध्य भेद की सिद्धि हो जायेगी। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त प्रकार से साध्य बनाने पर दृष्टान्त में साध्य का समन्वय करते समय स्व पद से शुक्ति और पक्ष में साध्य का समन्वय करते समय स्व पद से आत्मा को लेने पर अनुगत व्याप्ति ग्रह नहीं हो पायेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि ''प्रतिज्ञावाक्यबोधितसाध्यतावच्छेदकरूपेणोदाहरणवाक्यात् व्याप्ति ग्रहः। अर्थात् पर्वतो वह्निमान्—इस प्रतिज्ञा वाक्य के द्वारा बोधित साध्य =वह्नि, साध्यतावच्छेदक= वह्नित्व। अतः वह्नित्वरूपेण वह्नि का ही उदाहरण वाक्य में समन्वय किया जाता है, अन्यरूपेण नहीं। प्रकृत में प्रतिज्ञा वाक्यबोधित साध्य स्वप्रतियोगी घटित है। यहाँ स्व पद से पूर्वपक्षी ने देवदत्त की आत्मा लिया। अतः उदाहरण वाक्य में भी आत्मत्वेन आत्मा लेना पड़ेगा न कि शुक्ति। शुक्ति को लेने पर व्याप्ति ज्ञान नहीं हो पायेगा—यह सिद्धान्ती के कथन का भाव है।।४।।

शङ्का— पूर्वपक्षी के कुछ आचार्यों का कथन है कि ''ब्रह्म जीवाद् भिन्नम्, अधिष्ठानत्वात्, शुक्तिवत्।'' ऐसा अनुमान करेंगे। ऐसा अनुमान करने पर साध्याप्रसिद्धि की आपत्ति नहीं होगी क्योंकि सिद्धान्ती भी कल्पित भेद मानते ही हैं। इस पर यदि सिद्धान्त पक्ष से कल्पित भेद को लेकर सिद्धसाधनदोष दिया जाता है तब इसके समाधान में कह दिया जायेगा कि सद् हेतु के द्वारा सिद्ध पदार्थ कल्पित नहीं होता है अपितु तात्त्विक होता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि कल्पित भेद को लेकर सिद्धसाधनदोष देने पर पूर्वपक्षी के द्वारा सिद्धसाधनदोष के निरास के लिये जो उपाय दिया जायेगा। उन उपायों का निरास खण्ड ७ में किया जायेगा। यदि कहा जाय कि ''ब्रह्म जीवप्रतियोगिक जो धर्मिसत्तासमानसत्ताक भेद तादृश भेद वाला है'' ऐसा साध्य का आकार लेंगे। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि धर्मी पद से ब्रह्म का ग्रहण करने पर ब्रह्म समान सत्ताक तात्त्विक भेद की प्रसिद्धि न होने के कारण साध्याप्रसिद्धि दोष जो खण्ड संख्या १ के अनुमान २ में कहा गया है वह बना ही रहेगा और धर्मी पद से घटादि किसी भी वस्तु को लेने पर सिद्धसाधनदोष होगा, क्योंकि घटादि की सत्ता के समान व्यावहारिक भेद सिद्धान्त मत में माना ही जाता है। विपक्षबाधक रूप तर्क के न रहने पर खण्ड सं० १ में कथित द्वितीय अनुमान के हेतु सर्वज्ञत्व को लेकर जो असाधारण अनैकान्तिक दोष दिया गया था। वह दोष भी आयेगा। पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो अनुमान किया जाता है कि — ब्रह्म जीवप्रतियोगिक तात्त्विक अभेद वाला नहीं है (सर्वज्ञत्व होने से, जो साध्य वाला

उक्तावप्रसिद्धविशेषणत्वतादवस्थ्यात्, यत्किञ्चिद्धर्म्युक्तौ घटादिधर्मिसमानसत्त्वेन सिद्धसाधनात्, विपक्षबाधकरूपविशेषाभावे पूर्वोक्तासाधारण्यापत्तेश्च (असाधारण्यानतिवृत्तेः)। यत्तु ब्रह्म जीवप्रतियोगिकतात्त्विकाभेदवन्नेति, तन्न, एवमपि तात्त्विकाभेदस्यातात्त्विकाभावेन सिद्धसाधनात्, अभावेऽपि तात्त्विकत्वविशेषणे अप्रसिद्धितादवस्थ्यात्।।५।।

ननु—अत्र जीवप्रतियोगिकतात्त्विकभेदस्यान्योन्याभावरूपत्वान्नाप्रसिद्धिर्दोषः, यत्र ह्यभावव्यापकतया हेत्वभावो गृह्यते, तत्रैव साध्यप्रसिद्धिरङ्गम्, इह तु जीवतादात्म्यव्यापकता हेत्वभावस्य ग्राह्या, तदभावो हेतुना साध्यत इति किं साध्यप्रसिद्ध्या? तां विनापि व्याप्तग्रहोपपत्तेः, सन्देहरूपपक्षतासम्पत्तयेऽपि न तदपेक्षा;

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं है, वह हेतु वाला नहीं है जैसे जीव। दृष्टान्त में व्यतिरेक व्याप्ति का समन्वय — साध्य का अभाव =जीवप्रतियोगिक तात्त्विक अभेद का अभाव= जीवप्रतियोगिक तात्त्विक भेद, यह जीव में है और हेतु सर्वज्ञत्व का अभाव भी जीव में है। पक्ष में हेतु है। इसलिए पक्ष में साध्य की सिद्धि होने से ब्रह्म में जीवप्रतियोगिक तात्त्विक भेद की सिद्धि हो जायेगी— यह पूर्वपक्षी का भाव है।) इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि साध्य = उक्त अभेद का अभाव को पूर्वपक्षी क्या अतात्त्विक मानते हैं? अथवा तात्त्विक मानते हैं? प्रथम पक्ष में सिद्धसाधनदोष होगा, क्योंकि जीव प्रतियोगिक तात्त्विक अभेद का अभाव कल्पित होने पर जीव प्रतियोगिक तात्त्विक अभेद सिद्ध होगा। द्वितीय पक्ष मानने पर जीवप्रतियोगिक तात्त्विक अभेद का अभाव = जीवप्रतियोगिक तात्त्विक भेद। ऐसा होने पर साध्याप्रसिद्धि दोष होगा, क्योंकि सिद्धान्त मत में तात्त्विक भेद माना नहीं जाता है।।५।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने जो कहा कि उक्त व्यतिरेकी अनुमान में साध्याप्रसिद्धि दोष है, वह उचित नहीं है क्योंकि उक्त साध्य का स्वरूप = जीव प्रतियोगिक तात्त्विक भेद है। भेद का अर्थ अन्योन्याभाव = तादात्म्याभाव है। अतः साध्याप्रसिद्धि दोष नहीं होगा। इसको स्पष्ट करते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि व्यतिरेकी अनुमान स्थल पर साध्य दो प्रकार का होता है भावरूप और अभाव रूप। जब भावरूप साध्य होता है तब ''यत्र यत्र साध्याभावः तत्र तत्र हेत्वभावः'' ऐसी व्याप्ति के समय साध्याभाव लिया जायेगा। अभाव ज्ञान के प्रति प्रतियोगी ज्ञान कारण होता है। अतः भावरूप साध्य के अभाव के प्रति भावरूपसाध्य का ज्ञान कारण हो गया। अतः उसके ज्ञान की आवश्यकता होगा। इसको मूल में कहा कि जहाँ पर अभाव व्यापकत्वेन हेत्वभाव ग्रहीत होता है वहीं पर साध्य की प्रसिद्धि अङ्ग है। किन्तु जब व्यतिरेकी अनुमान में साध्य अभावरूप होगा तब उसकी प्रसिद्धि की आवश्यकता नहीं होती है। अपितु जो अभाव रूप साध्य के अभाव की प्रसिद्धि की अपेक्षा होती है। वह प्रकृत में है। इसको स्पष्ट करते हुये पूर्वपक्ष कह रहा है भेद = अन्योन्याभाव = तादात्म्याभाव होता है। उक्त अनुमान का साध्य = जीवप्रतियोगिक तात्त्विक अभेद का अभाव = तात्त्विक भेद = तात्त्विक अन्योन्याभाव =तात्त्विक तादात्म्याभाव। व्यतिरेक व्याप्ति में व्याप्य = साध्याभाव — तात्त्विक तादात्म्याभाव का अभाव = तात्त्विक तादात्म्य = तात्त्विक अभेद। वह तात्त्विक अभेद देवदत्त जीव का देवदत्त जीव के साथ रहने से वह अभेद जीव में प्रसिद्ध हो गया। इसको मूल में कहा गया कि इह तु = उक्त अनुमान जिसमे सिद्धान्ती ने साध्याप्रसिद्धि दोष दिया था यहाँ पर व्याप्य = साध्याभाव = जीव तादात्क्य का व्यापक हेत्वभाव ग्राह्य है वह तो देवदत्त में प्रसिद्ध ही है। जिसकी प्रसिद्धि हुयी है उसी के अभाव को सर्वज्ञत्व हेतु के द्वारा सिद्ध किया जा रहा है। इस प्रकार से व्यतिरेक व्याप्ति के लिये जो साध्याभाव की प्रसिद्धि आवश्यक थी, वह हो गयी। फलतः उक्त तात्त्विक

तस्यास्सिषाधयिषाविरहसकृतसाधकमानाभावरूपत्वेन सन्देहाघटितत्वात्, 'ब्रह्म तत्त्वतो जीवभिन्नं न वा, इति सन्देहाभावेऽपि 'जीवब्रह्मणोर्भेदे तात्त्विकत्वमस्ति न वा'इति सन्देहसम्भवाच्च, प्रमेयत्वमेतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि न वेति सन्देहवदिति—चेत्, न, एवं हि प्रसिद्धेतरभेदः पृथिव्यामिव प्रसिद्धजीवभेदो ब्रह्मणि सिद्ध्यतु, न तद्गततात्त्विकत्वमपि; व्यापकव्यतिरेकस्य व्याप्यव्यतिरेकमात्रसाधनसमर्थत्वात्, अन्यथातिप्रसङ्गात्। यदपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

भेद रूप साध्य की प्रसिद्धि न भी हो तो भी व्यतिरेक व्याप्ति की उपपति हो जायेगी। अतः साध्यप्रसिद्धि का कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि उसके विना भी व्यतिरेक व्याप्ति की उपपति हो गयी। (यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि उक्त प्रकार से व्यतिरेक व्याप्ति के लिये साध्य की प्रसिद्धि अपेक्षित न होने पर भी प्राचीन आचार्यों के द्वारा कथित ''सन्दिग्ध साध्यधर्मवत्त्वं पक्षत्वम्'' इस लक्षण के अनुसार सन्देह रूप जो पक्षता तादृश पक्षता की सिद्धि के लिये साध्य के प्रसिद्धि की अपेक्षा होगी, क्योंकि साध्य यदि प्रसिद्ध नहीं है तब तो पक्ष में साध्य का सन्देह ही नहीं हो पायेगा और साध्य का सन्देह न होने पर पक्षता का सम्पादन नहीं हो पायेगा। इसका खण्डन करते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि) सन्देह रूप पक्षता के सम्पादन के लिये साध्य की प्रसिद्धि आवश्यक है— यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यहां ''सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकप्रमाणाभाववत्त्वं पक्षत्वम्'' को पक्षता का लक्षण माना जाता है। अर्थात् हम नवीन आचार्यों के द्वारा कथित पक्षता का लक्षण लेंगे, जो कि साध्य के सन्देह से घटित नहीं होता है। फलतः पक्षता के सम्पादन के लिये भी साध्य की प्रसिद्धि की आवश्यकता नहीं है। अब पूर्वपक्षी यह कह रहा है कि यदि पक्षता का लक्षण प्राचीन आचार्यों के अनुसार सन्देह घटित वाला माना भी जाय तो भी दोष नहीं होगा क्योंकि ''ब्रह्म तत्त्वतः जीव से भिन्न है? अथवा नहीं?'' इत्याकारक सन्देह तात्त्विक भेद की प्रसिद्धि न होने के कारण सम्भव न होने पर भी ''जीव और ब्रह्म के भेद में तात्त्विकत्व है ? अथवा नहीं? इत्याकारक सन्देह सम्भव हो जायेगा क्योंकि तात्त्विकत्व की प्रसिद्धि ब्रह्म में है। जैसे ''प्रमेयत्व एतन्निष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगी है? अथवा नहीं?'' यह सन्देह होता है। अर्थात् ''घटः प्रमेयोऽभिधेयत्वात्'' इस अनुमान में घट निष्ठ पक्षता के सम्पादक के रूप से ''घटः प्रमेयो न वा'' ऐसा सन्देह रहना आवश्यक नहीं है, क्योंकि वैसा सन्देह सुलभ नही, क्योंकि एक प्रमेय के ज्ञान के समय प्रमेयत्वेन निखिल प्रमेय का ज्ञान हो जाता है। अतः घट प्रमेय है—इसका भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार प्रमेयत्व की प्रसिद्धि होने पर ''प्रमेयत्वं घटनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि न वा?'' ऐसा सन्देह सुलभ है और इस सन्देह के बल पर घट पक्ष में पक्षता की उपपत्ति हो जाती है।

समाधान — पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि एवम् = केवल व्यतिरेकी अनुमान में यदि साध्य अभाव रूप है तब उसकी प्रसिद्धि आवश्यक नहीं है किन्तु साध्याभाव की प्रसिद्धि आवश्यक है—ऐसा मानने पर भी अभाव (भेद) रूप साध्य को लेकर जैसे व्यतिरेकी अनुमान किया जाता है— पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते पृथिवीत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा जलम्। इस स्थल पर प्रसिद्ध जो जलादि रूप त्रयोदश इतर पदार्थ (जलादि आठ दव्य और गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय रूप पांच भाव पदार्थ) का भेद मात्र पृथिवी में सिद्ध होता है ठीक इसी प्रकार उक्त अनुमान से जीव का भेद मात्र ब्रह्म में सिद्ध होगा न कि जीव भेद के साथ—साथ जीवभेदगत तात्त्विकत्व सिद्ध होता है। व्यावहारिक भेद सिद्धान्त मत में भी मान्य होने से उक्त अनुमान में सिद्धसाधनदोष होगा। जीव भेदगत तात्त्विकत्व सिद्ध क्यों नहीं होता है? इसको स्पष्ट करते हुये कह रहे हैं कि व्यापकाभाव ही व्याप्याभाव के साधन में समर्थ होता है। प्रकृत में —''यत्र यत्र जीवभेदाभावः तत्र तत्र सर्वज्ञत्वाभावः (१) यहाँ व्यापक —सर्वज्ञत्वाभाव, व्यापकाभाव= सर्वज्ञत्व उसमें

भेदतात्त्विकत्वं धर्मिनिष्ठत्वेन उदशङ्कि, तदपि साध्याप्रसिद्ध्या दुष्टम्।।६।।

नापि ब्रह्म, जीवात् भिन्नम्, दुःखाननुभवितृत्वात्, घटवदित्यन्वयि; सर्वानुभवितरि हेतोरसिद्धेः। स्वनिष्ठेति विशेषणे जीवे व्यभिचारः, दुःखस्यान्तःकरणनिष्ठत्वात्, मिथ्याभेदेन सिद्धसाधनाच्च। न च—भेदे साध्ये अर्थशून्यभ्रान्त्या सिद्धसाधनोक्त्ययोग इति—वाच्यम्; भ्रान्तेर्वस्तुशून्यत्वस्यैवाभावात्। उक्तमिदमनिर्वाच्यवादे। न चैतदनुमितिविषयतया प्रामाणिकत्वेन सिद्ध्यतः कथं मिथ्यात्वम्; अनुमितिविषयतायाः प्रामाणिकत्वे अतन्त्रत्वात्। न चैवं मिथ्यात्वाद्यनुमानेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्याप्य = जीवभेदाभाव, व्याप्याभाव = जीव भेद को सिद्ध करने की क्षमता है (न कि जीव के तात्त्विक भेद को सिद्ध करने की क्षमता है) अन्यथा = व्यापकाभाव से व्याप्याभाव मात्र की सिद्धि होती है—यह न मानने पर अर्थात् उक्त अनुमान को जीव भेद मात्र की सिद्धि न मानकर जीवभेदगत तात्त्विकत्व की भी सिद्धि मानने पर जहाँ व्यतिरेक व्याप्ति है— यत्र यत्र वह्न्यभावः तत्र तत्र धूमाभावः'' इस स्थल पर व्यापकाभाव = धूमाभावाभाव= धूम से व्याप्याभाव= वह्न्यभावाभाव = वह्नि मात्र की सिद्धि न होकर वह्निगत जलत्वादि की सिद्धि का प्रसङ्ग आयेगा। ''जीव ब्रह्मणोर्भेदेतात्त्विकत्वमस्ति न था?'' ऐसी जो शङ्का की गयी थी। वह शङ्का भी साध्य=जीव के तात्त्विक भेद की अप्रसिद्धि होने के कारण दुष्ट है। उदशङ्कि= शङ्कित किया। ''उदशङ्कि'' के स्थान पर ''उददङ्कि'' ऐसा पाठान्तर है किन्तु दोनों पाठों के अर्थो में समानता है।।६।।

पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो अनुमान किया जाता है कि — ब्रह्म जीव से भिन्न है, दुःख का अनुभवितृत्व न होने से, जैसे घट। दृष्टान्त में हेतु और साध्य है और पक्ष में हेतु है। अतः पक्ष पर साध्य की सिद्धि हो जायेगी— यह पूर्वपक्षी का भाव है। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पक्ष में हेतु नहीं रहेगा, क्योंकि ब्रह्म में सर्व का अनुभवितृत्व श्रुतियों से जब सिद्ध है और उभयवादी उसमें सर्वज्ञत्व मानते हैं तब ब्रह्म में जीवगत दुःख का भी अनुभवितृत्व सम्भव हो जायेगा। अतः उक्त हेतु पक्ष में न रहने से स्वरूपासिद्धि दोष होगा। यदि कहा जाय कि उक्त हेतु में स्वनिष्ठ विशेषण देंगे। अर्थात् हेतु का आकार होगा— स्वनिष्ठदुःखाननुभवितृत्वात्। ऐसा हेतु बनाने पर स्वरूपासिद्धि दोष नहीं होगा, क्योंकि जीव गत दुःख का अनुभव ब्रह्म तो करता है किन्तु स्वगत दुःख का अनुभव नहीं करता है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि उक्त प्रकार से हेतु बनाने पर जीव में व्यभिचार होगा, क्योंकि देवदत्त जीव में देवदत्त जीव का भेद न रहने पर भी अर्थात् देवदत्त जीव में साध्य न रहने पर भी स्वगत दुःख अननुभवितृत्वरूप हेतु रहता है, क्योंकि दुःख अन्तःकरण निष्ठ होने से दुःख का अनुभविता अन्तःकरण है न कि जीव चैतन्य। दूसरी बात यह भी है कि ब्रह्म में जीव का कल्पित भेद मानकर सिद्धसाधन दोष भी उक्त अनुमान में होगा।

शङ्का— माध्वमत में भ्रान्ति का विषय रजतादि अलीक होता है जब कि भेद रूप विषय (जो कि अलीक नहीं है) को साध्य बनाया गया है। अतः भेदरूप विषय में भ्रान्ति नहीं हो सकती है। अतः भ्रान्ति के विषयीभूत भेद (मिथ्याभेद) को लेकर सिद्धसाधनदोष नहीं दिया जा सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि भ्रान्ति का विषय अलीक नहीं होता है अपितु विषयिता सम्बन्ध से अनिर्वचनीय विषय होता है— यह अनिर्वचनीय वाद में कहा जा चुका है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जो प्रमाण का विषय होता है वह तात्त्विक होता है न कि कल्पित। अतः ''ब्रह्म जीवाद् भिन्नम्'' इस अनुमिति का विषय होने से जीव भेद भी तात्त्विक सिद्ध होगा। इसलिये जीव भेद में मिथ्यात्व मानकर सिद्धसाधनदोष नहीं दिया जा सकता है।

समाधान—उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जो अनुमिति का विषय होता है, उसमें प्रमाणिकत्व होता

कल्पितमिथ्यात्वादिना सिद्धसाधनापत्तिः; कल्पितत्वं व्यावहारिकत्वमभिप्रेतं प्रातिभासिकत्वं वा, आद्य इष्टापत्तेः, अन्त्ये हेतोस्स्वसमानसत्ताक साध्यसाधकतया प्रतिभासिकत्वाप्रसक्तेः।।७।।

एतेन—ब्रह्म, जीवप्रतियोगिकधर्मिसत्तासमानसत्ताकभेदवत्, दुःखाननुभवितृत्वात्, अभ्रान्तत्वात्, असंसारित्वात्, घटवत्। जीवो वा, ब्रह्मप्रतियोगिकतादृग्भेदवान्, असर्वशक्त्यादिभ्य इति—निरस्तम्; उपहितस्य पक्षत्वे धर्मिसमसत्ताकत्वे सिद्धेऽपि तात्त्विकत्वासिद्धेः सिद्धसाधनात्, शोधिततत्त्वंपदार्थयोः पक्षत्वे तयोर्धर्मित्वाभावेन बाधापत्तेः। न च— धर्मित्वाभावं प्रति धर्मित्वाधर्मित्वाभ्यां व्याघातः। ब्रह्मणः सर्वनिषेधस्वरूपत्वेन व्याघातभावात्, न च धर्मिशब्देनाश्रयमात्रविवक्षा; धर्मित्ववदाश्रयत्वस्यापि तत्रासत्त्वात्। यत्तु धर्मिशब्दस्य पित्रादिशब्दवत्

सत्यानन्दप्रबोधिका

है—ऐसा नियम नहीं माना जा सकता है क्योंकि रज्जु में सर्पद्रष्टा व्यक्ति के भयकम्प आदि के द्वारा मिथ्या सर्प की भी अनुमिति हो जाती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि एवम् = अनुमिति के विषय में कल्पितत्व मानने पर, ''प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात्'' इत्यादि प्रपञ्चगत मिथ्यात्व साधक अनुमान से जो मिथ्यात्व की अनुमिति होगी। उसमें भी कल्पितत्व रहेगा। ऐसा होने पर सत्यप्रपञ्च में कल्पित मिथ्यात्व मानने पर पूर्वपक्षी को भी कोई आपत्ति नहीं है। अतः मिथ्यात्वानुमान में सिद्धसाधनदोष का उद्भावन पूर्वपक्षी भी कर सकता है।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि मिथ्यात्व में जो कल्पितत्व है। उस कल्पितत्व का अर्थ क्या व्यावहारिकत्व है? अथवा प्रातिभासिकत्च है? प्रथम पक्ष मानने पर इष्टापत्ति है, क्योंकि मिथ्यात्व को सिद्धान्त मतानुसार पारमार्थिक या प्रातिभासिक नहीं माना जाता है। द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर ''दृश्यत्व'' हेतु का विशेषण देंगे— स्वसमानसत्ताकसाध्य— साधकत्वे सति''। अर्थात् हेतु का आकार होगा—''स्वसमानसत्ताकसाध्यसाधकत्वे सति दृश्यत्वात्'' फलतः दृश्यत्व हेतु जब व्यावहारिक सत्ता वाला है तब वह अपने समान सत्ता (व्यावहारिकसत्ता) वाले साध्य = मिथ्यात्व की सिद्धि करेगा। अतः मिथ्यात्व रूप साध्य में प्रातिभासिकत्व की आपत्ति नहीं होगा।।७।।

शङ्का— पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो अनुमान किया जाता है कि – ब्रह्म जीवप्रतियोगिक जो धर्मिसत्तासमानसत्ताकभेद तादृश भेद वाला है, दुःखाननुभवितृत्व होने से, अभ्रान्तत्व होने से, संससारित्व होने से, जैसे घट। (पक्ष में हेतु है और दृष्टान्त में हेतु और साध्य है। अतः पक्ष में जीव का तात्त्विक भेद सिद्ध हो जायेगा— यह पूर्वपक्षी का भाव है।) अथवा—जीव ब्रह्मप्रतियोगिक जो धर्मिसत्तासमानसत्ताक भेद तादृश भेद वाला है, असर्वशक्तित्व होने से, असर्वज्ञत्व होने से, अस्वतन्त्र होने से, जैसे घट। इस अनुमान से भी पक्ष में ब्रह्म का तात्त्विक भेद सिद्ध हो जायेगा।

समाधान— एतेन निरस्तम्—ऐसा अन्वय करना चाहिए। एतेन के अर्थ को स्पष्ट करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उपहित जीव या उपहित ईश्वर को पक्ष बनाने पर धर्मी (पक्ष) के समानसत्तावाला भेद सिद्ध होगा। वह भेद व्यावहारिक सत्ता वाला होगा न कि तात्त्विक, क्योंकि उपहित को व्यावहारिक (मिथ्या) ही माना जाता है। अतः सिद्धसाधनदोष होगा। यदि कहो कि शोधित तत् और त्वम् पदार्थ जो है। अर्थात् शुद्ध चैतन्य को पक्ष बनायेंगे तब बाध दोष होगा, क्योंकि शुद्ध चैतन्य में कोई धर्म न रहने के कारण धर्मिकत्व धर्म भी नहीं रहेगा। फलतः धर्मिसमानसत्ताकत्व का बाध हो जायेगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि धर्मित्व ब्रह्म में नहीं रहता है। इसका अर्थ यह होगा कि ब्रह्म में ध
र्मित्वाभाव रहता है। फलतः यह सिद्ध होगा कि ब्रह्म धार्मित्वाभाव का धर्मी है। ऐसा होने पर ब्रह्म में ध

सम्बन्धिशब्दत्वेन यत्किञ्चिद्धर्मिसमसत्ताकतया न सिद्धसाधनमिति, तन्न; शब्दस्वभावोपन्यासस्यानुमानं प्रत्युनुपयोगात्। एतेन—धर्मिपदस्थाने स्वपदमिति—अपास्तम्; धर्मिपदतुल्ययोगक्षेमत्वात्।।८।।

अतएव—धर्मिसत्तासमानसत्ताकपदस्थाने पारमार्थिकेति वा, यावत्स्वरूपमनुवर्तमानेति वा, स्वाज्ञानाकार्येति

सत्यानन्दप्रबोधिका

ार्मित्वाभाव निरूपित धर्मित्व के रह जाने से धर्मित्वाभाव का कथन व्याघातयुक्त होगा। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ब्रह्म धर्मित्वाभाव का धर्मी नहीं है तब तो ब्रह्म में धर्मित्वाभाव का अभाव= धर्मित्व के सिद्ध हो जाने पर पुन: धर्मित्वाभाव का कथन व्याघातयुक्त होगा।

समाधान—उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि भ्रम की निवृत्ति अधिष्ठान स्वरूप होती है। ब्रह्म सम्पूर्ण प्रपञ्च का अधिष्ठान है। सभी निषेध ब्रह्म स्वरूप होने के कारण धर्मित्वाभाव भी ब्रह्मस्वरूप ही है। अत: धर्मित्वाभाव को ब्रह्म से पृथक् ब्रह्म का धर्म मानकर व्याघात दोष नहीं दिया जा सकता है। यदि कहा जाय कि ब्रह्म निर्धर्मक होने के कारण उसमें धर्मित्व न रहने से जो बाध दोष आ रहा है, उसके वारण के लिये धर्मी शब्द से आश्रयमात्र कहेंगे। ऐसा कहने पर बाध दोष नहीं होगा, क्योंकि ब्रह्म प्रपञ्च का आश्रय होता ही है। इसका खण्डन करते हुये सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जैसे ब्रह्म में धर्मित्वरूप धर्म नहीं रहता है वैसे ही आश्रयत्व रूप धर्म भी ब्रह्म में नहीं रहता है। अत: आश्रय कहने पर भी बाध दोष बना ही रहेगा।

शङ्का— सिद्धान्ती ने खण्ड संख्या ५ में कहा था कि धर्मी शब्द से यत् किञ्चित धर्मी लेने पर घटादि धर्मी को लेकर सिद्धसाधनदोष होगा। इसका खण्डन करते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि धर्मी शब्द से जिस किसी को नहीं लिया जा सकता है अपितु ब्रह्म को ही लिया जायेगा। इसको स्पष्ट करते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे ''माता पूज्य है'' ऐसा कहने पर जिस किसी की माता अर्थात् स्वसुतमाता भार्या पूज्य है—ऐसा अर्थ नहीं किया जाता है अपितु अपने सम्बन्धी माता को ही लिया जाता है। ऐसे ही प्रकृत में धर्मी शब्द से जिस किसी धर्मी को नहीं लिया जा सकता है अपितु जीव भेद का धर्मी (अनुयोगी) जो ब्रह्म है वही लिया जायेगा। अत: घटादि को लेकर सिद्धसाधनदोष नहीं दिया जा सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि शब्द प्रमाण से जहाँ शाब्दाबोध हो रहा है वहाँ पर पूर्वपक्षी का उक्त कथन चरितार्थ होता है, क्योंकि शाब्द बोध में वक्ता के तात्पर्य के अनुसार ही अर्थ बोध होता है। (इसी लिए तो तात्पर्य ज्ञान को शाब्द बोध के प्रति हेतु माना जाता है।) किन्तु अनुमान प्रमाण में पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं लगता है, क्योंकि पूर्वपक्षी को धर्मी शब्द से किस धर्मी विशेष को कहा जा रहा है—यह कहना होगा। अन्यथा केवल धर्मी कहने पर जिस किसी धर्मी को लेकर सिद्धसाधनदोष दिया ही जा सकता है। यदि कहा जाय कि धर्मी शब्द के स्थान पर स्व पद लेंगे तो ऐसा कहने पर भी सिद्धसाधनदोष का वारण नहीं हो पायेगा, क्योंकि जैसे धर्मी पद से जिस किसी को लेकर सिद्धसाधनदोष होता है वैसे ही स्व पद से जिस किसी को लेकर सिद्धसाधनदोष होगा। यदि शब्द स्वभाव का उल्लेख करोगे तो अनुमान के अवसर पर शब्द स्वभाव का उल्लेख किया नहीं जा सकता है। जिसे स्पष्ट कर दिया गया है। एतेन आपस्तम् ऐसा अन्वय है। एतेन= शब्दस्वभावोपन्यासस्यानुमानं प्रति अनुपयोगेन।।८।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''धर्मिसत्तासमानसत्ताक'' के स्थान पर पारमार्थिक अथवा यावत् स्वरूपमनुवर्तमान अथवा स्वाज्ञानाकार्य अथवा स्वज्ञानाबाध्य विशेषण देंगे। (कहने का भाव यह है कि पारमार्थिक विशेषण देने पर साध्याप्रसिद्धि दोष सिद्धान्ती के द्वारा दिया जायेगा तब कहा कि ब्रह्म का स्वरूप जब तक रहता है तब तक रहने वाला भेद। ऐसा कहने से पूर्वपक्षी का तात्त्विक भेद सिद्ध होगा। यदि

वा, स्वज्ञानाबाध्येति वा विशेषणं देयम्, स्वपदस्य समभिव्याहृततत्तदर्थपरत्वस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वादिति—निरस्तम्; आद्ये साध्यवैकल्याच्च। न च—घटो जीवप्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदवान्, जीवधर्मिकधर्मिज्ञानाबाध्याभेदाप्रतियोगित्वात्, यत् यज्ज्ञानाबाध्ययद्धर्मिकाभेदाप्रतियोगि तत्

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्धान्ती कहते हैं कि सिद्धान्त मत में काल मिथ्या होने के कारण ब्रह्म ज्ञान से पूर्वतक रहता है तब तक मिथ्या भेद भी वर्तमान रहता है। इस प्रकार सिद्धसाधनदोष होगा। इसलिए तृतीय पक्ष = स्वाज्ञानाकार्य विशेषण दिया गया। भेद अज्ञान का कार्य नहीं है। अत: तात्त्विक है। यह पूर्वपक्षी का भाव है। इस पक्ष में अरुचि यह है कि मिथ्या भेद अनादि होने से किसी का कार्य नहीं है। अत: सिद्धसाधनदोष से बचने के लिये चतुर्थ कोटि को कहा गया। ब्रह्म ज्ञान से अबाध्य है भेद। अत: तात्त्विक है।) यदि कहा जाय कि स्व पद से जिस किसी को लेकर सिद्धसाधनादि दोष होगा। इसका समाधान देते हुये पूर्वपक्षी कह रहा है कि स्व पद में समभिव्याहृत तत्तत्पदार्थ की बोधकता व्युत्पत्ति सिद्ध है। अत: जिस किसी को स्व पद से लेकर सिद्धसाधनादि दोष नहीं दिया जा सकता है।

समाधान— अत एव निरस्तम् — ऐसा अन्वय है। अत एव = धर्मिपदतुल्ययोगक्षेमत्वादेव। सिद्धान्ती का कथन है कि पारमार्थिक विशेषण देने पर दृष्टान्त में साध्य का समन्वय नहीं हो पायेगा, क्योंकि घट रूप दृष्टान्त में जीव भेद को पारमार्थिक सिद्धान्त मतानुसार नहीं माना जाता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी साध्य वैकल्य दोष से बचने के लिये दूसरे अनुमान के द्वारा पूर्वोक्त अनुमान का जो दृष्टान्त घट है। उस घट निष्ठ भेद में पारमार्थिकत्व की सिद्धि कर रहा है। अनुमान का आकार है— घट जीव प्रतियोगिक जो प्रतियोगिकज्ञानाबाध्य भेद तादृश भेद वाला है, जीव धर्मिक जो धर्मिज्ञानाबाध्य अभेद तादृश अभेद का अप्रतियोगित्व होने से। जो यज्ज्ञानाबाध्य यद् धर्मिक अभेद का अप्रतियोगी होता है वह तज्ज्ञानाबाध्यतत्प्रतियोगिक भेद वाला होता है। जैसे दूरस्थ दो वनस्पतियों में से एक। (साध्यस्थ प्रतियोगी ज्ञान से पक्ष में ले जाते समय जीव का ज्ञान लिया जायेगा और दृष्टान्त में ले जाते समय वनस्पति का ज्ञान लिया जायेगा। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय — दूर स्थित दो वनस्पति में से एक वनस्पति दृष्टान्त है। यत् = दृष्टान्तीभूत एक वनस्पति, यत् = अपर वनस्पति के ज्ञान के द्वारा अबाध्य जो अभेद यत् = अपर वनस्पति रूप धर्मी में रहने वाला जो अभेद उसका अप्रतियोगी = एक वनस्पति। अर्थात् अपर वनस्पति में एक वनस्पति का अभेद न होने से उस अभेद का प्रतियोगी एक वनस्पति नहीं होगा। अत: उक्त अप्रतियोगित्व रूप हेतु दृष्टान्त में चला गया। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—तत् = एक वनस्पति, तत् = अपर वनस्पति के ज्ञान से अबाध्य जो भेद जो तत् = अपर वनस्पति प्रतियोगिक है। इस प्रकार अपर वनस्पति के भेद वाला एक वनस्पति के होने से दृष्टान्त में साध्य चला गया। पक्ष में हेतु का समन्वय—यत् = घट, यत् = जीव ज्ञान से अबाध्य जो अभेद और वह अभेद जीव धर्मिक है। उस अभेद का प्रतियोगी घट नहीं है। अत: अप्रतियोगित्व घट में गया। फलत: उक्त प्रकार से घट वृत्ति भेद में जीव (आत्म) ज्ञान से अबाध्य भेद सिद्ध हो गया। इसलिए साध्याप्रसिद्धि दोष नहीं होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा जो व्याप्ति का आकार दिया गया है। वह यत्—तत् पदों से घटित है। यत्तद् पद घटित व्याप्ति अनुगत नहीं होती है, क्योंकि दृष्टान्त में समन्वय करते समय यत् आदि पदों से जिसको लिया गया है। उसी को यत् पद से लेकर पक्ष में हेतु का समन्वय सम्भव नहीं होता है और पक्ष में हेतु का समन्वय करते समय यत् पद से जिसे लिया गया है। उसको लेकर

तज्ज्ञानाबाध्यतत्प्रतियोगिकभेदवत्, यथा दूरस्थवनस्पत्योरेक इत्याद्यनुमानेन साध्यसिद्धेर्नाप्रसिद्धिरिति—वाच्यम्: यच्छब्दाननुगमेन पक्षधर्महेतौ व्याप्त्यग्रहात्, धर्मित्वप्रतियोगित्वादिसामान्याकारेण व्याप्तिग्रहे विशिष्य साधनायोगात्। न च—एवं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तेत्यादौ का गतिरिति—वाच्यम्; तत्राप्येतद्दूषणसञ्चारेण व्यतिरेकिणि वानुमानान्तरे वा तात्पर्यात्।।९।।

नापि—ब्रह्म तत्त्वतो जीवाभिन्नं नेति साध्यम्, एवञ्च न साध्यवैकल्यशङ्कापि, त्वन्मतेऽपि कल्पितघटे कल्पितजीवात् तात्त्विकभेदवत्तात्त्विकाभेदस्याप्यभावादिति—वाच्यम्; तात्त्विकाभेदस्यातात्त्विकेनाभावेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

दृष्टान्त में हेतु का समन्वय नहीं होता है। फलत: व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता की सिद्धि न होने पर परामर्श की सिद्धि नहीं हो पाती है और परामर्श ज्ञान के न होने पर अनुमिति नहीं होगी—यह भाव है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि यत् तत् पदों का निवेश न करके उसके स्थान पर यत्किञ्चित् अनुयोगित्वप्रतियोगित्व व्यावहारिक घटित व्याप्ति बनाने पर पटादि रूप प्रतियोगी के ज्ञान से अबाध्य भेद पटादि में सिद्ध होने पर भी विशेष रूप से जीव (आत्म) ज्ञान से अबाध्य भेद की सिद्धि नहीं हो पायेगी। जो कि पूर्वपक्षी में अभीष्ट है।

शङ्का :— पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे यत् और तत् पद से घटित व्याप्ति लेने पर अननुगम दोष होने से साध्य की सिद्धि नहीं होती है—ऐसा मानने पर स्व पद भी अननुगम दोष से ग्रस्त है, क्योंकि स्वपद से भी पक्ष में समन्वय के समय कुछ लिया जाता है और दृष्टान्त में समन्वय के समय कुछ लिया जाता है। अत: अननुगम दोष से ग्रस्त स्व पद से घटित जो ''विवादपदं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्'' इत्यादि अनुमान अज्ञान के सिद्धि के लिए ''अज्ञानेऽनुमानप्रमाणविचार:'' के अवसर पर किया गया है। ऐसे स्थलों पर भी पूर्वोक्त प्रकार से साध्य की सिद्धि नहीं हो पायेगी। यदि अननुगम दोष वाले स्व पद से घटित उक्त स्थलों पर साध्य की सिद्धि होती है। तब अननुगमदोष वाले यत् और तत् पद से घटित पूर्वोक्त स्थलों पर भी साध्य की सिद्धि हो जायेगी—यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान :—सिद्धान्ती का कथन है कि स्व पद से घटित जो साध्य हैं। उन स्थलों पर भी अननुगम दोष के कारण साध्य की सिद्धि नहीं होगी। इस पर प्रश्न होता है कि उक्त अनुमान के द्वारा अज्ञान की सिद्धि पीछे कैसे कही गयी? इसका उत्तर यह है कि उक्त अनुमान को केवल व्यतिरेकी अनुमान मानेंगे अथवा उक्त अनुमान का दूसरे अनुमान में तात्पर्य मानेंगे। केवल व्यतिरेकी अनुमान मानने पर स्व पद के कारण आने वाला दोष इस प्रकार से हटेगा—अन्वय दृष्टान्त तो केवल व्यतिरेकी अनुमान में होता नहीं है। अत: अन्वय दृष्टान्त में साध्य घटाने का प्रश्न ही नहीं होता है। व्यतिरेक व्याप्ति के लिए व्यतिरेक दृष्टान्त में साध्याभाव को घटाना है। अत: पक्ष और दृष्टान्त दोनों में साध्य घटाते समय स्व पद से पक्ष ही लेंगे। इस प्रकार स्व पद से पक्ष को लेकर साध्य का आकार जो होगा। उसका अभाव (साध्याभाव) दृष्टान्त में चला जायेगा और स्व पद से पक्ष को लेकर साध्य का समन्वय पक्ष में हो जायेगा। अत: केवल व्यतिरेकी अनुमान मानने पर अज्ञान को सिद्ध करने वाले अनुमान मे ंकोई दोष नहीं होगा, जब कि पूर्वपक्षी का भेद साधक अनुमान अन्वयी अनुमान है। उसमें पूर्वोक्त प्रकार से दोष आयेगा। अथवा स्व पद के स्थान पर पक्ष दृष्टान्त अन्यतर पद के प्रवेश के द्वारा अनुमान्तर में तात्पर्य मानने पर भी दोष नहीं होगा।।९।।

शङ्का :— ''ब्रह्म तत्त्वतो जीवाभिन्नं न, दु:खाननुभवितृत्वाद्, घटवत्'' इस प्रकार से अनुमान करने पर दृष्टान्त में साध्य वैकल्प नहीं होगा, क्योंकि सिद्धान्त मत में भी कल्पित घट में कल्पित जीव का जैसे तात्त्विक भेद नहीं माना जाता है ठीक उसी प्रकार कल्पित घट में कलिपत जीव का तात्त्विक अभेद भी

सिद्धसाधनस्योक्तत्वात्। नापि जीवेश्वरौ, धर्मिज्ञानाबाध्यपरस्परप्रतियोगिकभेदवन्तौ, विरुद्धधर्माधिकरणत्वात्, दहनतुहिनवत्, विरोधश्च परस्परात्यन्ताभावरूपत्वं, तद्व्याप्यत्वं वा, कालभेदेनापि सामानाधिकरण्यायोग्यत्वं वा, संयोगतदत्यन्ताभावयोश्च सामानाधिकरण्यं मतद्वयेऽपि नेति न तदाश्रये व्यभिचार इति—वाच्यम्; धर्मिपदमादाय दोषस्य प्रागेवोक्तत्वात्, अव्याप्यवृत्तिदुःखशब्दाद्यधिकरणे व्यभिचाराच्च, जीवब्रह्मभेदासिद्धौ स्वतन्त्रत्वास्वतन्त्रत्वादीनां

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं माना जाता है। अतः दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जायेगा।

समाधान :— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकार से साध्य वैकल्प न होने पर भी सिद्धसाधनदोष होगा, क्योंकि तात्त्विक अभेद के अतात्त्विक अभाव को हम भी मानते है। इसको खण्ड संख्या ५ में स्पष्ट किया जा चुका है।

शङ्का :— जीव और ईश्वर ये दोनों धर्मिज्ञान से अबाध्य जो परस्पर प्रतियोगिक भेद तादृश भेद वाले हैं, विरुद्धधर्मा— धिकरणत्व होने से, जैसे अग्नि और तुषार। यहाँ पर विरोध परस्पर अत्यन्ताभावरूपत्व अथवा परस्पर अत्यन्ताभाव व्याप्यत्व अथवा काल भेद से सामानाधिकरण्य का अयोग्यत्व (भिन्न कालों में भी एकाधिकरणायोग्यत्व) रूप है। संयोग और संयोगात्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य मतद्वय में ही नहीं माना जाता है। अतः संयोगाश्रय में व्यभिचार दोष नहीं दिया जा सकता है। (कहने का भाव यह है कि सर्वज्ञत्व = अल्पज्ञत्व का अत्यन्ताभाव और अल्पज्ञत्व = सर्वज्ञत्व का अत्यन्ताभाव ऐसा विरोध है। यद्यपि सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व दोनों भाव पदार्थ होने के कारण इन दोनों में साक्षात् विरोध नहीं है तथापि अल्पज्ञत्व = सर्वज्ञत्व का अत्यन्ताभाव रूप है और सर्वज्ञत्व और सर्वज्ञत्वात्यन्ताभाव में साक्षात् विरोध होने के कारण अल्पज्ञत्व (सर्वज्ञत्व का अत्यन्ताभाव) के साथ भी सर्वज्ञत्व का विरोध सिद्ध हो गया। अथवा परस्पर अत्यन्ताभाव व्याप्यत्व। ''यत्र यत्र सर्वज्ञत्वं तत्र तत्र अल्पज्ञत्वाभावः'' और ''यत्र यत्र अल्पज्ञत्वं तत्र तत्र सर्वज्ञत्वात्यन्ताभावः''। इस प्रकार सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व में व्याप्यत्व और उन दोनों के अभावों में व्यापकत्व आ गया। अतः दोनों में विरोध है। अथवा जीव में रहने वाला अल्पज्ञत्व सर्वज्ञत्व के साथ सामानाधिकरण्य के योग्य किसी भी काल में नहीं होता है। इसी प्रकार ईश्वर में रहने वाला सर्वज्ञत्व अल्पज्ञत्व के साथ किसी भी काल में सामानाधिकरण्य के योग्य नहीं होता है। अतः सर्वज्ञत्व के साथ अल्पज्ञत्व का विरोध है। यदि कहा जाय कि कपिसंयोग और संयोग का अत्यन्ताभाव (जो कि परस्पर विरुद्ध धर्म हैं) का आश्रयीभूत एक ही वृक्ष में हेतु है किन्तु साध्य नहीं है। अतः व्यभिचार दोष होगा। इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि माध्वमत और अद्वैत मत दोनों में ही एक ही वृक्ष में कपिसंयोग और कपिसंयोगाभाव को नहीं माना जाता है। अतः उक्त एक ही वृक्ष में हेतु नहीं जाने से व्यभिचारदोष नहीं होगा।)

समाधान :— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमान घटक धर्मी पद जो है। उसके कारण दोष आता है। जिसका निरूपण खण्ड संख्या ५ में किया जा चुका है कि ''धर्मिपदेन ब्रह्मण उक्तावप्रसिद्धविशेषणत्वतादवस्थ्यात् ....।'' दूसरा दोष यह है कि नैयायिक मत में शरीरावच्छेदेन एक ही आत्मा में दुःख और बहिः देशावच्छेदेने दुःखाभाव होने से हेतु गया किन्तु साध्य नहीं होने से व्यभिचारदोष होगा। इसी प्रकार गगन में शब्द और शब्दाभाव रूप विरोधी धर्मों की आश्रयता होने से हेतु रहेगा किन्तु साध्य नहीं है। अतः व्यभिचारदोष होगा। फलतः अव्याव्यवृत्ति दुःख शब्दादि के अधिकरण में व्यभिचारदोष होने से उक्त अनुमान भङ्ग हो गया। हेतु में स्वरूपासिद्धिदोष देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जब सिद्धान्त मतानुसार जीव और ब्रह्म में भेद माना नहीं जाता है। अतः भेद के असिद्ध होने पर अभेद है तब

सामानाधिकरण्यायोग्यत्वरूपविरोधस्यैवासिद्ध्या स्वरूपासिद्धेः, कल्पितसार्वज्ञ्यासार्वज्ञ्यादिव्यवस्थाया वर्णे ह्रस्वत्वदीर्घत्वादिव्यवस्थावत् कल्पितभेदेनैवोपपत्त्या स्वाभाविकभेदं (तात्त्विकभेदं) प्रत्यप्रयोजकत्वाच्च।।१०।।

न च 'अल्पशक्तिरसार्वज्ञ्यं पारतन्त्र्यमपूर्णता।
उपजीकत्वं जीवत्वमीशत्वं तद्विपर्ययः।
स्वाभाविकं तयोरेतन्नान्यथा तु कथञ्चन।।'

इत्यादिश्रुत्या सार्वज्ञ्यादेः स्वाभाविकत्वोक्त्या कल्पितत्वासिद्धिः; अनाद्यविद्यासिद्धत्वेनेदानीन्तनत्वाभावेन च स्वाभाविकत्वोक्तेः, तच्छब्देनोपहितयोरेव परामर्शात्, न तत्र स्वाभाविकत्वोक्तिविरोधः; न ह्युपहितेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

एक ही में ही सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व रहने से उसमें विरोध ही नहीं होगा। ऐसा होने पर सर्वज्ञत्व और अल्पज्ञत्व परस्पर विरोधी होकर पक्ष में नहीं बैठेंगे। इसलिए पक्ष में हेतु ही नहीं जायेगा। अतः स्वरूपासिद्धि दोष होगा। ''जीवब्रह्मभेदासिद्धौ'' के स्थान पर ''जीवब्रह्मभेदसिद्धौ'' ऐसा पाठान्तर है। एकही आत्मा में कल्पित सर्वज्ञत्व और कल्पित असर्वज्ञत्व (अल्पज्ञत्व) की व्यवस्था सिद्धान्तमतानुसार होने से काल्पनिक भेद की उपपत्ति हो जाने से पारमार्थिक भेद को सिद्ध करने में कोई अनुकूल तर्क पूर्वपक्षी के पास नहीं है। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जैसे ध्वनि गत रहने वाला हस्वत्व दीर्घत्व रूप परस्पर विरुद्ध धर्म एक वर्ण में भ्रम से व्यवस्थित होने से एक ही वर्ण में काल्पनिक भेद की उपपत्ति हो जाने से वर्ण में तात्त्विक भेद नहीं माना जाता है।।१०।।

शङ्का :— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने जो कहा कि सर्वज्ञत्वादि कल्पित धर्म होते हैं। वह उचित नहीं है क्योंकि श्रुति कह रही है कि अल्पशक्ति, असर्वज्ञता, परतन्त्रता, अपूर्णता और ईश्वरापेक्षिततत्व—यह जीवगत जीवत्व है और इनका अभाव अर्थात् अल्पशक्ति आदि का अभाव = पूर्ण शक्ति आदि ईश्वर गत ईश्वरत्व है। इस प्रकार जीव और ईश्वर इन दोनों में उक्त जीवत्व और ईश्वरत्व स्वाभाविक (तात्त्विक) होते हैं, कभी भी अन्यथा (अतात्त्विक) नहीं होते है। इस प्रकार इस श्रुति के द्वारा सर्वज्ञत्वादि के तात्त्विकत्व कथन से पूर्वोक्त सर्वज्ञत्वादि के कल्पितत्व का कथन खण्डित हो गया। फलतः पूर्वोक्त अनुमान से जीव और ईश्वर के भेद सिद्धि में कोई बाधक नहीं है—यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि उक्त श्रुति में जो धर्म कहे गये हैं वे सभी धर्म अनादि अविद्या से सिद्ध है और वे सभी धर्म सादि या प्रातितिक न होने से स्वाभाविक कहे गये है। (अर्थात् अनादि अविद्या से सिद्ध होने के कारण अनादि काल से हैं और जब तक अनादि अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती हैं तब तक अनादि काल तक रहते हैं। इसलिए उन धर्मों को गौण रूप से स्वाभाविक (तात्त्विक) कह दिया गया है।) मूलस्थ ''तयोः'' इस पद में तत् पद से शुद्ध चैतन्य नहीं लिया गया है अपितु अनादि अविद्या से उपहित चेतन लिया गया है और अनादि अविद्या से उपहित चेतन में स्थित उक्त धर्मों में स्वाभाविकत्व के कथन में विरोध भी नहीं है, क्योंकि अनादि अविद्या से उपहित चेतन में सर्वज्ञत्वादि धर्म सादि नहीं माने जाते है।

शङ्का— (१) ब्रह्म स्वज्ञानाबाध्य जो जीवप्रतियोगिक भेद तादृश भेद वाला है, पदार्थत्व होने से, जैसे घट। (२) चेतनत्व जीवत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक जो धर्मिज्ञानाबाध्य भेद तादृश भेद वाले में वृत्ति है, सर्व चेतन में वृत्तित्व होने से अथवा— चेतनावृत्तित्व से रहितत्व होने से जैसे शब्दार्थत्व। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय— सर्वचेतन = शब्दार्थ (क्योंकि किसी न किसी शब्द का अर्थ सर्व चेतन होता है।) अतः सर्व चेतन वृत्ति = शब्दार्थत्व। इसलिए सर्व चेतन वृत्तित्व शब्दार्थत्व में चला गया। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय— जीवत्वेन

सर्वज्ञत्वादिकमागन्तुकम्। नापि— ब्रह्म, स्वज्ञानाबाध्यजीवप्रतियोगिकभेदवत्, पदार्थत्वात्, घटवत्। चेतनत्वं, जीवत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदवद्वृत्ति, सर्वचेतनवृत्तित्वात्, चेतनावृत्तित्वरहितत्वाद्वा, शब्दार्थत्ववदिति—वाच्यम्।।११।।

स्वपदधर्मिपदाननुगमतादवस्थ्यात्, अन्त्यहेतोर्जीवत्वे व्यभिचाराच्च, जडवृत्तित्वाद्युपाधिसत्त्वेन विपक्षबाधकाभावेन चाप्रयोजकत्वात्। ब्रह्मणो जीववत्संसारित्वापत्ताविष्टापत्तिः। कल्पितभेदेन वा परिहारो विधेयः। तदुक्तम्—

सत्यानन्दप्रबोधिका

जीव भेद वाला ब्रह्म ऐसा सिद्धान्ती भले ही न माने किन्तु तादृश भेद वाला घट है—यह तो मानते ही हैं। अतः तादृश भेदवत् (घट) = शब्दार्थ। अतः तादृश भेदवत् वृत्ति शब्दार्थत्व। इसलिए तादृश भेदवत् वृत्तित्व = शब्दार्थत्व में चला जायेगा। द्वितीय हेतु का दृष्टान्त में समन्वय— प्रथम हेतु का समन्वय करते समय जब यह सिद्ध कर दिया गया कि दृष्टान्त में सर्व चेतन वृत्ति तब चेतन अवृत्तित्व का अभाव रहेगा ही। अतः दृष्टान्त में द्वितीय है, हेतु चला जायेगा। इस प्रकार व्याप्ति और पक्ष धर्मता सिद्ध होने पर पक्ष में साध्य सिद्ध हो जायेगा। यहाँ तादृश भेदवत् कहने से घट नहीं ले सकते हैं, क्योंकि घट में चेतनत्व रहता ही नहीं है। अतः बाध्य होकर के तादृश भेदवत् = ब्रह्म लेना होगा। इस प्रकार से जीव ब्रह्म में तात्त्विक भेद सिद्ध हो जायेगा— यह पूर्व पक्षी का भाव है।।११।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रथम अनुमान का साध्य स्व पद से घटित है और द्वितीय अनुमान का साध्य धर्मी पद से घटित हैं। स्व और धर्मी ये दोनों पद अननुगत होने के कारण व्याप्ति विशिष्ट परामर्श की उपपत्ति नहीं हो पाने से साध्य की सिद्धि नहीं हो पायेगी। द्वितीय अनुमान में व्यभिचारदोष भी है, क्योंकि द्वितीय हेतु जीवत्व में हैं किन्तु साध्य नहीं है, क्योंकि जीवत्वेन जीव का भेद जीव में सिद्धान्त मतानुसार नहीं हैं। अतः उक्त भेद वाला जीव नहीं हुआ। अतः जीवत्व उक्त भेद वाले में नहीं गया। उक्त दोनों अनुमानों में ''जड़वृत्तित्व'' उपाधि है, क्योंकि दृष्टान्त में साध्य और उपाधि होने से उपाधि में साध्यव्यापकत्व है और पक्ष में हेतु के रहने पर भी उपाधि नहीं हैं। अतः उपाधि में साधनाव्यापकत्व भी हैं। ब्रह्म में जीव का भेद न मानने पर अर्थात् विपक्ष में कोई बाधक तर्क नहीं है, क्योंकि काल्पनिक भेद मानकर सबकी उपपत्ति हो जाती है। यदि कहा जाय कि जीव और ब्रह्म में भेद न मानकर के तात्त्विक अभेद मानने पर जीव के जैसे ब्रह्म में संसारित्व की आपत्ति होगी— ऐसा विपक्ष बाधक तर्क है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त आपत्ति में हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि हमारे मत में अविद्या के कारण ब्रह्म ही संसारी होता है और जब अविद्या का नाश हो जाता है तब असंसारी होता है। अथवा कल्पित भेद लेकर संसारित्व की आपत्ति का परिहार हो जायेगा। जैसा कि कहा गया है कि शुद्ध ब्रह्म में अनुमान की किसी भी प्रकार से प्रवृत्ति नहीं होती और विशिष्ट ब्रह्म में अनात्मत्व होने से विशिष्ट ब्रह्म में भेदानुमान की प्रवृत्ति होती है। ऐसी भेदानुमिति इष्ट ही है। उक्त श्लोक के भाव को स्पष्ट करते हुए कह रहे है कि शुद्ध चैतन्य में भेदानुमापक धर्म (हेतु) का अधिकरणत्व न होने से भेद का अनुमान नहीं किया जा सकता है। जिस विशिष्ट ब्रह्म में भेदानुमान की गति है। वहाँ इष्टापत्ति (सिद्ध— साधन) है।

शङ्का— एवम् = शुद्ध ब्रह्म में हेतु रूप धर्म के न रहने से भेदानुमान की गति नहीं हो सकती है तो शुद्ध ब्रह्म में हेतु रूप धर्म के न रहने पर ऐक्य अनुमान की भी गति नहीं हो पायेगी। अतः सिद्धान्ती के उक्त श्लोक के चतुर्थ चरण (तत्र भेदानुमेष्यते) के स्थान पर ''तदैक्यानुमिति कथम्'' ऐसा भी कहा जा

अप्रमेयेऽनुमानस्य प्रवृत्तिर्न कथञ्चन।
प्रमेयस्य त्वनात्मत्वात् तत्र भेदानुमेष्यते।।'

शुद्धचैतन्ये धर्मानधिकरणतयानुमानाप्रसरः। यत्र प्रसरः, तत्रेष्टापत्तिरित्यर्थः। न च एवमैक्यानुमानमपि कथम्? भवत्पद्यस्य तदैक्यानुमितिः कथमिति पठितुं शक्यत्वादिति—वाच्यम्; शुद्धचैतन्यैक्यस्य शब्दैकगम्यत्वेन तत्राननुमेयत्वस्येष्टत्वात्। न च तर्ह्यैक्यानुमानोपन्यासानर्थक्यम्; तस्य भेदे तात्त्विकत्वभ्रममात्रनिरासफलकत्वात्। तस्मात्

'अप्रसिद्धविशेषत्वादन्यथैवोपपत्तितः।
सर्वशक्त्यल्पपशक्त्यादेर्न भेदे तन्त्रता ततः।।१२।।

इत्यद्वैतसिद्धौ जीवब्रह्मभेदानुमानभङ्गः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

सकता है। ऐसा होने पर उक्त श्लोक का आकार होगा—

अप्रमेयेऽनुमानस्य प्रवृत्तिर्न कथंचन।
प्रमेयस्य त्वनात्मत्वात्तदैक्यानुमितिः कथम्।।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शुद्ध चैतन्य रूप ऐक्य शब्दैकगम्य होने से शुद्ध चैतन्य में अननुमेयत्व इष्ट ही है। यदि शुद्ध चैतन्य रूप ऐक्य में अननुमेयत्व अभीष्ट है तब तो ऐक्य के लिए अनुमान करना व्यर्थ होगा— ऐसा कथन उचित नहीं हैं क्योंकि ऐक्य अनुमान का उत्थापन ''भेदगत तात्त्विकत्व है''— ऐसा जो पूर्वपक्षीयों के द्वारा जो भ्रम फैलाया जाता है, उस भ्रम की निवृत्ति मात्र के लिए किया जाता है। अर्थात् ऐक्यानुमान का फल = भ्रमगत तात्त्विकत्व की निवृत्ति मात्र है— यह सिद्धान्ती के कथन का भाव है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित भेद साधक अनुमानों में भेद के पारमार्थिकत्वादि विशेषणों की अप्रसिद्धि होने से और सर्वशक्ति तथा अल्पशक्ति में आविद्यक भेद को मानकर उपपत्ति हो जाती है। अतः उक्त विरोधी धर्मों के द्वारा भेद गत तात्त्विकत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है। अर्थात् उक्त विराधी धर्मों में भेदगत तात्त्विकत्व की साधकता नहीं मानी जा सकती है—यह भाव है।।१२।।

—इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां जीवब्रह्मभेदानुमानभङ्गः—

२०— जीवानामन्योन्यभेदेऽनुमानविचारः

एवं जीवानामपि न परस्परभेदानुमानम्। चैत्रो मैत्रप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदवान्, मैत्रप्रतियोगिकतात्त्विकाभेदवान्नेति वा, मैत्रानुसंहितदुःखाननुसन्धातृत्वात्, मैत्रस्मृतसर्वास्मर्तृत्वात्, मैत्रानुभूतसर्वाननुभवितृत्वाच्च, घटवदित्यत्र प्रथमसाध्ये धर्मिपदविकल्पेन द्वितीयसाध्ये तात्त्विकाभेदस्यातात्त्विकभेदेन सिद्धसाधनात्, उपहितस्य पक्षत्वे अर्थान्तरात्, चैतन्यमात्रपक्षत्वे हेत्वसिद्धेः, साधनैकदेशस्याननुसन्धानादेः (अननुसन्धातृत्वादेः) उपाधित्वसम्भवाच्च।१ ।।

विमतो बन्धध्वंसः; स्वप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नाधारप्रतियोगिकप्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेदवन्निष्ठः,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

एवम् — जैसे पूर्व प्रकरण में पूर्वोक्त अनुमानों के द्वारा जीव और ब्रह्म में भेद सिद्ध नहीं हो पाया ठीक उसी प्रकार इस प्रकरण में कथित अनुमानों के द्वारा जीवों में परस्पर भेद सिद्ध नहीं हो सकता है। जैसे— चैत्र मैत्रप्रतियोगिक जो धर्मिज्ञानाबाध्य भेद तादृश भेद वाला है, अथवा मैत्रप्रतियोगिक जो तात्त्विक अभेद तादृश अभेदवाला नहीं है, मैत्र से अनुसंहित = स्मृत जो दुःख तादृश दुःख का अननुसंधातृत्व = अस्मरणकर्तृत्व होने से अथवा मैत्र के द्वारा स्मृत समस्त विषयों का अस्मर्ता होने से अथवा मैत्र के द्वारा अनुभूत समस्त विषयों का अनुभविता न होने से, जैसे घट। घट में उक्त तीनों हेतु हैं और मैत्रप्रतियोगिक घटज्ञानाबाध्य भेद भी हैं। इसी प्रकार मैत्रप्रतियोगिक तात्त्विक अभेदवाला भी घट नहीं है। पक्ष में उक्त तीनों हेतु है। अतः पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी—ऐसा पूर्वपक्षी का भाव है। इसका खण्डन करते हुये आचार्य प्रवर कह रहे हैं कि ''जीवब्रह्मभेदेऽनुमानविचारः'' के खण्ड संख्या ५ में धर्मी पद को लेकर सिद्धसाधन कहा गया है और तात्त्विक अभेद के अतात्त्विक अभाव को लेकर के सिद्धसाधन कहा गया है। ठीक इसी प्रकार प्रथम साध्य के घटक धर्मी पद को लेकर के सिद्धसाधन दोष होगा और द्वितीय साध्य में तात्त्विक अभेद के अतात्त्विक अभाव को लेकर के सिद्ध— साधन दोष होगा। इसी प्रकार ''जीवब्रह्मभेदेऽनुमानविचारः'' के खण्ड संख्या ८ में जो कहा गया है कि '' उपहितपक्षत्वे धर्मिसमसत्ताकत्वे सिद्धेऽपि तात्त्विकत्वासिद्धेः सिद्धसाधनात् ....'' से कहे गये सिद्धसाधनादि दोष भी यहाँ आयेगा। इसी को कह रहे हैं कि उपहित को पक्ष बनाने पर कल्पित भेद को लेकर सिद्धसाधन दोष होगा और शुद्ध चैतन्य को पक्ष बनाने पर शुद्ध चैतन्य निर्धर्मक होने से उसमें हेतु नहीं रहेगा। अतः स्वरूपासिद्धि दोष होगा और ऐक्यस्वरूप शुद्ध चैतन्य में साध्य का बाध भी होगा। दूसरी बात यह भी है कि उक्त तीनों हेतुओं का जो एक भाग है— अननुसन्धातृत्व, सर्वास्मृत्व और सर्वाननुभवितृत्व को उपाधि बनाया जा सकता है, क्योंकि दृष्टान्त में साध्य भी है और उपाधि भी है। अतः साध्यव्यापकत्व उपाधि में चला गया। इसी प्रकार पक्ष में हेतु है और उपाधि नहीं है। अतः उपाधि में साधनाव्यापकत्व भी। इस प्रकार सौपाधिक हेतु होने के दुष्ट हेतु हो गया। फलतः इस अनुमान के द्वारा स्वसाध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है।१ ।।

यह अनुमान मुक्त जीव से बद्ध जीव में भेद सिद्ध करने के लिये किया गया है — विवादास्पद अविद्यादिदुःखरूपबन्ध का ध्वंस, स्वप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न का आधार तादृश आधार प्रतियोगिक जो प्रतियोगिज्ञानाबाध्यभेद तादृश भेद वाला जो पदार्थ तन्निष्ठ है, बन्धध्वंसत्व होने से, निगड़ बन्धध्वंसवत्। पक्ष में ''विमतम्'' पद इसलिये कहा गया है कि अविद्यादि दुःखरूप बन्ध का ध्वंस बद्ध जीव से भिन्न मुक्त जीव में रहेगा अथवा बद्धजीव से अभिन्न मुक्त जीव में रहेगा—इसको लेकर के विवाद रहने के कारण ''विमतम्'' कहा गया है। पक्ष में साध्य का समन्वय— स्व= बन्ध ध्वंस, उसका प्रतियोगी= बन्ध, प्रतियोगितावच्छेदक=बन्धत्व, उससे अवच्छिन्न सकल बन्ध, उसका आधार =सकलबद्धजीव, उस सकलबद्ध

बन्धध्वंसत्वात्, संमतवत्।।२।।

जीवः, संसारी, संसारध्वंसाधारो वा, स्वज्ञानाबाध्यजीवप्रतियोगिकभेदवान्, संसारिप्रतियोगिकस्वज्ञानाबाध्यभेदवान् वा, स्वज्ञानाबाध्यसंसारध्वंसाधिकरणप्रतियोगिकभेदवान्वा पदार्थत्वात्, घटवत्।।३।।

विमत आनन्दः, स्वनिष्ठदुःखविरोधित्वव्याप्यधर्मेण सजातीयप्रतियोगिकस्वज्ञानाबाध्यभेदवान्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

जीव प्रतियोगिक भेद जो कि प्रतियोगी (बद्धजीव) के ज्ञान से अबाध्य है—ऐसे भेद वाले = सकल मुक्त जीव, उसमें अविद्यादि दुःख रूप बन्ध, ध्वंस रहता है। पक्ष और दृष्टान्त में हेतु का समन्वय स्पष्ट ही है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—स्व = निगड बन्ध ध्वंस, उसका प्रतियोगी= निगड बन्ध, प्रतियोगितावच्छेदक=निगड बन्धत्व, उससे अवच्छिन्न निगड बन्ध, उसका आधार = निगड बन्ध पुरुष, उस निगड बन्ध पुरुष प्रतियोगिक भेद जो कि प्रतियोगी (निगड बन्ध पुरुष) के ज्ञान से अबाध्य है— ऐसे भेद वाले= निगड बन्ध मुक्त पुरुष। उसमें निगड बन्ध ध्वंस रहता है। इस अनुमान के साध्य में प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न आधार न कहने पर सर्व जीवों का परस्पर भेद सिद्ध नहीं होगा क्योंकि स्वशब्द से बन्ध ध्वंस लेंगे, तत्प्रतियोगिरूप जो बन्ध, उसका आधार एक मैत्र रूप आत्मा लिया, तत्प्रतियोगिकभेद चैत्ररूप आत्मा में तन्निष्ठत्व— बन्ध ध्वंस में रहेगा। जब स्वप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न कहेंगे तब सकल बन्धाधार जीवात्माओं का ग्रहण होगा, क्योंकि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न शब्द से सकल बन्धों का आधार एक मैत्रात्मा नहीं हो सकता है अपितु सकल बद्धात्मा ही बनेंगे। तत्प्रतियोगिकभेद मुक्तात्माओं में रहेगा। फलतः सभी आत्माओं का परस्पर भेद सिद्ध होगा। व्यावहारिक भेद को लेकर सिद्धसाधनदोष के वारण के लिये भेद का विशेषण प्रतियोगिज्ञानाबाध्य कहा गया है।।२।।

जीव और संसारी को पक्ष बनाकर पूर्वपक्षी जो दो अनुमान कर रहा है। इन दोनों अनुमानों के द्वारा बद्ध जीवों में पारस्परिक भेद सिद्ध किया जायेगा और संसारध्वंसाधार को पक्ष बनाकर तृतीय अनुमान जो करेगा, उसके द्वारा मुक्त जीवों में पारस्परिक भेद सिद्ध किया जायेगा। जैसे—जीव स्वज्ञान से अबाध्य जो जीव प्रतियोगिक भेद तादृश भेद वाला है, पदार्थत्व होने से जैसे घट। इस अनुमान से एक जीव का भेद दूसरे जीव में सिद्ध होगा। जीवत्वोपहितों में भेद सिद्धान्ती भी मानते हैं। अतः सिद्ध साधन दोष होगा। इसलिये द्वितीय अनुमान कर रहे हैं — संसारी स्वज्ञान अबाध्य जो संसार प्रतियोगिक भेद तादृश भेद वाला है, पदार्थत्व होने से जैसे घट। यद्यपि अविद्या रूप संसार वाला एक ही चेतन माना जाता है। अतः इस पक्ष में सिद्ध— साधन दोष नहीं होगा तथापि नाना अविद्या पक्ष में अविद्योपहितो का भेद सिद्ध ही है। अतः सिद्धसाधनदोष होगा। इसलिए तृतीय अनुमान को कर रहे हैं—संसारध्वंसाधार आत्मा स्वज्ञानाबाध्य जो संसार ध्वंसाधिकरण प्रतियोगिक भेद तादृश भेद वाला है, पदार्थत्व होने से, जैसे घट। इस तृतीय अनुमान से यह कहा गया कि स्व=संसार ध्वंस का आधार=प्रथम मुक्त जीव, उसके ज्ञान से अबाध्य भेद और संसार ध्वंस का अधिकरण= दूसरा मुक्त जीव। द्वितीय मुक्त जीव प्रतियोगिक भेद वाला प्रथम मुक्त जीव। इस प्रकार मुक्त जीवों में परस्पर भेद सिद्ध होगा।।३।।

आनन्द में भेद है या नहीं? ऐसे विवाद वाला जो आनन्द उसमें पारस्परिक भेद सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्षी के द्वारा अनुमान किया जा रहा है— विमत आनन्द (सुख) स्वनिष्ठ (आनन्दनिष्ठ) जो दुःखविरोधित्व व्याप्य धर्म (आनन्दत्व) तादृश धर्म के द्वारा जो सजातीय तादृश सजातीय आनन्द प्रतियोगिक जो स्वज्ञानाबाध्य भेद तादृश भेदवाला है, दुःखविरोधित्व होने से, जैसे दुःखाभाव। पक्ष में साध्य का समन्वय—स्व=आनन्द तन्निष्ठधर्म = आनन्दत्व जो कि दुःख विरोधित्व का व्याप्य है = यत्र यत्र आनन्दत्वं

दुःखविरोधित्वात्, दुःखाभाववत्।।४।।

इत्यादिषु बन्धवत् प्रतियोगिकभेदवति कालादौ ध्वंसस्य विद्यमानत्वेनार्थान्तरात्, दुःखनिगलसाधारणबन्धत्वासम्भवाच्च, स्वपदाननुगमाच्च। चैत्रबन्धध्वंसः, चैत्रबन्धाधारप्रतियोगिकभेदवन्निष्ठः, बन्धध्वंसत्वात्, सम्मतवदित्वाभाससाम्याच्च, विपक्षबाधकाभावाच्च। ध्वंसप्रतियोगितावच्छेदकं न

सत्यानन्दप्रबोधिका

तत्र तत्र दुःखविरोधित्वम्। ऐसा जो धर्म = आनन्दत्व। इस आनन्दत्वेन पक्षीभूत आनन्द का सजातीय = दूसरा आनन्द। इस द्वितीय आनन्द प्रतियोगिक भेद जो कि पक्षीभूत आनन्द के ज्ञान से अबाध्य है तादृश भेद वाला पक्षीभूत आनन्द। इस प्रकार एक आनन्द से दूसरे आनन्द में भेद सिद्ध हो जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—स्व =दृष्टान्तीभूत दुःखाभाव, उसमें रहने वाला धर्म = दुःखाभावत्व। यह दुःखविरोधित्व से व्याप्य है— यत्र यत्र दुःखाभावत्वं तत्र तत्र दुःखविरोधित्वम्। तादृश दुःखाभावत्वेन दृष्टातीभूत दुःखाभाव का सजातीय दूसरा दुःखाभाव। इस द्वितीय दुःखाभावप्रतियोगिकभेद जो कि दृष्टान्तीभूत दुःखाभाव के ज्ञान से अबाध्य, तादृश द्वितीय दुःखाभाव के भेद वाला= दृष्टान्तीभूत दुःखाभाव। इस प्रकार दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जायेगा। पक्ष और दृष्टान्त में हेतु है। अतः पक्ष में साध्य के सिद्ध हो जाने से एक आनन्द में दूसरे आनन्द का भेद सिद्ध हो जायेगा— यह पूर्वपक्षी का भाव है।।४।।

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के द्वारा कथित खण्ड संख्या—२ के अनुमान में अर्थान्तर दोष है, क्योंकि बन्ध प्रतियोगिक भेद वाले कालादि में भी बन्ध ध्वंस रहता है। कहने का भाव यह है कि पूर्वपक्षी सभी बद्ध जीव प्रतियोगिक भेद वाले मुक्त जीव में बन्ध ध्वंस रहता है—यह सिद्ध करना चाह रहा है परन्तु वह सिद्ध न होकर सभी बद्धजीव प्रतियोगिक भेद वाले काल में बन्ध ध्वंस रहता है— यह सिद्ध हो जाने से अर्थान्तर दोष हो गया। कालादि में आदि शब्द से शरीरादि को लिया गया है। जैसे घटादि का ध्वंस भूतलादि में प्रमित होता है, वैसे ही अविद्या रूप बन्ध का ध्वंस शरीरादि में भी प्रमित हो सकता है। किन्तु शरीर को जीव माना नहीं जाता है। अतः उक्त भेद शरीरादि में रहेगा और बन्ध ध्वंस भी शरीरादि में रहने से अर्थान्तर दोष होगा। दूसरी बात यह है कि उक्त हेतु पक्ष और दृष्टान्त दोनों में उभय साधारण बन्धत्व रूप से नहीं जा रहा है, क्योंकि दुःख रूप बन्ध और निगड रूप बन्ध दोनों में एक ही बन्धत्व नहीं रहता है, क्योंकि दोनों बन्ध एक सामान नहीं है, क्योंकि निगड बन्ध से छूटने से संसार रूप दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता है, जबकि अविद्यारूप दुःख ध्वंस से सभी दुःखों से छुटकारा मिल जाता है। अतः दृष्टान्त में गृहीत व्याप्ति के बल पर पक्ष में साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि व्याप्ति जिस जातिय बन्ध को लेकर सिद्ध हुयी है, उससे भिन्न जातिय बन्ध पक्ष का घटक है। अतः स्वरूपासिद्धि दोष होगा। स्वपद का अननुगम भी है। अतः व्याप्ति विशिष्ट पक्ष— धर्मता की सिद्धि नहीं हो पायेगी— इसे ''जीवब्रह्मभेदेऽनुमानविचारः'' के खण्ड संख्या—९ में स्पष्ट किया जा चुका है। अतः स्व पद से घटित पूर्वोक्त सभी अनुमान दुष्ट सिद्ध हो गये। इसी प्रकार चैत्र के बन्ध का ध्वंस चैत्र बन्धाधार प्रतियोगिक जो भेद तादृश भेद वाले में रहता है बन्ध ध्वंसत्व होने से जैसे मैत्र निगड बन्ध ध्वंस। (दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—चैत्र बन्ध का आधार=चैत्र, चैत्र प्रतियोगिक भेद वाला मैत्र, उसमें मैत्र निगड ध्वंस है। किन्तु पक्ष में साध्य का समन्वय न होने से यह अनुमानाभास है।) ऐसे अनुमानाभासों की समानता तथा विपक्ष बाधक तर्को का अभाव होने के कारण उक्त अनुमान दुष्ट है। बन्ध ध्वसं का प्रतियोगितावच्छेदक बन्धत्व नहीं ले सकते हैं, क्योंकि बन्धत्व नाना बन्ध में अनुगत रहने वाला धर्म नहीं है। अर्थात् बन्धत्व में

नानाबन्धानुगतबन्धत्वम्, तस्य सामान्याभावत्वाभावात्।।५।।

एतेन—आत्ममात्रभेदे आत्मा, आत्मप्रतियोगिकस्वज्ञानाबाध्यभेदवान्, पदार्थत्वात् घटवत्। आत्मवैभवपक्षे आकाशः, आत्मप्रतियोगिकधर्मिज्ञानाबाध्यभेदाधारविशेषगुणवद्विभुव्यतिरिक्तः, द्रव्यत्वात्, पृथिवीवत्, पृथिवीत्वं जलत्वतेजस्त्ववायुत्वमनस्त्वेतरद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिभिन्नम्, प्रमेयत्वाज्जलत्ववत्, गगनत्वजातिपक्षे

सत्यानन्दप्रबोधिका

सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्व का अभाव है। कहने का भाव यह है कि बन्ध ध्वंस के प्रतियोगितावच्छेदक भिन्न—भिन्न बन्धत्व है। (जैसे अक्ष पदार्थ नाना हैं = इन्द्रिय विभीतक (बहेडा) जुवा आदि। इनमें एक ही अक्षत्व नहीं रहता है अपितु नाना अक्षत्व रहता है)। ऐसा होने से दृष्टान्त में जो बन्धत्व है, वहीं बन्धत्व पक्ष में न होने से स्वरूपासिद्धि दोष होगा।।५।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि आत्ममात्र = आत्मा विभु परिमाण वाला हो अथवा आत्मा अणु परिमाण वाला हो— ऐसा सामान्य रूप से आत्ममात्र को लेकर के आत्मा के भेद को सिद्ध किया जा सकता है। इसके लिये पूर्वपक्षी के द्वारा कथित प्रथम अनुमान— आत्मा आत्मप्रतियोगिक स्वज्ञानाबाध्य भेद वाला है, पदार्थत्व होने से जैसे घट। आत्मा को विभु परिमाण मानने वालों के मत में भी एक विभु आत्मा का भेद दूसरे विभु आत्मा में रहता है— इसको सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्षी का द्वितीय अनुमान— आकाश आत्मप्रतियोगिक जो धर्मिज्ञानाबाध्यभेद तादृश भेद का आधारभूत विभु जो विशेष गुण वाला है, ऐसे विशेषगुणयुक्त विभु से भिन्न है, द्रव्यत्व होने से जैसे पृथिवी। विशेषगुणवत् — इसलिए कहा गया है कि साध्य को पक्ष में ले जाते समय ''विशेषगुणवत्'' पद न देने से आत्मप्रतियोगिक धर्मिज्ञान अबाध्य भेद का आधारभूत विभु = काल और दिशा। इनको लेकर काल और दिशा के भेद को आकाश में सिद्ध कर देने से सिद्धसाधनदोष होगा। ''विशेषगुणवत्'' को विभु का विशेषण देने पर विभु जो काल दिशा आकाश और आत्मा हैं। उनमें से काल और दिशा विशेषगुण वाले नहीं है। अतः काल को लेकर सिद्धसाधनदोष नहीं होगा। तादृश विभु पद से यद्यपि आकाश ले सकते हैं तथापि आकाश का भेद आकाश में रहना असम्भव होने के कारण तादृश विभु पद से आकाश को लेकर साध्य का पक्ष में समन्वय नहीं किया जा सकता है। अतः तादृश विभु पद से आत्मा को ही लेना पड़ेगा। अतः आत्मा के भेद का आधारभूत आत्मा का भेद आकाश में है — इस प्रकार से ही साध्य का समन्वय पक्ष में करना पड़ेगा। ऐसा होने पर आत्माओं में पारस्परिक भेद सिद्ध हो जायेगा। जैसे पक्ष में साध्य का समन्वय आत्मप्रतियोगिक भेद का आधार आत्मा है—इसको लेकर किया गया। इस प्रकार से दृष्टान्त में साध्य का समन्वय नहीं होगा, क्योंकि दृष्टान्त उभयवादी सम्मत होता है। आत्मभेदाधार=आत्मा है—यह तो सिद्धान्ती को मान्य नहीं होगा। अतः आत्मभेदाधार विभु शब्द से आकाश को लेकर दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जायेगा। आत्मत्व जाति को लेकर आत्मा के भेद को सिद्ध करने वाला अनुमान— पृथिवीत्व जाति, जलत्व तेजस्त्व वायुत्व मनस्त्व से इतर जो द्रव्यत्व साक्षात् व्याप्य जाति तादृश जाति से भिन्न है, प्रमेयत्व होने से जैसे जलत्व जाति। पक्ष और दृष्टान्त में प्रमेयत्व रहने से हेतु है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—दृष्टान्त में साध्य का समन्वय करते समय आत्मत्व जाति को लेकर साध्य का समन्वय हो नहीं सकता है, क्योंकि सिद्धान्ती आत्मा में जाति नहीं मानते हैं। अतः पृथिवीत्व जाति को लेंगे। जो जलत्व—तेजस्त्व वायुत्व मनस्त्व से भिन्न है और द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति है। ऐसे पृथिवीत्व से भिन्न जलत्व जाति है। अतः साध्य दृष्टान्त में चला गया। पक्ष में हेतु और दृष्टान्त में व्याप्ति मिल जाने पर साध्य की सिद्धि पक्ष पर माननी पड़ेगी। पक्ष में साध्य का समन्वय आत्मत्व जाति को लेकर

तदितरत्वमपि विशेषणम्।।६।।

सत्ता, द्रव्यत्वान्यात्मनिष्ठजात्यन्या, द्रव्यत्वं वा सत्तान्यात्मनिष्ठजात्यन्यत्, मेयत्वात्, घटवत्, आत्माणुत्वमते आत्मा, द्रव्यत्वव्याप्यजातिमान्, अविभुद्रव्यत्वात्, घटवदित्यादिभिरात्मत्वजातिसिद्धौ तात्त्विकात्मभेदसिद्धिः।।७।।

इति निरस्तम्; आद्ये जडत्वमुपाधिः, आत्मपदयोः स्थाने चैत्रपदं प्रक्षिप्याभाससाम्यं च। द्वितीये

सत्यानन्दप्रबोधिका

ही होगा। ऐसा होने पर आत्मत्व जाति नाना आत्मा में होने से आत्मभेद की सिद्धि हो जायेगी। नैयायिको के एक देशी के मत में और कुछ के मत में औपाधिक व्यक्तियों (घटाकाश मठाकाशादि) में भेद को मानकर गगनत्व को भी जाति माना जाता है। अतः उनके मतानुसार गगनत्व का भेद पृथिवीत्व में सिद्ध होने से सिद्धसाधनदोष होगा। इस दोष से बचने के लिये साध्य में गगनत्वेतर भी विशेषण देना चाहिए।।६।।

सत्ता द्रव्यत्व से भिन्न जो आत्मनिष्ठ जाति तादृश जाति से भिन्न है, मेयत्व होने से जैसे घट। (पूर्वपक्षी के मतानुसार आत्मा में तीन जाति (आत्मत्व द्रव्यत्व और सत्ता) रहती है। उनमें से द्रव्यत्व को छोड़ देने पर सत्ता और आत्मत्व दो ही जाति बचती है। किन्तु सत्ता से सत्ता भिन्न होना असम्भव होने के कारण साध यस्थ जाति पद से सत्ता को लेकर पक्ष में साध्य का समन्वय नहीं किया जा सकता है। अतः बाध्य होकर आत्मत्व जाति को लेकर आत्मत्व जाति का भेद रूप साध्य का समन्वय पक्ष में होगा। आत्मत्व जाति मान लेने से आत्मा नाना व्यक्ति हैं— यह सिद्ध हो जायेगा।) अथवा द्रव्यत्व सत्ता से भिन्न जो आत्मनिष्ठ जाति तादृश से अन्य है मेयत्व होने से जैसे घट। (आत्मा में रहने वाली उक्त तीन जाति में से सत्ता को छोड़ देने पर द्रव्यत्व और आत्मत्व दो ही जाति बचती है। उनमें से द्रव्यत्व का भेद द्रव्यत्व में मिलना असम्भव होने से आत्मत्व जाति को लेकर साध्य का समन्वय पक्ष में होगा। आत्मत्व जाति के मानने पर आत्मा नाना हैं— यह सिद्ध हो जायेगा। प्रथम साध्य को दृष्टान्त में समन्वय करते समय उक्त दो जातियों (सत्ता—आत्मत्व) में से आत्मत्व को लेकर के आत्मत्व का भेद दृष्टान्त में समन्वय नहीं कर सकते हैं, क्योंकि सिद्धान्ती आत्मत्व को जाति नहीं मानते हैं। अतः सत्ता को लेकर के सत्ता का भेद रूप साध्य दृष्टान्त में समन्वय हो जायेगा और दूसरे अनुमान में जाति पद से द्रव्यत्व को लेकर के साध्य का समन्वय दृष्टान्त में होगा।) आत्मा अणु परिमाण वाला है—इस मत को लक्ष्य कर आत्मा में भेद को सिद्ध करने वाला अनुमान पूर्वपक्षी कर रहा है—आत्मा द्रव्यत्व व्याप्य जाति वाला है अविभु द्रव्यत्व होने से जैसे घट। आत्मा को अणु मान कर अनुमान किया गया है। अतः आत्मा अविभुद्रव्य है। उसमें अविभुद्रव्यत्व रूप हेतु रहेगा और इसी प्रकार दृष्टान्त में घट भी अविभुद्रव्य है। अतः उसमें अविभुद्रव्यत्व रहेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—द्रव्यत्व की व्याप्य जाति पृथिवीत्व लेंगे। तादृश जातिवाला घट है। इस प्रकार व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान होने पर पक्ष में साध्य की सिद्धि द्रव्यत्व की व्याप्य जाति आत्मत्व को ही लेकर होगी, क्योंकि द्रव्यत्व की व्याप्य जाति पृथिवीत्वादि को लिया नहीं जा सकता है, क्योंकि तादृश जाति वाला आत्मा नहीं है। अतः आत्मा में आत्मत्व जाति मानना पड़ेगा। ऐसा होने से आत्मा नाना हैं और उनमें तात्त्विक भेद है— यह सिद्ध हो जायेगा।।७।।

एतेन निरस्तम् — ऐसा अन्वय है। पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुये आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रथम (आत्मपक्षक पदार्थत्व हेतुक) अनुमान में जड़त्व उपाधि है, क्योंकि दृष्टान्त घट में साध्य है और जड़त्व उपाधि है। अतः साध्यव्यापकत्व उपाधि में गया। इसी प्रकार पक्ष (आत्मा) में हेतु है, किन्तु उपाधि नहीं है। अतः साधनाव्यापकत्व उपाधि में है। सोपाधिक हेतु होने से दुष्ट हो गया। दूसरा दोष यह है कि पक्ष में स्थित आत्मा पद के स्थान पर और साध्य में स्थित आत्मा पद के स्थान पर चैत्र पद रख देने पर उक्त अनुमान अनुमानाभास हो जायेगा। जैसे — चैत्र चैत्रप्रतियोगिक चैत्र ज्ञान अबाध्य

शब्दानाश्रयत्वमुपाधिः, विभावात्मान्यत्वं विशेषणं दत्वा आत्माकाशभिन्नस्य विभोर्विशेषगुणवतः साधनप्रसङ्गाच्च ।।८।।

जातिपक्षकानुमानेषु कल्पितव्यक्तिभेदनापि तस्याः जातेरुपपत्त्या तात्त्विकव्यक्तिभेदपर्यवसायित्वेनार्थान्तरात्। न च–जातेः धर्मिज्ञानाबाध्यभेदं विनाऽयोगः अन्यथा व्यक्त्यभेदः क्वापि जातिबाधको न स्यादिति–वाच्यम्; जातेर्व्यक्तिभेदसमानसत्ताकत्वनियमेन प्रातिभासिकभेदस्य व्यावहारिकजातिं प्रति न साधकत्वमिति व्यक्त्यभेदस्य जातिबाधकत्वसम्भवात् ।।९।।

इत्यद्वैतसिद्धौ जीवभेदानुमानभङ्गः ।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

भेद वाला होता है, पदार्थत्व होने से जैसे घट। स्व में स्व का भेद होता नहीं है। अतः यह अनुमानाभास है। इसी के जैसे पूर्वपक्षी का उक्त अनुमान अनुमानाभास है। इसी प्रकार द्वितीय आकाशपक्षक अनुमान में शब्दानाश्रयत्व उपाधि है, क्योंकि दृष्टान्त में साध्य और उपाधि है और पक्ष में हेतु है किन्तु उपाधि नहीं है। अतः ''साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्'' के मिल जाने से हेतु सोपाधिक हो गया। इस द्वितीय अनुमान के साध्य में आया हुआ विभु पद के स्थान पर आत्मान्यविभु कह देने से आकाश को लेकर साध्य का समन्वय दृष्टान्त में हो जायेगा किन्तु आत्मा को लेकर पूर्वोक्त प्रकार से साध्य का समन्वय पक्ष में नहीं हो पायेगा, क्योंकि विभु का आत्मान्यविशेषण जोड़ दिया गया है। फलतः विशेषगुणवाले किसी भी ६ द्रव्य को लेकर साध्य का समन्वय पक्ष में करना सम्भव न होने के कारण उक्त अनुमान के द्वारा कोई सातवां विशेषगुणवाला द्रव्य (जो कि पूर्वपक्षी को अनिष्ट है) की सिद्धि होगी।।८।।

पृथिवीत्वादि जातिपक्षक अनुमानों में कल्पित व्यक्ति भेद को लेकर आत्मा में आत्मत्व जाति मानकर उपपत्ति हो जाने से तात्त्विक व्यक्ति भेद को लेकर जो आत्मत्व जाति कही गयी पूर्वपक्षी के द्वारा, उसकी उपपत्ति नहीं हो पायेगी और सिद्धसाधनदोष होगा। मूलस्थ ''जातेरूपपत्या'' में ''उपपत्या'' तृतीयान्त पाठ ले और अतात्त्विक व्यक्ति भेद के साथ दीर्घ करके ''जातिरूपपत्याऽतात्त्विकव्यक्तिभेद'' ऐसा करके अर्थ करना चाहिये।

शङ्का– धर्मिज्ञानाबाध्यभेद= तात्त्विक व्यक्ति में तात्त्विक भेद रहने पर ही तात्त्विक व्यक्ति में जाति मानी जाती है। ऐसा न होने पर जाति की सिद्धि नहीं हो सकती है। अन्यथा = कल्पिक व्यक्ति में कल्पित भेद मानकर जाति की सिद्धि करने पर आकाश में भी कल्पित व्यक्ति भेद मानकर आकाशत्व जाति की सिद्धि हो जायेगी। ऐसा होने पर व्यक्ति अभेद को जाति का बाधक नहीं माना जा सकेगा।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जाति वहां मानी जाती है जहां व्यक्ति भेद समानसत्ताकत्व हो। आकाश में जब कल्पित व्यक्ति और उसमें कल्पित भेद की कल्पना करते हैं तब उससे कल्पित (प्रातिभासिक) आकाशत्व जाति की सिद्धि होगी न कि व्यावहारिक आकाशत्व जाति की, क्योंकि व्यावहारिक आकाश व्यक्ति में व्यावहारिक भेद माना नहीं जाता है। फलतः एक व्यक्तिवृत्तित्व व्यावहारिक आकाशत्व जाति का बाधक बना रहेगा। आत्मा में व्यावहारिक व्यक्ति भेद लेकर व्यावहारिक आत्मत्व जाति की उपपत्ति हो जायेगी। फलतः अर्थान्तरता बनी रहेगी।।९।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यावाचस्पति स्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिशिष्यस्वामिविशुद्धानन्दगिरि– कृतायामद्वैतसिद्धिटीकायां सत्यानन्दप्रबोधिकायां जीवभेदानुमानभङ्गपर्यन्तविवरणं समाप्तम्।

।।श्री शङ्करः प्रीयताम्।।